पुस्तक-जगत

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

ी में प्रेमचंद के प्रेमियों की कमी नहीं है। औरत-मर्द, बूढ़े-जवान, ासागर और मामूली पढ़े-लिखे लोग, हिन्दू और मुसलमान—सब चंद पर यकसाँ जान देते हैं। उनके लिए यह एक बड़ी, बहुत बड़ी, होगी कि प्रेमचंद-साहित्य में क़रीब ढाई हज़ार पृष्ठ नये जुड़ने जा ैं—और यह कि आपके जाने-माने कथाकार अमृत की पाँच साल की ोड़ मेहनत का नतीजा प्रेमचंद की एक सम्पूर्ण और प्रामाणिक ्यिक जीवनी अब जल्दी ही आपके हाथों में होगी।

ी के क्षेत्र में ही नहीं, भारतवर्ष भर में जहाँ भी हिन्दी का प्रचार है, विद्यालय, कोई शिक्षा-केन्द्र, कोई सरकारी या अर्द्ध-सरकारी साहि- प्रतिष्ठान ऐसा नहीं जिसमें सम्पूर्ण प्रेमचंद-साहित्य न हो। उनको ा भर मिलने की देर है, वे तुरंत ये नयी पुस्तकें मँगाकर अपना संग्रह कर लेना चाहेंगे। यह सब साहित्य एक साथ आगामी प्रेमचंद-जयन्ती ुलाई १९६२ को आउट किया जायगा। सारी पुस्तकें डिमाई ार में, बड़े सुन्दर और सुरुचिपूर्ण गेट-अप के साथ प्रकाशित की ही हैं। उनका विवरण नीचे दिया जाता है :—
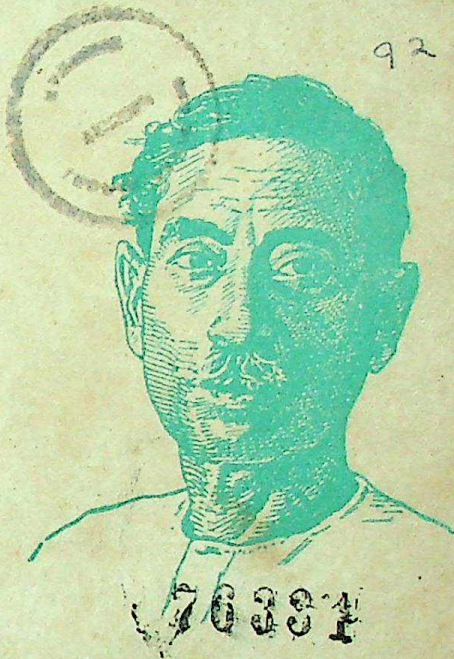
्वध प्रसंग—लेख-संग्रह	तीन भाग	पृष्ठ-संख्या लगभग १२००	मू० रु० २५.००
ी-पत्री	दो भाग	पृष्ठ-संख्या लगभग ६००	मू० रु० १५.००
धन—गुमशुदा कहानियाँ	दो भाग	पृष्ठ-संख्या लगभग ५००	मू० रु० १५.००
िभिक उपन्यास	एक भाग	पृष्ठ-संख्या लगभग ५००	मू० रु० १५.००
म का सिपाही—जीवनी	एक भाग	पृष्ठ-संख्या लगभग ७५०	मू० रु० १८.००

पुस्तकों की पृष्ठ-संख्या और उनके मूल्य अनुमान से दिये जा रहे हैं। उनमें कुछ हेर-फेर संभव है।

र अन्य प्रकाशनों की भाँति इन पुस्तकों पर भी हमारा साधारण व्यापारिक कमीशन २५ प्रतिशत दिया जायगा। इन पर किसी भी दशा में कोई अतिरिक्त कमीशन देने की व्यवस्था नहीं है।

लेकिन

प्रकाशन से पूर्व अतिरिक्त कमीशन देने की भी व्यवस्था है और वह इस प्रकार—

२१ मार्च १९६२ तक प्राप्त ऑर्डर पर — ३३$\frac{1}{3}$ प्रतिशत

१ अप्रैल १९६२ से ३१ जुलाई १९६२ तक प्राप्त ऑर्डर पर — ३० प्रतिशत

ऑर्डर कम-से-कम पाँच सेटों का होगा और एक तिहाई मूल्य ऑर्डर के साथ भेजा जाय।

सम्पूर्ण सेट का ऑर्डर ही स्वीकार किया जायगा। रेल भाड़ा माफ़ होगा।

अपनी जरूरत को समझकर शीघ्र ही अपना ऑर्डर भेजें। यह मौक़ा फिर न मिलेगा।

स प्रकाशन : ६३ जीरो रोड : इलाहाबाद

संपादक : अखिलेश्वर पाण्डेय

मुद्रक एवं प्रकाशक : ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

मूल्य : एक अंक ३७ न० पै०, वार्षिक चार रुपये,

यह विशेषांक—एक रुपया

पुस्तक-जगत

[राजनीति साहित्य विशेषांक]

वर्ष ८ : अंक ५ : जनवरी १९६२

इस अंक में

'पुस्तक-जगत'-परिवार अपने नगर पटना में काँग्रेस-महाधिवेशन में आये हुए राष्ट्र के प्रतिनिधियों का हार्दिक अभिनन्दन करता है, गोआ आदि पुर्त्तगाल-अधिकृत अपने देश के क्षेत्रों की मुक्ति के प्रति हर्ष प्रकट करता है, चीन तथा पाकिस्तान द्वारा अधिकृत अन्य भारतीय क्षेत्रों की मुक्ति के लिये सचेष्ट कामना करता है एवं नये वर्ष १९६२ के लिये शुभकामना व्यक्त करता है।

भारतीय राजनीतिक साहित्य : पाठ्य : राष्ट्रीयता : समाजवाद

श्री हरिकिशोर सिंह

राजनीतिक साहित्य की दृष्टि से हमारा देश अविकसित ही कहा जायेगा। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन जैसी महान ऐतिहासिक घटना के संबंध में भी उच्चकोटि का साहित्य नगण्यप्राय होना हमारे बौद्धिक जगत के लिए अत्यन्त शर्मनाक बात है। इस संबंध में सबसे चिन्तनीय अवस्था हमारे शिक्षा-विशारदों की है। राष्ट्रीय आन्दोलन संबंधी साहित्य में उनका योगदान साधारण ही कहा जायेगा। आज जो भी साहित्य उपलब्ध है उसका श्रेय राजनीतिक नेताओं को ही देना पड़ेगा। पुरानी पीढ़ी के सर सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी, लाला लाजपतराय, सी० वाई० चिन्तामणि, तिलक, गोखले तथा एनी बेसेंट जैसे प्रसिद्ध नेताओं के निबंध, संस्मरण तथा पुस्तकें ही हमारे राजनीतिक साहित्य की स्थायी निधि हैं। गाँधी-युग में पं० जवाहरलाल नेहरू, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, डॉ० पट्टाभी, आचार्य कृपलानी, सुभाष बोस तथा आचार्य नरेन्द्रदेव आदि काँग्रेस के कर्णधारों की लेखनी से भारतीय राष्ट्रीयता की भावना प्रस्फुटित हुई और इनकी रचानाओं में हमें इस युग की राजनीति का आधिकारिक विश्लेषण प्राप्त होता है। समाजवादी आन्दोलन भी इस भारतीय परंपरा का अनुगामी है और समाजवादी साहित्य के सृजनकर्त्ता इस आन्दोलन के प्रमुख नायक ही रहे हैं। हाँ, पिछले कुछ वर्षों से विदेशी विद्वानों का ध्यान हमारी राजनीति ने अवश्य आकर्षित किया है और उनका प्रयास इसी दिशा में प्रशंसनीय कहा जायेगा। हम इसकी चर्चा करेंगे।

भारतीय समाजवादी साहित्य के सृजनकर्त्ताओं में आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाशनारायणजी, डॉ० राममनोहर लोहिया, अशोक मेहता, अच्युत पटवर्धन आदि समाजवादी आन्दोलन के कर्णधार ही अग्रणी रहे हैं। आचार्यजी की रचनाओं का एक संग्रह 'राष्ट्रीयता और समाजवाद' लगभग १२ वर्ष पूर्व ज्ञानमंडल वाराणसी ने प्रकाशित किया था। राष्ट्रीय आन्दोलन का समाजवादी विश्लेषण, भारतीय समाजवाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ एवं उद्देश्य, तथा साम्यवाद और समाजवाद के मौलिक मतभेद आदि विषयों का उच्चकोटि का विश्लेषण इस संग्रह से प्राप्त किया जा सकता है। अँग्रेजी में युसुफ मेहरअली द्वारा संपादित Socialism and National Revolution शीर्षक पुस्तक भी आचार्य नरेन्द्रदेव के लेखों तथा अभिभाषणों का एक अच्छा संग्रह है। यह पद्मा प्रकाशन, बम्बई द्वारा १९४६ में प्रकाशित हुआ था।

१९३६ में जयप्रकाशजी की पुस्तक Why Socialism ने देश के राजनीतिक क्षेत्र में तहलका मचा दिया था। इसके बाद जयप्रकाशजी के निबंधों तथा भाषणों का एक संग्रह श्री मेहरअली द्वारा ही संपादित Towards Struggle शीर्षक पुस्तक के रूप में पद्मा प्रकाशन द्वारा १९४६ में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद श्री रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा संपादित 'जयप्रकाश की विचारधारा' पटने से प्रकाशित हुई थी। जयप्रकाशजी के चिंतन का एक अच्छा विश्लेषण हम बेनीपुरीजी की पुस्तक 'जयप्रकाश' में भी पाते हैं। समाजवादी आन्दोलन से संबंध-विच्छेद के बाद जयप्रकाशजी ने From Socialism to Sarvodaya नामक पुस्तिका प्रकाशित की है। इसमें हमें जयप्रकाशजी की राजनीतिक विचारधारा का इतिहास प्राप्त होता है। चूँकि वे समाजवादी आन्दोलन के सर्वश्रेष्ठ नेता रहे हैं, अतः भारतीय समाजवादी आन्दोलन के सैद्धान्तिक आधार के संबंध में हमें एक अच्छा विवेचन इस पुस्तिका में उपलब्ध होता है।

डॉ० लोहिया के निबंधों तथा भाषणों का एक संग्रह Fragments of A World Mind पुस्तक के रूप में कलकत्ता से लगभग १२ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। १९५३ में उनकी An Asian Policy नामक पुस्तिका प्रजा सोशलिस्ट पार्टी ने प्रकाशित की थी। समाजवादी आन्दोलन के वैदेशिक नीति संबंधी चिन्तन पर इस पुस्तिका में स्पष्ट और आधिकारिक विवेचन मिलता है।

अशोक मेहता ने १९३६ में गाँधीवाद और समाजवाद का तुलनात्मक विश्लेषण किया था। १९४२ के लगभग अच्युत पटवर्धन के साथ मिलकर उन्होंने Communal Triangle in India नामक पुस्तिका प्रकाशित की थी। इस पुस्तिका में भारत में साम्प्रदायिक समस्या का एक समाजवादी विश्लेषण किया गया है और 'दो राष्ट्र' के सिद्धान्त के विरुद्ध अकाट्य तर्क उपस्थित किए गए हैं। १९५० में श्री मेहता ने Democratic Socialism नामक पुस्तक में जनतांत्रिक समाजवाद की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि से संबंधित एक उच्चकोटि का निबंध हमारे सामने उपस्थित किया था। इधर भारतीय विद्याभवन द्वारा प्रकाशित उनका Asian Socialism भी हमारे समक्ष आया है। दोनों पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद अखिल भारतीय सर्वसेवा संघ वाराणसी ने प्रकाशित किया है।

समाजवादी आन्दोलन के उपर्युक्त प्रमुख कर्णधारों के अलावा प्रो० मुकुटबिहारी लालजी, श्री रोहित दवे, प्रो० दाँतवाला आदि विद्वानों ने भी समाजवादी साहित्य के सृजन में प्रमुख योगदान किया है। प्रो० मुकुटबिहारी लालजी का 'भारतीय समाज का एक समाजवादी विश्लेषण' A Constitution of the Indian Republic भारतीय संविधान का एक समाजवादी प्रारूप है। शायद विश्व-समाजवादी आन्दोलन के इतिहास में विपक्षी दल की स्थिति में सिर्फ भारतीय समाजवादी दल ने ही देश के संविधान के संबंध में एक आधिकारिक प्रतिवेदन प्रकाशित किया था। इस दृष्टि से प्रो० मुकुटबिहारी लाल की पुस्तिका 'भारतीय-संविधान : एक समीक्षा' भी पठनीय है।

इसके अलावा, समाजवादी साहित्य के सृजन में कुछ पत्रिकाओं ने भी बहुमूल्य योगदान किया है। पटने का 'जनता'; लखनऊ का 'संघर्ष', अब 'हमारा संघर्ष'; बम्बई का Congress Socialist, अब Janata; काशी का 'समाज' और 'जनवाणी'—समाजवादी साहित्य के अभिन्न अंग रहे हैं। 'जनवाणी', 'समाज' और संघर्ष के स्तंभों में ही आचार्य नरेन्द्रदेव, प्रो० राजाराम शास्त्री, प्रो० मुकुटबिहारी लाल, श्री बी० पी० सिन्हा के प्रमुख निबंध हमारे सामने आये। Congress Socialist और उसके बाद Janata अखिल भारतीय पैमाने पर समाजवादियों का प्रमुख पत्र रहा है। पार्टी की अखिल भारतीय नीति-रीति के संबंध में आधिकारिक तौर पर जानकारी इन्हीं दो पत्रिकाओं के स्तंभ में उपलब्ध है। पटने के 'जनता' से बिहार का राजनीतिक जगत पूर्ण परिचित है। वर्षों तक रामवृक्ष बेनीपुरी जैसे साहित्यकार के सम्पादकत्व में प्रकाशित यह पत्रिका समाजवादी आन्दोलन तथा साहित्य-रचना में विशेष योगदान करती रही है। इधर इसके संपादकीय की प्रमुख जिम्मेवारी श्री शिशिरकुमार की रही है।

विदेशों में भारतीय राजनीति-संबंधी अनुसंधान के प्रमुख केन्द्र इंगलैंड और अमेरिका में ही हैं। इंगलैंड के आक्सफोर्ड, केम्ब्रिज तथा लंदन विश्वविद्यालयों में भारतीय राजनीति संबंधी विभिन्न विषयों पर उच्च स्तर के अनुसंधान के प्रमुख केन्द्र हैं। १९५९ में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री सौलरोज की Asian Socialism नामक पुस्तक Oxford University Press ने प्रकाशित की। १९६० में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के सेंट ऐंटोनी कॉलेज द्वारा दक्षिणी एशिया की राजनीति से संबंधित निबंध-संग्रह लंदन के Chtto & Windus ने प्रकाशित किया। इसमें भारतीय समाजवाद पर भी एक निबंध शामिल है। १९५९ में लखनऊ के नरेन्द्र प्रकाशन द्वारा A History of Praja Socialist Party प्रकाशित हुआ था। भारतीय समाजवादी आन्दोलन का यह प्रथम इतिहास है। इस पुस्तक का प्रारूप आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अनुसंधान-पत्र के रूप में इस निबंध के लेखक द्वारा तैयार किया गया था।

Parliament in India नामक पुस्तक में Moris Jones ने भारतीय संसदीय व्यवस्था के विवेचन के साथ-साथ राजनीतिक दलों के संबंध में भी लिखा है।

अमेरिका में कैलिफोर्निया, शिकागो, हार्वर्ड, प्रिन्सटन, कोलम्बिया आदि विश्वविद्यालय भारतीय अध्ययन के प्रमुख केन्द्र हैं। पुस्तकों के अलावा इन केन्द्रों से उच्चकोटि की पत्रिकायें भी प्रकाशित होती हैं। Pacific Affairs, Far Eastern Journal, Foreign Affairs आदि ऐसी ही पत्रिकायें हैं।

विधि और धन : एक सिद्धान्त

श्री सौदागर

दस वर्ष की आयु से घुमन्तू के नाते जीवन आरम्भ कर यौवन में ही जो करोड़पति हो गया, वह यदि आज प्रौढ़ वयस में एक के बाद एक हानिप्रद कारोबार खोलने लगे तो दुनिया अवश्य कहेगी कि इस भले आदमी की मति मारी गई है।

किन्तु, विशेषज्ञों का कहना है कि यह हानिप्रद कारोबार चलाना उस भले आदमी की विचक्षणता और व्यवसायबुद्धि को ही प्रमाणित करता है।

लैपलैंड की सर्दी में आइसक्रीम का व्यवसाय प्रारम्भ करना या अफ्रीका के उष्ण अंचलों में शुद्ध ऊन की मोजा-गंजी का कारखाना खोलने का प्रस्ताव साधारण लोगों के आगे हास्योत्पादक बात है। क्योंकि, उन साधारणों की धारणा है कि व्यवसाय मात्र ही लाभ के लिये होता है। किन्तु, नुकसान उठाने के लिये भी व्यवसाय खोलने की जरूरत हो सकती है। इस प्रकार के इच्छाकृत नुकसान का उद्देश्य टैक्स से रिहाई पाना है एवं पार्किन्सन के विचार से इस मनोभावना का जवाबदेह होता है—आयकर का बढ़ता हुआ बोझ।

पार्किन्सन की काफी उम्र हो चुकी है, वे बहुत पहले के अध्यापक और लेखक भी हैं। उनके राजनीतिक विचारों को किसी भी प्रकार आधुनिक नहीं कहा जा सकता। इसीलिए, लंदन के 'इकोनोमिस्ट' पत्र में जब पाँच वर्ष पहले उन्होंने एक निबन्ध भेजा तब भी वे अज्ञातनामा ही रहे। अपने दैर्घ्य के कारण वह लेख बातिल हो उठा था, किन्तु वापस लौटा देने के पहले उस लेख को एक दफा पढ़ देखना जरूरी था, इसीलिये 'संपादन'-विभाग में जिनके ऊपर इसे पढ़ने और जाँचने का भार पड़ा उन्होंने तो इसे पढ़ा ही, बल्कि उन्होंने अपने विभाग के और भी पाँच जनों को पढ़ाया; सचमुच यह लेख असाधारण है कि नहीं—इसी को जाँचने के लिये। यह लेख 'पार्किन्सन लॉ' शीर्षक से 'इकोनोमिस्ट' में प्रकाशित हुआ।

उसी सप्ताह में इंगलैंड की सिविल सर्विस के ऊपर रॉयल-कमीशन की एक रिपोर्ट भी प्रकाशित हुई। किन्तु, पार्किन्सन के इस प्रबन्ध की ख्याति में रॉयल-कमीशन की यह रिपोर्ट भी दब गई। अनेकों ने सोचा कि यह प्रबन्ध रायल-कमीशन की रिपोर्ट का ही कोई महत्त्वपूर्ण अंश है, और ब्रिटिश सरकार के पास यह अभियोग भी आया कि उक्त रिपोर्ट से संबंधित प्रतियों में रिपोर्ट का यह अंश क्यों नहीं दिया गया। अपने इस प्रबन्ध को मुख्य बनाकर जो पार्किन्सन ने अपनी पुस्तक प्रकाशित कराई, वह अबतक प्रायः सवा लाख प्रतियों में बिक चुकी है; और इस अकेले प्रबन्ध की बदौलत इस समय पार्किन्सन एक विख्यात व्यक्ति हैं। पार्किन्सन की बादवाली पुस्तक 'दि लॉ एण्ड दि प्रैक्टिस' अभी प्रकाशित हुई है।

पार्किन्सन की पहली पुस्तक का अनुशासन है कि काम में लगाने के लिये जितना समय पाया जाता है, काम उतना ही बढ़ता जाता है। अर्थात्, कर्मचारियों की संख्या बढ़ाकर काम का दबाव कम नहीं किया जा सकता, क्योंकि तब समय प्रयोजनीय कार्यों में व्ययित न होकर अप्रयोजनीय कार्यों में व्ययित होता है। साम्प्रतिक पुस्तक में पार्किन्सन ने दूसरा अनुशासन लिखा है कि आय के साथ ही व्यय समान ताल पर बढ़ता जाता है, अर्थात्—एक्सपेंडीचर इजेज़ टू मीट इनकम। व्यक्ति के क्षेत्र में यह बात कितना बड़ा सत्य है, उसकी प्रत्येक अभिज्ञता हम सबों को भी होगी; किन्तु पार्किन्सन का विचार है कि यह नीति व्यक्ति के क्षेत्र में जितना सत्य है, सरकार के क्षेत्र में भी उतना ही सत्य। पार्किन्सन की इस उक्ति के पक्ष में अकाट्य प्रमाण है—बजट तैयारी करने की मौजूदा रीति। अगर आय को समझकर व्यय को तय करने की सरकारी रीति होती, तो सभी अर्थमंत्री शुरू में आय का हिसाब करके तब उसी के अनुसार व्यय का तसफिया करते। किन्तु, सभी देशों में ठीक इसके विपरीत ही रीति

प्रचलित है। पहले व्यय का हिसाब होता है, उसके बाद यह उद्योग किया जाता है कि आय को बढ़ाकर व्यय की कमी में पूर्त्ति की जाय। आय बढ़ाने का सबसे सहज तरीका है, नए टैक्स बढ़ाने का। जो टैक्स बढ़ाते हैं एवं जो टैक्स बढ़ाने के प्रस्ताव का अनुमोदन करते हैं, वे सभी समय लक्ष्य रखते हैं कि टैक्स का यह वजन उनपर या उनके वर्ग पर नहीं पड़े; और इसके फलस्वरूप टैक्सों का अधिक भाग नये टैक्सों का ही होता है। व्यक्तिगत टैक्स और उसके भार को वहन करनेवाले तो कुछ थोड़े ही लोग होते हैं।

पार्किन्सन ने कहा है कि टैक्सों का इतिहास युद्ध का ही इतिहास है। युद्ध के समय जरूरी अवस्था के कारणों को लेकर टैक्स बिठाये जाते हैं, किन्तु युद्ध समाप्त होने पर और उन जरूरी कारणों के हट जाने पर भी वे टैक्स फिर उठाये नहीं जाते। इसके बाद होने वाले युद्ध में फिर एक दफा नया टैक्स बिठाया जाता है, और इसी प्रकार युद्ध के बहाने सभी देशों में टैक्स की दर और नये टैक्स बढ़ाये गये हैं। इस रीति के मूल में एक प्रकार की भ्रान्त धारणा है कि यथेच्छ टैक्स वसूल लेना सम्भव बात है। पार्किन्सन के विचार में, टैक्स—विशेषतः व्यक्तिगत टैक्स—अर्थात् राष्ट्रीय आय का सैंकड़े दस हिस्सा—छोड़ देने पर देश की आय का मूलधन जाना शुरू हो जाता है। उसे बन्द कर सकने पर एवं टैक्स के व्यर्थ समझ सकने पर राष्ट्रीय आय का सैंकड़े बीस भाग टैक्स का वसूल होना संभव होने पर काम चल सकता है। इसके ऊपर टैक्स की दर बढ़ने पर टैक्स बकाया पड़ना शुरू होता है। सैंकड़े पच्चीस से ऊपर टैक्स की दर उठने पर मुद्रास्फीति अनिवार्य हो उठती है; सैंकड़े तीस के ऊपर हो जाने पर राष्ट्रीय प्रभाव में ह्रास आने लगता है, और सैंकड़े पैंतीस के ऊपर जाने पर राष्ट्र की स्वाधीनता समाप्त होने लगती है, और सैंकड़े छत्तीस पर तो सर्वनाश ही है। युद्ध के समय तो लगभग इससे भी ऊँची दर पर टैक्स बिठाने की आवश्यकता आ पड़ती है। किन्तु, स्वाभाविक समय में टैक्स की ऐसी दर आत्महत्या के दोषों में ही शामिल है। पार्किन्सन का विचार है कि राष्ट्र में ही राष्ट्रीय आय के छत्तीस प्रतिशत तक टैक्स बिठाने की अन्तिम सीमा है।

व्यक्तिगत टैक्स की वसूली दो प्रकार से होती है। जीवितकाल में प्राप्य टैक्स आय के ऊपर धार्य होता है, मृत्यु के बाद मूलधन और सम्पत्ति के ऊपर। इसलिये जो टैक्स के विषय में धोखा देना चाहते हैं, वे जीवितकाल भर में केवल यही प्रमाणित करने की चेष्टा किये रहते हैं कि उनकी आमदनी सामान्य है और उनके पास मूलधन भर ही है। मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी दिखाते हैं कि मृतक के पास कुछ भी मूलधन नहीं रहा; जो कुछ भी मृतक के अधीन रहा, सभी आय-निर्भर ही रहा। मृत्युकर से रिहाई पाने का उपाय है—समय रहते आत्मीयों या स्वजनों को सम्पत्ति 'दान' कर देना।

आयकर को धोखा देना, तुलना के रूप में, एक कठिनतर कार्य है। उसके अनेक तरीकों में एक होता है घाटे का कारोबार चलाकर उसी के बहाने लाभ के अंक को यथासंभव कम करके दिखाना।

पार्किन्सन ने मृत्यु और सम्पत्ति-कर के एक और कुफल का उल्लेख किया है। पहले शिल्प की पृष्ठपोषकता के लिये जो अर्थ व्यय किया जाता था, धनी लोग आज उस धन को घुड़दौड़ या शराब पीने में उड़ा देते हैं। क्योंकि, वे जानते हैं कि किसी प्रकार के स्थायी संग्रह का अर्थ होता है—अपने आप अपनी अकाल-मृत्यु बुलाना या फिर वह नहीं हुआ तो सम्पत्ति-कर का भार ग्रहण करना। पार्किन्सन का विचार है कि वर्त्तमान समय में जो कुछ सार्वजनीन क्षणिक आनन्द का नशा दिखाई पड़ता है, उसका कारण ही अतिरिक्त करभार है। टैक्स को टालने के लिये लोग 'लास्टिंग प्लेजर' के बजाय 'मोमेन्टरी प्लेजर' की ओर झुक रहे हैं। इसीके फलस्वरूप शिल्पकर्मों की माँग करनेवाले दिन-दिन कमते जा रहे हैं और शिल्प की भी अवनति होती जा रही है।

सरकारी व्ययवृद्धि का प्रधान कारण है, अपव्यय। युद्ध के समय जिस प्रकार टैक्सवृद्धि होती है, उसी प्रकार अपव्यय भी वृद्धि पाता है; क्योंकि तब समझकर खर्च करने का समय नहीं होता और क्योंकि तब सभी नियंत्रण बेपरवाही के ही होते हैं। युद्ध के बाद, युद्धकाल के टैक्स के समान अपव्यय भी टिका ही रहता है। और, उसके साथ जुड़ जाता है—अमला-तंत्र या नौकरशाही द्वारा

उद्भावित और-और अपव्यय भी। पार्किन्सन ने एक छोटे हिसाब से यह बात समझायी है कि यह खर्च कितना अधिक और व्यापक हो उठता है। अस्पताल में नर्सों के लिये जो टोपी के व्यवहार की प्रथा है, उसके लिये इंगलैंड में प्रायः एक करोड़ रुपये सालाना धोबी और दरजी पर खर्च होते हैं, जबकि इस टोपी का एक अलंकार होने के सिवा कोई अर्थ नहीं है। नर्सों की सरकारी पोशाक की धुलाई में भी वहाँ की सरकार का प्रायः एक करोड़ रुपया लग जाता है।

व्यय कम करने के अनेकों उपायों की चर्चा पार्किन्सन ने की है। उनमें से एक उपाय है—सारे प्रचार-कार्यालयों को बन्द कर देना। दूसरा है, सरकारी खर्च पर सरकारी कर्मचारीगण लेखक होने की जो साध मिटाया करते हैं, उसे बन्द कर देना। १९५७ साल में इंगलैंड में पाँच हजार सरकारी पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं, और उसके लिये सात हजार कर्मचारी और पचास हजार टन कागज लग गया था। हालाँकि अधिकांशरूप में इन पुस्तकों के न प्रकाशित होने पर कोई हर्ज नहीं होने को था।

उक्त पुस्तक में पार्किन्सन का मूल वक्तव्य है कि जिस प्रकार व्यक्ति के क्षेत्र में आय के अनुसार व्यय की रीति प्रचलित है, सरकारी बजट में भी इसी रीति का प्रवर्त्तन करना आवश्यक है। ऐसा न होने पर, पार्किन्सन ने जिन अवांछनीय अवस्थाओं का उल्लेख किया है, उन्हें दूर करना सम्भव नहीं होगा।

प्रसंगक्रम से पार्किन्सन ने वैदेशिक साहाय्य के सम्बन्ध में जो मन्तव्य प्रकट किया है, वह प्रणिधान के योग्य है। उनके विचार से, जिस आकार में अमरीकी सहायता ली जा रही है, उससे यह सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि अन्यत्र-अचल यन्त्रादि एशिया के दूसरे देशों को भी अमेरिका ने दान किया है; जिस कारण उन देशों की कारीगरश्रेणी मात्र अमेरिकी यन्त्रों के व्यवहार की अभ्यस्त हुई जा रही है। इस उद्देश्य के सफल होने पर, भविष्य में जब इन देशों की क्षमता यन्त्रों के खरीदने की हो जायगी; तब ये देश अपने उन कारीगरों के परामर्श के अनुसार अमेरिकन यन्त्र ही खरीदेंगे। यदि अमेरिका का कोई इस प्रकार का उद्देश्य न भी हो, तो भी उसकी इस सहायता के फलस्वरूप एशिया में अमेरिका की मित्रसृष्टि नहीं होने वाली है। क्योंकि बन्धुता तो होती है, समान से समान की। दाता और गृहीता के बीच बन्धुता असम्भव ही है।

THE LAW & THE PROFITS—By C. Northcote Parkinson; John Murray, London; P p 185; 15s.
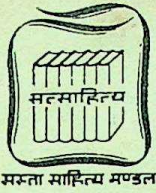
सस्ता साहित्य मण्डल
का
राजनैतिक साहित्य

दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह (गांधीजी)
आत्मकथा ,,
इंग्लैंड में गांधीजी (महादेव देसाई)
गांधी की कहानी (लुई फिशर)
बापू की कारावास कहानी (राजेन्द्र प्रसाद)
आत्मकथा ,,
गांधीजी की देन ,,
गांधीमार्ग ,,
मेरी कहानी (जवाहरलाल नेहरू)
राजनीति से दूर ,,
हिन्दुस्तान की कहानी ,,
विश्व इतिहास की झलक ,,
हिन्दुस्तान की समस्याएं ,,
कुछ पुरानी चिट्ठियां ,,
युगधर्म (हरिभाऊ उपाध्याय)
हिंसा का मुकाबला कैसे करें ,,
साधना पथ पर ,,
हमारे जमाने की गुलामी (टाल्सटाय)
क्रांति की भावना (क्रोपाट्किन)
नवयुवकों से दो बातें ,,
रोटी का सवाल ,,
काश्मीर पर हमला (कृष्णा मेहता)
मेरी जीवनयात्रा (जानकीदेवी बजाज)
लोकमान्य तिलक (पांडुरंग गणेश देशपांडे)
कोई शिकायत नहीं (कृष्णा हठीसिंग)
लद्दाख-यात्रा की डायरी (कर्नल सज्जनसिंह)
उट्ठारह सौ सत्तावन (श्रीनिवास बालाजी हार्डीकर)
आधुनिक भारत (आचार्य जावड़ेकर)
कांग्रेस का इतिहास (पट्टाभि सीतारामैया)
भारतीय नवजागरण का इतिहास (बाबूराव जोशी)
राजनीतिप्रवेशिका (हेरल्ड लास्की)
भारतीय स्वाधीनतासंग्राम का इतिहास (इन्द्र विद्यावाचस्पति)
मानव-अधिकार (विष्णु प्रभाकर : राजदेव त्रिपाठी)
हमारा कानून (रामस्वामी ऐयर)
भारतविभाजन की कहानी (एलन केम्पबेल जॉन्सन)

आदि-आदि

इन तथा हमारे अन्य प्रकाशनों की विस्तृत जानकारी के लिये लिखिये :

सस्ता साहित्य मण्डल
कनाट सर्कस : नई दिल्ली

आधुनिक हिन्दी कविता पर युद्ध का प्रभाव

श्री लक्ष्मीनारायण दुबे

पृथ्वी पर दो भयावह महायुद्ध अपना क्रूर संहार-नृत्य दिखला चुके हैं। इतिहास स्वयं की पुनरावृत्ति करता है। प्रथम महायुद्ध (सन् १९१४-१९१८) के कारणों का मूल तन्तु पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी के विगत इतिहास में ढूँढ़ा जाता है। जर्मनी का वैभव और दर्प जहाँ प्रथम विश्व-युद्ध का मूल आधार रहा, वहाँ जापान की प्रगति और समृद्धि द्वितीय विश्व-युद्ध के समय साम्राज्यवादियों की नजरों में खटक रही थी। इतिहास के अध्यायों ने सरककर प्रथम महायुद्ध के कारणों का ढ़ेर, पुनः विकसित कर, द्वितीय विश्व-युद्ध की बलवती स्पृहा तथा हिंसक प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट किया। द्वितीय विश्व-युद्ध (सन् १९३९-४४ ईस्वी) में जापान के नागासाकी एवं हिरोशिमा की छाती पर पड़े अणु-अस्त्र के दारुण प्रहार ने समस्त पृथ्वी पर भूचाल ला दिया। सारी धरती थर्रा गई। मनुष्य-जाति का भविष्य अन्धकारमय हो गया। मनुजता काँप गई। समग्र विश्व की काव्य-वाणी का लावा युद्ध के विरुद्ध सक्रिय हो पड़ा। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में खलबली मच गई। इन युद्धों के पश्चात् मानवीय विचारधारा, संस्कार, सभ्यता, संस्कृति, रूढ़ियाँ तथा साहित्य में अभूतपूर्व परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे।

कविता जन-भावना की प्रवाहिका और संग्राहिका है। जीवन-जगत के मधुर-तिक्त, महीन-विशाल और देशी-विदेशी विचार उसमें तत्काल प्रतिफलित होते हैं। युग की प्रगति के साथ-ही-साथ, काव्य की भी प्रगति एवं उसका परिमार्जन हो रहा है। कविता के मापदण्ड बदल रहे हैं। नई भाव-भाषा गढ़ी जा रही है। नये नायक साहित्य को रस प्रदान कर रहे हैं। हृदय की धड़कन और जीवन की संवेदनशीलता कविता में उतर, स्नात हो रही है। अंग्रेजी के आधुनिक काव्य ने युद्ध के पश्चात्-परक-प्रभावों और उपादानों को तीक्ष्णता के साथ ग्रहण किया। युद्ध की क्रीड़ाभूमि, नियमन-प्रारूप और संचालन-शक्ति का केन्द्र भी यूरोप ही रहा है। इसलिए आंग्ल काव्य का, संवेदनशीलता के साथ इस प्रकार के परिलक्षणों का अवलम्बन करना, स्वाभाविक ही दिखाई पड़ता है। युद्ध ने हमारी आस्थाओं को खोखला बना दिया है। हमें पार्थिवता, महत्त्वाकांक्षा, भय-अंधकार, कलह, प्रताड़ना से परिपूर्ण कर दिया है। जीवन-कुम्भ अब रिक्त-सा प्रतीत होता है। हमारे महत्त्वाकांक्षी राजनीतिज्ञों ने विज्ञान के महान् शक्ति-सम्पन्न साधन से अपने अस्त्रों को विशाल, युगान्तकारी और व्यापक बना लिया है। दुनिया एक बारूद के ढेर पर अवलम्बित है। एक स्फुलिंग ही उसको दावानल और दिगदिगन्त-दाहसम्पन्न करने में पर्याप्त है। अब यदि तृतीय विश्वयुद्ध हुआ, तो पश्चात्-कालीन वह युग आवेगा जिसमें महान् वैज्ञानिक आइंस्टीन की भविष्यवाणी के अनुरूप, लोग पत्थर से युद्ध करते दृष्टिगोचर होंगे। इसका तात्पर्य है : संसार का विनाश, पुरातन के प्रति प्रत्यावर्तन और सभ्यता की आरंभिक स्थिति, पाषाण-युग से हमारे जन-जीवन का समारम्भ। इतिहास फिर अपने पहियों को वापिस घुमाकर, अपनी आदिमावस्था की गति से अपने चिर-परिचित मार्ग पर आगे बढ़ेगा। अणु-शक्ति के आद्य आचार्य और जनक आइंस्टीन ने यह दुर्दशा देखकर ही, अपने को एक वैज्ञानिक होने की अपेक्षा, स्वच्छकार बनना अधिकतर श्रेयस्कर बतला कर अपनी आत्मा की वेदना को घनीभूत कर दिया था। यही वेदना और व्यंग्य की ध्वनि हमें आंग्ल युगप्रवर्तक कवि टी० एस० इलियट की काव्य-कृति 'वेस्टलैंड' में ध्वनित होती प्रतीत होती है, जिसमें प्रथम महायुद्ध के पश्चात् मनुष्य के विश्वासविहीन सांस्कृतिक पतन और अतृप्त तथा व्यग्र भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति की गई है।

हिन्दी काव्य पर युद्ध का प्रभाव आंग्ल काव्य के सदृश, व्यापकता और गहनता के साथ नहीं पड़ा। नई कविता में अवश्य ही कुछ चिह्न प्रखर और स्पष्ट दिखलाई देते हैं। इससे पूर्व के काव्य पर, विशेषरूपेण भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावादी युग, प्रगतिवादी युग आदि पर युद्ध का प्रभाव परोक्ष रूप से परिलक्षित होता है। महाकवि प्रसाद ने अपनी प्रौढ़तम काव्यकृति 'कामायनी,'

अपनी मृत्यु (सन् १९३७) के दो वर्ष पूर्व (१९३५), हिन्दी संसार को प्रदान की थी। स्वर्गीय प्रसादजी ने प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिका का नग्न रूप देख लिया था। उसी का प्रभाव कामायनी पर झलकता दिखलाई पड़ता है। कवि ने उसी भावना के अनुरूप हमारे युग की तर्कप्रियता को ही जीवन की असफलता का कारण माना है। श्रद्धा और आस्था का आधार ग्रहण करना और सुख-दुःख को समानावस्था के रूप में प्राप्त करना ही, सच्चे सुख की प्राप्ति है। महाकवि प्रसाद इस कृति में शैवमत के आनन्दवाद से प्रभावित हैं। बौद्धमत का करुणावाद उनके नाटकों पर आच्छादित है, जिसका प्रतिरूप मल्लिका आदि पात्रों के द्वारा देखा जा सकता है। प्रसादजी ने जीव-शास्त्र के इस नियम को काव्य में उतारा है कि योग्यतम ही जीवित रहता है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' में भी यही क्रिया सतत गतिशील रहा करती है। संसार के कल्याण के लिए, इस सांसारिक शक्तिप्राप्ति की प्रतियोगिता में विजयी व्यक्ति ही उपयुक्त है :—

स्पर्धा में जो उत्तम ठहरें वे रह जावें,
संसृति का कल्याण करें, शुभ मार्ग बतावें।

युद्ध में जहाँ महत्त्वाकांक्षा और प्रभाववत्ता का द्वन्द्व रहता है, वहाँ सक्षमता तथा सार्वभौमिकता के प्रमाणित करने का भी अवसर प्राप्त होता है। अणुओं की गतिशीलता तथा सक्रियता का रूप कवि ने इस प्रकार बाँधा है :—

अणुओं को है विश्राम कहाँ यह कृतिमय वेग धरा कितना,
अविराम नाचता कम्पन है उल्लास सजीव हुआ कितना।

इसी शक्ति का एक वेगपूर्ण चित्र दर्शनीय है :—

धू-धू करता नाच रहा था अनस्तित्व का ताण्डव नृत्य,
आकर्षणविहीन विद्युत्कण बने भारवाही थे भृत्य॥

प्रसादजी मनुष्यता के अनन्य उपासक थे। उन्होंने युद्ध के निंद्य कर्म को कभी भी प्रोत्साहित नहीं किया। विज्ञान से उत्पन्न जड़वादी सभ्यता और यंत्रचालित जन-जीवन को ही उन्होंने आज की विषमता एवं त्रास का मूल कारण माना है। अणुओं का सदुपयोग किया जा सकता है। आजकल हमारे भारत में उसका सदुपयोग हो रहा है। इस शक्ति के विद्युत्कणों को एकत्रित, घनीभूत एवं समन्वित करके, हम मानवता का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं और उस पर विजय का केतन फहरा सकते हैं। कवि की पावन वाणी, इसका निरूपण करती है :—

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त विकल बिखरे-से हैं निरुपाय,
समन्वय उसका करें समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।

कामायनी मनु से कहती है :—

औरों को हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ।

परन्तु इसी भावना का अभाव ही आज की कलुषता की मूलभित्ति है। यदि यह भावना उत्पन्न हो जाय, तो हम भी, साकेत के राम के शब्दों में, पृथवी को स्वर्ग बनाने वाली बात को चरितार्थ होते पा सकते हैं :—

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया,
जन-सन्मुख धन को तुच्छ जताने आया।
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥

डॉ० द्वारका प्रसाद मिश्र ने अपने अवधी भाषा के महाकाव्य 'कृष्णायन' का निर्माण द्वितीय विश्व-युद्ध के समय (सन् १९४३) में ही किया। इसपर उसका स्वल्प प्रभाव परिचालित होता है। युद्ध को कृष्णायनकार ने घोर अधर्म बतलाया है :—

केवल बल श्वापद व्यवहारा, बुद्धि युक्ति मानव आचारा।
बुद्धिसाध्य जब लगि नृपकर्मा, गहन युद्ध पथ घोर अधर्मा॥

श्री रामधारी सिंह दिनकर ने युद्ध की समस्या पर अत्यंत गम्भीरता के साथ अपने सात सर्ग वाले काव्य 'कुरुक्षेत्र' में विचार-विमर्श किया है। उसमें कवि ने युद्ध की अनिवार्यता घोषित की है। भीष्म पितामह अहिंसा, करुणा, प्रीति को मानव की कापुरुषता, अपौरुषेयता एवं कायरता का द्योतक मानते हैं। कवि ने ओजपूर्ण भाषाशैली में इसका प्रभावपूर्ण वातावरण उत्पन्न किया है। भीष्मपितामह का दर्शन वीरत्व, दर्प, शौर्य, साहस, हिंसा और अध्यवसाय से भरा हुआ है। कविवर दिनकर ने

युद्ध की समस्या को ही समस्त समस्याओं की जड़ माना है। कवि ने अपने इस विचारपूर्ण काव्य का सृजन उस समय किया, जबकि विश्व की छाती पर द्वितीय महायुद्ध का ताण्डव नृत्य हो रहा था। इसी भयंकर क्रियाशीलता का स्पष्ट प्रभाव 'कुरुक्षेत्र' पर पड़ा। भीष्म पितामह इसी भावना को बलवती बनाते हुए, हिंसा का प्रश्रय ग्रहण करते हैं :—

पाशविकता खड्ग जब लेती उठा
आत्मबल का एक वश चलता नहीं।
जो निरामय शुद्ध है तप-त्याग में
व्यक्ति का ही मन उसे है मानता।
योगियों की शक्ति से संसार में
हारता लेकिन नहीं समुदाय है।

दिनकरजी ने इस रचना में युद्ध को प्रधानता देते हुए भी, मानवीय गुणों के प्रसार को न्यून नहीं किया है। वे राष्ट्रोपासना के साथ-ही-साथ मनुजता के अनुयायी हैं। इस रचना के अन्त में वे सौम्यता, शुचिता और मनुष्यता के समन्वय की ही बात करते हैं। उनका सन्देश इन पंक्तियों में वह पड़ा है :—

युद्ध की ज्वरभीति से हो मुक्त
जबकि होगी सत्य ही वसुधा सुधा से सिक्त।
श्रेय होगा सुष्ठु विकसित मनुज का वह काल
जब नहीं होगी धरा नर के लहू से लाल।
श्रेय होगा धर्म का आलोक वह निर्बन्ध
मनुज जोड़ेगा मनुज से जब उचित सम्बन्ध॥

इसी प्रकार की आशावादी एवं युद्ध-विपरीत कल्पना एक अंग्रेज कवि भी करता है। सी० मैकाय कहते हैं कि आगत समय में अपनी श्रेष्ठ शक्ति के प्रतिपादनार्थ राष्ट्र एक-दूसरे से नहीं लड़ेंगे। इन सब चीजों के लिए सिर्फ थोड़े समय की प्रतीक्षा करने की और आवश्यकता है :—

"War in men's eyes shall be
A monster of iniquity
In the good time coming
Nations shall not quarrel then,
To prove which is the stronger,
Nor slaughter men for glory's sake
Wait a little longer".

—*C. Mackay,*
The Good Time Coming.

यूरोप में अमानुषिक अत्याचार और युद्ध के हाहाकार का रूप देखकर 'दिनकर' की वाणी का आक्रोश निम्न पंक्तियों में फूट पड़ा है :—

जो मंगल-उपकरण कहाते वे मनुजों के
पाप हुए क्यों।
विस्मय है, विज्ञान बिचारे के वर ही
अभिशाप हुए क्यों।
रणित विषय-रागिनी मरण की, आज
विकट हिंसा-उत्सव में।
दबे हुए अभिशाप मनुज के उगने लगे
पुनः इस भव में॥
शोणित से रँग रही शुभ्रपट संस्कृति
निठुर लिए करवालें।
जल्प रहीं निज सिंह पौर पर दलित
दीन की अस्थि मसालें॥

विश्व पर युद्ध की प्रहेलिका के आच्छादित होने पर महाकवि 'निराला' ने भी 'रुण्ड-मुण्डों से भी है खेत गोलों से बिछाये' कहकर अपने युग की नब्ज को पहचाना है। 'बेला' काव्य का निर्माण इसी युद्धकाल में ही हुआ है। कवि ने अपने इस प्रभाव को इन पंक्तियों में व्यक्त किया है :—

मैंने कला की पाटी ली है शेर के लिए
दुनिया के गोलन्दाजों को देखा, दहल गया।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' पर भी युद्ध का परोक्ष प्रभाव देखा जा सकता है।

नई हिन्दी कविता पर हमारे विश्व के प्रभावों को बड़ी स्पष्टता के साथ देखा और परखा जा सकता है। संसार की गति-विधियों के अधिक सन्निकट रहकर, उसने हमारी युगानुकूलता को प्रखर बनाया है। आज हमारा कवि यथार्थवादी स्वर को अपनत्व प्रदान करता है

और बुद्धि से छनी कविता के सृजन में विश्वास रखता है। नयी हिन्दी कविता नये प्रतिमानों की प्रतिस्थापना कर चुकी है। उसने सफलता के साथ जन-जीवन की उदात्त एवं ज्वलंत समस्याओं पर विचार-विमर्श किया है। विश्व का सुन्दर अथवा दारुण रूप उसकी व्याप्ति में आ समाया है। विज्ञान के नवीनतम आविष्कारों ने हमारे सामाजिक आचार-विचार के साथ-ही-साथ, साहित्य की क्रिया-प्रक्रियाओं को भी अभिभूत कर लिया है। यह तीव्र आदान-प्रदान और अनुभूतियों का युग है। पिछड़ने का अर्थ स्पष्टतया मरण का वरण करना है। हमारी कविताओं में विविध प्रकार की धाराएँ प्रस्फुटित हैं, जिनमें समाज के कई रूप उभर कर सामने आ रहे हैं। नई कविता का स्वर प्रमुखतया विश्वास एवं मनुष्यता का स्वर है। उसपर द्वितीय विश्व-युद्ध का प्रभाव पड़ा और तृतीय विश्व-युद्ध के मंडराते बादलों की आशंका भी उसमें व्यक्त हुई है। हम इस कविता को मानवीय जीवन एवं अन्तर्राष्ट्रीय संवेदन के अधिक सन्निकट पाते हैं।

श्री रामविलास शर्मा ने अपनी एक कविता 'कंकाल' में युद्ध के सामाजिक फल का रूप इस प्रकार चित्रित किया है :—

फैलाकर लम्बी सूखी उँगलियों को,
छिन्न-भिन्न कर देंगे काली छायाओं को,
निर्मोह युद्ध में
नर-मांसाहारी इन मृत्यु की बीभत्स छायाओं को।

डॉ० शिवमंगल सिंह सुमन की कृति 'प्रलय-सृजन' में युद्ध की स्पष्ट छाप अंकित है। इस काव्य में कवि का झुकाव साम्यवाद के प्रति अधिक दृष्टिगोचर होता है। 'सुमन' ने द्वितीय विश्व-युद्ध के समय सोवियत रूस को मानवता का रक्षक मानकर कई रचनाओं का निर्माण निष्ठा के साथ किया है। एकता और नवसृष्टि के निर्माण की कल्पना में यह प्रवृत्ति मुखर हो पड़ी है :—

दुनिया भर के मजलूमो अब, आज एक हो जाओ।
हम मेहनतकश, हमें कौन-सी ताकत रोक सकेगी?
अच्छा हुआ, ढहे सब खण्डहर, दुनिया नई बसेगी।

श्री भारतभूषण अग्रवाल की रचना 'जागते रहो' का भी निर्माण द्वितीय विश्व-युद्ध के समय हुआ था। अतएव, उसमें भी युद्ध के समय के प्रचारात्मक प्रभाव लिये गीत उपलब्ध हैं। श्री आलूरी बैरागी चौधरी की कविताओं में मानवता का स्वर चिन्तन के रूप में प्रखर हो उठा है। उनकी काव्यकृति 'पलायन' में युद्धोत्पन्न परिणाम के स्वरूपविश्लेषण सुन्दर ढंग से प्राप्त होते हैं। कवि ने इसका कारुणिक चित्रण अपनी सशक्त भाषा के द्वारा किया है :—

जगत सकल कराहता भयंकरास्त्र-भार से,
पिशाच खेल खेलते मनुष्य-मुंड-हार से,
समाज के चरण तले अनाथ व्यक्ति दलित है,
अबोध बाल खेलते अजान-से अँगार से।
उजाड़ विश्व-पंथ पर, लहूलुहान चरण धर
भटक रही मनुष्यता भ्रमित, नमित, सभार है।

भावुक और संवेदनशील हृदय के कल्पनाप्रवण कवि श्री गिरिजा कुमार माथुर की 'मंजीर', 'नाश और निर्माण' एवं 'धूप के धान' नामक काव्य-कृतियों में युद्ध की विभीषिका संबंधी स्फुलिंग कविता के माध्यम से आ बिराजे हैं। अपनी कवितायें 'अदन पर बमवर्षा', 'एशिया का जागरण', 'धरा दीप', 'पहिए', 'मैनहैरन', 'न्यूयार्क में फाल' आदि में युद्ध का व्यंग्यपूर्ण चित्र कवि ने हमें प्रदान किया है। उनका एक काव्यांश, एक गतिपूर्ण प्रभाववादी रूप प्रस्तुत करता है :—

लक्ष लक्ष टन अन्न कहाँ पर
है अशान्ति हित चक्र कहाँ पर
और शान्ति हित रक्त कहाँ पर
कितने सैनिक खत्त हो गये
कितने अभी और बाकी हैं
कितने खरबों की तैयारी
राकेट, जेट, उड़नबम बोले
शान्ति हमारी, शान्ति हमारी
और भभक कर
महाशक्ति बोली यों अणु की
मृत्यु हो चुकी है भविष्य की।

श्री माथुर ने 'आग और फूल' नामक अपनी कविता में अपने समाज और युग की उद्दीप्ति का सुन्दर प्रतिपादन किया है :—

उठते बगूले दर्द के दुख के यहाँ
हर लहर पर आते नये भूचाल हैं
उजड़ा पड़ा यह द्वीप बिकनी की तरह
फिर फिर सदा
संघर्ष का अणु-बम यहाँ जाँचा गया
यह व्यक्ति और समाज का
उतप्त मन्थन-काल है।

डा० धर्मवीर भारती ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के द्वारा साहित्य के विभिन्न अंगों की संपुष्टि की है। उन्होंने अपनी रचना 'अन्धा युग' में युद्धोपरान्त जन-जीवन का कारुणिक वर्णन किया है। इसे पढ़कर टी० एस० इलियट के 'वेस्टलैण्ड' के दृश्य आँखों के समक्ष घूमने लगते हैं। डा० भारती की सशक्त लेखनी ने इस युद्ध के प्रभाव का अंकन निम्न रूप में किया है :—

युद्धोपरान्त,
यह अन्धा-युग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ
सब विकृत हैं।

द्वापर युग के इतिहास में कवि ने मानो वर्तमान युग की जन-विशृंखलता तथा अस्तव्यस्तता को मूर्त रूप प्रदान कर दिया हो। डा० प्रभाकर माचवे ने भी अपने काव्य-संग्रह 'अनुक्षण' में पृथ्वी के इस परिवर्तित रूप पर विचार किया है। उन्होंने अपनी एक कविता 'मनु का वंशज' में बतलाया है कि विज्ञान की इच्छा के अनुसार तो समस्त शस्यश्यामला वसुन्धरा को श्मशान में परिणत किया जा सकता है :—

आधुनिक मनुज बोला—'मनुजी,
अणु-बम के जो नव-नव विधान।
उनकी इच्छा तो हरी-भरी धरती को कर दें समशान।'
मनु बैठ गये, सोचने लगे, विज्ञान-धर्म दोनों समान—
निर्बल मानव के रोगों का वे कुछ न कर सकेंगे निदान ?

हमारा कवि इन समस्त दुर्दशाओं एवं संकटों से क्षेम के लिए दुनिया के महापुरुषों और शान्ति-दूतों से प्रार्थना कर रहा है कि वे हमें नूतन मार्ग का अवलम्बी बनावें। हमारे राष्ट्र के कर्णधारों का भी यही गुरुतर दायित्व है। इसका सफल निर्वाह मानव-जाति के कल्याण के लिए नितान्त आवश्यक है। श्री निरंकार देव सेवक ने 'रूसी नेताओं के भारत आगमन पर' जहाँ हिमालय की मित्रता के हाथ आगे बढ़वाये हैं, वहाँ अणु-अस्त्र से ग्रस्त और भयभीत दुनिया के उद्धार और कल्याण की कामना भी उनसे की है :—

अणु-बम से संत्रस्त जगत को राह नई दिखलाओ,
बापू की समाधि पर श्रद्धा के दो फूल चढ़ाओ।
कोटि - कोटि हृदयों की आशा है जनजीवन दाता,
जय जय जय हे रूस देश के गौरव, भाग्य-विधाता।

सुकवि श्री 'शील' ने बर्बरता, क्रूरता का चित्रण करके नूतन मनुष्यता के सबल स्वर को प्रधान ममत्व प्रदान किया है :—

जल रहा रक्त की ज्वाला में कंकाल विषमता का विषाद
संघर्ष क्रान्ति की धरती से कर चुका पलायन भाग्यवाद
रख चुकी अशोषित मानवता अपने भविष्य की ओर चरण
जनरव के चित्र उतार रहा कविकुल की वीणा का निनाद।

आज शक्ति का ताण्डव नृत्य संसार को थर्रा रहा है। पार्थिव पराक्रम के द्वारा परोक्ष रूप से भय और भीति का संकुल वातावरण दुनिया में बनता दिखाई दे रहा है। जहाँ-तहाँ विज्ञान के अधुनातन आविष्कारों की प्रक्रियाओं की चर्चा है। हम अपने अस्त्रों को पैने कर रहे हैं। छद्म रूप में और वाह्याडम्बर में शान्ति को ओढ़े हैं। संसार की यह दुर्गति है। जनता का जीवन ऐसे समय में बड़ा संतप्त दिखाई पड़ रहा है। युद्ध कोई नहीं चाहता। सब एक-दूसरे से डरते हैं। हमारा विज्ञान हमें ही भस्मासुर बनकर हड़पने के लिये दौड़ा चला आ रहा है। या तो हमें भगवान विष्णु के कृत्य को सम्पन्न करना है, जिससे संसार की रक्षा हो सके अथवा भस्मीभूत होना है। दोनों में से एक का चयन करना है। चयन का रूप भविष्य के गर्भ में निहित है। उद्जन-अस्त्र के प्रयोग, अणुबम की व्यावहारिक क्रियान्विति और विध्वंसकारी युद्ध के विरुद्ध

हमारी नई कविता कटि-बद्ध होकर दृढ़ता के साथ खड़ी है, अड़ी है और आगे बढ़ी है। इस दिशा में सर्वाधिक शक्ति, चुनौती और ललकार से भरा स्वर हम कविवर 'नीरज' के काव्य में पाते हैं। उनके 'प्राणगीत' की कविता 'अब युद्ध नहीं होगा' अत्यंत प्राणवान एवं वेगपूर्ण रचना है। इस ढंग की रचनाएँ हिन्दी के आधुनिक काव्य में अंगुली पर भी गणना में नहीं दिखाई देती हैं। यह बड़ी सशक्त भावाभिव्यक्ति है। कवि ने प्राचीन मनीषियों, ग्रन्थों और शृंगार के समन्वित रूपक प्रस्तुत किये हैं। वीर, रौद्र और रति का ऐसा सुन्दर दृष्टान्त अन्यत्र दुर्लभ है। 'नीरज' ने कवि के दायित्व का सफल निर्वाह और अपेक्षित रूप इस कविता में दिखलाया है। युद्ध की स्थिति में देश का कारुणिक चित्र, हृदयस्पर्शिता के साथ प्रस्तुत किया है :—

क्या इन सब पर खामोशी मौत बिछा देगी,
क्या धुन्ध-धुँआ बनकर सब जग रह जायेगा?
क्या कूकेगी कोयलिया कभी न बगिया में,
क्या पपिहा फिर न पिया को पास बुलायेगा?
मैं सोच रहा युग जो इतिहास लिख रहा है,
क्या रक्त घुलेगा उसकी सारी स्याही में?
क्या लाशों के पहाड़ पर सूरज उतरेगा,
क्या चाँद सिसकियाँ लेगा ध्वंस तबाही में?

कवि ने ऐसी दारुणावस्था में बाल्मीकि एवं फिरदौसी की काव्यात्मा को जाग्रत किया है। 'नीरज' का स्वर आस्था एवं अडिग विश्वास से ओत-प्रोत है। ऐसा आत्म-विश्वास बहुत कम कविताओं एवं कवियों में देखने को प्राप्त होता है। कवि की आश्वस्त वाणी गर्जना कर उठती है :—

बढ़ चुका बहुत आगे रथ अब निर्माणों का
बम्बों के दलदल से अवरुद्ध नहीं होगा।
है शान्ति शहीदों का पड़ाव हर मंजिल पर
अब युद्ध नहीं होगा, अब युद्ध नहीं होगा।

इस अकेली कविता के बल पर 'नीरज' जी बहुत दिनों तक स्मरणीय बने रहेंगे। 'कविता को हस्तवरद' बनानेवाले सुकवि श्री मनोहर श्याम जोशी के स्वर में भी काफी निष्ठा दिखाई देती है। कवि के दायित्व का सुन्दरता से वहन करते हुए, वे युद्ध होने की स्थिति पर विचार करते हैं :—

नीले निर्मल जल को, हरी भरी धरती को
रेडियमधर्मी कुकर्मी कृत्रिम बादल को
बेशर्मी से बचाना होगा।
अन्यथा ये कल्लोल-विभोर मछलियाँ
ये मैथुन-मग्न कबूतरियाँ।
सब मर जायेंगी, मर जायेंगी।
न कवि रह सकेंगे
न कविताएँ ही रह पायेंगी।

युद्ध का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रभाव हमारे आधुनिक काव्य पर विभिन्न दृष्टियों से द्रष्टव्य है। युद्ध के साथ-ही-साथ विज्ञान का चित्रण भी हमारे यहाँ हुआ है। विज्ञान के प्रभाव ने हमें संक्षिप्तवादी, तर्कवादी और पार्थिवताप्रिय बना दिया है। युद्ध को यदि प्रतीक भी मान लिया जाय, तो भी उसके माध्यम से नाना प्रकार के सूत्र निसृत होते प्रतीत होते हैं। संसार की कलुषता, अत्याचार, अमानवीय कृत्य, साम्राज्य-वाद, उपनिवेशवाद, गुलामी, स्वतंत्रता, मानव-मानव में

अन्तर आदि बातों का निरूपण इस माध्यम से हुआ है। विश्व में व्याप्त दुःख-दैन्य, आतप, अन्तर्व्यथा, राजनीति, कुटिलता को भी यहाँ वाणी प्रदान की गई है। मानवता का पक्ष सबल एवं पुष्ट किया गया है और दानवता तथा पाशविकता की धज्जियाँ उड़ाई गई हैं। मानवता के चित्रण में सौम्यता, संस्कृति और सदाशयता के विचार मुखर होकर आये हैं। समानता, स्वतंत्रता एवं बन्धुत्व की त्रयीभावना को बड़ा प्रश्रय प्राप्त हुआ है। मानवजाति के कल्याण, प्रेम, प्रीति, स्नेह, ममत्व आदि का गुण-गान प्रचुर मात्रा में मिलता है। पुरातन सांस्कृतिक गरिमा का अनावरण करके सप्रयोजन रखा गया है। पुरानी कथाओं और पौराणिक आख्यानों के द्वारा युद्ध की विभीषिका को प्रदर्शित करने की चेष्टा की गई है।

हमारी मनुष्यजाति ने संसार के दो महान और भीषण संहारकारी युद्धों की कृष्ण छाया को प्रत्यक्ष रूप से देखा है। इतिहास के पृष्ठों में भी इनकी छाया बड़ी डरावनी, खूंखार एवं भयंकर लगती है। तृतीय युद्ध का नाम लेते ही रोमांच हो आता है। आज की विशाल एवं व्यापक वैज्ञानिक उपलब्धियों के युग में इस विभीषिका को हम अपनी कल्पना में सुरसा के मुख के समान वृहदाकार और प्राणघातक पाते हैं। वास्तव में तृतीय विश्व-युद्ध का फल कल्पनातीत प्रतीत होने लगता है। इस युद्ध एवं रक्तपात से भरे युग में वेद, उपनिषद्, तीर्थंकर-बुद्ध, अशोक-हर्षवर्द्धन और गाँधी-जवाहर का भव्य भारत शान्ति का सुखद एवं सुरम्य मार्ग बतला रहा है। हमारे कवियों पर भी यही गौरवपूर्ण एवं महत् उत्तरदायित्व है। युद्ध की समस्याओं पर सामयिक काव्य का निर्माण अपेक्षित नहीं। आज के इस परिवर्तनशील जगत की महती घटनाओं ने जन-जीवन के चिन्तन के मुख को मोड़ दिया है। ऐसे संक्रान्ति-काल में कवि का स्वर मेधा, साधना, आस्था एवं निष्ठा से परिपूर्ण होना

चाहिए। इसी प्रकार के उद्बोधक काव्य से समाज और युद्धत्रस्त संसार के कल्याण एवं हित की भावना सम्भव है।

डा० प्रभाकर माचवे की प्रस्तुत कविता की भावना ही, आज की पीड़ित एवं कातर दुनिया की संजीवनी है :—

हम श्रम से न ऊबें न धर्म की निष्क्रियता को जावें,
हम हों स्वतःप्रभु न पामर हों,
युद्ध और अवरुद्ध परिस्थितियों से, सबसे
हम निर्भय हों और निडर हों।
अणुबम का आतंक जगत् में फैलानेवाले दनुजों से
हम निर्भय हों शंका-पोषित सब अनुजों से।

संविधान के निर्माताओं के सामने सवाल था कि अँग्रेजी राज्य के साथ अँग्रेजी भाषा का प्राबल्य नष्ट होने पर किस भाषा को राजभाषा का स्थान दिया जाए। देशभर में स्वामी दयानंदजी ने धार्मिक उद्देश्य की और महात्मा गांधीजी ने राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए जिस भाषा को अपनाया था उसी को वह स्थान व मान देना उचित समझा गया। देश के सभी लोग अपनी मातृभाषा के बाद इसे अपनाएँ तो विचार-विनिमय के लिए सुविधा होती है। लेकिन मनुष्यस्वभाव ईर्ष्यालु होता है। देशी भाषाओं में से किसी भाषा को चुनने का सवाल पैदा होते ही मनुष्य के मन के चिरनिवासी षड्रिपु जाग उठते हैं।

—श्री श्रीप्रकाश

भारत में धर्म और राजनीति

श्री विश्वनाथ शास्त्री

ऋग्वेद में ऋत और सत्य दो बड़े महत्त्व के शब्द आए हैं। विश्व का अखंड नियम जो सर्वत्र फैला हुआ है, उसी को ऋत (Supreme law) कहते हैं। बाह्य जगत् की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमों के अधीन चल रही है। इन नियमों में एकरूपता है। सूर्य, चन्द्र आदि ऋत अथवा ईश्वरीय नियमों अथवा दैवी नियमों के अधीन चल रहे हैं। ऋत का अर्थ सृष्टि का सत्य है और यह बड़ा महत्त्वशाली है। सूर्य के व्रत में क्या कभी किसी प्रकार का स्खलन देखा या सुना गया है? दिन और रात के चक्र में तिल भर का अन्तर नहीं पड़ता। दैवी विधान पर्वतों की तरह स्थिर होते हैं।

सत्य मनुष्य-जीवन के प्रेरक नैतिक आदर्शों का नाम है। दैवी विधान के समान जब मानव अपने जीवन को नियन्त्रित करने का यत्न करता है, तो वह देवत्व के समीप पहुँचता है। ऋत और सत्य का घनिष्ठ संबंध है। प्रकृति के नियम को ऋत कहते हैं, मानव के तदनुसार व्रत को सत्य कहते हैं। सत्य और तदनुसार आचरण इन्हीं दो पहियों से मानव-जीवन का रथ चलता है। अरस्तू विचार और कर्म की एकता को सत्य मानता है। मनुष्य विचार तो करता है, परन्तु तदनुसार कर्म करने का उत्तरदायित्व नहीं अनुभव करता। दोनों का समन्वय ही सत्य है।

सत्य या सत्य के कुछ अंश को आधार बनाकर आचार्यों ने मानव-कल्याण के लिए कुछ नियम बनाए और उनका नाम धर्म रखा। परन्तु, सत्य और धर्म में सर्वदा ही अन्तर रहा है। सत्य शाश्वत और सार्वभौम गुण है। संसार के सब देशों और जातियों में सत्य की सर्वत्र प्रतिष्ठा है। भारत सरकार ने धर्मनिरपेक्ष राज्य बनाकर सत्य की महिमा को स्वीकार करते हुए अपना आदर्श "सत्यमेव जयते" ही बनाया है। सत्य वस्तुतः धर्मनिरपेक्ष अथवा सम्प्रदायनिरपेक्ष है। सत्य की महिमा को राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक और सभी प्रकार के विद्वान् स्वीकार करते हैं।

धर्म वस्तुतः सत्य की व्याख्या करने के लिए चला था, परन्तु उसमें देश, काल के प्रभाव से बहुत-सी वस्तुओं का समावेश हो गया। मानव अल्पज्ञ है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख आत्मा के लक्षण हैं। मानव अनिष्ट-आशंका करता है और अनिष्ट के निवारण के लिए मंगलाचरण करता है, देवों की उपासना करता है। अल्पज्ञ और असमर्थ होने के नाते वह देवों से धन-धान्य और सुख-समृद्धि की प्रार्थना करता है। धर्म में उपासना और भक्ति का तो विशेष रूप से महत्त्व है। भक्ति के लिए वह यज्ञ, दान, व्रत, पूजा अथवा संस्कार करता है तो यही उसका कर्मकाण्ड बन जाता है। धर्म में ज्ञान, कर्म और उपासना ये तीन प्रमुख काण्ड हैं। धर्म संसार और परलोक दोनों की समस्याओं को सुलझाने का यत्न करता है। इतनी गुत्थियों को सुलझाना कोई आसान काम नहीं। धर्माचार्यों का परस्पर मतभेद होना स्वाभाविक है। तभी तो कहा है—

> श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्नाः।
> नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्॥

अर्थ—श्रुतियाँ अलग-अलग हैं। स्मृतियाँ अलग-अलग हैं। एक भी ऐसा मुनि नहीं है, जिसका मत प्रामाणिक समझा जाय।

इस प्रकार के धर्म समय-समय पर बदलते भी रहते हैं और यह स्वाभाविक भी है। कहा भी है—

> युगेष्वावर्त्तमानेषु धर्मोऽप्यावर्त्तते पुनः।
> धर्मेष्वावर्त्तमानेषु लोकोऽप्यावर्त्तते पुनः॥
> श्रुतिश्च शौचमाचारः प्रतिकालं बिभिद्यते।
> नाना धर्माः प्रवर्त्तन्ते मानवानां युगे युगे॥

अर्थ—युग के परिवर्त्तन के साथ धर्म में भी परिवर्त्तन आता है। धर्म के परिवर्त्तन के साथ लोग भी बदलते हैं। श्रुति, शौच, आचार, प्रत्येक काल में भिन्न-भिन्न होता है। प्रत्येक युग में मनुष्यों में अनेक प्रकार के धर्म फैलते हैं।

समाज में मतभेद और सम्प्रदाय-भेद का होना स्वाभाविक है। इसका मूल कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति और रुचि में भेद का होना है। कोई व्यक्ति स्वभाव से ज्ञानप्रधान, कोई कर्मप्रधान और कोई भक्ति या भावनाप्रधान होता है। समय-भेद और देश-भेद से भी प्रवृत्ति-भेद हो जाता है। एक सीमा तक यह सम्प्रदाय-भेद स्वाभाविक होने के कारण व्यक्तियों की सत्प्रवृत्तियों के विकास का साधक होता है। यह तभी होता है जब सबके सामने कोई उच्चतर आदर्श होता है। परन्तु प्रायः साम्प्रदायिक नेताओं की असहिष्णुता के कारण सम्प्रदायों का वातावरण दूषित हो जाता है। हम धर्म के दोनों पक्षों का स्वरूप पाठकों के सामने रखते हैं। धर्म का उदार स्वरूप देखिए—

(१) सत्यादुत्पद्यते धर्मो दया दानाद् विवर्धते।
क्षमया तिष्ठते धर्मः क्रोधाद् धर्मो विनश्यति॥

अर्थ—धर्म सत्य से उत्पन्न होता है, दया और दान से बढ़ता है, क्षमा अथवा सहनशीलता से स्थिर होता है और क्रोध से नष्ट हो जाता है।

(२) केवलं धर्ममाश्रित्य न कार्यो धर्मनिर्णयः।
युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते॥

अर्थ—केवल धर्म का आश्रय लेकर धर्म का निर्णय नहीं करना चाहिए। युक्ति से रहित विचार में धर्म की हानि होती है।

(३) धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

अर्थ—धर्म के दस लक्षण हैं, यथा-धैर्य, क्षमा, मन को वश में करना, चोरी का त्याग, शौच अथवा पवित्रता, इन्द्रियों को वश में करना, बुद्धि, विद्या, सत्य, और क्रोध का अभाव।

(४) सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

अर्थ—सत्य बोले, प्रिय बोले, सत्य परन्तु अप्रिय न बोले, प्रिय परन्तु असत्य न बोले—यह सनातन धर्म है।

अब धर्म का संकीर्ण रूप देखिए। सांप्रदायिक विवाद-पद्धति का मौलिक आधार एकमात्र "शब्दप्रमाण" की प्रधानता है। शब्दैकप्रमाणवादिता शनैः शनैः सत्यान्वेषण-पद्धति से हट गई। विभिन्न कालों में विभिन्न विचारकों ने अपने-अपने मत प्रकट किए हैं, परन्तु साम्प्रदायिक लोग सब पूर्ववर्ती शास्त्रों को अपने अनुकूल बनाने में भरसक प्रयत्न करते हैं। यह स्वाभाविक है कि उपनिषदों के लेखकों ने विश्व के मूलतत्त्व के विषय में विभिन्न विचार दिये हैं, परन्तु वेदान्तसूत्र की रचना का मुख्य उद्देश्य यही है कि किसी प्रकार उपनिषदों के अन्तर्गत विभिन्न मतों में एकवाक्यता दिखाई जा सके। आजकल आर्यसमाज के विद्वान् वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, मनुस्मृति आदि सब शास्त्रों को ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों के अनुकूल बनाने का यत्न करते हैं। साम्प्रदायिक लोग अपने मत की पुष्टि के लिए शास्त्रों के अर्थ बदलने की चेष्टा करते हैं। वे लोग शब्दों, वाक्यों और संपूर्ण ग्रन्थ तक की भिन्न व्याख्या करते हैं। भारत में यह प्रवृत्ति पराकाष्ठा को पहुँची है। प्रस्थानत्रयी अर्थात् उपनिषद्, वेदान्त और गीता की अनेक सांप्रदायिक दृष्टिकोणों से व्याख्या की गई है। आजकल वेद भी "भानुमती का पिटारा" बन गया है। इसमें गणतन्त्र के आधुनिक सिद्धान्त ढूँढे जा रहे हैं। इस प्रकार वर्त्तमान को प्राचीन काल में आरोपित करने की प्रवृत्ति (Anachronism) बढ़ रही है, सांप्रदायिकों का जब उपर्युक्त बातों से काम नहीं चलता, तो वे शास्त्रों में प्रक्षेप बताने का यत्न करते हैं। ये सब बातें संकीर्णता की द्योतक हैं, इससे ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव और विचार-स्वातन्त्र्य का अभाव स्पष्ट विदित होता है। यही कारण है कि आजकल के विद्वान और उच्च कोटि के लोग धर्म अथवा संप्रदाय से दूर ही रहने में अपना कल्याण समझते हैं। सांप्रदायिक लोगों की संकीर्णता के कुछ उदाहरण देखिये। महाभाष्यकार पतंजलि ने "श्रमण-ब्राह्मणम्" के प्रयोग से श्रमणों और ब्राह्मणों में सर्प और नकुल जैसी शत्रुता का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आजकल के हिन्दू-मुसलिम दंगों के समान उस समय बौद्धों और ब्राह्मणों की लड़ाई होती थी। मनु ने वैदिक धर्म से भिन्न अन्य संप्रदायों की स्मृतियों को कुदृष्टि और तमोनिष्ठ (अज्ञानमूलक) कहा है—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥
१२-९५

हिन्दुओं और जैनों के संघर्ष को बतानेवाला यह प्रसिद्ध श्लोकार्द्ध है—

हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्॥

अर्थ—हाथी के आक्रमण करने पर भी जैन-मन्दिर में प्रवेश न करें।

आजकल का युग तो धर्मों के पारस्परिक संघर्ष से अत्यन्त दूषित है। हिन्दू-मुसलिम-संघर्ष पाकिस्तान बन जाने पर भी वैसा ही भीषण है। सिख लोग केवल साम्प्रदायिक आधार पर अपने लिए पृथक् प्रदेश की माँग करते हैं। ईसाइयों के प्रभाव से नागालैंड की पृथक् सृष्टि हो रही है। अतः, धर्म के उदार और संकीर्ण पक्ष तो पहले से चले आ रहे हैं और आगे भी चलते जाएँगे। धर्म में मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। संस्कृत में 'सम्प्रदाय' शब्द का प्रयोग भी निर्दोष है। सम्प्रदायों में स्पर्धा आदर्श के लिए होती है। संसार में सत्य के अन्वेषक ऋषि-मुनि भी थोड़ी-बहुत संख्या में रहेंगे। साधारण जनता तो धर्मों और सम्प्रदायों के चक्कर में ही रहेगी। अतः, हमें विचार यह करना है कि धर्म के दूषित वातावरण से किस प्रकार त्राण पाया जा सकता है और सत्य तथा सत्याचरण की प्रवृत्ति कैसे बढ़ सकती है।

अब हम राजधर्म की ओर आते हैं। आदर्श राज्य का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्।
आराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्।
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णूरथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्।
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः
पच्यन्तां। योगक्षेमो नः कल्पताम्।—यजुर्वेद २२-२१

अर्थ—हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण तेजस्वी हों, क्षत्रिय शूर-वीर हों, भर-भर कर दूध देनेवाली गायें हों, भारी-भारी बोझ ढोने वाले बैल हों, शीघ्रगामी घोड़े हों, गाँव का पथ-प्रदर्शन करनेवाली नारी हों, युवा और वीर सन्तान हों, सर्वत्र विजय हो, बादल समय पर बरसें, फल-फूल धन-धान्य सब समृद्ध हों, हम सब का योग-क्षेम हो, कल्याण हो, हम सब की सब तरह से समृद्धि हो।

अथर्ववेद में राज-धर्म के संबंध में पृथिवीसूक्त आता है। इसकी व्याख्या गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य पं० प्रियव्रत ने अपनी पुस्तक "वेद का राष्ट्रीय गीत" में की है। वैदिक साहित्य में राष्ट्र-धर्म के संबंध में यह उत्कृष्ट सूक्त है। इस सूक्त के एक मंत्र में यह वर्णन आता है कि हमारे राष्ट्र में विविध प्रकार की भाषा बोलने वाले और और नाना धर्मों को मानने वाले नागरिक रहते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥

आज धर्म और भाषा के आधार पर राष्ट्र के टुकड़े किए जा रहे हैं। क्या यह कोई नयी समस्या है? यह समस्या बहुत प्राचीन है। इसका समाधान भी प्राचीन है। भाषा और धर्म के आधार पर राष्ट्र के खंड नहीं बनने चाहियें। प्रसंगवश यह भी कह देना उचित होगा कि इस मंत्र में 'धर्म' शब्द संप्रदाय के अर्थ में ही आया है। आजकल धार्मिक नेता अपने मत को धर्म और दूसरे के मत को संप्रदाय कहते हैं। यह अर्थ का वाद-विवाद है। व्यवहार की दृष्टि से धर्म और संप्रदाय के अर्थ में कोई भेद नहीं है।

राज्य जनतन्त्र हो अथवा राजतन्त्र—इसमें दण्ड-व्यवस्था अथवा शासन-व्यवस्था के नियम तो लगभग एक समान होंगे। राज्य का मुख्योद्देश्य प्रजा का पालन है। प्रजा के पालन में न्याय का सर्वप्रथम स्थान है। न्याय करने के लिए राजा को ऋग्वेद के ऋत और सत्य इन्हीं का अनुसरण करना होगा। विशुद्ध न्याय और सत्य को किसी धर्म या संप्रदाय से प्राप्त करना एक दुराशा मात्र है। उदाहरण के लिए, भारत सरकार क्या किसी धर्म को राजधर्म बना सकती है? क्या यह हिन्दू धर्म को राजधर्म बना सकती है? प्रत्येक धर्म के आरंभ में तो कुछ सत्य के आधार पर नियम होते हैं। परन्तु शनैः-शनैः रूढ़ियाँ ही इन मौलिक नियमों का स्थान ग्रहण कर लेती हैं। बौद्ध

धर्म का अहिंसा-सिद्धान्त क्या कहीं भी बौद्ध-जगत् में व्यवहार में आ रहा है? बौद्ध लोग आज प्रत्येक प्रकार के प्राणी का मांस खा जाते हैं। हिन्दू धर्म का प्राचीन रूप आज व्यवहार में कहाँ आ रहा है? अथर्ववेद के एकतासूक्त (३-३०) का एक मंत्र देखिये—

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यंचोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥

अर्थ—तुम्हारा जल पीने का स्थान एक हो, तुम्हारा अन्न का भाग (भोजनशाला) भी साथ-साथ हो। एक ही जुए में तुमको साथ-साथ जोड़ता हूँ। मिल कर ईश्वर की पूजा करो। चारों ओर से जैसे पहिये की धुरी में अरे जुड़े रहते हैं।

इस सुन्दर संगठन की भावना के स्थान पर हिन्दू जाति में अस्पृश्यता के कठोर नियमों का आविर्भाव हुआ। इस भावना ने हिन्दू धर्म को जीर्ण-शीर्ण कर दिया। हिन्दू धर्म एक कच्चा धागा बन गया। क्या सरकार वर्णव्यवस्था, अस्पृश्यता-जैसे संकीर्ण विचारों को प्रश्रय दे सकती है? हिन्दू धर्म में शैव, वैष्णव, शाक्त-जैसे अनेक प्राचीन संप्रदाय और आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, रामकृष्ण-मिशन जैसे कई नए संप्रदाय हैं। सरकार किस संप्रदाय को राजधर्म बनाए? राज्य के लिए तो धर्म-निरपेक्ष होना नितान्त आवश्यक है। इसको तो अपना लक्ष्य "सत्यमेव जयते" ही बनाना चाहिए। राजा और प्रजा दोनों का इसी में कल्याण है कि राज्य तो धर्म-निरपेक्ष हो और व्यक्तियों को अपना-अपना धर्म-पालन करने की स्वतन्त्रता हो। धर्म को व्यक्ति तक सीमित करना ही अच्छा रहेगा। किसी संप्रदाय को किसी प्रकार के विध्वंसात्मक कार्य करने की आज्ञा न होगी।

पुस्तक-प्रकाशन में सम्पादन

श्री कृष्ण विकल

पुस्तक-जगत् के सितम्बर, १९६१ के अंक में प्रकाशित इस लेख की पहली किश्त में पुस्तक-सम्पादन[1]-कार्य को दो स्थूल अंगों—बहिरंग व अंतरंग—में विभक्त किया गया था, और उसमें बहिरंग-पक्ष पर विस्तार से विचार किया गया था। अब यहाँ पर अंतरंग-पक्ष के विविध पहलुओं पर दृष्टि डालेंगे।

वैसे तो अंतरंग और बहिरंग पक्ष अन्योन्याश्रित-से हैं। वे एक-दूसरे में अन्तर्मिश्रित हैं; जैसे शीर्षकों के डिस्प्ले के बारे में बहिरंग-पक्ष में विचार हो चुका है; किन्तु जब तक मैटर पढ़ा नहीं जाता, तब तक शीर्षक की स्थिति एवं टाइप का निर्णय कैसे हो सकता है? फिर भी यहाँ जो उक्त विभाजन किया गया है, वह इसलिए कि विषय-प्रतिपादन में सुविधा रहे।

दरअसल सम्पादन का अंतरंग-पक्ष बहुत ही दुस्तर एवं विशाल है। इसे कुछेक स्थूल नियमों में बाँधा नहीं जा सकता। दूसरे शब्दों में, इसके लिए कोई पैमाना नहीं बनाया जा सकता—हाँ, इसकी व्याख्या करने से कार्य के दायित्वों एवं सीमाओं को कुछ हद तक समझने में सहयोग मिल सकता है। इस लेख में इसी ओर प्रयास किया गया है।

अंतरंग-पक्षीय सम्पादन में जिन कुछ प्रमुख बातों पर विचार करना आवश्यक है, वे ये हैं—

(१) विषयगत संशोधन
(२) व्याकरण-सम्बन्धी संशोधन
(३) विराम-चिह्न-सम्बन्धी संशोधन
(४) एकरूपता-सम्बन्धी संशोधन
(५) निर्देशानुसार अश्लीलता, स्तर आदि विशिष्ट सीमागत संशोधन, आदि-आदि।

संपादन के उक्त पक्ष पर विचार करने से पूर्व संपादन के दायित्वों एवं सीमाओं की ओर थोड़ा संकेत कर देना आवश्यक है। वस्तुतः संपादन का कार्य लेखक से अपनी कृति में भूल से, या असावधानी से, या कुछ हद तक अनजाने में हो गई विविध अशुद्धियों का परिष्कार करके उसे सुन्दर एवं आधुनिकतम रूप देना है। इसके लिए उसे अपेक्षा के अनुसार छोटे-से-छोटे एवं बड़े से बड़े संशोधन करने होते हैं। कई बार तो उसे काफी स्वतन्त्रता से काम लेना पड़ता है; किन्तु सिद्धांतरूप में इसका यह अर्थ नहीं कि खैरता एवं स्वच्छंदता संपादन-कार्य के दायरे में आती है। सिद्धांततः संपादक को पांडुलिपि में ऐसे संशोधन करने का कतई अधिकार नहीं है जिससे लेखक की शैली एवं भाव-संपदा पर किसी अंश तक भी दूसरी छाप पड़ जाए। लेखक लेखक है और संपादक संपादक; दोनों का अपना-अपना महत्त्व है; किन्तु संपादन-कार्य की सीमाओं में संपादक की लेखनी, लेखक की अभिव्यक्ति में जहाँ कहीं अवरोध पैदा हो जाता है वहाँ सजग हो उठती है और स्थिति सँभाल लेती है। इससे भी ऊपर, लेखक से जो तथ्य-सम्बन्धी अन्यान्य भूलें हो जाती हैं संपादक की लेखनी की प्रखर नोक के नीचे आकर उन सबका परिष्कार हो जाता है।

अभी हिन्दी में मुद्रण से पूर्व पुस्तक-संपादन करने की परम्परा नहीं पड़ी है। बहुत-से प्रकाशक इसका महत्त्व ही नहीं समझते, वे इसे फालतू का काम समझते हुए 'खर्च बढ़ाना' पसन्द नहीं करते। किन्तु, उनकी यह रूढ़िग्रस्त समझ ही प्रेस और प्रकाशक के खर्च और दिक्कत को बढ़ाती है। वस्तुतः यह एक ऐसा प्रश्न है जिसपर पृथक विचार करने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, कई नामधारी लेखक तो अपनी लिखी पांडुलिपि के अनुसार शब्दशः मिलाकर छपवाने में विशेष आग्रही होते हैं; वे इसके लिए संपादक को मान्यता ही नहीं देते। मेरे कहने का आशय यह है कि अभी तक हम मुद्रण से पूर्व पांडुलिपि 'रिवाइज़' कराने के बारे में अपने-आप में ही स्पष्ट नहीं हैं। हिन्दी-जगत् की कुछेक अपनी विवशताएँ हो सकती हैं; किन्तु इसके महत्त्व को न आँके जाने में अधिकांश कारण हमारी कामचलाऊ कार्यविधि ही है। जहाँ आज

---

१. यहाँ 'पुस्तक-सम्पादन' से तात्पर्य है, प्रेस में मुद्रणार्थ पांडुलिपि भेजने से पूर्व उसमें उपयुक्त संशोधन करना।

पांडुलिपियाँ 'रिवाइज़' की जाती हैं वहाँ भी यह देखा जाता है कि यह किस लेखक की पांडुलिपि हैं; इसमें 'रिवाइज़' करने की जरूरत है या नहीं, आदि-आदि।

तथ्य तो यह है कि लेखक सजग हो या लापरवाह, पांडुलिपि सावधानी से तैयार की गयी हो या हड़बड़ी में, संपादन की उपयोगिता एवं आवश्यकता समान रूप से रहती है। यह बात अलग है कि सजग लेखक की पांडुलिपि में संपादक के लिए करणीय कम होगा और लापरवाह लेखक की पांडुलिपि में अधिक।

हाँ तो, संशोधन-संपादन करने से पहले संपादक को पांडुलिपि को इस आशय से उड़ती नज़र से जाँच लेना चाहिए कि इसमें कितना और किस प्रकार का सुधार एवं परिष्कार अपेक्षित है। तत्सम्बन्धी संकेत-सूची बनाकर उसे, यदि सुविधा हो तो, लेखक या सम्बन्धित अधिकारी से परामर्श कर लेना चाहिए। कई बार व्यवसाय की दृष्टि से, किसी विशेष पहलू को सामने रखकर, किसी द्वितीय कोटि या तृतीय कोटि की रचना को प्रकाशित करने के लिए प्रकाशक को विवश होना पड़ता है। वैसी स्थिति में संपादक के कार्य की सीमाएँ बढ़ सकती हैं, पर वैसी स्थिति में अपेक्षित उचित संशोधनों के बारे में अधिकारी अथवा लेखक को सूचित कर देना आवश्यक है। आवश्यक इसलिए नहीं कि लेखक की दुराग्रही अहम्मन्यता को प्रश्रय देना अभीष्ट है, बल्कि इसलिए कि संपादक कितना ही श्रम क्यों न कर ले, यदि लेखक थोड़ा हठी हुआ, या वस्तुतः कहीं भूल से संपादक की ओर से दो-एक अशुद्धियाँ भी हो गईं, महाशय आसमान भी सिर पर उठा लें तो आश्चर्य नहीं।

हाँ तो, यहाँ संपादक को बचकर चलने के उपायों और लेखकों का प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना अभीष्ट नहीं। अतः अब अपने मूल विषय पर आयें।

विषयगत संशोधन

परस्पर-विरोधी संदर्भों, पुनरावृत्ति-दोष से ग्रस्त वाक्यों, अधूरे कथनों एवं तथ्यों की स्पष्ट भूल आदि का संशोधन विषयगत संशोधन के अंतर्गत आता है।

उदाहरणतः, तथ्य-संबंधी अशुद्धियाँ प्रायः देखी जाती हैं। पुराने संस्करणों की पुनरावृत्ति में अभी यह छपते देखा गया है कि 'हमारा देश परतंत्र है, परन्तु गाँधीजी के प्रयत्नों से आजादी मिलकर रहेगी', 'पटेल हमारे गृह-मंत्री हैं', और 'मौलाना आजाद हमारे शिक्षा-मंत्री हैं'; आदि। साथ ही, प्रायः रीडरों एवं स्थायी महत्त्व की पुस्तकों में ऐसे वाक्य भी देखने में आते हैं—(क) बच्चो! रूस के प्रधान मंत्री हाल ही में हमारे देश की यात्रा कर चुके हैं। (ख) इसी वर्ष हमारे देश में बुद्ध-जयंती मनाई गई। ऐसे वाक्यों में 'हाल ही में' और 'इसी वर्ष' भ्रमोत्पादक हैं; इनका अनिवार्य रूप में बहिष्कार करना चाहिए।

इसी प्रकार अधूरे कथनों के कई उदाहरण हम नित्य-प्रति देखते हैं। जैसे, कई बार रचनाओं के नामों के आगे रचना-काल दिए जाते हैं, पर कई जगह पुस्तक का रचना-काल उपलब्ध न हो सकने के कारण लेखक ब्रैकट के बीच में रिक्त स्थान छोड़ देते हैं। पांडुलिपि-संशोधक को प्रेस के लिए अन्तिम रूप से पांडुलिपि तैयार करनी होती है। इसलिए उसे चाहिए कि उसके पास जिनके रेफ्रेंस हैं उन्हें सावधानी से ठीक कर दे, शेष स्थानों में ब्रैकट काट दे। इसी प्रकार यदि पांडुलिपि में, मैटर में फुटनोट का चिह्न लगाकर फुटनोट में रिक्त स्थान छोड़ रखा हो तो या तो वे स्थान लेखक के पास भिजवाकर ठीक करवा लेने चाहिए; यदि ऐसा संभव न हो तो फुटनोट का चिह्न उड़ा देना चाहिए। किन्तु अनुवाद-पुस्तकों में अनुवाद करके लगाना ही चाहिए, साथ ही मैटर में फुटनोट के चिह्नों को 'V' से चिह्नित कर देना चाहिए और सामने हाशिये में भी वैसा ही (V) चिह्न लगा देना चाहिए ताकि प्रूफरीडर को फुटनोट चेक करते समय कठिनाई न हो। इसके साथ ही, कई बार यह देखने में आता है कि छः ऋतुओं के नाम गिना कर चार का परिचय दे दिया जाता है और दो का नामोनिशान तक नहीं मिलता। ऐसे प्रसंग लेखक की असावधानी और सम्पादक की हड़बड़ी के परिणाम हैं। विषयगत संशोधन में विषय के विभाजित बिन्दुओं की जाँच कर लेनी चाहिए और यदि उपशीर्षक दिए हों तो उनकी भी जाँच कर लेनी चाहिए। कई बार तो शीर्षक-के-शीर्षक ही गायब मिलते हैं।

जिस पुस्तक में सन्-संवत् का उल्लेख हो; पुस्तकों, शहरों एवं व्यक्तियों के नाम दिए गए हों, उन्हें विशेष रूप से जाँच लेना चाहिए; तथा उनपर लाल स्याही से 'टिक मार्क' लगा देना चाहिए ताकि प्रूफरीडर आश्वस्त रहे। और, कई बार ऐसा देखा गया है कि विविध लेखकों के निबन्ध-संग्रह के किसी एक लेख में यूँ लिखा रहता है—'चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में ऊपर बहुत-कुछ कहा जा चुका है', आदि। और, वस्तुतः उक्त लेख में चरित्र-चित्रण के बारे में कुछ भी संकेत नहीं रहता; फिर भी यह वाक्य विषयगत अधूरेपन का झंडा गाड़े रहता है। वस्तुतः जिस पुस्तक से यह लेख लिया गया था, इस वाक्य का संबंध उसके पूर्वलिखित मैटर से था। किन्तु अब लेख के उससे विच्छिन्न होने के कारण यह वाक्य निरर्थक हो गया, साथ ही, अनर्थक भी। इसी प्रकार शेष अन्यान्य दोषों का यथावसर दूर करना अपेक्षित है। इसपर अधिक विस्तार के साथ न कहकर यहाँ इतना उल्लेख ही पर्याप्त होगा कि इसके लिए उक्त विषय के सम्बन्ध में सजग आलोचनात्मक एवं साहित्यिक सर्वेक्षण-दृष्टि परम अपेक्षित है।

व्याकरण-सम्बन्धी संशोधन

सम्पादक को व्याकरण-सम्बन्धी भूलों के प्रति भी सजग ही रहना चाहिए, अन्यथा किसी भी ग्रंथ के स्तर को हानि पहुँच सकती है। शब्दों और वाक्यों में असंख्य व्याकरण की भूलें यत्र-तत्र-सर्वत्र पायी जाती हैं। उन्हें किसी सीमा में बाँधकर रखना तो असम्भव-सा है; फिर भी यहाँ हम उसकी एक झाँकी अवश्य देखेंगे—

शब्दगत :

(१) 'पेंटिंग' शब्द को लोग 'पैन्टिंग' लिखते हैं और 'सुपरिण्टेण्डेण्ट' को 'सुपरिन्टेन्डेन्ट', जबकि उच्चारण के लिहाज से उक्त उदाहरणों में 'ण्' का प्रयोग शुद्ध है, 'न्' का नहीं।[1]

(२) प्रायः देखा जाता है कि लेखक 'वह' शब्द को एकवचन के साथ-साथ बहुवचन में भी इसी रूप में प्रयुक्त करते हैं, जबकि शुद्ध रूप है 'वे'। इसी प्रकार आदर-सूचक स्थलों में भी 'वे' का ही प्रयोग होना चाहिए, 'वह' का नहीं; जबकि कई लोग यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि एक-वचनीय संज्ञा का स्थानापन्न सर्वनाम बहुवचनीय कैसे हो जायगा (जैसे, 'राम आये' के स्थान पर 'वह आये')। किन्तु वे इस बात को भूल जाते हैं कि आदर-सूचक सर्वनाम में 'राम ने कहा' का 'उन्होंने कहा' (बहुवचनीय) रूप बनता है; फिर उसी विभक्ति के दूसरे समकक्ष रूप में बहुवचनीय रूप क्यों न होगा?

(३) जीवनीपरक पुस्तकों में प्रायः देखा जाता है कि चरित्रनायक के लिए एक वाक्य में कहीं 'वह' शब्द के रूपों का प्रयोग होता है तो दूसरे वाक्य में 'यह' शब्द के रूपों का। व्याकरण की दृष्टि से यह एक भयंकर भूल है। इनमें एक ही सर्वनाम के सम्यक् निर्वाह का प्रयत्न करना चाहिए।

(४) कई लोग 'वहाँ ही', 'यहाँ ही', 'वह ही', 'यह ही', 'उस ही', 'हम ही', 'वे ही', 'ये ही', 'उसे ही', 'उन्होंने ही' शब्दों का प्रयोग करते हैं, जबकि इनके लिए पृथक् एकशब्द हिन्दी में प्रचलित हैं—'वहीं', 'यहीं', 'वही', 'यही', 'उसी', 'हमीं', 'वही', 'यही', 'उसीको', 'उन्हींको' आदि।

(५) प्रायः देखने में आता है कि जातिवाचक संज्ञाओं की तरह व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के सामने कारक, विभक्ति रहने से 'घोड़े', 'गधे' की भाँति लोग 'आगरे', 'कलकत्ते' आदि रूपों का, बोलने और लिखने में एक-सा प्रयोग करते हैं (!) जबकि इस प्रकार का विचार ठीक नहीं।

(६) हिन्दी में पूर्वकालिक क्रिया मिलाकर लिखने की विधि अधिक प्रचलित है, जैसे—खाकर, पीकर, आदि। किन्तु भ्रमवश लोग 'प्रवेश कर', 'प्यार कर', 'भोजन कर' आदि पदों में भी संज्ञा के बाद आई हुई 'कर' (प्रधान) क्रिया को पूर्वकालिक प्रत्यय समझकर

१ किन्तु कई लोग अबतक इस भ्रम में हैं कि अंग्रेजी शब्दों में टवर्ग से पूर्व 'न्' का ही उच्चारण होता है; जबकि वास्तविकता यह है कि अंग्रेजों के पास 'ङ' और 'ञ' की तरह 'ण' के लिए पृथक् लांछन ही नहीं; वे उनके लिए 'न' (N) से ही काम चलाते हैं, और उच्चारण 'ङ' 'ञ्' और 'ण' का यथावश्यक कर लेते हैं।

मिला देते हैं। वस्तुतः 'करना' (कर) क्रिया के साथ आने पर पूर्वकालिक प्रत्यय 'कर', 'के' में बदल जाता है। या तो यहाँ 'प्रवेश करके', 'प्यार करके', 'भोजन करके' रूप बन सकते हैं या फिर 'के' शब्दांश लुप्त हो जाता है। कहने का अभिप्राय है कि जब 'प्रवेश करके' में से 'के' लुप्त हो गया, तो फिर वह मिल कैसे जाएगा!

(७) संस्कृत में 'मूर्छा', 'कर्तव्य', 'गोलार्ध', 'धर्म', 'आर्य' आदि रेफाक्रान्त शब्दों के दो-दो वैकल्पिक रूप (मूर्छा, मूर्च्छा; कर्तव्य, कर्त्तव्य; गोलार्ध, गोलार्द्ध; धर्म, धर्म्म; आर्य, आर्य्य, आदि) बनते हैं। हिन्दी में भी अब तक ये दोनों रूप समान रूप से व्यवहार में आते हैं; किन्तु अब वह समय है जबकि हिन्दी अपना मार्ग प्रशस्त कर रही है। अतः, हमें अपवाद-स्थितियाँ कम करनी होंगी। समय का आग्रह सरलता की ओर है; अतः हमें मूर्छा, कर्तव्य आदि पहले रूप अपनाने होंगे।

(८) संस्कृत के हलन्त शब्दों के रूपों को हिन्दी ने अपनी प्रकृति एवं आवश्यकता के अनुसार अपनाया है। अतः, सम्पादन-कार्य करते समय महान्-महान, सम्राट्-सम्राट, विराट्-विराट आदि शब्दों के साथ-साथ जगत्-जगत, पश्चात्-पश्चात, सत्-सत आदि युगल रूपों में से एक रूप चुनते हुए विद्वानों के एतत्-सम्बन्धी पूर्व-निर्णयों से अवगत हो लेना चाहिए तथा ऐसे रूपों को ग्रहण करने का प्रयास करना चाहिए जो कम-से-कम बाधा पहुँचाने वाले हों।

इसी प्रकार महत्त्व-महत्व, सत्त्व-सत्व, तत्त्व-तत्व— इन शब्दों में से एक चुनते समय शब्दों की पारम्परिक शृंखला का ध्यान रखना आवश्यक होगा। अतः महत्त्व, तत्त्व, सत्त्व रूप ही वरणीय होंगे।

(९) समस्त पदों में समास-भेद की प्रकृति को सामने रखकर ही उन्हें एक शिरोरेखा में रखने अथवा युग्रेखा (-) लगाने की व्यवस्था करनी चाहिए। उदाहरणतः, बहुव्रीहि समास में युग्रेखा कदापि नहीं लगानी चाहिए, मिलाना ही होगा ('सरलहृदय' होगा; 'सरल-हृदय' नहीं)। ऐसे ही अव्ययीभाव समास में जब अव्यय पूर्वपद में रहेगा तो युग्रेखा नहीं प्रयुक्त होगी, मिलाना आवश्यक होगा (प्रतिक्षण, यथाशक्ति, अनुदिन आदि रूप रहेंगे; प्रति-क्षण, यथा-शक्ति, अनु-दिन आदि नहीं)। किन्तु द्वन्द्व समास जहाँ दो शब्दों में होगा, वहाँ आवश्यक रूप से युग्रेखा का प्रयोग ही उचित होगा (दाल-भात, माता-पिता, आदि रूप रहेंगे; न कि दालभात, मातापिता आदि रूप)। तत्पुरुष समास में भी युग्रेखा लगाने या एक शिरोरेखा में रखने का निर्णय करते हुए यही देखना अनिवार्य है कि शब्द परस्पर आत्मीयता बनाए हुए हैं या नहीं। इसी प्रकार व्यक्तिपरक, हर्षजनक, एकतासूचक, समन्वयमूलक आदि शब्दों में लोग अनजान में या लापरवाही में युग्रेखा का प्रयोग करते देखे गए हैं (व्यक्ति-परक आदि)। साथ ही, लोग लब्ध-प्रतिष्ठ, कृत-प्रतिज्ञ, बौद्ध-कालीन आदि रूप बनाकर लिखते देखे गये हैं। पांडुलिपि को मुद्रणार्थ संशोधित करते समय सम्पादक को युग्रेखा के समुचित प्रयोगों-विप्रयोगों के बारे में अपने-आपमें स्पष्ट हो जाना चाहिए।

(१०) हिन्दी में भ्रान्ति से कुछ शब्दों के अशुद्ध रूप भी चल रहे हैं; उनका बहिष्कार करना चाहिए, जैसे—

अशुद्ध		शुद्ध
बाहों	...	बाँहों
भय्या या भैय्या	...	भैया
मंहगा	...	महँगा
फीट (बहुवचन)	...	फुट
हिरण	...	हिरन या हरिण
जाग्रत् या जाग्रत	....	जागरित
चिन्ह	...	चिह्न
दुनियाँ	...	दुनिया
मानों	...	मानो
संग्रहीत	...	संगृहीत या संग्रहित (हिन्दी रूप)
उपरोक्त	...	उपर्युक्त
कुंआ, कूंआ या कूआ		कुआँ
धुंआ, धूंआ या धूआ		धुआँ
ह्वाइट	...	व्हाइट
शैय्या या शैया	....	शय्या
सबों ने	...	सबने आदि, आदि।

(११) कुछ शब्द विकृत होकर हिन्दी भाषा में स्थान पा गए हैं। उन्हें किस्से-कहानियाँ, नाटक-उपन्यास आदि में यथारूप ले लेना चाहिए; हाँ, आलोचनात्मक पुस्तकों में उनका बहिष्कार कर सकते हैं। उदाहरणार्थ—प्रगट, व्यंग, मनोकामना आदि।

(१२) हिन्दी में कुछेक शब्द अज्ञान से ज़बान पर चढ़ गए हैं; और कइयों के लिए स्वाभाविक हो गए हैं। इन दोषों में से कुछ से तो बड़े-बड़े लेखक भी ग्रस्त हैं। इनपर ध्यान देना चाहिए। कुछेक उदाहरण—सदैव ही, ए० सी० करैण्ट, सज्जन पुरुष; गाँधी कैंप टोपी, लबे-दरिया किनारे, कृपया करके, स्वयमेव ही, राइटिंग में लिखकर दीजिए, आदि-आदि।

वाक्यगत :

वाक्य-सम्बन्धी शिथिलताएँ प्रायः हर कहीं देखने में आती हैं। यदि विभिन्न वाक्यों को रखकर यहाँ उनमें व्याकरण-सम्बन्धी गुण-दोषों को दिखाने का प्रयास किया जाए तो विषयान्तर ही होगा। अतः उदाहरण के लिए कुछेक वाक्य रखकर आवश्यक संकेत दे दिए जायँगे, जिससे कि वे मेरे प्रयोज्य अर्थ की झलक दिखाने में सक्षम होंगे। तो लीजिए कुछेक वाक्य और उनपर संक्षिप्त टिप्पणियाँ—

(१) 'आजतक लोग इस समाचार को सत्य नहीं मानते हैं।'

[यहाँ 'हैं' फालतू है।]

(२) 'रत्न, माणिक, मुक्तादि लिए वह समुद्र से बाहर निकला।'

[यहाँ 'मुक्ता आदि' चाहिए]

(३) 'वह नहीं आता था।'

[यहाँ 'नहीं' के स्थान पर 'न' चाहिए।]

(४) 'वे देश, समाज तथा जाति-प्रेम में डूबे हुए थे।'

[यहाँ 'जाति के प्रेम' चाहिए।]

(५) 'अन्तःकरण एक अस्पष्ट प्रकृति ही मालूम होती है।'

[यहाँ 'होता है' चाहिए।]

(६) 'रजनी उपन्यासकार हैं, वे अच्छी संपादिका भी हैं।'

[यहाँ 'सम्पादक' चाहिए।]

(७) 'यह रुपये हमें आपको देने चाहिएँ।'

[इस वाक्य का अर्थ तो यह है कि हमने आपके पैसे देने हैं; देने चाहिएँ। लेकिन कई बार लोग इसका उलटा अर्थ समझ लेते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि द्विकर्मक क्रियात्मक वाक्य में पहला कर्म-प्रयोग प्रधान (कर्त्ता) होता है, दूसरा गौण (कर्म)]

विरामचिह्न संबंधी-संशोधन

हिन्दी में विरामचिह्नों के प्रयोग के बारे में अव्यवस्था चल रही है। कई लेखक वाक्यों में आवश्यकता से अधिक विरामचिह्न (अल्प-विराम तथा हाइफन) लगाते हैं और दूसरे आवश्यकता होने पर भी विरामचिह्न नहीं देते। क्या डैश, कोलन, हाइफन; क्या सैमीकोलन, प्रश्नसूचक, आश्चर्यसूचक और क्या उद्धरणचिह्न—सभी में अव्यवस्था चल रही है। ऐसी स्थिति में इस विषय के प्रतिपादन में स्वतंत्र लेख की आवश्यकता है। हमें हिंदी में विरामचिह्नों के अधिक सुनिश्चित प्रयोगों के बारे में विश्वस्त जानकारी जुटानी है। किंतु फिलहाल यहाँ इस समस्या की झलक मात्र देना ही पर्याप्त होगा।

प्रश्नसूचक और आश्चर्यसूचक चिह्नों के प्रयोग में बड़ी धाँधली चल रही है। कुछ शुद्ध प्रयोग देखिए—

(१) 'हम लोगों को वह जादू कैसे मालूम होगा? कौन बताएगा?' ['?' तभी लगेगा, जब 'कौन बताएगा' आदि में प्रश्न रहेगा]।

यदि उक्त वाक्य का अर्थ हो, 'कोई नहीं बताएगा' आदि तो '!' लगकर वाक्य इस प्रकार होगा।—'हम लोगों को यह जादू कैसे मालूम होगा! कौन बताएगा!'

(२) 'बाप रे बाप, इतनी तकलीफ कौन उठाएगा!' ['?' नहीं]

(३) 'आज शीला के पिता होते तो इसे इतना दुख क्यों होता!' ['?' नहीं]

(४) 'उस दिन तुमने कितना खाया था?' [अर्थ—पाव दो पाव] और—

'उस दिन तुमने कितना खाया था!' [अर्थ—बहुत

(५) और, 'क्या मुसीबत है!' ['?' नहीं]

(६) 'कितना सुन्दर दृश्य है !' [पूर्णविराम नहीं]

(७) 'उसने पूछा कि तुम कब आए।' ['?' नहीं]

(८) 'उसने मुझसे छूटते ही पूछा कि तुम कहाँ गए थे, किधर रहे, क्या-क्या किया, इतने दिन क्यों लग गए।' [लोग प्रायः भ्रमवश उक्त वाक्यों में हर अल्प-विराम के स्थान पर '?' लगा देते हैं, जो नितांत गलत है।]

इनके अलावा '—' (डैश्) के विविध प्रयोगों में हिंदी में अभी भ्रामकता फैली हुई है। उसे समझना चाहिए। सैमीकोलन और उद्धरणचिह्नों के विशिष्ट प्रयोगों की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए। डैश् टूटे हुए वाक्य के अंतर्गत अलग-अलग पड़े वाक्यों को मुखरता प्रदान करता है; अर्थ के स्पष्टीकरण में चुस्ती लाता है। ब्रैकेट से कुछ कम पृथक्ता अपेक्षित हो तो डैश् ब्रैकेट के स्थानापन्न के रूप में काम करता है। कहीं-कहीं शीर्षक में अपने लम्बाकार दोष के कारण यह कोलन (:) को अपना स्थान भी दे देता है। अनुच्छेद के अंत में डैश् अपना रूप बदल कर कोलन बन जाता है, किंतु सेमीकोलन की बात जुदा है। वह कॉमा का बड़ा भाई है। इसमें ठहराव ज्यादा है। कोलन वाक्यों के आकार में वृद्धि करता है और पूर्ण-विराम को अपेक्षाकृत दूर भागता है। हाइफन शब्दों के अर्थों को जोड़ती हो या अलग करती हो, प्रकट रूप में तो जोड़ती ही है। लोग कहते हैं कि कइयों को हिंदी में हाइफन लगाने का बड़ा चाव है। पर यह बात भी ठीक है कि बहुत-से लोग हाइफन से नफरत करते हैं। वस्तुतः कई सोचते हैं कि हिंदी में कम-से-कम संस्कृत के समस्त पदों में तो संश्लेषणात्मक पद्धति अपनानी ही चाहिए तो कइयों का विचार है कि वहाँ भी विश्लेषणात्मक पद्धति ही अपनानी चाहिए। जो भी हो, हाइफन के सुनिश्चित सिद्धांतों के बारे में हमें अपवादों को कम करना होगा। इसी प्रकार, उद्धरणचिह्नों के विविध प्रयोगों के बारे में निश्चित रूप से स्पष्ट होना होगा।

एकरूपता-संबंधी संशोधन

अखिल भारतीय हिंदी प्रकाशक संघ ने गतवर्ष एक प्रारूप विचारार्थ प्रचारित किया था। उसपर विद्वानों के अन्यान्य लेख प्रचारित हुए थे। बाद में शिक्षामंत्रालय ने भी उससे मिलता-जुलता रूप पास किया। फिर भी उसमें अभी काम होना बाकी है। किंतु पांडुलिपि-संशोधक के लिए यह आवश्यक है कि वह एकरूपता-संबंधी कुछ नियमों को सामने रखकर पांडुलिपि का संशोधन करे। प्रयत्न यही रहना चाहिए कि ऐसे सिद्धांतों का पालन किया जाय, जो अधिक संगत तथा प्रचलनीय हों, साथ ही पांडुलिपि में जो शब्द प्रयुक्त किये जाएँ, उनकी सार्वजनिक एकरूपता बनी रहे—ऐसा प्रयास करने से मुद्रित पुस्तक के स्तर में निःसंदेह अभिवृद्धि होती है।

निर्देशानुसार फुटकर संशोधन

किंतु इन बातों के अलावा पांडुलिपि-संशोधक को प्रकाशक के नजरिये का पालन करना होता है। स्तर की दृष्टि से जो भी संशोधन अपेक्षित हों उन्हें यथाविधि सम्पन्न करना चाहिए। वैसे तो अश्लीलता के मापदंड अलग-अलग हो सकते हैं, बच्चों की पाठ्य-पुस्तकों में यौन-उत्तेजक बातों का परिहार करना अनिवार्य है। पर यौन-विषयक ग्रंथों में नहीं। ऐसे ही दूसरे संशोधनों के बारे में भी कहा जा सकता है। किंतु इतना तो हमें मानकर चलना होगा कि देश में फूट डालनेवाले, किसी सम्प्रदाय, किसी वर्ग या जाति-विशेष पर आघात करने वाले तथ्यों पर संदेह-चिह्न लगाकर उनका परिहार करना सम्पादक के दायित्वों में आता है। किंतु इसमें भी सम्पादक को प्रकाशक और लेखक का मुँह ताकना ही पड़ता है। अस्तु।

कविता, कहानी आदि विषयों के अनुसार जो कुछेक बातें विशेषतया कथनीय हैं, उनका उल्लेख अगले लेख में किया जाएगा।

राजनीति और साहित्य

श्री छविनाथ पाण्डेय

राजनीति और साहित्य का घना संबंध है। दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं। साहित्य की उन्नति के साथ राजनीति की उन्नति अवश्यंभावी है। बल्कि सच बात तो यह है कि साहित्य की उन्नति पर किसी भी देश की सर्वांगीण उन्नति निर्भर है। जिस देश का साहित्य जितना उन्नत होगा, वह देश उतना ही उन्नत होगा। इसीलिये किसी राजनीति-विशारद ने कहा था, यदि तुम मुझसे यह जानना चाहते हो कि देश कितना उन्नत है तो मुझे उस देश के पुस्तकालयों और पुस्तकों की संख्या बतला दो और मैं तुम्हें सही-सही उत्तर दूँगा।

साहित्य का बल अपरिमेय और अतुलित है। इसीलिये किसी मनीषी ने कहा था—जब तोप मुकाबिल हो, तो अखबार निकालो। अखबार तोप का मुँह बन्द कर देता है या उसके प्रभाव को निकम्मा बना देता है। साहित्य ने बड़े-बड़े शक्तिशाली राष्ट्रों की जड़ें हिला दीं। बड़े-बड़े राजाओं के मुकुटों को धूलि-धूसरित कर दिया। फ्रांस की राज्यक्रान्ति हुई रूसो के 'सोशल कण्ट्राक्ट' के प्रभाव से। मेजिनी के लेखों ने इताली के राजतंत्र का तख्ता उलट दिया और रूस की राज्यक्रान्ति का उद्गम भी साहित्य के प्रभाव से ही हुआ।

इस तरह हम देखते हैं कि साहित्य सदा राजनीति का अगुआ रहा है। साहित्य राजनीति को सदा प्रेरणा देता रहा है। राजनीतिज्ञ को लोग भूल जाते हैं, लेकिन साहित्य का स्रष्टा सदा अमर रहता है। अपने ही देश को ले लीजिये। सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी भी बंगाल में ही पैदा हुए थे। कवीन्द्र रवींद्र भी बंगाल में ही पैदा हुए थे। बंग-भंग जमाने में सर सुरेन्द्र देवता की तरह पूजे जाते थे। उनका सिंह-गर्जन ब्रिटेन को थर्रा देता था। लेकिन आज उनका नामलेवा भी कोई नहीं है। लेकिन रवींद्र-शताब्दी की संसार में धूम है। सम्राट् अकबर महान् केवल मात्र इतिहास के पन्नों में रह गये, लेकिन गोस्वामी तुलसी-दास सूदूर देहात की झोपड़ियों में भी पूजे जाते हैं।

मैंने लिखा है कि साहित्य राजनीति का अग्रदूत है, लेकिन हमारे देश में कुछ उल्टी ही बात देखने में आती है। मध्ययुग में हमारा साहित्य राज्याश्रयी था। राजाओं का आश्रय पाकर ही यह फूला और फला। राजाओं की स्तुति, उनकी प्रशंसा में ही उस युग के हमारे साहित्य-कारों का जीवन बीता। हमें वही मनोवृत्ति विरासत में मिली। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को देशप्रेमी और देशाभिमानी कहने के लिये लोग उनकी कविताओं से खोज-ढूँढ कर एकाध उदाहरण पेश करते हैं। जैसे,

> **आबहु सब मिलि रोबहु भारत भाई,**
> **हा हा, भारतदुर्दशा न देखी जाई।**

लेकिन इन छिटफुट पंक्तियों से जनता को प्रेरणा नहीं मिल सकती। हरिश्चन्द्र-युग में भी इस देश में रस और शृंगार की ही सरिता बहती रही। हमारे कवियों का प्रधान विषय शृंगार ही रहा। भारतेन्दु की रचनायें भी इसी से ओतप्रोत हैं—

> "हरिचन्द निबाहन की न हुती अपनाइ के क्यों
> बदनाम कियो"—आदि।

बंग-भंग के बाद कुछ उत्प्रेरक साहित्य अवश्य प्रकाशित हुए लेकिन वे या तो अंग्रेजी में थे या बंगला में। उस युग की सरदार अजीतसिंह की कुछ पंक्तियाँ अवश्य मिलती हैं। जैसे,

> **वे कहते हैं हमको निकलने न देंगे**
> **नहीं चैन उनको निकाले बिना है।**

राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत जनता को जगाने वाला हिन्दी का पहला समाचार-पत्र कानपुर का 'प्रताप' है। यह पत्र सशस्त्र-क्रान्ति-आन्दोलन के बाद ही प्रकाशित होने लगा। इसके बाद ही हिन्दी में राजनीतिक साहित्य आने लगे। उनमें से अधिकांश अंग्रेजी या बंगला के अनुवाद मात्र थे।

उसके बाद सन् १९२० का असहयोग-आन्दोलन शुरू हुआ। इस आन्दोलन से हिन्दी साहित्यकारों को अद्भुत प्रेरणा मिली। इस युग में राजनीतिक साहित्य का सृजन प्रचुर मात्रा में हुआ। खेद है कि उस युग की

राजनीतिक कविताओं का समग्र संग्रह नहीं किया गया और वे विलुप्त होती गयीं। यदि उन कविताओं का संग्रह किया गया होता तो हिन्दी में राजनीति-साहित्य की वह अद्‌भुत सामग्री होती। वह सामग्री खो गई, विलुप्त हो गई।

१९२२ में महात्मा गाँधी जेल गये, असहयोग-आन्दोलन शिथिल पड़ गया। साथ-ही-साथ हमारे साहित्यकार भी साहित्य के सृजन में शिथिल पड़ गये। यदि हिन्दी साहित्य का इतिहास उठाकर देखा जाय तो प्रकट होगा कि आन्दोलन के युग में हमारे साहित्यकारों ने जो स्फूर्ति दिखाई, वह स्फूर्ति आन्दोलन के शिथिल होने के बाद नहीं रही।

सन् १९३० के सत्याग्रह-आन्दोलन से भी साहित्य को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। इस आन्दोलन-काल में जेलों में भी उत्कृष्ट साहित्य की रचना हुई। सन् १९२० के आन्दोलन का प्रभाव जहाँ अस्थायी था, अर्थात् अन्दोलन के मन्द पड़ते ही साहित्य की प्रगति भी मन्द पड़ गई, वहाँ १९३० के आन्दोलन का प्रभाव स्थायी हुआ। इसके बाद हिन्दी साहित्य की प्रगति स्थायी रही और उसके बाद के १९४२ के आन्दोलन ने इस प्रगति में नवचेतना भर दी।

इसके बाद भारत का नया संविधान बना और संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया गया। इससे हिन्दी साहित्य को नई प्रेरणा मिली और हिन्दी साहित्यकारों का ध्यान हिन्दी भाषा को समृद्ध बनाने की ओर गया।

इस तरह हम देखते हैं कि अन्य देशों के प्रतिकूल, हिन्दी साहित्य को प्रेरणा राजनीति से मिली और आज भी हम उक्त वातावरण से मुक्त नहीं हैं। आज भी हमारे लेखक और प्रकाशक सरकार का (राजनीतिज्ञों का) ही मुँह जोहते रहते हैं। हिन्दी के लेखक अपने को तभी धन्य समझते हैं जब उनकी पीठ सरकार सहलावे, राजनीतिज्ञों से उन्हें पेट्रनेज मिले। और, प्रकाशक तभी फल-फूल सकता है जब उसकी पुस्तकें पाठ्य-पुस्तक के रूप में स्वीकृत हों या सरकार के द्वारा उनके प्रकाशन खरीदें जायँ। हिन्दी में पाठकों का सर्वथा अभाव है। इसका एकमात्र कारण यही है कि राजनीतिक चेतना से हमारे देश के रहने वाले प्रभावित नहीं हैं। साहित्यिक चेतना तो उनमें नहीं के ही बराबर है और हिन्दी के लेखक भी दो ही कोटि के हैं। एक तो उस श्रेणी के हैं जो शुद्ध समालोचनात्मक साहित्य के लेखक हैं और इस तरह के साहित्य को पढ़ने वाले केवल कॉलेजों अथवा शिक्षण-संस्थाओं में पाये जाते हैं। दूसरी कोटि के वे लेखक हैं जो "वादों" को लेकर लिखते हैं। इस कोटि के पढ़ने वालों की संख्या नितान्त कम है, क्योंकि राजनीतिक चेतना के अभाव में जनसाधारण की रुचि उस साहित्य की ओर नहीं है। इस तरह, राजनीति से सटे रहने के कारण हिन्दी साहित्य की प्रगति उस तरह नहीं हो रही है जैसी उन्नति किसी जाग्रत भाषा की होनी चाहिए। कहने को तो हिन्दी भाषा के पढ़ने वालों की संख्या २२ करोड़ से भी ज्यादा है, लेकिन जब पुस्तकों की खपत की ओर दृष्टि डालते हैं तब निराश और मायूस होना पड़ता है।

और, हिन्दी की यह दशा तबतक ऐसी ही बनी रहेगी जबतक इस भाषा के लेखक राजनीतिज्ञों के पिछलगुआ बने रहेंगे।

मेरे कहने का मतलब यह कदापि नहीं है हिन्दी के सभी लेखक राजनीतिज्ञों के मुखापेक्षी हैं। लेकिन जो राजनीतिज्ञों से अपने को दूर रखना चाहते हैं, अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम रखना चाहते हैं, शुद्ध साहित्यिक बने रहना चाहते हैं, उनकी कदर नहीं, चाहे वे कितने भी योग्य क्यों हों। मैं तो उदाहरणों द्वारा इस विषय को स्पष्ट भी कर देता, लेकिन हमारा सामाजिक वातावरण इतना दूषित है कि वास्तविकता यदि हमारे प्रतिकूल पड़ती है तो हम यथातथ्य रूप से उसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं, बल्कि लेखक कोप का भाजन बन जाता है। इसलिए उस विषय में मौन रहना ही श्रेयस्कर है।
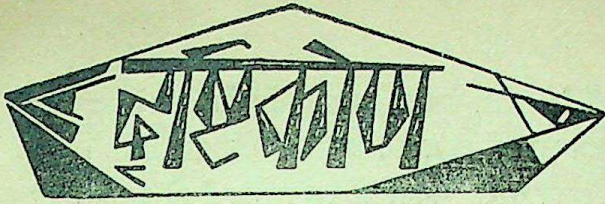
राज्याश्रय और साहित्य-जीविका

श्री नागार्जुन

मौजूदा शासन के अंदर सर्वांशतः राज्याश्रय सच्चे साहित्यकार के लिए ठंडी कब्र है यानी प्राणशोषक समाधि।

युगनिर्माता साहित्यिक जब आज के आरामतलब और चापलूस आफिसरों के दर्म्यान जा पहुँचता है तो उस पर 'भई गति साँप-छुछूँदर केरी' वाली कहावत लागू हो ही जाती है। धीरे-धीरे उसके अंदर का युगशिल्पी मर जाता है, फिर उस विमूढ़ और पतित हंस की चोंच का पहला शिकार सरस्वती की खुद की वीणा ही होती है···

'राज्याश्रय' कोई मामूली शब्द नहीं समझा जाए, वह तो हमारे युग-दर्शन का एक 'बीजक' शब्द है। इसकी व्याख्या में क्या नहीं समा सकता है? मगर यहाँ उतने विस्तार में जाने का न तो अवसर है, न वह हमें अपेक्षित ही है। साहित्यकारों के लिए राज्याश्रय के क्या-क्या रूप-रंग निखर आए हैं, अभी तो हमें बस उतना भर देख लेना है :

—राज्य-सभा और विधान-परिषदों में सदस्यता की प्रसादी।

—सरकारी शिक्षण-संस्थाओं में विभागीय प्राधान्य।

—अर्धसरकारी पौन-सरकारी संस्थाओं में वैतनिक दादागिरी।

—रेडियो, सूचनाविभाग, अनुवादविभाग, परिभाषा-ढलाई विभाग, राजदूतावास आदि गुफाओं में पदलाभ।

—पाठ्यक्रम के तौर पर आपकी एक या अनेक पुस्तकों की मंजूरी।

—मुद्रित या अमुद्रित ग्रंथ पर पुष्कल पुरस्कार।

—एक मुश्त धनराशि वाला अकादेमिक पुरस्कार।

—कीमती तमगे और पद्मश्री-पद्मविभूषण आदि उपाधियाँ कि जिनके चलते बुढ़ापे में भी आप जीवन-पथ पर फिसलन के मजे लूट सकते हैं।

—आपके प्रयास से संचालित-संयोजित संस्थाओं और समारोहों के नाम अनुदान की अमृतवर्षा।

—स्वयं ही प्रकाशन शुरू कर देने पर कई प्रकार की वैध-अवैध सुविधाएँ मिलने लग जाती हैं और आप स्वयं दसगुना-बीसगुना ज्यादा एक्टिव हो उठते हैं, फिर साहित्य-रसिक मिनिस्टरों की गुणग्राहिता के कारण दो-चार वर्षों के भीतर ही लखपतियों में उठने-बैठने के लायक हो जाते हैं।

—सांस्कृतिक शिष्टमंडलों में नत्थी होकर आप काठमांडू-कोलम्बो से लेकर मास्को-पेकिङ्-तोक्यो-लंदन-न्यूयार्क-पेरिस की हवा खा आते हैं।

—नाना प्रकार के आयोग, बोर्ड, कमीटियाँ, परिषदें...जाने किस-किस गलियारे में आपका नाम चमकने लग जाता है! सामर्थ्य और समय हो चाहे न हो, एलाउन्स का लासा आपको इनसे चिपकाए रखता है।

—आकाशवाणी-केन्द्रों से धड़ाधड़ कन्ट्राक्ट आ रहे हैं आपके पास... खाँसते-खाँसते भी हम रिकार्डिङ्ग करवा ही आते हैं।

—अनुवाद और रिविजन के काम नई दिल्ली से ही नहीं, अपने प्रादेशिक सूचनाविभाग तक से मिल जाते हैं....

सिने-संसार की रुपहली मादकता से भी हमारा बंधु-वर्ग अब अपरिचित नहीं रहा। उसके आगे तो दिल्ली के लड्डू मात हैं...

पिछले कुछ वर्षों में साहित्यकारों के लिए सुख-सुविधा का एक और सतमंजिला बिल्डिङ्ग खड़ा हो गया है --विदेशी दूतावासों द्वारा परिचालित प्रकाशन-संस्थाओं की छोटी-बड़ी नौकरियाँ; अनुवाद और ट्यूशन के धंधे भी विदेशियों की बदौलत इधर खूब चमके हैं। सैकड़ों तरुण प्रतिभाएँ देशी प्रतिमान से ऊपर उठकर विश्वात्मा की

मधुगंधी परिधियों के अन्दर चली गई हैं। स्टडी-टूर या कलचरल-टूर की तो बात ही छोड़ दीजिए, सीधे-सीधे अनुवाद-कार्य के लिए सैकड़ों युवक साहित्यिक मास्को-पेकिंग जा बसे हैं। सांस्कृतिक भू-परिक्रमा के लिए अमरीका भी हमारे सुधी साहित्यिकों को गगन-विहारी होने का सुयोग दे रहा है...बंगला-मराठी-तमिल-तेलगू-गुजराती के कतिपय मूर्धन्य साहित्यकारों की तरह हमारी हिन्दी के भी अनेक चूड़ामणि-साहित्यकार मास्को-पेकिंग-न्यूयार्क-पेरिस-लंदन की उपनगर-वीथियों में चहल-कदमी कर आए हैं...

यों कुछ-एक दादा-साहित्यकार इस प्रसंग में बेरुखी का अभिनय करके मुस्कुरा भी पड़ते हैं—कहते हैं, भई, क्या रखा है इन बातों में? कल संध्याकाल आओ तो भंग छानें! अच्छा, तुम तो पिछले जाड़ों में काठमांडू गए थे? कैसा रहा? सुमन की तबीयत लगती है वहाँ? अजी, ताशकंद जा रहे थे न तुम?...मुल्कराज आनंद और सज्जाद जहीर मुझसे इसीलिए दो बार मिलने आए... मैं भला अब इस बुढ़ापे में कहाँ-कहाँ मारा फिरूँ?

मगर अभी-अभी तो आप पूना और मद्रास हो आए हैं! ताशकंद जाना तो इससे कहीं आसान है! नहीं?

फिर उन्होंने मेरे आगे पान की डब्बी बढ़ा दी और कुछ कहा:

क्या कहा?—जाने दीजिए।

अंगूर खट्टे हैं तो मीठे कैसे होंगे? मीठे न भी हों फिर भी हम-आप क्या उन्हें यूँ ही छोड़ देंगे? खट्टे अँगूरों का बहुत बढ़िया सिरका बनता है। अचार नहीं बनेगा? चटनी भी बना सकते हैं न?

मैं यानी इन पंक्तियों का उद्भावक श्रीहीन नागाबाबा उर्फ अवधूत साहित्यकार गुड़ घोलकर इमली पीता रहा हूँ तो भला खट्टे अंगूरों को छोड़ दूँगा?

मैं 'राज्याश्रय' को हौआ नहीं मानता। पिछले युगों के दरबारी कवि में और आज के राज्याश्रित कवि में आकाश-पाताल का अन्तर है। आज के राज्य चाहे कैसे भी हों, हैं तो जनतांत्रिक ही न? आज के ये प्रशासकीय जनतंत्री ढाँचे हमने खड़े किए हैं। हम और हमारी जनता हुकूमत के अपने इस ढाँचे की त्रुटियों से अनभिज्ञ नहीं है। रोज-ब-रोज अपनी स्थिति को बेहतर बनाते चलने का हमारा प्रयास कभी शिथिल नहीं होगा।

जब सारी जनता ही राज्याश्रित है तो हम साहित्यकार भला और किसका आश्रय लें? हाँ, हममें से कुछ-एक साहित्यकार कह सकते हैं कि वे राज्याश्रय को उच्चतम साहित्य के विकास की दृष्टि से सर्वथा फिजूल बल्कि हानिकारक मानते हैं। इस सिलसिले में अपनी व्यक्तिगत राय मैं शुरू में ही जाहिर कर चुका हूँ। यहाँ फिर से दुहरा दूँ उसे?

"मौजूदा शासन के अंदर सर्वांशतः राज्याश्रय सच्चे साहित्यकार के लिए ठंडी कब्र है यानी प्राणशोषक समाधि।"

इसमें पाँच शब्द ऐसे हैं जिनकी ओर मैं आपका ध्यान बार-बार आकृष्ट करना चाहूँगा।

'मौजूदा' 'सर्वांशतः' 'सच्चे' 'कब्र' और 'प्राणशोषक'—इन शब्दों की तत्त्वबोधिनी व्याख्या आपके दिमाग में अनायास भासित हो उठेगी।

मेरा क्या तात्पर्य था, आप समझ गए होंगे।

उच्चतर और उच्चतम साहित्य पहले युगों की तरह आनेवाले युगों में भी निर्मित होंगे और इस युग में भी उनका निर्माण चालू है—हाँ, रेडियो और सूचना-विभाग की मेजों पर नहीं...साहित्य-अकादमी के रूमों में? नहीं, वहाँ भी नहीं...नई दिल्ली की बड़ी सेक्रेटारियट में और प्रादेशिक महानगरों की सेक्रेटारियेटों में पचासों साहित्यकार साहब घुसे पड़े हैं, वे लिख रहे हैं उच्चतर साहित्य? एम्-पी और एम्-एल्-सी साहित्यकार रच रहे हैं उच्चतम साहित्य? अपनी पिछली कीर्ति के कारण ही जिनके लिए विश्वविद्यालयों में "विभागीय प्रधान" पद सुलभ हुआ था, शायद वे लिख रहे हों उच्चतम साहित्य! हमारा जो भाई मास्को-पेकिङ्-न्यूयार्क का चक्कर मार आया है, उसने शायद अनोखी चीज लिखी होगी! हमारा वह दादा उपन्यासकार जो तीन वर्षों से आकाशवाणी-केंद्र में सिग्नेचर-सनीचरी वसूल कर रहा है, उसकी घुटन ही शायद महान् साहित्य बन जाय! वे भाई जो प्रकाशक बन गए हैं, कहते फिरते हैं: माँ का असली दूध तो हम्हीं पीते हैं, माँ का यानी सरस्वती का! उनका

यह दंभ कितना बीभत्स है! कितना खतरनाक! वे ही शायद आगे कोई अनूठी वस्तु हमें दे जाएँ!...

दूसरी तरफ हम देखते हैं कि अमुक नगर का सर्वश्रेष्ठ युवक कहानीकार अमुक बक्शी या अमुक पांडेय या अमुक वर्मा 'स्क्रप्ट राइटर' के मोढ़े पर अमुक रेडियो स्टेशन में बैठा दिया गया...पिछले सात वर्षों में या चार वर्षों में उसके दिल-दिमाग बिलकुल भूसा हो गए हैं। तबीयत करती है, भाग जाए कहीं किसी छोटे कस्बे की तरफ... खादी का बाना धर के भारत-सेवक-समाज में रात्रि-पाठशाला की मामूली नौकरी कर लेगा...शरद् बाबू भी तो रंगून भागे थे! मश्केबाजी का गुर मालूम होता तो अवश्य यह युवक कथाकार 'पी-ई' हो गया होता...दो संकलन छपे थे सो प्रकाशकों ने कुल जमा १००) दिए हैं अब तक...खुदा उनका भला करे!

[२]

पिछले बारह-तेरह वर्षों में साहित्यकार की स्थिति में काफी परिवर्तन आया है। भंग पी-पीकर लिखनेवालों की संख्या कम हो गई है। हिन्दी अब राज्य-भाषा हो चुकी है, हिन्दी के अधिकांश साहित्यकार किसी-न-किसी रूप में राज्याश्रय प्राप्त कर चुके हैं। जो राज्याश्रय से पृथक होने के कारण अपने को 'परम स्वतंत्र' मानते हैं, उनकी भी स्थिति राज्य से सर्वथा असहयोग की नहीं है। पग-पग पर राज्य से असहयोग की भावना पागलपन का पर्याय ही कहलाएगी। प्रशासन (राज्य) चाहे कैसा भी हो, हमारा अपना है। सुशिक्षित और समृद्धिशाली पाठकवर्ग बड़ा होता जाएगा, किताबों की खपत बढ़ती जाएगी, साहित्यकार सुखी होगा। फिर किसी प्रख्यात उपन्यासकार को झख मारकर आकाशवाणी-केंद्र में चाकरी नहीं करनी पड़ेगी, किसी श्रेष्ठ कवि को सूचना-विभाग की फाइलों में गर्क होकर घुटन को छंद का जामा नहीं पहनाना पड़ेगा.....

जरा सोचिए कि १५ वर्ष बाद हमारी जनता इस हद तक शिक्षित और पैसेवाली हो जाएगी कि आपका मामूली प्रकाशन भी पचास हजार प्रतियों में छपेगा और

महीने-दो-महीने के अंदर ही रायल्टी की पूरी राशि आपके नाम बैंक में जमा हो चुकी रहेगी...

तब सौ पेजों का एक उपन्यास, बीस कविताओं का एक संकलन, दस गीतों की एक रिकार्डिंग, एक नाटक का महीने भर का अभिनय, पंद्रह कहानियों का एक संकलन, आलोचना की छोटी-सी एक पुस्तक हमारे कथाकार-गीतकार-नाटककार-आलोचक के लिए वर्षों का 'योग-क्षेम' जुटा देंगे। फिर अपेक्षित बेफिक्री और सुविधा सुलभ रहने पर पंद्रह सौ पृष्ठों में या तीन खंडों में जो साहित्यकार जन-जीवन का महाकाव्य अर्थात् बृहत् उपन्यास लिख लेगा, उसकी रॉयल्टी से तो वह करोड़ीमल हो जायगा न? तब भी क्या वह आज की तरह 'राज्याश्रय' शब्द से चौंक उठेगा?

आज हिंदी-क्षेत्र की हमारी जनता अल्पशिक्षित है, साधनहीन है। जहालत और गरीबी के समुद्र में साहित्य

घी की बूँदों की तरह नजर आता है, खुशहाली के समुद्र में तो कल वह तेल की तरह फैलता दीखेगा।

मुझे विस्मय होता है कि राज्याश्रय को हौआ या अमृतफल बताकर विपक्ष और पक्ष में वाद-विवाद का अंत नहीं है। साहित्यकार सरकारी नौकरी क्यों न करे? साहित्यकार बड़ी नौकरी के लिए क्यों लार टपकाए? कल उसने अखबारों के जरिये जनता को धमकी दी थी—वह पान की दूकान कर लेगा! आज वह शेखी बघारता घूम रहा है—वह अपने को नहीं बेचेगा!···वह खुद ही प्रकाशक बन जाएगा!···अपनी पांडुलिपियों की होली जलाएगा वह।···आज वह सरकार को फटकारता है, प्रकाशक को गालियाँ देता है, अपने अमुक साहित्यकार बंधु पर कीचड़ उछालता है···आकाशवाणी केंद्र के अधिकारियों के पीछे डंडा लेकर पड़ा रहता है···टैक्स्टबुक कमीटियाँ, विश्वविद्यालयों के हिन्दीबोर्ड, शिक्षाविभाग, साहित्य अकादमी सभी का गोत्रोच्चारण करता है आज का साहित्यकार!···मुझे विस्मय होता है अपनी बिरादरी की यह गति-विधि देखकर। लगता है, हम उन्हें ही भूल गए हैं जिनका दिया हुआ खाते हैं। जन-साधारण—पाठकवर्ग ही हमारे अन्नदाता हैं। हमारे अन्नदाता कल नहीं तो परसों अवश्य सुखी होंगे, फिर अपने साहित्यकार की सुध वे जरूर लेंगे। फिलहाल, जन-साधारण की तरह यदि पेट की आग बुझाने के लिए आप पान की दुकान खोल लें तो उसमें हर्ज ही क्या? चीन के लोकप्रिय कहानीकार श्री षू-ली ने एक पत्रकार से कहा था—यहाँ के प्रकाशकों से मुझे खाने-पीने पहनने-ओढ़ने लायक रकम मिल जाती है अतएव मैं निश्चिन्त हूँ। बड़ा साहित्यकार बनने की मेरी अभिलाषा नहीं है क्योंकि उससे जन-सम्पर्क टूट जाएगा। मैं साधारण जनता के बीच रहकर ही लिखना पसंद करता हूँ····लाखों किसान पढ़ना नहीं

प्रकाशक से प्राप्ति का चक्र
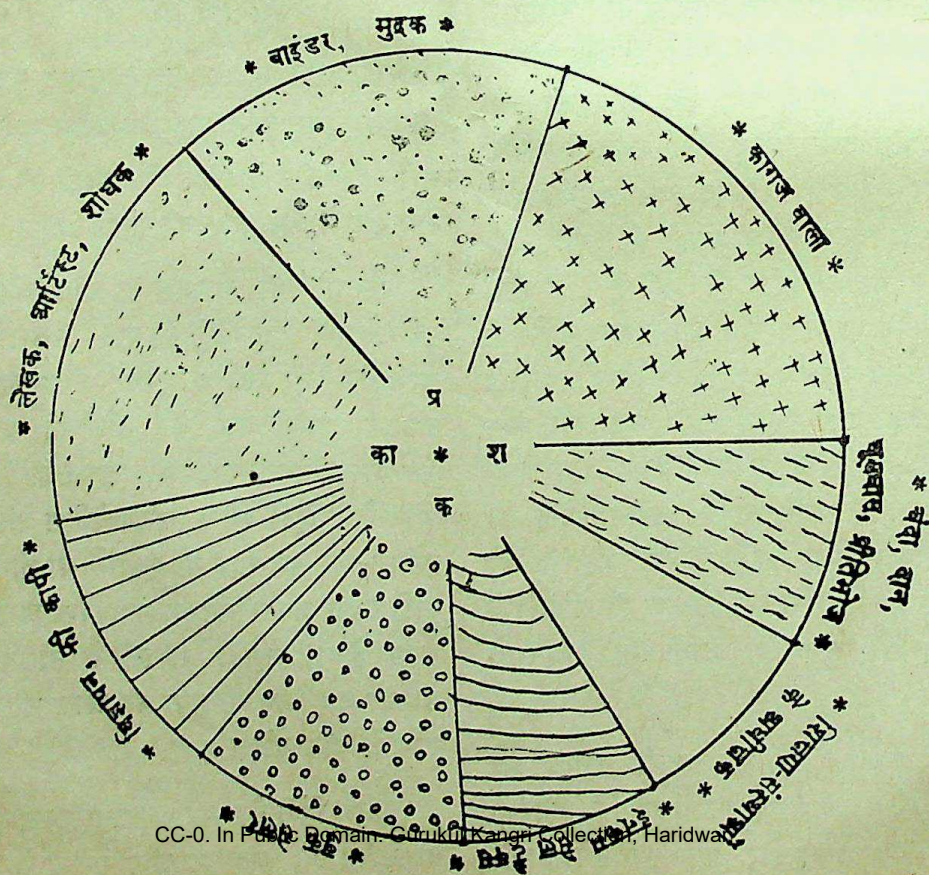
जानते, इसलिए मैंने उनके लिए नाटक लिखना आरंभ किया है...मैं अपने को स्वयंसेवक मान कर पुस्तकें लिखता हूँ..."

साहित्यकार के लिए राज्याश्रय घातक है या नहीं, इसका निर्णय राज्य के स्वरूप और साहित्यकार की ईमादारी पर छोड़ देना चाहिए। पुराने जमाने में राजाओं की दी हुई जागीरें पाकर कविजन बहुधा दरबारी साहित्य का ही निर्माण करते रहे। आज के हमारे राज्याश्रित साहित्यकारों पर राजशाही-सामंतशाही-नौकरशाही अंकुश

साहित्यकार

- **होल टाइमर**
  - मौलिक
    - पद्यकार
      - कवि
      - गीतकार
    - गद्यकार
      - औपन्यासिक
      - गल्प-लेखक
      - नाटककार
      - आलोचक
      - निबंधकार
      - रीडरबाज
  - अनुवादक
  - संकलयिता
  - खोजी
  - सम्पादक
  - हरफन मौला
  - अवधूत
- **पार्ट टाइमर**
  - प्राध्यापक : आचार्य
  - रेडियोवाले
  - सूचना विभाग...
    परिभाषा ढलाई विभाग या दूसरे सरकारी विभागों के कर्मचारी [अनेकानेक उच्चतम पदाधिकारी... ग्रामगीत गढ़ने की क्षमता रखने वाले चपरासी पर्यन्त]
  - अन्यान्य धंधों में लगे हुए शौकिया साहित्यिक
  - गैर-सरकारी दफ्तरों में काम करनेवाले
  - सिने-साहित्यकार

नहीं है; हाँ, उनपर हमारी प्रबुद्ध जनता के युक्तियुक्त सेन्सर का अंकुश तो रहेगा ही।

प्रेमचंद ने एक पत्र में किसी को लिखा था : साहित्य-कार को जीविका के लिए छोटी-मोटी नौकरी जरूर कर लेनी चाहिए...हर समझदार आदमी प्रेमचंद की इस बात

साहित्यकार	+	प्रकाशक
प्रकाशक	+	बुकसेर
बुकसेलर	+	प्रकाशक
प्रकाशक	+	साहित्यकार

का समर्थन करेगा। बंकिम, शरद, प्रेमचंद—कई साहित्य-कार हो गए हैं जिन्होंने चाकरी भी की और साहित्य का निर्माण भी किया। शरद और प्रेमचंद ने तो बाद में नौकरी छोड़ दी थी, उसके बाद उनका सारा वक्त लिखने में ही बीता। इन दिनों भी अनेकानेक प्रख्यात साहित्यकार

छोटी-बड़ी नौकरियों में रहते हुए भी, लिख रहे हैं। और, यह बात हिन्दी-क्षेत्र की ही नहीं है। बंगाल-महाराष्ट्र-गुजरात-तामिलनाड, आंध्र, केरल, मैसोर-राज्य, पंजाब आदि कई क्षेत्रों में इस कोटि के साहित्यकार मिलेंगे।

दूसरी कोटि है उन साहित्यकारों की जिनका जीवन साहित्यनिर्माण पर आधारित है। साहित्यजीवी के लिए मेहनती गद्यकार होना पहली शर्त है, दूसरी शर्त है मौलिकता का दंभ झाड़कर सब-कुछ लिखने के लिए तैयार रहना। प्रूफदर्शन-अनुवाद-संकलन-कापीशोधन से लेकर चर्वितचर्वण उनमें से जरूर पसंद की जाएँगी। हाँ, शाश्वत साहित्य के फेर में नहीं पड़िएगा।

संकट और असुविधाएँ दोनों ओर हैं। बहुत बड़ी तनखाह पानेवाला साहित्यकार अक्सर वर्ग बदल लेता है। रहन-सहन में ही नहीं, चिंतन में भी वह लोकोत्तर हो उठता है। प्रमाद-संशय-आत्मरति-दंभ-मोह आदि दुर्गुणों के पनपने से वह अ-सामाजिक प्राणी बन जाता है, फिर जनविरोधी दार्शनिकता का लबादा ओढ़ कर दो-अर्थी सूत्रों की शैली में बोलने लगता है वह।

पाठक और परिधि
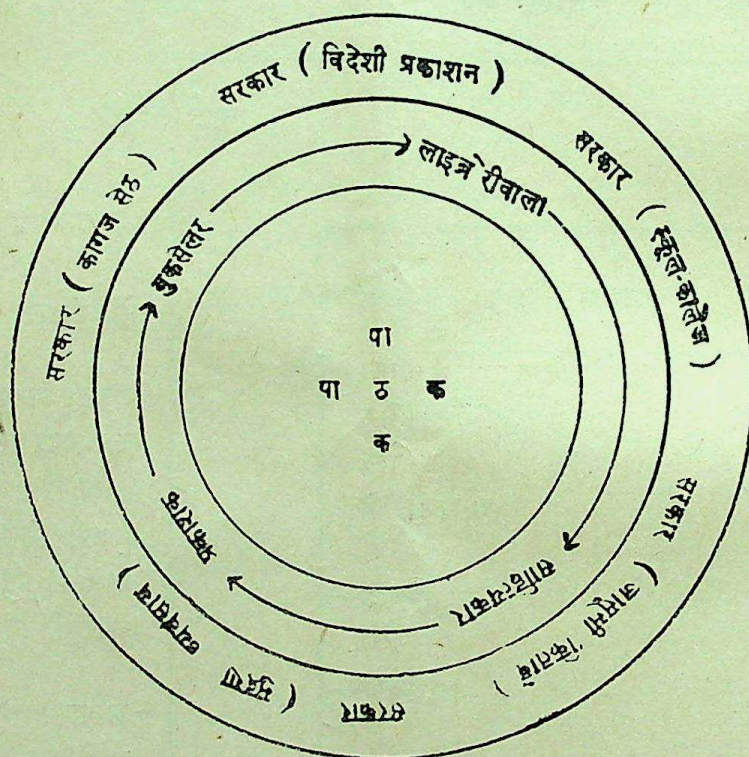
और मथितमथन वाले बड़े ग्रंथों तक, मामूली एकांकी और बालोपयोगी कहानी से लेकर हजारपेंची उपन्यास तक, विज्ञापन और प्रकाशकीय वक्तव्य से लेकर उच्चाधिकारियों—मिनिस्टरों के भाषण की तैयारियों तक, रीडरबाजी से लेकर व्यक्तिगत प्रशंसापुराण तक···गद्य का मैदान बड़ा ही विस्तृत है। आप यदि काहिल नहीं हैं, आप यदि हद दर्जे के जिद्दी नहीं हैं, श्रमिकसुलभ सूझ-बूझ की कमी नहीं है यदि आप में, तो गद्य की खेती आपके लिए नुकसानदेह नहीं रह जाएगी। दस-बीस किताबें लिखेंगे तो दो-चार

संकटग्रस्त साहित्यकार रुपये-दो-रुपये के लिए भी मारा-मारा फिरता है। मुसीबतें उसे झूठ-ठगी-बेईमानी-बहानेबाजी-कर्जखोरी-चारसौबीसी की तरफ ठेल देती हैं या धरा-धाम से उठा लेती हैं। यह भी देखा गया है कि इस प्रकार के जीवित शहीद को भंग आदि पिला-पिला कर पागल बना चुकने के बाद लोग उसे 'युगावतार' जैसी कोई उपाधि दे डालते हैं!

ऐसी स्थिति में साहित्यकार के लिए संकटमोचन का क्या रास्ता होगा?

जीविका

राज्याश्रय

नौकरी

रेडियो,
सूचना विभाग
अनुवाद विभाग
परिभाषा-ढलाई विभाग
प्रचार
प्रकाशन
जनसंपर्क
और
दीगर सरकारी
महकमों में
↑
छोटी-बड़ी तनखाहों वाली गैर-सरकारी नौकरियाँ, विदेशी दूतावासों द्वारा संचालित प्रका० संस्थाओं की छोटी-बड़ी नौकरियाँ,

विश्वविद्यालयों की छोटी-बड़ी नौकरियाँ, साहित्य-अकादेमी, ललितकला अकादेमी आदि की नौकरियाँ।

नोमिनेशन, सदस्यता आदि

विधानपरिषद्
राज्यसभा
कमीटी
समिति
परिषद्
बोर्ड
आयोग आदि की सदस्यता,
शिष्टमंडल
अकादेमी
आदि की सदस्यता,
↑
भत्ता आदि का चस्का पड़ चुकने पर एक-एक साहित्यकार पाँच-पाँच सात-सात कमीटियों में घुस रहते हैं,

सरकारी अनुदानों से मांसल बनी गैर-सरकारी संस्थाओं में इनका प्रवेश है

अनुबंध

अनुवाद
संकलन
संपादन
अन्वेषण
आदि का :
*
रेडियो
टेलिविजन
डॅकुमेन्ट्री
डायलॉग
आदि का
गीतों के लिए
ड्रामा के लिए
दूसरे फीचर के लिए
*
प्रचार विभाग
समाज कल्याण
आदि द्वारा
उपयोगी
लिटरेचर के लिए
अनुबंध

पुरस्कार आदि

मुद्रित या अमुद्रित पुस्तकों पर...
समूची कीर्ति पर एक-मुश्त धनराशि,
किसी खास 'कृति' के नाम पर...
तमगा...
उपाधि...
(पद्मश्री-पद्मभूषण आदि...)
भाई-भतीजों सगे-संबंधियों को सर्विस...
स्कालर्शिप आदि,
अनुदान के तौर पर
(आपके प्रयत्न से संचालित संयोजित संस्थाओं और समारोहों के नाम)

लोकाश्रय

मात्र लेखन के माध्यम से प्रकाशकों के द्वारा	फिल्म जगत में गीत और संवाद आदि की लखाई	छोटी-बड़ी गैर-सरकारी नौकरियों के माध्यम से	स्वयं प्रकाशक या स्वयं बुकसेलर	कविसम्मेलनों और नाट्यसंस्था आदि से मिलने वाली फीस	मित्रों से प्राप्त प्रकट-अप्रकट सहायता

राजधर्म और शासन-तन्त्र : मनुस्मृति-काल

श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव

यूरोप में प्रचार-प्राप्त रोमन-राजनियम-क्रम का एक सूत्र यह है कि राजा राजनियम से ऊपर है, यानी उसके अन्याय को रोकने की शक्ति राजनियम में नहीं है, प्रजा राजनियम के अधीन है और राजनियम राजा के अधीन।

परन्तु, बृहदारण्यकोपनिषद् (२।४।१४) से पता चलता है कि प्राचीन भारतीय आर्यों का राजनियम-विषयक या शासनतन्त्रसम्बन्धी आदर्श बहुत ही उन्नत था :

"तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान् बलीयान् समाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति।"

अर्थात्, उसने कल्याणरूप धर्म या नियमों को बनाया, वही धर्म क्षत्र का भी क्षत्र है, यानी शासक पर भी शासन करता है। क्षत्र, चूँकि धर्म है, अतएव धर्म से बढ़कर शासक आदि कोई भी नहीं हैं। निर्बल भी धर्मबल से बड़े-बड़े बलवालों को भी वश में किये रहता है। शारीरिक निर्बलता के बावजूद, धार्मिक होने से ही राजा बलवानों पर शासन कर पाता है। अतएव, राजा ही धर्म का प्रतिरूप है और धर्म सत्य का प्रतिरूप। इसीलिए जो सत्य बोलता है, उसके बारे में कहा जाता है कि वह धर्म बोलता है और जो धर्म बोलता है, वह सत्य कहता है। तात्पर्य यह कि जो धर्म है, वह सत्य है और जो सत्य है, वह धर्म है। धर्म और सत्य दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

इससे सिद्ध है कि धर्म ही वह शक्ति है, जो राजा और प्रजा को नियमाधीन संचालित करता है। धर्म के हन्ता पापभागी होते हैं। इसलिए, राजनियमों को तोड़ने का दुस्साहस राजा नहीं कर सकता है। उस समय यदि कोई राजा अपनी प्रजा को पूर्ण धार्मिक और सुखी बनाने की योग्यता नहीं रखता था, उसके आश्रय में रहना महर्षि लोग पाप समझते थे, जिससे उस राजा की घोर निन्दा होती थी और वह पतित समझा जाता था। यही कारण है कि जब केकय देश के राजा अश्वपति के यहाँ प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिल तथा उद्दालक महर्षि आये, तब अश्वपति ने उनकी यथोचित पूजा कराई और फिर अपने यहाँ ठहरने के लिए प्रार्थना करते हुए कहा—

"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद् भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु मे भगवन्त इति।"[1]

अर्थात्, हे महात्मा पुरुषो, मेरे राज्य में न चोर, न कायर, न शराबी, न अग्निहोत्र के हन्ता, न अविद्वान् और न व्यभिचारी-व्यभिचारिणी हैं। मैं नियमपूर्वक यज्ञ करता हूँ। एक-एक ऋत्विक् को जितना-जितना धन देता हूँ, उतना-उतना धन आप में से प्रत्येक को दूँगा। अतः हे महानुभावो, आपलोग कृपया मेरे यहाँ निवास करें।

जिन राजनियमों का पालन करता हुआ राजा अपनी प्रजा को अपने समान नियमपालक बना सकता है, उन राजनियमों की प्रशंसा सभी सज्जन मुक्तकण्ठ से करते हैं। इससे बढ़कर दूसरा कोई आदर्श राजनियम संभव नहीं।

मनुस्मृति के ७-८-९ वें अध्यायों में विशेषकर, तथा अन्यान्य अध्यायों में यत्किञ्चित् राजधर्म वर्णित है, जिससे प्राक्तन शासन-तन्त्र की बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। परन्तु, यहाँ उनका दिग्दर्शनमात्र कराया जायगा।

शतपथ ब्राह्मण के राज्याभिषेक-प्रकरण में लिखा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की सभा में राज्याभिषेक के नियमों के अनुसार अध्वर्यु जबतक एक योग्य पुरुष के राजा बनने की घोषणा न कर दे और जबतक

१—द्रष्टव्य : छान्दोग्योपनिषद्, प्रपाठक ५, ख० ११, प्र० ५

चतुर्वर्णों के प्रतिनिधि या चतुर्वर्णों की सभा उसे अपना राजा स्वीकार न कर ले, तबतक वह पुरुष राजा नहीं बन सकता था। यों मनुस्मृति में राजा के अभिषिक्त करने की प्रक्रिया स्पष्टतः निर्दिष्ट नहीं हुई है, फिर भी राजा के गुणों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, जिससे सिद्ध होता है कि उक्त गुणों से रहित पुरुष राज्याधिकारी नहीं बन सकता। राजा के आवश्यक गुण इस प्रकार हैं—

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भाश्च लोकतः॥
इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥

—मनु०, ७।४३-४४

अर्थात्, राजा ज्ञान, कर्म, उपासना इन तीनों विद्याओं के जाननेवाले से इन तीनों विद्याओं को प्राप्त करे। इसके अतिरिक्त, शाश्वत दण्डनीति, न्यायविद्या और आत्मविद्या, साथ ही लोगों से बातचीत करने की विद्या भी वह अधिगत करे। रात-दिन इन्द्रियों को जीतने में सन्नद्ध रहे; क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही अपनी प्रजा को वशंवद बनाये रख सकता है।

मनुस्मृति के अध्याय ७, श्लोक २८ में जहाँ राजदण्ड की व्याख्या लिखी गई है वहाँ यह भी कहा गया है कि दण्ड बड़ा तेजोमय है, उसको अकृतात्मा, यानी अविद्वान् और अधर्मी धारण नहीं कर सकते। यह दण्ड धर्म से विचलते हुए राजा का भी बन्धुसहित नाश कर देता है।[1] इस दण्ड के विषय में मनुस्मृति में यह भी लिखा है कि महान् तेजोमय दण्ड को ईश्वर ने पहले ही बनाया था (ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः। मनु० ७।१४)। इससे यह सहज ही स्पष्ट होता है कि ईश्वरकृत वेदों में राजशासन के जो मूल सिद्धांत हैं, वही व्याख्या के साथ परम्परया राजव्यवस्था, धर्मव्यवस्था या दण्डव्यवस्था के नाम से प्राचीन आर्यों में प्रचलित थे, जिनके अनुसार ही राजा और प्रजा दोनों को चलना पड़ता था।

मनुस्मृति के अध्याय ८, श्लोक ३३५ और ३३६ के अनुशीलन से यह आशय झलकता है कि अपराधी राजा को सामान्य अपराधी से हजार गुना दण्ड देने की व्यवस्था प्राचीन युग में थी। और, राजा के अपराधियों में यदि उसका पिता, आचार्य, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र या पुरोहित आदि आ जायें, तो वे भी दण्डनीय हैं। ऐसी स्थिति में राजा का धर्मसंकट में पड़ कर विचलित हो जाना सहज है। इसलिए, राज्य-शासन को तलवार की धार पर चलने के समान दारुण और दुष्कर माना गया है।

उपर्युक्त सभी गुणों से सम्पन्न राजा पूजनीय है। प्राचीन युग का राजा जब कभी किसी प्रजा के यहाँ जाता था, तब उसकी बड़ी पूजा होती थी। मधुपर्क से उसका सम्मान किया जाता था। मनुस्मृति के राजप्रकरण में लिखा है—

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः।
सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम्॥

—मनु० ८।१०३

अर्थात्, अभयदाता राजा सदा पूज्य है। ऐसे राजा का वह राजयज्ञ सदा बढ़ता रहता है, जिसमें अभय की दक्षिणा दी जाती है। इसके विश्लेषण में कहा जाये, तो राजा यज्ञकर्त्ता की भाँति एक पवित्रात्मा है। राज्य यज्ञ की तरह एक पवित्र वस्तु है, जिस यज्ञ में यज्ञकर्त्ता 'अभय' जैसा उत्तम पदार्थ दान किया करता है और इस दान का फल वह होता है कि राजयज्ञ सदा ऊर्द्ध्वशिख बना रहता है और वृद्धि को प्राप्त होता रहता है, जिससे प्रजा सदा लाभ उठाती रहती है।

निष्कर्ष यह कि मनुस्मृति के काल में प्रजा-रक्षण राजा का सर्वोपरि कार्य माना जाता था।

मनुस्मृति में लिखा है कि जो काम सुकर है, वह भी जब किसी सहायक के बिना करने में कठिन मालूम होता है, तब महान् राजकर्म अकेले राजा से कैसे संभव है; अतः राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने लिए सात या आठ मंत्री नियुक्त करे। मंत्रियों की नियुक्ति में इस बात का विचार आवश्यक है कि वे अपने देश के नागरिक हों; वेदज्ञ, वीर, विचार-विचक्षण, कुलीन और सुपरीक्षित हों। इन विशेषताओं और योग्यताओं से युक्त मंत्रियों के

१—दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः। धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्॥—मनु० ७।२८

साथ राजा प्रतिदिन सन्धि, विग्रह, स्थान, समुदय, गुप्ति तथा लब्धप्रशमन इन विषयों पर मंत्रणा और विवेचना करे।[1] यहाँ समासतः ज्ञातव्य है कि सन्धि, विग्रह, स्थान, समुदय, गुप्ति, लब्धप्रशमन ये छह विषय ऐसे हैं, जिनके अन्तर्गत राज्य-सम्बन्धी सारी बातें आ जाती हैं, अतः इन विषयों का विचार जिस सभा में होता है, वही राजसभा कहलाती है।

राजा के मुख्याधिकारियों के सम्बन्ध में मनु की स्मृति (अ० ७ और १२) कहती है कि पूर्वोक्त राजसभा में जिन विषयों पर विचार हो, उन विषयों पर राजसभा के निर्णयानुसार कार्य करनेवाले कई मुख्याधिकारी होने चाहिए। मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश तथा सर्वलोकाधिपति राजा के कार्य वे ही कर सकते हैं, जो वेदशास्त्रज्ञ हों। मन्त्रिसभा के मन्त्रियों का निश्चितबुद्धि और अर्थसंग्रह में अति चतुर होना आवश्यक है। राजदूत का तो सर्वशास्त्रविशारद होना अत्यावश्यक है। साथ ही, उसे इंगितज्ञ, पवित्र, चतुर, कुलीन, स्मरणशक्ति-सम्पन्न, श्रुतिधर, देशकालज्ञ, सुरूप, निर्भय और वक्ता भी होना चाहिए। विभागों के सँभालने का जहाँ तक प्रश्न है, मंत्रियों के अधीन दण्ड का प्रबन्ध रहना चाहिए, राष्ट्र और कोष राजा के अधीन रहें तथा सन्धि-विग्रह-कार्य को दूत के जिम्मे सौंपा जाना चाहिए। दण्ड का उद्देश्य केवल उद्दण्डों को विनयी बनाना ही हो।

प्राचीन युग में न्याय-कार्य भी राजा की ही जिम्मेवारी पर निर्भर करता था। विशेष-विशेष व्यवहार सम्बन्धी जो अभियोग राजा के समक्ष विचारार्थ उपस्थित किये जाते थे, वे अट्ठारह प्रकार के थे, जिनमें कर्जखोरी के मामले, सम्मिलित रूप से किये जानेवाले कामों के झगड़े, अनधिकार किसी की जायदाद को बेच देने, वेतन काटने या कम देने के झगड़े, परस्त्री-अपहरण, जूआ खेलना आदि के मुकदमे मुख्य होते थे। न्याय-भवन में पधारने के पूर्व राजा एक दूसरी सभा करता था और अपनी प्रजाओं के तद्विषयक मन्तव्य से अवगत होता था। राजा नियमित रूप से न्याय-सभा में विनीतवेश धारण कर प्रवेश करता था और वहाँ वेदज्ञ ब्राह्मणों की सहायता से अभियोगों का निर्णय करता था। राजा को मनमाना निर्णय करने का अधिकार नहीं था। राजा को अपना फैसला तैयार करते समय दण्डशास्त्र और देश-व्यवहार का प्रमाण देना पड़ता था। जब राजा किसी बड़े विवादास्पद अभियोग के निर्णय में असमर्थ हो जाता था, तब वेदमर्मज्ञ, पूर्णधर्मिष्ठ, तपस्वी और विद्वान् ब्राह्मण को अपना प्रतिनिधि नियत करता था। इस ब्राह्मण प्रतिनिधि की सहायता के लिए तीन अन्यान्य बड़े-बड़े वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा स्थापित होती थी, जिसे 'ब्रह्मसभा' कहा जाता था। विवादास्पद अभियोगों के सम्बन्ध में इस ब्रह्मसभा का निर्णय सर्वोपरि माना जाता था। उक्त ब्रह्मसभा के अतिरिक्त राजा और प्रजाओं की सभा 'साधारण सभा' कही जाती थी। यह सभा प्रतिदिन प्रातःकाल बैठती थी।[2]

उक्त सभाओं के अतिरिक्त राज्य की कई परिषदें थीं, जिनमें 'दशावरा' और 'त्र्यवरा' मुख्य थीं। ये परिषदें राज्य में धर्म-संशय उपस्थित होने पर उनका निर्णय करती थीं, जिनके अनुसार सब को चलना पड़ता था। उपरिवर्णित विभागों के अलावा राज्यकार्य के सुसंचालन के निमित्त और पाँच मुख्य विभाग नियत थे—१. शासन या प्रबन्ध विभाग, २. दण्ड या न्याय-विभाग, ३ सेना या युद्ध विभाग, ४. कर या अर्थ-विभाग एवं ५. विदेश या दूत-विभाग।

शासन-प्रबन्ध का जहाँ तक प्रश्न है, राजा सभी विभागों का उच्च पुरुष माना जाता था। अन्यान्य मुख्याधिकारी कहलानेवाले भी राजा या राजसभा के निरीक्षण में ही कार्य करते थे। राजा, शासन-विभाग के अपने करने योग्य कार्यों को बड़ी तत्परता से किया करता था, परन्तु जब कभी खिन्न हो जाता था, तब शासन-सम्बन्धी

१—(क) मनुस्मृति : अ० ७, श्लो० ५४—५७।
(ख) राजा की दिनचर्या तथा राजनीतिविषयक विवेचन-बाहुल्य के द्रष्टव्य : मनु०, अ० ७, श्लोक १४५—१४७, १५१—१६०, १८०, २१६ तथा २२०—२२६।

२—द्रष्टव्य : मनु०, अ० ८, श्लो० १, २, ३, तथा ८—११ एवं १४५-१४६।

सब कार्यों को प्रधान मंत्री के ऊपर छोड़ देता था। शासन-विभाग का सर्वोपरि राज्याधिकारी राजा का कोई एक मन्त्री ही नियुक्त हुआ करता था। इस राज्याधिकारी के बाद, शासन-विभाग में प्रत्येक नगर के 'सर्वार्थ-चिन्तक' की बड़ी प्रतिष्ठा थी। उसके अधीन 'सहस्रग्रामाधिपति', 'शतग्रामाधिपति', 'विंशग्रामाधिपति', 'दशग्रामाधिपति' और 'एकग्रामाधिपति' नामक पदाधिकारी कार्य करते थे। इन लोगों के लिए राजाज्ञा थी कि ग्राम में जो दोष उत्पन्न हों, उन्हें एकग्रामाधिपति प्रच्छन्न रूप से जानकर उसकी सूचना दशग्रामाधिपति को दे एवं दशग्रामाधिपति विंशग्रामाधिपति को सूचित करे। इसी प्रकार क्रम-क्रम से राज्याधिकारी से राजा तक सूचना पहुँचाई जाती थी। सुविधा के लिए राज्य-शासन-प्रणाली के कर्णधारों को इस प्रकार समझा जाये[१]—

सर्वलोकाधिपति राजा

मुख्य सेनापति	मुख्य राज्याधिकारी	मुख्य न्यायाधीश
गुल्म (सैन्य-समूह)	राज्याधिकारी (शासन)	
	सर्वार्थचिन्तक	
	सहस्रग्रामाधिपति (सहस्रेश)	
	शतग्रामाधिपति (शतेश)	
	विंशग्रामाधिपति (विंशेश)	
	दशग्रामाधिपति (दशेश)	
	एकग्रामाधिपति (एकेश)	
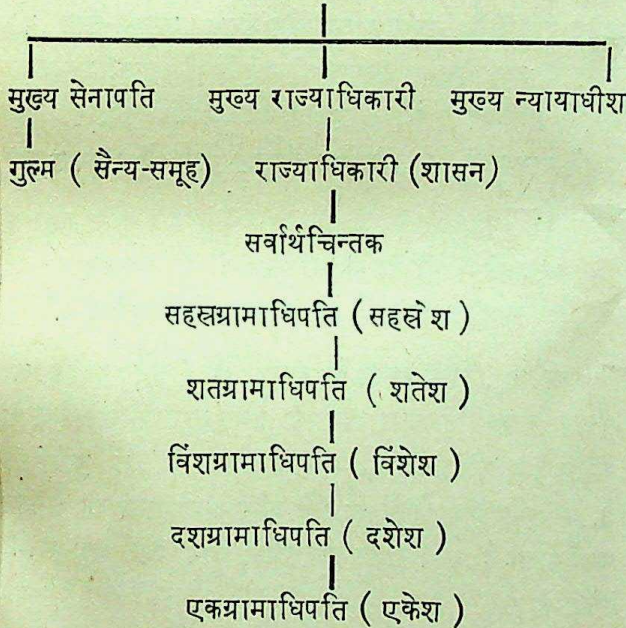
ध्यातव्य है कि शासन-विभाग के कर्मचारियों को न्याय करने का अधिकार नहीं था। न्याय करने का अधिकार यदि इन्हें होता, तो ये दोषों के लिए स्वयं दण्ड का विधान कर दिया करते, न कि गुप्त रीति से दोषों या अपराधों का पता लगाकर उनकी सूचना अपने उच्चाधिकारियों को भेजते। इससे यह स्पष्ट है कि मनुस्मृति के समय में भी शासन-विभाग तथा न्याय-विभाग दोनों अलग-अलग थे। तब, सम्भावना है कि न्यायाधीशों की निष्पत्ति के अनुसार ये अपराधियों को जेल आदि में रखने का प्रबन्ध करते हों।

शासन-तन्त्र की सुदृढता के लिए उस समय का युद्ध-विभाग भी बड़ा संघटित था। गहन दुर्गम दुर्गों (किलों) का निर्माण उस समय अपनी विशेषता रखता था। मनुस्मृति के अनुसार उस समय के धनुर्दुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, नृदुर्ग (सैन्यदुर्ग), गिरिदुर्ग आदि मुख्य थे। चूँकि किले के भीतर का एक धनुर्धर बाहर के सौ शत्रुओं से युद्ध कर सकता है और किले के भीतर के सौ धनुर्धर बाहर के दस हजार शत्रुओं से युद्ध कर सकते हैं, इसलिए किलों या दुर्गों के बनाने पर विशेष तत्परता रहती थी। दुर्गों को धन, धान्य, वाहन, शिल्पी, यन्त्र, जल आदि से निरन्तर संपन्न रखा जाता था, ताकि वहाँ के आश्रित राज-परिवारों और योद्धाओं को किसी प्रकार की कठिनाई का सामना न करना पड़े। उक्त दुर्गों में जो अधिक सुदृढ़ और सुरक्षित होते थे, उसी में राजभवन रहता था। वह राजभवन राजकार्य और गृहकार्य की सामग्री से सम्पन्न, सर्वथा सुरक्षित और सब ऋतुओं के उपकरणों से युक्त होता था।[२]

मनुस्मृति ने सैन्य-संचालन-विधि का भी वर्णन किया है। जहाँ राजसेना की प्रस्थान-विधि वर्णित है, वहाँ यह लिखा है—

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम्।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः॥

—मनु० अ० ७, श्लो० १८५

अर्थात्, तीन प्रकार के मार्गों को शोधकर, अपने छह प्रकार के बलों के साथ युद्धनीति के नियमानुसार धीरे-धीरे शत्रुनगर की ओर प्रस्थान करे। इस प्रकार, जल, स्थल और आकाश-मार्गों[३] से सेना चलती थी और

१—द्रष्टव्य : मनुस्मृति, अ० १२।
२—मनुस्मृति, अ० ७, श्लो० ७०-७६।
३—मनुस्मृति-युग (ई० पू० १००-५०० वर्ष) में विमान थे। द्रष्टव्य : अध्याय १२, श्लो० ४८।

विभिन्न व्यूहों की रचना कर शत्रुओं से लड़ती थी। व्यूहों में दण्ड, शकट, वराह, मकर, सूची, गरुड, पद्म और वज्र नामक व्यूह चर्चित हैं।

राजा का धर्म है कि वह युद्ध में, शत्रु के देश को जीतकर, उस विजित देश के ज्ञानी महात्माओं और धार्मिक ब्राह्मणों की भली भाँति पूजा करे। शत्रुदेश के उनलोगों को, जो युद्ध के कारण महादीन हो गये हैं, पोषण-द्रव्य प्रदान करे। तदनन्तर विजित देश में अभय-दान की घोषणा करा दे। विजित देश का राजा यदि मारा गया हो या भाग गया हो, तो उसके प्रधान पुरुषों, मन्त्रियों तथा प्रतिष्ठित प्रजा-प्रतिनिधियों की मोटामोटी राय जानकर विजित राजा के योग्य वंशज को राजा बना दे। उसके बाद धर्मानुकूलित राजनीति के अनुसार नवाभिषिक्त राजा और उसके राजपुरुषों से प्रतिज्ञा-पत्र लेकर, प्रधानपुरुषों के साथ उस नवीन राजा की रत्न आदि से सम्मान-वृद्धि करे। लेना अप्रियजनक और देना प्रियजनक है, समयानुसार। इच्छित पदार्थों का लेना या देना या दोनों ही ठीक हैं, आवश्यकतानुसार। इसलिए, नव-प्रतिष्ठित अधीनस्थ राजा से सप्रयत्न सन्धि करे और मैत्री, भूमि या सुवर्ण इन तीन प्रकार के फलों का सम्यक् निरीक्षण कर इनमें से एक को लेकर अपने राज्य को प्रस्थान करे।[1]

राजा का वैदेशिक विभाग प्रधान राजदूत के अधीन रहता था। यह प्रधान दूत मानों वैदेशिक विभाग का प्रधान मंत्री था। इसके अधीन अनेक अन्यान्य दूत थे, जो अन्यान्य राज्यों में अपने राज्य का कार्य-साधन करते थे। मनुस्मृति के सातवें अध्याय के १२२वें श्लोक में नगराधिपति के अधीन गुप्तचरों के कार्य बतलाये गये हैं एवं जहाँ राजा की दिनचर्या विस्तार से वर्णित है, वहाँ भी राजा के यथासमय गुप्तचरों के समाचार को नियमित सुनने की बात कही गई है। इससे सिद्ध है कि मनुस्मृति-काल में राजनीति की सफलता तथा शासन-तन्त्र की शक्तिशालिता के लिए गुप्तचरों का रखना राजा के लिए आवश्यक था।

मनुस्मृति के समय व्यापार आदि कार्यों में विनिमय-सौकर्य के लिए ताँबे, चाँदी और सोने के भी सिक्के[2] प्रचलित थे। यथा—

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञा प्रथिता भुवि।
ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥

—मनु० ८, १३१

लोक-व्यवहार की पवित्रता के लिए सिक्कों के प्रचलन पर भी राजा की विशेष निगरानी अपेक्षित मानी जाती थी। इस प्रकार, मनुस्मृति में उत्तम राजा और उत्तम राजनीति, उत्तम राज्य और उत्तम शासन-तन्त्र की सविस्तर व्यालोचना प्रस्तुत की गई है। परन्तु, महाराज मनु ने उसी राजा को इन्द्रलोक का भागी माना है, जो अपने राज्य को निम्नलिखित आदर्श राज्य में परिणत कर पाता है:—

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्॥[3]

अर्थात्, जिस राजा के राज्य में (उस राजा की सफल राजनीति या राजधर्म तथा सुदृढ शासन-तन्त्र के कारण) न कोई चोर है, न परस्त्रीगामी है, न दुष्टभाषी है, न साहसिक (डाकू) है और न राजाज्ञा की अवज्ञा करनेवाला है, वही राजा इन्द्रलोक, यानी स्वर्ग का भागी होता है।

१—मनुस्मृति, अ० ७, श्लो० २०१–२०६।
२—विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : मनु० अध्याय ८, श्लो० १३२–१३८।
३—मनुस्मृति : अ० ८, श्लोक ३८६।

जीवन, साहित्य और राजनीति

श्री रामनारायण उपाध्याय

राजनीति से परे भी एक जीवन होता है जिसे पाने के लिए स्वंयं राजनीतिज्ञ भी लालायित रहते हैं जबकि जीवन से भिन्न राजनीति का कोई स्थान नहीं होता। लेकिन जबसे हम आजाद हुए हैं कुछ ऐसे लगता है मानो हम शरीर से तो आजाद हो चुके लेकिन हमारा मन "सत्ता" की गुलामी से घिर गया है। आम जनता की बात छोड़िये, वह तो उस नींव का पत्थर है जिसपर राजनीति की इमारत खड़ी होती आई है। सत्ता कभी भी उसकी नहीं होती। वह तो उसके लिये या उसके नाम पर चलाई जाती है। लेकिन हम जो सभ्य और शिक्षित होने का दावा करते हैं, न जाने क्यों यह विश्वास करने लगे हैं कि सत्ता से भिन्न जीवन का कोई मूल्य ही नहीं।

हममें से अधिकांश, अपने जीवन के सम्पूर्ण नैतिक तत्त्वों की बाजी लगाकर भी सत्ता में कुछ न कुछ पा जाने के लिए प्रयत्नशील नजर आते हैं, और इसके चलते हमारा यह स्वभाव बन चला है कि हम गावों में जाकर, आम जनता से ओतप्रोत हो, उनसे बातचीत करने की अपेक्षा हवा में उड़कर रेडियो पर टाक दे आने, स्वतंत्र चिन्तनपूर्ण निबन्ध लिखने की अपेक्षा गलत-सी लगने वाली सरकारी योजनाओं का भी गुणगान करने, अपने पत्रों को राष्ट्रनिर्माणकारी रचनात्मक सुझावों से सँजोने की अपेक्षा सत्ताप्राप्त व्यक्तियों की खुशी के आधार पर सँजोने, और यदि कहीं तनिक-सी भी पद-प्रतिष्ठा या कुर्सी मिल जावे तो अपनी सारी साधना की बलि चढ़ाकर रेडीमेड नेता बन जाने में विशेष गौरव अनुभव करने लगे हैं। आज तो हमारी यह स्थिति है कि जबतक शादी-विवाह जैसे सांस्कृतिक कार्यों में भी किसी दूर के मिनिस्टर से नजदीक का रिश्ता लगाकर सन्देश न मँगा लें, और साहित्य-परिषद् जैसे साहित्यिक आयोजनों का भी किसी जेल-जमीन या जंगल के सत्ताप्राप्त महानुभाव के हाथों उद्‌घाटन न करा लें, तबतक हमें अपने कार्यों की सफलता का विश्वास ही नहीं होता।

सुनते हैं, प्राचीनकाल में भजन-पूजन की महिमा थी। लेकिन देखते हैं कि आजकल भोजन-भाषण की महिमा बढ़ती जा रही है। गाँव के किसी आमोद-प्रमोद के लिए एकत्रित छोटे-से जमाव से लगाकर शहर के सिनेमा-हाल विवाहों के जमघट और मेलों की भीड़ तक का उपयोग सभाओं के लिए किया जाने लगा है और इसके चलते हम आदमी से आदमी की तरह मिलने-बोलने की अपेक्षा स्वयं राजनीति की भाषा में बोलने और सोचने के अभ्यस्त हो चले हैं। पहले जहाँ हम देशसेवा करते थे, वहाँ आजकल हम सस्ती देशभक्ति का प्रदर्शन करने लगे हैं।

वास्तव में आदमी के लिए राजनीति होती है, राजनीति के लिए आदमी नहीं। अतएव आज सत्ता की ओर से देखकर सत्ता की राह आदमी को चलाने की अपेक्षा आदमी की ओर देखकर आदमी की राह सत्ता को चलाने की जरूरत है। कारण, राजनीति से देश का शरीर सँवरता है और साहित्य से उसकी आत्मा। राजनीति में मूर्खता के भी सम्मानित होने का अन्देशा रहता है जबकि साहित्य में ज्ञान का अभिषेक होता आया है। राजनीति में एक को पीछे ढकेलकर ही दूसरा आगे बढ़ता है जबकि साहित्य में एक के आगे बढ़ने पर दूसरा गौरव अनुभव करता है। राजनीति अखाड़ेबाजी है जबकि साहित्य चिरतंन साधना। जब किसी देश के साहित्यिक सत्ता की ओर देखकर चलते हैं तो वे दोनों को गुमराह करते हैं। लेकिन जब साहित्यिक जनजीवन की ओर देखकर राजनीति को सही मार्गदर्शन कराते हैं तो उससे राजनीति, जीवन और साहित्य तीनों समृद्ध होते हैं।

एक बार गाँधीजी ने कहा था कि आदमी की सर्वोच्च विकसित अवस्था तो तब मानी जायगी, जब उसे सत्ता और राजनीति की कम-से-कम जरूरत रह जायेगी।

वास्तव में साहित्य राजनीति का मार्गदर्शक रहा है। वह उसे भूतकाल की भूलों को पुनः न दुहराने की याद दिलाते हुए, भविष्य के मार्ग को अधिक सुदृढ़ एवं

(शेष पृष्ठ ४७ पर)

हमारे साहित्य का राष्ट्रीय चरित्र

श्री प्रभाकर मिश्र

समाज में कुछ भी शाश्वत नहीं है, किन्तु इसके यह मानी नहीं कि परिवर्तन की बात न कीजिये। यह 'परिवर्तन' क्या अर्थ रखता है? जो था, यह परिवर्तन उसका मुआवजा भरने में ही चुक जाये? मुझे ऐसा लगता है कि हमलोग, जो साहित्यकार हैं, एक हद तक, मुआवजा भरने की मजबूरी से निकले तो हैं, किन्तु एक महत्त्वपूर्ण पहलू को नजर-अन्दाज भी कर रहे हैं। राजनीति को साहित्य से, राजनीति को संस्कृति से पृथक करनेवाली लकीर कौन सी है? क्या वह लकीर बहुत स्पष्ट है, वास्तविक है, और स्थिर है? देश जिस निर्माण-प्रक्रिया से गुजर रहा है, और जो घटित हो रहा है, उसका महत्त्व साहित्य में केवल प्रासंगिक है? उस निर्माण-प्रक्रिया का सही रूप क्या है, कहाँ तक वह साहित्यकारों के विचारने की वस्तु है और साहित्यकारों का क्या दायित्व है? साहित्यकारों का दायित्व 'समय समय सुन्दर सबै रूप कुरूप न कोइ'—इतना मानकर पूरा हो जाता है? जहाँ से नये साहित्यकारों का दायित्व शुरू होता है, उसको हमने कितनी दूरी तक अबतक निबाहा है?

यह जो भारतीय इतिहास का युग गुजर रहा है, हमें सोचना है कि साहित्यकार होने के नाते हम इस मंच के पात्र भी हैं अथवा दर्शक मात्र? और पात्र हैं तो इतना भर एलान कर देने के लिये कि भाइयो, एक नया समाज बन रहा है, नया मूल्य स्थापित हो रहा है, नया मनुष्य जन्म ले रहा है और यह सब साहित्य के पन्नों में हो रहा है?...तब तो एक ही बात है। चाहे वह साहित्य के पन्नों में हो अथवा पंचवर्षीय योजना के पन्नों में—फर्क क्या पड़ता है?

जो तर्क उपस्थित किये जाते हैं वे प्रायः एक-दूसरे को काटनेवाले होते हैं। बानगी के लिए कुछ तर्क प्रस्तुत किये जा रहे हैं :

(क) बात उठती है आधार की : हमारे काम करने का आधार क्या हो। बहुधा ऐसा लगता है कि कोई ठोस जमीन नहीं नजर आती। एक समय था, जमीन बनी-बनायी थी, और अब है कि जमीन ही खिसक गयी है और जो नयी जमीन है, जैसे वह साहित्य की नहीं, सिर्फ राजनीति की जमीन है।

(ख) हम निराशा—दमतोड़ कुहासा से घिरे हैं, बुद्धिजीवियों का कोई भविष्य नहीं, ठेठ जमहूरियत का जमाना आ गया है, देश के भीतर से कोई नयी शक्ति जन्म ले यह अब साहित्यकारों के करने से रहा। राजनीतिक लोग सीधे जनता के बीच से आते हैं, वही जानें, हमारा रास्ता तो जरा घूमकर पड़ता है! सीधे जनता की बात प्रेमचन्द करते थे, जनता को समझना भी सीधा काम था। अब तो जनता स्वयं अपने को इतनी ठगी, अपमानित, हताश महसूस कर रही है कि साहित्य सीधे जनता की बात करे और साहित्य कहलाये तो वह सिर्फ 'लिटरेचर आफ फ्रस्ट्रेशन' कहला सकेगा।

(ग) जनता को सोचने की स्वतंत्रता है, बोलने की स्वतंत्रता है, शान्तिपूर्ण आन्दोलन करने, आमरण अनशन करने, हड़ताल करने और वोट देने की स्वतंत्रता है—कहाँ जगह है कि साहित्यकार इन सब के बीच अपने को आमंत्रित महसूस करे?

(घ) सुन्दर राष्ट्र की रचना के लिये संघर्ष और सुन्दर साहित्य की रचना के लिये संघर्ष, दोनों की बुनियाद बिरासत होती है। लेकिन हम करें क्या? जिस परिस्थिति से हमें गुजरना है, जागरूक साहित्यकार होने के नाते उससे समझौता हम कर नहीं सकते, बगावत हम कर नहीं सकते, और जिस निर्माण की लोग बात करते हैं उसका नक्शा ही साफ नहीं है। हम करें क्या? हम तो अजब शिकंजे में फँस गये हैं!

यही कुछ वे तर्क हैं। चूँकि ये तर्क स्वयं आपस में एक-दूसरे को काटते हैं, अतः इनके खंडन की आवश्यकता नहीं।

नयी संस्कृति अथवा नयी संस्कृति के पथ-निर्माण का प्रश्न, राष्ट्र के नये निर्माण का प्रश्न, और राष्ट्र के नये निर्माण का सांस्कृतिक कार्यक्रम—तीनों एक ही चीज हैं।

नयी संस्कृति का पथ-निर्माण, जिसका हम साहित्यकार दावा करते हैं, राष्ट्र के नये निर्माण के साहित्यिक कार्यक्रम से संबद्ध है। साहित्यिक कार्यक्रम का अर्थ यह है कि नये राष्ट्र के निर्माण में रचनात्मक साहित्य लिखने का कार्यक्रम। रचनात्मक साहित्य से तात्पर्य है उन प्रवृत्तियों का सम्यक एकीकरण जिन प्रवृत्तियों ने देश की बिखरी हुई रचनात्मक शक्तियों को संगठित करने में योग दिया। अपने समय के सक्रिय जीवन के प्रति उदासीन होकर बीते हुए काल का प्रेत, जो वर्तमान में घूमता हो, होने के सिवा और क्या उपाय है? यह सत्य नहीं है कि साहित्य में एक हद तक हम यही प्रेत-लीला कर रहे हैं?

मेरा आशय यह नहीं कि नये राष्ट्र के निर्माण को लक्ष्य बनाकर संगठित रूप से और योजनाबद्ध साहित्य लिखे जायें। 'कार्यक्रम' से वह ध्वनित नहीं होना चाहिए। वह काम, उस काम पर नियुक्त, केन्द्र और राज्यों की सरकारी संस्थाएँ कर रही हैं—और वे संस्थाएँ जिस तरह के साहित्य का निर्माण कर रही हैं, पहली बात तो यह कि वे चीजें साहित्य नहीं हैं और दूसरी बात कि बहुधा वे अपने मिशन में असफल होती हैं, क्योंकि उनमें वैसी संवेदनाओं का अभाव रहता है जिनमें नये समाज की प्रेरणा अन्तर्निहित रहती है।

आज के जन-जीवन को जो अनुभूतियाँ मिल रही हैं, हम यह मान रहे-से दीखते हैं कि उनमें सबसे साफ यह है कि जन-जीवन के भीतर व्यर्थता कहीं बैठ गयी है, यानी जो हो रहा है, गंभीर रूप से सब व्यर्थ है। जो फिजाँ है कि ऐसी फिजाँ में हम साहित्यकार खामोशी से अपना सन्तुलन बनाये रखें, यही क्या कम है!

चिन्ता न कीजिये। मैं यहाँ फिर कोई बुनियादी सवाल नहीं उठाऊँगा। साहित्य के विकास का अर्थ यह है कि वह मनुष्य को मर्यादित बनाने वाली जड़ परिस्थितियों को आन्दोलित करता है। हम आजादी के लिये लड़ रहे थे, निगाहें थीं कि सदियों का विक्षोभ लिये फिरती थीं। हम आज कहते हैं कि हम मानवीय अधिकारों के लिये लड़े थे, साहित्य में ऐसी किसी तरह की बंदिश नहीं चाहते थे जो जनता की अनुभूतियों और आकांक्षाओं को व्यक्त न होने दे। तेजाब जैसी जबान चाहते थे। और, आज हम स्वेच्छा से यह सिद्धान्त वर्जि[त] कर रहे हैं। यही है हमारा सन्तुलन! ऐसा लगता है कि हम आज के साहित्य में आदमी नहीं गढ़ रहे हैं, आदमी की वेश-भूषा गढ़ रहे हैं। आदमी तो जो है, वह चालीस करोड़ है ही!

कहा जाता है कि बाहर के निर्माण के पहले अन्द[र] का निर्माण जरूरी है, यानी मनोवृत्तियों और भावनाओं का संस्कार। दूसरी चीज जो राष्ट्रीय चरित्रवाले साहित्य के लिये मनोवृत्तियों और भावनाओं के संस्कार से क[म] महत्त्वपूर्ण नहीं है, वह है लेखक की निर्भीकता और सचा[ई] —किसी तरह के नपुंसक समझौते से दुश्मनी। मैं ए[क] छोटा-सा सवाल करता हूँ। साहित्य के राष्ट्रीय चरित्र निर्माण के लिये राष्ट्र के जीवन का अध्ययन और स्थाप[ना] आवश्यक है। तब, अध्ययन व्यक्ति का हो अथवा समा[ज] (यह मुझे मालूम है कि व्यक्ति से ही समाज बनता है किन्तु मेरे प्रश्न का पहलू स्पष्ट ही दूसरा है और वह साहित्य का सामाजिक दृष्टिकोण) का? निर्भीकता औ[र] सचाई की आवश्यकता और परख किसमें अधिक हो[ती] है? और, साहित्य की सार्थकता किसमें अधिक है? इ[स] प्रश्न का उत्तर अपने मन में ढूँढने के बाद हम पुनः अपने आप से पूरक प्रश्न करें कि हम प्रायः दोनों में से किसको प्रश्रय दे रहे हैं? जिसको प्रश्रय दे रहे हैं, उससे राष्ट्री[य] निर्माण में हम कितना सहयोग कर रहे हैं? देश की वर्तमा[न] स्थिति में, अगर ऐसा कहने से मैं साहित्य को ऊँ[चे] सिंहासन से नीचे उतारने का दोषी कहलाऊँ तो मुझे मंज[ूर] है कि, राष्ट्रीय निर्माण में हम जितना सहयोग कर रहे उतनी ही हमारे साहित्य की उपलब्धि है।

कला की सार्थकता अगर अपने-आप में है औ[र] राष्ट्रीय दायित्व उसका कुछ नहीं है तो मैं बेहिचक कह[ना] चाहूँगा कि मैं पहले राष्ट्रीय दायित्व का भागी हूँ, पी[छे] साहित्यकार। दोनों में कौन होना अधिक सार्थक हुआ यह कहकर मैं किसी को राष्ट्रीय भावुकता में नहीं बहा[ना] चाहता हूँ। शायद वह कला को काटनेवाली चीज हो जो हो, किन्तु हमारे साहित्य का दृष्टिकोण राष्ट्रीय न[हीं] हुआ तो आज की स्थिति में, हम जिस साहित्य [का] निर्माण कर रहे हों, शायद उसका असर हमारे राष्ट्री[य]

जीवन के लिये नुकसानदेह हो। किन्तु अपने साहित्य को इस पहलू से हम नहीं देख रहे हैं...और कला है कि ऊँची चढ़ती जा रही है—हिन्दी का राष्ट्रभाषा-रूप, जिसके प्रति देश के नागरिकों के मन में कृतज्ञता की भावना होनी चाहिये !

राजकीय संरक्षण की भी थोड़ी चर्चा जरूरी है।··· एक विचित्र विडंबना जैसी लगती है कि राजकीय संरक्षण साहित्य पर जितना बढ़ता जा रहा है, साहित्य से साहित्य का राष्ट्रीय चरित्र निकालता जा रहा है। ऐसा होने के कारणों में एक मुख्य कारण यह है कि राजकीय संरक्षण के पीछे जो स्वार्थ है, उस स्वार्थ का साझीदार हमारा एक साहित्यिक वर्ग उस स्वार्थ को ही आज के साहित्य की मूल प्रवृत्ति सिद्ध करने का षड्यंत्र कर रहा है और कहता है कि यही मूल प्रवृत्ति हमारे साहित्य के राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करेगी। दूसरी ओर, हम हैं कि इस चीज को गलत मानते हैं, किन्तु जिस सच्चे साहित्य का निर्माण करते हैं वह मात्र साहित्य के लिये होकर रह जाता है।

राजकीय संरक्षण में जो निहित स्वार्थ है, वह लेखक और पाठक के बीच एक व्यवधान भी उपस्थित करता है। साहित्य की सृष्टि को प्रेरणा अगर किंचित उससे मिलती भी है तो उसमें हमारी रचनात्मक शक्ति के अपव्यय की ही संभावना अधिक रहती है, क्योंकि वह साहित्य सच बात को सचाई से कहने के 'कलंक' से बचने की चेष्टा करता है। धीरे-धीरे वह प्रेरणा साहित्य की जमीन को ऐसा पंक बना देती है जिसपर साहित्य का कमल नहीं, सिर्फ आँकड़ा खिल सकता है। वह आँकड़ा चाहे आप साहित्य के जिस रूप में देखना चाहें—नाटक, कहानी, कविता, निबंध आदि। राजकीय संरक्षण ने आज तक जो प्रेरणा दी है, साहित्य में प्रत्यक्ष उसका यह रूप अविस्मरणीय है और इस रूप में प्रत्यक्ष जिस महान साहित्य की सृष्टि हुई है उसने हमारी राष्ट्रीय इकाइयों को कितनी खूब सही दिशा में मोड़ा है ! ··मेरा मत है कि हमारे यहाँ राजकीय संरक्षण की पद्धति कुछ ऐसी है कि इसने साहित्यकारों में पुरस्कार एवं पद तथा अनुदान मोह जनित परावलम्बन के प्रति निष्ठा अधिक पैदा की है, लक्ष्य-प्राप्ति के प्रति एकदम नहीं। राजकीय संरक्षण का, सच पूछिये तो, माहौल यह है कि 'तेरा जलवा जिसने देखा, वो तेरा हो गया।'

शायद बात अधिक विवादास्पद हो चली है ; कर्त्तव्य का उपदेश जैसी भी। बैठकर, बिना छँटनी किये, केवल अनुवाद का काम कीजिये ; कोई विवाद नहीं उठेगा। थोड़ा उग्र होना चाहते हैं तो आलोचक बन जाइये और थोड़े-से साहित्यकारों का एक गुट बना लीजिये और उनका झंडा बुलंद करते रहिये, क्योंकि यह राजनीति नहीं है। राजनीति की बात तो राजनीति वाले जानें !

राजनीति से और देश की जनता से आज हम एक रूप में सीधे जुड़े हैं। जीवन के अन्य रूपों की भाँति साहित्य भी जनतंत्र में ही खुलकर हवा में साँस लेता है और स्वाभाविक रूप से विकसित होता है। जनतंत्र तभी तक है जबतक जनता अपने अधिकारों के प्रति सजग है। जनता को जनतंत्र के अनुकूल बनाने की जिम्मेदारी साहित्य की बहुत अधिक है। इस तरह हमारी दोहरी जिम्मेदारी है। एक तो जनता को जनतंत्र के अनुकूल बनाने के लिये उसे अपने अधिकारों के प्रति सजग रखना और दूसरी कि सरकार यदि जनता के अधिकारों को अस्वीकार करे, सरकार की नीतियाँ जनतंत्र को कमजोर बनाने वाली हों तो जनता की ओर से उसे चाबुक लगाना। यहाँ पर विरोधी दल और साहित्यकार में कोई फर्क नहीं रह जाता। फर्क सिर्फ यह रहता है कि साहित्य दलगत नहीं होता।

शंका उठायी जा सकती है कि इस तरह से तो साहित्य प्रचार का मैदान हो जायेगा और साहित्य का स्तर गिर जायेगा, कला अन्तर्धान हो जायेगी।

जिस युग में हम जी रहे हैं उसकी सांस्कृतिक चेतना क्या है ? इस दृष्टि से हमारी साहित्यिक उपलब्धि का महत्त्व आगे के युग को दिखायी देगा कि नहीं ? सांस्कृतिक चेतना क्या होती है ? ऊपर मैंने सरकार, जनतंत्र, जनता और जनता के अधिकार की बात कही है। इन बातों का सांस्कृतिक चेतना से स्वाभाविक और सक्रिय संबंध है। इस संदर्भ में हम सोचें कि हम मुख्यतः सांस्कृतिक साहित्य का निर्माण कर रहे हैं अथवा संस्कृति

(नये मूल्यों) के नाम पर फैशन खड़ा कर रहे हैं। संस्कृति के नाम पर जब फैशन खड़ा किया जाता है तो वही 'साहित्य, साहित्य के लिये' हो जाता है। मैं तो इसी का दूसरा नाम कहता हूँ--'कला का अंतर्धान।'

यहाँ पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि साहित्य की अपनी शक्ति क्या है। केवल विसंगतियों से सर्द परिप्रेक्ष्य का भोग? साहित्य को कुंठित करने वाली साहित्येतर स्थूल समस्या-श्रेणियों की नाप-जोख?

साहित्य की सार्थकता की बात पुनः करूँगा, क्योंकि साहित्य की अपनी शक्ति को उसी के आस-पास होना चाहिये। वहाँ पहुँच कर हम उन प्रश्नों की भी उपेक्षा नहीं कर सकेंगे जिनका सम्बन्ध साहित्य के राष्ट्रीय चरित्र से है, जो व्यापक अर्थ में नये मूल्य को निर्धारित करता है और साहित्य को योग्य बनाता है। हमें स्वीकार करना चाहिये कि हमारे राष्ट्रीय जीवन की जो समस्याएँ हैं, उन पर आधारित वस्तु ही हमारे क्लासिक का निर्माण करेगी, न कि निकट से सुन्दर और कलात्मक दीखने वाले अपने ही व्यक्तित्व के भिन्न-भिन्न विकृत प्रतिरूप।...

परिप्रेक्ष्य में केवल विसंगतियाँ दिखायी देती हैं तो विसंगतियाँ ही ऐसी कौन-सी बुरी चीज हैं साहित्य के लिये। बल्कि हमारा मन अगर मुक्त है तो विसंगतियों का भी विशेष महत्त्व है। मन अगर मुक्त नहीं रहा तो ग्रहण की प्रणाली गलत हो जायेगी। मात्र संवेदनाओं के विस्तार में साहित्य की उपलब्धि है--आज यह सोचना वैसा ही है जैसा कि हमारे राजनीतिक नेताओं के लिये यह सोचना कि योजनाओं के मात्र प्रचार में योजनाओं की उपलब्धि है। नहीं कुछ तो मनोरंजन तो हो ही जाता है। कमजोरियों को ढँकने के लिये तो सरकारी विभागों से सम्बन्धित विभिन्न संस्थाएँ हैं ही। उसी तरह साहित्य में मठें। मेरा खयाल है कि हमारी सरकार संस्थाएँ अपनी कमजोरियों को ढँकने के लिये खोलती है। साहित्य में जब मठ-स्थापन की परिपाटी जोर पकड़ने लगे तो उसे भी कमजोरियों को ही ढँकने का प्रयास समझना चाहिये।

...ऐसा लगता है कि मैं उन बातों को साबित करता चला जा रहा हूँ जिसे कमोबेश हम सभी मानते हैं, लेकिन सही रूप में किया क्या जाये, यह समस्या नहीं है। मैंने इस लेख में अपनी बात साबित करने के लिये तथ्यों को जुटाने से बचने की भरसक कोशिश की है, यह मान कर कि यह निबंध जिनके लिये लिखा जा रहा है वे स्वयं तथ्यों को सँभालना जानते हैं और एहसास भी कर सकते हैं। साहित्य के राष्ट्रीय चरित्र की पांडित्यपूर्ण व्याख्या भी मेरा अभीष्ट नहीं। अपना दायित्व इस लेख में सिर्फ इतना था कि हम जिस चीज को स्वीकार करते हैं वह केवल स्वीकार करने भर के लिये नहीं है। अगर स्वीकारना केवल स्वीकार करने भर के लिये हो तो यह स्वीकारना तो उस छायावादी कवि जैसा हुआ जिसने पीड़ा का अनुभव नहीं किया और पीड़ा को स्वीकार लिया। पीड़ा यदि वस्तुतः अनुभूत हो तब तो अनुभूत पीड़ा को स्वीकारने के बाद उस पीड़ा से मुक्त होने का उपाय करना स्वाभाविक हो जाता है। दूसरा कोई चारा नहीं रहता।

साहित्य की ऊँची मान्यताएँ हैं। वह मानव-जीवन के आधारभूत सत्य को लेकर चलता है। ठीक है। मैं भी साहित्य की शक्तियों के प्रति आश्वस्त होकर ही आराधना कर रहा हूँ, कुछ उसके प्रति संदेह करके नहीं। मुझे तो केवल उस शक्ति से एतराज है कि दर्द कहीं हो और महसूस कहीं करे; आधारभूत सत्य को लेकर चले और आधार की बात न सोचे। मैं सीधे साहित्यकारों को लक्ष्य करके जो कुछ इसलिये कह रहा हूँ कि मैं यह सब सीधे साहित्यकारों को ही कहना चाहता हूँ।

साधारण ढंग से सही बात सोचने में क्या बुराई है? अगर मेरा सोचना गलत हुआ है तो यह जरूरी नहीं कि एक आदमी का सोचना दूसरे आदमी को गलत मालूम न पड़े। फिर, हर आदमी के साथ अपने-अपने कारण होते हैं किसी चीज को गलत समझने और सही समझने, किसी चीज को मानने और न मानने के। किसी बात पर सब लोगों से हाथ उठवा लेना बड़ा कठिन है। हाथ उठाने के लिये अपनी-अपनी सीमाएँ होती हैं। मेरा प्रस्तुत विषय विचारणीय हो सके, यही बहुत है। अब किसी की नीयत ही गड़बड़ हो तो इसका क्या उपाय है? उसके लिये तो शेष रूप में सिर-दर्द ही बचता है।

लेकिन सोचने के लिये आत्मीयता का क्षेत्र बढ़ाना होगा और सोचने की स्वतंत्र दिशा पर विश्वास करना

होगा। और अगर इस विषय से दिलचस्पी नहीं मालूम पड़े तो साहित्य से इस मुहावरे को साफ कर देना होगा कि साहित्य का सम्बन्ध देश, काल और परिस्थिति से होता है। देश, काल और परिस्थिति का महत्त्व है भी तो केवल शिल्प-रचना के लिये।

आधारभूत सत्य क्या हमेशा के लिये निश्चित होता है? ऐसा हो तब तो आधारभूत सत्य के नाम पर रूढ़ियों को ही ढोना हो। वैसा आधारभूत सत्य भला साहित्य के राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण क्या करेगा, क्योंकि कल क्या होगा यह हम कभी सोचने की जरूरत ही न समझेंगे। आधारभूत सत्य जो हाथ लग गया!

लेकिन राष्ट्रीय चरित्र तो उसी जीवन्त साहित्य का होगा जो राष्ट्रीय चुनौतियों को झेलने वाला साहित्य होगा।...

(पृष्ठ ४२ का शेषांश)

उज्ज्वल बनाता है। बिना साहित्य के राजनीति पशु होती है जबकि बिना राजनीति के साहित्य अधिक स्वस्थ्य, सुन्दर और सजीव होता आया है। सत्ता सहयोगी बनकर साहित्य के मार्ग में सहायक हो सकती है लेकिन अपना उपयोग करके साहित्य का निर्माण नहीं करा सकती। राजनीति देश की आवश्यकता है, साहित्य उसका प्राण।

भारत विख्यात् विद्वान आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने क्या ही सुन्दर कहा है—"पुस्तकालयों का प्रसार प्रमाण देश की सभ्यता के स्तर का सूचक तापमापक यंत्र है।" तापमापक यंत्र में जिस प्रकार उष्णता की चढ़ाई-उतराई हम मापते हैं, ठीक उसी प्रकार देश में पुस्तकालयों की बढ़ती से संस्कृति और साहित्य की प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है।

लोकमान्य तिलक का गीतारहस्य

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा

आधुनिक भारतीय जीवन में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का स्थान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। अभी भारत-वासियों ने अपनी गुलाम मनोवृत्ति के कारण "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है" के मंत्रदाता का पूरा-पूरा मूल्यांकन नहीं किया है। बंगाल और पंजाब के नेता क्रमशः अरविन्द घोष और लाजपत राय उनके महत्त्व को स्वीकार करते थे। उनका निश्चित विश्वास था कि भिक्षा माँगने से उनलोगों का हृदय नहीं पसीजता जिनके हाथ में अधि-कार होते हैं। जो थक जाने तक उद्योग करता है उसे ही भगवान सहायता देते हैं। गीतारहस्य का प्रणेता अद्भुत पुरुष रहा होगा इसमें सन्देह नहीं। १६ वर्ष की अवस्था में "भाषाविवृति" नामक गीता की मराठी टीका के सहारे तिलक का परिचय गीता से हुआ। उनके पिताजी मरणासन्न थे और बालक तिलक का काम पिता को अन्तिम समय में गीता सुनाना था। यौवन के उस प्रभात में जो परिचय कुरुक्षेत्र के अमर व्याख्यान से हुआ, तिलक ने उसे यावज्जीवन कायम रखा। मरने के पूर्व अपनी आखिरी चेतनावस्था में तिलक ने श्रीकृष्ण भगवान के इस श्लोक को दुहराया—

> **यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।**
> **अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥**

गीतारहस्य कोई सामयिक पुस्तक नहीं है। इसकी तुलना कीथ (Keith) की Religion and philo-sophy of the Veda and Upnishads अथवा डायसन (Deussen) की Philosophy of the Upnishads अथवा राधाकृष्णन की Indian phi-losophy से नहीं की जा सकती। यद्यपि इन पुस्तकों में भी प्राचीन भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में प्रचुर सामग्री मिलती है, जैसी गीतारहस्य में, तथापि गीतारहस्य एक अनोखी पुस्तक है। गीतारहस्य एक साधनामय मस्तिष्क की उपज है। तिलक जैसे प्रसिद्ध विद्वान के वर्षों के गहन अध्ययन और चिन्तन का गम्भीर तत्त्व इसमें भरा पड़ा है। किन्तु इससे भी बढ़कर, एक कठोर तपस्यामय जीवन का वर्षों का अनुभव इसमें समाया है। गीतारहस्य नीति-शास्त्र के ग्रंथों में एक अंश तक वही रहेगा जो स्पायनोजा (Spinoza) के Ethics या अरस्तू (Aristotle) के Ethics या ग्रीन (Green) के prolegomena का है। कहा जा सकता है कि अरस्तू या स्पायनोजा के समान तिलक स्वतंत्र चिन्तनकर्त्ता नहीं थे। कुछ अंशों में यद्यपि यह विचार ठीक है तथापि समस्त प्राचीन और अर्वाचीन आचारशास्त्रात्मक वाङ्मय की, गीता के आध्यात्मिक समत्वप्रतिपादक निष्काम कर्मयोग की दृष्टि से, तथा अपने सतत तपस्याशील जीवन की अनुभवराशि के आधार पर, सूक्ष्म आलोचना करने के कारण तिलक का स्थान एक गम्भीर चिन्तक का है।

राजनीतिक जीवन में तिलक का वही स्थान है जो सोलन (Solon), मैजिनी (Mazzini) या बिस्मार्क (Bismarck) का यूनान, इटली तथा जर्मनी के इतिहास में है। अभी हमारा साम्प्रतिक कार्य गीतारहस्य की विवेचना है, अतएव तिलक के राजनीतिक कार्यों की आलोचना में हम नहीं लगेंगे। किन्तु इस स्थान पर हम इतना ही कहना चाहते हैं कि राजनीतिक जीवन के घोर कष्टों के समक्ष हिमालय पर्वत की तरह अचल अविचल तिलक रह सके, इसका मूल रहस्य यही था कि गीता का अमर सन्देश उनके समस्त जीवन में प्रवाहित था। सुकरात ने कहा है कि ज्ञान ही शील है (Knowledge is virtue) तथा स्वामी रामतीर्थ कहते हैं कि वेदान्त ही निर्भीकता का आधार है (vedanta is in opper-able from fearlessness)। इन वाक्यों का क्या तात्पर्य ? जब मनुष्य किसी भावना से पूर्ण ओतप्रोत रहता है तब उसके हृदय में द्वन्द्व आते ही नहीं। द्वन्द्वातीत मनुष्य से कभी अधर्म हो नहीं सकता। जब धर्म और अधर्म में द्वन्द्व होता है तब कभी मानव के वृत्तिशक्त्यनुसार धर्म की अथवा अधर्म की विजय होती है। किन्तु जब पूर्णतः एकत्व-दृष्टि का बोध है तब अन्य द्वैताश्रित भेदबुद्धि या द्वेषबुद्धि का स्थान नहीं है. इसलिये पूर्णतः धार्मिक बनने के लिये

श्री अरविंद की भाषा में वैयक्तिक सत्ता और व्यक्तित्व का पूर्ण रूपान्तर (Total transformation of our being and personality) करना होगा। व्यक्तित्व के सम्पूर्ण रूपान्तर का ही नाम मोक्ष अथवा जीवन्मुक्ति है। गीता के अमर वाक्यों को पथप्रदीप मानकर तिलक ने अपने जीवन को उच्चतर बनाया था और सतत चिन्तनात्मक अनुसंधान की प्राप्ति में वे लगे थे। इस प्रकार उनके जीवन में एक कला परिदृष्ट थी और इस कलात्मक एवं ध्वनिपूर्ण मनोवृत्ति का परिचय गीतारहस्य में हम पाते हैं। इसके प्रत्येक अध्याय की रचना सलक्ष्य सप्रयोजन है। ग्रन्थ की पूर्णता में प्रत्येक अध्याय का हाथ है, यद्यपि स्वतंत्र रूप से भी प्रत्येक अध्याय एक महत्त्व रखता है।

गीतारहस्य का क्या वैशिष्ट्य है? क्यों हम इस ग्रन्थ का महत्त्व स्वीकार करते हैं? क्या गीतारहस्य इसलिये महान् है कि पूर्व और पश्चिम की दार्शनिक विद्या इसमें इकट्ठी की गई है? क्या गीतारहस्य इसलिये महान् है कि तिलक जैसे महान् पुरुष की यह रचना है? यह ठीक है कि दार्शनिक दृष्टि से, व्यक्ति से अलग रखकर ग्रन्थ की हमें आलोचना करनी चाहिए। किन्तु गीतारहस्य के विषय में ग्रन्थ को देखते ही ग्रन्थकार की ओर हमारी दृष्टि चली जाती है। जिस प्रकार सुकरात और श्रद्धानंद के जीवन को उनकी मृत्यु से अलग रखकर हम समझ नहीं सकते, उसी प्रकार तिलक के जीवन को जानना गीतारहस्य को जानने के लिये आवश्यक है।

तिलक ने बावन वर्ष की आयु में ६ वर्षों की सजा सुनाई जाने पर, गीता की अमर वाणी के समान ही तेजस्विनी वाणी में कहा था—"मैं आपसे (जज से) दान-भिक्षा नहीं माँगने आया हूँ। मैं अपने कर्मों का भोग करने को तैयार हूँ। मैंने जो कुछ लिखा है, जनसाधारण के प्रति अपना कर्त्तव्य समझकर लिखा है।...यद्यपि जूरी ने मुझे अपराधी ठहराया है, परन्तु मेरा अन्तःकरण मुझे पूर्णरूप से निर्दोष बताता है। एक ऐसी बड़ी शक्ति यह संसारचक्र चला रही है जिसके आगे मनुष्य की शक्ति की कोई गिनती नहीं है। ईश्वर की मुझे ऐसी मर्जी जान पड़ती है कि मेरे संकट सहने से ही मेरे उठाए हुए आन्दोलन का तेज बढ़ेगा" (Inspite of the verdict of the jury I maintain that I am innocent. There are higher powers that are moving the destiny of things and it may be the will of providence that the work than I am going here may well be done more by my suffering than by my remaining free.)। अविरत कर्ममय जीवन के द्वारा मातृभूमि की जिस निर्मल सेवा में तिलक लगे थे, जेलयात्रा के द्वारा भी वही कार्य अधिक वेगपूर्ण गति से परमात्मा कराना चाहता था, यह विश्वास उनके हृदय में था। और वस्तुतः हुआ भी यही। १६०८ के महाराष्ट्र-केसरी को १६१४ में हम भारत-केसरी के रूप में पाते हैं। गीतारहस्य के द्वारा भी वही कार्य होना था जिसमें तिलक यावज्जीवन लगे थे। तिलक ने कहा है कि जेल के कष्टों से उनका कार्य अधिक शक्ति प्राप्त करेगा। जेल के भीतर गहन बौद्धिक और आत्मिक विचिन्तन के फलस्वरूप उन्होंने इस ग्रन्थ को रचा। इसके द्वारा उनका कार्य तीव्रता को प्राप्त हुआ, इसमें आश्चर्य ही क्या है। इसी विचारधारा को सामने रख कर कहा गया है कि गीतारहस्य तिलक के जीवन का एक अत्यन्त जाज्वल्यमान अध्याय है और इस ग्रन्थ के रहस्य को समझने के लिये तिलक के जीवन को समझना होगा।

गीतारहस्य की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(१) महाभारत के नारायणीयपांचरात्रधर्माधारित प्रवृत्तिमार्गीय नीतिशास्त्र का इतना सुन्दर विवेचन अन्यत्र कठिनता से मिल सकता है।

(२) हाब्स, बेंथम, मिल आदि यूरोपीय विचारकों के आधिभौतिक नीतिशास्त्र के ऊपर गीता की आध्यात्मिक विवेचनपद्धति की उत्तमता इसमें प्रमाणित की गई है। भौतिकवादी, मार्क्सवादी भी इससे नैतिक प्रेरणा ग्रहण कर सकता है।

(३) "सिद्धावस्था और व्यवहार" नामक अध्याय में तिलकजी का जीवन-दर्शन अच्छी तरह रक्खा गया है। स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत, भक्त, ब्रह्मभूत आदि की स्थिति कैसी होती है तथा संसार में व्यवहार करने में उसे यदा-कदा किस प्रकार "शठे शाठ्यं समाचरेत्" की नीति का

अवलंबन करना पड़ता है, इसका भी सुन्दर रूप प्रस्तुत किया गया है।

(४) लोकमान्य तिलक ने गीता के नैतिक मार्ग (Ethical standpoint) की तुलना काण्ट के आचारशास्त्र से की है। किन्तु गीता की विचारधारा काण्ट की अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक है इसपर भी विचार करना चाहिए। सहजस्फूर्त स्वतः संकल्पित संकल्प (Spontaneous self-willed will) को ही काण्ट पवित्र शिव संकल्प मानता है, किन्तु गीता के विचार में ईश्वरभक्ति के द्वारा पवित्रीकृत मन और व्यवसायात्मिका साम्यनिष्ठ बुद्धि और आत्मा से ही पूर्ण नैतिक कर्म सम्भव है। "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु" यही गीता का चरम प्रतिपाद्य है।

गीतारहस्य की कुछ कमियाँ भी हैं—

(१) लोकमान्य ने गीता के मूल प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट नहीं किया है। गीता का विवेचनीय विषय किससे—साक्षात्कार-पूर्वावस्था से या पश्चात्साक्षात्कारावस्था से—से सम्बद्ध है? क्या ब्रह्मज्ञाननिमित्तक निष्काम कर्म की आवश्यकता प्रमाणित करनी है अथवा यह सिद्ध करना है कि ज्ञानी पुरुष को भी ज्ञानान्तर निष्काम कर्म करना चाहिए? भगवद्गीता के अनुसार—(क) स्वतंत्र ज्ञान से मुक्ति, (ख) स्वतन्त्र मात्र निष्काम कर्म से ही मुक्ति, (ग) भक्तियोगाश्रित उभयसमुच्चय से मुक्ति—इन तीनों में से कौन-सा मार्ग अभीष्ट है? मुक्ति के साधनों में कर्म का कौन-सा स्थान है, इस प्रश्न की मीमांसा गीता का उद्देश्य है अथवा ज्ञानोत्तरकाल में कर्म (लोकसंग्रहार्थ) करने की आवश्यकता प्रतिपादित करना? कर्म को ज्ञानप्राप्ति का पूर्ववर्ती गौण साधन (Purificatory) वेदान्तशास्त्र स्वीकार करता है। यदि लोकमान्य भी कर्म को मुक्ति का स्वतंत्र साधन नहीं मानते तो फिर उनमें और शंकर में क्या मौलिक दार्शनिक अन्तर रह जाता है?

(२) मायावाद की कोई अच्छी व्याख्या "अध्यात्म"-प्रकरण में नहीं प्रस्तुत की गई है। वेदान्तग्रंथों में जो तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं, उन्हीं को उठाकर रख दिया गया है; कोई स्वतंत्र अनुसंधान नहीं किया गया है। किस प्रकार जगत् को मायात्मक सिद्ध किया जाये इसके लिये कोई विशेष परिश्रम लोकमान्य ने नहीं किया है। फिर, अध्यात्मदृष्टि से अद्वैतवेदान्तप्रोक्त मायावाद गीता को भी सम्मत है इसका प्रमाण क्या है?

(३) विश्वरूपदर्शन की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं प्रस्तुत की है। केवल महाभारतवर्णित एक और विश्वरूपदर्शन का उल्लेख किया है।

(४) गीता के कालनिर्णय का कोई विशेष ऐतिहासिक अनुसंधानपूर्ण उद्योग लोकमान्यजी ने नहीं किया जैसा वेदों के सम्बन्ध में उन्होंने किया था।

(५) कहीं पर तिलकजी ने संन्यासमार्ग का अनावश्यक उपहास किया है तथा प्रायः सर्वत्र ही गीता में आए "योग" शब्द को "कर्मयोग" में बदलने का यत्न किया है। इस प्रकार जिस "खींचातानी" और क्लिष्टता का आरोप उन्होंने साम्प्रदायिक टीकाकारों पर किया है, इससे वे स्वयं मुक्त नहीं हो सके हैं।

तथापि इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक भारतीय साहित्य में गीतारहस्य एक अतिशय महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को भी इससे त्याग, सेवा और कष्टक्षमता की शिक्षाएँ मिली हैं। दार्शनिक ऊहापोह को इसने उत्तेजना दी है। प्रवृत्तिमार्ग का वैशिष्ट्य प्रतिपादित कर लोकसंग्रहार्थ निष्काम कर्मयोग का शिक्षण करने के कारण राजनीतिक दर्शन के निर्माण में भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(क) गीतारहस्य (हिन्दी संस्करण) पृ० ७८७ : "अतएव प्रकट है कि गीता में यह अद्वैत सिद्धांत ही प्रतिपाद्य है कि नानानामरूपात्मक माया भ्रम है; और उसमें अविभक्त रहने वाला ब्रह्म ही सत्य है।" किन्तु क्षराक्षरोत्कृष्टपुरुषोत्तमवाद और दैवीमायावाद जो गीता के विलक्षण (एक अर्थ में उपनिषदों के विचारों से अंशतः पृथक्) विचार हैं उनसे वेदान्तोक्त मायावाद की संगति नहीं मिलाई गई है।

विकास प्रखंड, बुनियादी प्रशिक्षण-शिक्षा-साहित्य
एवं
कृषि-विषयक हमारा अनमोल साहित्य

	पुस्तक	लेखक	मूल्य
१.	आधुनिक कृषि-विज्ञान तथा कृषि-प्रसार	श्री एम० एच० जानी	९.५०
२.	शिक्षा के सिद्धांत और इतिहास	श्री शंभुशरण चौधरी	६.००
३.	बुनियादी प्रशिक्षण-केन्द्र : व्यवस्था, संगठन एवं संचालन	श्री द्वारिका प्रसाद सिंह	४.००
४.	बुनियादी शिक्षा में विभिन्न विषयों की शिक्षण-विधि	"	६.००
५.	बुनियादी शिक्षा : शंका-समाधान	"	३.५०
६.	बुनियादी शिक्षा में समवाय	"	५.२५
७.	समन्वित पाठ्यक्रम पथ-प्रदर्शिका	"	०.५०
८.	सामाजिक शिक्षा और समाज-सेवा	डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री	६.७५
९.	भारतीय गाँवों में प्रसार और कल्याण-कार्य	श्री रंग तिवारी	५.२५
१०.	समाज-शिक्षा में वयस्क-मनोविज्ञान	श्री सौरीन्द्र सरकार	१.७५
११.	बच्चों का विकास और उनकी शिक्षा	श्री अ० अ० अनन्त	२.००
१२.	शिक्षण की गतिशील विधियाँ	श्री मुनेश्वर प्रसाद	६.२५
	निबंध—		
१३.	निबंध पारिजात	श्री बमबम सिंह 'नीलकमल'	४.००
	उपन्यास—		
१४.	कलाकार की आँखें	श्री हिमांशु श्रीवास्तव	२.५०
	नाटक—		
१५.	हम भी कातें : हम भी बुनें	डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री	०.३७
१६.	अतीत की ओर	श्री कृष्णानन्द प्रसाद सिंह	१.२५
१७.	विकास की ओर	श्री बी० वर्णवाल	०.६२
१८.	स्वयंसेवक से राष्ट्रपति (जीवनी)	श्री हिमांशु श्रीवास्तव	०.५०

(इनके अलावा शिक्षा-साहित्य एवं पुस्तकालयों की शोभा बढ़ाने के लिए हिंदी के अन्य समृद्ध साहित्य के हेतु पधारने की कृपा करें और नए वर्ष (१९६२) का प्रेमोपहार कैलेण्डर ग्रहण कीजिए)

मगध राजधानी प्रकाशन
खजांची रोड, पटना—४

आकाशवाणी-साहित्य : नीति और राजनीति

श्री हिमांशु श्रीवास्तव

ज़माना गुज़रा, एक रेडियो-नाटक-लेखक का नाटक-संग्रह प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक के यहाँ समीक्षा के लिए आया था। उक्त संग्रह की भूमिका में लेखक ने लिखा था—'रेडियो में नाटक-लेखक को भावाभिव्यक्ति के संबंध में बिलकुल शिखंडी बन जाना पड़ता है।' नाटक-लेखक का संकेत यह था कि लेखक को इस बात की छूट नहीं रहती कि वह बिलकुल स्वेच्छा से, जो चाहे, लिख सकता है। अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि बात सही और दिल को छूने वाली है। लेकिन, भावनाओं के दमन की यह बात केवल नाटक के साथ ही नहीं, रेडियो-साहित्य की प्रत्येक विधा के साथ लागू होती है। केवल नाटक ही इसका अपवाद नहीं है।

हमारे मुल्क में कई ऐसे नाटक-पारखी हैं, कई ऐसे नाट्य-शास्त्र के ज्ञाता हैं, जो रेडियो-नाटक-लेखकों को अपना शिष्य बना सकते हैं और यदि गुण-ग्राहक का स्वभाव व्यक्तित्व में हो, तो रेडियो-नाटक-लेखक इनसे सीख भी सकते हैं। लेकिन, अक्सर देखा जाता है कि नाटक की पांडुलिपि में, नाटक के सारे गुण होते हुए भी, पांडुलिपि निम्न पंक्तियों में छपे हुए पत्र के साथ लौटा दी जाती है :

"आकाशवाणी··· को आपने अपनी रचना देखने और उसपर विचार करने का अवसर दिया, इसलिए हम आपके आभारी हैं। किंतु, खेद है कि हम इसका उपयोग नहीं कर सकेंगे। मगर, इसका अर्थ यह नहीं कि आपकी योग्यता में कोई कमी है।"

पांडुलिपि के साथ केंद्र-संचालक सभ्यता से परिपूर्ण यह पत्र भेजकर छुट्टी पा लेते हैं। लेकिन, सवाल यह है कि इससे अधिक वे और कर भी क्या सकते हैं?

क्या आप रेडियो के लिए निम्नलिखित में से किसी प्रकार की रचना तैयार कर रहे हैं?

१. कहानी, २. नाटक, ३. रूपक, ४. फैन्टैसी, ५. वार्त्ता, ६. जीवनी, ७. संस्मरण, ८. पुरातत्त्व संबंधी लेख, ९. सांस्कृतिक लेख आदि।

तो रचना तयार करने और केंद्र-संचालक के ना[म] भेजने से पूर्व रेडियो की निम्न नीति (मोटे तौर पर) [पर] विचार कर लें कि आपकी रचना इनके विरुद्ध तो नहीं है।

१. रचना सांप्रदायिक भावना को उभारनेवाली न हो।
२. रचना में जातिविशेष, समाजविशेष, व्यक्तिविशे[ष], जीविकाविशेष पर व्यंग्य न हो।
३. रचना में भ्रूण-हत्या अथवा गर्भपात की [चर्चा] न हो।
४. समाजद्रोही तत्त्वों का समावेश न हो।
५. अपराधवृत्ति को प्रोत्साहन न दिया गया हो।
६. सरकारी नीति की न तो उपेक्षा हो और [न] आलोचना।

उपर्युक्त नीतियों की बातें मैंने इसलिए लिखीं [कि] एक भारतीय लेखक को, भारतीय दृष्टिकोण से, भारत[की] राजनीतिक स्थिति के दृष्टिकोण से, सरकार के उस प[क्ष] को भी समझने में सहायता मिले, जिसके कारण रेडि[यो] के लिए रचनाएँ तैयार करनेवाले रचनाकार प्रत्यक्ष [या] अप्रत्यक्ष रूप से, ऐसी स्थिति में, अपने को 'शिखं[डी]' कहने लगते हैं।

उदाहरण के लिए नीति-संख्या एक को ही लीजिए। भारत का बँटवारा साम्प्रदायिक भेदों के कारण ही हुआ, जिसे पाकिस्तान की सरकार भले ही उचित समझे, भा[रत] सरकार कतई पसंद नहीं करती। यद्यपि भारत में रा[ष्ट्र]वादी मुसलमानों की कमी नहीं है, फिर भी मुस्लिम [लीग] के समर्थक भी यहाँ कम नहीं हैं। माना कि आपने [अपने] नाटक में मुसलमानों की इस ज़िद्द की ओर संकेत [किया] कि व्यर्थ ही धर्म के नाम पर देश का बँटवारा हुआ। भारत में रहनेवाले जो मुसलमान पाकिस्तान के समर्थक [हैं], मान लें कि उनमें से कोई नाटक-लेखक हो; वह चाहे तो एक नाटक द्वारा आपके नाटक का जवाब देगा। [और] तो आकाशवाणी के अधिकारियों को वह नाटक प्रसा[रित] ही करना पड़ेगा। अगर ऐसा नहीं किया गया, तो

नाटककार झट एक साम्प्रदायिक मंच बना लेगा और खुलेआम मुसलमान भाइयों को यह कह कर भड़कायेगा कि 'इनका राज्य है, इनका रेडियो है, ये हम अल्प-संख्यकों का मज़ाक उड़ा रहे हैं, हमारा इस्लाम खतरे में है।'

आपके एक नाटक के कारण उनका इस्लाम खतरे में पड़ा या नहीं, यह बात दूसरी है। मगर, आप वस्तुतः देखेंगे कि इसके चलते क्या-से-क्या हो जायगा। आकाशवाणी के अधिकारियों को गला छुड़ाने की फ़ुर्सत नहीं मिलेगी और संभव है, जो अधिकारी आपके ऐसे नाटक को प्रसारित करेगा, मुअत्तल कर दिया जाय और यह सांप्रदायिक मसला पार्लियामेण्ट तक जा पहुँचे। हमारे देश के सामने सवालों की कमी नहीं है और आपके एक नाटक ने तो एक और जटिल सवाल खड़ा कर दिया।

अब आप नीति-संख्या दो को ही ले लीजिए। हमारा देश जाति और धर्मनिरपेक्ष देश है—हमारा संविधान भी यही कहता है और भारत में चलनेवाला प्रत्येक आकाशवाणी-केंद्र भारत सरकार की संपत्ति है। फिर हम अपनी रचना में जातिविशेष, व्यक्तिविशेष और जीविकाविशेष पर व्यंग्य कैसे कर सकते हैं? मैंने रेडियो के लिए एक कहानी लिखी थी, जिसमें एक पंक्ति निम्न प्रकार थी—

"पंडितजी ने सवा रुपये लेकर पंचांग देखा।"

एक रेडियो-अधिकारी ने मुझसे आग्रह किया कि कृपया इस पंक्ति को हटा दें। मैंने उनका मन्तव्य समझ लिया और उक्त पंक्ति को इस प्रकार बदल दिया—"पंडितजी ने पंचाग देखा।"

अब आजीविका की ही बात ले लीजिए। बहुत रोज हुए, एक लेखक के नाटक में, ऐसी घटना थी कि नायक का पेट दर्द कर रहा है। मित्र जब दर्द का कारण पूछता है, तब वह उत्तर देता है—"क्या बताऊँ, लाला रामलाल के यहाँ दावत थी। डालडा की कचौड़ियाँ खायीं और आज पेट-दर्द हो आया।"

नाटक-इंचार्ज ने लेखक से यह पंक्ति कटवा दी। रेडियो की किसी रचना में आप इस प्रकार का वाक्य नहीं लिख सकते "वकीलों का क्या, जिससे पैसे मिले, उसकी तरफदारी करने को कोर्ट में खड़े हो गए।" अथवा "डाक्टर तो नब्ज देखने से पहले रोगी की जेब देखते हैं।"

अब लीजिए, नीति-संख्या तीन की बात। मैंने कहा है कि भ्रूण-हत्या अथवा गर्भपात की बात न हो। पहली बात तो यह कि उपर्युक्त दोनों जघन्य कार्य कानून और समाज के विरोधी हैं। पापों पर परदा डालने के लिए ही ऐसे दुष्कृत्य किये जाते हैं। निश्चय ही नाटक में ऐसी स्थिति लाने के लिए आपको अपने पात्रों को इस प्रकार के पाप में प्रवृत्त कराना पड़ेगा। चाहे घटना का संबंध अतीत से ही क्यों न हो, उसकी अभिव्यक्ति स्वप्न की स्थिति (Dream sequence) में ही क्यों न हो, इतनी बात तो जरूर है कि जब घर में रेडियो है, तब उससे आनन्द उठाने के लिए किसी को मनाही नहीं होगी। संभव है, जब आपकी ऐसी रचना प्रसारित की जा रही हो, तब किसी परिवार में पिता, माता, जवान बेटी, जवान बेटा और भी अन्य अतिथि एक ही जगह बैठे हों। फिर ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि यह स्थिति उनके मानसिक वातावरण के लिए सुखकर होगी। यह बात तो आप महसूस करेंगे ही कि भ्रूण-हत्या अथवा गर्भपात भारत की जनसंख्या की वृद्धि रोकने के इरादे से नहीं किया या कराया जाता है।

अब लीजिए, नीति-संख्या चार। इसके अनुसार आप कल-कारखानों में हड़ताल होने या कराने की चर्चा नहीं कर सकते। ऐसी बातें सरकार-विरोधी पार्टियाँ ही कर सकती हैं। आप अपनी रचना में यह नहीं दिखला सकते कि बिना टिकट पकड़े जाने पर एक छात्र टिकट-कलक्टर द्वारा स्टेशन-मास्टर के कमरे में ले जाया गया और क्रोधावेश में आकर बहुत-से छात्रों ने स्टेशन-मास्टर को घेर कर पीटा या गालियाँ दीं। आप यह नहीं दिखला सकते कि किसान-आंदोलन हुआ, किसानों का एक बड़ा जत्था किसी जिलाधीश को घेर कर खड़ा हो गया, उसने कार्यालय के सामने भद्दे नारे लगाये और अन्त में किसानों की विजय हुई।

नीति-संख्या पाँच में कहा गया है कि अपराधवृत्ति को प्रोत्साहन न दिया गया हो। मेरा खयाल है कि आप भी इस नीति से सहमत होंगे। यदि अपराधवृत्ति को समाज के लिए अच्छा समझा जाता, तो अपराधों को रोकने या कम करने के लिए कानून क्यों बनते, न्यायाधीश क्यों बनाये जाते, न्यायालय, पुलिस और जेल पर इतना

खर्च क्यों किया जाता ? हाँ, आपको इतनी छूट है कि एक अपराधी का चरित्र-चित्रण करते हुए यह दिखायें कि उसके परिणाम बुरे हुए या उस अपराधी ने अपनी भूलों को महसूस किया और उसने फिर समाजसम्मत आचरण को कबूल किया।

नीति-संख्या छह तो स्पष्ट है। चाहे कांग्रेस सरकार हो, सोशलिस्ट सरकार हो, रेडिकल सरकार हो या कम्यूनिस्ट सरकार– अपने ही रेडियो-स्टेशन से अपनी नीति की आलोचना बर्दाश्त नहीं करेगी।

मोटे तौर पर यह स्वीकार करना होगा कि रेडियो से जनजीवन का चाहे जितना मनोरंजन हो, वस्तुतः यह माध्यम वर्त्तमान सरकार की नीति के प्रचार और प्रसार के लिए ही है। परदे के भीतर क्या है, इसे हम जानते हुए भी आकाशवाणी के माइक के सामने नहीं कह सकते। कहा जा सकता है कि कभी-कभी आकाशवाणी से अन्य देशों की उस नीति की आलोचना की जाती है, जो अपने देश के लिए अनुकूल नहीं पड़ती। लेकिन, इसके लिए आप स्मरण रखें कि वैसी आलोचनाएँ प्रसारित करने का अधिकार सबको नहीं होता। ऐसी आलोचनाएँ देश की सरकार के बड़े नेता ही कर सकते हैं या आकाशवाणी द्वारा नियुक्त विशेष व्यक्ति–जैसे आकाशवाणी, दिल्ली से ऐसी समीक्षाएँ धर्मवीर गाँधी करते हैं। परन्तु, यह भी सही है कि ऐसी समीक्षा की प्रत्येक पंक्ति पर पहले काफी विचार-विमर्श कर लिया जाता है। इस प्रकार के समीक्षक बिलकुल स्वतंत्र होते हुए कुछ नहीं बोलते। ऐसी स्थिति में, प्रत्येक राजनीतिक तनाव और कूटनीतिक स्थिति पर विचार कर लिया जाता है।

यही कारण है कि रेडियो में नौकरी पाने से पूर्व जो लेखक अपने को मोलियेर और वाल्तेयर की टक्कर का व्यंग्यकार समझते हैं, रेडियो के लिए लिखते समय बिलकुल 'सरकारी लेखक' हो जाते हैं।

लेकिन, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि रेडियो की सभी नीतियों का पालन करते हुए श्रेष्ठ रचनाएँ नहीं की जा सकतीं। आकाशवाणी से अब तक ऐसी हजारों रचनाएँ प्रसारित की जा चुकी हैं और की जा रही हैं। साथ ही, यह भी सत्य है कि पार्टी की रक्षा के लिए, पार्टी की लोकप्रियता पर आँच न आने पाये। वर्तमान सरकार सिद्धान्त की रक्षा के नाम पर, उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में रचनाएँ प्रसारित करने की आज्ञा नहीं देती, जिनके सिद्धांत और कार्य-कलाप वर्तमान सरकार की नीति के विरुद्ध थे या रहे हों। उदाहरण के लिए वर्तमान सरकार हिंसात्मक कार्रवाइयों पर विश्वास नहीं करती और संभवतः आजतक आकाशवाणी के किसी भी केन्द्र से सरदार भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, सुखदेव और राजगुरु के संबंध में किसी का संस्मरण नहीं प्रसारित हुआ, यद्यपि इन स्वर्गीय वीरों के अनेक मित्र सौभाग्य से अभी जीवित हैं। जैसे; बिहार में श्री बटुकेश्वर दत्त, योगेन्द्र शुक्ल; दिल्ली में श्री मन्मथनाथ गुप्त, लखनऊ में श्री यशपाल।

मुख्यतः जिस पार्टी की सरकार होती है, उसी पार्टी के नेता के जन्म-दिवस अथवा मृत्यु-दिवस के संबंध में वार्ताएँ प्रसारित की जाती हैं या आँखों-देखा वर्णन प्रसारित किया जाता है। लेकिन, हमें अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि हम साहित्यकारों की स्थिति भले ही न बदले, सरकार की स्थिति बदलती रहेगी, पार्टी के बहुमत के कारण विभिन्न पार्टियों की सरकारें बनती रहेंगी और आकाशवाणी-साहित्य के प्रत्येक अक्षर को तत्कालीन सरकार की राजनीति और नीति को समर्थन देना ही पड़ेगा।

पुस्तक का उत्स ही पाठक में है। पुस्तक के प्रणेता का जीवन भी पाठक में निहित है। कहना न होगा कि प्रत्येक कलाकृति की सर्जना से पूर्व लेखक का कोई-न-कोई स्वार्थ रहता है। भले ही आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य यश के लिए, प्रतिष्ठा के लिए और अन्त में रमणी के समान प्रसन्न करने के लिए ही लिखा जाये। महाकवि तुलसीदास आज क्यों अमर हैं? उन्हें धर्मभीरु पाठक मिला। पाठक इतने मिले कि आज रामायण का पन्ना-पन्ना तुलसीदास के समान पवित्र है।

—श्री श्रीरंग शाही

अहिन्दीभाषी क्षेत्र : हिन्दी पाठ्यपुस्तकें

श्री महेशनारायण 'भारतीभक्त'

विंध्याचल के उस पार पाँच अहिन्दीभाषी प्रदेश हैं जिनमें से महाराष्ट्र को छोड़ भी दिया जाए तो चार ऐसे प्रदेश शेष रहते हैं जो विशुद्ध अहिन्दीभाषी प्रदेश हैं। असम, उड़ीसा, गुजरात, पंजाब, बंगाल आदि अहिन्दी प्रदेशों से तथा महाराष्ट्र से भी, उनकी समस्याएँ भिन्न हैं। वे चारों प्रदेश हैं आंध्र, मद्रास (तमिलनाड), मैसूर (कर्नाटक) और केरल। इन प्रदेशों की भाषाएँ क्रमशः तेलुगु, तमिल, कन्नड़ और मलयालम हैं। भाषाविज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि ये चारों द्रविड़ भाषाएँ आर्य-भाषाओं से, जिनमें मराठी भी सम्मिलित है, सर्वथा भिन्न हैं। इन द्रविड़ भाषाओं में मलयालम को छोड़कर शेष का साहित्य काफी पुराना है। तमिलभाषियों का तो दावा है कि तमिल प्राचीनता में संस्कृत से भी आगे है। तथ्य जो भी हो, किंतु इतना निश्चित है कि उत्तर भारत के लोग दक्षिण की इन भाषाओं को सीखने में काफी दिक्कत महसूस करते हैं। हिन्दी सीखने के सम्बन्ध में यही बात दक्षिणवालों के लिए लागू हो सकती है, लेकिन थोड़ा अंतर है।

दूसरी भाषाएँ सीखने के लिए जिस उत्साह और श्रम की अपेक्षा रहती है, उसमें आम तौर पर दक्षिण के लोग हमसे बहुत आगे हैं। उन्होंने अंग्रेजी पर अधिकार किया और अब हिन्दी को अपना रहे हैं। अनुभव से यह करीब-करीब सिद्ध हो चुका है कि दक्षिण के लोगों के लिए हिन्दी अंग्रेजी से कम आसान भाषा नहीं है। मुट्ठी-भर बुद्धिजीवियों का वर्ग जो समय-समय पर इसके विरोध में वक्तव्य देता रहता है, उसके मूल में या तो राजनीति है अथवा वर्गगत स्वार्थ है। दक्षिण के लोग हिन्दी शुद्ध बोलने और लिखने का ध्यान बहुत रखते हैं। उनकी भाषाओं में वर्ण-उच्चारण और ध्वनि के नियम कड़े हैं। जरा-सी असावधानी अर्थ का अनर्थ कर सकती है। इसलिए वर्णमाला में, जहाँ तक स्वरों का सवाल है, अनुकूल व्यवस्था की गयी है। वे Pen और Take को अपनी लिपि में सही-सही लिख सकते हैं। उनकी हिन्दी आमतौर पर बिहार में बोली जानेवाली हिन्दी से अधिक शुद्ध होती है। एक ओर उनकी यह लगन, यह सजगता है; दूसरी ओर हमारी आरामतलबी की कोई हद नहीं है। हम आज 'हिन्दी सीखो' पर जितना जोर देते हैं, उतना दूसरी भाषाएँ सीखने पर नहीं।

यह सत्य है कि 'हिन्दी सीखो' भी आज के समय की माँग है। हिन्दी प्रचार के कार्य में पिछले डेढ़ दशक में आशानुरूप प्रगति हुई है। वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, हैदराबाद की राज्य हिन्दी प्रचार सभा तथा मद्रास की दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा जैसी बड़ी संस्थाएँ इस दिशा में निरंतर प्रयत्नशील हैं। असम, उड़ीसा, गुजरात और महाराष्ट्र की राष्ट्रभाषा प्रचार समितियाँ भी अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से कार्य कर रही हैं। दक्षिण भारत के स्कूलों में हिन्दी को अनिवार्य विषय बना दिया गया है। केन्द्रीय स्वराष्ट्र मंत्रालय सरकारी कर्मचारियों को हिन्दी सिखाने में संलग्न है। इस व्यापक तैयारी का ही यह परिणाम है कि अहिन्दी क्षेत्रों में हिन्दी जाननेवालों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। इसके साथ ही, कई समस्याएँ भी सिर उठाने लगीं जिन्हें अभी हाल तक लगभग नजरअंदाज किया जा रहा था। पाठ्यपुस्तकों की समस्या भी उनमें एक है।

लगभग चालीस साल पहले गाँधीजी की प्रेरणा से मद्रास में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की एक शाखा खोली गयी थी। दक्षिण में हिन्दी प्रचार का यही शुभारंभ था। हिन्दी प्रचार के लिए प्रचारकों का जो पहला मिशन दक्षिण गया था, उसके नेता थे गाँधीजी के सुपुत्र स्वर्गीय देवदास गाँधी। उनके साथ स्वामी सत्यदेव परिव्राजक भी गये थे। हिन्दी पढ़ाने के लिए उपयुक्त पाठ्यपुस्तकों की समस्या तुरंत बाद ही उनके सामने आयी। उन्होंने यह अनुभव किया कि हिन्दी प्रदेशों में प्रचलित रीडरों से अहिन्दी क्षेत्र में हिन्दी प्रचार का कार्य ठीक तरह से नहीं हो सकता। स्वामी सत्यदेवजी ने इस कठिनाई को दूर

करने के लिए कुछ रीडरें खुद तैयार कीं। आज उन रीडरों का केवल ऐतिहासिक महत्त्व रह गया है।

मद्रास में स्थापित हिन्दी साहित्य सम्मेलन की उस शाखा ने आगे चलकर एक स्वतंत्र और विशाल संस्था का रूप धारण कर लिया जिसे हम अब दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के नाम से जानते हैं। यह संस्था तथा दक्षिण की अन्य हिन्दी संस्थाएँ अलग-अलग अपनी परीक्षाएँ चलाती हैं। लोग अब केवल कामचलाऊ हिन्दी सीखने के ख्याल से उन परीक्षाओं में नहीं बैठते हैं, बल्कि उनका उद्देश्य हिन्दी भाषा-साहित्य का सम्यक ज्ञान प्राप्त करना भी होता है। पहले हिन्दी संस्थाएँ अपनी परीक्षाओं के लिए पाठ्यपुस्तकें खुद तैयार करती थीं। बाहरी प्रकाशन जो उनके पाठ्यक्रम में सम्मिलित किये जाते थे, वे मुश्किल से २० प्रतिशत होते थे। लेकिन अब स्थिति बदल गयी है और बदल रही है। केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय की ओर से उनकी परीक्षाओं को विश्वविद्यालयों की डिग्रियों के समकक्ष मान्यता मिले, इस लोभ ने उन्हें पाठ्यक्रम में आमूल परिवर्तन करने को विवश किया है। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की परीक्षाओं में उर्दू (नागरी लिपि में) अब अनिवार्य विषय नहीं रहा। बदले हुए पाठ्यक्रम में जो पाठ्यपुस्तकें हैं उनमें सभा का अपना प्रकाशन आधे से भी कम है। उच्च परीक्षाओं में सभा-प्रकाशनों का प्रतिशत ८० से घटकर ४० से भी कम हो गया है।

यह बदली हुई परिस्थिति हिन्दी के उच्चकोटि के व्यवसायी प्रकाशकों के लिए अनुकूल अवसर प्रदान करती है। पहली किताब से लेकर ऊँचे स्तर की पाठ्यपुस्तकों के निर्माण की समस्या का सम्बन्ध अब केवल हिन्दी प्रचार-कार्य में रत संस्थाओं तक ही सीमित नहीं रह गया है। सीमित साधनों एवं दृष्टिकोण के द्वारा इन संस्थाओं ने भरसक इस समस्या का हल प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया, किंतु अब जरूरत इस बात की है कि उत्तर भारतीय पुस्तक-व्यवसायी भी इसमें योग दें। यह हिन्दी की प्रतिष्ठा के भी हित में है।

अहिन्दी क्षेत्रों के लिए हिन्दी पाठ्यपुस्तकों के निर्माण की समस्या के कई पहलू हैं। मोटे तौर पर इसके दो विभाग किये जा सकते हैं—

१. प्रारंभिक पाठ्यपुस्तकों के निर्माण की समस्या।

२. उच्च स्तर की पाठ्यपुस्तकों के निर्माण की समस्या।

प्रारंभिक पुस्तकों के अंतर्गत मुख्यतया रीडरें आती हैं। रीडरों का वर्गीकरण भी दो प्रकार से किया जा सकता है। पहली तो वे रीडरें जो स्कूल के बच्चों के लिए तैयार की जाती हैं और दूसरी वे जिनका निर्माण वयस्क हिन्दी सीखनेवालों की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर किया जाता है। भाषा-शैली दोनों प्रकार के रीडरों की एक-सी—सरल और सुबोध—होगी, विषयों के चुनाव की दृष्टियाँ अलग होंगी। शिशु-शिक्षा और वयस्क-शिक्षा के भेद को समझ लेने पर यह भेद समझने में कठिनाई नहीं होगी। अहिन्दी प्रदेश के लिए निर्मित रीडरों की भाषा पर स्थानीय रंग लाने की आवश्यकता नहीं है। रीडरों की भाषा को अखिल भारतीय रूप देने का प्रयत्न तो सर्वत्र होना चाहिए। लेकिन पाठ के विषयों पर स्थानीय रंग अपेक्षित है। पढ़ने की रुचि इससे बनी रहती है और एक हद तक यह भाषा सीखने में सहायक सिद्ध होता है। बिहार के रीडरों में गोलघर और वैशाली पर पाठ होंगे तो मद्रास के रीडरों में महाबलिपुरम् और जिंजी के वर्णन होंगे। यहाँ तुलसी-कबीर-मीरा को प्रमुखता दी जाएगी; वहाँ कम्बन, तिरुवल्लुवर और आण्डाल को। यह नहीं कि अखिल भारतीय महत्त्व के विषयों पर पाठ नहीं हों; हों और अवश्य हों, लेकिन स्थानीय प्रभाव लाने की चेष्टा भी भरपूर हो। दक्षिण की हिन्दी संस्थाओं को इस तरह की रीडरों के निर्माण में आशातीत सफलता मिली थी, लेकिन इधर उनका स्तर गिर गया है। संभवतः इसका कारण यह है कि रीडरें लिखना-लिखवाना और उन्हें प्रकाशित करना आज महज व्यवसाय बन गया है।

दक्षिण में कहीं-कहीं उत्तर भारतीय प्रकाशकों की रीडरें भी चलने लगी हैं। उत्तर भारतीय प्रकाशक दक्षिण में काफी बदनाम हैं। शायद इसलिए कि अच्छे प्रकाशक वहाँ पहुँच नहीं पा रहे हैं और कुंजी-गाइड छापनेवालों का अब भी वहाँ बोलबाला है। उत्तर भारतीय प्रकाशकों की रीडरों की बदनामी के कारण हैं—अनुपयुक्त भाषा, अशुद्ध छपाई और हिज्जे तथा प्रयोगों में एकरूपता (Uniformity) का सर्वथा अभाव।

प्रारंभिक पाठ्य-पुस्तकों में नागरी अंक का प्रयोग उसकी लोकप्रियता में बाधक बनता है। दक्षिण के हिन्दी-प्रचारक और हिन्दीप्रेमी भी उसका विरोध करते देखे जाते हैं। तर्क उपस्थित करते हुए वे संविधान का ही हवाला नहीं देते, बल्कि कहते हैं कि सार्वदेशिक महत्त्व देने के लिए वे खुद अपनी भाषाओं में रोमन अंकों का इस्तेमाल करने लगे हैं। तमिल के पाठ्येतर प्रकाशनों में भी इधर रोमन अंकों का इस्तेमाल धड़ल्ले से होने लगा है। तमिल अंकों का प्रयोग अब प्रायः उन्हीं तमिल पुस्तकों में किया जाता है, जिनके विषय पौराणिक या धार्मिक होते हैं अथवा जिनका सम्बन्ध प्राचीन साहित्य-दर्शन से रहता है। दक्षिण की अन्य तीनों भाषाओं की भी लगभग यही स्थिति है। रोमन अंकों की जड़ें वहाँ काफी गहरी उतर गयी हैं। हिन्दी को दक्षिण के लोग अपना रहे हैं, नागरी लिपि को भी कभी वे एक सीमा तक अपना सकेंगे, लेकिन नागरी अंकों की चर्चा उनके सामने करना बेकार है। नागरी अंकों को अन्तःप्रान्तीय महत्त्व देने के पक्ष में दक्षिण बिलकुल नहीं है, ऐसा हमें समझ लेना चाहिए।

उच्च स्तर की पाठ्यपुस्तकों से तात्पर्य है वे पुस्तकें जो कालेजों में पढ़ायी जाती हैं या जिन्हें हिन्दी-संस्थाओं की उच्चतर परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में रखा जाता है। दक्षिण के विश्वविद्यालयों में हिन्दी माध्यम से अन्य विषयों की पढ़ाई का सवाल आएगा, ऐसा सोचने का अभी कोई आधार नहीं है। हिन्दी-शिक्षण का स्तर अभी वहाँ अपेक्षाकृत कम है। फिर भी दक्षिण के विश्वविद्यालयों के विधायक यह नहीं चाहते कि उनके यहाँ के हिन्दी एम० ए० उत्तर भारतीय विश्वविद्यालयों के हिन्दी एम० ए० से हीन समझे जाएँ। पिछले कुछ वर्षों में दक्षिण के विश्वविद्यालयों के हिन्दी पाठ्यक्रम में काफी रद्दोबदल हुए हैं और एक तरह से इस मामले में उत्तर भारतीय विश्वविद्यालयों की नकल की जाने लगी है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि दक्षिण के विश्वविद्यालयों की हिन्दी-नीति का संचालन अभी हाल तक परोक्ष रूप से दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा द्वारा होता था। विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभागों में ऐसे लोग पहले अधिक थे जिनका उस संस्था से गहरा सम्बन्ध था। पाठ्यपुस्तकें भी अधिकांश सभा ही तैयार करती थी। लेकिन अब वह स्थिति रही नहीं। टेक्स्ट बुक कमेटियों में सभा की आवाज अब पहले-जैसी नहीं है। सदस्यगण सभा के हित की चिंता छोड़कर स्वतंत्र सूझ-बूझ का परिचय देने लगे हैं। मद्रास विश्वविद्यालय ने तो खुद भी कुछ हिन्दी पाठ्यपुस्तकें तैयार की हैं। सभा के प्रकाशनों से उनका स्तर एक तरह से गिरा हुआ ही है, लेकिन इतना निश्चित है कि विश्वविद्यालयों के हिन्दी-पाठ्यक्रम में सभा के प्रकाशनों की संख्या घट रही है। सार्वजनिक संस्थाएँ जब बड़ी और पुरानी हो जाती हैं तो अक्सर अंतर्व्याधियों से ग्रस्त हो जाती हैं। देश की अधिकांश हिन्दी-संस्थाओं का आज यही हाल है। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा भी इसका अपवाद नहीं है। हिन्दी के बड़े और अच्छे प्रकाशक इस अवसर से लाभ उठा सकते हैं। दक्षिण के विद्यार्थी भाषा और मुद्रण की खामियाँ निकालने में प्रवीण होते हैं। शिक्षकगण हिन्दी को कोस-कोस कर क्लास में हिन्दी पढ़ाएँ, ऐसा नहीं होना चाहिए। अच्छी चीजें अच्छे ढंग से पेश करने की जरूरत है।

महान् प्रकाशक एक साहित्य-विभाग का मंत्री होता है और उसमें एक राजनीतिज्ञ के गुण होने ही चाहिएँ।

—लार्ड मार्ले

क्रिएटिव राइटर 'बहू' की तरह संजीदा होता है। वह अगर घूँघट हटाकर नाचने लग जाए तो राम ही भला करे उसका।

—नागार्जुन

राष्ट्रीय एकता और पुस्तकें

श्री रामतीर्थ भाटिया

राजनीति स्थायी नहीं, बल्कि यह प्रायः परिवर्तनशील तत्त्व है और अपने गर्भ से नित-नई समस्यायें उत्पन्न करती रहती है। इन समस्याओं में राष्ट्रीय एकता और सुरक्षा की बात इधर अधिक महत्त्व ले रही है। इसकी चर्चा कुछ समय से पुनः जोरशोर के साथ राजनीति-मंचों से सुनायी देने लगी है। यहाँ तक कि, चाहे व्यापारीवर्ग या उद्योगपतियों (चेम्बर आफ कामर्स) की मिटिंग हो, या शिक्षा सम्बन्धी कोई सेमीनार, या किसान-सम्मेलन—सभी राष्ट्रीय एकता एवं सुरक्षा की चिन्ता प्रकट करते दिखाई देने लगे हैं। अभी पिछले मास प्रकाशकों की प्रतिनिधि संस्था अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ ने राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह का आयोजन किया। जिस स्तर पर वह मनाया जाना चाहिए था, सरकारी उपेक्षा के कारण नहीं मनाया जा सका। उसमें परिसंवाद के सिलसिले की जो विषय-सूची संघ की ओर से प्रकाशित की गयी उसमें 'राष्ट्रीय एकता और पुस्तकें' भी एक विषय था। जब उद्योगपति एवं व्यापारी आदि राष्ट्र की एकता और सुरक्षा की चिन्ता में घुले जा रहे हैं, तो बेचारा प्रकाशक, जो वस्तुतः इसका अधिकारी है, इससे कैसे पीछे रह सकता है। जब वह देश के आगे ज्ञान, विज्ञान, धर्म, राजनीति, साहित्य, संस्कृति, शिक्षा, राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता आदि की कल्पना और स्वरूप प्रकाशित किया करता है, तब वह इन विषयों में सक्रिय योग की रूप-रेखा भी अपने माध्यम से क्यों न उपस्थित करे। किन्तु, ऐसा लगता है कि यह यथास्थित राजनीति का वर्ग, सिवाय अपने और किसी वर्ग का सहयोग इन विषयों पर लेना ही नहीं चाहता। और, तब ऐसा प्रतीत होता है कि यह राष्ट्रीय एकता, राष्ट्र की सर्वाङ्ग प्रगति, अन्य मूल आधारों के माध्यम से नहीं, बल्कि उनके संकल्प मात्र से स्वतः प्रस्तुत हो जायेगी, और किसी सम्मेलन में इसके लिये एक प्रस्ताव कर लेना ही पर्याप्त है। ऐसी बात से तो यही अनुभव होता है कि राष्ट्रीय एकता की यों कोई समस्या ही नहीं है, और यह राजनीति की डूबती हुई साख या राजनीति के बाजार की मन्दी के कारण कुछ चौंका देने वाली आजमाइश करके अपनी साख बनाने और बाजार में तेजी लाने का एक चारा भर है। खैर, जब समस्या कही जा रही है, तो हम भी अपना एक उपाय प्रस्तुत करते हैं। यह उपाय यदि अभी नहीं किया जाय, तो इसे सुरक्षित रखा जाय, ताकि यह जरूरत के वक्त काम आ सके। नहीं तो, इस विषय में, पुस्तकों के योग के महत्त्व को सोचने के वक्त, यह तजबीज मस्तिष्क से उतर जायगी।

राष्ट्रीय एकता का संकल्प आते ही मन में एक यह शंका उत्पन्न होती है कि हमें अनेकता और विघटन का भय है। एकता और सुरक्षा यों तो स्थायी विषय हैं, लेकिन कभी-कभी बहिरंग संकटकालीन परिस्थितियों से और कभी अंतरंग की छोटी समस्याओं से भी प्रभावित होकर हम रोग के आक्रमण के पूर्व ही उसके निदान और चिकित्सा की बात सोचने लगते हैं, ताकि राष्ट्र की एकता और सुरक्षा पर कोई आपत्ति न आए। लेकिन दुर्भाग्य से राष्ट्र, राष्ट्रीयता और एकता विवादास्पद विषय बन गए हैं। हाल ही में देश के राजनीतिक मंच पर सरगर्मी दिखाई दी और एक राष्ट्रीय एकता-सम्मेलन का आयोजन हुआ। किन्तु राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधनेवाले मूल आधार और शक्ति का दिग्दर्शन कराने के बजाय अन्य दूसरी बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया; जैसे यह सम्मेलन इस राष्ट्र की एकता का नहीं, अपितु आकाश के किसी काल्पनिक द्वीप अथवा किसी दूसरे भूखण्ड का है। इसमें विभिन्न विचारधाराओं और दृष्टिकोणों के लोग उपस्थित थे और उनके मस्तिष्क में राष्ट्रीय एकता का कोई निश्चित स्वरूप नहीं था। परन्तु, इस निराशा के वातावरण में आशा की एक झलक दिखाई देती है कि अब भी इस देश में कुछ मननशील राष्ट्रपुरुष हैं जो राष्ट्रीय एकता के रहस्य को समझते हैं और उसके स्वरूप को उपस्थित कर सकते हैं। वर्त्तमान में हम जिस राष्ट्रीय एकता का संकल्प कर रहे हैं, उसका भारत के अतीत से

कोई संबंध भी है या नहीं ? इससे पूर्व वह कौन-सी शक्ति और अखण्ड ज्योति थी जो आदि से वर्त्तमान तक एक ऐतिहासिक प्रक्रिया, एक आश्चर्यजनक गुप्त धारा के रूप में प्रवाहित रही है ? वह थी इस देश की सांस्कृतिक एवं धार्मिक शृंखला। इस सांस्कृतिक निधि के रक्षकों की जन-शक्ति और देश-भक्ति के कारण ही हमारा भारत भारत रहा, यद्यपि वह बीच में कई बार विदेशी शक्तियों से आक्रांत रहा है। कई राष्ट्र एवं संस्कृतियाँ मिट गईं, मगर हमारी भारतीय संस्कृति और राष्ट्र काल के थपेड़ों से बचा रहा। आखिर, हममें कोई बात होगी।

'यूनानो मिस्रो रोमा सब मिट गए जहाँ से,
अब तक मगर है बाकी नामोनिशाँ हमारा।'

एक प्रकाशक के नाते मैं यह राजनीतिक और सांस्कृतिक तत्त्वज्ञान पुस्तकों के रूप में अपनी सन्तानों और पीढ़ियों को देता आया हूँ। लेकिन इसका श्रेय न तो पुस्तकों को मिलता है और न ही उसे प्रकाश में लानेवाले को। किन्तु मेरी भावना मेरे कर्त्तव्य के साथ जुड़ी है। मैं अपने उत्तरदायित्व को और अपने कार्यक्षेत्र के मानदण्डों को जानता हूँ और समझता हूँ कि पुस्तकों ने प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय एकता, शान्ति, सह-अस्तित्व की भावना उपजाने में सक्रिय योग दिया है। आज भी, सभी वैज्ञानिक, साहित्यकार, शिक्षा-शास्त्री, अर्थवेत्ता एवं दार्शनिक शिक्षा को ही एकता का साधन मानते हैं। अतएव, जहाँ शिक्षा की बात है, वहाँ पुस्तकों का महत्त्व स्वयमेव प्रतिलक्षित होगा। जब पुस्तकें समाज-रचना की मूल-तत्त्व हैं, तो समाज और राज्यशक्ति को इनके प्रति उदासीनता नहीं दिखानी चाहिए और पुस्तकों का पठन-पाठन और उत्पादन सुचारु रूप से करना चाहिए। इस दिशा में असावधानी बरतने से पुस्तक-उत्पादन को हानि पहुँचेगी और अच्छी पुस्तकें मार्केट में आने से रह जाएँगी। बिजली का रचनात्मक पहलू सुदृढ़ होते हुए भी उसका विध्वंसात्मक रूप किसी से छिपा नहीं है। विद्युत-शक्ति की तरह पुस्तकें भी अपने में कल्याणकारी हैं, परन्तु आदमी की लापरवाही से काण्ड घटित हो सकते हैं। यदि अच्छी पुस्तकों का समाज में स्वागत न होगा तो निश्चय ही निम्न स्तर की पुस्तकों को प्रोत्साहन मिलेगा। अतएव, राष्ट्रीय एकता के लिए

जो मानसिक एकरूपता की पृष्ठभूमि की आवश्यकता है, वह उत्पन्न होने से रह जायगी।

शिक्षा पुस्तकों के माध्यम से मिलती है और पुस्तकें बच्चों में माता-पिता की तरह प्रारम्भिक संस्कार पैदा करती हैं। कौन नहीं जानता कि आज के शिशु कल के बाप एवं राष्ट्र-निर्माता बनेंगे। जैसा कि अभी उल्लेख किया है, हमने यदि पुस्तकों के समाज-रचना के बुनियादी पहलू पर गम्भीरता से विचार नहीं किया तो विपरीत परिणाम समाज के स्वस्थ विकास पर अवश्य प्रभाव डालेंगे। यह हमारी परीक्षा का समय है कि पुस्तकों के कल्याणकारी स्रोत को राष्ट्रीय एकता के क्षेत्र में सद्भावना के बीज बोने देते हैं या नहीं।

इंगलैंड, अमेरीका और रूस जैसे विकसित देशों में, सिवाय युद्ध की संकटकालीन स्थिति के, 'राष्ट्रीय एकता को खतरा है'—ऐसी आवाज कानों में सुनायी नहीं देती; क्योंकि वे शिक्षित और पठित राष्ट्र हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि जहाँ शिक्षा और पठन-पाठन है--और जहाँ पुस्तकें हैं वहाँ शिक्षा और पठन-पाठन स्वयं उनका परिणाम है—वैसे राष्ट्र या उसके समाज को कोई विदेशी शक्ति, वह चाहे किसी भी विचारधारा की क्यों न हो, उसके राष्ट्रीय एकत्व के विरुद्ध कभी भी अपने षड्यंत्रों से प्रभावित नहीं कर सकती। किन्तु, इसके विपरीत, अशिक्षित और तदनुसार अविकसित राष्ट्र किसी भी समय ऐसे परकीय षड्यंत्रों के शिकार हो सकते हैं। अतएव, शिक्षा के साथ-साथ पुस्तकों के माध्यम से राष्ट्रीय प्रेम के मनोबल को एक सुदृढ़ संकल्प और शक्तिशाली संगठित रूप दिया जा सकता है। भावना के साथ कर्त्तव्य-निष्ठा की बात भी तो स्वयं आ जाती है।

एक कवि कहता है कि समुद्र की छाती पर जहाज तैर रहा है;—अंक-भाषा का शब्द 'पार करना' वह नहीं कहता। दृश्य-संकेत केवल नये उपमानों के प्याले से ही संप्रेषित हो सकते हैं। गद्य तो पुराना घिसा हुआ बरतन है, जो अपने छेद के द्वारा दृश्य-संकेतों को बहा देता है।

—टी० ई० ह्यूम

राजनीति और साहित्य का एक अविच्छिन्न व्यक्तित्व

श्री शिवचन्द्र शर्मा

हमारा देश या तो व्यक्तित्व पचाता है, या फिर अनुकृति के लिए अग्रगण्य बनाए रखने के तत्त्वों को कभी काल पोषण देता है। इन दोनों स्थितियों के विरोध में, केवल अपने आधार पर जीवित रहने वाला इतिहास-व्यक्तित्व स्व० डॉ० श्रीकृष्ण सिंह का है। सिद्धांत में दृढता, निश्चय में विवेकशीलता, चिन्तन में दूरदर्शिता और व्यस्तता में भी अध्ययनशीलता का उदाहरण ढूँढना पड़े तो निर्भ्रान्तरूप से स्व० डॉ० श्रीकृष्ण सिंह पर पहली नजर पड़नी चाहिए। अधिकांश लोग, वरिष्ठ राजनीतिक के रूप में उन्हें जानते थे, पर मैं महान् चिन्तक, साहित्यिक के रूप में ही उन्हें जानता था। ऐसे सुलझे अधीति के समक्ष दो क्षण बैठने में अपना गौरव मानता था। पुण्यप्राण श्रीबाबू से, जब-जब, जितनी बार, मेरी भेंट हुई, तब-तब उन्होंने मुझसे केवल साहित्य की, साहित्य के विभिन्न अंगों, समस्याओं की ही चर्चा की। स्वर्गीय होने के दो-तीन वर्ष पूर्व से, हिन्दी में, वे एक खास दिलचस्पी लेते थे। हिन्दी के अभावपूर्ण अंगों की पूर्त्ति के निमित्त विषयविशेषज्ञों द्वारा ग्रंथ लिखे जायँ, इसकी उन्हें कितनी चिन्ता थी, इसका उदाहरण यह है कि मृत्यु के कुछ ही पूर्व, अंतिम रुग्णा-वस्था के पहले, मेरे अंतिम दर्शन के अवसर पर, उन्होंने मुझे आदेश किया था कि मैं हिन्दी के ऐसे अधिकारी विशेषज्ञों की एक बड़ी तालिका तैयार करूँ; वह तालिका उनसे दिखला लूँ और विषय के अनुरूप अ० भा० हि० शो० मंडल द्वारा, तालिका में दर्ज व्यक्तियों से, ग्रंथ लिखवाकर, प्रकाशित करवाऊँ।

इस प्रकार, हिन्दी के दूसरे पहलुओं पर भी बराबर उनसे बातचीत होती थी। हिन्दी की हर भाँति समृद्धि की श्रीबाबू को बड़ी चिन्ता थी। वे दूसरी महत्त्वपूर्ण, श्रेष्ठ स्वीकृत भाषाओं की, इस उम्र में भी, प्रामाणिक जानकारी के लिए व्यग्र रहते थे। दो-तीन वर्ष पूर्व (मृत्यु के) एक बार बातों के सिलसिले में, उन्होंने इच्छा प्रकट की थी कि संस्कृत के गरिमासंपन्न ग्रंथों को समझने के लिए, किस ग्रन्थ पर, किस टीकाकार की टीका अच्छी होगी, तो मैंने निवेदन किया था कि अमुक ग्रंथ पर अमुक विद्वान् की टीका अच्छी है, जिसमें प्रसिद्ध संस्कृत-टीकाकार मल्लिनाथ का भी नाम आया था। दूसरी वार भेंट होने पर मुझे चकित रह जाना पड़ा। मल्लिनाथ की टीका से संवलित संस्कृत काव्यग्रंथ उनके सामने मौजूद थे। श्रीबाबू को यों संस्कृत की सामान्य जानकारी पहले से भी थी। और, इधर संस्कृत के प्रति गहरी जानकारी की उनमें एक स्पृहणीय बेचैनी मैंने पाई। संस्कृत के चिरस्मरणीय समर्थ गद्यकार बाणभट्ट की स्मृति में एक गौरवग्रंथ प्रकाशित करने की एक राजकीय योजना पर विचार-विमर्श के लिए अकिंचन पंक्तिलेखक को उन्होंने एक अवसर पर स्मरण किया था, बल्कि बाणभट्ट की स्मृति में एक राज्यव्यापी समारोह की कल्पना भी उनके मन में थी। उनका कहना था, यों बाणभट्ट विश्व-साहित्य की विभूति हैं, परंतु जैसा पढ़ा और सुना भी है, बिहार उनका जन्मस्थल है, अतः बिहार का उनपर पहला हक है, बिहार पर उनका पहला और नहीं चुकने वाला बड़ा ऋण है, इसलिए बिहारवासियों को उनके प्रति साध्य अपने कर्त्तव्य में चूक नहीं करनी चाहिए। उर्दू और बँगला साहित्य के भी वे अध्येता थे। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कृतियों पर सप्रमाण, साधिकार वे घंटों बोल सकते थे। उनके काव्यगत सौन्दर्य का विश्लेषण, वे सौंदर्यशास्त्र के आधार पर, शास्त्रीय ढंग से, करने की सामर्थ्य रखते थे। रविबाबू की काव्यकृतियों से वे ऐसे अनुप्राणित थे कि प्रसंग आने पर कहा करते थे, विश्वकवि की कृतियों के अध्ययन के अवसर पर मैं सिक्त हो जाता हूँ, भींग जाता हूँ; इसमें एक सार्वभौम व्यापक अनुभूति की गहराई है, जिसमें कोई होशियार गोताखोर ही पैठ लगा सकता है। विश्वकवि के जीवनदर्शन से श्रीबाबू इतने प्रभावित थे कि, बँगलाप्रिय किसी बंगाली को, थोड़ा भी रुचि विमुख होते देख, उससे विमुख होने में

उन्हें देर नहीं लगती। विश्वकवि के प्रति प्रगाढ़ अनुरक्ति का सबसे बड़ा प्रत्यक्ष प्रमाण है, पटने का 'रवीन्द्र-भवन।' 'रवीन्द्र-भवन' की प्रगति में उनकी विशेष रुचि थी। श्रीबाबू 'रवीन्द्र-भवन' के संरक्षकों में कदाचित् प्रमुख थे। रवीन्द्र-भवन के संस्थापक-सदस्य या उत्तरदायी पदों पर आसीन रवीन्द्र-भवन के अधिकारियों की किसी भी महत्त्वपूर्ण योजना में गहरी दिलचस्पी लेते, और अवसर आने पर उनकी मदद में आगे रहते। मेरी धारणा है, श्रीबाबू के निधन का रवीन्द्र-भवन पर कम चिंत्य असर नहीं पड़ेगा, यद्यपि पड़ना नहीं चाहिए।

साहित्य और साहित्यकारों के प्रति उनके मन में सम्मान की कैसी भावना थी, इसके अनेक उदाहरणों में एक उदाहरण—कदापि पर्याप्त नहीं होता हुआ भी—का उल्लेख करना चाहूँगा। उनके अवसान के कुछ पूर्व, प्रयाग के लीडर प्रेस ने, जबकि वे प्रयाग में कुछ दिनों के वास के लिए गए थे, उनके सम्मान में एक चायपार्टी का आयोजन किया था। श्रीबाबू ने पार्टी के आयोजकों से इच्छा प्रकट की थी कि सुनता हूँ, श्रीमती महादेवी वर्मा, कविवर पंत आदि प्रयाग में ही निवास करते हैं; पार्टी में वे भी शरीक होते तो उनसे दो घड़ी मिलने का मौका हाथ लगता।

मैंने एक बार अमर महाकवि निराला की अस्वस्थता की चर्चा की तो वे अत्यंत करुण और तरल बन गए थे। निरालाजी को एक बार बिहार लाने के प्रस्ताव पर उन्होंने कहा था—उन्हें जरूर लाइये, मैं उनके दर्शन चाहता हूँ। इसपर मैंने उन्हें निवेदन किया था—उन्हें आजकल लोग पागल कहते हैं; और यों भी वे बड़े स्वाभिमानी व्यक्तित्व हैं; ऐसी अवस्था में पता नहीं, किसको क्या कह दें। श्रीबाबू के उत्तर के शब्द आज भी कानों में जीवित हैं। उनके शब्द थे—'किसी भी महान् दार्शनिक या महाकवि की पहली पहचान है; एक वैसा निरालापन या पागलपन, जो कहावतों का रूप ले ले। निराला जैसे पागल से अपने को अपमानित महसूस करने वाला कोई वास्तविक पागल ही हो सकता है, शर्माजी!'

श्रीबाबू के साहित्यिक व्यक्तित्व से जिनका भी निकट का परिचय होगा, वे उनकी ऐसी, अनेक दूसरों में शीघ्र नहीं दीख पड़ने वाली, खूबियों से अवश्य परिचित होंगे। कई व्याज से मैंने उनका आश्वासन लिया था कि समय-सुविधा मिलने पर शोधमंडल के लिए वे विचारग्रंथ अवश्य लिखेंगे। पर, मेरा—साहित्य में रुचि रखने वाले दूसरों का भी—यह दुर्भाग्य हमेशा एक चुभन देता रहेगा। साहित्य में व्यंग्य समझनेवाले जो साहित्यिक श्रीबाबू से परिचित होंगे, वे शायद जानते हों कि श्रीबाबू बड़े शिष्ट किन्तु गहरे व्यंग्य करनेवाले सतर्क व्यंग्यकार भी थे। अवसर आने पर श्रीबाबू की कुछ व्यंग्योक्तियों का, थोड़ा ही सही, संकलन उपस्थित करूँगा। मैंने उनसे कभी-काल कुछ महत्त्वपूर्ण, सैद्धांतिक साहित्यिक प्रश्न किए थे; उनके, श्रीबाबू द्वारा दिए गए उत्तर बहुत महत्त्व रखते हैं। उन्हें भी मुद्रणबद्ध कराने की सोच रहा हूँ।

राजनीतिक दलों की शब्दावली

श्री शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव

साहित्य राजनीति का अनुचर है या नहीं, यह विवादास्पद है, किन्तु कोई जीवन्त भाषा राजनीतिक दलों के प्रभाव से अछूती नहीं रह सकती। इसका एक प्रमाण तो हमारी परिचित हिन्दी ही है। यूँ हिन्दी का यह दुर्भाग्य ही रहा है कि उसके भाग्य की डोर सदैव राजनीति के खूँटे में बँधी रही है, और आज भी हिन्दी की स्थिति, उसका समर्थन या विरोध बहुत कुछ राजनीतिक कारणों पर ही निर्भर है। किन्तु वह अलग सवाल है। साहित्य की चिन्ताधारा का प्रश्न अगर थोड़ी देर के लिए छोड़ दें, तो भी हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि हिन्दी-गद्य की शैली और शब्दावली पर विभिन्न राजनीतिक दलों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

मध्यकाल तक न तो देश में, आधुनिक अर्थों में, राजनीतिक चेतना थी और न हिन्दी उसका वाहन थी। किन्तु आधुनिक काल में राजनीतिक चेतना के अभ्युदय के साथ-साथ जब हिन्दी पत्रकारिता का विकास हुआ, तो हिन्दी कि कंधों पर एक नातिपरिचित दायित्व पड़ गया। भारतेन्दुकालीन राष्ट्रीयता या देश-प्रेम, द्विवेद्वीयुगीन अतीत-मोह और भारत-प्रशस्ति, छायावादी कोमल कलेवर में लिपटी प्रच्छन्न स्वातंत्र्य-भावना और प्रगतिवादी साहित्य के नाम पर मार्क्सवाद को जन-सुलभ बनाने के प्रयत्न—स्पष्टतः काव्य-धारा पर पड़नेवाले राजनीतिक प्रभावों के निदर्शन हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से, भारतेन्दु और काँग्रेस का जन्म, कुछ ही आगे-पीछे हुआ, और काँग्रेस ही, सही अर्थों में, प्रथम भारतीय राजनीतिक दल है। काँग्रेस, और उसके पश्चात् आनेवाले विभिन्न राजनीतिक दलों ने हिन्दी-गद्य-शैली को अपने-अपने ढंग से प्रभावित किया।

आज प्रत्येक दल, बाह्यतः भिन्न होते हुए भी, अन्ततः प्रजातंत्र में विश्वास करता ही है, या यों कहें कि उसे विश्वास करना ही पड़ता है; चूँकि प्रजातंत्र आज के युग में एक राजनीतिक दर्शन मात्र ही नहीं, एक जीवन-पद्धति भी बन गया है। यह प्रजातंत्र का मूल है कि वह 'बहुजन' को ध्यान में रखे और इसीलिए 'बहुजन की भाषा' हिन्दी को माध्यम बनाना प्रत्येक राजनीतिक दल के लिए अनिवार्य बन गया। यह ठीक है कि गाँधी के पूर्व काँग्रेस के सारे काम अँग्रेजी में ही होते थे, किन्तु यह भी तो सत्य है कि तब काँग्रेस एक अखिल भारतीय राजनीतिक दल न होकर, कुछ उच्चकुलीनों की आभिजात्य गप-शप थी। गाँधीजी अहिन्दीभाषी थे, किन्तु उन्होंने यह तुरंत पहचान लिया था कि सम्पूर्ण भारतीय जागरण के लिए हिन्दी के अतिरिक्त और कोई भारतीय भाषा या अँग्रेजी अनुपयुक्त है। अतः गाँधीजी ने हिन्दी के प्रश्न को स्वराज्य के प्रश्न के साथ जोड़ ही नहीं दिया, भाषा-स्वातंत्र्य को राजनीतिक स्वातंत्र्य के समतुल्य और समकक्ष बताया। जब हिन्दी काँग्रेस की भाषा बनी, तो वह एक विशिष्ट दलीय चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम भी बन गई। फिर तो प्रत्येक राजनीतिक दल को प्रसन्नता या अप्रसन्नता पूर्वक हिन्दी की शरण में आना ही पड़ा और उसका समर्थन करना पड़ा। इसीलिए यह विचित्र किन्तु सत्य है कि आजतक किसी भी अखिल भारतीय राजनीतिक दल ने हिन्दी का विरोध नहीं किया। यहाँ तक कि चक्रवर्त्ती राजगोपालाचारी भी जब हिन्दी का विरोध करते हैं, तो यह जोड़ देते हैं कि यह उनकी व्यक्तिगत मान्यता है, स्वतंत्र पार्टी की दलीय नीति नहीं।

चुनाव होनेवाले हैं। विभिन्न राजनीतिक दलों के घोषणा-पत्र निकल रहे हैं या निकलनेवाले हैं, पर किसी दल ने हिन्दी का विरोध कर मत माँगने का साहस नहीं दिखलाया। शायद कोई ऐसी धृष्टता करेगा भी नहीं। मेरा विचार है कि कोई भी राजनीतिक दल हिन्दी का विरोध कर विजयी नहीं हो सकता, कम-से-कम उत्तर भारत में तो उसे मुँह की खानी ही पड़ेगी। और, जो केन्द्रीय शासन हथियाने के सपने देखा करते हैं, उनके लिए 'उत्तर भारत' कोई उपेक्षणीय इकाई नहीं है। हिन्दी की इसी महत्ता के कारण कुछेक राजनीतिक दलों ने तो हिन्दी के प्रश्न को 'स्टंट' भी बना डाला है।

जब हिन्दी-गद्य अपरिपक्व था और विभिन्न राजनीतिक दलों के उद्देश्य और लक्ष्य में कोई तात्त्विक अंतर नहीं था, तब इनकी भाषा भी बहुत-कुछ एक ही थी। किन्तु अब इनकी शैली और शब्दावली का अंतर किसी भी सजग और सावधान पाठक को सहज ही परिलक्षित हो जाता है। सबसे प्रमुख भेद-निर्धारक तत्त्व है—शब्द-समूह। प्रत्येक राजनीतिक दल की एक अपनी शब्दावली हो गई है, और भाषणों, प्रचार-पुस्तिकाओं और पत्रिकाओं में निरंतर प्रयोग के कारण वह कुछ-कुछ रूढ़ भी हो गई है। इनमें कुछ ऐसे शब्द भी हैं, जो अब सामान्य बोल-चाल या सामान्य साहित्य में प्रयुक्त होनेवाले अर्थों से भिन्न अर्थ भी देने लगे हैं। भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी के लिए ये अर्थान्तर विशेषरूपेण ध्यातव्य हैं।

पुरानी काँग्रेस ने तो अपने लिए 'पुरानी हिन्दी' (तत्कालीन) का ही प्रयोग उचित समझा था, किन्तु बीच में, गाँधीजी के निर्देशन में तो उसने हिन्दी-शैली का ऐसा स्वरूप-परिवर्त्तन कर दिया कि 'हिन्दुस्तानी' नाम की एक 'स्वतंत्र भाषा' की भी चर्चा होने लगी। यद्यपि यह कृत्रिम प्रयास स्थायी और जनग्राह्य नहीं हो सका, किन्तु इसने उर्दू-फारसी के सैकड़ों शब्दों को 'हिन्दुस्तानी' बना ही डाला। 'तहजीब' 'मजहब' 'मुल्क' 'कौमी' 'सियासी' 'अमल' 'ईमान' 'सदरे आम' 'माली हालत' 'रहनुमा' 'आम सवाल' 'चन्द सवाल' 'भुखमरी' 'बेरोजगारी'—उसी हिन्दुस्तानी-आन्दोलन की देन हैं, जो अब उस हिन्दी में भी पच गए हैं, जो अब अपने को उस 'हिन्दुस्तानी' से सर्वथा भिन्न समझती है।

इसी के आस-पास गाँधीजी पर बेसिक शिक्षा का नशा सवार हुआ और 'नई तालीम' 'बुनियादी' 'तकली' 'पूनी' 'बुनकर' 'हाथ करघा' 'निकौनी' 'गुड़ाई' 'ताड़गुड़' आदि शब्द हिन्दी में चले आए। गुजराती 'हड़ताल' और 'खद्दर' तथा मराठी 'पंडाल' को भी हिन्दी बनाने का श्रेय गाँधीजी और उनके अनुयायिओं को ही है। 'कुटीर-शिल्प' 'ग्रामोद्योग' आदि शब्द संस्कृत प्रभाव के द्योतक हैं।

गाँधीजी इस युग में एक ऐसे क्रान्तदर्शी मनीषी हुए, जिन्होंने राजनीति के अतिरिक्त जीवन के अन्य क्षेत्रों को भी

प्रभावित किया। गाँधीजी ने हिन्दी भाषा को ही नहीं, देवनागरी-लिपि को भी रूपान्तरित किया और जो 'कालेलकरी लिपि' अब भी कुछ गाँधीवादी ही नहीं, साहित्यिक पत्रों द्वारा भी धड़ल्ले से प्रयुक्त हो रही है, इसी रूपान्तरण का ही प्रभाव है। कुछ लोग समझ लेते हैं कि विनोबाजी अपना हस्ताक्षर ही गलत करते हैं।

गाँधीजी के सर्वोदयवादी शिष्यों की भी अपनी एक विशिष्ट शब्दावली है। 'सर्वोदय' 'रचनात्मक' 'भूदान' 'ग्रामदान' 'श्रमदान' 'ग्रामराज' 'पंचायती' 'लोकतंत्र' 'लोकराज' आदि शब्द विनोबा और उनके सहचरों के गढ़े हुए शब्द हैं। विनोबाजी विभिन्न भारतीय भाषाओं के अध्येता हैं और भाषा-शास्त्र में उनकी गहरी अभिरुचि है, जिसके परिणामस्वरूप उनकी शब्दावली अधिक संस्कृत और शास्त्रीय है। काँग्रेसी शब्दावली में सरलता और सहजता का आग्रह है और सर्वोदयी शब्दावली में परिष्कार, भारतीयता और अर्थ-गरिमा के प्रति झुकाव है। विनोबाजी ने संस्कृत के धातु, उपसर्ग, प्रत्यय आदि से ही शब्द बनाए हैं, किन्तु अर्थ के सन्निकर्ष या नवीनता की ओर उनकी विशेष दृष्टि रही है। तत्सम तत्त्वों के योग से ही ऐसे शब्द बनाए गए हैं, जो तत्सम नहीं हैं—'भू' तत्सम है, 'दान' तत्सम है; किन्तु 'भूदान' तत्सम नहीं है। प्राचीन शब्दों को नवीन अर्थ प्रदान करना विनोबाजी को विशेष प्रिय है—यह 'गीता-प्रवचन' के पाठक जानते हैं।

गाँधीजी ने भी कई शब्दों को नए अर्थ दिए—उनकी 'अहिंसा' कोशार्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुई है और 'रचनात्मक' का भी वह अर्थ नहीं है, जो इतःपूर्व ग्रहण किया जाता रहा है। यदि ऐसी शब्दावलियों का कोश बनाया जाय, तो ऐसे अर्थान्तर स्पष्टतया निर्दिष्ट किए जा सकते हैं।

गाँधीजी ने केवल कुछ नए शब्द ही नहीं दिए, गद्य की एक नई शैली भी दी। यह शैली आलापात्मक या संवादात्मक है, जो स्पष्टतः भाषणों का प्रभाव है। इस शैली में श्रव्यता और आत्मीयता के तत्त्व वर्त्तमान हैं। गाँधीजी जैसा बोलते थे, वैसा ही लिखते भी थे, इसलिए उनके वाक्य-विन्यास भी उतने परिमार्जित नहीं हैं, विशुद्ध व्याकरणिक नहीं हैं। यह गुण या दोष नेहरूजी के भी मौलिक हिन्दी लेखों में देखा जा सकता है। विनोबाजी की लेखन-शैली में प्राचीन कथावाचकता का नवीन उत्कर्ष है। उदाहरणों और दृष्टान्तों के प्रयोग से यह शैली सुग्राह्य और स्मरणीय बन जाती है।

काँग्रेस के बाद, जिस राजनीतिक दल ने हिन्दी-गद्य को सर्वाधिक प्रभावित किया है, वह है भारतीय साम्यवादी दल। साम्यवादी दल ने सदा ही अँग्रेजी के विरुद्ध हिन्दी की आवाज बुलन्द की, क्योंकि उसके लिए अँग्रेजी साम्राज्यवाद का अभिशाप है और हिन्दी जन-चेतना की प्रतिनिधि भाषा। भारत के विभिन्न राजनीतिक दलों में, साम्यवादी दल का बहुत अधिक सम्पर्क विदेशों से, मुख्यतः रूस से रहा है, इसलिए यह स्वाभाविक ही माना जायगा कि उसके माध्यम से अनेक विदेशी शब्द हिन्दी में घुस आए—'कामरेड' 'पार्टी' 'बुर्जुआ' 'प्रोलेतारियत' आदि। गाँधीजी के सिर से तो बाद में 'हिन्दुस्तानी' की चुड़ैल उतर गई, पर साम्यवादियों ने उसे सर-आँखों पर बिठा लिया। आज भी साम्यवादी हिन्दी के नाम पर हिन्दुस्तानी का प्रयोग ही अधिक करते हैं—'कौमी' 'जंगखोर' 'बदनीयती' 'मज़लूम' 'इन्सानियत' 'रोशनी' 'पर्चेबाजी' 'अहम मसला' 'सूदखोर' 'तब्दीली' 'हालात' 'नापाक' 'जर्रे-जर्रे' आदि उनके विशेष प्रिय शब्द हैं। कम्युनिस्टों ने कुछ मिश्र-समासों (Hybrid Compounds) का भी निर्माण किया है—'मिल-मालिक' 'प्रेस-मजदूर' 'सिने-कलाकार' आदि। जहाँ काँग्रेसवाले 'युवक-काँग्रेस' खोलते हैं, वहाँ कम्युनिष्ट 'जनवादी नौजवान संघ' खोलने से बाज नहीं आते। 'जन' और 'जनवादी' का साम्यवादी शब्दावली में एक विशेष अर्थ है। काँग्रेस 'देश में एकता' स्थापित करना चाहती है तो कम्युनिष्ट 'मुल्क में कौमी ताकत' की बात करते हैं। 'शान्ति' तो सभी चाहते हैं, पर कम्युनिष्ट 'अमन के गीत' गाते हैं।

साम्यवादियों की अपनी उपमाएँ हैं, अपने रूपक हैं, विशिष्ट प्रतीक हैं—'कबूतर' 'गिद्ध' 'कुत्ते' 'लाश' 'बारूद' 'फौलाद' और 'राख' आदि। शैली में सहजता से अधिक आक्रोश और उत्तेजना पर बल है उनका। भाषा उनके लिए चक्र ही नहीं, हँसिया' और 'हथौड़ा' भी है।

हिन्दी-समीक्षा भी निश्चय ही अनेक शब्दों के लिए साम्यवादियों का ऋण स्वीकार करती है। साम्यवादी आलोचक जो भी कहते हैं—दो-टूक, डंके की चोट पर। साम्यवादी गद्य नाद-प्रधान है, उसमें सामयिकता अधिक है, शाश्वतता कम। साम्यवादियों ने हिन्दी-गद्य को अधिक चित्रात्मक और सनसनीखेज बनाने का प्रयास किया। पत्रकारिता के लिए वह अत्यन्त सफल माध्यम है, और इसीलिए कभी-कभी अन्य राजनीतिक पत्रों को भी साम्यवादी शब्दावली उधार लेने की जरूरत पड़ जाती है।

राजनीतिक विचारों की दृष्टि से भी और भाषा-प्रयोग की दृष्टि से भी, समाजवादियों की स्थिति काँग्रेस और कम्युनिष्ट पार्टी के बीच में ही है। समाजवादी शब्दावली न तो बिलकुल उर्दू-प्रधान हिन्दुस्तानी है, और न संस्कृत-निष्ठ गद्य। समाजवादी, दलीय राजनीति और शब्द-प्रयोग दोनों में ही ढुलमुल रहे हैं। कभी तो वे कम्युनिष्ट शब्दावली उधार ले लेते हैं और कभी सर्वोदयी परिनिष्ठित शब्दावली। सामान्यतः उनकी शैली प्रौढ़, परिपक्व और व्यवस्थित है। उनमें उग्रता के बदले स्पष्टता तो है, पर न तो सूक्ष्म व्यंग्य है और न सुहास (Good Humour)। इस ढुलढुलपन के लिए शायद जयप्रकाशजी का व्यक्तित्व ही ज्यादा जिम्मेदार है। फिर भी, यह मानना पड़ेगा कि जैसी शुद्ध हिन्दी जयप्रकाशजी घंटों बोल लेते हैं या कई-कई पृष्ठ तक लिख लेते हैं, वैसी हिन्दी लिखने-बोलने वाले नेता किसी भी राजनीतिक दल के पास कम ही हैं। हाँ कृपलानीजी अगर हिन्दी लिखते तो शायद समाजवादी शैली के वे अभाव भी दूर हो जाते, जिनकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं।

भारतीय जनसंघ—राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के पुराने कार्यकर्त्ताओं द्वारा निर्मित नवीन राजनीतिक दल है। रा० स्व० से० संघ की स्थापना नागपुर में हुई थी और उसका मुख्य उद्देश्य है हिन्दू-संगठन और हिन्दू-राष्ट्र की भावना का प्रचार। धर्म और राष्ट्र की अपनी विशिष्ट परिभाषा और विभावन के कारण संघ की एक अपनी शब्दावली विकसित हो गई। यह शब्दावली संस्कृतप्रधान है और शब्दों के उच्चारण में मराठी बलाघात का प्रभाव है। 'हिन्दुत्व' 'राष्ट्र-धर्म' 'मातृभूमि' 'शंखनाद' संघटना' 'राष्ट्रिय आत्मा' 'सहयोग' 'संघ-भाव' 'शक्ति' 'आर्ष' 'बौद्धिक' 'सांस्कृतिक' 'चारित्रिक' 'अनुशासन' 'हुतात्मा' 'आह्वान' आदि इसमें बार-बार व्यवहृत होनेवाले शब्द हैं। इन्हीं शब्दों में कुछ नए शब्द जोड़कर जनसंघ ने अपनी शब्दावली बना ली है। साम्यवादी 'जन' और जन-संघी 'जन' में घोर अन्तर है। शब्दावली पर प्रयोक्ता के चरित्र और व्यक्तित्व का भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है; और यह भी क्या कोई कहने की बात है कि जनसंघियों और कम्युनिष्टों के 'चरित्र' में ध्रुवान्तर है।

विभिन्न राजनीतिक दलों की शब्दावली और शैली का अन्तर मुख्यतः उनके सदस्यों के उस 'Temperament' के अंतर के कारण है, जिसकी वजह से F. L. Lucas को more than ninty-six ways of writing' को स्वीकार करना पड़ा है।

ये कुछेक उदाहरण हैं। प्रयत्न करने पर ऐसे बहुतेरे शब्द संगृहीत हो सकते हैं, और उन्हें वर्गीकृत कर देने पर हिन्दी में एक 'राजनीतिक शब्दकोश' की निर्मिति की जा सकती है, और आधुनिक गद्य-शैली के अध्ययन को एक नई दिशा मिल सकती है।

"पश्चिम में मशीनयुग की संस्कृति अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुँच चुकी है। उसकी कर्कशता ने व्यक्तिमानस को जड़ बना दिया है। संवेदनायें बहरी हो गयी हैं। ...खासकर वहाँ की नौजवान पीढ़ी के मन में यह भावना घर कर गयी है कि उनकी पीढ़ी हर क्षेत्र में पराजित पीढ़ी है। इंगलैंड में इन्हें 'एंग्री यंग मैन' 'क्रुद्ध नवयुवक' कहा जाता है। इस समुदाय की मनस्थिति का प्रतिबिंब उनकी रचनाओं में मिलता है। प्राप्त क्षण ही अपना है; इसलिये उसमें जितनी तेज बेहोशी और उत्तेजक अनुभूति पा सकें, उतनी ले लेनी चाहिए—यही उनके जीवन का तत्त्व है।"

—कुसुमावती देशपांडे

[मराठी साहित्य-सम्मेलन के ४३ वें अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण से]

विश्वविद्यालयों के पाठ्यग्रन्थ

●●

राँची विश्वविद्यालय स्नातक-कक्षा के लिये स्वीकृत

काव्य में अभिव्यंजनावाद

काव्यगत अभिव्यंजनाओं के अद्यतन सिद्धान्तों का सुसम्बद्ध समीक्षण

लेखक : श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु — मूल्य : ५·००

●●

पटना विश्वविद्यालय स्नातक (प्रतिष्ठा) कक्षा के लिये स्वीकृत

विश्वराजनीति-पर्यवेक्षण

विश्वराजनीति-विषय पर मननीय समीक्षण वाले निबन्धों का संग्रह

लेखक : डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा — मूल्य : ५·५०

●●

पटना विश्वविद्यालय स्नातक (प्रतिष्ठा) के लिये स्वीकृत

आधुनिक भाषाविज्ञान

भाषाविज्ञान के अद्यतन सिद्धान्तों एवं प्रतिपादनों पर शास्त्रीय समीक्षण

लेखक : प्रो० पद्मनारायण — मूल्य : ३·००

●●

भागलपुर विश्वविद्यालय स्नातक-कक्षा के लिये स्वीकृत

संचयन

हिन्दी गद्य की विकासपरम्परा की श्रेण्य रचनाओं का सुसंपादित संचयन

सम्पादक : प्रिंसिपल कपिल — मूल्य : ३·००

●●

राँची विश्वविद्यालय के प्राग्विश्वविद्यालय एवं स्नातक-कक्षा के लिये

रचना-कला

हिन्दी भाषा-शैली का शिक्षण देनेवाली समर्थ पुस्तक

लेखक : श्री सुरेश्वर पाठक विद्यालंकार — मूल्य : ३·००

●●

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना—४

कथाकार

संपादक—सत्यदेव शांतिप्रिय, मधुकर सिंह

संयोजक—चक्रधर

प्रकाशक—बिहार लेखक सिंडिकेट

मूल्य—दो रुपए

इसमें कथा-संकलन ही नहीं, कथा-साहित्य की गति-विधियों का टिप्पणी-संकलन भी है।

दो सम्पादकों का एक साथ स्वगत-प्रकाश, विषम हो उठा है। कारण यह है कि सृजन के क्षण में भी प्रश्नों के मौन सिलसिले मुँहफट इश्तहार करते हैं।

"कथाकार आज की कहानी के सृजन की मूल प्रेरणा के उत्स" की खोज करना चाहता है। उत्स खोजने का यह उत्साह प्रकाशन या छपास की हड़बड़ी में 'ग्राफिक' हो उठा है।

'दृष्टियाँ' स्तंभ के अंतर्गत ओमप्रकाश आर्य का निबंध अच्छा है। 'समसामयिक फ्रांसीसी कहानी' के परिचय-प्रदर्शन की पूँजी भी कम नहीं होती। दुःख केवल इस बात का है कि गंभीर पाठकों के हृदय में यह पूँजी सूद नहीं पैदा कर सकती। श्री राम तिवारी ने 'स्थापनाएँ' शीर्षक से कहानी की सैद्धांतिक विधान-क्षमता तथा 'चलिष्णु' टटकेपन पर गद्यगीत की आत्मा निचोड़ते हुए 'अ च...छा ही' लिखा है।

विजयमोहन सिंह का निबंध सुलझा हुआ है। नई कहानी की समस्याओं पर उन्होंने गंभीर मंतव्यों को हमारे सामने प्रस्तुत किया है। 'दृष्टियाँ' स्तंभ के अंतर्गत केवल एक यही निबंध है जो अन्य लोगों की दृष्टियों में पड़ी हुई माड़ी और रतौंधी दूर करता है।

चित्तरंजन ने पाठकों के व्यावहारिक दृष्टिकोण को सामने रखा है।

मधुकर गंगाधर के 'व्यक्तिगत' निबंध का शीर्षक है— "आज की कहानी : नई चुनौतियाँ"—(मसलन) राजेन्द्र यादव की नई चुनौतियाँ और मधुकर गंगाधर द्वारा प्रस्तुत 'नाबालिग' विशेषण।

आत्म-व्यंजक निबंध में 'फाँस' होती ही है; लेकिन डमरू-निनाद भी है। सचाई तो यह है कि इस निबंध के द्वारा लेखक ने साहित्य की भाषा और गाली-गलौज की भाषा के व्यवधान 'मेटने' की कोशिश की है। 'नयी हिन्दी कहानी का नाम' शीर्षक निबंध में रणधीर सिनहा ने अँग्रेजी आलोचनाशैली की संक्षिप्तता बरकरार रखी है।

अब 'उपलब्धियाँ' नामक स्तंभ के अंतर्गत स्वर्गीय आचार्य नलिनविलोचन शर्मा की एक पूर्व-प्रकाशित कहानी है। कहानी काफी गठी हुई तथा प्रतीकात्मक है। चक्रधर की कहानी में एक सहज जीवन-कथा का स्वाद है; निश्चय ही परितृप्ति का स्वाद। योगेन्द्र चौधरी की कहानी सांप्रदायिकता, भाषा-द्वेष और जातीयता के परिपार्श्व में घुटते हुए परिवार की कहानी है। कहानी में कारागृह की ऐकांतिक सुरक्षा की अवधि बढ़ाने की मन-ही-मन याचना करने वाला व्यक्ति-चरित्र, समाज की विकृतियों के वैविध्यपूर्ण रंग-संदर्भ में खूब पुष्ट हो कर उभरा हुआ है।

प्रभाकर मिश्र या रिपोर्ताज व्यंग्य के निशाने छोड़ने में अचूक है। स्थितियों की मुद्रा-भंगिमा प्रस्तुत करने में प्रभाकर मिश्र की भाषा निजत्व प्राप्त कर रही है। श्री राम तिवारी की पत्र-पद्य-कथा में मन के निर्वासित क्षण मुखर हो उठे हैं। सत्यदेव शांतिप्रिय की कहानी में और मधुकर सिंह की कहानी में आयामिक क्षितिजों का अवसाद सघनतम है। मधुकर सिंह की कहानी में भाषा की मूलें अन्तःस्पंदित होकर फूटी हैं।

सहयोगी-परिचय में सम्पादकों ने सहयोग प्राप्त करने की संचित अंतर्दृष्टि को 'स्लैंग' में व्यक्त किया है।

कुल मिलाकर संकलन अच्छा ही है—यह बात दूसरी है कि इसमें प्रूफ की भूलें और लेखक-सम्पादक की अज्ञानता के कारण छूटी हुई भूलें व्याकरण में अपना उत्स खोज रही हैं।

दाम ठीक ही है।

—शिवमणि सुन्दरम्

पंचतंत्र

लेखक—विष्णु शर्मा

अनुवादक—सत्यकाम विद्यालंकार

प्रकाशक—हिन्द पाकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, जी० टी० रोड, शाहदरा-दिल्ली

मूल्य—एक रुपया

संस्कृत-कथाओं का यह हिन्दी अनुवाद है। इसमें छोटी-छोटी बहुत-सी शिक्षाप्रद कहानियाँ हैं। नीति-भाग को साररूप में कहकर कथा-भाग को मुख्यता दी गई है।

इसमें सत्यकाम विद्यालंकारजी का परिश्रम सराहनीय है। यह संस्कृत कहानियों का अनुवाद है, लेकिन पढ़ने पर ऐसा लगता है मानो ये कहानियाँ हिन्दी में ही लिखी गई हैं। अनुवाद इतनी सरल और रोचक भाषा में किया गया है कि पढ़ते समय अनुमान नहीं होता कि यह संस्कृत का अनुवाद है। यह अनुवाद बताता है कि सत्यकामजी को भाषा पर कैसा प्रभुत्व है। जिसको साहित्य पर पूरा अधिकार होगा वही इस प्रकार दूसरी भाषा में लिखी कहानी को एक अन्य भाषा में पूर्णरूपेण वैसा ही रूप दे सकता है। पंचतन्त्र की कहानी शिक्षाप्रद होते हुए भी बहुत रोचक है। इसकी शैली बहुत ही उच्च कोटि की है।

किसी कहानी का अलंकार-युक्त शैली में वर्णन करना उतना कठिन नहीं है जितना उसको सरल और रोचक शैली में। इनकी शैली सरल और रोचक दोनों है।

पंचतन्त्र में जितनी कहानियाँ हैं सभी अतीत से सम्बन्ध रखते हुए भी वर्तमान-सी लगती हैं। किसी देश का साहित्य उसकी लोक-कथाओं से जाना जाता है। यही कारण है कि जितनी कथायें हैं सभी अतीत की हैं, और इनसे भारत के अतीत का पता चलता है।

इन अमूल्य कहानियों का हिन्दी में यह अनुवाद कर सत्यकामजी ने जनता और साहित्य दोनों की सेवा की है। इस अनुवाद से दूसरे साहित्यकार को प्रेरणा मिल सकती है।

अठारह वर्ष बाद

लेखक—गिरिजाशङ्कर पाण्डेय शास्त्री

प्रकाशक—आनन्द पुस्तक भवन, वाराणसी

मूल्य—चार रुपये। पृष्ठसंख्या—१६६

यह राजनीतिक और ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें लेखक गिरिजाशङ्कर पाण्डेय उस समय के वातावरण को, जबकि अँगरेज यहाँ अपना अस्तित्व स्थापित कर रहे थे, उपन्यास का रूप देकर प्रस्तुत करते हैं। इसमें उन्होंने अवध के नवाब की स्थिति पर प्रकाश डाला है। अँगरेज यहाँ एक विदेशी थे, उनका रहन-सहन सभी भारत-वासियों से भिन्न था। उस समय भारत छोटे-छोटे बहुत-से राज्यों में विभाजित था। सभी नवाब और राजा बनने के लिए लालायित थे। देश में एक प्रकार का तूफान आ गया था। हिन्दू-मुसलिम सभी के धर्म संकट में थे। इन्हीं सब बातों या घटनाओं को उपन्यास का रूप दिया गया है। उपन्यास कोई सामाजिक जीवन से बाहर का विषय नहीं रखता है, लेकिन एक इतिहास और उपन्यास में बहुत अन्तर होता है। इतिहास में केवल समय और घटना का वर्णन रहता है, उसमें बाहरी सजावट नहीं रहती। घटना और उस समय को सामाजिक स्थिति को लेखक ज्यों-का-त्यों रख देता है। परन्तु, इसके विपरीत, उपन्यास और नाटक में लेखक उसी वर्णन को इस प्रकार तोड़-मरोड़ कर एक दूसरा ही रूप देता है जो पढ़नेवाले के दिल पर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ जाता है। पढ़नेवाला अपनी वर्तमान स्थिति को भूल उसी युग का एक पारि-वारिक व्यक्ति बन जाता है। यही कारण है कि पाठक को आकर्षित करने में उपन्यास और नाटक जितनी सफलता प्राप्त करते हैं उतना इतिहास नहीं प्राप्त कर सकता। पाण्डेयजी यथाशक्ति कोशिश कर सके हैं इस ऐतिहासिक वर्णन को उपन्यास के समान रोचक बनाने की, लेकिन जहाँ तक मेरा विचार है उन्हें आंशिक रूप से सफलता मिली है। इसका कारण है कि उपन्यास का रूप देते हुए भी वे ऐतिहासिक वातावरण से अलग नहीं रह सके हैं, अर्थात् ऐतिहासिक परिधान हटा नहीं सके हैं।

पढ़ते समय उपन्यास का आनन्द नहीं मिलता, बल्कि ऐसा लगता है कि इतिहास पढ़ रहे हैं। दूसरी न्यूनता है कि उन्होंने किसी-किसी वर्णन में अतिशयोक्ति कर दी है, जैसे भंगड़ और मङ्गला के सम्बन्ध में। मंगला जब अपने पति को पहचानती थी तो उसने उसे बचाने की चेष्टा क्यों नहीं की। क्यों नहीं उसके सामने प्रकट होकर

उसे स्थिति का ज्ञान करा पाई। जगतसिंह और उसके आदमियों का वर्णन पूर्णरूपेण ऐतिहासिक ढंग से किया गया है। दूसरी ओर जब वजीरअली के सिपाहियों की चढ़ाई अँगरेजों की छावनी पर हुई, तो वहाँ के वर्णन में औपन्यासिक रोचकता का गन्ध भी नहीं है। इस प्रकार, पूरा वर्णन उपन्यास का नाम होते हुए भी उपन्यास या कहानी से कोसों दूर है।

—विमला वर्मा

नीरज (आज के लोकप्रिय कवि)

संपादक—क्षेमचन्द्र 'सुमन'

प्रकाशक—राजपाल एंड संज, दिल्ली-६

मूल्य—दो रुपये

मैं मानता हूँ कि, श्रीगोपालदास सक्सेना 'नीरज' जो अब 'नीरज' ही रह गए हैं, कवि-कम जादूगर के रूप में विख्यात हैं। यह भी मानता हूँ कि कविसम्मेलनों को कवि नहीं, जादूगर की जरूरत होती है। एक तरफ गोगिया पाशा का आयोजन रख दें और एक ओर किसी कवि-सम्मेलन में कवि 'नीरज' के कवितापाठ का आयोजन कर दें, आश्चर्य नहीं कि नीरज के सुनने वालों की भीड़ ज़्यादा होगी। नीरज श्रुतिप्रिय कविताएँ लिखते-सुनाते हैं। अधन्य उनसे धन्य होते हैं। परन्तु पढ़ कर अघानेवाले कवितापाठकों को उनसे शिकायतें, और जायज शिकायतें हो सकती हैं कि नीरज उनके कवि नहीं हो सकते। हिन्दी काव्य के पाठक अब इस विकसित अवस्था में पहुँच गए हैं कि कानों से नहीं, आँखों से काम लें; हृदय की नहीं, मस्तिष्क की खूराक को तरजीह दें। उनका यह कहना-सोचना शायद गलत नहीं कि सम्मेलन के बजाय गोष्ठी की कविताएँ ज्यादा महत्त्व रखने लगी हैं।

नीरज की, नेपाली की अपनी एक विशेषता है, यह कि कविता में वे कहानी बोलते हैं, संवाद बोलते हैं। किस्सा-तोता-मैना के पाठक इसलिए नेपाली, नीरज को ज्यादा सुनना पसंद करते हैं। अपनी-अपनी पसंद के क्या कहने!

हिन्दी के परिचित हस्ताक्षर श्री क्षेमचंद्र सुमन द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावित यह नीरस 'नीरज' पुस्तक नीरज में रुचि

रखने वाले पाठकों के लिए अच्छी पुस्तक मानी जा सकती है। परिचयपृष्ठ के परिचय काम के माने जा सकते हैं, किंतु, जहाँ विवेचना-कम समीक्षा के (सोदाहरण) पृष्ठ हैं, वे पुस्तक के कलेवर को मोटा-भर बना सकते हैं। सुमनजी ही द्वारा, कदाचित्, नीरज की बत्तीस कविताएँ भी इसमें आकलित हैं। यह बतीसी बाहर नहीं आ पाती तो पुस्तक के महत्त्व को अस्वीकृत करने की गुंजाइश कम रह जाती।

—शिवचन्द्र शर्मा

मंगलध्वनि

लेखक—हिमांशु श्रीवास्तव

प्रकाशक—नारायण प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी-१

मूल्य—२.५०

पृष्ठ-संख्या—१४०

प्रस्तुत पुस्तक में हीनता से महानता की ओर ले जाने वाले मंगलसंदेश दिये गये हैं। "यह पुस्तक हमारे भाव-विश्व में निरंतर प्रवाहित शुचिता की स्रोतस्विनी की मंगलध्वनि का व्यावहारिक संकेत प्रदान करती है।" हीन-भावना, संघर्ष, प्रतिभा, सफलता आदि विषयों पर विचार करते हुए विद्वान लेखक ने यह कहा है कि अगर आप असंतोष, निराशा और विफलता के शिकार हैं तो पहले अपने को संतुलित कीजिये, अपने हृदय और कानों के द्वार खोलिये तभी आप कुछ कर पायेंगे अन्यथा झुँझलाहट और खीझ के सिवा कुछ भी नहीं मिलेगा।

लेखक ने सिर्फ निबन्ध ही नहीं लिखा है बल्कि अपने परिचितों और अपने पर बीती हुई घटनाओं के उदाहरण देकर उसमें 'व्यक्तिगत पुट' (पर्सनल टच) दिया है जिससे पुस्तक काफी रोचक बन पड़ी है और ऐसा लगता है, मानो आप कहानी, उपन्यास, लेख सभी एक साथ पढ़ रहे हैं। कई स्थान पर तो ऐसा लगता है मानो किसी मनोवैज्ञानिक ने कोई थीसिस लिखी हो और उसका अंश हम पढ़ रहे हैं। पढ़ते समय आप-से-आप स्वेट मार्डेन का ध्यान आ जाता है।

भाषा प्रवाहमयी और शैली प्रभावपूर्ण है।

जायसी और उनका पदमावत

लेखकगण—प्रो० दानबहादुर पाठक और श्री जीवनप्रकाश जोशी

प्रकाशक—हिन्दी साहित्य संसार, नई सड़क, दिल्ली

मूल्य—१२.००

पृष्ठसंख्या—८६८

प्रस्तुत पुस्तक में कवि जायसी के व्यक्तित्व का विशद अध्ययन तथा उनके पदमावत की मूल सहित विस्तृत व्याख्या की गयी है। पुस्तक का विभाजन तीन खण्डों में किया गया है। प्रथम खण्ड में सूफीमत एवं जायसी के व्यक्तित्व आदि बातों पर विचार किया गया है। जायसी का रूप-वर्णन, प्रकृति-चित्रण, मसनवी-शैली आदि विषयों के साथ-ही-साथ कबीर एवं तुलसी से भी इनकी तुलना की गयी है। जायसी की रचनायें, काव्यभाषा और सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। विद्वान लेखकों ने इनपर काफी परिश्रम एवं अध्ययन दिया है।

द्वितीय खंड में पदमावत की मूल सहित व्याख्या की गयी है। व्याख्या में भावार्थ के साथ विशेष अर्थ भी दिये गये हैं। जिन पंक्तियों के दो अर्थ हो सकते हैं—एक कथा संबंधी और दूसरा सूफीमत संबंधी—उन्हें काफी स्पष्ट किया गया है।

तृतीय खंड में अखरावट और आखिरी कलाम के बारे में लिखा गया है।

पुस्तक पढ़ने के बाद यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि लेखक का अध्ययन काफी विस्तृत है एवं उसने पूर्ण परिश्रम किया है। विद्यार्थियों के लिये विशेष रूप से यह पुस्तक लाभदायक सिद्ध होगी। लेखकगण बधाई के पात्र हैं।

पुस्तक की छपाई और कागज आदि के संबंध में सुरुचि और सौष्ठव का परिचय मिलता है।

—विचारकेतु

सरयू कछारों की हरिणी

कवयित्री—कुमारी राधा
प्रकाशक—संदीप प्रकाशन, पटना–४
मूल्य—३·५०

मैं पहले तो स्त्री-भावुक न होने के कारण 'एक बात', 'दोपहरी' जैसे अंचल-पदों को अच्छा ही कह लूँ। हाँ, 'बासमती के दाने', और 'किन्तु' का 'झुटपुटे के समुद्र पर जाते हुए प्रत्येक पाँव की डग नल-नील के पत्थर-सी पड़ी', और 'एक पौधा, एक चित्र' आदि काफी कविता हैं; खासकर अपने आलम्बनों की छाया को एक स्थिरचित्र बना सकने की सावधानी के कारण। मगर, गीत या छन्द वाले पद अधिकतर शब्दों, तुकान्तों के मामले में बहुत बुरे हैं; और जहाँ स्वभाव है, वहाँ बहुत रटे-पिटे—नये तो एकदम नहीं; और जहाँ वह नहीं है, वहाँ बड़े अनगढ़। जैसे; 'स्नैप' का पद 'स्वप्न पलकों पर कई हैं सज रहे···रम गयी है आँख हाहाकार में···सो रहा है चाँद···घुल रहा है घाव सागर-ज्वार में, सो गया है चाँद' देखा जाय। पलकों पर स्वप्न, आँख में हाहाकार; चाँद के सोने पर सागर में ज्वार—आखिर इन बातों में क्या आपसी संबंध अथवा आलम्बनिक सृष्टि का व्याकरण है? और, 'अब छल नहीं' शीर्षक में 'और मेरी मृत्तिका लजवाओ मत' में 'वाओ' की मात्रा वाली अटक के अलावा; मिट्टी पलीद होती है, लजवायी नहीं जाती, और जो मिट्टी लजवायी जाती है वह खुद दूसरे की मिट्टी पलीद करवा छोड़ती है—यह प्रत्यर्पण-भाव का विरोध अलग से। ऐसे ही, 'सँदेशा' शीर्षक के अन्तर्गत 'जाओ, मेरे लिए पहाड़ों के गीत भेजना···मेरे नाम पर जो नोनी लग गई है उसपर सीमेन्ट मत लगाना' में अपने नाम पर उसके लिये नोनी लग

जाने के बावजूद फिर उसके पहाड़ी-परदेश से उससे गीत चाहने की आशा—क्या तत्परता रखती है? दूसरे, 'ग्राम्य दोष' तो जाना है, मगर नोनी पर सीमेन्ट लगाने जैसी कारीगरी की भी क्लिष्टता, और वह भी निभृत पर्वत-देश में—क्या इसे नया 'नागर दोष' नाम दिया जाय? ऐसे ही, 'तुम दूर कहीं' के तुकान्त में 'पथ बतलाया' 'मनहर छाया' 'श्रमहर छाया' 'अथ बतलाया' इत्यादि का काफिया-रदीफ, और 'सर्जन वर्जन तर्जन के मिस' तथा 'सत बतलाती, रस दे जाती, तेरी मोहक मन-हर छाया' में शब्दों के अगठन, अनौचित्य और अप्रकर्ष खटकने वाली चीजें हैं। यों, 'तुम दूर कहीं' के इन शब्दों को देखकर ही कहा जा सकता है कि गीत और पद्यवाला यह पद बहुत पुरानी लीक पर भी बहुत कच्चे कदम का है। ऐसे और भी सारे गीत हैं।

तुमने निहारा (कविता-संग्रह)

कवि—जगदीश शर्मा

प्रकाशक—हिन्दी साहित्य भंडार, अमीनाबाद, लखनऊ

मूल्य— ४·५०

इस संकलन में ८२ 'कवितायें' हैं; ७१ और, ८२ 'हास्यरस' की। 'हास्यरस' का नमूना है—"मेरे भोजनभट्ट साथियो! बेटा! इसे हराम न समझो", "रूपसि! ... क्लीन-शेब्ड सदैव तुम हो", "लीडर आइ बसो बाटा की चप्पल सोहति है टाटा के चरनन में", "उस ओर तुम्हारी चप्पल है, इस ओर न सर पर बाल प्रिये"—इत्यादि। और, 'कवितायें' हैं—"हाथ पकड़ती हो बाले, किन्तु देखना छूट न जाये" जैसी 'बाबा' की बात, "यदि रुलाना था मुझे तो किसलिये क्षणभर हँसाया" जैसी बच्चे की बात, और "ध्यान सोऽहं का अभी भी मूढ़, कर सकेगा देख तुझको शान्त" जैसी डाँट। इस प्रकार की ही चीजों को 'कविता' कहकर इसमें संकलित कर दिया गया है। 'परिचय' में 'रंग' ने रंग जमाया है कि इस संकलन को उत्तर प्रदेश सरकार ने पुरस्कृत कर समादृत किया है, कवि आज के उच्छृंखल युग में मर्यादा में रहना पसन्द करता है, और कदाचित् वह भारतीय सभ्यता का भी पुजारी है। किन्तु, ऊपर जो पंक्तियाँ मैंने संकलन से निकालकर दर्ज की हैं, वैसी ही तमाम पंक्तियाँ इस सारी किताब में हैं, और पता नहीं इनमें 'मर्यादा' और 'भारतीय सभ्यता' कहाँ है? इनमें 'कविता' तो कहीं भी नहीं है। यदि ऐसी चीजों को 'कविता' के नाम पर उत्तर प्रदेश की या कहीं की भी सरकार पुरस्कृत कर देती है तो उस सरकार के लिये यही कहना पड़ेगा कि वह देश के साहित्य को भ्रष्ट कर रही है।

पत्थर की लकीरें (कविता-संग्रह)

कवि—सकलदीप सिंह

प्रकाशक—व्यंजना प्रकाशन, कलकत्ता-६

मूल्य —२.००

कवि कहता है—"आज विचारों के ताप से तपी हुई अनुभूतियों से कविता लिखी जाती है।" अतः इस लक्षण के लिये यह विवाद बड़ा मजेदार होगा कि विचार और अनुभूति में कौन पहले है या दोनों एक साथ समय-सावधान हैं। असल में, इन या इधर लिखी जानेवाली कविताओं में जो विचार या अनुभूति है वह जीवन से अधिक दूसरी देशी-विदेशी पढ़ी हुई किताबों-कविताओं की है। यह आवश्यक भी नहीं कि कवि जिन्हें पढ़कर कविता या गद्यकल्प रच रहा है, उन्हें पाठक या समीक्षक भी पढ़े हुए हो। क्योंकि, 'कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी'। अतः जहाँ भी हवाले जैसी बात हो, वहाँ कवि को फट से फुटनोट मार देना चाहिए, कि पाठक उम्र में जब फुरसत-संग-आग्रह में हो तो उन हवालों को खोज-पढ़कर उस कविता को समझकर ठीक हो ले। इसमें अन्तिम कविता 'रजपुत्र', और 'भ्रान्ति के पुत्र' में "पूँजीवादी रहस्य की स्वीटजरलैंडी हवाएँ", 'प्यार की इकाई' की बातें ऐसी ही चीजें हैं। "अन्धे विश्वास की पतली हड्डियाँ जो थीं उनकी राख का भी तर्क के गंगाजल में परवाह हुआ"—यदि 'परवाह' की जगह 'प्रवाह' हो तो, अच्छी चीज है। यों, इन और इन जैसी कविताओं में 'परम्परा से छूँट कर', 'तुम्हें वहम है', 'नई अर्थवत्ता' आदि बहुत-सी खिसियाई हुई बातें और लम्बे निराकार (अर्थात् 'आयामिक') विशेष हुआ करते हैं। फिर भी, 'किरणगंधी धूल', 'बातें सोंधिया गईं', 'गन्तव्योन्मुख', 'निस्संगता' आदि और भी रचनाएँ हैं, जिनमें भावों और चित्रों का सफल कविकर्म है। हाँ, 'कीचड़ाते बादल' जैसी शब्ददग्धता से सम्हलना जरूरी था।

—'लालधुआँ'
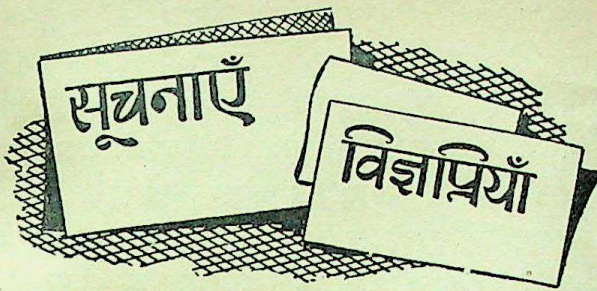
—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से वर्तमान आर्थिक वर्ष (१९६१-६२) में एक हजार रुपये के छः ग्रंथ-पुरस्कार, उसके आगामी वार्षिकोत्सव के अवसर पर निम्नलिखित विषयों के श्रेष्ठ मौलिक हिन्दी-ग्रन्थों के लिए दिये जाएँगे। इन छः पुरस्कारों में एक पुरस्कार अहिन्दी-भाषा-भाषी हिन्दी-लेखकों के लिए होगा और शेष पाँच पुरस्कारों में से तीन बिहार के ग्रंथकारों के लिए तथा दो पुरस्कार अखिल-भारतीय स्तर पर हिन्दी-लेखकों को दिये जाएँगे।

(१) अहिन्दी-भाषा-भाषी लेखकों के लिए पुरस्कार-विषय—कथा साहित्य, हिन्दी मौलिक उपन्यास या कहानी-संग्रह।

(२) बिहारी लेखकों के लिए पुरस्कार-विषय—(क) आदिवासी संस्कृति, (ख) शिकार, (ग) नीति-शास्त्र (Ethics)।

(३) अखिल भारतीय स्तर के पुरस्कार-विषय—(क) तंत्र-विज्ञान और (ख) सैन्य-विज्ञान।

उपर्युक्त पुरस्कार-प्रतियोगिता के लिए जनवरी, १९५० ई० से दिसम्बर, १९६१ ई० तक की अवधि में प्रकाशित पुस्तकें ही स्वीकृत होंगी। पुरस्कार के लिए भेजी जानेवाली प्रत्येक पुस्तक की सात-सात प्रतियाँ परिषद्-कार्यालय में ५ जनवरी, १९६२ ई० तक अवश्य ही पहुँच जानी चाहिएँ। पुरस्कार मिलने या न मिलने की दशा में पुस्तकें लौटाई नहीं जाएँगी। प्रत्येक पुस्तक पर यह लिखा होना चाहिए कि वह किस विषय की प्रतियोगिता में भेजी गई। प्रत्येक पुस्तक के साथ एक स्पष्ट लिखित पत्रक संलग्न रहना चाहिए, जिसमें पूरा विवरण अंकित हो—पुस्तक और प्रकाशक के नाम और पते, प्रकाशन-वर्ष, लेखक का वर्तमान पूरा पता, विषय आदि।

परिषद्-नियमावली, संख्या ४ के अनुसार बिहार-सरकार की विशेष अनुमति के बिना इस प्रतियोगिता में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के संचालक-मण्डल तथा सामान्य-समिति के सदस्य भाग नहीं ले सकेंगे।

रेलवे पार्सल से भेजी जानेवाली पुस्तकों के लिए पता—(१) ईस्टर्न रेलवे : पटना जंकशन और नॉर्थ ईस्टर्न रेलवे : महेन्द्रू घाट। डाक से भेजी जाने वाली पुस्तकों के लिए पता—(२) संचालक, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-६।

—विश्वविख्यात नाटककार बर्नार्ड शॉ अपने पीछे अपनी तमाम सम्पत्ति का स्वत्व ब्रिटिश म्यूजियम, रायल अकादेमी, ड्रामेटिक आर्ट और आयरलैंड की नेशनल गैलरी को अपने उत्तराधिकारी के रूप में सौंप गए थे। पिछले तीन वर्ष से उक्त सभी संगठनों को शॉ की सम्पत्ति से बराबर-बराबर हिस्सा मिल रहा है। सन् १९५६ से अबतक शॉ की 'माई फेयर लेडी' तथा अन्य पुस्तकों की रायल्टी का ४३,०००० पौण्ड से भी अधिक मिल चुका है। 'माई फेयर लेडी' जार्ज बर्नार्ड शॉ की 'पिगमेलियन' का गीत में परिणत रूपांतर है। इससे गत वर्ष २६,०००० पौण्ड की आय हुई थी। शॉ के प्रकाशकों का यह विश्वास है कि उनकी रायल्टी के कम होने की सम्भावना नहीं है।

—केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय ने गाँधीजी की शिक्षाओं के प्रचार के लिए कुछ विश्वविद्यालयों और चुने हुए कालेजों को गाँधीजी की शिक्षाओं पर प्रकाश डालने वाली पुस्तकें निःशुल्क देने का निर्णय किया है। ऐसी पुस्तकों के चुनाव के लिए केन्द्रीय सरकार का शिक्षा-मन्त्रालय एक उपसमिति नियुक्त करेगा।

—पंजाब सरकार के शिक्षा-सलाहकार-बोर्ड ने अपनी बैठक में पहली से आठवीं कक्षा तक साधारण विज्ञान की पढ़ाई का नया पाठ्यक्रम स्वीकृत किया है। यह पाठ्यक्रम भारत सरकार के अनुभवी वैज्ञानिकों और शिक्षा-शास्त्रियों की सहायता से तैयार किया गया है। ये पुस्तकें आगामी नये सत्र से स्कूलों में चालू भी कर दी जायेंगी।

—केन्द्रीय वैज्ञानिक अनुसन्धान और संस्कृति मन्त्रालय ने संविधान में उल्लिखित भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी में 'भारतीय एकता' विषय पर लिखे गए नाटकों पर पुरस्कार देने का निश्चय किया है। प्रत्येक भाषा के नाटक पर ४-४ हजार रुपये का पुरस्कार प्रदान किया जायगा। नाटक अभिनीत करने पर २ घंटे का होना चाहिए।

१. लेखक के नाम

श्री एम० कोठियावी राही, काजीपुर, खोरद, गोरखपुर

राहीजी,

जरूरत ऐसी आ पड़ी है कि आपको पत्र लिखना आवश्यक हो गया है। एक ओर सम्पादक का अनुरोध और दावा और दूसरी ओर लेखक का आँखों में धूल झोंक कर चालाकी से पाठकों को वेवकूफ बनाना। राहीजी, बात समझ में आई या नहीं? मैं पूछता हूँ, क्या शीर्षक बदल देने से कहानी बदल जाती है? एक ही कहानी को दो बार दो शीर्षक देकर प्रकाशित करवा लिया और दोनों जगहों से पैसे ऐंठ लिए! सम्पादक बेचारा क्या करे। देश भर में सैकड़ों पत्रिकायें निकलती हैं। अब एक कहानी को ढूँढ़ने के लिये किन-किन पत्रिकाओं के पन्ने उलटता फिरे। वह तो लेखक पर विश्वास कर लेता है। पर लेखक पीठ में छुरी भोंकता है। अगर ऐसा किया जाय कि तीन-चार वर्ष पहले किसी पत्रिका में प्रकाशित अपनी कहानी का शीर्षक बदलकर फिर से उसे किसी पत्रिका में भेज दिया जाय तो बात छिप भी सकती है (अगर वह कहानी पहले प्रसिद्ध न हो चुकी हो)। पर राहीजी, आपने एक ही कहानी को 'सवेरे-सवेरे' के नाम से कलकत्ता से प्रकाशित होनेवाली कहानी-पत्रिका 'विनोद' के जून, १९६१ के अंक में प्रकाशित कराया और फिर उसी कहानी को शीर्षक बदल कर 'दीवाली की रात' कर दिया और दिल्ली से हाल में ही आरम्भ हुई पत्रिका 'नई सदी' के दिसम्बर, १९६१ के अंक में छपवा लिया। कहानी में अगर कुछ भी इधर-उधर किया रहता तो एक बात भी थी, पर एक शब्द का भी हेर-फेर नहीं और शीर्षक बदल दिया! पैसे तो आपको दोनों पत्रिकाओं से मिले ही होंगे, पर बेचारे पाठकों को क्या मिला? हाँ, आपने पाठकों के साथ-साथ 'नई सदी' वालों को खूब बेवकूफ बनाया। आपने 'नई सदी' में सम्पादक का 'लेखकों से' अनुरोध तो पढ़ा ही होगा, जिसमें उन्होंने लिखा है—"'नई सदी' को भेजी गई किसी भी रचना का प्रकाशन इससे पूर्व हिन्दी में नहीं होना चाहिये। इसके लिये अपनी हर रचना के अंत में अप्रकाशित अवश्य लिखें।"

पर आपने सोचा कि 'सवेरे-सवेरे' तो प्रकाशित हुई है लेकिन 'दीवाली की रात' नहीं प्रकाशित हुई। आपने, शायद यह भी सोचा होगा कि कलकत्ते की हिन्दी और दिल्ली की हिन्दी में फर्क है और आपने अपनी रचना के अंत में 'अप्रकाशित' लिख दिया होगा। एक ही कहानी को नाटक में या नाटक को कहानी में लिखते तो सुना और देखा था, पर इस तरह की बातें कम ही नजर आती हैं। राहीजी, इसी प्रकार सम्पादकों की आँखों में धूल झोंकते रहिये। इसमें फायदा-ही-फायदा है। पर, पाठकों के मामले में वैसी बात नहीं है। उन्हें अपनी समझदारी का एहसास हो चुका है।

२. सम्पादक के नाम

श्री कृष्णकुमार, सम्पादक 'नई सदी', दरियागंज, पोस्ट-बाक्स १३४३, दिल्ली-६

कृष्णकुमारजी,

ऊपर वाला खत जो मैंने राहीजी के नाम लिखा है, उसे आप भी पढ़ लेंगे; क्योंकि उस पत्र में आपके हित की कई बातें हैं। राहीजी ने आपकी पत्रिका के साथ क्या सलूक किया है, मैंने उस पत्र में लिखा है। अगर आपकी उनसे व्यक्तिगत जान-पहचान हो तब तो बात दूसरी है और मैं अपनी बात वापस लेता हूँ; पर अगर सम्पादक-लेखक का नाता है तो मैं कहूँगा कि ऐसी हरकतों से सम्पादक का लेखक पर से विश्वास उठ जाना चाहिये। आपको चाहिये कि आप लेखक को इस बात की चेतावनी भेज दें और भविष्य में इस प्रकार के लेखकों की रचनायें प्रकाशित करके अपनी दिन-दूनी रात-चौगुनी तरक्की करती हुई पत्रिका का स्तर मत गिरावें। इन सारी बातों की जाँच-पड़ताल आप आसानी से कर सकते हैं, क्योंकि बात इसी साल की है और 'विनोद' पत्रिका का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आपको राहीजी की बाबत बताने के साथ-ही-साथ आपसे एक और मशहूर लेखक के बारे में मुझको

कुछ कहना-सुनना था। दिसम्बर अंक की 'नई सदी' में आपने अपनी पत्रिका के स्वागत में दी गयी जिस पार्टी का विवरण दिया है उस पार्टी में इन्हें भी निमन्त्रित किया गया था और आपने इस संबंध में प्रकाशित चित्रों में इनका भी फोटो छापा है। आपने इनके परिचय में लिखा है, "हिन्दी के लोकप्रिय लेखक··· ने इतने सफेद कपड़े पहन रखे थे, मानो दूध में धुले हों। ऐसा दीखता था, जैसे कोई ड्राईक्लीन हुए काँग्रेसी हों और सिर पर थ्री-नाट-थ्री रखना भूल गये हों।" ये हैं दिल्ली के जाने-पहचाने लेखक हरिवंश!

'नई सदी' के दिसम्बर, १९६१ के अंक में हरिवंशजी की एक कहानी आपने प्रकाशित की है, जिसका शीर्षक है 'विडम्बना'। शायद आपको पता नहीं कि यह कहानी मूल रूप में हरिवंशजी ने नहीं लिखी है। यह कहानी एक विदेशी कहानी का (मुझे अभी नाम याद नहीं आ रहा) अनुवाद है। सिर्फ इतना ही है कि उक्त विदेशी कहानी में चित्रकार के चित्रों की जगह प्रसिद्ध पुराने चित्रों को खरीदकर संग्रह करनेवाले व्यक्ति के बारे में लिखा गया है। वह कहानी कुछ अधिक लम्बी भी है।

कृष्णकुमारजी, अगर वैसे देखा जाय तो ये सारी बातें महत्त्वपूर्ण नहीं भी कही जा सकती हैं। पर, आप ही कहें, क्या इन्हें नजरअन्दाज किया जा सकता है?

—विचारकेतु

द्वारा : 'पुस्तक जगत', ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, पटना-४

साहित्य, राजनीति और राजनीतिकता

प्रकाशक तो रस-साहित्य, शोध-साहित्य और बोध-साहित्य सबका व्यवसाय करता है। इनमें से किसी में कम और किसी में ज्यादा उसने काम किया है—ऐसी शिकायत उसके प्रति करने का कोई आम अर्थ नहीं है, क्योंकि वह तो माँग के अनुसार बाजार कायम करने का पहला काम करता है। हाँ, यह दूसरी बात भी अहम है कि वह जिसका बाजार लगाता है, वह और-और शारीरिक मुहैयों में नहीं है; बल्कि वह नैतिक और बौद्धिक मुहैयों में है। इसीलिये उसपर बात न कर यहाँ साहित्य की माँग, राजनीति की माँग और राजनीतिक साहित्य की माँग के एक मामूली पहलू पर ही सोच लेने को मन होता है। हम हिन्दी के हैं, स्वभावतः इस पहलू में अपनी बात की तरह इसे रखना हमारे लिये स्वाभाविक है।

हम साहित्य से बात उठाते हैं। देश को आजादी मिलने से पहले की हमारी आजादी चाहनेवाली राजनीति और आजादी मिलने के बाद आजादी निबाहनेवाली राजनीति ने हमारे हिन्दी साहित्य से क्या लिया और क्या दिया? साहित्य से हमारा माने है—द्विवेदी, प्रेमचंद, निराला आदि। तय है कि इस लेन-देन का शायद कोई कण भी हमारे यहाँ की राजनीति के पाठों और पाठ्यों में है—न इसे अध्यापक-प्राध्यापक कह-सुन सकते हैं और न राष्ट्र के, खासकर हिन्दी बोलनेवालों के क्षेत्र के, नेता। फिर वे किस साहित्य की लेन-देन राजनीति में जानते, पढ़ाते और सुनाते हैं? वे सिर्फ विदेशी राजनीति के उसूलों और साहित्यों की राजनीति से लेन-देन को, या बहुत हुआ तो देश में धर्म। राजनीति के कुछ पिछले रहनुमाओं की किताबों को ही इस मामले में कह-सुना छोड़ते हैं। ऐसा वे आजादी के पहले भी करते थे और आज भी करते हैं। आखिर ऐसा वे क्यों करते हैं? ऐसा वे सिर्फ इसलिये करते हैं कि अँगरेजी भाषा और सभ्यता के मार्फत ही वे इस देश की बातें पहले भी समझते थे और आज भी समझते हैं। वे निराला को समझें या न समझें, हमें और निराला को भी इससे कुछ वास्ता नहीं। मगर वे रवीन्द्रनाथ को समझते हैं। इधर दक्षिण ने जब उत्तर भारत के एकाधिकार को समझने की भावना से कुछ बाँट-बखरे जैसा हल्ला किया तो वहाँ के भी कुछ लचीले साहित्यकारों को जैसा-तैसा, लाचारी के नाम शुक्रिया के बतौर, समझ रहे हैं। मगर उनका दावा रवीन्द्रनाथ को भरपूर समझने का है। सारे देश में इतने धूम-धड़क्के के साथ गाँधीजी से लेकर आजतक ये लोग रवीन्द्रनाथ को ही इतना क्यों समझ रहे हैं? इसके दो कारण हैं। पहला कारण तो वही उनके अँगरेजी में सारी बात समझने का है। रवीन्द्रनाथ को भी इस बात का दुख हुआ था कि वे बहुत दिनों से कविता लिख रहे थे और बहुत जमाने तक लिखते जाते मगर इस देश में शायद ही उन्हें पढ़ने की इतनी सारी कोशिश की जाती जितनी कि अँगरेजी और विदेशी भाषाओं के तरजुमे पर नोबल-प्राइज मिलने के बाद की जा रही है। इस बात से यही पता चलता है कि ये देश के नेता किसी स्वदेशी के विदेश द्वारा सम्मानित होने पर ही उसे सम्मान देते हैं। आज भी यही सम्मान की हालत सत्यजित राय की है और कल भी यही असम्मान की हालत प्रेमचन्द और निराला की थी। दूसरे कारण का इतिहास हमारी आजादी की लड़ाई के दिनों से ही चला आ रहा है। आजादी की लड़ाई के दिनों में साहित्यकारों के दो प्रकार थे। साहित्यकार क्योंकि क्रान्तद्रष्टा होता है, इसलिये उसके ये दोनों प्रकार उस जमाने के आजादी के आन्दोलन करनेवालों के किसी भी ऐसे प्रकार से कहीं ज्यादा स्पष्ट थे। उस वक्त साहित्यकारों का एक ऐसा दल था जो सिर्फ विदेशी शोषण और शासन को हटा देना चाहता था—जोर से या मजे-मजे में, यह बंकिम या रवीन्द्रनाथ का फर्क है—

मगर सिर्फ हटा ही देना चाहता था, और कुछ नहीं। दूसरा तबका था, जो अँगरेजी शासन और शोषण को जिस-किसी तरीके से, बल्कि जोर तक से हटा तो देना ही चाहता था; मगर इसके साथ ही अँगरेजों के जाते ही अँगरेजों जैसा या शायद उससे भी बुरा देशी शोषण या शासन जारी न हो जाय, इसके लिये भी काफी सचेष्ट था। इस दल में काजी, निराला, प्रेमचन्द वगैरह को रखा जा सकता है। सेवासदन और प्रेमाश्रम और रंगभूमि की परम्परा के बाद गोदान और उससे छलाँग मारकर आखिरी वक्त से पहले 'हंस' के ढंग पर उतर आने के साहित्येतिहास से, हमारी इस दलील के प्रसंग में, उस समय की राष्ट्रीय राजनीति को मिलाकर देखा जा सकता है—और वहीं हमारी बात का काफी प्रमाण होगा; और साथ ही कुकुरमुत्ता, मँहगू मँहगा रहा आदि से लेकर निराला के सनक जाने और अग्निवीणा तथा लोकगीतसृष्टि से लेकर काजी के सनक जाने के कारणों तक में यही आजादी के पहले और आजादी के बाद का इतिहास है। इन दूसरे गिरोह के साहित्यकारों में, अँगरेजों के बाद देशी शोषकों या शासकों का अँगरेजों जैसा या उससे भी बदतर निजाम जारी न हो, ऐसा शक पैदा होने की वजह भी यही थी कि उस राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता अँगरेजी और अँगरेज पंडितों के कहे के मुताबिक ही इस देश की भाषा, संस्कृति और हैसियत को समझकर आन्दोलन कर रहे थे, और वैसे ही साहित्य और साहित्यकारों से लेन-देन बरत रहे थे। यहाँ पर यह साफ कर देना जरूरी है कि यह बात सिर्फ उत्तर भारत में ही अधिक हुई; तिलक के बाद तो और भी अधिक, और मालवीय के बाद तो उससे भी अधिक, और पटेल के बाद तो सबसे अधिक। मगर दक्षिण भारत में तिलक तक तो यह बात थी ही नहीं, और तिलक के बाद से अबतक एक-आध प्रतिशत हुई भी हो तो वह उत्तर भारत की एजेन्सियों की ही बदौलत। आज अगर दक्षिण भारत अँगरेजी का नारा देता है तो अपनी मातृभाषा के प्रति सम्मानजनक योग्यता के बाद ही, और हमारे नेताओं द्वारा बरती जानेवाली अपनी मातृभाषा और उसके सच्चे-सधे साहित्य के प्रति उपेक्षा जैसी नादानी को ताड़कर, और इस नादानी के बावजूद हमारी अँगरेजी और अँगरेजियत की हेंकड़ी पर हँसते हुए ही। इस प्रकार, इस देश की भाषा और साहित्य को, जिसमें हिन्दी कुछ बहुतों की बोली है, कुछ वैसे ही, एक जमाने के इस मतलब से सधे हुए नेताओं ने बालू के घिरौंदे रचनेवाले बच्चों का खेल बना दिया है, कि मेरा घिरौंदा गिरा तो तेरा क्यों बना रहेगा!

बचा राजनीतिक साहित्य का प्रश्न। तो जब अपने यहाँ स्वतंत्र और उदार साहित्य के सम्मान के बजाय खुशामदी या उदास साहित्य का ही आज प्रचलन और प्रचालन है तो अपने यहाँ की नई कोशिशवाली राजनीति ही क्या? जो कुछ है, ३०-५० साल पहले से पहले की अपने यहाँ की अँगरेजी ढंग की व्याख्या या विदेशों के शास्त्रों या शासनों की उड़-उड़ाकर आई हुई कुछ कतरनें। भूत की भाषा और भविष्य की आशा जैसे यूटोपिया या निर्गुण पर जरूर पढ़ा जाय, खासकर रस-साहित्य तो इसपर काफी पढ़ता-सधता है; मगर राजनीति?

इसी तरह, सरकारी और संसारी साहित्य-पुरस्कारों की भी बात देख ली जाय। कोयसिमोदो, कामू, पास्तरनाक, इवो आन्द्रिच—ये सब हमारे लिये विदेशी हैं—इन्हें नोबल-प्राइज के पहले कौन जानता था? यदि किसी खास सूचना-पढ़ाकू ने पहले से नाम भर जान लिया हो तो दूसरी बात है, मगर देश के साहित्य-पिपासुओं की सारी बात है यहाँ। इन्हें न जानने का कारण? कारण वैसे ही दो हैं। अपने यहाँ का अँगरेजीदाँ वर्ग किसी को अँगरेजी में तब पढ़ता है जबकि उसे बड़ा भारी विदेशी सार्टिफिकेट प्राप्त हो। हम बड़े अँगरेजीदाँ वर्ग की बात कर रहे हैं, और उनकी, जो राजनीति को भी पालते-पोसते हैं। छोटे नौकर-चाकर जैसे कर्मचारी पढ़ भी लें तो उनकी प्रशंसा-निन्दा को तो हर शर्त से अयोग्य समझा जाता है। दूसरा कारण है कि हमारे यहाँ अच्छी चीजों का, उन विदेशी भाषाओं में, जिनके जाननेवालों द्वारा पुरस्कार मिलता या अच्छी प्रशंसा मिलती है, अनुवाद अबतक नहीं होता। रवीन्द्रनाथ का हुआ था, अतः उन्हें मिल गया। हम खुद अपने देश में इधर के दो दशकों के बँगला, मराठी, हिन्दी आदि के चालीसियों नाटक, कथा और काव्य जानते हैं जिन्हें साहित्य की कोई भी पंचायत कामू-कोयसिमोदो-आन्द्रिच से

किसी कदर कम नहीं मानेगी—वस्तु और शिल्प दोनों ही विषय में। और, इसी तरह रवीन्द्र के गीतांजलि-काल और उससे कुछ काफी पहले की ऐसी चीजों को भी जानते हैं, जो वस्तु और शिल्प दोनों मामले में गीतांजलि से अच्छी हैं। मगर, अनुवाद और उनका प्रचार न हो सकने की ही बात बच जाती है। यह बात भी नहीं कि सरकारी या संसारी पुरस्कार भी उपस्थितों के मामले में तमीज के ही होते हों। नमूने के लिये 'डॉ० जिवागो' को ही लिया जाय; हमारे इसी अंक में, 'गीत मैं कैसे लिखूँ', जिसे उत्तर प्रदेश सरकार ने पुरस्कार दिया है, उसकी समीक्षा देख ली जाय और शक मिटाने के लिये उस किताब को भी देख लिया जाय। ऐसे ही,'जनभारती' वर्ष ६, अंक २ में केन्द्रीय सरकार द्वारा पुरस्कृत 'आषाढ़ का एक दिन' की समीक्षा देख ली जाय। यह अलग है कि 'जिवागो' के पुरस्करण के पीछे एक राजनीतिक चाल थी, जबकि इन दोनों के पुरस्करण के पीछे ठेठ नादानी या खास लल्लो-चप्पो—राजनीतिक चाल से भी बुरी चीज—है। हम यों अपने अगल-बगल की भगिनी-भाषाओं को समझ लेते हैं, मगर हमारा साहित्यवाला कोई दखल उतना वहाँ नहीं है जितना कि हिन्दी पर है। इसीलिये कहना पड़ता है कि हिन्दी के क्षेत्र में जनमे हुए राजनीति के नेताओं की, हिन्दी जानने-समझने के मामले में, हालत बहुत खराब है; और इसका पिछले जनम जैसा ही कारण उनका अँगरेजी के प्रति परकीया जैसा प्रेम है। अनुवाद के मामले में एक उदाहरण यह है कि जब ३-४ साल पहले इवो आन्द्रिच की चीज नोबल-समिति के सामने गई थी, उसी वक्त से लेखक के देश के दूसरे देशों में दूतावासों ने उन देशों की भाषाओं में उसकी कृतियों का अनुवाद कराना शुरू किया। इसी का नतीजा है कि हम तीन साल पहले, शायद मोतीलाल-बनारसीदास का प्रकाशित, आन्द्रिच का हिन्दी अनुवाद पढ़ सके हैं। काश, हमारे देश के साहित्यकारों और प्रकाशकों का कोई ऐसा निश्चिन्त पंचायतन होता, जो देश की एक-दूसरी भाषाओं में और विदेशों की प्रमुख-प्रमुख भाषाओं में गत वर्ष के भाषासाहित्यों की सर्वोच्च ४०-५० रस-कृतियों को भली भाँति में उल्था कराने का

'पुस्तक-जगत के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ३) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य २५ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* साधारण अंकों में विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
,, द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
,, आधा पृष्ठ	:	२०.००
,, एक चौथाई पृष्ठ	:	१२.००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,
पुस्तक-जगत, ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

रजिस्टर्ड नं० : पा० ८०४ मूल्य : प्रत्येक अंक ३७ न० पै० वार्षिक : चार रुपये

अखिलेश्वर पाण्डेय द्वारा संपादित, सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, पटना-४ में मुद्रित एवं प्रकाशित

पुस्तक जगत

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

हिन्दी में प्रेमचंद के प्रेमियों की कमी नहीं है। औरत-मर्द, बूढ़े-जवान, विद्यार्थी और मामूली पढ़े-लिखे लोग, हिन्दू और मुसलमान—सब प्रेमचंद पर यकसाँ जान देते हैं। उनके लिए यह एक बड़ी, बहुत बड़ी खबर होगी कि प्रेमचंद-साहित्य में क़रीब ढाई हज़ार पृष्ठ नये जुड़ने जा रहे हैं—और यह कि आपके जाने-माने कथाकार अमृत की पाँच साल की जी-तोड़ मेहनत का नतीजा प्रेमचंद की एक सम्पूर्ण और प्रामाणिक साहित्यिक जीवनी अब जल्दी ही आपके हाथों में होगी।

हिन्दी के क्षेत्र में ही नहीं, भारतवर्ष भर में जहाँ भी हिन्दी का प्रचार है, कोई विद्यालय, कोई शिक्षा-केन्द्र, कोई सरकारी या अर्द्ध-सरकारी साहित्यिक प्रतिष्ठान ऐसा नहीं जिसमें सम्पूर्ण प्रेमचंद-साहित्य न हो। उनको सूचना भर मिलने की देर है, वे तुरंत ये नयी पुस्तकें मँगाकर अपना संग्रह पूर्ण कर लेना चाहेंगे। यह सब साहित्य एक साथ आगामी प्रेमचंद-जयन्ती ३१ जुलाई १९६२ को आउट किया जायगा। सारी पुस्तकें डिमाई आकार में, बड़े सुन्दर और सुरुचिपूर्ण गेट-अप के साथ प्रकाशित की जा रही हैं। उनका विवरण नीचे दिया जाता है :—

विविध प्रसंग—लेख-संग्रह	तीन भाग	पृष्ठ-संख्या लगभग १२००	मू० रु० २५.००
चिट्ठी-पत्री	दो भाग	पृष्ठ-संख्या लगभग ६००	मू० रु० १५.००
गुप्त धन—गुमशुदा कहानियाँ	दो भाग	पृष्ठ-संख्या लगभग ५००	मू० रु० १५.००
आरंभिक उपन्यास	एक भाग	पृष्ठ-संख्या लगभग ५००	मू० रु० १५.००
कलम का सिपाही—जीवनी	एक भाग	पृष्ठ-संख्या लगभग ७५०	मू० रु० १८.००

पुस्तकों की पृष्ठ संख्या और उनके मूल्य अनुमान से दिये जा रहे हैं। उनमें कुछ हेर-फेर संभव है।
हमारे अन्य प्रकाशनों की भाँति इन पुस्तकों पर भी हमारा साधारण व्यापारिक कमीशन २५ प्रतिशत दिया जायगा।
इन पर किसी भी दशा में कोई अतिरिक्त कमीशन देने की व्यवस्था नहीं है।

लेकिन

प्रकाशन से पूर्व अतिरिक्त कमीशन देने की भी व्यवस्था है और वह इस प्रकार—

३१ मार्च १९६२ तक प्राप्त ऑर्डर पर —३३⅓ प्रतिशत

१ अप्रैल १९६२ से ३१ जुलाई १९६२ तक प्राप्त ऑर्डर पर — ३० प्रतिशत

ऑर्डर कम-से-कम पाँच सेटों का होगा और एक तिहाई मूल्य ऑर्डर के साथ भेजा जाय।
सम्पूर्ण सेट का ऑर्डर ही स्वीकार किया जायगा। रेल-भाड़ा माफ़ होगा।
अपनी जरूरत को समझकर शीघ्र ही अपना ऑर्डर भेजें। यह मौक़ा फिर न मिलेगा।

हंस प्रकाशन • [illegible] • इलाहाबाद

राजनीति : प्रक्रिया और पाठ्य

★

श्री बलराम

मैं समझता हूँ कि सिद्धान्तबहुलता की गुंजाइश राजनीति और विज्ञान में जितनी अधिक हुआ करती है उतनी अन्य किसी विषय में आजकल नहीं होने वाली है। इसका कारण है: विज्ञान बड़ी तेजी से संहार, सृजन और साधन के रूप में ऐसे बढ़ रहा है कि 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति' वाला साहित्य में जो रमणीयता का सिद्धान्त था वह एकदम विज्ञान पर ही लागू है और यह संहार, सृजन और साधन का काम विज्ञान मानव और उसके परस्पर विरोधी वर्ग और तंत्र के लिये ही कर रहा है, अतः तदनुसार राजनीति भी वैसे परिवर्त्तनों के चक्कर में पड़ती है। यही आज के हिसाब से राजनीति की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में एक और शर्त्त जोड़ी जा सकती है। और वह है, विज्ञान को संहार, सृजन और साधन के पक्के माल तैयार करने के लिए कच्चे माल जहाँ से मिलते हैं और पक्के मालों का जहाँ प्रयोग और खपत देखी जा सकती है उन क्षेत्रों या देशों से नृशंस या बुरा सम्बन्ध। यह तो हुई एकदम आज की बात।

अब जो हम राजनीति की किताबें स्कूलों, कालेजों में पढ़ते हैं या जो किताबें हमें खुले बाजार मिलती हैं, खासकर अपने देश में, उनपर ऊपर कही हुई राजनीति की प्रक्रिया कितनी लागू या प्रमाणित है, यह सोचा जाय। हमारे देश में इस समय चार प्रकार के राजनीतिक साहित्य जारी हैं। पहले तो वे जो छात्रों को ग्रंथ के प्रकार में पढ़ाए जाते हैं। दूसरे, जो राष्ट्रीयता के नाम पर अपनी प्रथाओं और परम्पराओं और आधुनिक विज्ञान की उन्नतियों को संग समेटकर चलना चाहते हैं, ताकि सारी प्रथाओं और परम्पराओं को ज्यों-का-त्यों लेकर हम भी जियें और हम विज्ञान के चस्के से भी सटे रहें—अर्थात् तथोक्त गाँधीवादी, टाल्स्टायवादी साहित्य। तीसरे, वे जो देश की राजनीतिक संस्थायें विभिन्न उपस्थित समस्याओं पर अपने समाधान देने के तौर पर प्रकाशित करती हैं। चौथे, वे जो विदेशी राजनीतिज्ञों द्वारा अपने क्षेत्र या प्रभावक्षेत्र या हमारे देश के लिए इरादे या अध्ययन के लिए प्रस्तुत और प्रकाशित होकर यहाँ आते हैं।

पाठ्य के रूप में जो राजनीति पढ़ाई जाती है वह गुजरा इतिहास या कुछ खामखयाली या जमानेदराज के सिद्धान्तकारों के कुछ फैकड़े-फब्तियों के सिवा कुछ नहीं है। अनुसन्धान की बात हो तो अरस्तू, मनु, चाणक्य की टीका-टिप्पणी की-कराई जाय। मगर, जब आज के विद्यालय आज को समझाना और उससे भविष्य को उद्वेलित करना अपना लक्ष्य रखते हों, जोकि उन्हें रखना चाहिए, तब यह कितनी वाहियात बात है कि आज के प्रभाव से कतई परे की यह लिखी चीजें विद्यार्थियों के सिर मारी जा रही हैं। एशिया, अफ्रीका और उसमें भी हिन्दुस्तान जैसे पिछड़े देश, जिनकी आँख सिर पर आ टपकी हुई औद्योगिकता और पीठ पर धौल की तरह पड़े हुए आज के विज्ञान से खुली है, आपरूपी आई औद्योगिता और वैज्ञानिकता के कारण १००-५० साल पहले जागे योरोप और अमरिका जैसे देशों की उन्नतिजन्मा राजनीति से अपनी अवनति में क्या काम ले सकेंगे? हमारा समाज, हमारा पड़ोस-सम्बन्ध और हमारी घरेलू स्थिति की कोई सन्तुलित चर्चा न देकर जो राजनीति-ग्रंथ हमें और-और देशों की उन्नत स्थिति के सामाजिक विचार और प्रक्रिया बताते हैं, वे हमारे पाठ्य न हों, वही अच्छा। आश्चर्य है कि देश की स्थिति और वर्गगठन के बीच अरसे से काम करने वाले तमाम देशी राजनीतिक दलों द्वारा समयानुरूप प्रकाशित उनकी ग्रन्थावलियों तक की कोई चर्चा इन पाठ्यग्रन्थों में नहीं होती है और उनके किसी भी कथ्य या वक्तव्य की चर्चा तक को अपने देश की राजनीति समझाने में नहीं उद्धृत रखा जाता है। इस प्रकार, लगता है कि हमारे यहाँ के पाठ्यों वाले राजनीति-ग्रंथ या तो योरोपीय पाठ्य हैं, या अंग्रेजी राज के समय तक के अपने यहाँ के इतिहास के पर्याय।

दूसरे प्रकार के गाँधीवादी ढंग के धर्ममुख राजनीति के ग्रंथ श्राद्धपूर्वक श्रद्धा की चीज जैसे ही हो गये हैं। धर्ममुख होने का नतीजा तो यह होता ही है, और उसके साथ नामलेवापन ने तो यह रंग और गाढ़ा कर दिया है। फिर भी, इससे अपने देशहित की कुछ बात निकाली जा

सकती है। मगर, वह बात उतने मिकदार से कतई अधिक नहीं, जितने मिकदार में योरोपीय विचारों से। इधर इस गाँधीवादी विचारों पर पढ़ाई के घंटे भी कॉलेजों में कायम किये गये हैं और खास पेपर या कोर्स भी खोले जा रहे हैं। मगर, जैसे अपने देश की आज की भाषा और साहित्य की स्थिति में, एम० ए० में विद्यापति लेने का जो अर्थ होता है, वैसा अर्थ भर ही राजनीति में गाँधीवाद की पढ़ाई रखने का होगा। एक प्रक्रियाविहीन चर्वित-चर्वण चलाने का बौद्धिक विलास एक समय इस देश के दर्शन-मनीषियों में बहुत कुछ चल चुका है। यह भी बहुत बढ़ाने पर वैसा ही शास्त्रार्थी रूप ले लेगा। इससे अधिक नहीं।

हाँ, विभिन्न देशीय राजनीतिक दलों द्वारा प्रस्तुत घोषणापत्र, सिद्धान्त, कार्यक्रम, विचारग्रन्थ ही तुलनात्मक-रूप से पढ़ने-पढ़ाने की चीज हो सकते हैं। इससे जो आज छात्र हैं, वे कल के नागरिक, उन दलों के कार्यक्रम और परस्पर मतों को समझ कर देश की राजनीति और तदनुसार ही विश्वनीति को समझने के योग्य ठहर सकेंगे। आखिर उन छात्रों को यही देशीय राजनीति तो जाननी है और तदनुसार इस देश की भवितव्य राजनीति में योग-संयोग उपस्थित या विवेचित करना है। मगर, आश्चर्य है कि इस देश के छात्र तो क्या, राजनीति-अध्यापक तक इसके लिए तैयार न होकर आज तक ब्रिटिश लेबर-पार्टी और कंजरवेटिव जैसा ही अध्ययन कर-करवा रहे हैं। जैसे कि वे भारत से सम्बन्ध न रखकर उधर ही सम्बन्ध सोच-सिखा रहे हों।

यों इस विषय के सिद्धान्त-ग्रंथ तो इतनी तेजी से पुराने हो रहे हैं कि कल का, किसी दल का स्वीकृत सिद्धान्त आज बुरी तरह बदल जाता है या वह ताख पर रखा रहता है और आपद्धर्म के नाम पर दल उसके विपरीत दूसरे-दूसरे अमल करने लगता है। जिस दल के हाथ में जहाँ का जितना मजबूत शक्ति-संचय होता है, वह उतनी ही तेजी से अपने दो कदम पहले स्वीकृत सिद्धांत से अलग होकर आपद्धर्मी हो उठता है। अतः, सिद्धान्त-ग्रन्थ इस मामले में शून्य के बराबर अपूछी स्थिति के हो जाते हैं। यों कोई नुस्खेबाजी भी तो नहीं है राजनीति। यह तो एक दलगत प्रक्रिया है, और दलों के बदलते हुए विचारों का क्रमशः अध्ययन। अतः इसी दृष्टि से देखना और दिखाना होगा। जातीय या साम्प्रदायिक अध्ययन से लेकर शक्ति-सन्तुलन के प्रयासों तक के इतिहास में राजनीति की कोई स्थिर प्रक्रिया ऐसी नहीं है कि उसे किसी तंत्रविशेष के घेरे में बाँध कर दिखा दिया जाय। कबीला, सेना, सामन्त, राज, पूँजी—सभी में अपने-अपने ढंग से मत प्रकट करने और आज्ञाबद्ध रहने का प्रजातंत्र रहा है। हाँ, इस आज्ञाबद्धता या मताधिकार के मात्राभेद को इन सभी में समझना होता है। आज भी समाजवाद, साम्यवाद, जनवाद, जनकल्याणकारी आदि फार्मूले में व्यक्ति की सीमा और शक्ति की सीमा के अन्तर को समझना होगा, तो एक ताजाताजी आज के ही विभिन्न शासनों और उनके विरोधों के आन्दोलन और पर्चे देखने-सुनने और जानने होंगे। इस विषय में यदि हम अखबारी हलचलों से निष्कर्ष पढ़ाने की स्थिति नहीं जुगा भी पायें, तो कम-से-कम विभिन्न दलों के प्रकाशित सामयिक साहित्य और वक्तव्य तो हमें मिलते ही हैं। राजनीति और विज्ञान को वैसे मृत साहित्य आज शायद ही समझा सकें जिन्हें आज के प्रयोगियों और दलों ने कभी का ताक पर रख छोड़ा है।

पर मुझे उनसे सहानुभूति है, नये युग की संस्कृति की खोज में हर संवेदनशील व्यक्ति को (लेखक होता ही है) कोलम्बस की तरह निकल पड़ना होगा। फिर, यदि उसे हर उभरती हुई जमीन नयी दुनिया लगे तो भी आश्चर्य की बात नहीं है। इस बात को समझने में ज्यादा दिक्कत नहीं होगी कि एक मध्ययुगीन शायरी और यूरोपीय पतनोन्मुखी रोमान्टिक कविता की अधकचरी (गद्दर) मनोवृत्ति का व्यक्ति जिन्दगी में प्रवेश कर अनुभव प्राप्त करने का नारा लगाए। यथार्थ के नाम पर जीवन के हर स्तर से आकर्षित और मुग्ध होना और ऐसे वातावरण को जो धर्म, नैतिकता तथा सामाजिकता से हीन मुक्ति के अनुकूल हो, महोत्सव के रूप में घोषित करना एक भिन्न बात है।

—रघुवंश (कल्पना १२३)

विशिष्ट ऐतिहासिक एवं सामाजिक उपन्यास

चौलादेवी	धूमकेतु	५.५०	बीरबल	रामचन्द्र ठाकुर	४.५०
नगर सुन्दरी	,,	४.२५	मीरा प्रेम दीवानी	,,	५.००
वैशाली	,,	५.५०	आम्रपाली	,,	४.५०
राजकन्या	,,	५.५०	जय महाकाल	परदेशी	४.५०
बाला जोगन	रमणलाल देसाई	६.००	जब भारत जागा	उमाशंकर	३.५०
क्षितिज	,,	५.००	महारात्री	यशोधर मेहता	५.५०
शौर्यतर्पण	,,	५.००	नर्तकी	उमाकान्त	५.५०
पहाड़ के फूल	,,	३.५०	सर्वमंगला	मामा वरेरकर	३.००
राय हरिहर	गुणवंत राय	३.५०	रूपमती	जगदीश कुमार	५.००
कृष्णा जी नायक	,,	४.००	काला पानी	ईश्वर पेटलीकर	३.००
बुक्काराय	,,	५.५०	नया रास्ता	रतिलाल त्रिवेदी	३.७५
राय रेखा	,,	५.००	काम और कामिनी	प्रेमा कंटक	६.००
बावन पत्ते	कृष्णचन्द्र	५.५०	विद्रोही आत्मायें	खलील जिब्रान	२.७५
एक लड़की हजार दीवाने	,,	३.००	भगवान बुद्ध की आत्मकथा	परदेशी	४.००

उत्कृष्ट कहानी - संग्रह

तीर्थयात्रा	सुदर्शन	४.००	मेरी श्रेष्ठ कहानी	संकलन	४.००
सुदर्शन सुधा	,,	४.००	श्रेष्ठ हास्य कथायें	,,	४.००
पनघट	,,	४.००	फूलदान	कृष्णचन्द्र	३.००
सुप्रभात	,,	३.००	खट्टे अनार मीठे अनार	,,	३.००
नगीने	,,	३.००	सपनों का टुकड़ा	कुलभूषण	२.५०

भारत के संतों की जीवनी पर आधारित दो अनोखी कृतियाँ

१.	भारत के संत महात्मा	रामलाल	१०.००
२.	भारत के मनीषी भाग–१	,,	२.००

प्रमुख पुस्तक - विक्रेताओं से प्राप्य

वोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड,

३, राउन्ड बिल्डिंग, कालबादेवी रोड,

बम्बई–२

विश्वविद्यालयों के पाठ्यग्रन्थ

●●

राँची विश्वविद्यालय स्नातक-कक्षा के लिये स्वीकृत

काव्य में अभिव्यंजनावाद

काव्यगत अभिव्यंजनाओं के अद्यतन सिद्धान्तों का सुसम्बद्ध समीक्षण

लेखक : श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु — मूल्य : ५·००

●●

पटना विश्वविद्यालय स्नातक (प्रतिष्ठा) कक्षा के लिये स्वीकृत

विश्वराजनीति-पर्यवेक्षण

विश्वराजनीति-विषय पर मननीय समीक्षण वाले निबन्धों का संग्रह

लेखक : डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा — मूल्य : ५·५०

●●

पटना विश्वविद्यालय स्नातक (प्रतिष्ठा) के लिये स्वीकृत

आधुनिक भाषाविज्ञान

भाषाविज्ञान के अद्यतन सिद्धान्तों एवं प्रतिपादनों पर शास्त्रीय समीक्षण

लेखक : प्रो० पद्मनारायण — मूल्य : ३·००

●●

भागलपुर विश्वविद्यालय स्नातक-कक्षा के लिये स्वीकृत

संचयन

हिन्दी गद्य की विकासपरम्परा की श्रेय रचनाओं का सुसंपादित संचयन

सम्पादक : प्रिंसिपल कपिल — मूल्य : ३·००

●●

राँची विश्वविद्यालय के प्राग्विश्वविद्यालय एवं स्नातक-कक्षा के लिये

रचना-कला

हिन्दी भाषा-शैली का शिक्षण देनेवाली समर्थ पुस्तक

लेखक : श्री सुरेश्वर पाठक विद्यालंकार — मूल्य : ३·००

●●

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

लेखन, आगे.... जीवन, आगे.......

★

श्री मानस रायचौधुरी

रवीन्द्रनाथ के विषय में एक कहानी प्रचलित है।

एक दफा रेल से जब वे बोलपुर जा रहे थे तो रास्ते में एक भले आदमी ने उनसे पूछा—'महाशय, आप क्या करते हैं?'

तबतक रवीन्द्रनाथ 'विश्वकवि' नहीं हुए थे। उन्होंने विनयपूर्वक उन भले-मानस को उत्तर दिया था—'मैं लिखता हूँ।'

—'लिखते हैं, सो तो समझा। किन्तु करते क्या हैं? अर्थात् आपका पेशा?'

इसके बाद उन भले-मानस को रवीन्द्रनाथ ने क्या जवाब दिया, इसका हमें पता नहीं। हो सकता है कि उस समय उन्होंने कोई जवाब न दिया हो और जवाब देने की स्थिति में भी न हों। केवल डिब्बे से खिड़की के बाहर पीछे छूटते हुए तार के खम्भों को गिनते रहे हों, उदासीन होकर।

केवल रवीन्द्रनाथ ही नहीं, पृथ्वी के हर किसी पेशेवर लेखक को जीवन में किसी-न-किसी समय ऐसे प्रश्न का सामना करना पड़ता है। प्रश्नकर्त्ता कभी दूसरा आदमी हो सकता है, कभी स्वयं लेखक ही अपने प्रति। जर्मन कवि राइनेर-मारिया-रिलके तो सारे जीवन अपने प्रति यह प्रश्न करता ही रह गया: शिल्प, या सुख? 'सुख' के नाते उसने निश्चय ही कोई स्वाभाविक जीविका की बात सोची होगी।

तो क्या साहित्य स्वाभाविक जीविका नहीं है? निश्चय ही नहीं है। लिखने के द्वारा किसी के घर-गैरेज बना लेने के पहले तक साधारण जन उसके साहित्य-कर्म को किसी भी पेशे के पर्याय में लाने के लिये राजी नहीं है।

पूरे तौर पर लेखन पर निर्भर करके अपना अन्न-संस्थान बना सकना कितना कष्टकर है, इसे भुक्तभोगी के अलावा भी बहुतेरे जानते हैं। केवल हमारे ही इस देश में क्या, लेखकों के 'स्वर्गराज्य' अमेरिका में भी साधारण लेखकों की अवस्था वैसी आशाप्रद नहीं है। हाल में ही अपने एक ग्रंथ में वहाँ के एक लेखक ने इस विषय पर थोड़ा प्रकाश दिया है: तीन सौ, साढ़े तीन सौ पन्नों का एक उपन्यास लिखकर एक नवीन लेखक सोलह सौ से अठारह सौ तक डालर की दक्षिणा पा सकता है। लेकिन इस पूजी से एक आदमी का अमेरिका जैसे देश में मोटे तौर पर भी सात-आठ महीने से अधिक का गुजारा होना असम्भव है। तिस पर, सात-आठ मास का अन्तर देकर एक की संख्या में भी पुस्तक प्रकट करना सहज व्यापार नहीं है। इसीलिये इस पूँजी को अन्य छोटी-मोटी लिखाई की आय से सहायता पहुँचना पड़ता है। सिनेमा-टेलिविजन का या 'सुलभ अन्तर्जातिक संस्करणों' में प्रकाशित होने का सुयोग भी वही सब भाग्यवान लेखक पाते हैं जिनकी पुस्तकों की खपत कम-से-कम पचास हजार की संख्याओं तक हो जाया करती है।

तो वैसी स्थिति में उस देश के लेखकों का स्त्री-पुत्र-परिवार सब समेत कैसे गुजारा होता है?

उन्नीसवीं शताब्दी के बीचोंबीच या शेषार्द्ध में हबू-लेखकगण छापाखानाओं में शिक्षानवीसी करते वहाँ दिखाई देते हैं। अस्वास्थ्यकर आबोहवा में उदयास्त पर्यन्त खटकर उनमें से जो कई एक अपना लेखन जमा पाये, उनमें से ही कई एक परवर्त्ती युग में कृती लेखक के रूप में सम्मान पा सके।

परवर्त्ती युग में लेखकयशप्रार्थीगण संवादपत्रों की ओर झुकने शुरू हुए। तब हमारे देश के ही समान, बीसवीं सदी के पहले दशक में वहाँ के लेखकों का सांवादिक जीवन वैसा सुख का नहीं था। महीने की तीस-चालीस डालर कमाई पर उन्हें संसार चलाने में बड़ी दुरूहता थी। इसीलिये तब कवि और सांवादिक लिओनेल मोयेज के समान बहुतेरों को ही जीवन-बीमा के दलाल, पुस्तकों के कानवेसर, गायक, पेशेवर भिखारी या गुंडा दलों के सरदार होकर अपना जीवन-यापन करना पड़ा।

दूसरे महायुद्ध के बाद अमेरिकी विश्वविद्यालयों में 'साहित्य-रचना' की शिक्षा देने के लिये 'क्रियेटिव राइटिंग' के क्लास शुरू होने पर इनमें से अनेक ही रातों-रात मास्टर बनकर हाजिर हो गये। प्रचण्ड उत्साह के साथ सिखलाई शुरू हुई— कहानी का 'क्लाइमेक्स' किसे कहा जाता है, चरित्र किस प्रकार आँकना चाहिए या साहित्य-समालोचना का मूलसूत्र क्या चीज है ? इस प्रकार, कालेज-कालेज में कुछ 'लेखक-प्रायों' और 'अर्द्ध लेखकों' की चाकरी जुट जाने पर भी, असली और अमली लेखकों की जीविका की समस्या वैसी ही जटिल रह गयी।

१६४० में वहाँ जो स्थिति थी, आज भी वैसे ही कोई नवीन लेखक अध्यापन का निर्दिष्ट वेतन, सत्-जीवन, ग्रीष्म की लम्बी छुट्टी इत्यादि तत्काल-सुख की बात सोचकर और उधर पैर बढ़ाकर थोड़े ही दिन बाद यह समझ सकता है कि मास्टरी और शिल्पकर्म दोनों ही दो अलग चीजें हैं। हो सकता है कि किसी-किसी ने दोनों को साध लिया हो। अपने यहाँ के बुद्धदेव बसु और हजारी प्रसाद द्विवेदी के समान वहाँ भी रावर्ट पेन या जॉन रैनसम् ऐसे ही हैं। किन्तु, यह होते हुए भी प्रश्न बच जाता है कि इन्होंने शिक्षिकता के लिये जिस परिश्रम और निष्ठा का अपव्यय किया (अपव्यय ही कहूँगा. क्योंकि ये मूलतः लेखक हैं) उसका सारा अंश साहित्य के लिये व्ययित होने पर हमलोग इनसे और भी कुछ मौलिक रचना उपलब्ध करते।

गले पर चद्दर या टाई लटकाकर, पुरोहित के जैसी गहरी आवाज में कालिदास, तुलसी, रवीन्द्र या शेक्सपीयर पढ़ाने में शोभन जीवन की गरिमा हो सकती है, किन्तु जिन्होंने अपने मनप्राण से अपने को लेखक बनाना चाहा, उनके लिये तो यह सब कुछ भी नहीं है। इसके अलावा, इस हमारे देश के समान ही उस देश के शिक्षक का वेतन एक दक्ष श्रमिक की रोजगारी का आधा भी नहीं है। गर्मी की लम्बी छुट्टी इसीलिये मृगतृष्णा है। अवकाश के समय बेनामी नोट्स की रचना या घरू ट्यूशन के तौर पर अमेरिकन मास्टर को भी 'समर-स्कूल' में पढ़ाकर अपने बढ़ते खर्च को पूरा करना पड़ता है।

और, चाकरी का स्थायित्व ? इस मामले में अच्छा पढ़ाने से भी काम नहीं चलता। प्रधानाध्यापक के साथ-साथ कालेज के कर्मकर्त्ताओं को भी संतुष्ट रखना होगा। तथाकथित विपज्जनक या वास्तवमुखी उपन्यास लिखने के कारण केवल अध्यापक की अपनी ही नौकरी खारिज नहीं होती, बल्कि साहित्य-विभाग में उसका पहुँचा हुआ मूल्य भी कमा दिया जाता है।

एतत्सत्व भी, यदि अध्यापक-लेखक एक हलचलवाली पुस्तक लिख डालते हैं और उसकी यथेष्ट बिक्री होने लगती है, तो वे संभवतः शिक्षकता छोड़ देंगे और एकान्त होकर लिखने के लिये गाँव में एक छोटी-सी झोपड़ी खरीदकर तैयार करेंगे और दुगने उत्साह से और एक वैसी ही पुस्तक लिखने में मन लगा बैठेंगे। किन्तु, थोड़े ही दिनों में वे पायेंगे कि पहले की तरह अब चटपट लिखना सम्हल नहीं रहा है। उस पुस्तक के छपने के बाद हो सकता है कि प्रकाशक भी कहे कि "नहीं, यह पहले जैसा जमा नहीं।"

असल में, दूसरी रचना प्रत्येक उपन्यास-लेखक के जीवन में एक चरम परीक्षा की चीज हुआ करती है। दूसरी पुस्तक के लेखक, उस लेखन में अपनी उन्नति और अवनति दोनों को ही बुला ले सकते हैं। अनेक मामलों में तो लेखक अपनी प्रथम रचना में ही जीवन की सारी श्रेष्ठ अभिज्ञताओं को व्ययित कर बैठते हैं और इसीलिये उनकी दूसरी रचना वैचित्र्यहीन हो उठती है। इसके अलावा, प्रथम ग्रन्थ में समालोचकों के निकट जो सम्भावना थी, परवर्त्ती में यह चरम अक्षमता या भंगिमा-दोष लगने लगती है।

दूसरी पुस्तक का कठिन बेड़ा पार लगाने के बाद, असल संग्राम प्रारम्भ होता है। एवं, कई-एक वर्ष के विरतिहीन अमानुषिक परिश्रम के बाद एक विषण्ण संध्या के समय लेखक यह समझने पाता है कि उसने जो सोचा था, वैसा तो हो नहीं सका। जो श्रम उसने लेखन के पीछे लगाया, उसे अगर दूसरे क्षेत्र में लगाता, तो और चाहे हो-न-हो, एक निर्दिष्ट रोजगार की व्यवस्था तो होती— और एक स्वच्छलता, स्थायित्व;······किन्तु अब तो सर के ऊपर से बहुत पानी गुजर चुका है। अब तो कागज-कलम के अलावा उसकी और कोई गति नहीं।
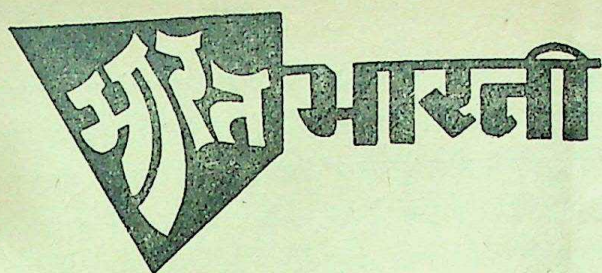
रवीन्द्रनाथ और देशभक्ति

★

श्री के० एस० राणा 'परदेश'

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को 'देशप्रेम' जैसे संकुचित घेरे में नहीं बाँध सकते। वे तो मानव से ऊपर महामानव के पद को प्राप्त कर चुके थे। और, संसार आज साक्षी है कि वे महामानव थे तथा जीये और मरे तो मनुष्यमात्र के लिए और विश्वप्रेम में वे ऐसे रँगे थे कि उन्हें कभी किसी देश के बारे में, जहाँ भी गए, किसी प्रकार की शिकायत न थी। वे "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना से ओतप्रोत थे। वे देशप्रेमी नहीं, बल्कि विश्वप्रेमी थे। वे भूगोल के घेरे को नहीं मानते थे। भगवान् की बनाई हुई हर चीज से प्रेम करते थे। देशप्रेम उनकी मानवता का एक भाग है. उनके देशप्रेम और विश्वप्रेम में अन्तर नहीं है। कवि के रूप में ही उनका देशप्रेम नहीं फूटा, बल्कि वे कार्यकर्त्ता के रूप में भी आये। उनका देशप्रेम राजनीतिक नहीं था। वे भारत की जनता को प्यार करते थे। उन्होंने निर्धन असहाय जनता के लिए काम किया। उनका कार्य यथार्थरूप में उनके लिए पथ-प्रदर्शक बना।

अपने गाँव के लोगों के जीवन को सुधारने के लिए उन्होंने व्यावहारिक निर्णय सामने रखा। उन्होंने पार्टी के आदमी या राजनीतिक रूप में नहीं, बल्कि स्वदेशी आन्दोलन को अपना कर अपनी देशभक्ति को प्रकट किया। वे स्वदेशी आन्दोलन द्वारा भारत को उन्नत करना चाहते थे। वे तालसताय की तरह राजनीति से अलग रहते हुए अपने साहित्य में साधारण जनता के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण सुधार के कार्य कर गये। इसीलिए वे कांग्रेस के सदस्य भी नहीं बने।

टैगोर को बहुत-से लोग केवल कवि और लेखक के रूप में ही जानते हैं और यदि ज्यादा ही जानते हैं तो विश्वकवि, विश्वप्रेमी के रूप में, परन्तु "देशभक्त" के रूप में बहुत ही कम जानते हैं। कुछ लोगों को शायद यह भी भ्रम हो गया है कि "वे देशप्रेमी नहीं, विश्वप्रेमी होने के कारण देश के लिए कुछ न कर पाये।" परन्तु ऐसा सोचना गलत है। उनके कार्य यह सिद्ध करते हैं कि वे प्रथम देशप्रेमी थे तत्पश्चात विश्वप्रेमी।

टैगोर के 'स्वदेशी समाज आन्दोलन' में राजनीतिक से बढ़कर आर्थिक दृष्टिकोण था। वे राजनीति की नींव अर्थ को मानते थे। जबतक भारतीय जनता की आर्थिक दशा न सुधरे तबतक राजनीतिक सफलता स्वप्नमात्र है। गाँव के सुधार हेतु उन्होंने स्वदेशी-समाज-आन्दोलन चलाया। लेनिन ने जैसे New Economic Policy रखा था उसी तरह टैगोर ने भी किसानों की उन्नति के लिए (आर्थिक दृष्टि को रख) Practical Solution रखा। उन्होंने इस नई Policy को कार्यरूप देने के लिए १९१५ में "Bengal Social Service League" में सक्रिय भाग लिया। लीग के कार्यक्रम इस प्रकार थे—

(१) अनपढ़ किसानों को पढ़ना सिखाया जाय।
(२) स्वास्थ्य और नर्सिंग के लिए कार्य किया जाय।
(३) मलेरिया, टी० बी० को दूर करने के लिए दृढ़ कदम उठाया जाय।
(४) बच्चों की मृत्युदर घटायी जाय।
(५) गाँव-गाँव पीने के लिए स्वच्छ पानी का इन्तजाम किया जाय।
(६) कोआपरेटिव क्रेडिट सोसायटी गाँवों में स्थापित की जाय।
(७) अकाल, बाढ़ के समय जनता को सामूहिक रूप से मदद दी जाय।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वे केवल Ivary Tower में रहने वाले कवि नहीं थे। वे यथार्थ की दुनिया में, देशभक्ति के लिए, अपने देश के गरीब किसानों की उन्नति के लिए, कविता की दुनिया से उतर आये थे। वे समझते थे कि कलाकार को किस प्रकार कार्य करना चाहिए। अपनी पुस्तक "City and Village" में वे कहते हैं "Our object is to try the flood the clo-

ked (Selted) bed of village life with the stream of happiness, for this the scholars, poets, musicians, artists have to collaborate to offer their contributions" । उन्होंने इस आदर्श की पूर्ति के लिए स्वयं ही कार्य नहीं किया, बल्कि शान्तिनिकेतन (विश्वभारती) में अन्य लोगों को भी इसके लिए प्रेरित किया।

वे अपने संगीत द्वारा लोगों को, अपने देश की मिट्टी को, किसान के काम को करने के लिए उत्साहित करते थे : "The sun shines, the rain pours down in shower. The leaves glisten in the bamboo grave. The smell of the newly tilled earth fills the air. Our hands are strong. Our hearts are glad, as we toil from morning to night to plough the land." वे आदर्शवादी होने के साथ-साथ कामों पर ज्यादा भरोसा रखते थे। "गोरा" में भी गाँव-सुधार की झलक स्पष्ट है। टैगोर ही पहले लेखक थे जिन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता को अन्तर्राष्ट्रीयता का स्थान दिलाया। पं० नेहरू ने एक स्थान पर यह स्वीकार किया है : "He has given to our nationalism the out look of internationalism." इसलिए टैगोर को हम भारतीय वैदेशिक नीति का संस्थापक कह सकते हैं। साहित्य-क्षेत्र में उनकी देश-सेवा सदा स्मरणीय रहेगी। उन्होंने जो कुछ भी लिखा बंगाली और अंग्रेजी में लिखा, परन्तु हिन्दी ने भी आप से काफी ग्रहण किया। रहस्यवाद और छायावाद की ओर प्रवृत्ति उन्हीं की रचनाओं से हिन्दी में जगी (जबकि रहस्यवादी कवियों में हिन्दी में कबीर चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी पहले हो चुका है)। "गीताञ्जलि" पर सन् १९१३ में उन्हें जो मान और सम्मान प्राप्त हुआ वह कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। उन्होंने इस रचना से साहित्यिक क्षेत्र में ही भारत को संसार में ऊँचा नहीं किया, बल्कि देश की विचारधारा को भी अन्य देशों में हमारे बन्धुत्व-भाव को प्रकट कर देश की महान् सेवा की।

वे विश्वकवि कहलाए। देश-विदेश में उनका ही नाम नहीं चला बल्कि देश को भी गर्व करने योग्य क्षमता मिली। उन्होंने "गीताञ्जलि" पर सन् १९१३ में विश्व-विख्यात 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त कर भारत के मस्तक को ऊँचा किया। उन्होंने देश-प्रेम से प्रेरित होकर अगणित रचनाएँ कीं जिनसे ज्ञात होता है उनके मन में देश के प्रति क्या क्या भावनाएँ थीं। इस विषय की रचनाओं में एक खास चमत्कार है जिसमें 'हाय हाय' नहीं बल्कि एक अद्भुत शंखनाद, जागरण-ध्वनि है। उनके गीत और कविताएँ सम्पूर्ण भारतीय जाति को संगठित रूप में जागरित करने की सामर्थ्य रखती हैं।

वे विदेशी-शासन के खिलाफ थे। अपनी कविता 'शिवाजी उत्सव' में वे शिवाजी का आह्वान करते हैं। वे कहते हैं : "अंग्रेज एक वणिक के 'मानदण्ड' को लेकर आये थे। रात होने पर वही 'मानदण्ड' 'राजदण्ड' के रूप में परिणत हो गया। उस विदेशी ने शिवाजी को एक दानव के रूप में प्रमाणित करने की कोशिश की।" इसी लिए कवि शिवाजी को बुलाते हैं—

"सेदिन कोथाय तुमि हे भावुक, हे वीर मराठो,
कोथा तव नाम !
गइरिक पताका तव कोथाय धुलायं होलो माटि
तुच्छ परिणाम "

"भारत तीर्थ" कविता टैगोर के देशप्रेम का उज्ज्वल प्रमाण है :

"हे मोर चित्त, पुण्यतीर्थे जागो रे धीरे
ऐइ भारतेर महामानवेर सागर तीरे"

इस कविता में कवि ने पहले भारत के गौरव का वर्णन किया, अन्त में वे कहते हैं कि वर्तमान भारत में—

"जले दुःखेर रक्तशिखा"

कवि चाहते हैं कि भारत के अपमान-लज्जा-भय दूर हो जायेंगे। आर्य-अनार्य-हिन्दु-मुसलमान-क्रिस्चीयन सबका आह्वान करते हैं :

"सबार परसे पवित्र करा तीर्थ नीरे,
आजि भारतेर महामानवेर सागर तीरे"

टैगोर का हृदय अपमानित भारतवासियों के लिए सदा दयापूर्ण रहा। पददलित लोगों को उठाने के लिए 'अपमानित' कविता में चेतावनी देते हैं :

"हे मोर दुर्भागा देश, जादेर कोरेछ अपमान,
अपमाने होते हबे ताहादेर सबार समान।"

इस कविता में कहते हैं कि अगर हम भारतवासी को नीचे गिराते हैं तो वे ही हमें नीचे गिरा देंगे। टैगोर कबीर की भाँति 'धूला मन्दिर' में कहते हैं; भगवान इन्सान में हैं। वे मन्दिर, मस्जिद में नहीं रहते। वे तो श्रमिकों में रहते हैं, जहाँ वे पत्थर तोड़ते हैं। देशप्रेम से प्रभावित होकर वे भारतीय नवयुवकों को बुलाते हैं: "सबुजेर अभियान" में कहते हैं कि जो सब पददलित हैं; आओ, उन्हें जगायें:

"ओ रे नबिन, ओ रे अमार काँचा
ओ रे सबुज, ओ रे अबुज"

'भारत विधाता' कविता से जो राष्ट्रीय गान लिया गया है वह सम्पूर्ण देश के लिए एक उत्तम ऋण है। एक स्थान पर वे अपने देश की नाजुक स्थिति को देख उसे पुनः सुखी बनाने के लिए कहते हैं:

आमि ढालिब करुणा धार,
आमि भांगिब पाषाणकारा।
आमि जगत प्लावित बेड़ाब गाहिया

वे कहते हैं कि मैं करुणा की धारा बहाऊँगा, पाषाण का कारागार तोड़ डालूँगा, मैं संसार को प्लावित करके व्याकुल पागल की तरह गाता हुआ घूमता फिरूँगा। वे महान् व्यक्तित्व के मनुष्य थे, विश्वकवि थे, फिर भी प्राचीन ऋषि-मुनियों की तरह गर्व का नाम तक उनमें न था। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना भारतीयों को उन्होंने ही दी।

"धूलिर धूलि आमि रयेछि धूलि परे जेनेछि भाई
बोले जगत चराचरे।"

तुच्छ अभिमान की जगह उन्नत आर्य-संस्कृति का अभिमान उनमें पैदा हुआ। जाति-देश के प्रति प्रेम और प्रतिभा ने इस वंश को गौरव के शिखर पर स्थापित किया। वे भारत को उसी रूप में देखना चाहते थे जिस रूप में उसे सुसज्जित करने के लिए महर्षियों ने युगों तक तपस्या की थी।

रवीन्द्रनाथ देश की कल्याण-कामना करते हुए परमात्मा से जिन शब्दों में प्रार्थना करते हैं, उससे उनके हृदय की

छिपी हुई मर्म-पीड़ा के साथ उनके प्रांजल विश्वास का एक बहुत ही भावमय चित्र पाठकों के सम्मुख अंकित हो जाता है। देश की दीनता का अनुभव कितने गहरे पैठ कर रवीन्द्रनाथ करते हैं और उसके स्वरूप की पहचान करा देने के लिए अपने अक्षय शब्द-भंडार से कैसे-कैसे अव्यर्थ और अजेय शब्दास्त्रों का प्रयोग करते हैं :

"अंधकार गर्ते थाके अंध सरिसृप,
अपनार ललाटेर रतन प्रदीप
नाहीं जाने नाहीं जाने सूर्यालोक लेश !"

इस कविता में वे देश की अज्ञानता-अबोधता की ओर संकेत करते हैं कि हर एक मनुष्य के भीतर अनादि और अनन्त शक्ति एवं ज्ञान है। उनके भीतर साक्षात ब्रह्म विराजमान है परन्तु वे फिर भी उसके प्रति जागरूक नहीं। अन्त में कहते हैं :

"जे एक तरणी लक्ष लोकेर निर्भर
खण्ड खण्ड करि ताहि तरिबे सागर।"

उनकी अज्ञानता के कारण जातीय, साम्प्रदायिक, धार्मिक भेद उनकी एकता को छिन्न-भिन्न कर रहे हैं। अर्थात् जिस नाव पर चढ़ कर लाखों मनुष्य पार हो सकते हैं वे उसके टुकड़े-टुकड़े बना कर समुद्र को पार करना चाहते हैं। एक स्थान पर उन्होंने कहा था "भारत में जितना अन्न पैदा होता है उससे भारत अपनी रक्षा और दूसरों पर विजय पाने के लिए चार करोड़ सेना हर समय तैयार रख सकता है।" अतः उन्हें देश की शक्ति एवं अज्ञानता का पूरा-पूरा ज्ञान था। इसी कारण उनमें देशसेवा की भावना, देश-जागरण एवं सुधारात्मक दृष्टिकोण में प्रकट हुई। वे महान् सुधारवादी थे। भारत के बहुमत साम्प्र-दायिक विभाग के, संघशक्ति के कट-छँट कर टुकड़ों में बँट जाने पर व्यंग्य कर रहे हैं, जिसमें शिक्षा है :

"तोमारे शतधा करि शूद्र करि दिया
माटिते लुटाय जारा तृप्त सुप्त हिया..."

इस पद में वे भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि हे भगवान, तुम्हारे सैकड़ों टुकड़ों में बँटे ये लोग, तुम्हारे ही छोटे-छोटे स्वरूप हैं जो लोग मिट्टी पर लोटते हैं और उसी में जिन्हें तृप्ति मिलती है और आनन्द से सो जाते हैं। आज अवज्ञता में संसार उन्हीं को सिर झुका रहा है। अर्थात् धार्मिक झगड़ों का लाभ उठा कर विदेशी लोग अत्याचार कर रहे हैं।

उन्होंने कभी भी भारतीयों को क्रान्ति का पाठ नहीं पढ़ाया। वे देश को प्रतिभा और साहस, धर्म और विश्वास दैव और पुरस्कार की सहायता से निशस्त्र होकर भी संसार के समक्ष साहस का उदाहरण रखने के लिए कहते हैं। इसी प्रकार स्वदेशप्रेम पर आपने वङ्गलक्ष्मी, मातार आह्वान, हिमालय क्षान्ति, यात्रा संगीत, प्रार्थना, शिलालिपि, भारत लक्ष्मी में **'आमार जननी रे'**, **'नव वर्षेर गान'** **'भिक्षायां नैव नैव च'** आदि कविताएँ देशभक्ति के उच्छ्वास में आकर लिखीं। 'प्राचीन भारत' कविता में वे कर्म एवं क्रियाशीलता पर जोर देकर गीता के 'कर्मवाद' का स्पष्टीकरण करते हैं :

"जे नदी हाराये स्रोत चलिते ना पारे,
सहस्र शैवाल्य-दाम बांधे आसि तारे,
जे जाति जीवन हारा अचल असाड़
पदे पदे बांधे तारे जीर्ण लोकाचार।"

वे कहते हैं कि जिस नदी का प्रवाह रुक जाता है वह फिर वह नहीं सकती। फिर तो सेवार की हजारों जंजीरें उसे आकर जकड़ लेती हैं। इसी प्रकार, जिस जाति के जीवन का नाश हो गया है, जो जाति अचल और जड़वत् हो गई है उसे भी पग-पग पर जीर्ण लोकाचार जकड़ लेते हैं।

कंधे पर भिक्षा की झोली डाले जो लोग राज्यप्राप्ति की इच्छा से दूसरों का दरवाजा खटखटाया करते हैं, उनके प्रति विदेशियों का कैसा भाव है, उसके सम्बन्ध में भी उनकी उक्ति सुन लीजिए : "ऐ मेरे स्वदेश, जो विदेशी तुझसे नित्य घृणा करता है, हम उसी को सम्मान देकर उसके चारों ओर चक्कर लगाते हैं, जबकि उसे तेरी महानता का ज्ञान नहीं, वे तेरा निरादर-अपमान करते हैं और उन्हें इसी में सहायता देते हैं। यों तुम्हारी दीनता ही मेरे वस्त्र-आभूषण हैं। इस बात को मैं क्यों भूलूँ, माँ ? दूसरों के धन पर गर्व करना धिक्कार है। ईश्वर करे, उसी भोजन में हमारी रुचि हो। तुम्हारे हाथों बुने मोटे कपड़े से ही हमारी लज्जा-निवृत्ति हो। अपने स्नेह का दान करने के लिए यदि तुम अपना आँचल फैला दो, तो हमारे लिए

वही सिंहासन है। माँ! जो तुम्हें तुच्छ समझता है, वह हमें कौन-सा सम्मान देगा?" सार रूप में विदेशी सत्ता के विरुद्ध यह विद्रोही एवं घृणापूर्ण भाव है। देशद्रोहियों के लिए इसमें करारा व्यंग्य है। वास्तव में टैगोर देश के लिए सब कुछ करने को तत्पर हैं परन्तु देश का अपमान उन्हें सह्य नहीं: "Had I died for the begging for my country, even unsuccessfully that would have been worship, acceptable to the God." वे देश के लिए क्या नहीं कर सकते थे? "We must give up even our shame for the country. That may be so. But this is same how different. I do not fear to die for the country. To kill for the country—that much Shakti has been given me." देश को रामराज्य के रूप में परिणत करने की इच्छा केवल गाँधीजी में ही नहीं थी, बल्कि हमारे विश्वकवि भी देश को इस दुर्दशा से सुधारों द्वारा उठा कर उन्नति के शिखर पर पहुँचाना चाहते थे: True patriotism never be roused in our countrymen unless they can visualise the motherland. We must make a Goddess of her." परन्तु इतना होने पर भी वे अंधविश्वास को देशभक्ति कहना अनुचित मानते थे। प्रत्येक भारतीय अपने देश की सेवा में प्राण गँवाये, परन्तु देश को अंधविश्वास का रूप न दे: हमारा देशप्रेम: देश-सेवा मानव-जाति एवं विश्वप्रेम में बाधा उत्पन्न न करे: "The geography of a country is not the whole truth. No one can give up his life for a map! When I see you before me, then only do I realise how lovely my country is when you are anointed me with your own hand, then shall I know I have the sanction of my country and if, with that in my heart, I fall fighting it shall not be on the dust of some man made land, but on a lovely spead skirt—Do you know what kind of skirt? Like that of the earthen—red Sari you wore the other day, with a broad blood-red border. I can ever forget it? Such are the visions which give vigour to life, and joy to death." उपर्युक्त पंक्तियों को पढ़कर हमें ज्ञात होता है कि देश-प्रेम उनमें अत्यधिक मात्रा में था, परन्तु संकुचित रूप में नहीं। हिटलर या मुसोलिनि के "Narrow Patriotism" को वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। उनको बड़े के लिए छोटे का त्याग करना आता था, फिर भी वे देश के प्रति बेखबर नहीं थे। एक स्थान पर वे कहते हैं: "If we should perish in the attempt to save the country—and one shares of religion custom and selfishness we shall at least be happy." जिसके हृदय में देश के प्रति प्रेम नहीं, देश-सेवा के भाव नहीं, उनके प्रति उनका विचार वाल्टर स्काट जैसा था:

"Those who are not true sons of the motherland do cease to encumber her lap." देश-प्रेम को उत्तेजित कर अंधविश्वास एवं व्यक्तिगत स्वार्थ-साधना उन्हें कतई पसन्द न थी। उन्होंने देश-सेवा के रूप में जो भी कुछ किया, वह न तो प्रसिद्धि के लिए किया, न व्यक्तिगत लाभ के लिए। 'कर्म करो, फल की इच्छा न करो' का पाठ सदा उनके सम्मुख रहा; "जो अपने देश के लिए बलिदान देते हैं, वे वास्तव में देशसेवक हैं। परन्तु, जो दूसरों को बलिदान करने के लिए मजबूर करते हैं, देश के नाम पर, वे देश के शत्रु हैं। वे देश को या स्वयं को सबसे ऊँचा उठाने के लिए उसकी (देश की) स्वतंत्रता को जड़ से काट डालते हैं।" वे देशवासियों के हृदय में देश-प्रेम जगाकर फिर अन्य कार्य करना ज्यादा पसन्द करते थे : "first the people of one's country must be brought back to a true devotion to the motherland, and then other work could be undertaken......" वे व्यक्ति की महानता एवं सुख-समृद्धि पर ही देश की महानता सुख-समृद्धि मानते थे। सारे देशवासियों के प्रयत्न करने पर ही देश की उन्नति सम्भव है। एक या दो व्यक्ति देश की दशा नहीं सुधार सकते। उनका ऐसा विचार था। वे जन-जागरण को महत्त्व देते थे। वे देश की उन्नति नीचे के व्यक्ति से चाहते थे, जोकि जनतंत्र की मुख्य विचारधारा है : "We shall have to work our hardest to make our country great! But do we need to make it great? What country is as great as our? It is our own lives we shall have to make great." जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वे व्यक्ति की महत्ता स्वीकार करते हैं। उसी बात की झलक देखिए : "We must save our country and ourselves from in shut by manfully bearings the burdens of our motherland with all our strength and all our pride"

परन्तु यह सब कुछ होने पर भी, इन प्रमाणों को झूठा साबित करने के लिए, कुछ लोग, जिन्हें प्रत्येक अच्छी बात में नुक्ताचीनी करनी होती है, कवि को केवल कवि-जगत का विचरणकर्त्ता या काल्पनिक जगत का निवासी बताने लगे। इसके लिए हमारे पास उत्तर में पर्याप्त साधन हैं। कवि का देश-प्रेम, देश-सेवा एवं सुधार के रूप में फूटा। आईवरी टावर में रह कर कल्पना की रंगीन दुनिया में विचरनेवाले कवि नहीं थे वे, बल्कि उन्होंने देश के लिए जो कहा, वह करके भी दिखाया। प्राणों में स्फूर्ति, मुर्दों में जान डाल देनेवाली, हृदय के सुप्त तारों में झंकार की तीव्र कंपन-ध्वनि भर देनेवाली अपनी ओजस्विनी कविता में वे कहते हैं :

"ए मृत्यु छेदिते होबे एइ भयजाल,
ए पुञ्ज पुञ्जीभूत जड़ेत जञ्जाल..."

कायरों को वे नवजीवन देते हैं : "ऐ भारतीयो! तुम्हें मृत्यु का उच्छेद करना होगा—इस भय-पाश का खंडन करना होगा—इस एकत्र हुई जड़ता की राशि, मृत-निस्सार पदार्थ को दूर करना होगा—अरे, इस उज्ज्वल प्रभात के समय इस जागृति के संसार में, इस कार्य की भूमि में तुम्हें जागना ही होगा। दोनों आँखों के रहते भी वे फूटी हैं। यहाँ ज्ञान में बाधा है—हर उन्नति में बाधा है। पर तुम्हें इन सबको पार करना होगा।" अन्त में एक भावपूर्ण कविता, जिसमें आपका कर्मवाद—जीवन-भावना—दार्शनिकता मुखरित हो उठी है, देकर इस विषय को समाप्त करते हैं :

"कवि तबे उठे एसो—यदि थाके प्राण,
तबे ताई लहो साथे—तबे ताई आजिकेर दान।"

वे अपने हृदय की चिरसंचित बात कहते हैं : "कवि, तो फिर बैठे क्यों हो? उठो! चलो! तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है? प्राण? प्राण तो है। बस इतना ही अपने साथ ले लो। आज जरा अपने प्राणों का बलिदान तो करके देखो। देखो, यहाँ बड़ा दुःख है, बड़ी व्यथायें हैं। देखो, जरा सामने उस दुःख के संसार को—बड़ा दरिद्र है—शूद्र है! शूद्र है, वही अंधकार में बन्द हो रहा है। सुनो, उसे अन्न चाहिए। और? और चाहिए बल—स्वास्थ्य-वायु-आनन्द-प्राण-आलोक और चाहिए खुली हवा, आनन्द से भरा चमकीला और दृढ़ सुविस्तृत हृदय-साहस। इस

दीनता के भीतर कवि एक बार—बस एक बार स्वर्ग से विश्वास की छवि उतार लाओ।"

"रंगमयी कल्पने! अब मुझे लौटा—संसार के तट पर ले चल, हवा के झोंकों में, तरंगों में मुझे अब न भुला। अपनी मोहिनी माया में अब मुझे न मोह। निर्जन और विषाद से गहरी, अन्तस्थल की कुंज-छाया में अब मुझे बिठा न रख। दिन बीत जाता है, शाम हो आती है, अंधकार ढँक लेते हैं, उदास वायु में साँस ले ले कर मन रो उठता है। यहाँ से खुले आकाश के नीचे, धूलि-धूसर फैले हुए राजपथ में, जनता के बीच, मैं निकल गया।"

ये हैं महाकवि के संकल्प—जीवनोद्देश्य—जिनका उन्होंने आमरण पालन किया। महान् आश्चर्य होता है हमें उनके संकल्प पर, जब हम हिन्दी के महाकवि "कामायनी" के प्रणेता जयशंकर प्रसाद से उनकी तुलना करते हैं। प्रसादजी कभी-कभी इस जग से विरक्त हो कल्पना की दुनिया—उस पार के रंगीन स्वप्न—का आह्वान करते थे।

"ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक! धीरे धीरे!
जिस निर्जन में सागर-लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे!"

परन्तु हमारे महाकवि रवीन्द्र ने कभी भी इस प्रकार पलायनता की बात नहीं सोची। वे निर्धन, गरीब, असहाय, मजदूर, किसानों के कवि थे। वे जनकवि थे। यही कारण है कि भारतीयता का रंग, दुर्बलता, प्रबलता, भारतीय आत्मा के दर्शन उनकी रचनाओं में होते हैं। वे कभी भी कल्पना में खो कर वास्तविकता की दुनिया से भागना नहीं चाहते थे। यही कारण है कि आज के कवि जहाँ शाब्दिक सहानुभूति दिखाकर अपने-आपको लोगों में ऊँचा उठाना चाहते हैं, वहाँ आपने उनके साथ मिल कर, सहायता कर, वास्तविक सहानुभूति दी। इसी कारण आप सर्वप्रिय एवं अपनी सरलता और आडम्बरहीनता के कारण 'अज्ञात देश-सेवक' बन हमारे लिए वह कार्य कर गये, जो बड़े-बड़े नेता, धर्म-प्रचारक नहीं कर पाते। उनके अप्रत्यक्ष ऋण के बोझ से भारत तथा भारतवासी शायद ही उऋण हों।

उन्होंने जो भी देश-सेवा के कार्य किये; किसानों, असहाय जनता से सहानुभूति की, वह नाम या व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि उनके हृदय में उनके प्रति करुणा थी, जिसके कारण जब भी सेवा करने का अवसर आया, प्रत्येक सम्भव रूप में देशसेवा की। परन्तु उनकी 'देशसेवा' अज्ञात ही रही, जिस कारण बहुत-से लोग उन्हें विश्व-प्रेमी के रूप में तो जानते हैं, पर देश-प्रेमी के रूप में नहीं। वास्तविकता तो यह है कि वे महामानव थे। इसलिए विश्व के लिए उन्होंने जिस महान कार्य को किया, उसी से वे प्रसिद्ध हुए और उनके छोटे दायरे में किये गये कार्य, देश-सेवा को सब भूल-से गये। वास्तव में रवीन्द्रनाथ का विश्व-प्रेम विशाल वटवृक्ष की शाखाएँ एवं पत्ते हैं, तो देश-प्रेम एवं देश-सेवा उस विशाल वृक्ष की जड़ है। आज उस महामानव, विश्वकवि के विश्व-प्रेम को सभी उस वृक्ष की शाखाओं के समान देख सकते हैं, देखते हैं, परन्तु जिस देश-प्रेम के आधार पर विश्व-प्रेम खड़ा है, उसकी जड़ को, जो भूत एवं विस्मृति के गर्भ में छुपी है, कोई नहीं देख पाता कि उनकी देश-सेवा की जड़ें कितनी लम्बी और कहाँ-कहाँ तक फैली हैं। मेरा यह पूर्ण विश्वास है कि इस लेख को पढ़ कर पाठक उन्हें विश्व-प्रेमी के रूप में ही न देखें, बल्कि उस विशाल वृक्ष के उत्पत्ति-स्थान, जड़ जिसके सहारे विश्व-प्रेम टिका है, देशसेवा को भी देखने की कोशिश करें और सदा उनकी सेवाओं को याद रखें। ★

उस कथा-साहित्य के प्रति मुझे कोई मोह नहीं है, और जिस दर्शन को वे लोग नवीनता व गूढ़ अध्ययन के नाम पर सामने रखते हैं, मैं उसे बौद्धिकता के नाम पर व्यक्तिवादी अवसरवादिता और हीगेल के दीवालिए दर्शन से अधिक महत्त्व नहीं देता। ऐतिहासिक कथा पर उनका आक्रमण नहीं हो पाया, इसका सीधा-सादा कारण यही है कि आज की ऐतिहासिक कथा नवीनता के नाम पर उन घिसेपिटे पुराने मूल्यों पर खड़ी नहीं होती; उसके कथानक और चरित्रों के प्रति अभी बहुत समय तक उसी आस्था की आवश्यकता रहेगी, जिसका आधार स्व० श्री रामचंद्र शुक्ल और प्रेमचंदजी रख गए थे।

—आनन्दप्रकाश जैन

हिन्दी साहित्य एवं संकलन : (कविता)

श्री केवल धीर

साहित्य में संकलन जितना अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है, उतना ही कठिन कार्य भी है। यह महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि इसके माध्यम से सर्वश्रेष्ठ साहित्य की काव्यों को एकत्रित करने का अवसर मिलता है, जो आनेवाली नसलों के प्रतिनिधित्व में शुभ सिद्ध होता है। साथ ही यह कार्य कठिन इसलिए है कि सर्वश्रेष्ठ काव्यों को एकत्रित करना सुगम नहीं है। इसके लिए जहाँ बहुत परिश्रम करना पड़ता है, वहाँ बहुत-सी कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ता है।

किन्तु, हमारे साहित्य की रवायतें कुछ और ही रही हैं। संकलन प्रकाशित अवश्य हुए हैं, किन्तु दुःख इस बात का है कि रचनाओं के चुनाव की क्षमता संकलन-कर्त्ताओं में बहुत सीमित प्रतीत होती है।

इसके विपरीत, जो संकलन विश्व-साहित्य में हुए हैं, वे अपने उदाहरण स्वयं हैं। उनके यहाँ सम्पादकों की कड़ी मेहनत एवं छान-बीन के बाद ही किसी रचना को संकलन में स्थान प्राप्त हो सका है। यही कारण है कि उनमें हमें दूसरे दर्जे की कोई भी रचना, नहीं मिलती। उदाहरणतः, 'वाल्टर डी० लामय' ने 'लव' (LOVE) विषय के अन्तर्गत प्रेम-संबंधी साहित्य का संकलन किया है। इस पुस्तक की हर रचना श्रेष्ठ है। इस पुस्तक के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि सम्पादक ने सचाई एवं ईमानदारी से काम लिया है। इसी प्रकार, कुछ संकलन और भी हैं, जैसे 'मार्कवैन डार्न' की पुस्तक 'ऐन्थॉलॉजी ऑफ वर्ल्ड पोएट्री' (ANTHOLOGY OF WORLD POETRY)—'डार्न लापोला' की पुस्तक 'वर्ल्डस् बेस्ट पोएम्स' (WORLD'S BEST POEMS)–'परेचार्ड' की पुस्तक 'ग्रेट एसेज़ आफ आल नेशन्स' (GREAT ESSAYS OF ALL NATIONS) आदि। इन पुस्तकों को देख कर ऐसा अनुभव होता है कि पश्चिम में विभिन्न भाषाओं के लिए योग्य संपादक एवं अनुवादक उचित पारिश्रमिक पर लिये जाते हैं।

हमारे देश में लेखक एवं पाठक प्रायः संकलन के महत्त्व से परिचित नहीं हैं। जब कोई संकलन प्रकाशित किया जाता है, तो मोटे अक्षरों में उसपर लिखा होता है 'सर्वश्रेष्ठ-रचनाएँ', किन्तु उनमें से अनेकों ऐसी भी रचनाएँ होती हैं, जिन्हें न तो हम लेखक की ही सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ कह सकते हैं और न तो उस 'वर्ष' अथवा उस 'काल' की। इसके अतिरिक्त, एक बहुत बड़ी कमजोरी संकलन-कर्त्ताओं में और पाई जाती है कि वे संकलन करते समय अनेकों श्रेष्ठ लेखकों एवं उनकी रचनाओं को छूते तक नहीं तथा संकलन में कई बार तो हमें ऐसे लेखकों के नाम भी पढ़ने को मिलते हैं, जिनकी साहित्य में कोई स्थापना नहीं होती। वे ऐसा भाई-चारे के कारण करते हैं अथवा किसी अन्य भावना के अंतर्गत, इस विषय में हमें कुछ कहना नहीं है, किन्तु इस प्रकार न तो वे साहित्य की ही कोई सेवा करते हैं और न तो योग्य एवं बुद्धिमान पाठकों एवं आलोचकों की सहानुभूति ही वे प्राप्त कर सकते हैं।

हमारे देश में अच्छे संकलन न होने का दूसरा कारण हैं—हमारे प्रकाशक बन्धु; क्योंकि प्रकाशक, संपादक अथवा अनुवादक का चुनाव करते समय योग्य व्यक्तियों की सेवाएँ प्राप्त नहीं करते। इधर हम प्रकाशकों की प्रवृत्ति को देख रहे हैं कि वे रुपए व्यय करने में हिचकिचाते हैं। यह मानी हुई बात है कि सस्ते दामों में योग्य व्यक्ति उपलब्ध नहीं हो सकते। जब रुपए एवं अधिक आर्थिक लाभ को सामने रखा जाए, तो क्योंकर साहित्य का संकलन हो सकता है।

गत कुछ ही वर्षों में पाकेट-बुक्स-परम्परा हिन्दी साहित्य पर इस प्रकार छा गई है कि आप-से-आप अन्य साहित्यिक प्रकाशनों का महत्त्व कम हो गया है। हर पाठक यही चाहता है कि कम दाम में अच्छी पुस्तकें उसे मिल सकें, और हिन्दी पाकेट-बुक्स-परम्परा ने पाठकों की इस चाहत की पूर्त्ति की है। गत दिनों पाकेट बुक्स में हिन्दी पद्य-साहित्य से संबंधित दो संकलन प्रकाशित हुए

हैं। एक तो हिन्द पाकेट बुक्स की ओर से 'हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रेमगीत', जिसका संपादन हिन्दी साहित्य के ख्यातिप्राप्त पत्रकार एवं साहित्यशिल्पी क्षेमचन्द्र 'सुमन' ने किया है। दूसरा संकलन अशोक पाकेट बुक्स की ओर से '५०० रुबाइयाँ' प्रकाशित हुआ है। ये उर्दू की रुबाइयाँ हैं जिनका अनुवाद एवं संपादन नूर नबी अब्बासी ने किया है। इसके अतिरिक्त, साहित्यिक प्रकाशनों के अंतर्गत भी कई एक संकलन प्रकाशित हुए हैं, किन्तु हम यहाँ इन दो पाकेट बुक्स की चर्चा ही करते हैं।

सबसे पहले हम 'हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रेमगीत' को लेते हैं। इस पुस्तक के नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि 'प्रेम' शीर्षक के अंतर्गत हिन्दी में आजतक जितने भी श्रेष्ठ प्रेमगीत लिखे गये हैं, उन सबको इस रचना में प्रकाशित किया गया है। किन्तु, जब हम पुस्तक के पन्ने उलटते हैं, तो हमें निराशा मिलती है। जितने भी कवि अथवा उनकी रचनाएँ इस पुस्तक में संकलित की गई हैं वे सभी न तो प्रणय-कवि हैं और न ही उनकी रचनाएँ इस शीर्षक के अंतर्गत आती हैं। हमें तो ऐसा ज्ञात होता है कि योग्य संपादक ने इस पुस्तक को हिन्दी कवियों का प्रतिनिधि कविता-संग्रह बनाने का प्रयास किया है, किन्तु इसमें भी वह सफल सिद्ध नहीं हुए। दूसरी कमी, जो इस संकलन में अखरती है, कि जिन कवियों के जो गीत चुने गये हैं, अपने रचयिता का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं करते। साथ ही, कई एक महत्त्वपूर्ण कवियों के नाम भी छूट गये है जिन्हें इस संकलन में सम्मिलित नहीं किया गया। उनमें से एक उल्लेखनीय नाम श्री नागार्जुन का है। संभव है, यह संपादक की वैयक्तिक रुचि और मर्मज्ञता की सीमा हो, किन्तु हम इसे संपादक की ईमानदारी नहीं मान सकते। इसके अतिरिक्त, इस संकलन में कुछ नाम ऐसे भी जोड़ दिये हैं, जिन्हें छोड़ दिया जाना उचित था। तब हम कह सकते थे कि संपादक ने रचनाओं एवं कवियों के चयन में जहाँ परिश्रम किया है, वहाँ ईमानदारी भी दिखाई है, किन्तु इस संकलन में इन दोनों ही बातों का अभाव है।

जहाँ तक पाकेट बुक्स में प्रकाशित दूसरी रचना 'पाँच सौ रुबाइयाँ' का संबंध है, इसे भी संकलन की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इस पुस्तक के संपादक नूर नबी अब्बासी हिन्दी एवं उर्दू, दोनों भाषाओं एवं साहित्यों के अनुभवी साहित्यकार हैं। किन्तु, इन्होंने भी वही भूल की है जो उक्त चर्चित पुस्तक के संपादक श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' ने की है। इस पुस्तक में तो बहुत-से ऐसे नाम छोड़ दिये गये हैं जिनका होना अत्यावश्यक था, जैसे राजा मेंहदी अली खाँ, नरेश कुमार शाद, साहिर लुधियानवी, अहमद नदीम कासमी, ज़िगर मुरादाबादी, मजाज, अख्तर रिज़वानी, मजरूह सुल्तानपुरी तथा अनेकों दूसरे शायर जिनकी रुबाइयों को छूटा नहीं रखना चाहिए था। पाँच-सात नाम छोड़ कर, इस संकलन में शेष सभी ऐसे नाम हैं, जिनको न दिया गया होता तो अच्छा होता। दुःख तो इस बात का है कि इस पुस्तक के अंतिम कवर-पृष्ठ पर बड़े गर्व से निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रकाशित की गई हैं—"प्रख्यात कवियों की पाँच सौ श्रेष्ठ रुबाइयों का यह संकलन पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है।"

अब सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी भी साहित्य का संकलन करना कोई सुगम कार्य नहीं है। हमारे संपादक एवं प्रकाशक बन्धुओं को चाहिए कि या तो वे संकलन करने में ईमानदारी एवं परिश्रम से काम लें, अन्यथा अपनी ऐसी पुस्तकों को 'श्रेष्ठ रचनाओं का संकलन', 'सर्वश्रेष्ठ रचनायें' आदि की संज्ञा से विभूषित न करके स्पष्ट रूप से ऐसे शब्द लिखें, जैसे— 'संपादक की दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ' या 'संपादक की रुचि की श्रेष्ठ रचनाएँ' आदि ताकि पाठकों को इन बन्धुओं की ईमानदारी पर किसी प्रकार की शंका न हो।

★

फ्रांस पॉकेट बुक्स का देश नहीं। वहाँ अधिक संख्या पर ज़ोर नहीं। वैसे प्रायः अधिकांश पुस्तकें कागज की जिल्द की ही होती हैं और कई पुस्तकों में यह भी फ़ैशन है कि जिल्दबन्दी के बाद भी कागजों के किनारे नहीं काटे जाते। पाठक स्वयं चाव से एक-एक पृष्ठ काटते हैं और बिलकुल अछूते पृष्ठों को पहली बार स्वयं ही पढ़ते हैं।

संताली लोकगीत

श्री श्यामसुन्दर घोष

साहित्य में लोकगीतों का विशेष महत्त्व है। ज्यों-ज्यों साहित्य का विकास होता है, त्यों-त्यों साहित्य के पारखी लोकगीतों की ओर आकृष्ट होने लगते हैं। लोक-गीतों के महत्त्व का विशेष कारण यह है कि उसमें मानव-हृदय की सुकुमार भावनाओं की करुण-मधुर अभिव्यक्ति हुआ करती है। अभिव्यक्ति का ढंग भी अत्यन्त सरल और सहज हुआ करता है। अनुभूति की तीव्रता, भावों की प्रेषणीयता और अभिव्यक्ति का सरल-सहज माध्यम, ये लोकगीतों के विशिष्ट गुण हैं।

बात यह है कि मानव मात्र सरलता और स्वाभाविकता का प्रेमी है। सदा से वह प्रकृति के साथ रहता आया है, इसलिये उसमें और प्रकृति में अन्योयाश्रय संबंध है। यद्यपि सभ्यता और यांत्रिकता के विकास के साथ-साथ मनुष्य के जीवन में जटिलाएँ भी आई हैं, फिर भी वह प्रकृति से पूर्णतः पृथक नहीं हो पाया है।

ज्यों-ज्यों साहित्य में विज्ञान का समावेश होता जाता है, त्यों-ज्यों हमारे लिये लोकगीतों का महत्त्व बढ़ता जाता है। लोकगीतों में हमें बुद्धिवाद की गंध नहीं मिलती। लोकगीत एक ऐसा प्रसून है जिसकी सुरभि शिक्षित और अशिक्षित सभी व्यक्तियों के लिये समान रूप से उपयोगी है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से देखने पर झारखंड के लोक-गीतों की मार्मिकता स्वीकार करनी पड़ती है। इन लोक-गीतों में संतालों के जीवन और उनके मानवीय गुणों का पर्याप्त परिचय मिलता है। सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक अपनी जीविका के लिये मुख्यतः धनुष-बाण पर निर्भर रहने वाले संतालों के जीवन में भी सुकुमार भाव-नाएँ हुआ करती हैं। ये गीत उसके प्रतीक हैं।

आप किसी भी साहित्य को उठा लीजिये, सभी में समान-रूप से फूलों की चर्चा मिलेगी। प्राचीन से प्राचीन और आधुनिक से आधुनिक किसी भी काव्य-रचना को देखिये, उसमें फूलों का वर्णन अवश्य मिलेगा। फिर झार-खंड के प्राकृतिक सुषमा-साहित्य में इसकी चर्चा न हो, यह तो और भी असम्भव है। संताल जाति स्वभाव से ही फूलों की प्रेमी है। वे सदा से ही प्रकृति के निकट सम्पर्क में रहे हैं; इसलिये उन्हें प्रकृति की नैसर्गिक वस्तुओं से प्यार है। जब संताल लगियाँ सज-धज कर अपने जूड़े में फूलों का गुच्छा खोंसे निकलती हैं, तो उन्हें देखकर मन प्रसन्न हो जाता है। फूलों के प्रति उनका मोह कितना प्रबल है, यह नीचे की पंक्तियों से स्पष्ट है—

आले कोचारे जोबा वाहा
आड़ी हुसनाक् फूल ञेलोक-काना
पेटेजमेसे फूल वोहोक् रे रेवेद मे
वोहोक् ञेलोक्ताम जेंगेत् जेंगेत्

"तुम्हारे घर के पिछवाड़े में जो फुलवारी है, उसमें उड़हुल है। वह देखने में बहुत ही सुन्दर लगता है। सखि, उसे तोड़ो भी तो। उसे माथे में खोंसो, तुम्हारा माथा लाल सुन्दर सज उठेगा।"

मानव-जीवन में एक ऐसा समय आता है जब चित्त उन्मन-उन्मन हो जाता है। यह प्रायः वयःसंधि का काल होता है। इस समय संसार की प्रत्येक वस्तु मीठी-मीठी-सी मालूम होती है। हम चाँद को देखते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है मानो वह हमें देखकर ही मुसका रहा हो। फिर वयःसंधि की देहली पर पहुँची हुई सुकुमारियों का क्या कहना! नीचे की पंक्तियाँ एक ऐसी ही संताल किशोरी का चित्र प्रस्तुत करती हैं—

वावाय् गेलेच् लेदा बान्देला बान्द
आराक् उपेल वाहा पारचाव एना
नावां घाड़ा दिपिल करते दाक् लोचिञ दुकाना
हायरे उपाल बाहाय दिलाउ आदिञ

"पिताजी ने बान्देला बाँध खुदवाया है। उसमें लाल-लाल कमल परच गया। मैं सिर पर नया घड़ा लेकर पानी भरने गई थी। अरे, यह फूल तो मुझे देख कर हिल उठा, कुछ इशारा कर गया! कमल के फूल, मैं समझ गई कि तुम कितने पानी में हो। क्या मेरे पानी के लिये तुम्हारे जी में भी पानी भर आया। मैं तो समझती थी कि तुम पानी

में रहकर भी पानी से ऊपर हो; किन्तु मेरा यह अनुमान असत्य निकला।"

पिछवाड़े में लगे हुए आम के वृक्ष पर पियो (एक छोटी चिड़िया) का आगमन होता है तो किशोरियाँ और भी विह्वल हो उठती हैं। उन्हें अपने तन-मन की भी सुध नहीं रहती। पियो का मीठा-मीठा स्वर उनके हृदय में मीठी-मीठी कसक भर लाता है। लाचार हो पियो से अनुनय के स्वर में कहना पड़ता है—

आले छाटका रे उल दारे
दोन आते पियो नालोम रागा
निञ ताहेन मोर पियो ! नालो पियोम पियोया
कुँआरी मन पियो हाले डालेक

"द्वार पर, गली में, आम का पेड़ है। उसपर फुदकती हुई पियो तुम पी-पी मत करो। जबतक मैं पीहर में रहूँ तबतक तुम न बोला करो, क्योंकि तुम्हारी बोली सुनकर मेरा क्वारा मन डोल-डोल जाता है।"

अभिव्यक्ति की ऐसी ईमानदारी साहित्य में कम मिलती है। इन पंक्तियों में जो प्रभविष्णुता है, वह अनुभूति की सचाई और उसकी तीव्रता के कारण ही। कवि संताल-किशोरी का पूरा-पूरा चित्र खींच देता है।

किन्तु यह स्थिति सदा नहीं रहती। समय ऐसा भी आता है कि हम जीवन में ऐसे स्थल पर पहुँच जाते हैं जहाँ गहरी निराशा मिलती है, सपने टूट जाते हैं, आँखों में उदासी की छाया-सी डोलने लगती है। उस समय प्रकृति की प्रत्येक वस्तु उदास प्रतीत होती है। संताल किशोरी से जीवन में भी ऐसी घड़ियाँ आती हैं—

नेवेतार दिन दो होय लो लो दिन
नेवेतार दिन दो उदासोर मन
मान्दार मुली दारे बुटा रे
तिरियो साडे कान उदासोर मन

"आजकल का मौसम गर्मी का मौसम है। आजकल के मौसम में मन उदास रहता है। मंदारमुली पेड़ के नीचे जो वंशी बजती है वह भी उदास ही बजती है।"

किन्तु बात यहीं तक नहीं रह पाती। जीवन बराबर परिस्थिति की घाटियों में से होकर निकलता रहा है। वह स्थिर नहीं, गतिशील है। अब केवल यही नहीं प्रतीत होता कि मंदारमुली पेड़ के नीचे जो वंशी बजती है, वह उदास है, वरन् संसार की कटुता भी सामने आती है——

चेतान दिसाम में दाक केदा रे
सानाम ढ़ेलका हासा चाबायेन
नुकिन सुगी चेड़े दाया गे किन राराक कान
नुकीन चेटे रोटे जोहा चापो काते किन लादा जोङ कान

"ऊपर वाले प्रदेश में वर्षा हुई है। सभी मिट्टी-ढेले गल गये हैं। दोनों सुगी चिड़िया बुरी तरह रो रही हैं। परन्तु, यह घासों में रहने वाला मेढ़क, उसे कुछ परवाह नहीं है। वह गाल पर हाथ धरे हँस रहा है।"

यहाँ आकर संताल किशोरी की भावना अपने तक ही सीमित नहीं रहती। वह सुगी चिड़िया से तादात्म्य स्थापित कर लेती है। मेढक यहाँ संसार की कटुता का प्रतीक है। वह समझ जाती है कि संसार में किसी के सपने पूरे नहीं होते, न सबको उचित सहानुभूति मिलती है।

इस तरह, झारखंड के लोकगीत हृदय में कुछ नवीन भावनाएँ जगाते हैं, जीवन में करुणा और आनन्द की सृष्टि करते हैं। हमें चाहिये कि हम इन गीतों का संग्रह करें और इन्हें प्रचारित करने में समुचित सहयोग दें।

इस लेख में प्रयुक्त गीतों के लिये लेखक संताली साहित्य के मर्मज्ञ श्री डोमन साहु समीर का कृतज्ञ है।

क्या प्रकाशक-संघ लेखकों के लिए निश्चित पारिश्रमिक का मापदंड निर्धारित करेगा ?

सुना जाता है—

प्रकाशन-व्यवसाय केवल व्यवसाय न होकर एक जबरदस्त मिशन है। इस व्यवसाय के प्रतिनिधिगण 'हिन्दी-प्रचार" के हेतु भरसक प्रयत्न कर रहे हैं। अनेक स्थानों पर पुस्तक-प्रदर्शनियाँ आयोजित की गयीं, चल-पुस्तक-समारोह की भी बातें कहीं पढ़ने-सुनने में आईं।

किन्तु इस "हिन्दी-प्रचार" अभियान के पीछे जो स्वार्थ है, वह पुस्तकों का प्रसार। सभी प्रकाशक (और लेखक भी) यही चाहते हैं कि उनकी पुस्तकें जनता में अधिक-से-अधिक मात्रा में खप सकें। और, वर्त्तमान स्थिति को देखते हुए हम यह सहज रूप में कल्पना कर सकते हैं कि पिछले अर्द्ध-शतक के मध्य ही प्रकाशन-व्यवसाय ने अभूतपूर्व प्रगति कर ली है। पुस्तकों का प्रकाशन भी बढ़ रहा है और प्रसार में जनता के साथ-ही-साथ सरकार भी हाथ बटा रही है। यह अटल सत्य है कि हिन्दी के प्रति हमारी जनता की भूख दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जा रही है।

प्रकाशक भले ही ऊपर से (किन्हीं 'कारण' वश) इसे स्वीकार करें या न करें, किन्तु स्पष्टाभास हो रहा है कि हिन्दी को अपनाने की दिशा में हमारी जनता आजादी के बाद से ही काफी अग्रसर होती जा रही है। अब तो अहिन्दीभाषी भी हिन्दी को पूर्ण आदर की दृष्टि से देखने लगे हैं। ऐसे बहुत-से सिन्धी और मद्रासियों को मैं जानता हूँ, जो हिन्दी इतना स्पष्ट और शुद्ध बोलते हैं कि उनको अहिन्दीभाषी क्षेत्र का घोषित करने में संकोच होने लगता है। एक नहीं, ऐसे अनेक हैं। तो, यह अधिकारपूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दी के प्रति अहिन्दी-भाषियों की एक बहुत बड़ी संख्या दिनानुदिन बढ़ती जा रही है। भारत की सभी अन्य-भाषी जनता हिन्दी के प्रति अनुप्राणित और उत्प्रेरित होती जा रही है। तो, यह सहज ही कहा जा सकता है कि हिन्दी पुस्तकों की खपत भी बढ़ती ही जा रही होगी। और, इसका ठोस उदाहरण है, इस वर्ष में ही नव-प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं की सूची, जिनमें ऐसे अनेक नाम जुड़े हैं जो अल्पावधि में ही जन-प्रिय बनी हैं। वही बात पुस्तकों पर भी लागू हो सकती है और होती दृष्टिगोचर हो भी रही है।

तो, इसी अनुक्रम में एक प्रश्न उठता है—प्रकाशकों की ईमानदारी का। क्या वे अपने लेखकों को (व्यवसाय के प्रगति-काल में) पूर्ण लाभ-"अंश" दे रहे हैं? अधिकांश लेखकों की यह शिकायत रहती है कि वे प्रकाशकों द्वारा ठगे जाते हैं। जब प्रकाशक "हिन्दी-प्रकाशन-व्यवसाय" को एक मिशन घोषित करते हैं, तो उन्हें अपने लेखकों को, जो पुस्तकों के प्रणेता हैं, पूर्णतः सहयोग देते रहना चाहिये। लेखक प्रकाशक से केवल सहयोग के नाम पर औचित्यपूर्ण पारिश्रमिक चाहता है, जो उसे नहीं दिया जाता।

आमतौर पर यह देखा जाता है कि नये लेखकों से, उनकी नवीनता के नाम पर अल्प मूल्य देकर अधिकार छीन लिये जाते हैं, जो सर्वथा अनीतिपूर्ण कृत्य है। कुछ प्रकाशक लेखकों की भावुकता और सहृदयता (कमजोरी) का लाभ उठाकर ठगते रहते हैं, जो नितांत हेय एवं गर्हित कृत्य है। कुछ प्रकाशक पुस्तक-विक्रय में लेखकों से सहयोग की अपेक्षा भी करते हैं, जबकि वांछित पारिश्रमिक की माँग किए जाने पर मुख मलिन किया जाता है।

प्रायः नये लेखकों के साथ तो दुर्व्यवहार ही किया जाता है। प्रकाशक उसको सर्वथा अनभिज्ञ जान कर, यह कहकर ठगते हैं कि तुम्हारी पुस्तक नयी है। बिके अथवा न बिके। इसे छापकर तो हम रिस्क ही मोल ले रहे हैं। अस्तु। पारिश्रमिक ब्राह्मण-दक्षिणा के समान ही बताया जाता है। किन्तु यह ध्रुवसत्य है कि कोई भी प्रकाशक "रिस्क"

लेना कभी नहीं चाहता। प्रकाशक एक व्यवसायी है। वह इस पूर्ण विश्वास के साथ ही किसी भी (नये या पुराने) लेखक की कृति को प्रकाशन-हेतु स्वीकार करता है, जिसे कि वह खपा सकेगा। तो, फिर नये लेखकों को इस अशोभनीय ढंग से भ्रमित कर ठगा जाना, कहाँ तक उचित है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। क्या प्रकाशक-संघ इस ओर महत्त्वपूर्ण कदम उठायगा?

यदि प्रकाशक-संघ लेखक को अपने व्यवसाय की प्रथम कड़ी मानता है, तो उसे निःसन्देह इस जटिल प्रश्न पर विचार करना चाहिए। और, मैं तो यह अपील करता हूँ कि प्रकाशक-संघ द्वारा प्रकाशित होनेवाले पत्र में लेखकों के समाधान एवं शिकायत के निवारण हेतु "शिकायत-स्तम्भ" रखा जाना चाहिए, जिसके माध्यम से लेखकवर्ग अपनी औचित्यपूर्ण माँग को प्रकाशक-संघ के प्रतिनिधियों के समक्ष रख सके। और, सुहृद-प्रतिनिधि ऐसे प्रकाशकों को, जो लेखकों को नाजायज रूप से ठगते हैं, सामूहिक रूप से बहिष्कृत करें या दंडित करें। यह प्रकाशक-संघ की प्रतिष्ठा का भी प्रश्न है और यह इसलिए कि प्रकाशक लेखकों को अपना सहयोगी मानते हैं। —संतोष व्यास

सबसे मुख्य बात यह है कि साहित्य बाजार की विविधता और विधान से मुक्त हो। साहित्य-रचना यदि पेशा बन जाता है तो उसकी गति नीचे को खिसकती है; ऊपर नहीं उठ पाती। यह एक बहुत बड़ा प्रश्न और उसका संबंध मानो समाज-व्यवस्था से ही हो आता है। आर्थिक सभ्यता साहित्य को अनुरंजन तक नीचे खींच लाएगी और दायित्वपूर्ति तक न उठने देगी। यदि अपने लिखे को खुले बाजार में बेचकर जीविका चलाने का मार्ग ही साहित्यकार के पास रह जाता है, तो कोई कारण नहीं है कि माँग और उत्पादन का सिद्धांत न चल निकले और वे सब दोष इस क्षेत्र में भी न आ जाएँ, जो निरे व्यापार के माने जाते हैं। इस प्रश्न पर मैं इस समय यहाँ अधिक नहीं कहूँगा, लेकिन साहित्य के उत्कर्ष, उसके प्रभाव और उसके दायित्व के प्रति जिनका ध्यान है, उन्हें इस संबंध में विचारने की आवश्यकता है। —जैनेन्द्र कुमार

पुस्तक-प्रकाशन में सम्पादन

श्री कृष्ण विकल

'पुस्तक-जगत' के जनवरी, १९६२ के अंक में प्रकाशित इस लेख की दूसरी किश्त में अन्तरपक्षीय पुस्तक-सम्पादन के बारे में विचार किया जा चुका है। अब हम प्रमुख विषयों को लेकर उनपर अलग-अलग इस प्रकार विचार करेंगे कि अमुक विषय में किन बिन्दुओं का ध्यान रखना अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में, हम ऐसी बातों की संक्षिप्त-सी सूची तैयार करेंगे जोकि उक्त विषय में विशेष रूप से विचारणीय होती हैं। यहाँ हमें इतना स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इसमें अन्तर अथवा बाह्य दोनों पक्षों की बातें एक साथ आ जाएँगी। इसके लिए इन पंक्तियों का लेखक क्षमायाचक है—और फिर हमें यह नहीं भूलना है कि आरम्भ में हमने यह विभाजन अपनी सुविधा के लिए ही किया था। वस्तुत: यह मान कर ही चलना होगा कि उक्त कार्य को दो पक्षों में बाँटने के लिए कोई स्पष्ट विभाजक-रेखा नहीं बनाई जा सकती। हाँ, तो आइये, प्रस्तुत विषय पर।

विषयानुसार संशोधन-सम्पादन

नाटक

जैसा कि पहले भी निर्देश किया जा चुका है, नाटक में इन बातों का ध्यान रखना अपेक्षित है :

(१) मैटर की सैटिंग।
(२) निर्देश-अंशों की स्थिति और सैटिंग।
(३) टाइप-निर्देश।
(४) विराम-चिह्न सम्बन्धी निर्देश आदि।

मैटर की सैटिंग, टाइप-निर्देश, विराम-चिह्न सम्बन्धी निर्देश—इनके बारे में 'पुस्तक-जगत' के सितम्बर ६१ के अंक में प्रकाशित लेख की पहली किश्त में विचार किया जा चुका है। यहाँ निर्देश-अंशों की स्थिति के बारे में बात करनी होगी। निर्देश-अंश कहाँ पृथक और कहाँ साथ जाना चाहिए—इसका निर्णय तभी किया जा सकता है जबकि संबद्ध मैटर हमारे सामने हो। हाँ, बात को स्पष्ट समझने के लिए हमें मूलगत सिद्धांत को सम्मुख रखना होगा; और वह यह कि जो निर्देश-अंश ऐकान्तिक रूप में उपर्युक्त पात्र के क्रिया-कलाप की ओर इंगित करता है वह तो अनिवार्यतः साथ जाएगा। किन्तु, इसके विपरीत, जो निर्देशांश उपर्युक्त पात्र को छोड़कर किसी अन्य पात्र या स्थिति की ओर संकेत करता है, उसे अनिवार्यतः पृथक् रखना चाहिए। इन दोनों स्थितियों के अतिरिक्त, कहीं-कहीं एक तीसरी स्थिति पैदा हो जाती है जबकि न तो वह निर्देशांश ऐकान्तिक रूप से अपने से ऊपर के पात्र की उपासना करता है और न ही उससे पूरी तरह विमुख होता है—अर्थात् उक्त निर्देशांश का पूर्वार्ध ऊपरी पात्र से सम्बन्धित होता है और उत्तरार्ध अन्य पात्रों अथवा अवस्थाओं से। उदाहरण के रूप में, रमेश का संवाद चल रहा है। निर्देशांश नई लाइन में क्रेचेड में इस प्रकार आरम्भ होता है—

"[हँसता है। रमा उसे डाँटती है।]"

इस स्थिति में यदि इसे पृथक् पंक्ति में देना अभीष्ट हो तो उक्त पात्र का नाम (रमेश) 'हँसता है' से पहले जोड़ना होगा, अन्यथा 'हँसता है' पद को रमेश के उक्त संवाद के बाद रन-ऑन अलग से ब्रैकेट में देना होगा और अवशिष्ट निर्देशांश क्रेचेड में रखना होगा। किन्तु, बहुत-से लेखक ही इस नियम का पालन नहीं करते, या करते भी हैं तो अव्यवस्थित रूप में। ऐसे लेखकों की पांडुलिपियों को इस दृष्टि से संशोधित करते समय अवश्य कठिनाई होती है। अतः, संबद्ध अधिकारी या हो सके तो लेखक से इस बारे में अनुमति ले लेनी चाहिए।

और, किसी विशेष सैटिंग में तो निर्देशांश को संवाद की पंक्ति में रखने का विधान ही नहीं है, उसमें तो संवाद की प्रत्येक पंक्ति निर्देश से पृथक् हो जाती है। वैसी स्थिति में ब्रैकेट और क्रेचेड का झगड़ा ही मिट जाता है। और, अब तो देखा गया है कि बस, निर्देशांश का टाइप बदल दिया जाता है और लम्बाई कम कर ली जाती है, ब्रैकेट या क्रेचेड कुछ भी नहीं लगाई जाती। खैर, जो हो, नाटक की सैटिंग जिस विधा से हो रही हो, उसी विचार से निर्देशांशों की सैटिंग का विधान करना उचित है।

कविता

कविता-पुस्तकों में इनका पालन करने से अभीष्ट प्रभाव पैदा किया जा सकता है :

(१) पद्यों के बीच की ब्लैंक।
(२) कविता-पंक्तियों की प्लैनिंग।
(३) आमने-सामने पड़ने वाले पृष्ठों में शुरू हो रही दो कविताओं के शीर्षकों के ऊपर की ब्लैंक।
(४) पंक्तियाँ गिनकर पृष्ठों के मेक-अप का निर्देश।
(५) मुक्त-छंद की कविताओं के लिए अलग से निर्देश।

वैसे तो ये बातें मेक-अप करने से सम्बन्ध रखती हैं, किन्तु सजग पांडुलिपि-संशोधक भी इसमें यथेष्ट योग प्रदान कर सकता है। कविता-पंक्तियों को जिस तरह 'अरेंज' करना अभीष्ट हो, वैसे संकेत कर देने चाहिए। पांडुलिपि में ही हिसाब लगाकर आमने-सामने पृष्ठों पर पड़ने वाली कविताओं के ऊपर की ब्लैंक एक-सी रखने का निर्देश दे देना चाहिए। उदाहरणतः, यदि एक पृष्ठ की कविता लम्बी है और ऊपर दस एम के स्थान पर छः एम ब्लैंक पड़ी है, तो सामने पड़ने वाली छोटी कविता के ऊपर भी दस एम के बजाए छः एम का निर्देश करना होगा। बिन्दु ४ तथा ५ के बारे में इसी लेख की पहली किश्त में उल्लेख हो चुका है। यहाँ पद्यों के बीच की ब्लैंक के बारे में इतना कहना अभीष्ट है कि हिसाब लगाकर (कम-से-कम एक कविता में) एक-सी ब्लैंक रखने की कोशिश करनी चाहिए। इसमें कई जगह दिक्कत आ सकती है, किन्तु यह कार्य प्रयत्न-साध्य है और इसके परिणामस्वरूप पुस्तक बहुत ही अच्छी और आकर्षक हो जाएगी।

हाँ, कविता जैसी सज्जात्मक पुस्तकों के लिए दो-एक बातें और कथनीय हैं :

(१) फोलियो नीचे रखें; अन्यथा
(२) नीचे खाली जगहों में स्टॉप-पीस दें।
(३) यदि गीतों की लाइनों में कहीं शब्दों के बीच हाइफन लगे हैं तो उनके दोनों ओर स्पेसों का निशान लगा दें, ताकि शेष शब्दों के बीच की स्पेसिंग बिगड़ न पाए।
(४) और, जो लोग चन्द्रबिन्दु का व्यवहार नहीं करते, उनसे अनुरोध है कि कविता-पुस्तकों में छंद के आग्रह से चन्द्रबिन्दु का व्यवहार अवश्य करें।

कहानी-उपन्यास

कहानी-उपन्यास में इन बातों का ध्यान रखना चाहिए :

(१) बदलते प्रसंगों में विभाजक ब्लैंक।
(२) व्यक्ति, स्थान आदि के नामों की एकरूपता।
(३) क्रिया-कलाप की एकरूपता।
(४) तथ्यात्मक भूलों का सुधार।
(५) संवादों में विराम-चिह्नों की शैली।

संवादों में प्रायः अल्प-विराम के साथ उद्धरण-चिह्न पसन्द किया जाता है। कई लोग डैश या कोलन के साथ भी उद्धरण-चिह्न लगाते हैं; किन्तु अब इसे वैज्ञानिक नहीं माना जाता। हाँ, अल्पविराम और उद्धरण-चिह्न के स्थान पर केवल डैश लगाने की प्रथा बंगला कृतियों में अब भी

विद्यमान है और कई लोग बड़े चाव से उसका प्रयोग करते हैं। जो भी हो, ठीक है; किन्तु कापी-संशोधन करते समय इस बात का ध्यान रख लेना चाहिए कि जो भी विधि अपनायी गई है, उसका पालन सम्यक् रूप से कर लिया जाय।

जीवन-चरित

इस विषय के संशोधन में इनका ध्यान रखना चाहिए :

(१) व्यक्तियों, स्थानों के नामों तथा सन्-संवत् आदि की चैकिंग।

(२) कालांतर में बदले तथ्यों के अनुसार संशोधन-परिवर्तन।

(३) आप-तुम, वह-यह—ये शब्द या इनके रूपों की एकरूपता।

आलोचना-ग्रंथ

इनमें निम्न बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :

(१) अंग्रेजी अथवा संस्कृत आदि के उद्धरणों का यथासंभव मूल से मिलान।

(२) शीर्षक, उप-शीर्षक, अन्तर्वर्ती उप-शीर्षक की स्थिति और टाइप का निर्देश।

(३) नागरी से इतर किसी लिपि (जैसे रोमन) का नागरी में परिवर्तन।

(४) फुटनोटों की मैटर के साथ चैकिंग।

टाइप-मार्किंग का काम वस्तुतः आलोचना-ग्रंथों में बहुत महत्त्व रखता है। किन्तु, इस समस्या को इस प्रकार स्पष्ट करना कठिन है। फिर भी, इतना कथ्य है कि जहाँ अधिक शीर्षक आ रहे हों वहाँ चैप्टर हैडिंग रखें प्रायः २० प्वाइंट में; और चैप्टर के अन्दर ३-४ या इससे अधिक उप-विषय प्रस्तुत हों तो उन्हें १६ प्वाइंट में सैंटर में; उनके सहवर्ती किन्तु उक्त विषय के अनुवर्ती पड़ने वाले अथवा उस विषय को 'रिपीट' करके उसका अंग बन जाने वाले शीर्षक १६ सफेद में सैंटर में; उक्त उप-विषयों के अन्तर्वर्ती उपशीर्षक या आंगिक शीर्षक १४ काला या १४ सफेद में हाफ' एम से पृथक् पंक्ति में; आंगिक शीर्षक के अन्तर्गत रहकर उपांगों को पकड़ने की क्षमता रखने वाले अधीनस्थ उपांगी शीर्षक १२ काले में नये पैरा से बॉडी-मैटर के साथ। इतनी विविधता तो सहज ही लाई जा सकती है। परिस्थितिवश उप-शीर्षकों के अन्तर्गत पड़ने वाले किन्तु अधीनस्थ उपांगी शीर्षकों से भिन्न स्थिति रखने वाले उपोप-शीर्षकों को १२ प्वाइंट इटैलिक अथवा ऐसे ही किसी हल्के फेस वाले टाइप में किया जा सकता है। सारांश रूप में शीर्षक-नियोजन में शीर्षक की स्थिति (अर्थात् उसकी पकड़) ही प्रमाण है।[1]

बालोपयोगी पुस्तक

फर्स्ट प्रिंट की कापी में संशोधन करते समय जहाँ चित्र बन सकते हों वहाँ यथास्थान निर्देश कर देना चाहिए। यदि किसी कारण चित्र पहले से तैयार हो गए हों और उनके 'प्रूफ' कापी में संलग्न हों अथवा रिप्रिंट की पुस्तक हो—ऐसी स्थिति में चित्रों की मैटर के साथ चैकिंग कर लेनी चाहिए। यदि किसी कारण से चित्र के साथ मैटर एक ही पेज में न आ सकता हो तो उसके लिए निर्देश कर देना चाहिए कि मैटर पहले पृष्ठ पर आ जाय और चित्र दूसरे पृष्ठ पर। किन्तु इसके लिए 'कैप्शन' तैयार किए जाने चाहिए।

विज्ञान

इस विषय की पुस्तकों में पारिभाषिक शब्दों का आधुनिकतम एवं प्रामाणिक अनुवाद हो, ऐसा ध्यान रखना चाहिए। साथ ही, पांडुलिपि में चित्रों के यदि नमूने लगाए गए हों तो उनकी चैकिंग मैटर के साथ कर लेनी चाहिए; 'कैप्शन' भी पूरी तरह चैक कर लेने चाहिए।

उर्दू शायरी

इन पुस्तकों में उर्दू की छाप को बनाए रखने के लिए शब्दों के हिन्दी रूप बनाने की भूल कदापि

[1]. शायद थ्यूरी का उक्त कथन बात को मन में सम्यक रूप से उतारने में सक्षम न हो; फिर भी इतना तो विश्वास से कहा जा सकता है कि इस 'नेचर' का काम करते समय इससे कुछ मदद तो अवश्य ही मिल सकेगी।

नहीं करनी चाहिए। उदाहरण के रूप में देखिए निम्न शब्दावली—

ग्राह्य उर्दू रूप	हिन्दी रूप
झूट	झूठ
झुटलाना	झुठलाना
होंट	होंठ
वाहों	बाँहों
छुप	छिप
पढ़तीं थीं	पढ़ती थीं
यकायक	एकाएक
ढूँडना	ढूँढ़ना
	आदि।

उर्दू शायरी में दूसरी ध्यान रखने योग्य बात यह है कि ज़ (ज़ुआद, ज़ोए) के अतिरिक्त अ़ (ऐन), क़ (क़ाफ़), ख़ (ख़े), ग़ (ग़ैन), फ़ (फ़े) वर्ण वाले शब्दों में बिन्दु अवश्य लगाया जाय। उर्दू लेखकों की अन्य विषय की पुस्तकों में भी उक्त वर्णों में बिन्दु का पालन करना संगत है, क्योंकि यदि ऐसे शब्दों के बिन्दु उड़ा दिए जाएँ (जैसा कि प्रायः देखा जाता है) तो भाषा एवं शैली का सौंदर्य ही विलुप्त हो जाता है।[1] हाँ, शायरी को छोड़ उर्दू लेखकों की अन्य पुस्तकों में इतना तो किया जा सकता है कि 'ऐन' वाले शब्दों में 'अ' के नीचे बिन्दु न लगाया जाए (आ़म, औ़रत आदि की जगह आम, औरत आदि लिखा जाए) क्योंकि नागरी लिपि में 'अ़' को छोड़कर शेष उक्त वर्ण बिन्दु वाले ढले-ढलाये सर्वत्र मिल जाते हैं।

संस्कृत पुस्तक

(क) संस्कृत टेक्स्ट वाली पुस्तकों में जहाँ श्लोक आयें वहाँ दूसरी पाइयाँ पहली पाई से बाहर निकली रहनी चाहिए।

(ख) यदि आप हिन्दी में महान, विद्वान, सम्राट, विराट, बुद्धिमान, धनवान, हनुमान आदि शब्दों के हलंत-रहित रूप ग्रहण करते हैं तो भी संस्कृत ग्रन्थों में इनके तत्सम (हलंत) रूप देने में औचित्य रहेगा। हाँ, फिर उक्त शुद्ध तत्सम रूपों को पुंल्लिङ्ग में ही प्रयुक्त किया जायगा। स्त्रीलिङ्ग में दूसरे रूप बनेंगे।

(ग) मूल पाठ किसी प्रामाणिक ग्रन्थ से मिलाना अत्यावश्यक है।

(घ) जहाँ मूल पाठ में प्रामाणिक रूप से पाठांतर हो, उसका फ़ुटनोट में संकेत कर देना चाहिए।

इसके अलावा, संस्कृत ग्रंथों से अनूदित पुस्तकों का संशोधन करते समय प्रामाणिक मूल प्रति से अनुवाद की अर्थाभिव्यक्ति को 'टैली' करते जाना चाहिए। यद्यपि अनुवाद बहुत सावधानी से किया गया हो, तो भी अनेक प्रकार की अशुद्धियों की गुंजाइश बनी रहती है, जोकि एक दूसरी सजग आँख की अपेक्षा रखती है।

अन्य अनूदित पुस्तकें

यही आखिरी बात अन्य अनूदित पुस्तकों के बारे में कही जा सकती है। वस्तुतः पांडुलिपियों के सम्पादन-संशोधन-कार्य में अनूदित पुस्तकों को मूल पुस्तकों से पृथक् करके 'डील' करने की आवश्यकता है। एक प्रकार से, अनूदित पांडुलिपि की चैकिंग करते समय दुहरी सतर्कता की अपेक्षा रहती है। उसमें स्वतंत्रता नहीं बरती जा सकती, मूल लेखक के भावों की अभिव्यक्ति का ही विशेष आग्रह रहता है। भाषांतर होने के कारण अभिव्यक्ति में भाषागत कई प्रकार के अवरोध आ खड़े होते हैं। इसके अलावा, प्रत्येक भाषा के पीछे एक साहित्यिक परम्परा रहती है, एक 'कल्चर' रहती है, कुछ विशिष्ट संस्कार रहते हैं, कुछ शब्दों के पारिभाषिक अर्थ रहते हैं—दूसरी भाषा में उल्था करते समय उन सबकी रक्षा कर

---

[1]. किन्तु साधारण हिन्दी-लेखन में सवर्त्र क़, ख़, ग़, अ़ आदि बन्दु वाले वर्णों को ग्रहण करना व्यावहारिक नहीं है। अतः वैसी स्थिति में इनकी उपेक्षा भी की जा सकती है। इसपर कुछ विशेषज्ञों का मत है कि जहाँ एक ओर अपनी भाषा की सुविधा का तकाजा है, वहाँ ज़ और फ़ जैसे वर्णों का (जोकि विश्व की अन्य अनेक भाषाओं में अपने विशिष्ट उच्चारण में उच्चरित होते हैं) भी बहिष्कार नहीं किया जा सकता।—इसलिए यदि हमें अपनी भाषा को अधिक सुविधासम्पन्न एवं समर्थ बनाना है तो हमें इन ध्वनियों के लिपि-संकेत भी ग्रहण करने होंगे। दूसरे [illegible] का यह विचार है कि ज़ और फ़ के उच्चारण को Specify नहीं करना चाहिए। उन्हें भय है कि इससे लिपि में पेचीदगी बढ़ेगी। पर मेरा व्यक्तिगत मत इससे उल्टा है।

पाना तथा उन सबको अभिव्यक्ति दे पाना अपने-आप में एक बड़ा कठिन कार्य है। ऐसे कार्य की चैकिंग करते समय विषय के अनुरूप वैसी विवेकपूर्ण सजगता की आवश्यकता रहती है। सारांश रूप में, अनूदित पांडुलिपि के बारे में यह कहा जा सकता है कि इसका सम्पादन मूल पुस्तक को सामने रखकर ही किया जाना चाहिए। यदि कहीं भी ऐसा आभास मिले कि अनुवादक अमुक स्थान पर थोड़ा भटक गया है, अमुक स्थान पर वह मूल के पूरे अर्थ को ग्रहण नहीं कर पाया, अमुक स्थान पर विशिष्ट अर्थ के लिए दिये गये किन्हीं पर्यायवाची शब्दों में उतनी फोर्स नहीं जितनी कि मूल में है, अमुक स्थल पर उसका वाक्य-विन्यास उलझ गया है आदि – तो उन-उन स्थलों को अत्यन्त सावधानी से सुधार देना चाहिए। कहीं कुछ छूट गया हो तो उसका भी समावेश कर लेना चाहिए। और, यथासम्भव, साथ-ही साथ, पांडुलिपि-संशोधन के नियमों का पालन करने का भी प्रयास करना चाहिए।

अनूदित पुस्तकों में कई बार देखा गया है कि विदेशी पुस्तकों के नामों को हिन्दी में अनुवाद करके दे दिया जाता है, जबकि उस पुस्तक का अनुवाद हिन्दी में हुआ ही नहीं होता। अनुवाद करनेवाले इस धारणा से हिन्दी नाम दे देते हैं कि पाठकों को सुविधा रहे, किन्तु वे इस तथ्य को भूल जाते हैं कि मूल कृति का नाम न देने से पाठक कुछ नहीं समझ सकता, बल्कि उसे और भ्रम पैदा हो जाता है। इसलिए, यदि पांडुलिपि में कहीं विदेशी नामों के हिन्दी रूपांतर आ जाएँ तो उनपर क्वेरी (?) करके फिर से लेखक के पास भिजवाने की व्यवस्था करनी चाहिए। हाँ, यदि किसी विदेशी पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद हो गया हो और वह उस नाम से प्राप्त होती हो तो उस पुस्तक का रेफ्रेंस दे सकते हैं, पर स्मरण रहे, साथ में ब्रेकेट में मूल नाम देना भी अनिवार्य होगा।

ये हैं कुछ स्थितियाँ जोकि विषय के अनुसार रूप ग्रहण करती हैं और सम्पादन-संशोधन में जिनका विचार रखना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त, सम्पादन-संशोधन के लिए पांडुलिपि प्राप्त करते समय साथ में कोई विशेष निर्देश दिया गया हो तो पूरी पांडुलिपि में उसका भी ध्यान रख लेना चाहिए।

एक बात जो विषय का उपसंहार करते समय विशेष रूप से उल्लेखनीय है, वह यह है कि- पांडुलिपि-सम्पादन-संशोधन उसी स्थिति में अपना पूरा लाभ दे सकता है जबकि हम इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखें कि जो संशोधन हमने बनाये हैं, उनका सर्वत्र निर्वाह हो जाना चाहिए।

और, क्यों न आधारभूत सिद्धांत को एक बार फिर से स्मरण कर लें।

पांडुलिपि-संशोधक का काम लेखक द्वारा अपनाये गए शब्द-रूपों को एवं वाक्यविन्यास के प्रकार को यथेष्ट स्थान देते हुए उसकी अभिव्यक्ति को मुखर करना है, न कि अतोऽप्यधिक सुधार की दृष्टि से परिवर्तन करना; इसी प्रकार विषय पर कम या बढ़ती आघात करने वाली भूलों से उत्पन्न अस्तव्यस्तता को 'पेवंद' लगाना है, न कि उसे नया जामा पहनाना।

आकलन :

आकाशवाणी पटना से प्रसारित कवि-सम्मेलन

श्री विचारकेतु

गणतंत्र-दिवस के अवसर पर प्रत्येक वर्ष आकाशवाणी के विभिन्न केंद्रों द्वारा कवि-सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है। पटना केंद्र से रविवार २८ जनवरी, १९६२ की रात में कवि-गोष्ठी का कार्यक्रम प्रसारित किया गया जिसमें कुल पन्द्रह कवियों ने भाग लिया। इनके नाम इस प्रकार हैं—डॉ० नर्मदेश्वर प्रसाद, नरेश, सेवक, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, लालधुआँ, मधुकर गंगाधर, पूर्णेन्दु, रणधीर सिनहा, प्रभाशंकर मिश्र, रामनरेश पाठक, पीयूष, श्यामसुन्दर घोष, नरेन्द्र सिनहा, पद्मनारायण और गोपाल प्रसाद। गोष्ठी का संचालन, आकाशवाणी साहित्यिक विभाग के, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' कर रहे थे।

सर्वश्री गोपाल प्रसाद ने अपनी कविताओं का पाठ किया। 'जाड़े की अनुभूति' जँची अवश्य पर यह कि "जैसे गर्म लोहे पर गिरे जलधार, बुझे लोहा छछ-छन"—ऐसा कुछ नहीं हुआ। इस अनुभूति की खोज में पूर्ण रूप से लगा हूँ पर लगता है—"अधूरे गीत की कड़ी खो गई है।" रामनरेश पाठक पहले से काफी स्पष्ट हो गये हैं और उनकी दो कविताएँ 'वायलिन की डूबती धुन-सा समय बीत रहा है' और 'वह तुम थे'—विशेषकर दूसरी कविता—सुन्दर लगी। 'वह तुम थे' के नये चित्रों ने काफी गहरा प्रभाव डाला और लगभग यही गम्भीरता की स्थिति नरेन्द्र सिनहा 'हस्ताक्षर' में बनाये रहे। 'हम शतरंज नहीं खेलते' एकाएक चौंका देता है। इसकी तुलना में 'अंधा कुआँ आत्मविस्मित' कुछ नीचे ही रहा। श्यामसुन्दर घोष की तीन कविताएँ—'तुम', 'बादलों का हठ' और 'आ रही आँधी'—प्रभाव डालने में असमर्थ रहीं जिसे मधुकर गंगाधर ने 'अहम्' में उपस्थित किया। मुझे तो कभी-कभी ऐसा लगता है कि मधुकर गंगाधर का कवि उसके कथाकार से अधिक सशक्त एवं स्पष्ट है। जो लोग मधुकर को कवि नहीं मानते उनसे मैं 'अहम्' पढ़ने का अनुरोध करूँगा। मधुकर अगर कविताओं पर ज्यादा ध्यान दें तो अच्छा हो। 'माप' साधारण के बराबर रहा—असल में 'अहम्' का जवाब वह नहीं दे पाया।

कृष्णनंदन 'पीयूष' ने 'अजन्मे मानव-शिशु के प्रति' के द्वारा जो वातावरण में एक विशेष स्थिति पैदा की उसे स्वयं उन्होंने बाद में हल्के 'मुक्तक' के द्वारा नष्ट कर दिया। 'पीयूष' जी से तो नहीं, पर गोष्ठी के संचालक से मेरा एक प्रश्न है—गोष्ठी के साथ-साथ क्या आकाशवाणी में महफिल का भी आयोजन था जहाँ अगर मुक्तक नहीं पढ़े जाते तो सारा मजा किरकिरा हो जाता? जिस प्रकार आकाशवाणी के राष्ट्रीय संगीत-कार्यक्रम में कलाकारों द्वारा शास्त्रीय संगीत के बाद हल्की-फुल्की चीजों को उपस्थित करना आकाशवाणी द्वारा अनिवार्य कर दिया गया है और जिसे (आकाशवाणी को शायद नहीं मालूम) श्रोतागण, आकाशवाणी की स्थायी भूल एवं संगीत की ओर 'विशेष रुचि' का ध्यान रखते हुए, माफ कर देते हैं—क्या यह जरूरी है कि गोष्ठियों में ओजस्वी एवं गम्भीर कविताओं के पाठ के बाद मुक्तक या रुबाइयों का पाठ किया जाय? क्या बालस्वरूप 'राही' और भारतभूषण अग्रवाल की गल्तियों को दुहराना 'पीयूष' एवं 'मुक्तजी' के लिए आवश्यक था? इतना ही नहीं, 'पीयूष' को शायद यह सन्देह है कि मनुष्य को दो आँखें ही होती हैं। अगर ऐसा न होता तो वे 'मेरी दायीं आँखें" नहीं पढ़ते। मुझे विश्वस्त सूत्र से पता चला है (और इसी कारण इस भूल के लिए मैं संचालक महोदय को दोष नहीं देता) कि इस भूल की ओर कवि का ध्यान आकृष्ट किया गया था और मूल प्रति में उचित संशोधन भी कर दिया गया था किन्तु न जाने क्यों 'पीयूष' शायद आश्वस्त न हो सके और प्रसारण के समय उन्होंने '.... मेरी दायीं आँखें' पढ़ा। प्रभाशंकर मिश्र को दोषरहित उच्चारण एवं चित्रों की महीन बुनावट के लिए मैं धन्यवाद देता हूँ। 'गोधूलि' की निम्न पंक्तियाँ अच्छी लगीं—

दिन किसी बेवा की माँग की तरह साफ था,
रात किसी सुहागिन की भरी हुई कलाई है।

'अभिनन्दन' तथा 'मौन और मैं' ने साधारण स्तर का सफलतापूर्वक निर्वाह किया। पद्मनारायण ने दो कविताएँ (अगर इन्हें कविता में किसी प्रकार शामिल किया जा सके तो!) पढ़ीं। 'ग्रीष्म संध्या का एक चित्र' सुन कर ऐसा लगा कि कवि बनना और वह भी नयी कविता करना सचमुच आसान है। मुझमें यह विश्वास जग गया है कि मैं भी कविता कर सकता हूँ, जब यही लिखना ठहरा—

मैं सुबह उठा,
मुँह साफ किया,
स्नान भी किया, और
कपड़े बदल—
व्यस्त कार्यक्रमों को
पूरा करने बाहर निकल गया!

और इसे आकाशवाणी 'नयी कविता' मानती है तो मैं सोचता हूँ कुछ दिन के लिए नयी कविता करना शुरू कर दूँ (आजकल कविताएँ 'लिखने' के स्थान पर 'की' जाती हैं और नाटक 'करने' के स्थान पर 'लिखे' जाते हैं!) पद्मनारायण अपने सिर से कविता का भूत उतार अगर कहानी लिखना आरम्भ करें तो (शायद) ज्यादा सफल होंगे। रणधीर सिनहा की दो कविताओं 'प्रतीक्षा' और 'बहती नदी को देखकर' में दूसरी कविता ही नयी थी। 'प्रतीक्षा' पहले ही अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी है। 'नदी बहती है टेढ़ी-मेढ़ी, जैसे चिटके शीशे की लकीर' को सुनते समय मन में अचानक दो पंक्तियाँ उभर आयीं—

कविता करते हैं बे-सिर-पैर की,
जैसे कागज पर उल्टी-सीधी लकीर।

पूर्णेन्दु की दोनों कवितायें-'रूप का विभ्रम' और 'धार की रेखाएँ'—अति-रोग से ग्रसित रहीं। प्रथम कविता अनावश्यक रूप से लम्बी और दूसरी बिल्कुल छोटी रही। 'लालधुआँ' की प्रथम दो कविताएँ—'मैं एकांत' और 'अंधेरे की बाँह पर उभरी मछलियाँ उभर कर मर गयीं'—गति की तीव्रता एवं पौरुष के कारण श्रोताओं को अभिभूत करने में सफल रहीं। राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने 'शीर्षक से परे' नामक वक्तव्य दिया। गोष्ठी में भाग लेने वाले अन्य कवियों के साथ-साथ (इनके द्वारा कविता-पाठ के समय एकबार भी किसी ने 'वाह वाह' नहीं किया) मुझे भी राजेन्द्र जी के साथ सच्ची सहानुभूति है। मैं निष्पक्ष रूप से कह सकता हूँ कि कविता-पाठ में जितना श्रम राजेन्द्रजी को करना पड़ा वह न तो लम्बी कविता के कारण पूर्णेन्दु को या ओजस्वी कविता के कारण मधुकर गंगाधर को या सुन्दर पाठ के कारण 'लालधुआँ' को या बेचारे श्रोता को करना पड़ा। इसपर तुर्रा यह कि कोई वाहवाही न मिले। सचमुच बड़े दुःख की बात है यह। राजेन्द्रजी ने (शायद) अब तय कर लिया है कि कविता पढ़ी जाय या नहीं, किन्तु मुक्तक अवश्य पढ़ा करेंगे।

डॉ॰ नर्मदेश्वर प्रसाद ने तीन कविताएँ पढ़ीं—'घाटी की गहराइयों में', 'सभ्यताएँ' और 'ऐसी रात में'। इनकी कविताएँ बिम्बों के नयेपन के कारण अच्छी लगीं। 'नरेश' को 'सूरज दिन चढ़े उगा और लगा छीलने घास आसमान पर' में तथा 'सेवक' को 'काल का कलंक' में गोष्ठी में उपस्थित अन्य कवियों द्वारा बहुत वाहवाही मिली—क्या यही उनके लिये काफी नहीं?

अब गोष्ठी की खास-खास बातों की ओर ध्यान दिया जाय। सर्वप्रथम इस संचयन को ही लें। एक मंच पर नयी और पुरानी पीढ़ी के कवियों को इकट्ठा कर देना कुछ वैसा ही लगा कि एक ही बर्तन में नये और पुराने चावल की खिचड़ी पकाई जाय। नई पीढ़ी के कई अन्य प्रमुख लोगों को अवसर नहीं दिया गया। 'दुमकटे' लोगों को आसानी से छोड़कर 'नये' लोगों को स्थान दिया जा सकता था। जहाँ तक संचालन का प्रश्न है, शुरू से अंत तक दोषयुक्त और 'स्टीरीयोटाईप' रहा। अंगरेजी का एक शब्द है 'मनोटोनस'। संचालन के लिये यह विशेषण प्रयुक्त किया जा सकता है। ऐसा लगता था कि कोई मशीन है जो बराबर बोल रही है "अभी आप इनसे फलाँ कविता सुन रहे थे, अब फलाँ अपनी कविता सुनायेंगे जिसका शीर्षक है..."। क्या इसमें थोड़ा-सा ही हेर-फेर करके रोचक नहीं बनाया जा सकता था? पर शायद ऐसा सम्भव नहीं था, क्योंकि इसमें ज्यादा समय की जरूरत होती। समय तो पहले से ही कम था—पंद्रह कवि और समय कुल मिलाकर सवा घंटा और कुछेक मिनट। (शेष २८ के नीचे)

—भारत सरकार का शिक्षा-मंत्रालय भारतीय भाषाओं में बाल-साहित्य की आठवीं प्रतियोगिता का आयोजन कर रहा है। लेखकों तथा प्रकाशकों से बालोपयोगी आकर्षक पुस्तकें तथा पांडुलिपियाँ आमन्त्रित हैं। जो पुस्तकें विशेष और ऊँचे स्तर की होंगी, उनके हरेक लेखक को १००० रुपये पुरस्कार में दिए जाएँगे। इनामों की संख्या बाद में निर्धारित होगी। पुस्तकों, पांडुलिपियों की पाँच प्रतियाँ प्रत्येक प्रविष्टि के लिए भेजी जाएँ। प्रविष्टियाँ भेजने की अन्तिम तारीख १ मई, १९६२ है।

हिन्दी, उर्दू और सिन्धी भाषाओं में बच्चों की पुस्तकें इस पते पर भेजी जाएँ—शिक्षा अधिकारी, सेक्शन बी ३, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

—हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में १ अप्रैल, १९६१ के बाद लिखे गए सर्वश्रेष्ठ नाटक पर ४००० रुपये का पुरस्कार दिया जायगा। विषय—एकता के लिए भारत की आकांक्षा। नाटक दो घण्टे का हो। प्रविष्टियाँ भेजने की अंतिम तिथि २८ फरवरी, १९६२ है। पता—डिप्टी सेक्रेटरी (कल्चर), वैज्ञानिक अनुसंधान और सांस्कृतिक कार्य मन्त्रालय, नार्थ ब्लाक, सेंट्रलसेक्रेटेरियेट, नई दिल्ली।

—उड़ीसा साहित्य अकादमी ने उड़िया के १३ साहित्यकारों को सम्मानित किया है। सम्मानित साहित्यकारों में ९७ वर्षीय कवि भिखारीचरण दास भी हैं। साहित्य अकादमी ने इसी तरह प्रति वर्ष साहित्यकारों को सम्मानित करने का निश्चय किया है। अपने चार वर्ष के कार्यकाल में उड़ीसा साहित्य अकादमी उड़िया तथा संस्कृत के अनेक अप्रकाशित ग्रन्थ प्रकाश में लाई है।

—उत्तर प्रदेश की सरकार ने महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन के इलाज के लिए १५ हजार रुपये दिए हैं। राहुल जी कलकत्ता के एस. एस. के. एम. अस्पताल में हैं। उनकी दशा चिन्ताजनक है। महापंडित राहुल का भारतीय वाङ्मय में स्थायी स्थान है। उनकी अब तक १०० से ऊपर पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और उनके लिखे पृष्ठों की संख्या ४०,००० से ऊपर है।

—यूनेस्को की ओर से जर्मन भाषा में संसार का इतिहास पॉकेट बुक्स के रूप में शीघ्र ही प्रस्तुत किया जा रहा है। कुल इतिहास ३१ भागों में होगा। इसमें मानव-जाति का आदि से लेकर आजतक का इतिहास रहेगा।

—यूनेस्को के तत्त्वावधान में होनेवाली तीन सप्ताह की गोष्ठी, जनवरी को नई दिल्ली में आरम्भ हुई। यह गोष्ठी यूनेस्को की 'एशिया में अनिवार्य शिक्षा योजना' के अध्ययन के लिए आयोजित की गई है। आगामी २० वर्षों में, एशियन राष्ट्रों में शिक्षा को व्यापक तथा अनिवार्य बनाने के लिए यूनेस्को ने जो सहायता करने का निश्चय किया है, उक्त योजना उसी का परिणाम है।

(शेष पृष्ठ २७ का)

कविता-पाठ में 'वाह-वाह' से तो मैं तंग आ गया। लगता था कि 'वाहवाह' का एक रेकॉर्ड ही पहले से तैयार करके रख लिया गया है और जहाँ कोई कवि अपनी कविता शुरू करता था रेकॉर्ड चढ़ा दिया जाता था। राजेन्द्र प्रसाद सिंह के वक्त शायद नयी 'सूई' नहीं मिल रही थी इसीसे किसी ने 'वाह' नहीं किया। अस्तु।

हाल ही में जयपुर, लखनऊ और इलाहाबाद के आकाशवाणी-केंद्रों से भी कवि-सम्मेलन प्रसारित किये गये थे। जयपुर का तो नीरस ही रहा, पर लखनऊ और इलाहाबाद का पटना की तुलना में फिर भी बेहतर रहा।

"कवि-सम्मेलनों की सफलता-असफलता का अधिक दारोमदार गीति-रचनाओं पर होता है। कई बार जमने के लिये गीति-रचनाओं के स्थान पर सस्ती तुकबंदियाँ भी सुना दी जाती हैं"—पटना-केंद्र से गीति-रचना तो नहीं, मुक्तक अवश्य सुनाये गये।

नये और पुराने को एक ही समय, एक स्थान पर उपस्थित करना शायद आकाशवाणी की नीति है। लखनऊ और इलाहाबाद में यही बात रही।

भविष्य में अगर संचयन और संचालन पर विशेष ध्यान दिया जाय तो श्रोताओं को सुनते समय उस 'विशेष स्थिति' से गुजरना न पड़े जो अभी गुजरना पड़ता है।

व्यापारियों को ३१ मार्च तक विशेष सुविधा। साधारण कमीशन के अतिरिक्त १० प्रतिशत तथा FOR की विशेष छूट १००) के नकद नेट आर्डर पर।
आज ही आर्डर देकर सम्पर्क स्थापित करें।

हास्य-रस

१. लफ्टंट पिगसन की डायरी — बेढब बनारसी — ४·००
२. टनाटन — ,, — २·००
३. गान्धीजी का भूत — ,, — १·५०
४. मसूरीवाली — ,, — २·००
५. महत्त्व के गुमनाम पत्र — ,, — १·५०
६. बनारसी एक्का — ,, — २·००
७. हुक्का पानी — ,, — ३·००
८. जब मैं मर गया था — ,, — २·५०
९. एकलौता जूता — जी० पी० श्रीवास्तव — २·५०
१०. महाकवि चच्चा — अन्नपूर्णानन्द — २·५०
११. मगन रहु चोला — ,, — २·५०
१२. मंगल मोद — ,, — २·५०
१३. मेरी हजामत — ,, — २·५०
१४. मुर्गे — आनन्द प्रकाश जैन — २·००
१५. कलम-कुल्हाड़ा — कौतुक बनारसी — २·५०
१६. कलम की कमाई — ,, — २·५०
१७. छलांग — शौकत थानवी — २·००
१८. नाम के पति — ,, — २·५०
१९. मिस्टर उनसठ — ,, — ३·००
२०. झलक — ,, — २·५०

आलोचना

१. मानस-दर्शन — डॉ० श्रीकृष्ण लाल — ४·००
२. प्रसाद का कथा-साहित्य — मार्कण्डेय सिंह — ४·००
३. मानस का कथा-शिल्प — डॉ० श्रीधर सिंह — ४·५०
४. कवि-समीक्षा — श्यामलाकान्त वर्मा — ४·५०
५. दिनकर के काव्य — लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' — ५·००
६. निबन्ध-रत्नाकर — अध्यापक भगवती लाल — ३·००
७. कुरुक्षेत्र एक अध्ययन — 'प्रवासी' — ·७५

ऐतिहासिक उपन्यास

१. बेकसी का मजार — प्रतापनारायण श्रीवास्तव — १३·००
२. विदिशा की देवी — जगदीश कुमार 'निर्मल' — ५·००
३. कालिदास — सन्तोष व्यास — ४·००
४. चेतसिंह का सपना (दो भाग) — गिरिजाशंकर पांडेय — ८·५०
५. अठारह वर्ष बाद — ,, — ४·००

उपन्यास

१. नारी : तुम केवल श्रद्धा हो — दीनानाथ 'शरण' — ३·००
२. आशीर्वाद — साधुराम शुक्ल — ३·००
३. चंचला — रंजन वर्मा — २·५०
४. दो चिताएँ — 'पागल' — ३·००
५. मुझे जला डालो — ,, — ३·७५

अनूदित

१. कीर्ति-मन्दिर — चन्द्रकान्त काकोडकर — ३·२५
२. जमींदार की बेटी — श्री० शि० चौगुले — ३·२५
३. क्रान्तिकाल — व० ह० पिटके — ३·५०
४. मुक्त नारी — चन्द्रकान्त काकोडकर — २·२५
५. शाही कमरबन्द — बाबूराव अनीलकर — ३·००

नाटक

१. बाबा की सारंगी — बाबूराम सिंह 'लमगोड़ा' — २·००
२. प्रणय पल — ,, — २·००
३. गाँव की ओर — ,, — २·००

बाल साहित्य

१. मीठी नींदिया रानी आ — मदनविहारी शरण 'दीप' — १·००
२. दूर देश एक महल बनाए — ,, — १·००
३. भगतजी ने लड्डू खाए — ,, — १·००
४. धरती चाँद और तारे — सुरेशचन्द्र गौड़ — १·००
५. देश-विदेश की रसीली कहानियाँ — प्रेमनारायण गौड़ — १·००
६. चीन-जापान की कहानियाँ — ,, — १·००

आनन्द पुस्तक भवन, औसानगंज, वाराणसी

मंटो की कहानियाँ

लेखक—सआदत हसन मंटो
प्रकाशक—हिमालय पाकेट बुक्स, इलाहाबाद
मूल्य—एक रुपया
पृष्ठ सं०—१२४

इस संग्रह में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त उर्दू कहानीकार श्री सआदत हसन मंटो की नौ कहानियाँ "ब्लाउज", "खुशिया", "नंगी आवाज", "हतक", "बू", "पाँच दिन", "टोबाटेकसिंह", "नया कानून" और "खोल दो"—संकलित हैं। इनमें प्रथम छः कहानियों का विषय सेक्स है जो मंटो की कहानियों का प्रधान स्वर रहा है। शेष तीन हमारे भ्रष्ट राजनीतिक जीवन पर तीखा व्यंग्य करती हैं।

पहली कहानी यौवनोन्मुख युवक मोमिन की कहानी है जो एक घरेलू नौकर है और "नौकरों के बारे में कौन सोच-विचार करता है? बचपन से लेकर बुढ़ापे तक वे तमाम मंजिलें पैदल ही तय कर लेते हैं और आस-पास के आदमियों को खबर तक नहीं होती।" इसलिए उसके मालिक डिप्टी साहब की दो साहबजादियों, शकीला और रजिया, को खबर भी नहीं होती कि जवानी की दुनिया में कदम रखते हुए मोमिन पर उस समय क्या बीतती होगी जब वे उसके सामने ही ब्लाउज के लिए छाती और कमर का नाप लेती हैं। वह शकीला की अनुपस्थिति में उसके ब्लाउज को छू-छूकर रोमांचित होता है, उसके बगल के काले-काले मुलायम बालों का सपना देखता है।

आगे की दो कहानियाँ "खुशिया" और "हतक" संसार के 'ओल्डेस्ट प्रॉफेशन', वेश्यावृत्ति पर हैं। खुशिया एक दलाल है। उसके दरवाजा खटखटाने पर कान्ता उसके सामने नंगी ही चली आती है, "नंगी ही समझो, क्योंकि एक छोटा-सा तौलिया सब कुछ तो छिपा नहीं सकता।" खुशिया जानता है कि उसकी मदद से कान्ता रोज दस-पाँच भूखे भद्र लोगों के सामने इसी तरह नंगी होती है, फिर भी उसकी आँखें इस नग्न सत्य के प्रकाश में चौंधिया जाती हैं। वह अपने को अपमानित महसूस करता है और एक दिन उसे जुहू के तट पर उड़ा ले जाकर गायब कर देता है। 'हतक' (अपमान) सुगन्धी के जीवन की मार्मिक कथा है। वह म्युनिसिपल बोर्ड के सफाई-दारोगा से (जिसे वह 'सेठ' कहती है) प्रेम करती है। शहर की 'अंधेरी गलियों' में रहने वाली उन हजारों मजबूर औरतों के दर्द, उनकी भावनाओं का इतना यथार्थवादी, जानदार चित्रण केवल मंटो ही कर सकता था। एक-एक वाक्य दिमाग में चुभ जाता है। सुगंधी अपने पेशे की कला को अच्छी तरह समझती है। फिर भी वह 'सेठ' की धूर्तता को, प्रेम में पड़कर सहती है। एक दिन जब एक दूसरे सेठ ने कार की रोशनी में देखकर उसे पसन्द नहीं किया तो इस 'हतक' (अपमान) पर उसका स्वाभिमान जाग उठा। वह सेठ माधो को धक्के देकर बाहर कर देती है और जब उसे मन बहलाने का कोई साधन नहीं मिलता है तो वह खाज भरे कुत्ते को गोद में उठा कर सो रहती है।

'नंगी आवाज' शहर के उन हजारों बेबस लोगों की 'निर्लज्जता' (इसे और क्या कहा जाय?) की कहानी है जिन्हें अपनी पत्नी के आँचल में मुँह छिपाने की भी पर्दगी मुयस्सर नहीं है, जिनकी जिन्दगी के तमाम सफहे नंगे हैं। 'बू' एक गरीब मजदूर औरत के जिस्म की 'बू' है, जिसे किसी धनी आदमी का सेन्टेड-बेड भी नहीं मिटा पाता। 'पाँच दिन' यक्ष्मा-रोग से ग्रस्त एक प्रोफेसर की कहानी है जो एक भूखी, भिखमंगिन लड़की को पनाह देता है और उसके अव्यक्त प्रेम के पाँच दिन पाकर अपने जीवन को सार्थक समझता है।

'टोबाटेकसिंह' अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की कहानी है। विशन सिंह (जिसे सभी टोबाटेकसिंह कहते हैं) लाहौर के पागलखाने में बन्द है। लाख कोशिश करने पर भी वह समझ नहीं पाता कि हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का बँटवारा क्या बला है। यह कहानी देश के फर्जी बँटवारे पर जबर्दस्त चोट करती है। 'खोल दो' कहानी में विभाजन के समय उत्पन्न अमानुषिकता का चित्रण है। रजाकार (स्वयंसेवक) ही एक खूबसूरत, बेपनाह लड़की को अपनी वासना का शिकार बना बेहोश करके

फेंक देते हैं, जिनसे अपनी अजीज बेटी को ढूँढ़ लाने के लिए उसका बाप रोज विनती करता है।

अमर कहानीकार मंटो की कहानियों का यह एक अच्छा संकलन है। छपाई सुन्दर है।

—राकेश भारती

औरत और अरस्तू (नाटक)

लेखक—'लालधुआँ'
प्रकाशक—ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४
मूल्य—२·००
पृष्ठ-संख्या—१०६

(१) यह एक ऐतिहासिक नाटक है। "इसमें सिकन्दर के जाते वक्त की और उसके साथ यूनान के हाथ 'खाली' होने की ही बात है। हिन्दुस्तान में सिकन्दर के निहत्थे होने के बाद यहाँ यूनान और उसके उस्ताद अरस्तू की बात पूछी जा रही है। पूछ रही है तक्षशिला की नर्तकी पर्णा, जो हिन्दुस्तान से हारे हुए सिकन्दरी सिपाहियों से हरी जाकर, यूनान लाई गई है। नाटक उसी के सवालों पर खत्म होता है।" नाटकों और विशेषकर ऐतिहासिक नाटकों के प्रति मैं लगभग हमेशा से ही 'एलर्जिक' रहा हूँ। पर इस नाटक को पढ़ते वक्त कहीं भी तबीअत नहीं ऊबी। जैसा कि अक्सर होता आया है, ऐतिहासिक कथावस्तु को लेखक थोड़ा इधर-उधर करके अपने काम में लाया करते हैं, 'लालधुआँ' ने भी मनमानी काट-छाँट की है, पर उससे कथा का प्रवाह बढ़ा ही है, कहीं भी अनजाने में अनचाही बाधायें नहीं आई हैं। सम्वादों की भी एक अपनी गति है। इन सम्वादों में 'लालधुआँ' का कवि नाटककार पर छाया हुआ है। कहीं-कहीं सिकन्दर के सिपाही और स्वयं सिकन्दर जब 'तक्षशिला' को जब 'टक्सिला' कहते हैं तो लगता है कि शब्दों के उच्चारण को जानबूझकर व्यर्थ ही तोड़ा-मरोड़ा गया है। अन्य स्थानों पर वे ही पात्र अच्छी हिन्दी बोलते हैं।

जितने भी गीत आये हैं, सभी एक-पर-एक सुन्दर बन पड़े हैं।

पर्णा के चरित्र को काफी ऊँचा उठाया गया है। सिकन्दर से सहानुभूति तो होती है पर थोड़ी और सहानुभूति की अपेक्षा थी। अरस्तू का चरित्र पूर्णतया

स्पष्ट नहीं हो पाया है। उसके मानसिक संघर्ष के चित्रण में एवं अन्य कार्यकलापों में जैसे लेखक स्वयं उलझ गया हो।

जहाँ तक इसे रंगमंच पर खेलने का प्रश्न है, लेखक ने पर्दों एवं सेटों के इन्तजाम आदि के विषय में पूरा ब्यौरा दिया है, पर इस दृष्टि से कई खामियाँ नजर आती हैं। प्रथम तो यह कि छोटे-छोटे दृश्यों की भरमार है। अगर नाटक रंगमंच को ध्यान में रखते हुए लिखा जाय तो उसमें दृश्यों की संख्या कम एवं उनकी लम्बाई अधिक होनी चाहिए। दूसरी बात, ड्राप तीन सीन दो (पृ० १००) में पर्णा को अपने चेहरे पर तेजाब उँड़ेलते दिखाया गया है जिसके फलस्वरूप उसका चेहरा झुलस कर खतरनाक तौर पर लाल और काला हो जाता है तथा कई जगह खाल तक लटक जाती है। इसके पूर्व वह अपने निचले कपड़ों को छोड़कर आहिस्ता-आहिस्ता तमाम कपड़े उतार डालती है। स्टेज पर इस प्रकार का 'स्ट्रिप-टीज' का कार्यक्रम एवं चेहरा जलाना सम्भव नहीं होगा। इस दृष्टि से हम अभी काफी 'पिछड़े' हैं।

उर्दू के शब्दों के स्वाभाविक प्रयोग के कारण भाषा में अपने ढंग का अलग ही माधुर्य है। कहीं-कहीं 'यूनानीपन' दिखलाने के फेर में अस्वाभाविकता अवश्य आ गई है। जैसे, "क्या कहते हो प्यारे कैन्डर्क ? (पृष्ठ सं० ३४) "आ गई हो प्यारी पर्णा! हम सब तुम्हारी इन्तजारी में कितने थक गये थे ?" (पृष्ठ सं० ३५)

कई अशुद्धियाँ भी अनचाहे आ गयी हैं। उदाहरणार्थ, "यही तुम्हारा मंशा है ?" (पृष्ठ सं० २६), "मैं नहीं समझी, आपका मंशा क्या है ?" (पृष्ठ सं० ४०), "तुम आती हो हमारी नींद के ख्वाबों में" (पृष्ठ स० ३६) (अगर बिना नींद के ही किसी को सपना दिखाई दे तो कोई क्या करे !)

छपाई साफ एवं गेट-अप सुन्दर है।

—विचारकेतु

(२) अरस्तू की यह धारणा थी कि औरत मर्दों की सबसे बड़ी कमजोरी है। लेखक ने इस धारणा को, बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से युद्ध की हवस और उसके दुष्परिणाम को अपने नाटक में दर्शाते हुए, गलत सिद्ध किया है। अरस्तू का औरतों के सम्बन्ध में जो निष्कर्ष था वही उसके जीवन का एक अहम प्रश्न था जिसे वह कभी सुलझा नहीं सका। साधारण व्यक्ति की तरह उसके लिए औरत हमेशा एक गुत्थी बनी रही। पर्णा का अरस्तू को यह संदेश कितना यथोचित है कि—"अपनी पीठ पर कोड़े लगवाकर दाग बनाए रखने से, जिन्दगी से नफरत नहीं खत्म होती।...अगर ये जिन्दगी से नफरत करते हैं तो इन्हें मौत से मुहब्बत करनी ही पड़ेगी।" भले ही अरस्तू यह कहता हो कि—"जवानी का लोहा तुम हसीनों की आँच में गल कर जिस-किसी ढलान पर बह जाय...। तुम भी यही मानोगी कि दिल की रंगीनियों का अमली दुनिया से नहीं के बराबर लगाव है। तुम सिर्फ एक ख्वाव बन सकती हो, निहायत उम्दा, हसीन और शायद देर तक असर रखने वाला ख्वाव"—परन्तु अरस्तू औरत के हृदय की गहराई को नहीं जानता है। वह यह भी नहीं जानता है कि औरत अपनी मर्यादा आप अच्छी तरह जानती है। पर्णा को जब यह ज्ञान हो जाता है कि दुनिया में उसका उचित मूल्यांकन नहीं हो रहा है तो वह अरस्तू की तरह पीठ पर कोड़े का दाग रख कर जिन्दगी से नफरत नहीं करती है, बल्कि अपने उस हुस्न को जिसे अरस्तू अनर्थ की जड़ मानता है तेजाब से जलाकर बर्बाद कर लेती है। लेखक ने बहुत ही कुशलता के साथ इस प्रश्न के बहाने अरस्तू की, यूनान के झंडे के नीचे दुनिया को झुका देने वाली हवस पर गहरी चोट की है। अरस्तू की इसी हवस ने सिकन्दर को दुनिया फतह करने के लिए बेहाल कर दिया। अरस्तू और सिकन्दर यह भूल गए थे कि मानव-जीवन कितना कीमती है; युद्ध जीवन की मौलिक वस्तु नहीं, जीवन की मौलिक चीज है उसकी कोमल भावनायें। वे भावनायें जो वतन, परिवार और मानव-जाति के कल्याण के लिए प्यार और आदर का पाठ सिखाती हैं। लड़ाई में खूँखार बन कर लड़ने वाले सिकन्दर और उनके बहादुर सिपाहियों ने यह सीख भारत से ली। जब इनके जीवन में सच्ची ज्योति जगी तो इनकी तलवारें म्यान में चली गईं और अपनी हताश जिन्दगी से ऊब कर वे शराब पीने लगे। परन्तु, युद्धान्ध अरस्तू को यह समझ में ही नहीं आया कि यूनान के वीर सिपाही

शराब और पर्णा के पायल की झंकार में क्यों अपने को डुबो रहे हैं? अगर अरस्तू ने विवेक से काम लिया होता तो वह आसानी से समझ जाता कि जब इन्सान जिन्दगी से हार जाता है तो सिकन्दर की तरह तनहाई चाहता है, अपने बुरे दिनों और बुरे कर्मों को भुला देने के लिए कोई माध्यम चाहता है। और, तब उसने पर्णा को यूनान से नहीं निकाल दिया होता। युद्ध का दुष्परिणाम सिपाहियों के कथोपकथन से स्पष्ट हो जाता है। लेखक ने अपनी कथा-वस्तु की व्यंजना में काफी सफलता प्राप्त की है—और इसके द्वारा उसने आज के युद्ध-पिपासुओं को एक अच्छी चुनौती दी है।

अब रही बात नाटक की टेकनिक और भाषा के सम्बन्ध में। नाटक की रचना में लेखक ने एक नई टेकनिक अपनायी है, जो सराहनीय है। परन्तु जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, शब्दों के प्रयोग में लेखक इतना सजग रहा है कि उर्दू-शब्दों के जरूरत से ज्यादे प्रयोग हो गये हैं। यह सजगता का ही परिणाम है कि उर्दू के बहुत ऐसे कठिन शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो हिन्दी नाटक देखने वाले साधारण दर्शकों की समझ से परे हैं। लेखक का अगर वैसे शब्दों के प्रति बहुत ज्यादा आग्रह नहीं होता तो नाटक अपने उद्देश्य की पूर्ति में ज्यादा सफल हो सकता।

—श्रीनारायण 'आजाद'

चार अध्याय (उपन्यास)

लेखक—जनार्दन अजय
प्रकाशक—राष्ट्रभाषा पुस्तकालय, पटना-४
पृष्ठ-संख्या—१२८। मूल्य-२.५५

नवोदित कथाकार श्री जनार्दन अजय का यह प्रथम उपन्यास है। लेकिन, प्रथम उपन्यास के नाते यह अधिक अपरिपक्व नहीं है। एक नारी के मनोविश्लेषण का चित्रण करने में लेखक ने सफलता पायी है और जीवन में घटने वाली भूलों के लिए पश्चात्ताप के साथ ही, उसने आदर्श जीवन अपनाने का दिशा-निर्देश भी किया है। लेकिन, मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखने के लिए और भी प्रतिभा एवं कुशाग्रता की दरकार होती है। आशा है लेखक भविष्य में सचेष्ट रहेंगे।

—मुक्तिदूत

बाँध और धारा

लेखक—नवलकिशोर धवल,
प्रकाशक—जनसंपर्क विभाग, विहार (पटना)
पृष्ठ-संख्या—२६, मूल्य—२५ नये पैसे

"बाँध और धारा" धवलजी की अद्यावधि प्रकाशित कृतियों में सर्वश्रेष्ठ है, साथ ही जनसंपर्क-विभाग के संख्या-बहुल आशुप्रकाशनों में रेखांकित महत्त्व से युक्त है; कारण, जनसंपर्क-विभाग के प्रकाशनों में 'संपर्क और प्रचार' के अतिशय का जो स्तर रहता है, उससे ऊपर उठकर इस कृति में ध्यातव्य दूरी तक साहित्यिक सुरुचि की रक्षा का प्रयत्न किया गया है। अतः यह कृति उस संगम को प्रस्तुत करती है, जहाँ संतुलित सोद्देश्यता और साहित्य का सानुपातिक शुक्ति-स्वाति-संयोग मिलता है। यों धवलजी विहार के जाने-माने साहित्यकारों में हैं और विशेषकर हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में इन्होंने संपादन-कला का एक स्पृहणीय प्रतिमान उपस्थित किया है; फिर भी नाटककार के रूप में ये प्रकाशित नहीं थे। प्रस्तुत कृति में धवलजी अपने एक नये, किन्तु परिनिष्ठ रूप में हमारे सामने आते हैं। एक अप्रकाशित नाटक "विभीषण का बेटा" में उन्होंने जिस अर्द्ध पौराणिक और आपात ऐतिहासिक भूमि को अपनाया था, उससे यह कृति नितान्त भिन्न भूमि पर उपस्थापित है। संक्षेप में, हम इस कृति को लोक-मंगल की वाहिका कह सकते हैं, जिसमें धवलजी ने सामाजिक परिवर्त्तनों का प्रगति के पक्षधर के रूप में अग्रचारी मंगल-स्तवन किया है। इसमें कई स्थलों पर सार्वजनिक जीवन और सार्वजनिक क्रिया-कलापों के प्रति एक निविड़ मोह मिलता है (जैसा रामलाल की कई उक्तियों से प्रकट होता है) जिसमें नाटककार के पूर्वजीवन का वह अंश ध्वनित होता है, जिसमें उसने भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम को अपना जीवनोद्देश्य बनाया था। कुल मिलाकर यह कृति एक विभागीय प्रकाशन होने पर भी लेखक के जीवन-दर्शन से संपृक्त होने के कारण उच्चाशय बन गयी है।

प्रस्तुत कृति तीन दृश्यों का एक अभिनेय नाटक है, जिसमें रंगमंच की सभी व्यावहारिक सुविधाओं का ध्यान रखा गया है। फलस्वरूप यह कृति हिन्दी की उन अंगुलि-गण्य नाट्य-रचनाओं में है, जो अभिनेयता के अभाव से

सर्वथा मुक्त हैं। इस नाटक के एक विहंगम अवलोकन से भी यह पता चल जाता है कि नाटककार ने नाटक लिखते समय अभिनेयता को दृष्टिपथ में रखा है और अपने रंगमंचीय ज्ञान का सुन्दर विनियोग प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिये, एक हल्की-सी चीज—'पात्र-परिचय' को देखा जा सकता है। इसमें लेखक ने व्यवसायी या 'एमेचर' नाट्य-मंडलियों की सुविधा के लिये पात्रों की उम्र के निर्देश के साथ ही उनका चरित्र-संकेत भी कुछ शब्दों में दे दिया है। अतः अभिनय का अल्पशिक्षित आयोजक भी संपूर्ण नाटक को समझदार आलोचक की तरह पढ़े बिना ही पात्रों का उचित चुनाव और कस्टयूम ड्रेसिंग कर सकता है। यों नाटक के पाठ्य-रूप का 'सहृदय' यदि आलोचक की मुद्रा में बैठे तो वह कह सकता है कि यह निर्देश नाटककार की विविक्त सोद्देश्यता का सूचक है, क्योंकि वय-निर्देश से पात्रों की दो कोटियाँ स्वतः निर्दिष्ट हो जाती हैं—चार अधेड़ और दो युवक। संभवतः दो कोटियाँ क्रमशः परम्परा और प्रगति का प्रतीक बन गयी हैं। तदन्तर पात्र-कलन में एक विशेषता यह है कि इस नाटक में एक भी नारी-पात्र नहीं है। अतः देहात अथवा अर्द्ध-शिक्षित समाज में भी अभिनय के समय पात्रों को जुटाने में व्यवस्थापकों को विशेष असुविधा नहीं होगी।

साहित्य-दर्शन की दृष्टि से नाटककार अपने दृष्टिकोण के प्रति बहुत ईमानदार है। वह जिस सोद्देश्यता का पक्षधर है, उसे छिपाने की उसने तनिक भी चेष्टा नहीं की है। नाटक के प्रारंभिक निजी कथन में ही लेखक ने नाटक की मूल समस्या का निरूपण इन शब्दों में किया है—"हमारे देश में नव निर्माण की, नई परिकल्पनाओं की, योजनाओं की, समाजवादी समाज की ओर प्रगति की, विश्व-बंधुत्व की एक उच्छल वेगवती धारा आज बह रही है। निश्चय ही ऐसी स्थिति की माँग है कि अनेक विचारों, नये संदर्भों तथा नई कल्पनाओं को स्थान देकर उसके कदम से कदम मिलाया जाय। किन्तु, यह भी निस्संदेह है कि रूढ़ियाँ जल्दी मरती नहीं।" आगे चलकर नाटककार ने बाद की पंक्तियों में अपने पात्रों का नाम देकर इस समस्या का सरलीकरण प्रस्तुत किया है। किन्तु, जहाँ वह अपनी कृति की सोद्देश्यता को बहुत विस्रब्ध ढंग

से उपस्थित करता हुआ कहता है—"नव निर्माण की वेगवती धारा के आगे रूढ़ियों का टूटता हुआ बाँध प्रस्तुत है—"बाँध और धारा", वहाँ वह भावों की उस साहित्यिक शिल्पित अभिव्यक्ति के प्रति भी सचेष्ट है, जो सोद्देश्य कृतियों में प्रायः अलभ्य रहती हैं। उदाहरणार्थ, ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"घहराती हुई नदी की वेगवती धारा आपने देखी होगी। उस प्लावन में धारा के उच्छल वेग को छोटे-छोटे बाँध रोक सकने में असमर्थ होते हैं।" और, यहीं नाटक के नाम की सार्थकता, खेल की सोद्देश्यता, और "बाँध" तथा "धारा" की रूपकवत् प्रतीकित अर्थवत्ता—सब कुछ स्पष्ट हो जाती है।

नाट्यकला की दृष्टि से नाटककार ने ब्रैकेट्स में दिये गये दृश्य-संकेत का आधुनिक ढंग अपनाया है, जिसमें प्रायः एक-एक बात का बारीक निर्देश रहता है—कुर्सी, मेज से लेकर घड़ी के काँटे तक का। इतना ही नहीं, दृश्य-संकेत में उसने ओटपटों, बैकस्क्रीन, मंचाग्र और पार्श्व का इतना सटीक संकेत किया है कि उससे लेखक के रंगमंच के पर्याप्त ज्ञान और अनुभवों का बलिष्ठ द्योतन होता है। तदनन्तर, नाटककार ने भाषा को भी पात्रानुकूल रखने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से 'बलुआ' नामक पात्र की उक्तियाँ बहुत रोचक हैं। बलुआ वैसी ही भाषा का प्रयोग करता है, जिस भाषा में प्रायः संभ्रान्त परिवार के नौकर बोलते हैं···"मालकिनी कहिन हैं कि सुरेन बबुआ को बुलाओ। मूरन का मुहूरत बीता जा रहा है। पंडीजी उबियाये हुये हैं।" ऐसी ही पात्रानुकूल भाषा की योजना हमें रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटक "एक तोला हफीम की कीमत" में मिलती है।

—कुमार विमल

पं० श्री रामनरेश त्रिपाठी

हृदयगति रुक जाने के कारण साहित्यगुरु त्रिपाठीजी गत मास दिवंगत हुए। आयु भी ऐसी ही उपस्थित थी। पश्चिम और पूर्वी उत्तर प्रदेश का अंचल और उसकी गीतिवाणियाँ हिन्दी को अवगत कराना उनकी अन्य आचार्यता रही। 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' जैसे ऋतकल्प के इन प्रकृतपुरुष साहित्यगुरु के प्रति हमारी सदा की कृतांजलि आज श्रद्धांजलि के रूप में निवेदित है। ओ३म् शान्तिः।

राहुलजी का असुख

हम हिन्दीवाले पता नहीं क्यों ऐसे अश्रद्ध अभागे हैं कि अपने किसी साहित्यगुरु की सेवा का स्वाभाविक ईमान तक अपने में नहीं ला पाते। जिन गुरुओं ने साहित्य और जातीय सचाई के विषय में सरकार की मुखापेक्षिता कभी कतई नहीं की, उनकी बीमारी में सहायता कर सरकार श्रेय की भागी बने—यह हम हिन्दी वालों का ही अपराध है। आदरणीय राहुलजी बहुत दिनों से बहुत अधिक बीमार हैं। इस समय कलकत्ते में अस्पताल में भर्ती हैं। उत्तर-प्रदेश की सरकार ने चिकित्सार्थ सहायता दी है—अतः उसे धन्यवाद। किन्तु, हम हिन्दीवालों का व्यक्ति और संगठन क्यों कुछ नहीं कर रहा है। हम उनकी स्वास्थ्यकामना के साथ हर हिन्दीप्रेमी व्यक्ति और संगठन से प्रार्थना करते हैं कि वे ऐसी स्थिति में अपनी सेवा गुरुजन के समक्ष सीधे उपस्थित करें। गुरुजन की उपस्थिति में उनके प्रति उपेक्षा और अनन्तर स्मारकनिर्माण की उत्तेजना फैशन की चीज है, न कि साहित्य का अभ्यास।

'पुस्तक जगत' के प्रति

गत वर्ष अखिल भारतीय प्रकाशक संघ के पटना-अधिवेशन के समय और पटना कांग्रेस-अधिवेशन के समय हमने दो विशेषांक अपने प्रेमी पाठकों तथा सहयोगियों की सेवा में दिये हैं। बीच में एक 'श्रीकृष्ण-स्मृति-अंक' भी दिया है। जनवरी ६२' का अंक 'राजनीति साहित्य विशेषांक' के रूप में देने के कारण हमने फरवरी ६२' का अंक नहीं निकाला। अतः जनवरी ६२' के उक्त विशेषांक को जनवरी-फरवरी का संयुक्तांक मान्य किया जाय। व्यय और लागत की स्थिति को देखते हुए भी हमें ३) से बढ़ाकर इसका वार्षिक चन्दा ४) कर देना पड़ा। आशा है कि हमारे शुभेच्छुओं का सहयोग यथापूर्व बना रहेगा।

श्री तिलक, जो 'कालिदास' शीर्षक कविता-पुस्तक के लेखक हैं और दुमका कोर्ट के शायद ए० डी० पी० जैसे सरकारी जिम्मेदार पद पर काम करते हैं, उन्होंने अपनी उक्त किताब पर मेरे नाम जो सम्मति छापी है, वह गलत है। मैंने उस पुस्तक के विषय में अबतक सम्मति-असम्मति के रूप में कुछ भी लिखा नहीं है। ऐसे गलत कामों को मैं अक्षम्य समझता हूँ और उनके विरुद्ध हर तरह की कार्रवाई की कामना करता हूँ।

—'लालधुआँ'

हमारे महत्त्वपूर्ण हिन्दी प्रकाशन

कहानियाँ

लो कहानी सुनो २)
आस्कर वाइल्ड की कहानियाँ २॥)
एक परछाईं : दो दायरे ३)
गहरे पानी पैठ २॥)
जिन खोजा तिन पाइयाँ २॥)
कुछ मोती : कुछ सीप २॥)
नये बादल २॥)
आकाश के तारे : धरती के फूल २)
खेल-खिलौने २)
अतीत के कम्पन ३)
काल के पंख ३)
जय-दोल ३)
नये चित्र ३)
संघर्ष के बाद ३)
पहला कहानीकार २॥)
मेरे कथागुरु का कहना है [१-२] ५॥)
हरियाणा लोकमंच की कहानियाँ २॥)
मोतियों वाले २॥)
अपराजिता २॥)
कर्मनाशा की हार ३)
सूने आँगन रस बरसै ३)
जिन्दगी और गुलाब के फूल २॥)

इतिहास-राजनीति

खण्डहरों का वैभव ६)
खोज की पगडण्डियाँ ४)
चौलुक्य कुमारपाल ४)
कालिदास का भारत [१] ८)
इतिहास साक्षी है ३)
एशिया की राजनीति ६)
पलासी का युद्ध ३॥)

संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी आदि

हमारे आराध्य ३)
संस्मरण ३)
रेखाचित्र ४)
जैन जागरण के अग्रदूत ५)
दीप जले : शंख बजे ३)
माखनलाल चतुर्वेदी ६)
आत्मनेपद ४)
पराड़करजी और पत्रकारिता ५॥)
द्विवेदी-पत्रावली २॥)

यात्रा-विवरण

हरी घाटी ४॥)
सागर की लहरों पर ४)
पार उतरि कहँ जइहौ ३)
एक बूँद सहसा उछली ७)

सूक्तियाँ

कालिदास के सुभाषित ५)
ज्ञानगंगा [१-२] १२)
शरत की सूक्तियाँ २)
सन्त विनोद २)

कविता, कहानी आदि (विविध संकलन)

काठ की घण्टियाँ ७)
सीढ़ियों पर धूप में ४)
पत्थर का लैम्प-पोस्ट ३)

एकांकी : नाटक

नाटक बहुरंगी ४॥)
जनम कैद २॥)
कहानी कैसे बनी ? २॥)
पचपन का फेर ३)
तरकश के तीर ३)
रजत-रश्मि २॥)
और खाई बढ़ती गई २॥)
चेखब के तीन नाटक ४)
बारह एकाङ्की ३॥)
कुछ फीचर : कुछ एकांकी ३॥)
सुन्दर रस १॥)
सूखा सरोवर २)
भूमिजा १॥)

उर्दू-शाइरी

मीर ६)
गालिब ८)
शेर-ओ-शाइरी ८)
शेर-ओ-सुखन [५ भाग] २०)
शाइरी के नये दौर [५ भाग] १५)
शायरी के नये मोड़ [२ भाग] ६)
नग्मए-हरम ४)

कविता

वर्द्धमान [महाकाव्य] ६)
धूप के धान ३)
मेरे बापू २॥)
पञ्च-प्रदीप २)
सौवर्ण २॥)
वाणी ४)
आवाज तेरी है ३)
लेखनी-बेला ३)
आधुनिक जैन कवि ३॥।)
कनुप्रिया ३)
सात गीत वर्ष ३॥)
देशान्तर १२)
अरी ओ करुणा प्रभामय ४)
तीसरा सप्तक ५)
अनु-क्षण ३)
वेणु लो, गूँजे धरा ३)
रूपाम्बरा १२)
वीणापाणि के कम्पाउण्ड में ३)

दार्शनिक, आध्यात्मिक

भारतीय विचारधारा २)
अध्यात्म पदावली ४॥)
वैदिक साहित्य ६)

ललित-रचना, सांस्कृतिक निबन्धादि

ज़िन्दगी मुसकराई ४)
बाजे पायलिया के घुँघरू ४)
माटी हो गई सोना २)
क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ ? २॥)
ग़रीब और अमीर पुस्तकें १)
हिन्दू विवाह में कन्यादान का स्थान १)
ठूँठा आम २)
वृन्त और विकास २॥)
सांस्कृतिक निबन्ध ३)

भारतीय ज्ञानपीठ दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५

—नए प्रकाशन—

पोस्ट बॉक्स
१०६४

नये पुराने झरोखे : डॉ० हरिवंशराय बच्चन ४.५०

बच्चनजी कवि के रूप में बड़े प्रसिद्ध और लोकप्रिय हैं; परन्तु वे गद्य में निबन्ध भी उन्मुक्त शैली में इतने सुन्दर लिखते हैं, यह इस पुस्तक को पढ़कर विदित होता है। इसमें उनके आज तक के निबन्धों, वार्ताओं तथा संस्मरणों का संकलन है, जो साहित्य की अमूल्य निधि है।

युग-निर्माता पत्रकार : मू० आइरिस नोबल
(अनु० श्रीकान्त व्यास) ३.००

इस पुस्तक में एक महान् पत्रकार की जीवनी है, जो उपन्यास से भी बढ़कर मनोरंजक है। एक संवाद-दाता के रूप में कार्य शुरू करके किस प्रकार वह अपने बुद्धिबल और सचाई से महान् समाचारपत्रों का स्वामी बना और युग-परिवर्तन करके पत्रकारिता के ऊँचे आदर्शों की स्थापना करने में सफल हुआ। उसने अनेक कष्ट सहे, व्यथाएँ झेलीं; परन्तु अपने लक्ष्य से तिलमात्र न टला।

हमारे तीन नये उपन्यास :—

मन्मथनाथ गुप्त का नया उपन्यास **उलझन : ४.००**

संविधान ने स्त्री का पुरुष से समानता का दावा भले ही स्वीकार कर लिया हो; पर सामाजिक सम्बन्धों में, प्रेम में, सेक्स सम्बन्धी विषयों में क्या स्त्री को पुरुष की बराबरी का दर्जा प्राप्त है? जब वह पुरुष की समता का दावा करती है तो एक विषम उलझन आ पड़ती है। उसी का मनोवैज्ञानिक और अत्यन्त मनोरंजक विश्लेषण।

जयन्त का नया उपन्यास **एक इन्सान : २.५०**

कालेज में पढ़ते हुए जहानआरा का एक इन्सान से परिचय होता है। वह उसके अन्तर की गहराई में उतर जाता है, पर वह तो एक इन्सान है, सबका—सबके दर्द का...

डॉ० रांगेय राघव का नया उपन्यास **प्रोफैसर : २.५०**

प्रोफैसर के जीवन में स्तर-स्तर पर पीड़ा है—कराह है—छटपटाहट है। हीरा की पीड़ा प्रोफैसर की पीड़ा से भिन्न है; पर है पीड़ा ही। उपन्यासकार ने एक नई शैली का वातायन खोल दिया है।

'पुस्तक-जगत के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ४) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य ३७ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* साधारण अंकों में विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
,, द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
,, आधा पृष्ठ	:	२०.००
,, एक चौथाई पृष्ठ	:	१२.००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,

पुस्तक-जगत, ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

रजिस्टर्ड नं० : पी० ८०४ वार्षिक : चार रुपये
वर्ष ८ :: अंक—७ :: मार्च—१९६२

हिन्दी साहित्य को साहित्य अकादेमी का अनुवाद-उपहार
कन्नड़ साहित्य का सांस्कृतिक ऐतिहासिक उपन्यास-शिल्प

श्री विष्णुकान्ता

शान्तला

मूल लेखक : श्री के० वी० अय्यर : अनुवादक : डॉ० हिरण्मय

कर्नाटक के प्रसिद्ध होइसल-राजवंश के उत्थान-पतन के रोमांचकारी वर्णन के साथ-साथ ऐतिहासिक तथ्य, तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों का यथातथ्य चित्रण। मूल्य : ७.००

ओजस्वी भाषा में अभिनेय युद्धान्तक नाटक

औरत और अरस्तू

लेखक : श्री रामप्रिय मिश्र 'लालधुआँ'

"सर्वथा नई टेकनीक में लिखित यह नाटक हिन्दी नाट्य-साहित्य में एक अभिवृद्धि की सूचना देता है। भाषा और शैली के सारल्य के कारण यह सहज ही अभिनेय भी है।"—'प्रकाशन-समाचार' मूल्य : २.००

हिन्दी मंच के लिए अभिनेयरूप में रूपान्तरित

अभिज्ञान शाकुन्तल

रूपान्तरकार : श्री राधाकृष्ण

हिन्दी के श्रेष्ठतम गद्यशिल्पी द्वारा इस विश्ववरेण्य नाटक का यह अभिनेय रूपान्तरण पाठ्य और मंच के लिये समान उपयोगी है। मूल्य : १.७५

महाकवि दण्डी का अमर गद्योपन्यास

दशकुमारचरित

रूपान्तरकार : श्री हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'

अपने समय के जीवन के सभी पक्षों पर सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाली संस्कृत की श्रेष्ठ उपन्यासकृति का साधारण अध्येताओं और छात्रों के उपयुक्त रूपान्तर। मूल्य : ३.००

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

पुस्तक-जगत

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

हिन्दी में प्रेमचंद के प्रेमियों की कमी नहीं है। औरत-मर्द, बूढ़े-जवान, विद्यासागर और मामूली पढ़े-लिखे लोग, हिन्दू और मुसलमान—सब प्रेमचंद पर यकसाँ जान देते हैं। उनके लिए यह एक बड़ी, बहुत बड़ी खबर होगी कि प्रेमचंद-साहित्य में क़रीब ढाई हज़ार पृष्ठ नये जुड़ने जा रहे हैं—और यह कि आपके जाने-माने कथाकार अमृत की पाँच साल की जी-तोड़ मेहनत का नतीजा प्रेमचंद की एक सम्पूर्ण और प्रामाणिक साहित्यिक जीवनी अब जल्दी ही आपके हाथों में होगी।

हिन्दी के क्षेत्र में ही नहीं, भारतवर्ष भर में जहाँ भी हिन्दी का प्रचार है, कोई विद्यालय, कोई शिक्षा-केन्द्र, कोई सरकारी या अर्द्ध-सरकारी साहित्यिक प्रतिष्ठान ऐसा नहीं जिसमें सम्पूर्ण प्रेमचंद-साहित्य न हो। उनको सूचना भर मिलने की देर है, वे तुरंत ये नयी पुस्तकें मँगाकर अपना संग्रह पूर्ण कर लेना चाहेंगे। यह सब साहित्य एक साथ आगामी प्रेमचंद-जयन्ती ३१ जुलाई १९६२ को आउट किया जायगा। सारी पुस्तकें डिमाई आकार में, बड़े सुन्दर और सुरुचिपूर्ण गेट-अप के साथ प्रकाशित की जा रही हैं। उनका विवरण नीचे दिया जाता है :—

विविध प्रसंग —लेख-संग्रह	तीन भाग	पृष्ठ-संख्या लगभग १२००	मू० रु० २५.००
चिट्ठी-पत्री	दो भाग	पृष्ठ-संख्या लगभग ६००	मू० रु० १५.००
गुप्त धन—गुमशुदा कहानियाँ	दो भाग	पृष्ठ-संख्या लगभग ५००	मू० रु० १५.००
आरंभिक उपन्यास	एक भाग	पृष्ठ-संख्या लगभग ५००	मू० रु० १५.००
कलम का सिपाही—जीवनी	एक भाग	पृष्ठ-संख्या लगभग ७५०	मू० रु० १८.००

पुस्तकों की पृष्ठ-संख्या और उनके मूल्य अनुमान से दिये जा रहे हैं। उनमें कुछ हेर-फेर संभव है। हमारे अन्य प्रकाशनों की भाँति इन पुस्तकों पर भी हमारा साधारण व्यापारिक कमीशन २५ प्रतिशत दिया जायगा। इन पर किसी भी दशा में कोई अतिरिक्त कमीशन देने की व्यवस्था नहीं है।

लेकिन

प्रकाशन से पूर्व अतिरिक्त कमीशन देने की भी व्यवस्था है और वह इस प्रकार—

३१ मार्च १९६२ तक प्राप्त ऑर्डर पर —३३⅓ प्रतिशत

१ अप्रैल १९६२ से ३१ जुलाई १९६२ तक प्राप्त ऑर्डर पर — ३० प्रतिशत

ऑर्डर कम-से-कम पाँच सेटों का होगा और एक तिहाई मूल्य ऑर्डर के साथ भेजा जाय। सम्पूर्ण सेट का ऑर्डर ही स्वीकार किया जायगा। रेल-भाड़ा माफ़ होगा। अपनी जरूरत को समझकर शीघ्र ही अपना ऑर्डर भेजें। यह मौक़ा फिर न मिलेगा।

हंस प्रकाशन : ९३ जीरो रोड : इलाहाबाद

हमारे अनुपयोगीय पाठ्य

'HINDI THROUGH ENGLISH'

By : **Sarbdeo Narayan Sinha** *M. A.*

Instructor, Hindi Training Centre, Secretariate, Patna

"I am sure it will be useful to those who want to learn Hindi through the medium of English"

—*R. S Pandey, I. A. S.*
Agent, Tata Iron & Steel Co.

Price Rs. 6·00

मानव-मन

लेखक : श्री द्वारका प्रसाद

"मानवमन में सामान्य मनोविज्ञान के प्रत्येक साधारण पहलू पर संक्षिप्त तथा वैज्ञानिक ढंग से विचार किया गया है।"

—'युगप्रभात'

मूल्य : ४·७५

व्यक्ति, प्रकार और अन्य मनोविश्लेषण

लेखक : डॉ० प्रमोद कुमार, एम० ए०, पी-एच० डी०

"लंबे नाम में ही कलेवर का आभास मिलता है। भिन्न-भिन्न विषयों की समालोचना मनोविज्ञान के आधार पर करने का लेखक ने वांछनीय और प्रशंसनीय यत्न किया है।"

—'युगप्रभात'

मूल्य : २·२५

परिवार : एक सामाजिक अध्ययन

लेखक : श्री पंचानन मिश्र

"श्री पंचानन मिश्र ने गहन और विवादग्रस्त विषय पर एक अधिकारी और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा है।"

—जयप्रकाशनारायण

मूल्य : ४·००

हिन्दी साहित्य : एक रेखाचित्र

लेखक : प्रो० शिवचन्द्र प्रताप

"इतिहास इतना सरस, मनोरंजक, प्रवाहपूर्ण हो सकता है, इसकी कल्पना भी इस ग्रंथ को देखने के पूर्व नहीं हो सकती।"

—डॉ० रामखेलावन पाण्डेय

मूल्य : ३·००

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

भारत में पुस्तक-प्रकाशन

श्री कृष्णाचन्द्र बेरी

भारत में पुस्तक-प्रकाशन की कहानी वैसे तो सदियों पुरानी हो चुकी है, परन्तु आज के वैज्ञानिक युग में पुस्तक-प्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण विषय है। आमतौर पर हमारे देश में प्रकाशन-व्यवसाय में आने वाले अधिकांश व्यक्ति ऐसे हैं जोकि प्रकाशन के कार्य को उस दृष्टि से नहीं देखते, जो नई तकनीक से युक्त इस महत्त्वपूर्ण कार्य में सम्पादन के लिए आवश्यक है। चूँकि पुस्तकों का उपयोग सर्वसाधारण में शिक्षा और संस्कृति के प्रसार के लिए होता है, ऐसी स्थिति में अब यह आवश्यक हो गया है कि हम पुस्तकों के प्रकाशन पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें और पुस्तकों के अंग-प्रत्यंग की विवेचना करें ताकि सर्वसाधारण के लिए अच्छी पुस्तकें छपें।

आज मैं पुस्तक-प्रकाशन के सिद्धान्तों की विवेचना करूँगा। मोटे तौर पर पुस्तक-प्रकाशन में उचित स्थान पर उचित टाइपों के व्यवहार, कागज का चुनाव, उचित ढंग से मशीन पर छपाई, अच्छी बँधाई और सुरुचिकर विषय, आकर्षक कवर आदि विषय का अध्ययन आवश्यक है।

शिक्षा तथा ज्ञान के प्रसार-हेतु यह विषय अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ मैं जो कुछ भी निवेदन कर रहा हूँ उसका दृष्टिकोण प्रकाशकीय है।

पुस्तकों की उत्पत्ति निश्चय ही लेखकों के उर्वर मस्तिष्क की उपज है और प्रकाशक एक ऐसा माध्यम है जो लेखकों की कृतियों को सर्वसाधारण में प्रकाशित कर पहुँचाता है। पुस्तक-प्रकाशन का मूल महत्त्व सर्वसाधारण में लेखकों के विचारों का प्रचार है। प्राचीन भारत में, जबकि पुस्तकों के प्रकाशन की आज की तरह सुविधा नहीं थी, मौखिक रूप से लेखकों के विचारों का प्रचार होता था। तालपत्रों पर पुस्तकें लिखी जाती थीं, मन्दिरों की दीवालों पर साहित्य अंकित किया जाता था और शिलालेखों द्वारा विचारों का प्रचार होता था। आज के युग में रेडियो और सिनेमा भी एक ऐसे उपकरण हो गए हैं जो लेखक के साहित्य का प्रचार-प्रसार सर्वसाधारण में कर रहे हैं, परन्तु संचरण के माध्यम से पुस्तकों का अपना महत्त्व है और भारत की सांस्कृतिक और भावी वैज्ञानिक प्रगति में निश्चय ही पुस्तकों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। जैसे-जैसे प्रकाशक पुस्तकों के प्रकाशन के महत्त्व समझने लगेंगे वैसे-वैसे ही उन्हें अपनी भूमिका का महत्त्व भी विदित होता जाएगा।

जब किसी प्रकाशक के पास कोई पाण्डुलिपि आती है तो उसके सामने समस्याएँ आती हैं: सम्पादन की, टाइप-चयन की, मशीन तथा जिल्दसाजी की और साथ ही प्रकाशन के उपरान्त उसकी बिक्री की। उसे सोचना पड़ता है कि पुस्तकों का विक्रय-मूल्य क्या होगा, वह कितने पृष्ठ की होगी, उसकी बँधाई कैसी होगी और उसका अमुक प्रकाशन सर्वसाधारण द्वारा किस प्रकार अपनाया जाएगा।

इन प्रश्नों को प्रकाशक इसलिए सोचता है, क्योंकि उसे अपनी रकम इस कार्य में लगानी होती है और उसे एक तरह की जोखिम उठानी पड़ती है जिसमें इस बात का निश्चय नहीं हो पाता कि किस समय तक उसकी यह रकम फँसी रहेगी। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि प्रकाशकों को बाजार का अनुभव हो और यह भी आवश्यक है कि वह जनता की माँग को दृष्टिगत रखे। ऐसी स्थिति में प्रकाशक को पुस्तकों के उत्पादन में मुद्रण-पक्ष के साथ ही पुस्तक-प्रकाशन की अन्य योजनाओं पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेना होगा ताकि जो रकम वह प्रकाशन में लगा रहा है वह सार्थक हो और उसके प्रकाशन का सर्वसाधारण में समादर हो।

पुस्तक का अनुबन्ध-पत्र

पुस्तक प्रकाशित करने के पूर्व प्रकाशक को सबसे पहले इस विषय पर विचार कर लेना है कि पुस्तकविशेष के प्रकाशन के लिए उसे लेखक या सम्बन्धित व्यक्ति से प्रकाशन की अनुमति मिल गई है। प्रकाशक और लेखक के बीच प्रकाशन के लिए अनुबन्ध-पत्र पुस्तक-प्रकाशन के पूर्व ही भरा जाता है अथवा अनुवाद आदि के प्रकाशन में मूल लेखक या उसके प्रकाशक से अनुवाद करने की

अनुमति लेकर पुस्तक प्रकाशित की जाती है। इसके अन्तर्गत पुस्तक में व्यवहृत होने वाले फोटोग्राफ चित्र आदि की अनुमति प्राप्त कर लेना भी आता है। इस तरह, प्रकाशक का पुस्तक-प्रकाशन के आरंभ में यह पहला चरण होता है। अनुबन्ध-पत्र वाली बात कुछ मामलों में लागू नहीं होती। जैसे प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाशन में; एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवादों में, उस दृष्टि से जबकि मूल पुस्तक को प्रकाशित हुए २५ वर्ष बीत चुके हों; अथवा सार्वजनिक व्याख्यानों में अनुबन्ध-पत्र की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु ऐसी चीजों को प्रकाशित करने के पूर्व प्रकाशक को इस ओर सचेष्ट रहने की आवश्यकता है कि कहीं कापीराइट के अन्तर्गत तो ऐसी चीजें नहीं हैं जिन्हें वह प्रकाशित करने जा रहा है।

भारतवर्ष कापीराइट-कन्वेंशन मानने वाले देशों में है। ऐसी स्थिति में हमें उन सभी देशों के लेखकों की कृतियों के प्रकाशनार्थ अनुमति लेनी पड़ती है जोकि कन्वेंशन को मानते हैं। रूस, ईरान आदि ऐसे देश हैं जोकि बर्न कापीराइट-कन्वेंशन को नहीं मानते और इनके प्रकाशनों का अनुवाद स्वतंत्रतापूर्वक किसी भी देश में हो सकता है और ये भी किसी भी देश के प्रकाशनों को अपने यहाँ अनूदित करके प्रकाशित कर सकते हैं। यह सब संक्षेप में मैंने इसलिए आपके समक्ष रख दिया है, क्योंकि अनुबन्ध-पत्र के सन्दर्भ में कभी-कभी ये बातें उठा करती हैं।

किस तरह की पाण्डुलिपि स्वीकार की जाए ?

प्रकाशक को पाण्डुलिपि लेते वक्त दो बातें स्थिर कर लेनी होती हैं—(१) पाण्डुलिपि साफ-सुथरी लिखी हुई अथवा टाइप की हुई हो, (२) उसका उचित रीति से सम्पादन किया गया हो। पाण्डुलिपि स्वीकार करते वक्त इन दोनों प्रश्नों पर विचार करना नितान्त आवश्यक हो जाता है। साफ-सुथरी पाण्डुलिपि रहने से उसके मुद्रण में सुविधा रहती है और साथ ही लेखक को भी सुविधा होती है, जब वह अपनी पुस्तक का प्रूफ आदि देखता है। पाण्डुलिपि टाइप करते समय इसकी दो प्रतियाँ कम-से-कम टाइप होनी चाहिएँ, एक लेखक के पास रहे और दूसरी प्रकाशक के पास। इससे सुविधा यह होती है कि प्रकाशक के पक्ष के प्रूफ-रीडर प्रूफ देखते समय कापी का उपयोग करते हैं और मूल कापी लेखक के पास प्रूफ के साथ नहीं भेजनी पड़ती। दूसरी प्रति जो लेखक के पास रहती है उसका उपयोग लेखक स्वयं प्रूफ देखने में कर लेता है। पाण्डुलिपि तैयार करते वक्त और टाइप करते वक्त यदि सम्भव हो तो डबल स्पेस में कागज के एक ही ओर टाइप किया जाए। पेज में एकरूपता रहे तो ज्यादा अच्छा रहेगा। इससे शब्दों की गणना हो जाती है और अनुभव हो सकता है कि पाण्डुलिपि कितने पृष्ठों में छपकर तैयार होगी। यदि टाइप करने की असुविधा हो तो रूलदार कागज पर पाण्डुलिपि तैयार की जानी चाहिए। हस्तलिखित पाण्डुलिपि में इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि प्रत्येक पेज पर अनुमानतः शब्दों की संख्या एक बराबर ही हो। यदि पाण्डुलिपि साफ-सुथरी और सुसम्पादित रहेगी तो मुद्रक को कम्पोजिंग करने में लाभ होता है और उसी अनुपात से खर्च भी घट जाता है। पाण्डुलिपि की सफाई से दूसरा फायदा यह होता है कि पुस्तक जल्द छपती है। इसके विपरीत, यदि आप भद्दी लिखी हुई पाण्डुलिपि या रद्दी टाइप की हुई पाण्डुलिपि प्रेस में देंगे तो निश्चय है कि आपको मुद्रक को अधिक छपाई देनी होगी और उसकी परेशानी के साथ ही आपकी भी परेशानी बढ़ेगी।

पाण्डुलिपि का सम्पादन

पाण्डुलिपि के सम्पादन का अर्थ होता है : व्याकरण तथा विषय की दृष्टि से मूलभूत भूलों का संशोधन। यदि पाण्डुलिपि सम्पादित न की जाए तो कभी-कभी अर्थ का अनर्थ हो जाता है। संशोधन यथास्थान पाण्डुलिपि में ही करना चाहिए और लाइन के भीतर ही। परन्तु, प्रूफ में संशोधन बाहर बचे हुए मार्जिन पर किया जाना चाहिए, लाइन में नहीं। यदि पाण्डुलिपि में बहुत भयानक ढंग की भूलें प्रकाशक को मिलें तो उसके प्रकाशन के पूर्व लेखक को इसकी सूचना दे देनी चाहिए और लेखक से ही उसका सम्पादन या संशोधन कराना चाहिए। शीर्षक, उपशीर्षक, फुटनोट आदि पर सम्पादन में विशेष रूप से निशान लगा रहना चाहिए। यदि कोई प्रकाशक अपने पाठकों की एकरूपता रखता है, तो मुद्रक को पहले से ही

सूचना दे देनी चाहिए, क्योंकि प्रायः प्रत्येक प्रेस के अपने नियम अलग-अलग होते हैं। अच्छा तो यह है कि प्रेस वाले से पहले एक पेज प्रूफ ले लिया जाए और जिस रंग-ढंग से पुस्तक छपने वाली हो उसे निर्धारित कर लिया जाए। जहाँ तक सम्भव हो, पाण्डुलिपि में ही सब तरह के निशान आदि लगा लेने चाहिए। इससे समय और पैसे दोनों की बचत होती है। परन्तु, अधिकांश प्रकाशकों के यहाँ पुस्तक प्रकाशन के पूर्व पाण्डुलिपियों का सम्पादन-संशोधन नहीं होता है और न पाण्डुलिपियों में किसी तरह के शीर्षक, उपशीर्षक के निशान होते हैं और न फुटनोटों के विषय का सुझाव। परिणाम यह होता है कि शीर्षक में वही टाइप हो जाता है जो मूल पुस्तक के मैटर में रहता है। यदि उपर्युक्त बताये हुए नियमों पर प्रकाशक आचरण करें तो पुस्तकों का प्रकाशन भी उत्तम होगा और पैसे की बचत भी। यहाँ मुझे विशेष रूप से एक बात कहनी है। कभी भी पाण्डुलिपियों में लेखक की मरजी के विरुद्ध संशोधन या सम्पादन नहीं किया जाए। यदि कहीं आपका मतभेद हो तो तर्क द्वारा लेखक को राजी कर लीजिए। यदि वह राजी नहीं होता है और प्रकाशक को आर्थिक हानि होने की संभावना है तो पाण्डुलिपि उसी रूप में लेखक को वापस कर देनी चाहिए। आपको एक उदाहरण दूँ : आर० एल० बर्मन एण्ड कम्पनी में 'लन्दन रहस्य' नामक पुस्तक छप रही थी। संचालक स्वर्गीय रामलालजी वर्मा में एक गुण था कि वह प्रत्येक पुस्तक में संशोधन और सम्पादन स्वतः किया करते थे। उनका यह गुण एक बार अवगुण का काम कर गया। अनुवादक श्री सदानन्दजी ने उनसे आग्रह किया था कि मेरी अनूदित कृति में आप संशोधन और सम्पादन नहीं करेंगे और जो संशोधन या सम्पादन होगा, मेरी सहमति से कराएँगे। परन्तु बाबू साहब कब माननेवाले थे, उन्होंने रात्रि के समय, मशीन पर छपते समय, सदानन्दजी के अनुवाद में हेरफेर कर ही दिया। सदानन्दजी इतने भावुक व्यक्ति थे कि उन्होंने प्रातःकाल आकर छपे हुए फर्मे देखे और एक पत्र लिखकर वे चले गए। उसके बाद रामलालजी बहुत चेष्टा करने पर भी उनके दर्शन नहीं पा सके।

इनर-टाइटिल के लिए विवरण की प्राप्ति

प्रायः देखा जाता है कि पुस्तकें प्रेस में प्रकाशनार्थ चली जाती हैं, पूरी छप भी जाती हैं, परन्तु शुरू के प्रथम पृष्ठ पर क्या रहना चाहिए, उस मैटर का पता नहीं रहता और कभी-कभी यह भी हो जाता है कि एक पुस्तक में फोलियो पर एक नाम छप जाता है और इनर-टाइटिल पर उसी पुस्तक पर दूसरा। अतः अच्छे प्रकाशक को निम्नलिखित बातों की जाँच सावधानीपूर्वक कर लेनी चाहिए :—

(१) पुस्तक का नाम या उपनाम। (२) लेखक की अन्य कृतियों के नाम। (३) लेखक का नाम। (४) अनुवादक का नाम। (५) किस भाषा से अनुवाद किया गया। (६) समर्पण। (७) भूमिका-लेखक का नाम। (८) चित्रकार का नाम। (९) कापी-राइट का विवरण। (१०) विषय-सूची। (११) कितनी प्रतियाँ मुद्रित हुईं।

(१२) पुस्तक का मूल्य। (१३) पुस्तक का कवर-पृष्ठ। (१४) मुद्रक का नाम।

पाण्डुलिपियों से पुस्तक की पृष्ठ-संख्या का अनुमान लगाना

मुद्रण के पूर्व प्रकाशक के लिए यह आवश्यक है कि वह अनुमान कर ले कि पाण्डुलिपि मुद्रित होने पर कितने पृष्ठों में आएगी। यह अनुमान करते समय पुस्तक में मैटर के साथ चित्रों का स्थान भी जोड़ना पड़ेगा और जहाँ अध्याय समाप्त होगा उसके बाद यदि जगह छोड़नी हो तो उस जगह को भी इस अनुमान में शामिल कर लेना होगा। प्रारम्भिक मैटर के कितने पृष्ठ होंगे यह भी देखना होगा। कागज को भी ध्यान में रखना होगा। कभी-कभी छोटी पुस्तक होने पर मोटा कागज व्यवहृत किया जाता है, इसलिए कि पुस्तक का आकार-प्रकार बड़ा मालूम हो। पुस्तक के पृष्ठ-निर्धारण में टाइप के वर्ग का भी ध्यान रखना होगा, अर्थात् वह किस प्वाइन्ट के टाइप में छप रही है, क्योंकि पृष्ठ के अनुमान में टाइप का भी महत्त्व होता है। पुस्तक का अध्याय कितना हाशिया छोड़कर मुद्रित होगा, यह भी ध्यान देना होगा। पुस्तक किस साइज में छपेगी यह भी पृष्ठांकन में सहायक होता है। उपर्युक्त बातों पर साधारण रूप से ध्यान देने पर कोई भी समझदार प्रकाशक पाण्डुलिपि के पृष्ठों का अनुमान लगा सकता है और वह अपने खर्च और बिक्री का हिसाब भी लगा सकता है।

पुस्तक के लिए कागज की व्यवस्था

पुस्तक-प्रकाशन के लिए कागज की व्यवस्था बहुत महत्त्व की चीज है। प्रेस में कम्पोजिंग के बाद जैसे ही प्रूफ तैयार हो, पुस्तक के मुद्रण के लिए कागज का प्रेस में पहुँच जाना नितान्त आवश्यक है। प्रकाशक को बाजार में उपलब्ध कागज और किस साइज में पुस्तक छपे, यह निर्णय कर लेना आवश्यक होता है। उसे अपने कागज-सप्लायर से पूर्वव्यवस्था कर लेनी होती है कि अमुक पुस्तक में अमुक साइज का कितना रिम कागज लगेगा और उसी आधार पर वह प्रेस को साइज और कागज की क्वालिटी की सूचना देता है। कोई भी ऐसा प्रकाशक नहीं है जो कागज की लागत के अनुपात से पुस्तक के मूल्य के विषय पर विचार नहीं करता हो। प्रायः योग्य प्रकाशक ऐसी मिलों का कागज व्यवहृत करते हैं जिनका कागज अच्छा है और कीमत वाजिब। प्रकाशक उन मिलों से कागज लेने में घाटे में रहता है जो ५०० शीट प्रतिरिम के बजाय ४८० शीट प्रतिरिम कागज सप्लाई करती हैं। कागज क्रय करते समय प्रकाशक के लिए यह नितान्त आवश्यक होता है कि वह ऐसी मिलों से कागज ले जिनके रिम में ५०० शीट प्रतिरिम कागज रहे। पुस्तक की लागत और भी कम हो सकती है, यदि प्रकाशक अपने कागज-सप्लायर को नकद मूल्य दे अथवा मिल से सीधे कागज उपलब्ध करने की उसकी व्यवस्था हो। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिस तरह का कागज प्रकाशक पुस्तक में लगाना चाहता है वह उसे इसलिए अधिक मात्रा में प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उस तरह के कागज की बाजार में खपत ज्यादा होती है और इस कारण कागज की कीमत थोड़ी अधिक हो जाती है और पुस्तक की लागत बढ़ने के कारण प्रकाशक को विवश होकर दूसरे प्रकार का कम मूल्य का कागज लेना पड़ता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्रकाशक जिस साइज का कागज खरीदना चाहेगा, वह नहीं मिलता और विवश होकर प्रकाशक को आवश्यकता से बड़े साइज का कागज खरीदना पड़ता है और उसमें से अपने साइज का कागज कटवा लेना पड़ता है। इससे प्रकाशक को क्षति तो होती ही है, परन्तु साथ-ही-साथ पुस्तक की कीमत भी बढ़ जाती है। भारतीय मानक-संस्था ने पिछले कुछ दिनों पूर्व पुस्तकों में व्यवहृत होने वाले कागज के आकारों में एकरूपता लाने की बात कही है। मेरी राय में प्रकाशकों को इस संबंध में भारतीय मानक-संस्था के सहयोग से पुस्तकों के विभिन्न आकार का निर्णय कर लेना चाहिए, जिससे कागज की उपर्युक्त वर्णित हानियाँ न हों।

पुस्तकों के आकार-प्रकार और विषयवस्तु को देखते हुए प्रकाशक को कागज के वजन का निर्णय करना चाहिए। उदाहरणस्वरूप, यदि आप कोई सन्दर्भ-ग्रन्थ छापते हैं, जिसका महत्त्व सैकड़ों वर्ष तक हो और उसमें प्रकाशक भारी वजन के कागज के बजाय हलका कागज

लगाते हैं तो यह उपयुक्त चुनाव नहीं कहा जा सकता। यह निर्णय कर लेना होगा कि अमुक प्रकार की पुस्तक का क्या महत्त्व है और उसमें किस क्वालिटी का और कितने वजन का कागज लगाना चाहिए। पुस्तकों में बहुत पतले कागज का व्यवहार नहीं करना चाहिए। कभी-कभी रद्दी छपाई के कारण पतले कागज पर टाइप इस कदर उभर आते हैं कि पाठकों को पढ़ने में असुविधा होती है। आप यह प्रश्न कर सकते हैं कि बहुत तरह का पतला कागज डिक्शनरी, बाइबिल आदि में व्यवहृत होता है। उस तरह का पतला कागज ऐसे स्टफ से बना होता है कि पतला होने पर भी बहुत मजबूत होता है। उदाहरणस्वरूप, ह्वाइट प्रिंटिंग के साथ बाइबिल-पेपर के मुकाबिले २४ पौण्ड ह्वाइट प्रिंटिंग कागज न्यूज क्वालिटी का होगा, क्योंकि बैंक-पेपर अथवा बाइबिल-पेपर में जो स्टफ व्यवहृत होता है वह बहुत ही मजबूत होता है और फलतः बाइबिल पेपर और बैंक-पेपर का मूल्य ह्वाइट प्रिंटिंग से काफी अधिक होता है। कागज का प्रकार जानने के लिए प्रकाशक को उसके वजन, ताकत, फैलाव, रंग, मोड़ने का गुण, ग्रेन स्याही का उसपर असर, मौसम का उसपर प्रभाव और उसमें पुस्तक के साइज का स्थिरीकरण जानने की आवश्यकता है। प्रकाशक को कागज का चुनाव करते समय यह ध्यान रखना होगा कि अमुक कागज में लाइन-ब्लाक ठीक से छप सकता है अथवा हाफटोन-ब्लाक। उदाहरणस्वरूप, यदि आप ह्वाइट प्रिंटिंग कागज पर हाफटोन ब्लाक छापना चाहते हैं तो पुस्तक की छपाई खराब होगी और इसके विपरीत लाइन-ब्लाक छपाने के लिए ह्वाइट प्रिंटिंग कागज उपयुक्त होगा। उसी तरह, एस० सी० प्रिंटिंग कागज अथवा आर्ट-पेपर हाफटोन-ब्लाक छापने के लिए उपयुक्त होगा।

पुस्तक का मूल्य-निर्धारण

किसी पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व प्रकाशक को उसका मूल्य-निर्धारण मोटे तौर पर कर लेना होता है। यदि इस विषय की विस्तृत चर्चा करूँ तो यह वार्ता बहुत लम्बी होगी। परन्तु, मोटे तौर पर एक पुस्तक का तलपट मैं नीचे दे रहा हूँ :

एक पुस्तक जिसका आकार ५॥ : ८॥ डिमाई आक्टेवी होगा तो उसकी लागत ११०० प्रतियों की किस प्रकार होगी।

कम्पोजिंग १६ पेजी प्रतिफार्म १० फर्मे की पुस्तक की ३० रु० प्रतिफार्म की दर से ३०० रु०। कवर-डिजाइन और भीतर के चित्र ७५ रु०। कवर-ब्लाक और भीतर के ब्लाक की बनवाई १०० रु०। ११ रिम ३२ पौण्ड कागज का मूल्य ३०८ रु०। कवर के कागज का मूल्य ६० रु०। कवर की प्रिंटिंग २४ रु०। पुस्तक की बँधाई २० रु०। लेखक की रायल्टी, यदि पुस्तक का मूल्य तीन रुपया रखा जाय, ४५० रु०। दूकानदारों का कमीशन, ३३ प्रतिशत के हिसाब से, १००० रु०। ओवरहेड व्यय, जिसमें कागज पर वेस्टेज, कुली वगैरह का खर्च, २५ रु०। कुल २३६२।

इस तरह एक प्रकाशक को ११०० पुस्तकें प्रकाशित करने पर विज्ञापन-खर्च छोड़कर कुल ६०० रु० बचत होगी, जबकि ११०० प्रतियों में एक सौ प्रतियाँ प्रचार के लिए समीक्षार्थ दी जाती हैं। इस तरह से प्रकाशक का लाभांश लगभग २० प्रतिशत आता है। यदि पुस्तक का २१०० का संस्करण किया जाए तो २५ प्रतिशत तक का लाभांश हो सकता है और विज्ञापन भी विशेष रूप से करने की सुविधा प्रकाशक को मिल सकती है। उपर्युक्त उदाहरण केवल कम बिकने वाली पुस्तकों को मद्देनजर रखकर किया गया है। बाल-साहित्य, धार्मिक साहित्य, जन-साहित्य, पाठ्य-पुस्तकें आदि ऐसे प्रकाशन हैं जिनमें प्रकाशकों का लाभांश १० प्रतिशत से अधिक नहीं होता और किसी-किसी दशा में ५ प्रतिशत तक रह जाता है। आजकल पॉकेट बुकों का हिन्दी में जो प्रचलन हुआ है उसमें दस हजार का संस्करण करने पर प्रकाशक को मुश्किल से ७॥ प्रतिशत का लाभ होता है। प्रकाशक का यह इतिकर्त्तव्य होता है कि किसी पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व इस बात पर भलीभाँति विचार कर ले कि पुस्तक की लागत क्या होगी, उसके बिकने का दायरा क्या होगा और कितना लाभ रहेगा। कई प्रकाशक अपने प्रकाशन-बजट प्रतिवर्ष स्थिर कर लेते हैं। वे इस बात का निर्णय कर लेते हैं कि उन्हें कितनी पुस्तकें प्रकाशित करनी हैं,

प्रकाशन की लागत क्या आएगी और उन्हें आनुमानिक लाभ क्या होगा। साहित्यिक पुस्तकों के प्रकाशन में यह कल्पना कभी-कभी हानिकर भी साबित हो जाया करती है क्योंकि प्रकाशक की योजना के अनुसार वे पुस्तकें बिक नहीं पातीं और इस दशा में क्षति भी उठानी पड़ती है।

पुस्तक का कवर-डिजाइन

किसी भी पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व प्रकाशक को पुस्तक के गेट-अप और कवर-डिजाइजन के लिए बहुत ही जागरूक रहने की आवश्यकता है। हमने देखा है कि भारतवर्ष में अधिकांश प्रकाशक अभी इस दिशा में सचेष्ट नहीं हैं। आप आश्चर्य करेंगे कि कई दशा में प्रकाशक खर्च बचाने के लिए एक ही तरह का ब्लाक कई पुस्तकों पर लगाता है। शकुन्तला महाकाव्य पर जो ब्लाक लगाता है, वही ब्लाक 'उर्वशी' और 'मालिन' सामाजिक उपन्यास में भी लग जाता है। ऐसे प्रकाशक के दिमाग में एक ही चीज रहती है कि एक ब्लाक में तीन कवर मैंने चला दिए। परन्तु, यह उसकी भूल होती है। इससे पुस्तक की बिक्री कम हो जाती है। योग्य और समझदार प्रकाशक विषय-वस्तु को देखते हुए कवर-डिजाइन बनवाता है। कवर-डिजाइन बनवाते समय मोटे तौर पर उसकी बँधाई और प्रकार आदि को देखकर डमी कापी तैयार करता है और फिर उसी साइज का डिजाइन तथा ब्लाक बनवाता है। जहाँ तक सम्भव हो, प्रत्येक कवर के लिए प्रकाशक को अच्छे डिजाइन बनवाने चाहिए। आज कला-जगत् काफी बढ़ चुका है। जनता का ध्यान आकृष्ट करने के लिए पुस्तक के कवर अत्यन्त उच्चकोटि के होने चाहिए। यदि इसके विपरीत, कवर का आकर्षण न रहा तो स्वाभाविक है कि पुस्तक की बिक्री में कमी आएगी। उदाहरण-स्वरूप, मैं आपके आगे एक मिसाल रखूँ : हिन्दी की पॉकेट बुकों का मूल्य कम और आकर्षक कवर। परिणाम यह हो रहा है कि रेलवे बुक-स्टालों पर या न्यूजपेपर-एजेण्टों के यहाँ पॉकेट बुकें अन्य साहित्यिक पुस्तकों के बजाय हाथों-हाथ बिक जाती हैं। इसकी बिक्री में लेखक की लेखनी का प्रभाव भी है और प्रकाशक के प्रकाशन-गुण का भी। परन्तु सबसे प्रधान कोई चीज है तो गेट-अप, जोकि जनता का मन मोह लेता है। कवर-डिजाइन तैयार करते हुए ब्लाक और डिजाइन के अनुकूल कागज का भी प्रयोग होना चाहिए। यदि आप हाफटोन-ब्लाक ह्वाइट-प्रिंट या रूखे कागज पर छापते हैं तो वह नष्ट होगा ही। उसे तो आपको आर्ट-पेपर या आर्ट-बोर्ड पर छापना होगा। ब्लाक और डिजाइन बहुत-कुछ कागज को देखकर बनाना चाहिए, क्योंकि यदि इसे दृष्टि में रखकर आपने डिज़ाइन और ब्लाक बनवा लिया और मौके पर वह कागज़ न मिला जिसका ध्यान रखकर ब्लाक और डिजाइन बनाये गए हैं तो कवर की शोभा बिगड़ जाएगी। कवर का डिजाइन बनाते वक्त यह नितान्त आवश्यक है कि आप पुस्तक के भीतर की विषय-वस्तु पर भी ध्यान दें। आपका कवर-डिजाइन इस प्रकार का होना चाहिए कि उसे देखते ही पाठक पुस्तक का विषय आसानी से समझ सके।

पुस्तक में व्यवहृत टाइप के फेस

पुस्तक को प्रेस में देने के पूर्व प्रकाशक को यह निश्चय कर लेना चाहिए कि साधारणतः पुस्तक में कौन टाइप व्यवहृत होगा, हैडिंग किस टाइप में होगा, अध्याय में किस तरह का टाइप होगा, प्रत्येक पृष्ठ पर यदि विषय देना है तो वह किस टाइप का रहेगा, पुस्तक के अध्याय के प्रारम्भ में पहला अक्षर किस तरह का होना चाहिए, पुस्तक में फुटनोट के लिए कौन-सा टाइप व्यवहृत होगा, अध्याय के अन्त में यदि टेलपीस रहेंगे तो वे किस तरह के होंगे आदि-आदि। ये चीजें पुस्तकों की सेटिंग के के लिए बड़ी ही महत्त्वपूर्ण हैं और अमूमन हमारे बीच बहुत कम प्रकाशक हैं जो पुस्तक छपने के पहले इन प्रश्नों पर विचार करते हैं। पाठ्य-पुस्तकों में सेटिंग के लिए विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। आप व्याकरण की एक पुस्तक लीजिए। उसमें यदि आपको सर्वनाम समझना है तो सर्वनाम की परिभाषा देते हुए सर्वनाम मोटे टाइप में देना चाहिए। अध्याय के प्रारम्भ में यदि आप वाक्य-विश्लेषण का अध्याय दे रहे हैं तो वाक्य-विश्लेषण मोटे टाइप में होना चाहिए। प्रश्न साधारण टाइप से भिन्न होना चाहिए। यदि कहीं एक ही टाइप में सारा मैटर छाप दिया जाए तो समझ लीजिए कि लड़कों के पल्ले कुछ भी नहीं पड़ेगा, क्योंकि कोमलमति बालक यह

नहीं समझ पाएँगे कि क्या चीज उन्हें विशेष रूप से समझाई जा रही है।

प्रेस का चुनाव

पाण्डुलिपि प्रेस में देने के पूर्व प्रकाशक को यह भी सोचना पड़ता है कि किस प्रेस को अपनी पुस्तक प्रकाशनार्थ दे। इसके लिए निम्नलिखित चार बातों को जाँच लेना प्रकाशक के लिए आवश्यक होता है :

(१) क्या उस प्रेस ने कभी उच्चस्तर की पुस्तकें मुद्रित की हैं? (२) क्या वह प्रेस प्रकाशन का कार्य दक्षतापूर्वक कर सकता है? (३) क्या प्रेस निर्धारित समय के भीतर पुस्तक प्रकाशित कर सकता है? (४) क्या उसके पास ऐसे सभी टाइप मौजूद हैं जो उस पुस्तक में व्यवहृत करने हैं?

ले-आउट और प्रेस-कापी

आधुनिक युग में पाण्डुलिपि के बाद पुस्तक के ले-आउट और डमी कापी तैयार करने पर ध्यान देने की पद्धति चल पड़ी है। इस स्टेज पर पांडुलिपि को विभिन्न ढंग से सजाया जाता है। यह निश्चित किया जाता है कि कौन-से पृष्ठ में कितना मैटर जाएगा, कहाँ चित्र लगेगा, इनर टाइटिल कैसा होगा, कौन-सा टाइप उभरा हुआ छपेगा, समर्पण-पृष्ठ कहाँ लगेगा, इनर टाइटिल पर मुद्रक, प्रकाशक, लेखक, चित्रकार आदि का नाम किस तरह से रहेगा, विषय-सूची किस ढंग से कम्पोज होगी, भूमिका किस टाइप में होगी, पुस्तक पर प्राप्त सम्मतियाँ कहाँ छपेंगी—पुस्तक के अन्दर या रैपर पर, पुस्तक के भीतर चित्र हाफटोन होंगे या लाइन, अध्याय का पहला शब्द किस टाइप में होगा आदि-आदि। पुस्तक की डमी तैयार की जाएगी और उसी के अनुसार कवर पर डिजाइन का साइज निश्चित करके बनवाया जाएगा। कवर-डिजाइन बनवाते वक्त यह ध्यान दिया जाएगा कि कहीं नाम फ्लेश-कट होने पर कट तो नहीं जा रहा है। प्रत्येक पेज पर पुस्तक के शीर्षक का नाम रहेगा या विषय का, इसका निर्णय किया जाएगा आदि-आदि। बच्चों की पुस्तक छापने के समय तो ले-आउट और प्लानिंग की बड़ी ही आवश्यकता होती है। इनमें देखना पड़ता है कि चित्रों की सजावट कैसी है। मैटर के अनुकूल चित्र बना है कि नहीं, डिजाइन में उचित रंग आया है या नहीं, डिजाइन बच्चों की रुचि के अनुकूल बनी है या नहीं आदि-आदि। ले-आउट करने वाले व्यक्ति को डिजाइन बन जाने के बाद डिजाइन के पीछे ब्लाकों की साइज के लिए निर्देश देना पड़ता है कि ब्लाक छोटा-बड़ा न बन जाए। २०वीं शताब्दी में छपाई में पांडुलिपि के बाद पुस्तक की प्लानिंग और ले-आउट पुस्तक-मुद्रण के लिए अत्यावश्यक विषय है।

प्रूफ-रीडिंग

प्रूफ-रीडिंग पुस्तक-मुद्रण का सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण अंग है। हमारे देश में हर व्यक्ति प्रूफ-रीडर बनने के लिए तैयार है। प्रूफ-रीडर ऐसा व्यक्ति होना चाहिए, जो लेखक से कम विद्वान् न हो। परन्तु दुर्भाग्य है कि हमारी आर्थिक कठिनाइयों के कारण न तो हम अच्छी तनख्वाह दे पाते हैं और न अच्छे पढ़े-लिखे विद्वान् लोग प्रूफ-रीडरी के पैसे को अपनाने को तैयार

होते हैं। परिणाम यह होता है कि पुस्तकों में भूलें रह जाती हैं।

मिसाल के तौर पर कुछ उदाहरण आपको मैं देता हूँ। पुस्तक में दाम छपना चाहिए था ढाई रुपया, पहले उसका दाम था सवा रुपया। प्रेस में कापी आई। सवा रुपया लिखा हुआ था और प्रकाशक ने सवा रुपया न काटकर उसके नीचे ढाई रुपया लिख दिया। उचित था, सवा रुपया की जगह ढाई रुपया छपे, परन्तु प्रूफ-रीडर की कृपा से किताब का दाम छप गया सवा ढाई रुपया। ऐसा देखा जाता है कि पुस्तक में कभी-कभी भीतर कुछ मूल्य छपा है और बाहर कुछ। जिम्मेवार प्रूफ-रीडर का काम है कि भीतर छपे हुए मूल्य का बाहर छपे हुए मूल्य से मिलान कर ले। एक और उदाहरण लीजिए। पाठ्य-पुस्तक में मैथिलीशरणजी गुप्त का नाम पाइका में कम्पोज हो गया। प्रूफ-रीडर महोदय ने प्रूफ में इंगित किया कि मैथिलीशरण गुप्त ग्रेट। कम्पोजीटर महोदय ने मैथिली-शरण गुप्त के आगे ग्रेट जोड़ दिया। फाइनल प्रूफ देखने वाले प्रूफ-रीडर महोदय ने मैथिलीशरण गुप्त ग्रेट पढ़ा और प्रूफ स्वीकृत कर दिया। टाइप १६ प्वाइंट ग्रेट तो नहीं लगा, परन्तु मैथिलीशरण गुप्त के आगे ग्रेट का टाइटिल बढ़ गया। प्रूफ-रीडरों की और गलतियाँ देखिए। गणित की पुस्तक के उत्तर में आता है, साढ़े पाँच आदमी। प्रूफ-रीडर यदि सतर्क है तो सोच सकता है कि दुनिया में कहीं आदमी भी साढ़े पाँच आदमी हैं। उदाहरण लीजिए—लेखक की भूल सुधर सकती है, परन्तु गैरजिम्मेदाराना प्रूफ-रीडिंग ऐसी चीजों को भी गवारा करती है। प्रूफ-रीडिंग में, कम-से-कम पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन में, बड़ी ही सतर्कता की आवश्यकता है। आजकल हिन्दी या अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में जो पुस्तकें बच्चों के लिए छापी जा रही हैं, उनमें प्रायः कोष्ठ में अंग्रेजी के शब्द दिये जा रहे हैं, इसलिए कि शिक्षक उन्हें समझें और बच्चों को समझाएँ कि शब्द अमुक पर्यायवाचक है। यदि प्रूफ-रीडर महोदय ने इस अंग्रेजी शब्द की प्रूफ-रीडिंग में तनिक भी लापरवाही की, तो समझ लीजिए कि अर्थ का अनर्थ हुआ। आप प्रायः देखते होंगे कि हमारे यहाँ छपी पाठ्य-पुस्तकों में कोष्ठ में दिये हुए अंग्रेजी शब्द गलत होते हैं। पुस्तकों के मुद्रण में इस तरह की भूलें अक्षम्य हैं। साइंस की प्रूफ-रीडिंग बहुत ही महत्त्व रखती है। यदि आपने डिग्री, इंच, फारेन-हाइट आदि के निशान का ध्यान नहीं रखा, तो कोई अर्थ नहीं रह गया। गणित की पुस्तकें इस तरह की प्रूफ-रीडिंग के लिहाज से बहुत महत्त्व रखती हैं। किसी अयोग्य प्रूफ-रीडर ने कोण के स्थान पर त्रिभुज का निशान पास कर दिया तो अनर्थ हुआ समझिए। हिन्दी की प्रूफ-रीडिंग में व्याकरण का शुद्धाशुद्ध ज्ञान बहुत अधिक महत्त्व रखता है। यदि प्रूफ-रीडर चूका, तो भाषा अशुद्ध हुई। कहने का तात्पर्य सिर्फ इतना ही है कि पुस्तक के मुद्रण में प्रूफ-रीडिंग नितान्त आवश्यक चीज है। गलत पुस्तकों का छापना बन्द कीजिए। पता नहीं, हमारे देश में कितने ही रवीन्द्रनाथ और प्रेमचन्द पैदा हुए होते, यदि सही छपी हुई पाठ्य-पुस्तकें बालकों को उपलब्ध हुई होतीं।

जिल्दसाजी

पुस्तक-मुद्रण का महत्त्व बहुत कुछ अच्छी जिल्दसाजी पर भी निर्भर करता है। पर, बाइंडिंग-विभाग कभी-कभी बिना रजिस्ट्रेशन किये हुए फर्मे पुस्तकों में बाँध दिया करता है। रद्दी छपे फर्मे, छाँटने के आलस्य से, बँध जाते हैं। कभी-कभी पुस्तकों के कुछ पृष्ठ ही गायब दिखाई देते हैं। कभी-कभी गीले छपे हुए फर्मे बाँध दिये जाते हैं, तो पुस्तकों की लीपापोती हो जाती है। यदि बाइंडिंग-विभाग ध्यान दे, तो पुस्तक-मुद्रण का महत्त्व काफी बढ़ सकता है।

उपसंहार

भारत में अनेकानेक भाषाओं में पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। यदि मैं सभी भाषाओं के पुस्तक-प्रकाशन पर बोलता तो वह एक बहुत ही लम्बी कहानी होती। मूल रूप में मैंने अपने विषय का प्रतिपादन पुस्तक-प्रकाशन के सैद्धान्तिक पक्ष को लेकर किया है। मुझे आशा है कि भारत में पुस्तकों के प्रकाशन का भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है और जो दायित्व प्रकाशकों के सबल कन्धों पर है, उसका वे दक्षतापूर्वक निर्वाह करेंगे।

लेखक की दशा

श्री विष्णुदत्त 'कविरत्न'

अभी पिछले सब्मिशन के सिलसिले में दिल्ली के एक उच्चतर पुस्तक-व्यापारी ने मुझे हिमाचल-प्रदेश और दिल्ली दोनों में पुस्तक सब्मिट करने के बारे में बुलाया। उन्होंने पूछा, 'आप किस विषय की पुस्तक सुचारु रूप से लिख सकते हैं ?'

मैंने कहा, 'हिन्दी और सोशल-स्टडीज ही मेरे रुचिकर विषय हैं। इनकी पुस्तकें ही मैं लिखता हूँ।'

उनमें से एक सज्जन ने कहा, 'साइंस की एक पुस्तक हमारे पास लिखी पड़ी है। यदि उसमें कुछ काँट-छाँट करके उसको स्लेबस के अनुसार बना दें तो बहुत अच्छा है। सब्मिशन का समय बहुत निकट है। इसके लिए और आदमी हमें मिल नहीं रहा है।'

मैंने साफ इनकार कर दिया। बातों का सिलसिला जारी रहा।

उन्होंने कहा, 'हम चाहते थे कि हिन्दी और सोशल-स्टडीज के अलावा साइंस की एक पुस्तक और भी भेज देते तो अच्छा। इसमें आपकी भी कुछ रायल्टी बन जाती।'

मैंने कहा, 'भाई, मेरी आदत है कि मैं जिस विषय पर लिख सकता हूँ, लिखता हूँ। मैं किसी दूसरे की लिखी पुस्तक को काट-छाँट कर अपनी छाप नहीं रखता उसपर। मैं इसको करप्शन समझता हूँ।'

इसपर उनलोगों ने नाक-भौं चढ़ाई। मैंने इसकी परवाह न की।

बातों-बातों में उन्होंने पूछा, 'आप कितनी रायल्टी लेंगे ?'

मैंने कहा, 'कम-से-कम बीस परसेंट।'

उनमें से सबने मुँह बिगाड़कर कहा, 'फिर हमें क्या बचेगा। कागज का खर्च। छपाई। बुक-बाइंडिंग। टाइ-टिल। टेक्स्ट-बुक-कमिटी में पुस्तक लगाने का खर्च। इत्यादि-इत्यादि।'

यह सब सुनकर मैं चुप ही रहा। फिर उनमें से दूसरे सज्जन बोले, 'हमने तो आजतक इतना भारी परसेंट किसी को नहीं दिया। हमने लगभग ५०० पुस्तकों का प्रकाशन किया है।'

मैंने उत्सुकता की दृष्टि से उनकी ओर देखा और फिर सन्तोषपूर्वक उनसे पूछा, 'आप दूसरे लेखकों को क्या देते हैं ?'

पहले ही सज्जन ने स्पष्ट होते हुए उत्तर दिया, 'पाँच, सात, आठ, दस—बस !'

'आप तो बहुत कम रायल्टी देते हैं। मैंने कई प्रका-शकों को पाँच-छह नाटक, दो-तीन उपन्यास, कई कहानी-संग्रह, बीस-पच्चीस सामाजिक शिक्षा पर खोजपूर्ण पुस्तकें आदि दी हैं। बीस से कम रायल्टी मैंने स्वीकार ही नहीं की है। इनमें अनेकों पुस्तकें शिक्षा-विभागों में स्वीकृत भी हैं।' मैंने बड़े साहस के साथ गंभीर होकर कहा।

'उन प्रकाशकों को कुछ बचता नहीं होगा, या उनके बाप नए-नए मरे होंगे। कइयों के दिवाले निकल गए होंगे, या अब नहीं तो कुछ दिनों के बाद दुकानों के दिवाले निकल जाएँगे।' कुछ बिसूरे हुए मुँह से उनमें से एक बड़े सज्जन ने कहा।

मैंने कहा, 'आप ऐसी बातें क्यों कहते हैं ? मैं जिन प्रकाशकों का लेखक हूँ, वे आपसे कहीं अधिक सम्पन्न और एस्टैब्लिश्ड हैं।' मैंने इसके साथ ही उन प्रकाशकों के नाम भी बताए। वे सुनकर चौंक गए। बोले, 'हमें तो विश्वास नहीं होता।'

मैंने कहा, 'आज शाम को मैं उनके एग्रीमेंट लाकर दिखला दूँगा। तब तो आप मानेंगे ?'

'खैर, चलो; हमें दूसरों से क्या लेना ? हम तो आपको ज्यादा-से-ज्यादा दस परसेंट दे सकते हैं।'

मैं यह सुनकर खड़ा हो गया। बोला, 'अपनी नहीं पटेगी। किसी और भाई से बात करें।'

उनको यह पूरा विश्वास था कि मेरी लिखी हुई पुस्तकें शिक्षा-विभाग में अवश्य ही मंजूर हो जाएँगी क्योंकि पिछले वर्षों में मेरी पुस्तकें स्वीकृत होती चली आई हैं। उनके मन में एक यह भी लोभ था। इसलिए

उन्होंने मुँह खिसिया कर फिर मुझसे बैठने का आग्रह किया।

'आप जानते हैं, बिना पहलवानों को दिए काम नहीं बनेगा। फिर काफी खर्च है।' एक साहब ने सिगरेट सुलगाते हुए कहा।

'पहलवानों' के कहने से उनका मतलब उनलोगों से था, कि जो पुस्तक-कमेटी के सदस्य हैं या पुस्तक-रिव्यूवर हैं या और कोई पिछलग्गू।

मैंने कहा, 'जनाव, चाहे आप उन पहलवानों को दें या अखाड़ों को। मैं तो अपने लिखने का पारिश्रमिक चाहता हूँ। बाकी मुझे किसी से कोई मतलब नहीं। आप तो जानते हैं, लिखने में कितना परिश्रम करना पड़ता है। फिर विषय का सोचना, संगठन करना। वह भी फिर स्लेबस के अनुसार हो। इन सब बातों के लिए समय चाहिए और एकाग्रता।'

'अजी, आप कैसी बातें करते हैं। एक महीना है, काफी समय है। इतने समय में तो लिखी जाएँ आठ पुस्तकें।'

'वह कैसे ?' मैं सुनकर अवाक रह गया।

'उसी विषय की आठ-दस पुस्तकें मार्किट से लीं। सामने रखीं। दो लाइनें किसी में से, चार लाइनें किसी में से, आठ लाइनें किसी में से इकट्ठी कीं और किताब तैयार।'

मुझे यह सुनकर बड़ा दुख हुआ। मैं बोला, 'ठीक है। तो साहब! उन लेखकों के लिए तो यह रायल्टी बहुत ज्यादा है। अपने लिए तो इस प्रकार नकल करके लिखना पाप ठहरा। हम तो जो-कुछ लिखते हैं ऑरिजनल लिखते हैं। केवल विषय-ज्ञान के लिए पुस्तकों का अध्ययन जरूरी समझते हैं। नकल के लिए नहीं।'

मैंने अपना चमड़े का फोलियो उठाया और कुर्सी पर से उठ खड़ा हो गया। मोहनजी ने मुझे कहा, 'आपको इतनी जल्दी कहाँ जाने की लगी है। बैठिए, बाहर वर्षा हो रही है। थम जाने पर चले जाना।'

'वर्षा तो होती ही रहती है। वर्षा में कोई काम थोड़े ही रुकते हैं दुनिया के। वर्षा भी होती है, काम भी होते हैं। फरमाइए, कहते क्या हैं ?'

'अच्छा, हम आपको पंद्रह प्रतिशत ही देते हैं। लेकिन, इसमें एक बात है। आपको इसमें से ही अपने उस साथी को भी हिस्सा देना पड़ेगा, जो पुस्तकें स्वीकार कराने में आपको सहायता देगा। चाहे वह कोई मेंबर हो या रिव्यूवर।'

मुझे बहुत अखरी यह बात। मैं सुनकर आग-बबूला हो गया। मैंने मन में कहा, ये कैसे धृष्ट लोग हैं, जिनकी धारणा केवल लेखकों के रक्तशोषण के अतिरिक्त कुछ नहीं। पच्चासी प्रतिशत पूरा अपने पास ही हड़प करने को हैं।

× × ×

मान लिया कि ये धन पाते हैं। इसी नाते इनका पेट इतना बड़ा है कि अपने सिवाय किसी दूसरे की लाभ-हानि की इनको कोई चिन्ता नहीं। यह भी मान लिया कि कागज, छपाई आदि में ये लोग अपना धन व्यय करते हैं। परन्तु फिर भी लेखक के प्रति इनकी इतनी कुटिल नीति क्यों है ? इनकी साथ में यह शर्त भी होती है कि पुस्तक स्लेबस के अनुसार होते हुए भी इतनी सुन्दर होनी चाहिए कि उसमें चित्र, डिजाइन, गेटअप आदि का उत्तम नियोजन हो। भले आदमियो ! सहयोग से, मिल-जुल कर, मिल-बाँट कर खाने से तो सब कुछ ठीक हो जाता है। तुम लोग केवल सब कुछ अपने पेट में ही भरना चाहते हो। अधिक स्वार्थ अधिक विनाश का कारण होता है।

आज विश्व में लाखों-करोड़ों लेखक-लेखिकाएँ हैं, उनमें से इने-गिने लेखक ऐसे हैं, जिनको सुविधापूर्ण रोटियाँ मिलती हैं। वस्त्र को छोड़कर खाना भी पूरा नहीं मिलता।

विशेषतः भारत में लेखकों की दशा शोचनीय होती जा रही है।

मैं सदैव अपनी बात का पक्का या यूँ कहो दूसरे शब्दों में जिद्दी रहा हूँ। मैंने उनके पन्द्रह परसैंट स्वीकार नहीं किए।

× × ×

कुछ दिन के पश्चात् फिर उनके कन्वैसर साहब तशरीफ लाए, मुझे बुलाने के लिए। पहले तो मैंने जाने से इन्कार कर दिया। बहुत इसरार के पश्चात् मैं गया। वे पन्द्रह परसैंट मुझे देने के लिए तैयार हो गए। मैंने पुस्तकें लिखीं। पुस्तकों के चित्र बने, डिजाइन बने, ब्लॉक बने। वे प्रेस में छपी भीं। मेरी पुस्तकें लिस्ट में भी आ गईं। कई दिन तक वहाँ खिचड़ी पकती रही। लेकिन खिचड़ी में घी किसी और ने डाल दिया। हमारी पुस्तकें रह गईं।

× × ×

जिस दिन सर्कुलर निकला, रिजल्ट आया। मैंने देखा कि प्रकाशक मुँह लटकाए बैठे थे। मैं भी चुपके से जा बैठा।

उनमें से एक बोले, 'देखा, आपने ?'

मैंने कहा, 'आप ही देख लीजिए। आई-अवाई, फिर लिस्ट में से निकाल दी गई।'

'हमने तो काफी रुपया लगाया।'

'यह तो है ही।'

'हमें तो हजारों का नुकसान हो गया। हाथ कुछ नहीं आया।'

'यह तो जुआ है।' मैंने थोड़ी सहानुभूति दिखाते हुए कहा।

वे लोग काफी अफसोस में बैठे थे।

× × ×

एक सप्ताह के पश्चात् गया तो देखा कि प्रेस वाला, ब्लॉक वाला, डिजाइनर तथा कागज वाला सब अपने-अपने पैसों का हिसाब और बिल लालाजी को दे रहे थे। लालाजी भी मन से उनका हिसाब-किताब कर रहे थे।

इन सबको ही पैसे मिल जाते हैं, किन्तु लेखक या सम्पादक विचारे को इस मामले में हानि ही उठानी पड़ती है। उसको कोई रेम्युनिरेशन नहीं मिलता। यह भी नहीं कि स्क्रिप्ट का कुछ थोड़ा-बहुत मुआवजा मिल जाए। उसको हर सूरत से हानि।

बड़ी कठिनता से, पेट-पट्टी बाँधकर, भूखा रह कर, परेशानी उठाकर, बाल-बच्चों को झिड़का-धमका कर तो वह कुछ लिख पाता है, फिर भी उस गरीब को एक छोटा

पैसा तक नहीं मिलता। उसको तो जब ही कुछ मिलेगा, कि जब कोई पुस्तक मंजूर हो जाएगी। प्रेस वाला भी धड़-धड़ कर पैसे (पूरे बिल के) ले जाता है।

ब्लॉक-मेकर भी अपना बिल शान से चुका ले जाता है। डिजाइनर भी इज्जत के साथ अपनी रकम प्राप्त कर ले जाता है। टोटे और हानि में रहा तो कम्बख्त लेखक, जिसको प्रकाशक कुछ देने को तैयार नहीं।

यदि कोई हमारे-आप जैसे लेखक कहने का साहस करते हैं, तो उनको उत्तर मिलता है, 'इतने रुपए का नुकसान हमने आपकी वजह से भुगता, वरना हमें क्या जरूरत थी रुपया फँसाने की। हम तो बैठे-बिठाए मुफ्त में फँस गए।'

यदि लेखक उनपर अधिक जोर देता है तो उसको बहुत कड़ा उत्तर मिलता है, 'आपने हमारे साथ चार सौ बीस करके रुपया लगवा दिया। हम आपसे वसूल कर सकते हैं।'

लेखक बेचारा कमजोर दिल का सुन कर चुप हो जाता है। यहाँ तक कि प्रकाशक की दुकान के सामने जाता हुआ कतराता है, उसको शक रहता है कि कहीं प्रकाशक सचमुच में उसपर चार सौ बीस का दावा तो नहीं कर देगा।

प्राचीन हिन्दी पोथियों की लिपि-संबंधी विशेषताएँ

श्री राजनारायण मौर्य

दो-तीन सौ वर्ष पूर्व जब मुद्रणयंत्र का प्रचार भारत में नहीं था, हस्तलिखित पोथियों का बड़ा महत्त्व था। राजा या धनाढ्य लोग सुन्दर अक्षर लिखनेवाले व्यक्तियों से धार्मिक, साहित्यिक तथा आयुर्वेदिक आदि पोथियों की प्रतिलिपि कराके अपने ग्रंथ संग्रहों में रखते थे। इस प्रकार का ग्रंथ-लेखन बहुत कम मात्रा में होता था। यह कार्य साधुओं के मठों और मंदिरों में बहुत अधिक हुआ करता था। इन मठों में—विशेषकर कबीरपंथी, दादूपंथी एवं निरंजनी—इस प्रकार की एक परंपरा ही थी कि प्रत्येक मठाधीश अपने पूर्वगुरुओं की रचनाओं को स्वयं लिखा करता था अथवा दूसरे से लिखवाकर रखता था। इस परंपरा का पालन उनके पंथ का एक आवश्यक नियम बन गया था। आधुनिक युग में भी, जबकि मुद्रण की इतनी सुन्दर व्यवस्था है, कुछ मठों में यह परंपरा प्रचलित है। पूना के कबीरमठ में मुझे सन् १९४० तक की हस्तलिखित बड़ी-बड़ी पोथियाँ देखने को मिली हैं जो पूर्णतः प्राचीन हस्तलिखित पोथियों की परंपरा की ही हैं।

आधुनिक युग में हिंदी का शोध-क्षेत्र बहुत विस्तृत होता जा रहा है। अनेक शोध-छात्र प्राचीन भाषा और साहित्य पर शोध करते हुए पाये जाते हैं। इस कार्य के लिए हिंदी की उच्च संस्थाओं (नागरी प्रचारिणी सभा, हिंदी साहित्य सम्मेलन आदि), विश्वविद्यालयों के ग्रंथालयों में भारत के विभिन्न स्थानों से प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ एकत्रित किये गये हैं और अब भी एकत्रित किये जा रहे हैं। सहस्रों की संख्या में ये प्राचीन हस्तलेख आजकल के हिंदी-छात्रों के लिए सुन्दर सामग्री बने हुए हैं। इन हस्तलेखों का भंडार इतना विपुल है कि अभी उनपर यदि शताब्दियों तक शोधकार्य होता रहे तब कहीं पूरा मंथन हो सकता है।

प्राचीन हस्तलेखों के लिए लिपिकारों के पास ऐसा कोई सामान्य नियम नहीं था जिसे सभी ग्रहण करते। फिर भी सभी प्रकार के प्राचीन ग्रंथों को देखने से पता चलता है कि कुछ बातें सभी में समान हैं। हस्तलिखित ग्रंथ चाहे साहित्य के हों अथवा अन्य विषय के, किंतु सभी में एक प्रकार की सामान्य पद्धति का अनुसरण किया गया है। एक विशिष्ट पद्धति अथवा परंपरा को अपनाने में पूर्वग्रंथ सहायक रहे होंगे।

प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ दो रूपों में प्राप्त होते हैं—एक, पुस्तकाकार रूप में और दूसरे, पृथक्-पृथक् पत्रों के रूप में। पुस्तकाकार रूप में प्राप्त होनेवाले ग्रंथों में जिल्द होती है जो सुन्दर (प्रायः रेशमी) कपड़े से बँधी होती है। सभी पत्र एक-दूसरे के ऊपर रक्खे हुए बीच से नत्थी कर दिये जाते हैं। पुस्तकाकार ग्रंथों की लिखावट अधिकतर चौड़ाई में होती है। पृथक्-पृथक् पत्रोंवाले ग्रंथ किसी कपड़े में बाँधकर रक्खे जाते हैं। इनकी लिखावट सर्वदा लंबाई में ही हुआ करती है। गुटका-आकार के हस्तलिखित ग्रंथों की लिखावट लंबाई और चौड़ाई दोनों में होती है। इन पोथियों पर, हर पत्र के दाईं ओर ऊपर पत्रसंख्या दी जाती है। एकाध ग्रंथ ऐसे भी मिलते हैं जिनमें दोनों पृष्ठों पर संख्याएँ होती हैं।

पुस्तकाकार के ग्रंथ हों अथवा पृथक्-पृथक् पत्रोंवाले, सभी पत्रों पर चारों तरफ लाल स्याही से दोहरी लकीर खींची रहती है और उन्हीं लकीरों के बीच में ही लिखावट होती है। कभी-कभी लिखते समय जब कोई शब्द या अक्षर छूट जाता है तो वह लाल लकीर के बाहर उसी पंक्ति के सामने लिख दिया जाता है। यदि लिखावट में पूरी पंक्ति छूट जाती है तो लाल लकीर के बाहर बायें या दायें, जिधर भी स्थान होता है, यदि लिखावट चौड़ाई में है तो लंबाई में, यदि लिखावट लंबाई में है तो चौड़ाई में पूरी पंक्ति लिख दी जाती है। यदि कोई अधिक अक्षर या शब्द लिख उठता है तो कभी-कभी किसी पीले रासायनिक पदार्थ को उसके ऊपर लगा दिया जाता है, ताकि वह

अक्षर या शब्द न दिखायी पड़े और कभी-कभी उस अक्षर या शब्द के चारों ओर बिंदुओं की रेखा बना दी जाती है। यदि इ की मात्रा छूट जाती है तो नीचे-ऊपर टेढी लाइन खींच दी जाती है। यदि लिखते-लिखते पंक्ति के अंत तक पहुँच गये अंतिम शब्द की अंतिम मात्रा ई (ी) या आ (ा) नहीं आती तो वह लाल रेखा के बाहर लिख दी जाती है अथवा दूसरी पंक्ति के प्रारंभ में।

प्राचीन हस्तलेखों की लिखावट बड़ी घनी होती है। उसमें शब्द अलग-अलग नहीं होते। शब्द लगातार बिना स्थान छोड़े अविराम रूप से लिखे जाते हैं। पढ़नेवाले को स्वयं शब्दों को अलग-अलग करके पढ़ना पड़ता है। लिखावट इतनी नपी-तुली होती है कि ग्रंथ के सभी पत्रों पर उतनी ही पंक्तियाँ होती हैं। इतना ही नहीं, बल्कि पंक्तियों की अक्षरसंख्या में भी साम्य होता है। इसीलिए शोध-छात्र प्रायः प्रतिपृष्ठ पंक्तिसंख्या तथा प्रतिपंक्ति अक्षरसंख्या भी अपने विवरण में देते हैं।

इन पोथियों में प्रायः दो प्रकार की स्याही का प्रयोग होता है। एक काली तथा दूसरी लाल। लाल स्याही का प्रयोग ग्रंथ के आरंभ में भूमिका लिखने, पत्रसंख्या देने, शीर्षक देने, पदसंख्या देने तथा पत्र के चारों तरफ हाशिया बनाने के लिए होता है। यह स्याही विशेष रासायनिक ढंग से बनी होती है जो पानी पड़ने पर भी नहीं फैलती, न इसकी चमक ही कम होती है। कविता की पंक्ति अथवा गद्य का वाक्य समाप्त होने पर लाल स्याही द्वारा दो खड़ी पाई दे दी जाती है। संतों की रचनाओं में रागों के नाम, अंगों के नाम तथा पदों का योग आदि भी लाल स्याही से लिखा जाता है। पोथी के अंत में जहाँ लिपिकार का परिचय तथा लिपिसंवत् दिया जाता है, वहाँ भी लाल स्याही का ही प्रयोग होता है।

इन हस्तलिखित प्राचीन पोथियों में हिंदी की कुछ ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए कुछ विशिष्ट प्रकार के चिह्न मिलते हैं। अक्षरों के प्राचीन रूपों का प्रयोग तो है ही, किंतु कुछ चिह्न या लिपियाँ इस प्रकार की भी होती हैं जो आजकल नहीं प्रयुक्त होतीं। नीचे ऐसे संकेतों का विवरण दिया जा रहा है।

(१) इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ ध्वनि को प्रकट करने के लिए वैकल्पिक रूप से दो प्रकार के अक्षरों का प्रयोग किया जाता है।

(२) 'ख' ध्वनि को प्रकट करने के लिए सर्वदा मूर्धन्य 'ष' का प्रयोग किया गया है। यथा—मुष, षानाजाद, राषउ, षू`न आदि।

(३) 'ष' ध्वनि का जब मूर्धन्य अक्षरों के साथ संयोग होता है तब वह 'ष' द्वारा प्रकट होती है और अन्य स्थानों पर 'स' द्वारा। यथा—कष्ट, भिष्ट, मिष्ठ, मानुस, रिसि (ऋषि), हरस (हर्ष) आदि।

(४) तालव्य 'श' के स्थान पर सर्वदा दंत्य 'स' का ही उपयोग किया जाता है, परंतु 'श्' और 'र' का संयोग अपने पारंपरिक पद्धति से ही लिखा जाता है। यथा—सरीर, ससि, सायक, श्री आदि।

(५) 'ऋ' ध्वनि 'रि' द्वारा प्रकट होती है। यथा—रिसि, ग्रिह, म्रिग आदि। किंतु कुछ पोथियों में 'ऋ' स्वर का प्रयोग हुआ है। यथा—कृपा, गृह, हृदै, मृग आदि। यह एक लिखने की पारंपरिक पद्धति है। 'ऋ' का स्थान शेष नहीं रहा, क्योंकि शब्द के प्रारंभ में आनेवाले 'ऋ' का पूर्णतया लोप हो गया है। यथा—रिधि (ऋद्धि), रिसभ (ऋषभ) आदि।

(६) 'प' और 'य' में भ्रम हो सकता है। इस भ्रम को दूर करने के लिए सर्वदा 'य' के नीचे बिंदी (य़) रखी जाती है। यथा—पौहारी, पाही, परगास, पप आदि।

(७) 'व' और 'ब' के भ्रम को दूर करने के लिए 'व' के नीचे एक बिंदी (व़) रखी जाती है। यद्यपि कहीं-कहीं 'ब' भी लिखा हुआ मिलता है। यथा नांव़, वहुरि (बहुरि), वालक, पावक, कंवला, वीना आदि।

(८) 'ड़' ध्वनि को प्रकट करने के लिए कहीं 'ड़' होता है और कहीं डः'। यथा—राग कनडः, बाबा का 'नाडःदास, बड़ो आदि। 'ढ़' के लिए 'ढ' ही लिखा जाता है।

(९) प्रायः णा, ना तथा मा (आ मात्रा से युक्त) अनुनासिक व्यंजनों पर अनुस्वार चिह्न होता है। यथा—नांव, मांन, करुणां आदि।

(१०) अनुनासिक व्यंजनों के पूर्वाक्षर पर भी अनुस्वार चिह्न रहता है। यथा—रांम, कांन, जांण, पांन आदि।

(११) प्रत्येक अनुनासिक व्यंजन (ङ, ञ, ण, न, म) के लिए, जब वह किसी अन्य व्यंजन के साथ मिलता है तब, केवल अनुस्वार का ही प्रयोग होता है। यथा—अंक, अंजन, कंटक, पंथ, अंब आदि।

(१२) अनुनासिकता (चंद्रबिंदु) के लिए भी अनुस्वार का ही प्रयोग होता है। यथा—सांच, कंवल, जांचै, भंवर आदि।

(१३) 'ऐ' और 'ऐ' ध्वनि कहीं-कहीं 'ए' और 'ऐ' तथा कहीं-कहीं 'ऐ' और ऐ द्वारा प्रकट होती है। यथा—ऐक, ऐसा आदि।

(१४) 'ज्ञ' के लिए सर्वत्र 'ग्य' का प्रयोग मिलता है। यथा—ग्यान, आग्या, जग्य आदि।

(१५) किसी व्यंजन के पश्चात् जब 'य' और 'व' आते हैं तब इनको 'ऐ' 'औ' संकेत द्वारा प्रकट किया जाता है। यथा—लै (लय), भै (भय), जै (जय), भौ (भव), माधौ (माधव) आदि। कहीं-कहीं पर 'य' और 'व' भी लिखे गये हैं।

इसके अतिरिक्त मिलावट के अक्षर कुछ विशिष्ट प्रकार के होते हैं, जिनके संबंध में देवनागरी के पूर्वरूपों का अध्ययन करने से ही पूर्ण जानकारी प्राप्त हो सकती है। इन हस्तलिखित पोथियों में लिपिकाल के लिए सर्वदा ही संदेह का भय होता है। कभी-कभी किसी पोथी में जाली पुष्पिका भी मिलती है। पोथी के अंत में जहाँ लिपिसंवत् दिया जाता है लोग उसे अधिक प्राचीन प्रमाणित करने के लिए मूल संख्या को किसी रासायनिक पदार्थ से मिटाकर नयी संख्या लिख देते हैं। किसी भी पोथी में प्राप्त लिपिकाल की ठीक जाँच करना आवश्यक होता है। स्याही तथा लिखावट से ही ज्ञात हो जाता है कि लिपिकाल ग्रंथ के साथ का है अथवा बाद का। यदि उन संख्याओं से ग्रंथ में आयी हुई अन्य संख्याओं का मिलान करें तो उनमें कुछ भिन्नता आ जाती है। इसके अतिरिक्त, जाली संवत् की संख्या या तो धूमिल होगी या अधिक चटकीली।

—'राष्ट्रवाणी' से साभार
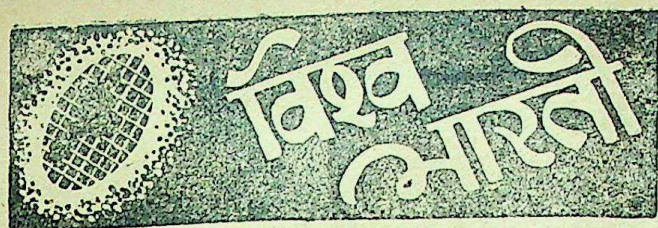
जापान और रवीन्द्र-साहित्य

श्री द्रष्टा

जापान में भारतविषयक चर्चा की जो कई एक पत्रिकायें हैं, उनमें 'इन्दोगाक् बुक्कोइयाकू केनकू' अर्थात् 'भारततत्त्व और बौद्धतत्त्व की चर्चा-पत्रिका' और 'तोओ गोकुट्टो' अर्थात् 'प्राच्यतत्त्व संबंधी संक्षिप्त रिपोर्ट' ये दो पत्रिकाएँ विशेष उल्लेख्य हैं। इन दोनों पत्रिकाओं में जापान के विशिष्ट प्राच्यतत्त्वविद् प्राच्यतत्त्व के विषय में निबंध देते रहते हैं। 'इन्दोगाक् बुक्कोइयाकू केनकू' में जापानी और अंगरेजी भाषा में निबंध प्रकाशित होते हैं, और 'तोओ गोकुट्टो' में ऐसे जापानी प्रबंधों और पुस्तकों का अंगरेजी में संक्षिप्त सार दिया जाता है।

'इन्दोगाक् बुक्कोइयाकू' में आजकल प्रोफेसर किजो इनाजू के लेख रसिक और साहित्यिक समाज में लगातार आग्रह उत्पन्न कर रहे हैं। उनमें से एक लेख है : देवेन्द्रनाथ और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का धार्मिक जीवन और चिन्ताधारा। तामागाओया विश्वविद्यालय के अध्यापक इनाजू अनेकों विगत वर्षों से रवीन्द्र के साहित्य और दर्शन की गवेषणा में निमग्न रहे हैं। इस नाते भी उनके ऐसे निबंधों में बड़ी गहरी पैठ हुआ करती है।

अध्यापक इनाजू ने अपनी इस विवेचना को चार भागों में विभक्त किया है : (क) पिता और पुत्र—इस भाग में इनाजू ने रवीन्द्रनाथ पर उनके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ के भावुक प्रभाव की विशद आलोचना की है। बताया है कि किस प्रकार रवीन्द्रनाथ वैदिक संस्कृति और बौद्ध संस्कृति के द्वारा प्रभावित हुए। उनके विचार से, रवीन्द्र अपने महर्षि पिता के ब्राह्मधर्म से आच्छन्न रहे थे।

अध्यापक इनाजू ने इसी प्रसंग में अन्यत्र कहा है कि रवीन्द्रनाथ अक्सर जो अपनी रचनाओं में उपनिषद् के मंत्रों का उद्धरण दिया करते थे, वह मूल से नहीं दिया करते थे, बल्कि वे अपने पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ-कृत उपनिषदों के अनुवाद का ही उद्धरण दिया करते थे। इसी से समझा जा सकता है कि महर्षि देवेन्द्रनाथ उनके चिन्तन पर किस तरह प्रभाव-विस्तार कर छाए हुए थे।

(ख) भारतीय संस्कृति की प्रधान धारा—इस अध्याय में अध्यापक इनाजू ने रवीन्द्रनाथ की रचनाओं के अनेकानेक उद्धरण देकर प्रमाणित करना चाहा है कि रवीन्द्रनाथ वैदिक ऐतिह्य और खासकर औपनिषदिक ऐतिह्य से आप्लुत होने पर भी, अपने बाद वाले जीवन-खंड में (लेखक के विचार से तब वे चालीस वर्ष के होंगे) बौद्ध धर्म की महायान-शाखा के प्रति श्रद्धान्वित हो चुके थे। (ग) देवेन्द्रनाथ का धार्मिक जीवन और मानस—इस अध्याय में लेखक ने महर्षि देवेन्द्रनाथ के दर्शन के विषय में विवेचना की है। (घ) रवीन्द्रनाथ का धार्मिक जीवन और मानस—इस अध्याय में लेखक ने कहा है कि रवीन्द्रनाथ के निकट प्रेम का अर्थ था सत्य और सुन्दर, और इसी भावना ने उन्हें बुद्ध के प्रति श्रद्धान्वित होने में सहायता की। 'साधना' की भूमिका पढ़कर इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता। १९३५ साल में बुद्ध का जन्मदिवस मनाने के उपलक्ष में उन्होंने जो भाषण दिया था, उस भाषण में भी इस बात का पर्याप्त प्रमाण है।

लेखक इनाजू का कहना है कि रवीन्द्रनाथ में वैदिक और बौद्ध ऐतिह्य का सुमहान समन्वय घटित हुआ था।

जबतक विदेशी भाषा की आवश्यकता हमें रहेगी तबतक हम यह नहीं कह सकते कि हमारी बौद्धिक उन्नति ठीक प्रकार से हुई। क्योंकि विदेशी भाषा हमने अपने यहाँ नहीं पाई है। उसको हमें कहीं विदेश से लाना पड़ा है। उस चीज के भरोसे हम अपनी बौद्धिक उन्नति, हम अपना बौद्धिक विकास कैसे और कहाँ तक कर सकेंगे, यह समझने की बात है।

—डॉ० राजेन्द्रप्रसाद

रचना : प्रकाशन : एक प्रक्रिया

श्री गोपालजी 'स्वर्णकिरण'

रचना-प्रकाशन में प्रकाशकों का हाथ महत्त्वपूर्ण है। ये प्रकाशक रचना-प्रकाशन के माध्यम से रचनाओं का तो उद्धार करते ही हैं, रचनाओं के लेखकों और रचनाओं के पाठकों अथवा श्रोताओं का अप्रतिम कल्याण भी करते हैं। प्रकाशकों की क्रान्तदर्शिता, बुद्धिमानी, सजगता एवं क्रियाशीलता रचनाओं एवं कृतियों के प्रकाशन में महत्त्वपूर्ण योगदान देती हैं। अच्छे प्रकाशक साहित्य के, समाज के सर्वांगीण विकास पर अधिक ध्यान रखते हैं और युग-पुकार एवं युग-विकास को दृष्टिपथ में रखते हुए, युग-धर्म को अपनाते हैं तथा ऐसी रचनाओं एवं कृतियों को प्रकाशित करते हैं जिनमें युग एवं जीवन के सर्वांगीण विकास पर अधिक ध्यान रहता है। साहित्य, संस्कृति, कला, दर्शन, इतिहास, समाजशास्त्र, विज्ञान आदि बहुतेरे विषय ऐसे प्रकाशकों के माध्यम से अपना विकास एवं पोषण पाते हैं। सामयिक तत्त्वों के प्रकाशन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अपना विकास एवं पोषण पाते हैं। सामयिक तत्त्वों का प्रकाशन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से होता है। इनके प्रकाशकों का भी ध्यान जीवन एवं युग के विकास पर कम नहीं रहता, पर समग्रता की दृष्टि से ये प्रकाशक जीवन के व्यवहार-पक्ष पर अधिक ध्यान रखते हैं, सिद्धान्त-पक्ष गौणरूप में प्रकाशित होता है। शाश्वत साहित्य एवं सामयिक साहित्य, इन दोनों का समन्वय बहुत कम प्रकाशकों के द्वारा हो पाता है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रकाशकों को किस प्रकार की रचनाओं एवं कृतियों का प्रकाशन करना चाहिए? वे सामयिक साहित्य पर अधिक ध्यान रखें या शाश्वत साहित्य पर? सामयिक साहित्य और शाश्वत साहित्य का समन्वय सम्भव है या नहीं? यदि नहीं, तो क्यों, और है, तो किस सीमा तक?

यों प्रकाशक प्रायः अपने मनोनुकूल ही रचनाओं एवं कृतियों का प्रकाशन करते हैं। इसमें थोड़ी-बहुत उनकी व्यावसायिक दृष्टि भी रहती है और यही कारण है कि जब कभी अपने प्रकाशन से कोई पत्र-पत्रिका निकालते हैं तो उसमें सत्साहित्य के प्रकाशन के साथ-साथ विज्ञापन-पक्ष भी मुखरित हो जाता है। पत्र-पत्रिकाओं में सत्साहित्य का प्रकाशन नहीं होता अथवा होता भी है तो बहुत कम—यह बात विवादास्पद है। पर यहाँ यह मानकर मैं चल रहा हूँ कि पत्र-पत्रिकाएँ सत्साहित्य के प्रकाशन के लिए एक माध्यम हैं। इनके द्वारा ही प्रकाशक प्रोत्साहित होकर सत्साहित्य का प्रकाशन शुरू करते हैं। कुछ नये प्रकाशक पहले कोई पत्र-पत्रिका निकालते हैं और उसका सम्पादन कभी स्वयं कर लेते हैं, कभी किसी सम्पादक के द्वारा। सम्पादक के द्वारा पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन में सम्पादक का दृष्टिकोण ही महत्त्वपूर्ण बन जाता है। फलतः प्रकाशक के दृष्टिकोण से सम्पादक का दृष्टिकोण साम्य स्थापित नहीं कर पाता, तो दोनों में प्रायः मधुर संघर्ष भी अवश्यंभावी हो जाता है। कभी-कभी तो सम्पादक को अपने दृष्टिकोण की हत्या करनी पड़ती है, प्रकाशक का दृष्टिकोण प्रमुख बन जाता है। इस स्थिति में लेखक की रचना एवं कृति के साथ कितना न्याय हो सकता है, यह विचारणीय है। योग्य प्रकाशक पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त अन्य रचनाओं एवं कृतियों का जो प्रकाशन करते हैं उसे स्वयं तौलते हैं, किसी से परामर्श भी लेते हैं तो बहुत कम। कभी-कभी प्रकाशक प्रभावशाली सम्पादकों के हाथ की कठपुतली भी बन जाते हैं और तब रचना-प्रकाशन के पीछे सम्पादक का हाथ अधिक, प्रकाशक का हाथ कम हो जाता है। यहाँ रचना एवं कृति के साथ सदैव न्याय ही होता है, यह नहीं कहा जा सकता। सम्पादक अपने दृष्टिकोण के प्रतिकूल, अपनी नीति के विरुद्ध किसी रचना एवं कृति के प्रकाशन को प्रोत्साहित नहीं कर सकता। ऐसे में सत्साहित्य के प्रकाशन के पीछे एक प्रश्नचिह्न भी लग जाता है। प्रकाशक और सम्पादक दोनों का दृष्टिकोण सदैव मिल जाए, यह अपेक्षित नहीं है और न यही अपेक्षित है कि कभी पहले के अधीन दूसरा काम करे अथवा दूसरे के अधीन पहला। यहाँ बहुत कुछ बात अर्थ पर निर्भर करती है। यदि प्रकाशक अर्थसम्पन्न

एवं प्रभावशाली हुआ तो सम्पादक को झुकना पड़ता है, पर यदि प्रकाशक अर्थविपन्न एवं यशलोलुप हुआ तो सम्पादक का दृष्टिकोण ही हावी हो जाता है।

पत्र-पत्रिकाओं में सामयिकता का तत्त्व अधिक रहता है, इसपर किसी के दो मत नहीं हो सकते, पर सामयिकता के साथ-साथ शाश्वतता बिल्कुल नहीं रहे, यह भी कम विवादास्पद नहीं है। सामयिकता और शाश्वतता, वास्तव में जीवन के मूल्य पर निर्भर हैं और इन दोनों में कोई परस्परविरोध का भाव नहीं है। कुशल लेखक सामयिक तत्त्व को भी शाश्वत तत्त्व के रूप में चित्रित कर सकते हैं। योग्य सम्पादक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाली रचनाओं एवं कृतियों पर शाश्वत परिधान, कुछ सीमा तक, डाल सकते हैं। हाँ, इसमें लेखक की सक्रियता अपेक्षित है। यदि लेखक शाश्वत साहित्य के सृजन पर ध्यान नहीं रखे तो केवल सम्पादक अथवा प्रकाशक चाह कर भी कुछ नहीं कर सकते। कोई रचना अथवा कृति कभी-कभी शीघ्रता में प्रकाशित कर दी जाती है। फलतः कभी-कभी उसी रचना अथवा कृति में कुछ परिवर्त्तन कर उसे पुनः प्रकाशित करना पड़ता है। मानवमति परिवर्त्तनशील होने के कारण सम्पादकों अथवा प्रकाशकों के द्वारा ऐसा होना स्वाभाविक भी है। कभी-कभी तो इसका दायित्व लेखक पर ही होता है। पर एक ही रचना एवं कृति के परिवर्तित नाम को लेकर बेचारे प्रकाशक बदनाम होते हैं—वह इस कारण कि पाठकों को भ्रम में डालकर व्यर्थ पैसे ऐंठना चाहते हैं। यद्यपि वस्तु-स्थिति यह रहती है कि सामयिक रचना एवं कृति को शाश्वत रचना एवं कृति बना दिया जाए।

कुछ प्रकाशक सत्साहित्य के नाम पर जब ऐसी रचनाओं एवं कृतियों का प्रकाशन करने लगते हैं जिनमें स्वार्थ का आभास रहता है तब प्रकाशकों के प्रति एक सन्देह होता है कि उनका लक्ष्य क्या है और क्या होना चाहिए? समाजोद्धार और मानव-कल्याण सत्साहित्य के अभाव में नहीं हो सकता और सत्साहित्य के उद्धारक हैं सत्प्रकाशक। इस रूप में रचना-प्रकाशन के पीछे प्रकाशकों का दायित्व बहुत अधिक है। सामयिक साहित्य के माध्यम से प्रकाशकों की आय अधिक हो

जाती है और होती है, पर शाश्वत साहित्य के माध्यम से प्रकाशक सदैव पिछड़े रहें—यह भी नहीं कहा जा सकता। किसी रचना एवं कृति के सत्प्रकाशन के उपरान्त—पाठकों की वृत्ति सजग नहीं रहने के कारण—रचना एवं कृति की पूछ जब नहीं होती, तो प्रकाशक मुहर्रमी सूरत बना लेते हैं और सत्साहित्य के प्रकाशन के प्रति आशंकित हो उठते हैं। उनकी यह आशंका बहुत सीमा तक उचित नहीं कही जा सकती। इस स्थिति में, जबकि कोई रचना अथवा कृति सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन रहती है तो, बेचारा लेखक अपने भाग्य को कोसता है। प्रकाशक महोदय कभी-कभी झूठ भी बोल देते हैं कि कृति के प्रकाशन से पाप का फल भोग रहा हूँ। बेचारे लेखक का मुँह उतर जाता है। क्या यह स्थिति सत्साहित्य के प्रकाशन से उत्पन्न होती है? इसका दायित्व लेखक पर है अथवा प्रकाशक पर—यह विचार का विषय है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्थिति इसलिए हो जाती है कि प्रकाशक उस कृति का यथोचित विज्ञापन नहीं करते, पाठकों में ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न नहीं करते जिससे वे इस कृति के प्रति उन्मुख हों। लेखक पर कृति अथवा रचना का दायित्व कुछ कम नहीं होता, पर प्रकाशक का दायित्व लेखक के दायित्व से प्रमुख रहता है। प्रकाशक लेखकों का भी प्रकाशक हुआ करता है। लेखक तो प्रकाशकों से प्रोत्साहन पाकर अधिक अच्छी चीजें दे सकता है, पर यदि प्रकाशक ईमानदार नहीं हुए, लेखकों के परिश्रम आँकने में पिछड़ गये तो स्थिति कभी-कभी ठीक विपरीत हो जाती है। सुन्दर रचना एवं कृति का प्रकाशन तो प्रकाशक और लेखक के सुन्दर सम्बन्ध का परिचायक होता है।

व्यवसाय में जाल : एक पत्र की प्रतिलिपि

श्रद्धेय पाठकजी

आपके भारती भंडार का प्रकाशन स्कन्दगुप्त ५०% पर हजारों की तादाद में श्री फूलचन्द जैन, इम्पीरियल बुक डिपो दिल्ली वाले जिनकी नालन्दा डिक्शनरी वगैरह है, बेच रहे हैं, जिसे उन्होंने श्री विद्यार्थीजी के सामने स्वीकार किया है। उनके समर्थक विशाल भारत बुक डिपो के श्री सत्येन्द्र सिंह जी हैं।

विशेष श्री विद्यार्थीजी बतायेंगे।

भवदीय
ओम्प्रकाश बेरी
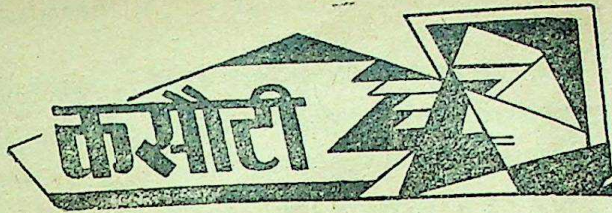
मेघदूत : एक अनुचिन्तन

लेखक—श्रीरञ्जन सूरिदेव ।
प्रकाशक—नागरी प्रकाशन प्रा० लि०, पटना ४
पृ० सं०—३३६ ।
मूल्य—नौ रुपये ।

प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ श्रीरञ्जन सूरिदेव के गहन चिन्तन का फल है। विरह-मिलन के विषाद एवं उल्लास के छायातप से जिस अमित सौन्दर्य की सृष्टि मेघदूत में हुई है, चराचर जगत में मानव-सहानुभूति का जो असीम विस्तार यहाँ उपलब्ध होता है, उससे यह खण्ड-काव्य संस्कृत-भारती का मनोरम अलङ्कार बन गया है। विरह-तप्त यक्ष के वाष्प से उद्भूत यह मेघ असंख्य भावुक हृदयों को रस की वर्षा से आप्लावित करता रहा है। मेघदूत के रूसी अनुवादक पी० रित्तेर ने इसे "करुणापूर्ण सन्तप्त स्वगत उद्गार" कहा है, पर यह उद्गार 'स्व' का विसर्जन कर मानवमात्र का हृद्गत उद्गार बन गया है। ऐसे उत्कृष्ट काव्य की सर्वाङ्गीण समीक्षा संस्कृत में नहीं हुई। इसका कारण था, संस्कृत में कविविशेष अथवा कृतिविशेष के आलोचनात्मक अध्ययन की परिपाटी का अभाव। किसी कवि के कृतित्व अथवा व्यक्तित्व के सम्बन्ध में दो-एक सूक्तियों की रचना कर देने में ही संस्कृत के आलोचक इतिकर्त्तव्यता मान लेते थे। क्षेमेन्द्र जैसे समर्थ आलोचक ने मेघदूत के मन्दाक्रान्ता-छन्द की प्रशंसा में केवल एक श्लोक की रचना कर दी—

> सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता विराजते ।
> सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगांगना ।

मेघदूत के साङ्गोपाङ्ग समीक्षा की आवश्यकता शेष थी। विदेशी विद्वानों को भी मेघदूत ने अपनी ओर आकृष्ट किया। अंगरेजी, फ्रेंच, जर्मन एवं रूसी आदि अनेक भाषाओं में इसके अनुवाद हुए। अनुवादकों ने मेघदूत की समीक्षा भी प्रस्तुत की। हिन्दी में, गद्य और पद्य में अनुवाद तो हुए ही, मेघदूत पर आलोचना भी लिखी गई।

इन स्वदेशी-विदेशी विद्वानों के समीक्षापुञ्ज के बीच भी आलोच्य ग्रन्थ अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। मेघदूत के सम्बन्ध में व्यक्त प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वानों के विचार भी यहाँ एकत्र मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त, रञ्जनजी ने मतमतान्तरों का खण्डन-मण्डन करते हुए अपनी दृष्टि से मेघदूत का मूल्याङ्कन किया है।

आलोचक ने प्रस्तुत पुस्तक में मेघदूत को 'एक मञ्जुल छायावादी काव्यग्रन्थ' सिद्ध करने की जो चेष्टा की है उससे इनकी स्वतन्त्र कल्पना-शक्ति का परिचय मिलता है। यह निर्विवाद है कि मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, मूर्त उपमेय के लिए अमूर्त उपमान की योजना आदि छायावादी काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ, जिन्हें अध्ययन के अभाव में कुछ आलोचक सर्वथा नवीन एवं कभी-कभी पश्चिमी साहित्य का प्रभाव कह देते हैं, कालिदास के काव्य में प्रचुर परिमाण में प्राप्त होती हैं। ध्वनिवक्रता एवं छाया-वक्रता का जो अपरिमेय सौन्दर्य मेघदूत में उपलब्ध होता है, वह किसी भी भारतीय छायावादी काव्यग्रन्थ से इसे अधिक मूल्यवान बना देता है। रञ्जनजी ने इस तथ्य के पुष्टीकरण के लिए जो युक्तियाँ दी हैं तथा उन युक्तियों के समर्थन के लिए जो उदाहरण मेघदूत से चुन कर उपस्थापित किये हैं, उनसे इनकी काव्यमर्मज्ञता एवं साहित्य की गहराई तक पहुँचने की क्षमता स्पष्ट है। इस दृष्टि से आलोच्य ग्रन्थ का 'ध्वनि और छाया की वक्रता' अध्याय विशेषरूप से द्रष्टव्य है।

कालिदास को सर्वतोभावेन छायावादी कवि मानने में विद्वानों में मतभेद हो सकता है। मैं कालिदास के काव्य को किसी 'वाद' की सीमा में न देखकर उसे वाद-मुक्त ही मानता हूँ। सम्भव है, रञ्जनजी ने तथाकथित कुछ पूर्वाग्रही भावकों की दृष्टि में मेघदूत को महार्घ्य सिद्ध करने के लिए ही यह पक्ष लिया हो, जिनके विचार में केवल वे ही काव्य मूल्यवान होते हैं जो छायावाद की व्याप्ति के भीतर आ सकते हों। जो भी हो, रञ्जनजी ने जो पक्ष ग्रहण किया, उसके समर्थन के लिए प्रमाण

आलोचक बुद्धि ने कुछ प्रबल प्रमाणों की योजना कर दी, यही एक आलोचक की सफलता के लिए कम नहीं।

श्रीरञ्जनजी ने काव्यालोचन के लिए शुद्ध शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करते हुए मेघदूत के रस, अलङ्कार, ध्वनि आदि विभिन्न अङ्गों का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है। जो लोग शास्त्रीय आलोचना-पद्धति को यान्त्रिक, रूढ़िग्रस्त अतएव अनुपयोगी बताते हैं, उनमें अधिकांश तो ऐसे ही व्यक्ति होते हैं जो शास्त्रीय विचारों के मर्म को समझने में अक्षम होते हैं और अपनी अक्षमता-जनित हीनभावना (Inferiority complex) की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उस शास्त्रीय विवेचन को ही अग्राह्य बताकर अपने मन को तोष दिलाने का प्रयास करते हैं, पर जो सुधी आलोचक किसी कृतिविशेष की प्रभावसमग्रता के आधार पर उसके मूल्याङ्कन के पक्षपाती हैं, वे काव्यशास्त्रीय आलोचना को केवल गुणदोष-विवेचन के द्वारा बाह्य अवयवों के निरीक्षण-परीक्षण का साधन मानते हुए सम्भवतः यह भूल जाते हैं कि काव्य-शास्त्र काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य की उपेक्षा नहीं करता और आलोचना की यह पद्धति काव्य-सौन्दर्य के हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव के आधार पर उसके मूल्याङ्कन में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं करती। रञ्जनजी ने 'रस और अलङ्कार', 'विचारसौन्दर्य,' 'प्रकृतिचित्रण' आदि अध्यायों में मेघदूत के मर्मोद्घाटन का प्रशंसनीय प्रयास किया है।

'नीत्वा मासान् कतिचित्' जैसे अनिश्चयात्मक प्रयोग के निश्चयात्मक अर्थबोध के लिए 'शापान्तो मे भुजगशयना-दुत्थिते शार्ङ्गपाणौ, शेषान्मासान् गमय चतुरो' एवं 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' प्रयोग के आधार पर आषाढ़ से लेकर कार्तिक की देवोत्थान एकादशी तक की अवधि को 'वर्षभोग्येन' के आधार पर एक वर्ष से घटा कर जो टीका-कारों ने 'कुछ महीने' का अर्थ 'आठ महीने' किया, उसके बाद भी 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' के अर्थ में विद्वानों में मतभेद चलता ही आ रहा है। कुछ लोग इसका अर्थ आषाढ़ कृष्ण प्रतिपदा मानते हैं तो कुछ आषाढ़ी पूर्णिमा का प्रथम दिन अर्थ निकालते हैं। कुछ टीकाकारों ने गणित के आधार पर, अर्थ की संगति न पाकर, 'प्रथम-दिवसे' के स्थान पर 'प्रशमदिवसे' पाठ मान लिया। प्रस्तुत पुस्तक में इस विवादास्पद स्थल पर विचार करते हुए 'शापावधि और मेघदर्शनदिवस' अध्याय में रञ्जनजी ने अपने पक्ष के समर्थन के लिए ज्योतिषशास्त्र से जो प्रबल प्रमाण प्रस्तुत किये हैं उनसे उनकी गवेषणाशक्ति का परिचय मिलता है। प्रस्तुत पुस्तक का यह अध्याय पाठ-शुद्धि की दृष्टि से भी द्रष्टव्य है। मेघदूत में अनेक शब्दों के पाठान्तर उपलब्ध होते हैं। जिस प्रकार इस अध्याय में रञ्जनजी ने अनेक युक्तियों के द्वारा पूर्वमेघ श्लोकसंख्या दो में वल्लभदेव द्वारा पठित 'प्रशमदिवसे' पाठ के स्थान पर 'प्रथमदिवसे' पाठ को ही शुद्ध सिद्ध किया है, उसी प्रकार मेघदूत के अनेक स्थलों पर पाठ-शोध की आवश्यकता है।

ग्रन्थ के अन्त में 'मेघदूत के कतिपय समस्यामूलक प्रयोग' को स्पष्ट किया गया है। इससे मेघदूत को रञ्जनजी ने छात्रों के लिए सुखावगाह्य बना दिया है। 'मेघ-दूत की प्रतियाँ, पाठान्तर और टीकाकार' एवं 'मेघदूत के कतिपय व्याख्यात, सम्पादित और अनूदित संस्करण' की सूचना देने के लिए आलोचक ने पर्याप्त अन्वेषण किया है। मेघदूत में 'वेदान्त तत्त्व', 'मनोवैज्ञानिक तत्त्व', 'विज्ञान तत्त्व', 'गीत और संगीत तत्त्व' आदि का अलग-अलग अध्याय में विशद विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

इस पुस्तक में महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा के 'कालिदास : परिचय और कालनिर्णय' शीर्षक निबन्ध का हिन्दी रूपान्तर संलग्न कर दिया गया है। इससे इस पुस्तक का महत्त्व और भी बढ़ गया है। कालिदास के परिचय एवं कालनिर्णय के सम्बन्ध में अबतक प्रकाशित निबन्धों में महामहोपाध्यायजी का यह निबन्ध सर्वाधिक प्रामाणिक है। कालिदास के अनुसन्धित्सु छात्रों के लिए ग्रन्थ का यह भाग विशेषरूप से लाभदायक सिद्ध होगा।

प्रस्तुत पुस्तक की भाषा रञ्जनजी के पाण्डित्य की साक्षी है।

श्लोकों का सुन्दर हिन्दी अनुवाद इस ग्रन्थ में दिया गया है। मेघदूत के सर्वाङ्गीण विवेचन में रञ्जनजी को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।

—शोभाकान्त मिश्र

आपका यह वर्ष : १९६२

लेखक—ज्योतिर्विद आचार्य श्री रामाधार सिंह 'कपिल'

प्रकाशक—नर-नारी प्रकाशन, ज्योतिष-विभाग, अशोक राजपथ, पटना-६

पृष्ठ-सं०—बड़े आकार में—२५०

मूल्य—३ रुपया

प्रस्तुत पुस्तक नर-नारी प्रकाशन द्वारा प्रकाशित की जाने वाली ज्योतिष-चमत्कारमाला के वार्षिक प्रकाशन का प्रथम पुष्प है। किसी भी व्यक्ति के जन्मकालीन ग्रहों की स्थिति, भावी फलादेश को समझने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है और बिना उसको जाने वर्षफल बताना बहुत ही कठिन है। किन्तु, प्रस्तुत पुस्तक में प्रवीण लेखक ने उस असंभव ज्ञान-आधार को अलग रखते हुए ही राशिचक्रानुसार जितना विस्तृत और सूक्ष्म वार्षिक फलादेश किया है वह ज्योतिर्विज्ञान के महाप्राणित का प्रमाण तो है ही, लेखक के गंभीर ज्योतिष-अध्ययन को भी परिपुष्ट करता है। यह कहना भी असंगत नहीं कि लेखक का यह प्रयास अपने ढंग का सर्वथा अनूठा है और हिन्दीभाषी समाज के लिए तो यह एक महान अवदान है। लेखक और प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

—आचार्य परमानन्द शास्त्री

प्रकाश और परछाईं (उपन्यास)

लेखक : शतानन्द उपाध्याय

प्रकाशक : राष्ट्रभाषा पुस्तकालय, पटना-४

पृष्ठ-सं० : १४४

मूल्य : २·५०

श्री शतानंद उपाध्याय कहानीकार और कवि के रूप में जाने-माने हैं। इस उपन्यास से वे उपन्यासकार भी हो गए। गाँव के जीवन पर हिन्दी में इधर अनेक उपन्यास लिखे जा रहे हैं। प्रस्तुत उपन्यास भी ग्रामीण समस्या पर लिखा गया है और ऐसा लगता है कि लेखक ने गाँव के जीवन और समस्याओं को भली-भाँति देखा-परखा है। विविध घटनाओं के आघात-प्रतिघात से लेखक ने यह भी दिखलाया है कि विजय आदर्श और सत्य की ही होती है। अपनी कला के द्वारा लेखक का यह संदेश पाठकों को आकर्षित करेगा, ऐसी आशा है।

—मूक्तिदूत

हिन्दी व्याकरण और मुहावरा में जो परिवर्तन आप पेश करेंगे, वह अगर सरल हो, तो उत्तरीय लोगों को भी वह अधिक पसन्द आयेगा और उसी का राज चलेगा। रोमन साम्राज्य में रोमन लोगों को अपने कानूनों का बड़ा अभिमान था। जब उन्होंने बहुत-से देश जीते, तब उन-उन देशों के रस्मोरिवाज के अनुसार नये-नये कानून बनाने पड़े। शुरू-शुरू में रोमन अनार्य, प्राकृत या हीन गिने जाते थे। लेकिन समय के प्रभाव से नतीजा यह हुआ कि अनेक राष्ट्रों के लिये जो सामान्य कानून बनाये गये, वे ही अधिक सरल, न्यायपूर्ण और बुद्धि-युक्त बन गये। उनके सामने असली रोमन कानून संकुचित और एकदेशीय दीख पड़ने लगे। उनका प्रभाव कम हुआ।

—काकासाहब कालेलकर

—केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय की एक विज्ञप्ति में आठवीं बाल-साहित्य-पुरस्कार-प्रतियोगिता की घोषणा की गयी है। इस प्रतियोगिता में सब आधुनिक भारतीय भाषाओं में बच्चों की पुस्तकें और पाण्डुलिपियाँ भेजी जा सकेंगी। उन पुस्तकों या पाण्डुलिपियों पर पुरस्कार दिये जायँगे, जिन्हें सरकार बहुत श्रेष्ठ समझेगी। हर पुरस्कार १-१ हजार रु० का होगा और कितने पुरस्कार दिए जायँ, इसकी घोषणा बाद में की जायगी। पुरस्कार की घोषणा करने के बाद भी बिना कारण बताए सरकार को उसे रोकने का अधिकार होगा।

जो लेखक या प्रकाशक अपनी पुस्तकें या पाण्डुलिपियाँ प्रतियोगिता में भेजना चाहते हैं, उन्हें पुस्तकों या पाण्डुलिपियों की पाँच-पाँच प्रतियाँ १ मई, १९६२ तक भेजनी होंगी। पुस्तकों या पाण्डुलिपियों के साथ लेखकों को ३ रु० और प्रकाशकों को ५० रु० का खजाने का चालान भी भेजना जरूरी है।

आठवीं पुरस्कार-प्रतियोगिता के नियम तथा अन्य विवरण निम्न अधिकारी से प्राप्त करना चाहिए :

अधिकारी, एज्युकेशनल ऑफिसर सेक्शन बी--३, मिनिस्ट्री ऑफ एज्युकेशन, भारत सरकार, नई दिल्ली।

—संसद्-सदस्य श्री ए० डी० मणि हाल में रूस के दौरे से लौटे हैं। एक भेंट में उन्होंने बताया कि रूसी जनता में हिन्दी सीखने की लगन है। वे शुद्ध हिन्दी बोलते हैं और लिखते हैं।

—तीसरी पंचवर्षीय योजना में भारत सरकार ने प्रकाशकों के सहयोग से विभिन्न विषयों की बहुत-सी पुस्तकों का अनुवाद कराने और प्रकाशित करने की योजना बनाई है। मुख्य रूप से भौतिक विज्ञान, इंजीनियरी, शिल्प, समाज-विज्ञान, बाल-साहित्य तथा सामान्य-ज्ञान की पुस्तकों और विश्व के उच्च कोटि के ग्रन्थों का अनुवाद कराया जायेगा। विशेष विवरण प्राप्त करने के लिए लिखें--निदेशक, हिन्दी निदेशालय, (शिक्षा मंत्रालय) भारत सरकार, दरियागंज, दिल्ली।

—अमेरिका के वेटरन्स एडमिनिस्ट्रेशन की ओर से अभी हाल में वाशिंगटन में दो ऐसे यन्त्रों का प्रदर्शन किया गया, जो छपे हुए अक्षरों को स्वर में अनूदित कर देते हैं। इन यन्त्रों की सहायता से अब अन्धे व्यक्तियों के लिए छपे हुए पृष्ठों को पढ़ लेना आसान हो जायगा।

—१९६१ के अकादमी-पुरस्कार के लिए इस साल तेरह पुस्तकें, विविध भाषाओं की, चुन ली गयी हैं। १९५८-६० के बीच प्रकाशित पुस्तकों से अबकी चुनाव हुआ था। इन पुस्तकों के लेखक हैं—भगवतीचरण वर्मा (हिन्दी), नानक सिंह (पंजाबी), एन० वरदराजन (तमिष), वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य (असमिया), डा० शशि भूषण दास गुप्ता (बंगला), रामसिंह जी राठौड़ (गुजराती), ए० आर० कृष्णशास्त्री (कन्नड), रहमान राही (कश्मीरी), स्व० गोदावरीश मिश्र (उड़िया), वी० रजनीकांतराव (तेलुगु), इंतियाज अली (उर्दू), डी० एन० गोखले (मराठी), गिरधर शर्मा चतुर्वेदी (संस्कृत)।

सर्वप्रथम, हमारे उपनिषदों, पुराणों और अन्य सब शास्त्रों में जो अपूर्व सत्य निहित हैं, उन्हें इन सब ग्रन्थों के पृष्ठों से बाहर लाकर, मठों की चहारदीवारियाँ भेदकर, वनों की नीरवता से दूर लाकर, कुछ सम्प्रदायविशेषों के हाथों से छीन कर देश में सर्वत्र बिखेर देना होगा। ये सत्य, दावानल के समान सारे देश को चारों ओर से लपेट लें, उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सब जगह फैल जायँ।

—स्वामी विवेकानन्द
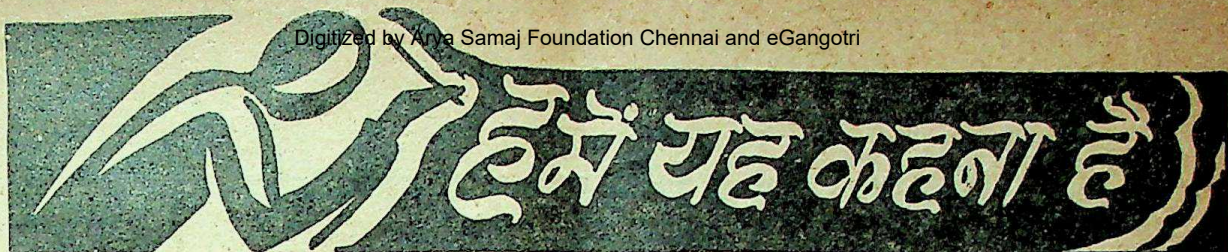
नेट-बुक-समझौता और प्रकाशक-संघ

२१-२२ अप्रेल ६२ को लखनऊ में आ० भा० हिन्दी प्रकाशक-संघ का वार्षिक अधिवेशन होने जा रहा है। कार्यसमिति की ११ मार्च की दिल्ली बैठक में नेट-बुक-समझौते को स्थगित किया गया है। यह समझौता इस शर्त का था कि किसी एक पुस्तक की २० अदद से अधिक की सरकारी या अर्धसरकारी बिक्री पर २० प्रतिशत से अधिक कमीशन न दिया जाय, अथवा इससे कम प्रतियों पर १२½ प्रतिशत दिया जाय, चाहे वह फुटकर छाँट की किताबों का कितना ही बड़ा आर्डर क्यों न हो। और, फुटकर बिक्री पर ६¼ से अधिक न दिया जाय। इस समझौते के अन्तर्गत यह भी शर्त थी कि प्रकाशक केवल उन्हीं प्रकाशकों या विक्रेताओं को माल दें जो ५) सालाना चन्दा संघ को देकर बिक्री-कमीशन की इस शर्त पर संघ के प्रति अनुशासन-बद्ध हों। यह नियम संघ के जिन महत्त्वशील सदस्यों ने प्रारंभ किया था, कि बिक्री में कमीशन की गन्दी होड़ न हो, खेद है कि दिल्ली बैठक में उन्होंने ही इसका जनाजा निकाला। पटने के वार्षिक अधिवेशन में, इस एग्रीमेंट को तोड़ने के प्रयास में वे सफल नहीं हो पाये, क्योंकि बहुमत उनके अनुकूल नहीं था। दिल्ली की उक्त बैठक से पहले की और बैठकों, और जनवरी के विशेष अधिवेशन में भी उन्हें इसे तोड़ने में सफलता नहीं मिली। मगर दिल्ली में दो विरोधी मत के मुकाबले आठ मतों से इस नेट-बुक-समझौते को स्थगित किया गया। यह स्थगन ही इस बात की सूचना है कि लखनऊ के अधिवेशन में इसपर पुनः विचार होगा। अब प्रश्न होता है कि यह समझौता जिन्होंने लागू किया उन्हीं का बहुमत इसके विरुद्ध इस बुरी तरह क्यों हो गया। इतनी बात भी सही है कि कमीशन और व्यवसाय के अधिकार के लिए इस तरह का कोई-न-कोई समझौता, व्यवसाय और उसके ग्राहकों के हित में ही था। और, यह भी सही है कि यदि कमीशन की लूट या गंदी होड़ को रोकने का काम प्रकाशक-संघ नहीं करे, तो फिर उसके हाथ में और कौन-सा महत्त्वपूर्ण काम बचेगा कि जिसके लिए उसकी स्थिति हो। और, इस समझौते के टूटने पर यह भी नीयत साफ होती है कि प्रकाशकगण मनमाने कमीशन की सीधी सप्लाई के द्वारा विक्रेताओं के बचने की जगह नहीं छोड़ सकते हैं।

आखिर वह क्या बात है कि इस समझौते के महत्त्वपूर्ण होने के बावजूद इसे यों स्थगित किया गया? बात यह है कि समझौता लागू होने के शुरू से ही देश के बाकी क्षेत्रों के व्यवसायियों ने व्यवहारतः यह अनुभव किया कि संगठन में इस प्रमुख कार्य का सारा अनुशासन-सूत्र कुछ चंद केन्द्रीय व्यक्तियों के हाथ में है और वे ही इस अनुशासन-सूत्र को देश में ओर-छोर तक विस्तार नहीं दे रहे हैं। दूसरी ओर, सरकारी खरीद की धाँधली में छुपे कमीशन ने भी बाकियों का कम हौसला नहीं तोड़ा। यही कारण है कि इधर-उधर से केन्द्रीय पुरुषों के प्रति शिकायतें आईं और उसकी प्रतिक्रिया में निराश होकर इन एग्रीमेंट तय करनेवालों ने ही इसे स्थगित किया। यह एग्रीमेंट एक अच्छी चीज था, इसे लागू करने के अच्छे और सरल तरीके फैलाने चाहिए थे। किन्तु, इसके बजाय, यह स्थगन, मात्र कुछ कार्यकारियों पर पड़ी हुई प्रतिक्रिया का ही नतीजा है। हम लखनऊ-अधिवेशन के प्रतिनिधियों से चाहेंगे कि वे किसी की चिढ़ और किसी के सिर चढ़ी हुई प्रतिक्रिया से परे होकर इस महत्त्वपूर्ण मसले पर ठंडे मिजाज से सोचने की कृपा करेंगे।

विश्वविद्यालयों के पाठ्यग्रन्थ

●●

राँची विश्वविद्यालय स्नातक-कक्षा के लिये स्वीकृत

काव्य में अभिव्यंजनावाद

काव्यगत अभिव्यंजनाओं के अद्यतन सिद्धान्तों का सुसम्बद्ध समीक्षण

लेखक : श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु मूल्य : ५·००

●●

पटना विश्वविद्यालय स्नातक (प्रतिष्ठा) कक्षा के लिये स्वीकृत

विश्वराजनीति-पर्यवेक्षण

विश्वराजनीति-विषय पर मननीय समीक्षण वाले निबन्धों का संग्रह

लेखक : डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा मूल्य : ५·५०

●●

पटना विश्वविद्यालय स्नातक (प्रतिष्ठा) के लिये स्वीकृत

आधुनिक भाषाविज्ञान

भाषाविज्ञान के अद्यतन सिद्धान्तों एवं प्रतिपादनों पर शास्त्रीय समीक्षण

लेखक : प्रो० पद्मनारायण मूल्य : ३·००

●●

भागलपुर विश्वविद्यालय स्नातक-कक्षा के लिये स्वीकृत

संचयन

हिन्दी गद्य की विकासपरम्परा की श्रेय रचनाओं का सुसंपादित संचयन

सम्पादक : प्रिंसिपल कपिल मूल्य : ३·००

●●

राँची विश्वविद्यालय के प्रागविश्वविद्यालय एवं स्नातक-कक्षा के लिये

रचना-कला

हिन्दी भाषा-शैली का शिक्षण देनेवाली समर्थ पुस्तक

लेखक : श्री सुरेश्वर पाठक विद्यालंकार मूल्य : ३·००

●●

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

'पुस्तक-जगत' के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ४) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य ३७ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* साधारण अंकों में विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
,, द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
,, आधा पृष्ठ	:	२०.००
,, एक चौथाई पृष्ठ	:	१२.००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,

पुस्तक-जगत, ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

रजिस्टर्ड नं० : पी० ८०४ मूल्य : प्रत्येक अंक ३७ न० पै० वार्षिक : चार रुपये

हिन्दी साहित्य को साहित्य अकादेमी का अनुवाद-उपहार
कन्नड़ साहित्य का सांस्कृतिक ऐतिहासिक उपन्यास-शिल्प

श्री विष्णुकान्ता

शान्तला

मूल-लेखक : श्री के० वी० अय्यर : अनुवादक : डॉ० हिरण्मय

कर्नाटक के प्रसिद्ध होइसल-राजवंश के उत्थान-पतन के रोमांचकारी वर्णन के साथ-साथ ऐतिहासिक तथ्य, तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों का यथातथ्य चित्रण। मूल्य : ७.००

ओजस्वी भाषा में अभिनेय युद्धान्तक नाटक

औरत और अरस्तू

लेखक : श्री रामप्रिय मिश्र 'लालधुआँ,

"सर्वथा नई टेकनीक में लिखित यह नाटक हिन्दी नाट्य-साहित्य में एक अभिवृद्धि की सूचना देता है। भाषा और शैली के सारल्य के कारण यह सहज ही अभिनेय भी है।"—'प्रकाशन-समाचार' मूल्य : २.००

हिन्दी मंच के लिए अभिनेयरूप में रूपान्तरित

अभिज्ञान शाकुन्तल

रूपान्तरकार : श्री राधाकृष्ण

हिन्दी के श्रेष्ठतम गद्यशिल्पी द्वारा इस विश्ववरेण्य नाटक का यह अभिनेय रूपान्तरण पाठ्य और मंच के लिये समान उपयोगी है। मूल्य : १.७५

महाकवि दण्डी का अमर गद्योपन्यास

दशकुमारचरित

रूपान्तरकार : श्री हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'

अपने समय के जीवन के सभी पक्षों पर सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाली संस्कृत की श्रेष्ठ उपन्यासकृति ...रण अध्येताओं और छात्रों के उपयुक्त रूपान्तर। मूल्य : ३.००

...नपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

...र ... द्वारा ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, पटना-४ में मुद्रित एवं प्रकाशित

पुस्तक-जगत

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

मई १९६२

प्रेमचंद
के
३००० नये पृष्ठ

संपादक : अखिलेश्वर पाण्डेय
मुद्रक एवं प्रकाशक : ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४
मूल्य : एक अंक ३७ न० पै०, वार्षिक चार रुपये,
यह अंक बारह आने

पुस्तक-जगत

[अ० भा० हिन्दी प्रकाशक-संघ के लखनऊ-अधिवेशन के उपलक्ष में]

वर्ष ८ : अंक ६ : मई १९६२

इस अंक में

'पुस्तक-जगत'-परिवार अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक-संघ के लखनऊ-अधिवेशन (२९-३० अप्रैल, १९६२) में आए हुए व्यवसाय के सभी राष्ट्रीय प्रतिनिधियों का हार्दिक अभिनन्दन करता है और उनसे आशा करता है कि वे अधिकाधिक साहस और सहयोग के आधार पर अपने व्यवसाय की उन्नति के निर्णय के साथ-साथ देश के व्यक्ति को उसकी इच्छित शिक्षा, पठन-सामग्री और स्वतंत्र विचारों की सरणि देकर राष्ट्रीय जनतन्त्र तथा जनमत को उत्तरोत्तर सुयोग्य बनावेंगे ।

स्कूल, कालेज एवं पुस्तकालयों के लिए उपयोगी

पुस्तकें

ये पुस्तकें विकास-आयुक्त पंचायतराज उ० प्र० एवं बिहार द्वारा स्वीकृत हैं

ग्रामीण लोक-कथाएँ

भारतीय राजाओं की कहानियाँ	१·५०

हास्य-रस

असली मुर्गा छाप	२·५०

निबन्ध

पुराने घर नये लोग	४·००
राष्ट्रनिर्माण और हमारे कर्त्तव्य	२·५०

बाल तथा प्रौढ़ साहित्य

कठपुतली	१·००
चल मेरे मटके टम्मकटम्	१·५०
पशु-पक्षियों की कहानी	१·५०
आओ गिनें	·७५
अमर साहित्यकार २ भाग	१·७५
बालपयोगी रामायण	·४०
खट्टी-मीठी लोरियाँ	१·००

आलोचना

हिंदी की गद्य-शैली का विकास	२·००
हिन्दी कविता : कुछ विचार	१०·००

कथा-साहित्य

चारिका (उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत)	२·५०
चौथी पीढ़ी (उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत)	३·००

उपन्यास

आस्तिक	३·५०
नया इन्सान	३·००
सिंदूर का जख्म	३·५०
मेरे जीवन मेरे प्राण	५·००
वसंती भूमि के हजार मील	४·००
परोल पर	३·००
एक स्वप्न	२·००

ग्राम तथा कृषि साहित्य

ग्राम युवक संघटन	०·६२
ग्रामोद्योग और पंचायत	१·५०
घाघ और भड्डरी	१·५०
खेती की सामान्य रीति	·६२
खेती के अनुसंधान	·६२
खाद का उपयोग	·६२
सहकारी खेती	·६२
खेती की रक्षा	·६२
सिंचाई के साधन और तरीके	·६२
पशुपालन और चिकित्सा	·६२
खेती में यंत्रीकरण	·६२

नाटक तथा एकांकी

चन्द्रगुप्त	१·२५
राणा प्रताप सिंह	२·२५
मेवाड़-पतन	१·२५
दुर्गादास	१·५०
नूरजहाँ	१·५०
शाहजहाँ	१·५०
पंद्रह अगस्त	·७५
एकांकी सप्तक	१·५०
बाल एकांकी	·५०

कविता

बंसी और मादल	३·००
चाँद नहीं	२·००
मेरे जलधर	१·००

विविध

सर्वोदय-समाज और विश्व	१·००
आलेखन-कला	२·००
काँग्रेस ही क्यों	·६२
कलकत्ते का कत्लेआम	१·००
बंगाल के आँसू	·६२
भारत और जनतंत्र	·७५
भारतीय राष्ट्रीयता किधर	·२५
चिमिरखी ने कहा	१·५०

राष्ट्रीय प्रकाशन मंदिर, अमीनाबाद, लखनऊ

लखनऊ के हिन्दी प्रकाशक

श्री रविशंकर दीक्षित

अति प्राचीन काल से आदि गंगा गोमती के तट पर बसे हुए लखनऊ नगर का अपना एक विशिष्ट महत्त्व रहा है। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी के पूर्व से ही यह स्थान धर्म, शिक्षा और राजनीति का संगम रहा है। निकट ही, इसी गोमती के पुनीत तट पर महाराज मनु, सतरूपा और महर्षि दधीचि की तपोभूमि, ऋषियों का सिद्धपीठ, नैमिषारण्य तीर्थ है, जहाँ से देश ही नहीं, वरन् विश्व को नैतिक और बौद्धिक नेतृत्व मिला है। महर्षि वेदव्यास का वेद, पुराण, महाभारत आदि ग्रंथों का संपादन एवं लेखन-कार्य अधिकांशतः इसी क्षेत्र में सम्पन्न हुआ है।

लखनऊ नगर के विषय में तो इतिहास में अनेक कथाएँ मिलती हैं, परन्तु यहाँ मेरा उद्देश्य लखनऊ के मूल इतिहास को कुरेदना नहीं, अपितु इस समय जो लखनऊ के प्रकाशक हिन्दी-जगत में कार्य कर रहे हैं, मात्र उन्हीं का उल्लेख करना है।

यहाँ के प्रकाशकों को देखते हुए इनको निम्नलिखित तीन भागों में बाँटा जा सकता है :—

१. धार्मिक पुस्तक-प्रकाशक
२. पाठ्य पुस्तक-प्रकाशक
३. साहित्यिक प्रकाशक

१. धार्मिक पुस्तक-प्रकाशक

धार्मिक पुस्तक-प्रकाशन में अवध का यह क्षेत्र देश में सबसे अग्रणी रहा है। जिस समय देश के और दूसरे भागों में यदा-कदा ही कहीं पुस्तक-प्रकाशन-व्यवसाय का कार्य होता था, उसी समय से लखनऊ के प्रकाशक भारी संख्या में पुस्तकें प्रकाशित कर देश-विदेश की जनता को पठन-पाठन की सामग्री देते रहे हैं।

(अ) नवल किशोर प्रेस : इस संस्था को मुंशी नवल किशोर, सी० आई० ई० ने नवम्बर १८५८ में स्थापित किया था। आरम्भ में इन्होंने ८० हैंड प्रेस लगाकर मुद्रण एवं प्रकाशन कार्य एक वृहत् रूप से आरम्भ किया था। उस समय देश में धार्मिक पुस्तकों की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति केवल यही संस्था कर पायी थी।

आज भारतीय सरकार जिस नीति को प्रश्रय दे रही है, उसी नीति पर इस संस्था के दूरदर्शी संस्थापक मुंशी नवल किशोर ने आज से एक सौ चार वर्ष पूर्व ही कार्य करना आरम्भ कर दिया था। इसी नीति के अन्तर्गत इस संस्था ने यदि एक ओर उपनिषद् का प्रकाशन किया तो दूसरी ओर कुरान शरीफ़ का। आरम्भ में इसका प्रकाशन धार्मिक पुस्तकों तक ही सीमित रहा, परन्तु आगे चल कर संस्था ने साहित्य के विभिन्न अंगों पर भी ध्यान देकर प्रकाशन किये।

इस संस्था के लगभग १२,००० (बारह हजार) प्रकाशन हैं जो भारत के प्रकाशकों के लिए गौरव की वस्तु हैं। भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् इस संस्था का विभाजन हो गया। इस विभाजन ने दो नई संस्थाओं को जन्म दिया :

(१) (राजा) रामकुमार बुक डिपो
(२) तेज कुमार बुक डिपो।

ये दोनों संस्थाएँ अब भी निरंतर उसी गति से हिन्दी-प्रकाशन-जगत् को योगदान दे रही हैं।

(ब) लखनऊ पब्लिशिंग हाउस : यह संस्था भी लगभग नवल किशोर प्रेस के समकालीन स्थापित हुई थी। ईसाई मिशनरियों की सहायता इसे सर्वदा प्राप्त रही है और यह ईसाई धर्म के प्रचार में ही हिन्दी-प्रकाशन कर रही है।

२. पाठ्य-पुस्तक-प्रकाशक

इन प्रकाशकों के अंतर्गत वह प्रकाशक भी आ जाते हैं जो पाठ्यक्रमानुसार विद्यार्थी-उपयोगी पुस्तकों का भी प्रकाशन करते हैं।

(अ) अवध पब्लिशिंग हाउस : इस संस्था को श्री भृगुराज भार्गव ने जनवरी सन् १९४७ ई० में स्थापित किया था। पाठ्य-पुस्तकों के साथ-साथ इस संस्था ने

हिन्दी के प्रमुख लेखकों को प्रश्रय देकर हिन्दी साहित्य के भण्डार को बहुत कुछ योगदान दिया है। इस संस्था के कुछ विशिष्ट प्रकाशनों का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। गाँधी अभिनन्दन ग्रंथ, पटेल अभिनन्दन ग्रंथ, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, भूषण काव्य विमर्श, हिन्दी में आलोचना साहित्य एवं भारतीय शिक्षा की प्रगति—इसके महत्त्वपूर्ण प्रकाशन हैं। अबतक लगभग १५० (एक सौ पचास) पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है।

(ब) अपर इण्डिया पब्लिशिंग हाउस : इस संस्था को यदि केवल पाठ्य-पुस्तक की संस्था ही कहा जाय तो इसके साथ अन्याय ही होगा। इसने श्री नरोत्तम भार्गव के संचालकत्व में पाठ्य-पुस्तकों के साथ-साथ अंग्रेजी साहित्य पर व्याख्यात्मक आलोचनाएँ, हिन्दी के विविध विषयों पर टीकाएँ और सामाजिक उपन्यास और अनूदित साहित्य भी प्रकाशित किये हैं।

(स) मालवीय प्रकाशन : श्री शशिधर मालवीय द्वारा संचालित इस संस्था द्वारा हिन्दी में आलोचना-साहित्य और विद्यार्थी-उपयोगी साहित्य प्रकाशित हुए हैं। अब तक लगभग १०० (एक सौ) पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

(द) हिन्दुस्तानी बुक डिपो : इस संस्था ने भी पाठ्य-पुस्तकों को ही अपना केन्द्र बना लिया है।

(ई) प्रकाशन केन्द्र : इस संस्था द्वारा भी आलोचनात्मक साहित्य और विद्यार्थी-उपयोगी साहित्य ही हिन्दी जगत को मिल रहे हैं।

इन प्रकाशकों के अतिरिक्त और भी कई छोटे-छोटे प्रकाशक इस विषय में उतर आये हैं, जिनका कार्य विद्यार्थी-उपयोगी साहित्य के प्रकाशन और सरकारी पुस्तकों के प्रकाशन तक ही सीमित है।

३. साहित्यिक प्रकाशक

छोटी-छोटी साहित्यिक प्रकाशन-संस्थाएं तो लखनऊ नगर में काफी मात्रा में खुल चुकी हैं और बराबर खुलती जा रही हैं, परन्तु कुछ इस विषय की विशिष्ट संस्थाएं भी हैं जिनके प्रकाशनों की भारत में ही नहीं, वरन् विदेशों में भी माँग होती रहती है। हिन्दी के कई प्रसिद्ध कवियों और उपन्यासकारों ने अपने प्रारम्भिक जीवन में लखनऊ में प्रश्रय पाया, जिनमें मुख्य रूप से हम "निराला" और "प्रेमचन्द" को कह सकते हैं। कई साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रकाशन-केन्द्र भी लखनऊ ही रहा, जिनमें "माधुरी" का नाम मुख्य रूप से लिया जा सकता है जो पहले स्वर्गीय पं० रूपनारायण पाण्डेय एवं श्री दुलारेलाल जी भार्गव के सम्पादकत्व में निकलती रही। पाण्डेयजी एवं भार्गवजी के इससे पृथक हो जाने के उपरान्त पं० कृष्ण बिहारी मिश्र और मुंशी प्रेमचन्द इसका सम्पादन करते रहे। इन लोगों के चले जाने के पश्चात् पं० मातादीन शुक्ल काफी समय तक इसके संपादक रहे।

(अ) गंगा पुस्तक माला कार्यालय : श्री दुलारेलाल भार्गव ने "माधुरी" से पृथक होते ही इस संस्था की स्थापना की थी और "सुधा" नामक एक पत्रिका भी निकाली थी।

हिन्दी प्रकाशन-क्षेत्र में श्री भार्गवजी ने इस संस्था द्वारा अद्वितीय कार्य किया है। संस्था में लगभग सभी प्रसिद्ध साहित्यकारों की रचनाएँ उपलब्ध हैं।

(ब) विप्लव कार्यालय : श्री यशपालजी की ख्याति आज भारत को लाँघ कर विदेशों में भी पहुँच रही है। श्री यशपालजी ने आरम्भ में पाठकों को राजनीतिक विचारों से ओतप्रोत साहित्य प्रदान किया और अब नैतिक और सामाजिक विषयों पर समाज को एक अनूठा साहित्य देकर नई पीढ़ी के मार्ग को प्रशस्त कर रहे हैं। इनके सभी प्रकाशन इसी संस्था द्वारा प्रकाशित हुए हैं। इसकी स्थापना सन् १९३८ ई० में श्रीमती प्रकाशवती पाल ने यशपालजी के सहयोग से की थी।

(स) राष्ट्रीय प्रकाशन मन्दिर, अमीनाबाद : लखनऊ के प्रकाशकों में इस संस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है। १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम में प्रपितामह पं० ज्वाला प्रसाद दीक्षित के विलुप्त हो जाने और पं० गौरीशंकर दीक्षित के कालपी पथ में पाण्डो नदी के किनारे मैंती ग्राम में दुबारा अंग्रेजों को कानपुर से निकालने के प्रयास में वीरगति प्राप्त करने के पश्चात् संस्थापक के पितामह को लेकर उनकी मातामही हिन्दी के यशस्वी लेखक पं० प्रताप नारायण मिश्र के निवासस्थान बैजगाँव (बेथर)

जिला उन्नाव में आकर रहने लगीं। बड़े होने पर पितामह पं० जगन्नाथ प्रसाद दीक्षित नवलकिशोर प्रेस कुछ समय रहे फिर राजासाहब कालांकांकर के पास महामना पं० मदनमोहन मालवीय के साथ रहने लगे। महामना मालवीयजी से प्रेरणा पाकर प्रयाग में आकर पुस्तकों का व्यवसाय आरम्भ किया। इनके पुत्र श्री रामकिंकर दीक्षित के ज्येष्ठ सुपुत्र श्री उमाशंकर दीक्षित सन् १६३० ई० में राष्ट्रीय आन्दोलनों से प्रभावित होकर इलाहाबाद में राष्ट्रीय जागरण की पुस्तकों का प्रकाशन करने लगे। परन्तु इन सभी पुस्तकों को ब्रिटिश सरकार जब्त करती गई। आन्दोलन की समाप्ति पर सन् १६३३ ई० में श्री उमाशंकर दिक्षित द्वारा इस संस्था का जन्म हुआ।

उस समय इस संस्था द्वारा प्रकाशित प्रकाशनों पर राष्ट्रीय विचारों का ही ध्यान रखा गया। अब स्वतंत्रता के पश्चात् निर्माणकारी साहित्य-प्रकाशन कर रहे हैं। निर्माण-साहित्य, बाल साहित्य, बुनियादी-साहित्य एवं जन-साहित्य इस संस्था का लक्ष्य है। अब तक इस संस्था द्वारा लगभग १०० (एक सौ) पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

(द) प्रभाकर साहित्यालोक : इस संस्था का स्थापन श्री नन्दकुमार अवस्थी ने सन् १६५३ ई० में किया। इस संस्था द्वारा वेसिक साहित्य और कुरान शरीफ का हिन्दी अनुवाद एवं कृत्तिवास रामायण मुख्य हैं। अब तक लगभग ६५ प्रकाशन हो चुके हैं। श्रमजीवी प्रकाशक-शृंखला में इसका भी नाम आता है।

(इ) हिन्दी साहित्य भण्डार : इस संस्था का जन्म सन् १६५२ में श्री तेजनारायण जी टण्डन द्वारा हुआ। आरम्भ विद्यार्थी-उपयोगी प्रकाशनों से हुआ था। अब साहित्यिक जगत की ओर भी अग्रसर हो रहे हैं। लगभग २०० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

(फ) नवयुग ग्रंथागार : इस संस्था के प्रकाशन आरम्भ में उपन्यास, कहानियाँ तक ही सीमित थे, परन्तु पिछले कुछ समय से आलोचनात्मक साहित्य की ओर भी बढ़ रहे हैं। इसके संस्थापक श्री रामेश्वर तिवारी हैं।

(ग) हिन्दी प्रचारक मण्डल : इसके संस्थापक श्री रामदास मिश्र भी एक कर्मठ श्रमजीवी प्रकाशक हैं। इस संस्था का प्रकाशन लखनऊ काँग्रेस के सन् १६३६ अधिवेशन के अध्यक्ष श्री जवाहरलाल नेहरू की जीवनी 'हमारा राष्ट्रपति' नामक पुस्तक से प्रारम्भ हुआ। आरम्भ में आप राजनीति से प्रभावित थे, इस कारण राजनीतिक प्रकाशन ही किया, परन्तु इधर उपन्यास, कहानी, हास्य और आध्यात्मिक प्रकाशन कर रहे हैं।

(ह) रामा प्रकाशन : इस संस्था को स्थापित हुए अभी एक ही वर्ष हुआ है, परन्तु अतिशीघ्र ही इन्होंने हिन्दी जगत के अच्छे साहित्य-प्रकाशन में योग दिया है। इसके संस्थापक श्री बनारसी दासजी मेहरोत्रा हैं।

(ज) इण्डियन बुक डिपो : इसे इण्डियन प्रेस की एजेंसी लेकर श्री ओंकारनाथ श्रीवास्तव ने स्थापित किया है। यूँ तो सारा व्यवसाय पाठ्य-पुस्तकों पर ही निर्भर है, परन्तु कुछ पुस्तकें साहित्य की भी प्रकाशित की हैं।

'सामुदायिक प्रकाशन' का जन्म अभी पिछले ही वर्षों में हुआ है। कुछ पुस्तकें राष्ट्र-निर्माणकारी एवं बालोपयोगी प्रकाशित की हैं। 'राष्ट्रधर्म प्रकाशन' का भी कार्य सराहनीय है। 'विश्वभारती प्रकाशन' के अंतर्गत जिस ज्ञान-विज्ञान-कोष का प्रकाशन श्रीनारायण चतुर्वेदी के संपादकत्व में प्रारम्भ हुआ था, यह हिन्दी-जगत में एक नयी घटना है। हिन्दी ऐसे प्रकाशनों के लिए ऋणी रहेगी।

लखनऊ के हिन्दी प्रकाशकों का ध्यान सर्वदा जन-साहित्य की ओर रहा है। परन्तु इसमें मुख्य रूप से (राजा) रामकुमार बुक डिपो, गंगा पुस्तकमाला, राष्ट्रीय प्रकाशन मंदिर, प्रभात पब्लिशिंग हाउस, हिन्दी प्रचारक मण्डल आदि का नाम लिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त 'ग्राम साहित्य मंदिर' मकबूलगंज का प्रकाशन भी मुख्य रूप से इसी ओर है।

इन प्रकाशकों के अतिरिक्त रामा प्रकाशन, नवयुग पुस्तक भण्डार, अमिताभ प्रकाशन, सहयोगी प्रकाशन, साकेत साहित्य सदन, विद्यार्थी बन्धु प्रकाशन, ज्ञानालोक प्रकाशन, विश्वविद्यालय प्रकाशन और सामुदायिक प्रकाशन भी इसी शृंखला के अंतर्गत हैं। इन प्रकाशनों के

(शेष पृष्ठ ८ पर)

अ० भा० हिन्दी प्रकाशक-संघ लखनऊ-अधिवेशन की

स्वागताध्यक्षा श्रीमती रानी रामकुमार भार्गव

संक्षिप्त जीवन-परिचय

उत्तर प्रदेश के सामाजिक जीवन में महिलाओं का बड़ा ही ऐतिहासिक योगदान रहा है। हम यहाँ उस लम्बे इतिहास का उल्लेख नहीं करेंगे, जिसे महिलाओं की त्याग-तपस्या से गौरवान्वित होने का अवसर मिला है। लेकिन जब रानी लीला रामकुमार भार्गव के बारे में हम सोचते हैं तब न चाहते हुए भी उन सभी महिलाओं के नाम याद आ जाते हैं जिन्होंने विरोधी सामाजिक परिस्थितियों में भी इस प्रदेश में महिला-आन्दोलन की नींव रखी और उसे आगे बढ़ाया। आप संप्रति उत्तर प्रदेश विधान-परिषद् की सदस्या हैं और इसके अलावा भी कितनी ही ऐसी संस्थाओं से संबद्ध हैं जिनके माध्यम से इस प्रदेश में प्रमुख सामाजिक कार्य किये जा रहे हैं।

रानी रामकुमार भार्गव का जन्म २४ मई, १९२२ को हुआ था। आप सिवनी (मध्यप्रदेश) के प्रसिद्ध नागरिक श्री पी० एल० भार्गव, बैरिस्टर एट ला की कन्या हैं और आपका विवाह लखनऊ के प्रसिद्ध व्यवसायी तथा जमींदार राजा रामकुमार भार्गव से ४ जून १९३८ को हुआ। आपको तीन पुत्र और एक पुत्री हैं। सामाजिक जीवन के साथ-साथ पारिवारिक जीवन में भी आपका मधुर और जीवन्त दृष्टिकोण नये वातावरण की पुष्टि करता है। यह अत्यन्त सौभाग्य की बात है कि आप पिता और पति दोनों पक्षों से अत्यंत महत्त्वपूर्ण परम्परा की उत्तराधिकारिणी हैं। क्या यह अलम् से बतानें की बात है कि राजा रामकुमार भार्गव लोकविश्रुत मुंशी नवलकिशोर के प्रपौत्र हैं, जो न केवल प्रदेश में बल्कि इस पूरे देश में प्रकाशन-व्यवसाय के आदिपुरुष माने जाते थे।

रानी रामकुमार भार्गव इस प्रदेश की कितनी ही संस्थाओं से संबद्ध हैं। यहाँ उन सब का उल्लेख करना न तो सम्भव है और न उचित ही, फिर भी कुछ संस्थाओं का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। आप लखनऊ के भारतीय बालिका-विद्यालय इण्टर कालेज की संस्थापक आजीवन अध्यक्षा हैं। नारी-सेवा-समिति तथा वीमेंस एकाडमी की आप कई वर्षों तक अध्यक्षा रही हैं। प्रोग्रेसिव एजुकेशन सोसाइटी और बी० एन० इण्टर कालेज की अध्यक्षा भी आप हैं। आर्य कन्या पाठशाला की संरक्षकता तथा नवयुग नर्सरी स्कूल की अध्यक्षता भी आप ही कर रही हैं। बालचर-आन्दोलनों में भी आपका पूरा सहयोग रहा है। भारत स्काउट्स एण्ड गाइड्स रिजिनल काउंसिल की सभापति तथा भारत स्काउट्स एण्ड गाइड्स उत्तर प्रदेश की सहायक स्टेट कमिश्नर भी रही हैं। इसके अलावा भारत स्काउट्स एण्ड गाइड्स की राष्ट्रीय समिति, परिषद् तथा वित्त-समिति की सदस्या भी रही हैं। आप राष्ट्रीय महिला-परिषद् लखनऊ शाखा की प्रधान हैं। राष्ट्रीय परिषद् की (जो अखिल भारतीय है) उप-प्रधान हैं तथा अंतर्राष्ट्रीय महिला-परिषद् की सदस्या हैं। आप इस समय उत्तर प्रदेश क्षय-निवारण-संगठन की उप-प्रधान भी हैं। संप्रति आप समाज-सेवा-परिषद्, उत्तर प्रदेश तथा अखिल भारतीय महिला परिषद् की लखनऊ शाखा की उप-सभापति भी हैं। इसके अतिरिक्त अखिल भारतीय रेड क्रास सोसाइटी की उत्तर प्रदेश की शाखा समिति की भी आप मेम्बर हैं। आप भारत-सेवक-समाज की उत्तर प्रदेश शाखा की मेम्बर और सदस्या भी रह चुकी

हैं। आप अमेरिका की राष्ट्रीय महिला परिषद् से संबद्ध कमेटी आफ कारेस्पांडेंस की सदस्या भी हैं। आप उत्तर प्रदेश स्वास्थ्य बोर्ड की सदस्यता हैं तथा गाँधी मेमोरियल तथा संबद्ध अस्पतालों के प्रबंधक बोर्ड की सदस्या भी रही हैं। आप उत्तर प्रदेश नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी की प्रधान हैं और जूलौजिकल उपवनों की सलाहकार-समिति की सदस्या भी हैं। आप अवध लेडीज क्लब की प्रधान तथा लखनऊ वीमेन्स एसोसिएसन की उप-प्रधान भी हैं। आप उत्तर प्रदेश शासन द्वारा स्थापित रक्षा-गृह के लिए बनायी गयी सलाहकार-समिति की सदस्या हैं तथा सुधार-शिक्षा-संस्थाओं की पर्यवेक्षकों की समिति की कार्यकारिणी की सदस्या भी हैं। आप महिला-सहायक-संघ तथा नारी-सेवा-समिति की सदस्या भी हैं और यू० आइ० सी० पेपर मिल कम्पनी लिमिटेड के संचालक-मण्डल की सदस्या हैं।

इसके अलावा और भी कितनी ही संस्थाएँ और कार्य हैं जिनसे आपका घनिष्ट संबंध है। यों तो समाज के हर अंग के उचित विकास में आप लगी हुई हैं, लेकिन आपका सर्वाधिक ध्यान महिलाओं और बच्चों के विकास के कार्य में लगा हुआ है, यह बात आपके कार्यों की शृंखला का हलका-सा अध्ययन करने से ही आसानी से मालूम हो जायगी।

लखनऊ में होने वाले प्रकाशक-संघ के सातवें अधिवेशन में आये हुए प्रतिनिधियों का स्वागत करने का जितना अधिकार आपको है, उतना सम्भवतः और किसी को नहीं है। न केवल एक सामाजिक कार्यकर्त्ती के नाते, बल्कि मुंशी नवलकिशोरजी की उदात्त परम्परा में होने के नाते इस देश के प्रकाशकों को सम्बोधित करने का एकमात्र आपका अधिकार है, इस बात में दो मत हो ही नहीं सकते।

अ० भा० हिन्दी प्रकाशक-संघ लखनऊ-अधिवेशन की स्वागत-समिति की मंत्रिणी श्रीमती प्रकाशवती यशपाल

संक्षिप्त जीवन-परिचय

अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक-संघ के लखनऊ-अधिवेशन कीस्वागत-समिति की मंत्रिणी श्रीमती प्रकाशवती यशपाल हैं। श्रीमती प्रकाशवती विप्लव प्रकाशन संस्था और साथी प्रेस की व्यवस्थापिका हैं। विप्लव कार्यालय और साथी प्रेस की स्थापना भी इन्होंने अपने पति यशपाल के सहयोग से स्वयं ही की है। प्रकाशवतीजी आरंभ से ही समाज-सेवा और साहस की प्रवृत्ति का परिचय देती आई हैं। प्रकाशवती और उनके पति यशपाल, प्रसिद्ध क्रांतिकारी भगतसिंह और चन्द्रशेखर आजाद आदि के सहयोगियों में से हैं। प्रकाशवतीजी ने यद्यपि दाँतों की डाक्टरी की शिक्षा और डिप्लोमा प्राप्त किया है, परन्तु साहित्य में रुचि होने के कारण इन्होंने अपने पति के साहित्यिक कार्य को सफल बनाने में सहयोग दिया। विप्लव प्रकाशन संस्था का आरम्भ सन् १६३६ में विप्लव पत्रिका से हुआ था। इस पत्रिका के सम्पादन-विभाग में एकमात्र व्यक्ति यशपाल तथा प्रबंध तथा बिक्री और प्रचार-विभाग में एक मात्र कार्यकर्त्री प्रकाशवती थीं। विप्लव पत्रिका अपनी जनप्रियता के कारण हिन्दी और उर्दू, दोनों लिपियों में प्रकाशित होती थी। इस पत्रिका की सफलता प्रकाशवती की प्रबंध-कुशलता और परिश्रम की शक्ति का परिचायक है। विप्लव कार्यालय की विशेषता और सफलता इसके प्रकाशनों की संख्या में नहीं, जनप्रियता और श्रेष्ठता में है। विप्लव कार्यालय के प्रकाशनों का अनुवाद न केवल अनेक भारतीय भाषाओं में हो चुके हैं, बल्कि उन्हें अंतरराष्ट्रीय साहित्य-जगत में भी सम्मान प्राप्त हुआ है। श्रीमती प्रकाशवती प्रकाशन के व्यवसाय के अतिरिक्त सामाजिक कार्यों में भी सक्रिय रूप से भाग लेती रही हैं। आप लखनऊ वूमेंन्स लीग, शरणार्थी सहायक समिति, भारत-सोवियत सांस्कृतिक संघ आदि की मंत्रिणी भी रह चुकी हैं। आप भारतीय नारी-परिषद् की प्रतिनिधि के रूप में विदेश-यात्रा कर अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग ले चुकी हैं। इतने उत्तरदायित्वों को निबाहते हुए भी आप अपने पड़ोस के महिला-समाज में सर्व-सुलभ डाक्टर, वकील और परामर्शदात्री के रूप में प्रसिद्ध हैं। हमें पूर्णरूप से विश्वास है कि आपके सहयोग से इस अधिवेशन की सुव्यवस्था में कोई न्यूनता न रहने पावेगी।
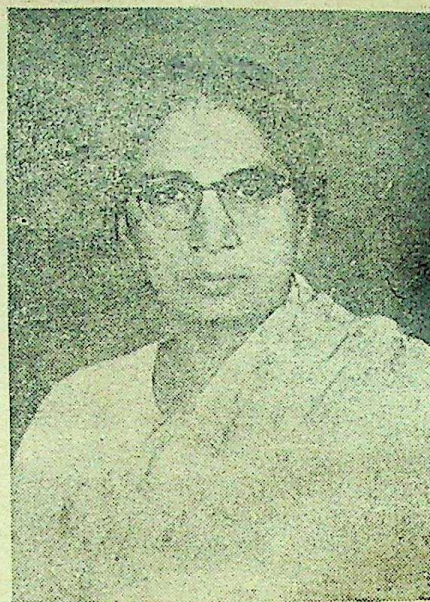
(पृष्ठ ५ का शेष)

साथ शिवाजी बुकडिपो का भी नाम आता है। इसको श्री सोमनाथ जी पंडित ने सन् १६४५ में स्थापित किया था।

लखनऊ के इन सभी प्रकाशकों के साथ हिन्दी-समिति का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। इसके बगैर तो लखनऊ का प्रकाशन-व्यवसाय ही अधूरा रह जायगा। भारत के स्वतंत्र होने और हिन्दी के राष्ट्रभाषा बन जाने के पश्चात शासन का हिन्दी-प्रकाशन की ओर ध्यान देना आवश्यक हो गया। उसने हिन्दी-समिति का निर्माण कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी के कुछ अमूल्य और उत्तमोत्तम ग्रंथों का प्रकाशन कर हिन्दी-समिति ने हिन्दी-जगत में एक नई क्रांति ला दी है।

शिक्षा और साहित्य पर सरकारी नियन्त्रण : महत्त्वपूर्ण विरोधी विचार

"शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण लोकतन्त्र की हत्या है। लगभग सभी राज्यों में पाठ्य-पुस्तकें शिक्षा-विभागों द्वारा ही निर्धारित की जाती हैं। कई पाठ्य-पुस्तकें शिक्षा-विभाग द्वारा लिखाई जाती हैं तथा वही उन्हें प्रकाशित करता है। क्या यह सब शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण नहीं है? क्या काँग्रेसी सरकारें कह सकती हैं कि वे अपने ढंग से शिक्षा को नियंत्रित नहीं करतीं? सिद्धांततः काँग्रेस शिक्षा के सरकारी नियंत्रण को स्वीकार करती है।...जब सरकारी नियंत्रण का सिद्धांत मान लिया जाता है, तब स्वभावतः जिस पार्टी की सरकार अस्तित्व में आवेगी वह अपने दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षा को नियंत्रित करे तो आश्चर्य की कौन-सी बात है? केरल में वर्त्तमान में कम्युनिस्ट पार्टी की सरकार है और कम्युनिस्ट पार्टी अन्य बातों के साथ-साथ शिक्षा पर भी पूर्ण सरकारी नियंत्रण में विश्वास करती है। ऐसी स्थिति में यदि केरल-सरकार ने काँग्रेसी राज्यों की अपेक्षा सरकारी नियंत्रण में वृद्धि की है, तो उसे दोष क्यों दिया जाता है।"

—धीरेन्द्र मजूमदार ('आज' १६-६-५६)

"शिक्षा के नियंत्रण के माध्यम से अधिकारारूढ़ पार्टी नयी पीढ़ी को सूक्ष्म शैक्षणिक तरीकों द्वारा अपने साँचे में ढालने का प्रयास करती है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि विचार-स्वातंत्र्य एवं स्वतंत्र-दृष्टिकोण के लिए अनुकूल वातावरण रह नहीं जाता। समाज के सन्तुलित विकास की दृष्टि से यह बात घातक होती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जिस राष्ट्र में भी शिक्षा के सरकारी नियंत्रण पर अत्यधिक जोर दिया गया, वह प्रारंभ में तेजी से कुछ प्रगति करता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु कुछ ही वर्षों में वह अपने पड़ोसियों के लिये खतरा पैदा कर देता है और साथ ही आन्तरिक विद्रोह के बीज भी बो देता है।......शिक्षा का नियंत्रण सरकार के हाथ में नहीं, बल्कि समाज के विद्वानों, विचारकों एवं मनीषियों के हाथ में होना चाहिए। सरकार का कार्य ऐसे व्यक्तियों की सहायता करना एवं आवश्यक साधन प्रस्तुत करना होता है।"

—'आज' (सम्पादकीय, १६-६-५६)

"सरकार के हाथों में किसी भी प्रकार की शिक्षा-पद्धति नहीं होनी चाहिए।...मैं पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीय-करण का विरोधी हूँ एवं हमें पाठ्य-विषय एवं शिक्षा-प्रणाली को सरकारी प्रभावों से बचाने की चेष्टा करनी चाहिए। शिक्षा-प्रणाली में किसी भी प्रकार की अनिवार्यता नहीं आनी चाहिए तथा शिक्षा का माध्यम लड़के की मातृभाषा होनी चाहिए।"

—विनोबा भावे

(अ० भा० बुनियादी शिक्षा सम्मेलन, १३ वाँ अधिवेशन, राजपुरा (पंजाब), २७ अप्रेल, १६५६)

"हम एक भारतीय समाचार-पत्र से यह अंश उद्धृत कर रहे हैं, जिसने इसका नामकरण 'विद्या के क्षेत्र में एकाधिकार हानिकारक' ठीक ही किया था।

'मद्रास हाईकोर्ट के न्यायाधीश श्री पी० वी० बालकृष्ण अय्यर ने, एक फैसले के बीच, कहा कि इस वर्ष की सेकेंडरी स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट के निमित्त मद्रास सरकार द्वारा प्रकाशित अंगरेजी की एक पाठ्य-पुस्तक (स्काट-रचित Quentin Durward का संक्षिप्त संस्करण, सरकारी ट्रेनिंग कालेज की महिला प्रिंसिपल द्वारा सम्पादित) की 'उल्लेखनीय सफलता नहीं रही है।' 'एक अच्छी पाठ्य-पुस्तक कैसी नहीं होनी चाहिए, इसका यह एक उदाहरण है'...'अविस्तृत अध्ययन के निमित्त सरकार का अंगरेजी की पाठ्य-पुस्तक प्रकाशित करने का वर्त्तमान प्रयास पूर्णतया असफल रहा है'...'शिक्षा-धारा के अन्तर्गत एकाधिकार की स्थापना का प्रयास, विशुद्ध आर्थिक क्षेत्र में ऐसे प्रयोग से कहीं अधिक खतरनाक है।"

—'दि इंडियन पब्लिशर एंड बुकसेलर' (जनवरी, १६५६)

"स्वतंत्रता के बाद देश के अनेक राज्यों में पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण किया जाने लगा। केरल में जब

कम्यूनिस्ट सरकार आई, तो उसने भी स्वभावतः यह कदम उठाया।...हर संभव उपाय से इस षड्यंत्र को रोकने का उपाय करना चाहिए। पर रोके कौन? हमारे हाथ तो स्वयं इस रक्त से रँगे हैं। क्या काँग्रेस द्वारा शासित प्रदेशों की राष्ट्रीयकृत पाठ्य-पुस्तकों में अपनी पार्टी के प्रान्तीय स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर के जीवित नेताओं की प्रशस्तियाँ नहीं गाई गई हैं? अपने विचार घोलकर बच्चों को नहीं दिए गए हैं? गाँधीजी ने कहा था, सुधार की क्रिया अपने से शुरू की जानी चाहिए। हमारा निवेदन है कि केरल के दरवाजे पर दस्तक देने से पहले...पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण की इस प्रणाली को अपने यहाँ से रुखसत कर देना चाहिए। शिक्षा का रूप स्थिर करने का भार, अपने ऊपर न रखकर, शिक्षाविदों और विचारकों की एक समिति पर, पूरे अधिकार और स्वतंत्रता के साथ, डाल देना ही सभी दृष्टि से स्वस्थ और जनतांत्रिक है।"

—'पुस्तक-जगत' (नवम्बर, १९५८)

"एक ओर तो काँग्रेस ने शिक्षा का राज्यकरण करने वाली शिक्षा-विधि का विरोध कर, राज्यकरण करने वाले शासक-दल—साम्यवादी दल—को उखाड़ फेंका, मगर दूसरी ओर बिहार में केरल की शिक्षा-विधि से भी ज्यादा खतरनाक कानून, हाई स्कूल (नियंत्रण) विधेयक स्वीकृत कराने में एड़ी-चोटी का जोर लगा मारा। सिद्धांतरूप में तो काँग्रेस वाले यह मानते हैं कि शिक्षा का राज्यकरण नहीं होना चाहिए,...लेकिन इस सिद्धान्त को वहीं व्यवहार में लाते हैं, जहाँ उन्हें सत्ताधारी विरोधी दल को दबाने की जरूरत पड़ती है। जहाँ वे स्वतः सत्ताधारी बने हुए हैं, वहाँ इस सिद्धान्त को ताक पर रखकर, इसके विपरीत कार्य करते हैं।"

—'पुस्तक-जगत' (जून, १९६०)

"अपने देश में एक गलत तरीका चल रहा है। आज सबसे बड़ा खतरा यह है कि तालीम सरकार के हाथ में है। ...पिछले दिनों केरल में शिक्षा के बारे में कुछ हेरफेर किया तो सारे देश में हो-हल्ला मचा। मैंने कहा, आखिर उन्होंने किया ही क्या? आप जो करते हैं, उसी को उन्होंने थोड़ा कसकर किया है। आपके स्कूलों का टाइम-टेबुल भी तो ऊपर से लिखकर आता है कि फलाँ विषय इतने घंटे तक पढ़ाया जायगा; जो किताबें तय हुई हैं, वे ही पढ़ाई जायँगी। इससे बढ़कर खतरा दूसरा नहीं है। क्या यह डिमोक्रेसी है? डिमोक्रेसी तब प्रकट होगी जब तालीम मुक्त होगी। अब तालीम का जो ढाँचा बन गया है, उस ढाँचे को तोड़ना होगा।"

—विनोबा भावे ('पुस्तक-जगत' जून, ६०)

"राष्ट्रीयकरण के विरोध में कही जाने वाली इस बात की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती कि ऐसा होने के पश्चात विद्यार्थियों को शासक-दल की सामग्री पढ़ने को मिलेगी, शिक्षा निष्पक्ष नहीं रह सकेगी। इस बात का हल्का-सा जिक्र केन्द्रीय शिक्षामंत्री ने भी अपने भाषण में किया है। यूनेस्को द्वारा आयोजित मद्रास में होनेवाली विचार-गोष्ठी में भाषण करते हुए उन्होंने कहा कि—'सरकार को चाहिए कि पुस्तकों का निर्माण निजी संगठनों और प्रकाशकों के हाथ में छोड़ दे। तभी विचारों का उन्मुक्त प्रवाह सम्भव हो सकेगा और लेखकों की कल्पना और बुद्धि की तथा जनगण की रचनात्मक शक्तियों की पूर्ण और अधिक उन्मुक्त अभिव्यक्ति हो सकेगी।...यदि प्रकाशकों में कम मूल्य में अच्छी पुस्तकें पैदा करने का उत्साह न हो, तो सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ता है। जिन राज्यों में पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण हुआ है, उनके मन में भी यही बात थी। फिर भी, मेरी राय है कि उन राज्यों में भी प्रकाशकों को स्वतंत्र प्रतियोगिता का अधिकार होना चाहिए तथा सरकार को एकाधिकार नहीं करना चाहिए।"

—दयानन्द वर्मा ('पुस्तक-जगत' फरवरी, १९६१)

"केरल में भूतपूर्व कम्युनिस्ट सरकार पर काँग्रेस तथा अन्य विरोधी पक्षों द्वारा यह आरोप लगाया गया कि विद्यार्थियों में वामपन्थी दृष्टिकोण पैदा करने के लिए उसने अनुकूल पाठ्य-पुस्तकों का प्रचार किया तथा राज्य के पुस्तकालयों को वामपन्थी पुस्तकालयाध्यक्षों से भर दिया गया, कि वे इसमें अनुकूल पुस्तकों के संग्रह में साधन सिद्ध हो सकें।...केरल दिल्ली से दूर है; वहाँ क्या-कुछ हुआ कि जिसके बारे में काँग्रेस के मंच और प्रेस से देश भर में

गुहार-पुकार मचाई गई, हमें मालूम नहीं है। हमें उसकी निजी जानकारी अवश्य है, जोकि काँग्रेस द्वारा शासित उत्तर के राज्यों में तथा केन्द्र में पिछले अनेक वर्षों से बराबर हो रही है। १९४७ के बाद पुस्तकालय-आन्दोलन पर बहुत और उचित बल दिया गया, सार्वजनिक कोष से लाखों रुपयों की पुस्तकें देश भर के पुस्तकालयों के लिए खरीदी जा रही हैं। लेकिन, काँग्रेस द्वारा शासित राज्यों में जो पुस्तकें खरीदी जा रही हैं, उनका अधिकांश ऐसे साहित्य का है, जो शासकों के राजनीतिक और सामाजिक दर्शन के अनुकूल पड़ता है···जोकि परोक्षरूप से वर्तमान शासकीय नीति का समर्थन करता हो। कहा जाता है कि आज हमें वैज्ञानिक और तकनीकी साहित्य की जरूरत है···लेकिन जब सार्वजनिक कोष से पुस्तकें खरीदने का प्रश्न आता है, तो वैसा ही साहित्य खरीदा जाता है, जिसे समर्थन देने के लिए केरल की भूतपूर्व सरकार पर लांछनों और आरोपों की झड़ी लगाई गई थी।··· केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय ने ऐसे अनुकूल साहित्य को देश के अहिन्दी प्रान्तों के पुस्तकालयों में पहुँचाने के लिए लाखों रुपये इसी प्रकार खर्च किए हैं और कर रहा है। इस साहित्य को खरीदने के लिए किसी नियम या पद्धति का पालन आवश्यक नहीं समझा जाता, प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं से पुस्तकों के नमूने नहीं माँगे जाते, सुविधाएँ और कमीशन की दरें नहीं पूछी जातीं। एक शासकीय आर्डर निकल जाता है और आज के संक्रान्ति-काल में अन्य अत्यन्त उपयोगी साहित्य की नितान्त उपेक्षा करते हुए, अनुकूल साहित्य स्कूलों कालेजों के पुस्तकालयों और सार्वजनिक पुस्तकालयों में भर दिया जाता है।"

—'प्रकाशन-समाचार' (दिसम्बर, १९५९)

"स्वराज्य और लोकतन्त्र की हत्या का सबसे बड़ा जरिया शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण है। पर, आज पूरे भारत के काँग्रेसी शासन में और केरल के साम्यवादी शासन में शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण है। केरल में लोकतंत्र की हत्या हो रही है, यह सच है। पर, उतनी ही मात्रा में यह भी सच है कि भारत के दूसरे राज्यों में उसी मात्रा में लोकतंत्र पर सैनिक-शाही का नियंत्रण है।"

—धीरेन्द्र मजूमदार (२८ जून, कानपुर)

"शिक्षा का दायित्व सरकार के ऊपर है और इसका विधिवत उल्लेख भारत के संविधान में है। जहाँ दायित्व रहता है, वहाँ अधिकार भी स्वयं आ जाता है, पर संविधान में किसी अधिकार की चर्चा नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा के संबंध में अपने उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिए या उसके बदले में सरकार अपने लिए पूरा अधिकार ले लेती है।...हिसाब लगा कर देखा जाय तो शिक्षा के पूरे मद में खर्च होनेवाली रकम का एक-चौथाई अंश सरकार देती है और तीन-चौथाई अंश जनता को देना पड़ता है।...प्रजातंत्र के समुचित विकास के लिए यह बहुत आवश्यक है कि शिक्षा के क्षेत्र में सरकार को कम-से-कम अधिकार या नियंत्रण रखना चाहिए।...सरकारी-गैरसरकारी स्कूल, सब सरकार के भार से दबे हुए हैं...उनकी शिक्षा-पद्धति, उनकी प्रबंध-समिति, उनकी पाठ्य-प्रणाली, उनकी पाठ्य-पुस्तकें; सब पर सरकार सवार है। स्वस्थ प्रजातंत्र के लिए यह स्थिति अनुकूल नहीं है। यदि समुचित रीति से भारतीय प्रजातंत्र में हमें शिक्षा का प्रचार करना है, तो यह अधिकार अधिक-से-अधिक नागरिकों को देना चाहिए और कम-से-कम सरकार को अपने पास रखना चाहिए। शिक्षा-शास्त्रियों का यह विचार नया नहीं है कि देश की शिक्षा-पद्धति राजकीय नियंत्रण से स्वतंत्र होनी चाहिए। ...विकसित तथा प्रबुद्ध प्रजातंत्र में शिक्षा को स्वतंत्र ही छोड़ा गया है, भारत जैसे नवजात प्रजातंत्र में इसकी आवश्यकता पर पूरा विचार किया ही नहीं गया।...... विगत ३१ मई को भारत सरकार के शिक्षामंत्री डॉ० कालूलाल श्रीमाली ने अमृतसर में एक भाषण में कहा कि : "सरकार को शिक्षा-संस्थाओं पर एकाधिकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे देश में प्रजातंत्र के विकास में कमजोरी आ जायगी।....शिक्षा के क्षेत्र में ढाँचे में एकरूपता लाने से, प्रायवेट स्कूलों की स्वयं आगे बढ़ने की प्रेरणा और प्रयोगात्मकता समाप्त हो जायगी और काम का एक ढर्रा बँध जायगा, जो प्रजातंत्र की भावना के विरुद्ध है।" डॉ० श्रीमाली की उक्ति का हम समर्थन करते हैं और चाहते हैं कि वे अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करने की चेष्टा करें। उनके हाथ में अभी शिक्षा का शासन-सूत्र है। वे चाहें तो शिक्षा को भारतीय प्रजातंत्र में उचित स्वतंत्रता मिल सकती है। किन्तु, खेद की बात है कि बहुधा उचित बात से उचित काम का संबंध नहीं रखा जाता।.....इंगलैंड एक महान् जनतंत्री राष्ट्र है और उसका प्रभाव हमारे भारतीय जीवन तथा शासन पर अत्यधिक है। अंगरेजों की दी हुई शिक्षा-प्रणाली को अबतक हम किसी-न-किसी प्रकार ढोते चले जा रहे हैं।...यह आश्चर्य की बात है कि इंगलैंड में पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण नहीं है, पर अंगरेजी सरकार ने अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए भारत में शिक्षा को अपने पूरे नियंत्रण में रखा। भारतीय सभ्यता, संस्कृति; सब को दबा कर उन्होंने अपने प्रभुत्व के तेज से हमारी आँखें चौंधिया दीं। भारत की राष्ट्रीय सरकार ने जहाँ-तहाँ इसके सुधार के प्रयत्न किए हैं, यह प्रशंसा की बात है। किन्तु, सरकार के लिए जनता का—प्रजातंत्रीय जनता का—पथ-प्रदर्शक मात्र रहना ही श्रेयस्कर है। जनता का हाथ पकड़ कर रास्ते पर घसीटना अच्छा नहीं। जीवन में उच्छृंखलता को संयत रखने के लिए नियंत्रण आवश्यक है, किन्तु नियंत्रण का स्वरूप ऐसा नहीं होना चाहिए कि उसका बोध हमें प्रत्येक क्षण होता रहे।...पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण तो राष्ट्रघातक ही माना जा सकता है।...सरकार यह दावा नहीं कर सकती कि उसकी स्वीकृत तथा प्रकाशित पाठ्य-पुस्तकें बाजार में सबसे अच्छी हैं, सस्ती हैं और राष्ट्रीय विचारों से परिपूर्ण हैं। किसी पाठ्य-पुस्तक में गाँधी-जवाहर का नाम आ जाना ही उसकी राष्ट्रीयता की पहचान नहीं हो सकती।"

—लक्ष्मीनारायण सुधांशु ('पुस्तक-जगत', सितम्बर, १९५९)

"यह बात ठीक है कि आज विद्यार्थियों में अनुशासन कम है, लेकिन मुझे आश्चर्य होता है कि उनमें इतना भी अनुशासन कैसे बचा है। क्योंकि आज हिन्दुस्तान में जो तालीम दी जा रही है, उसका वास्तविकता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।"

—विनोबा भावे

गीता : भाष्य और अनुवाद : डॉ० राधाकृष्णन्

श्री वा० विष्णुदयाल

विगत शती के अन्तिम चरण में श्रीमद्भगवद्गीता का हिन्दी, अन्य भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी में उल्था होने लगा था। संघर्ष में लगे रहने वाले देशभक्तों को प्रेरणा मिली। मृत्युशय्या पर पड़े हुए पिता को युवक बालगंगाधर तिलक ने गीता सुनाई। तब से उस ग्रन्थ से उनका घनिष्ट संबंध हुआ। यद्यपि पंजाब-केसरी लाला लाजपत राय ने लोकमान्य तिलक की तरह एक-एक श्लोक का उल्था न किया, उन्होंने "गीता-सन्देश" लिखा जो हिन्दी तथा अंग्रेजी में छपा।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक और महायोगी अरविन्द घोष ने वृहद् ग्रन्थ रचे। जहाँ लोकमान्य ने मराठी में अपनी पुस्तक लिखी वहाँ योगीन्द्र ने अंग्रेजी में अपना गीतासंबंधी ग्रन्थ लिखना पसन्द किया। लोकमान्य के ग्रन्थ को अंग्रेजी का जामा पहनाया गया।

इन गीताप्रेमियों ने जोरदार शब्दों में अपने मत को प्रतिपादित किया। महायोगी अरविन्द ने आरंभ में ही सिद्ध करने के प्रयत्न किये हैं कि "कर्मरायेवाधिकारस्ते" गीता का महावाक्य नहीं है, जैसा कि ऋषि बंकिम का विचार था।

पिछले दशकों में महात्मा गाँधी ने सर्वसाधारण को दो पुस्तकों में गीता को समझाया।

इतने में तरुणों में से एक ऐसे प्राध्यापक प्रकट हुए जो तत्काल महात्माजी और गुरुदेव के कृपाभाजन बने।

वे और कोई नहीं, भारत के वर्तमान उपप्रधान डॉ० राधाकृष्णन् हैं।

शान्त स्वभाव के इस अनुवादक ने जोरदार शब्दों में कुछ न लिखकर, सरल एवं शुद्ध अंग्रेजी में गीता का अनुवाद किया जिसे बाह्य जगत् ने अपनाया। अभी तक यह पाँच बार मुद्रित हुआ है।

प्रो० मारको ने इसका फ्रेंच भाषान्तर किया जो मूल ग्रन्थ के समान ही उत्तम निकला। फ्रांस, कनाडा आदि देशों में अभारतीय इसे पढ़ते हैं और भूतपूर्व फ्रेंच भारत, मारीशस तथा रेयिन्योन और मादागास्कर में प्रवासी भारतीय इसका पाठ करते हैं।

डॉ० राधाकृष्णन् आकर्षक ढंग से हिन्दू धर्म की व्याख्या किया करते हैं।

इसी बात की ओर संकेत करते हुए सर हरिसिंह गौड ने एक बार कहा था कि श्री राधाकृष्णन् "panegyrist of Hinduism" हैं। भारत के उपप्रधान ने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा बापूजी से उनके अनेक विचार लेकर दुनिया को दिये।

कविवर ठाकुर कहा करते थे कि भारत में राजाओं का कम स्मरण किया जाता है और ऋषि-मुनियों का अधिक। इस विचार को डॉ० राधाकृष्णन् ने सैकड़ों बार दोहराया है। इसी भाँति बापूजी ने जो बुद्धदेव के विषय में मौलिक विचार व्यक्त किये हैं उनको डॉ० राधाकृष्णन् ने विस्तार से संसार को समझाया है।

श्रीमती ऐनी बेसेंत की गीता लोकप्रिय हो गयी थी, क्योंकि वह सरल भाषा में है। उस भाषा से ही मिलती-जुलती भाषा में भारत-गणराज्य के उपप्रधान ने गीता का भाषान्तर किया।

उन्होंने भारतीय दर्शन पर प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा, उत्तमोत्तम भाषण किये, जिनका संग्रह छपा। अन्त में उन्होंने गीता पर ध्यान दिया।

जैसे कि गीता के पूरे नाम से ही विदित होता है, यह भगवान की वाणी है। ईश्वर को इसमें महत्त्व दिया गया है। गीता-रहस्य के रचयिता ने समझा दिया था कि जर्मन तत्त्वज्ञानी एमान्वेल काण्ट के आचारशास्त्र और गीता में आकाश-पाताल का अन्तर है। जहाँ काण्ट इस बात को स्वीकार नहीं करते कि ईश्वरविश्वास की आवश्यकता है, वहाँ गीता लोगों को ईश्वरभक्त बना कर ही पवित्र होने की प्रेरणा देती है। लोकमान्य तिलक

चल बसे और फ्रांस के लेखक सार्त्र की तूती बोलने लगी। संसार के किसी भी कोने में सार्त्र के मतविशेष से साहित्यसेवी अनभिज्ञ नहीं रह सकते। इस मत को क्षणभंगुरतावाद नाम दिया गया। सार्त्र मानव-सत्ता को नश्वर बताते हैं।

डॉ० राधाकृष्णन् ने गीता के नवमें अध्याय में इसका उल्लेख करके बताया कि सार्त्र की विचारधारा गीता से भिन्न है। गीता हमें ईश्वर की शरण में जाने का आदेश देती है। "The teacher of the Gita asks us to take refuge in the Divine".

उनकी आँखों से यूरोपीय पाठक कभी ओझल नहीं होते। गीता के प्रथम अध्याय में रथों के वर्णन पर टिप्पणी चढ़ा कर राधाकृष्णन् लिखते हैं कि ओल्ड टेस्टामेंट में भी कहा गया है कि कुछ लोग रथों पर भरोसा करते हैं, ईश्वरभक्त का तो विश्वास ईश्वर पर ही है।

ये अनुवादक अभारतीयों को भारतीय ज्ञान प्रदान करने को उत्सुक हैं। जब कभी कोई नया विचार प्रकट होता है, यूरप में उसपर पूरा ध्यान दिया जाता है। यूरपीयों के नये विचारों पर डॉ० राधाकृष्णन् मजेदार टिप्पणी चढ़ाते हैं। आजकल प्रजातंत्र का बोलबाला है। यह ध्यान में रख कर उन्होंने तीसरे अध्याय के एक श्लोक पर टिप्पणी चढ़ाते हुए समझाया है कि कोई-कोई व्यक्ति ऐसे हैं जो पथप्रदर्शन करते हैं। उनका अन्य लोग पदानुसरण करते हैं। प्रजातंत्र से मुग्ध होने वाले यह मत रखते हैं कि श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ व्यक्ति को एक ही मत देने का अधिकार है और निकृष्ट-से-निकृष्ट नागरिक को भी। चुनाव के रोज वे बेशक बराबर हो जायें पर वस्तुतः गीता के मतानुसार कुछ ऐसे व्यक्ति संसार में आया करते हैं जिनमें विशेषता होती है, जिनकी धाक माननी चाहिए।

समस्त ग्रन्थ में ऐसी टिप्पणियाँ मिलती हैं। केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ० बुके आश्चर्यचकित होकर कहते हैं कि डॉ० राधाकृष्णन् सरीखे गीता के अनुवादक न होते तो हिन्दू लोग गीता को कम ही महत्त्व देते।

विगत वर्ष महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की जन्मशती मनायी जा रही थी, जब इन पंक्तियों के लेखक के लेख "धर्मयुग" आदि भारतीय पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। एक लेख में बताया गया था कि नोबेल-पुरस्कार के प्राप्त-कर्त्ता डॉ० श्वेतज़र ने लिखा है कि उपनिषदों से आशावाद की ध्वनि निकलती नहीं दिखाई देती। ठाकुर ने अपना विचार उपनिषदों में घुसेड़ दिया था, जिससे मालूम होता था कि उपनिषद् आशावादियों का ग्रन्थ है।

डाक्टर साहब को उत्तर दिया गया।

आलोचकों ने डॉ० राधाकृष्णन् तथा कविवर रवीन्द्रनाथ से पूर्व किसी को उत्तम ढंग से गीता और उपनिषद् समझाते नहीं पाया था। जो यूरपीय अनुवादक बने थे, वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित न थे और जो भारतीय संस्कृत के पण्डित थे, वे अंग्रेजी में अच्छी तरह से अपने विचार को व्यक्त नहीं कर सकते थे।

डेढ़ शती पूर्व फ्रांसीसी यात्री आंकचिल जिपेरों ने जो उपनिषद् का उल्था किया था वह आजतक प्रामाणिक माना जाता है। उससे श्रेष्ठ भाषान्तर किया ही न जा सका। इसी तरह फ्रांसीसी संस्कृतज्ञ ल्वी ज़ाकोल्यो ने जो कुछ एक शताब्दी पहले वेदमंत्र का फ्रेंच में अनुवाद किया था, वह इतना अच्छा निकला कि पिछले दिनों में पेरिस की एक पत्रिका को मानना पड़ा कि उससे अच्छा अनुवाद १०० साल में किसी ने किया ही नहीं।

यूरपीयों को एक गीता की आवश्यकता थी, जो क्लिष्ट भाषा में न हो, जिसकी ऐसी भूमिका हो जो १०० पृष्ठ से कम हो, जिसमें यत्र-तत्र स्पष्ट भाषा में और थोड़े शब्दों में टिप्पणी दी गई हो।

डॉ० राधाकृष्णन् द्वारा अनूदित गीता छपी और पश्चिम को संतोष मिला। इस गीता का एक भारतीय संस्करण भी मुद्रित हुआ है, जो अपेक्षाकृत सस्ता है। यद्यपि यह भारतीय संस्करण कहलाता है, इसे भारत के बाहर भी पढ़ा जाता है। पंजाब-केसरी तथा लोकमान्य संघर्ष करने वाले देशभक्त थे। महात्मा गाँधी संत थे। उनके जगद्विख्यात शिष्य विनोबाजी उन्हीं के समान सन्त हैं। सन्त विनोबा के जो गीताविषयक प्रवचन हैं वे लन्दन के उसी प्रकाशक ने अभी हाल में छापे हैं, जिसने राधाकृष्णन् की गीता प्रकाशित की है। हम देशभक्त और संत के द्वारा किये गये अनुवाद को पढ़ते रहे। अब एक अध्यापक की गीता हमें मिल गई है।

पुस्तकालय वाचनालय
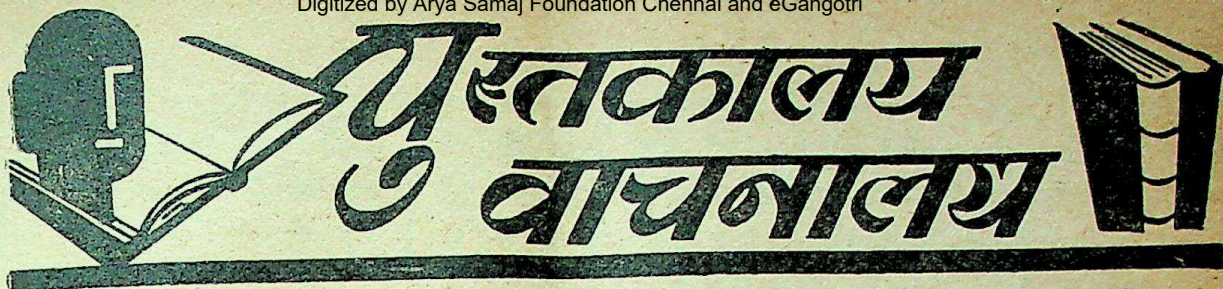
बिहार में पुस्तकाध्यक्षों के प्रशिक्षण के कार्यक्रम

श्री परमानन्द दोषी

पुस्तकालय का अर्थ जो केवल पुस्तक-संग्रह लगाते हैं, पुस्तकालय का कार्य जो पुस्तकों का मात्र लेन-देन समझते हैं और पुस्तकाध्यक्ष का दायित्व जो फकत पाठकों को पुस्तकें देना, उनसे वापस लेना और उनकी सुरक्षा करना भर समझते हैं उनके विषय में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। उनकी अज्ञानता और अनभिज्ञता का लोहा मानना ही पड़ेगा। और, पुस्तकालय और पुस्तकाध्यक्ष मात्र उपर्युक्त कार्य किया करें, तो फिर पुस्तकालय खोलना और चलाना बड़ा ही आसान कार्य हो जाय और साधारण-सी साक्षरता प्राप्त किया हुआ कोई भी व्यक्ति एक अच्छा-सा पुस्तकाध्यक्ष बन सकता है।

पर बात वस्तुतः ऐसी है नहीं। पुस्तकालय-संचालन का कार्य बड़ा ही गंभीर और दायित्वपूर्ण कार्य समझा जाता है। इसके संचालन की क्रिया वैज्ञानिक है और इसीलिए इसे पुस्तकालय-विज्ञान कहा जाता है। पुस्तकाध्यक्ष का कार्य करनेवाला व्यक्ति केवल साधारण ज्ञान नहीं रखता, बल्कि उसे सुयोग्य और अच्छा पुस्तकाध्यक्ष कहलाने के लिए पुस्तकालय-विज्ञान का ज्ञाता होना चाहिये, जिसके लिए प्रशिक्षण की अपेक्षा होती है।

सचमुच पुस्तकालय-सेवाओं का उत्तरोत्तर बड़ा ही विकास होता जा रहा है। पुस्तकालय-विज्ञान की बारीकियाँ दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही हैं। पुस्तकालय-संचालन के क्षेत्र में इसी कारण आये-दिन नये-नये आविष्कार और अनुसंधान होते रहते हैं।

कम-से-कम समय में अपने पाठकों को ज्यादा से ज्यादा पुस्तकालयी सेवा कोई पुस्तकालय अथवा पुस्तकाध्यक्ष प्रदान कर सके, इसके लिए नित्य नयी-नयी खोजें की जा रही हैं और आज अद्यतन साज-सज्जाओं से युक्त किसी साधनसम्पन्न पुस्तकालय में जाकर देखा जा सकता है कि पुस्तकालय-विज्ञान कितना आगे बढ़ गया है। पुस्तक-चयन से लेकर पुस्तक-लेनदेन तक, पुस्तकों के वर्गीकरण-सूचीकरण से लेकर उनके रख-रखाव तक और उनकी जिल्दबन्दी तथा अन्यान्य सुरक्षात्मक कार्रवाइयों में विभिन्न प्रकार की वैज्ञानिक प्रक्रियायें देखी जा सकती हैं।

तब प्रश्न होता है कि जब इतने सुधार और विकास पुस्तकालय-सेवा के क्षेत्र में हो रहे हैं, तब पुस्तकालयाध्यक्ष भला क्योंकर साधारण शिक्षा प्राप्त व्यक्ति हो सकता है? क्या उसकी सामान्य शिक्षा-दीक्षा उसके व्यवसाय के प्रति पूर्ण न्याय कर सकेगी? क्या वह पुस्तकालय की पाठ्य-सामग्रियों का सही ढंग से चुनाव कर सकेगा? उन्हें उपयोगार्थ समुचितरूपेण सभी व्यवस्थायें दे सकने में क्या वह समर्थ हो सकेगा! कदापि नहीं। जिस प्रकार चिकित्सा-विज्ञान की शिक्षा पाये बिना कोई व्यक्ति चिकित्सक नहीं हो सकता, अभियंत्रण-शास्त्र की जानकारी हासिल किये बिना कोई इंजीनियर नहीं हो सकता, उसी प्रकार पुस्तकालय-विज्ञान का समुचित प्रशिक्षण प्राप्त किये बिना कोई व्यक्ति पुस्तकाध्यक्ष नहीं बन सकता।

इसी तथ्य को स्वीकार कर विश्व के सभी उन्नत देशों में अन्यान्य विषयों की भाँति पुस्तकालय-विज्ञान के प्रशिक्षण का प्रावधान किया गया है। पुस्तकालय-विज्ञान का

पाठ्य-क्रम बड़ा ही विस्तृत और व्यापक है। इसमें मास्टर डिग्री तक हासिल की जा सकती है और डी० लिट् और पी-एच०-डी० भी मौलिक तथ्यों का उद्घाटन करने से प्राप्त की जा सकती है। इसके बाद भी यदि कोई व्यक्ति पुस्तकालय-विज्ञान के विभिन्न विषयों में गवेषणा और अनुसंधान करना चाहे, तो आजीवन वह ऐसा करता रह सकता है। विषयों और तथ्यों की कमी का उसे अनुभव नहीं होगा।

इधर स्वातंत्र्योत्तरकालीन भारत में पुस्तकालयों के प्रति एक नवीन चेतना का उदय लोगों में हुआ है। फलतः न केवल सुदूर गाँवों में पुस्तकालय खुल रहे हैं, बल्कि पुस्तकालय-सेवाओं के उन्नयन के लिये सर्वत्र प्रयत्न किये जाते रहे हैं। हमारी समस्त राष्ट्रीय योजनाओं में पुस्तकालय-सेवाओं के लिये स्थान रहता है। भारत के विभिन्न विश्वविद्यालय पुस्तकालय-विज्ञान का डिप्लोमा कोर्स चलाते हैं। एकाध विश्वविद्यालयों में तो पुस्तकालय-विज्ञान में मास्टर डिग्री की भी व्यवस्था है। पी-एच०-डी० और डी० लिट् के लिये भी प्रबन्ध है। कई विश्व-विद्यालय और पुस्तकालयसम्बन्धी संस्थायें पुस्तकालय-विज्ञान का सर्टिफिकेट कोर्स भी चलाती हैं। यही सब देश में पुस्तकालय-सेवाओं के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिये बड़े ही अच्छे कार्य हैं, और इनकी जितनी भी प्रशंसा की जाये, थोड़ी ही होगी।

परन्तु जब पुस्तकालय-विज्ञान की पढ़ाई की व्यवस्था को लेकर बिहार के विश्वविद्यालयों की ओर हम अपनी नजर घुमाते हैं, तो हमें आश्चर्यजनक निराशा होती है। विश्वविद्यालयों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है, परन्तु अब तक किसी भी विश्वविद्यालय द्वारा पुस्तकालय-विज्ञान की पढ़ाई की व्यवस्था नहीं की जा सकी है। जिस बिहार की भूमि पर नालन्दा, विक्रमशिला, उदंतपुरी आदि के जगत-प्रसिद्ध पुस्तकालय पुरातन काल में अपने अस्तित्व के द्वारा समग्र विश्व को आकृष्ट करते थे, उसी भूमि पर अवस्थित विश्वविद्यालयों की पुस्तकालय-सम्बन्धी उदा-सीनता और उपेक्षा घोर परिताप का विषय है।

इधर विगत कई वर्षों से सुनाई पड़ रहा है कि पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय-विज्ञान का डिप्लोमा कोर्स आरंभ करने जा रहा है। परन्तु पता नहीं कब सुनी हुई बात देखी भी जा सकेगी। राजनीति के विषम चक्कर में पड़ जाने वाली शिक्षण-संस्थाओं में प्रमाद आ जाना स्वाभाविक ही है और बिहार के विश्वविद्यालय इसके अपवाद नहीं हैं।

जहाँ खुदाबक्श ओरियन्टल लाइब्रेरी, सिन्हा लाइब्रेरी जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के पुस्तकालय हों, वहाँ पुस्तकालय-विज्ञान की पढ़ाई का प्रबन्ध न हो, यह बड़ी ही लज्जा की बात है।

पिछले कई वर्षों से राज्य सरकार पुस्तकालयों के प्रचार-प्रसार, उन्नयन-उत्थान के लिये बड़ी ही उदार नीति का परिचय दे रही है। छोटे-बड़े पुस्तकालयों को नियमित रूप से अनुदान देना तथा पुस्तकालयोत्थान के लिये अन्यान्य प्रभावकारी कार्य करना सचमुच राज्य सरकार के बड़े ही अच्छे कार्य हैं। पर राज्य सरकार भी इन कार्यों की ओर मुखातिब नहीं होती, यदि बिहार राज्य पुस्तकालय-संघ अपने समस्त शाखा-संघों के साथ सारे राज्य में पुस्तकालयमय वातावरण पैदा नहीं कर देता।

राज्य सरकार की अधिकांश योजनायें बिहार राज्य पुस्तकालय-संघ की योजनाओं पर ही आधारित हैं। यहाँ तक कि पुस्तकाध्यक्षों के प्रशिक्षण का जो उसका कार्य-क्रम है, उसकी शुरूआत भी बिहार राज्य पुस्तकालय-संघ ने ही की थी। बिहार राज्य पुस्तकालय-संघ ने समझा था कि केवल पुस्तकालयों की स्थापना करा देने तथा उन्हें संघ से सम्बद्ध करा देने से पुस्तकालयों के प्रसार का कार्य भले ही संपन्न हो जाये, परन्तु उसमें सजीवता लाने के लिये यह आवश्यक है कि उन पुस्तकाध्यक्षों को पुस्तकालय-विज्ञान की प्रारंभिक जानकारी करा दी जाये। और, इसी उद्देश्य से राज्य-संघ ने अपने तत्त्वावधान में ग्रामीण और शहरी पुस्तकालयों के पुस्तकाध्यक्षों के एक माह के कई प्रशिक्षण-शिविर सफलतापूर्वक चलाये। राज्य सरकार ने संघ को इस कार्य के लिये न केवल स्वीकृति दी, बल्कि आर्थिक अनुदान भी दिया।

इस योजना को राज्य सरकार ने इतना पसन्द किया कि वह इसे अपना लेने के लोभ का संवरण नहीं कर सकी और वह पिछले कई वर्षों से अपने तत्त्वावधान में दो

प्रकार के एतत्सबन्धी शिविर लगाती है। एक शिविर तीन माह के लिए पटने में प्रतिवर्ष एक बार लगता है, जिसमें राज्य के विभिन्न पुस्तकालयों एवं विद्यालयों के पुस्तकाध्यक्ष प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं।

प्रवेशिकोत्तीर्ण पुस्तकाध्यक्षों के लिए राज्य के चारों प्रमण्डलों के मुख्यालयों में एक-एक शिविर प्रतिवर्ष लगता है।

स्नातकों वाले शिविर में पचास और प्रवेशिकोत्तीर्ण वाले शिविर में तीस-तीस प्रशिक्षार्थी सम्मिलित होते हैं। सभी के लिए छात्रवृत्ति की व्यवस्था रहती है और सुयोग्य पुस्तकाध्यक्षों द्वारा उनका प्रशिक्षण-कार्य किया जाता है।

प्रशिक्षण का उपर्युक्त कार्य राज्य सरकार अपने तत्त्वावधान में पूरी सफलता के साथ प्रतिवर्ष नियमित रूप से करती रही है।

राज्य सरकार द्वारा प्रशिक्षण-कार्य को अंगीकृत कर लिए जाने के बाद से राज्य-संघ पटने में कोई प्रशिक्षण-शिविर नहीं लगाता है, पर अपने विभिन्न शाखा-संघों द्वारा राज्य के विभिन्न अंचलों में पुस्तकाध्यक्षों का साप्ताहिक शिविर वह यदा-कदा अवश्य अद्यावधि संचालित करता रहा है। ऐसे शिविरों से ग्रामीण पुस्तकाध्यक्ष विशेष रूप से प्रचुर परिमाण में लाभान्वित हुए हैं। राज्य भर में ऐसे दर्जनों शिविर लग चुके हैं।

इधर तृतीय पंचवर्षीय योजना में राज्य सरकार ने इस प्रकार के शिविर के लिये व्यापक कार्यक्रम बनाया है, जिससे अवश्य ही ज्यादा-से-ज्यादा पुस्तकाध्यक्ष लाभान्वित होंगे। इस सम्बन्ध में मेरा एक विनम्र सुझाव यह है कि सबसे पहले सबडिविजनल स्तर पर पुस्तकाध्यक्षों के साप्ताहिक शिविर सारे राज्य में लगाये जायें। शिविर में भाग लेने वाले समस्त प्रशिक्षणार्थियों के पूरे विवरण रखे जायें। जब एक जिले के समस्त सबडिविजनों में शिविर लग चुके, तो जिला स्तर पर सभी प्रशिक्षणार्थियों का एक अर्द्धसाप्ताहिक सेमिनार किया जाय और लोग वाद-विवाद और विचार-विमर्श के द्वारा अपने पूर्वप्राप्त प्रशिक्षणों के अनुभव आदि प्रकट करें। सभी जिलों में अर्द्धसाप्ताहिक सेमिनार के संपन्न हो चुकने के बाद राज्यस्तर पर सभी प्रशिक्षणप्राप्त पुस्तकाध्यक्षों का एक द्विदिवसीय सेमिनार किया जाये, जिसमें समस्त प्रशिक्षणप्राप्त पुस्तकाध्यक्ष-राज्य के सभी अवर विद्यालय, निरीक्षक, समाज-शिक्षा-आयोजक, प्रतिष्ठित पुस्तकाध्यक्ष, पुस्तकालय-संघ के प्रतिनिधि, शिक्षा-विभाग के अधिकारी तथा अन्यान्य समाजसेवी संस्थाओं के आमंत्रित अतिथि भाग लें। इस सेमिनार में देश के सुप्रसिद्ध पुस्तकालय-विज्ञानवेत्ताओं से भाषण दिलवाये जायें, पुस्तकालय-संबंधी चलचित्र दिखलाये जायें, सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन रहे तथा पुस्तकालय-साहित्य लोगों में बाँटा जाये और अन्त में इसकी वृहत रिपोर्ट प्रकाशित की जाये।

यदि इस प्रकार से कार्य होगा तो न केवल पुस्तकाध्यक्षों को पुस्तकालय-सेवा की प्रेरणा मिलेगी, बल्कि निरंतर मिलन-साक्षात्कार होते रहने से एक-दूसरे के अनुभवों से भी लोग लाभान्वित होंगे। बड़े-बड़े पुस्तकालय-विज्ञानवेत्ताओं एवं शिक्षाशास्त्रियों के दीक्षांत भाषण भी सुनेंगे और एक सांख्यिकी की भी प्राप्ति हो सकेगी कि

प्रशिक्षण प्राप्त करने वालों में से अन्त तक कितने लोग इस व्यवसाय में लगे रह जाते हैं और कितने दूसरे व्यवसायों को स्वीकृत कर लेते हैं। दूसरे व्यवसाय को स्वीकृत करने के कारणों का भी पता लग सकेगा और उसका निवारण करने के उपाय भी सोचे जा सकेंगे।

ये सारे कार्य तो हों ही, पर बिहार के सभी विश्वविद्यालय शीघ्र ही पुस्तकालय-विज्ञान का डिप्लोमा कोर्स चालू करें और कुछ वर्षों के अनुभव के बाद एक-दो विश्वविद्यालय उसे डिग्री कोर्स में प्रोन्नत कर दें।

खुदाबक्श खाँ जैसे पुस्तक-संग्रहकर्त्ता और सच्चिदानन्द सिन्हा जैसे पुस्तक-प्रेमी और विद्याव्यसनी के राज्य में पुस्तकालय-विज्ञान विश्वविद्यालयों में न पहुँचे, यह अच्छी बात नहीं है।

आशा है, अधिकारीगण इस ओर अविलंब ध्यान देकर इस अभाव-अभियोग को दूर करेंगे।

प्रकाशन-व्यवसाय की प्रमुख समस्या : प्रकाशकों एवं विक्रेताओं का एकीकरण : वार्षिक अधिवेशन : हमारी परीक्षा

श्री रामतीर्थ भाटिया

[लेखक पुस्तक-व्यवसाय के क्षेत्र में व्यवहार की स्वच्छता और रीतिनीति की निपुणता के विषय में पर्याप्त प्रौढ़ हैं। तदनुसार उनके विचारों में व्यावहारिक ईमानदारी रही है। 'पुस्तक-जगत' के माध्यम से इनके अनेक सतर्क विचार पाठकों और व्यवसाय के विवेकी पुरुषों के समक्ष आते रहे हैं। अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ के लखनऊ-अधिवेशन में विचारार्थ प्रेषित इनका विधान में संशोधन का एक प्रस्ताव यहाँ प्रस्तुत है। उस प्रस्ताव की पुष्टि में इनके कुछ ध्यातव्य विचार भी तदनन्तर दिये जा रहे हैं। —सम्पादक]

प्रस्ताव

"अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ का वार्षिक अधिवेशन अपने विधान में अपने नामकरण के सम्बन्ध में यह मूल परिवर्त्तन हिन्दी भाषा एवं प्रकाशन-व्यवसाय के वृहत्तर लाभ और विकसित परिस्थितियों को दृष्टिगोचर रखते हुए स्वीकार करता है कि इस संस्था का नाम अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ के बजाय अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता संघ होना चाहिए, जो निश्चय ही प्रकाशन-व्यवसाय के सभी वर्गों की पूर्णरूप से प्रतिनिधि संस्था होगी और अपने इस विस्तृत क्षेत्र के कारण यह अधिक बलशाली सिद्ध होगी। तदनुसार जो प्रकाशक और विक्रेता संघ के विधान, नियम और उपनियमों को स्वीकार एवं पालन करने के लिए वचनबद्ध होंगे, उनको संघ का हर प्रकार का सदस्य बनाने का पूरा अधिकार होगा।"

वक्तव्य

समाज एवं राजनीति का तत्त्वज्ञान कभी भी विशुद्ध रूप के साथ किसी जगह स्थायी नहीं रह पाया है। कारण यह कि इस तत्त्वज्ञान का सम्बन्ध प्रयोग से है। प्रयोग भी वह, जिसका सम्बन्ध हर समय मानव-संघर्षों से सम्पन्न होता है। अत: काल और परिस्थितियों के थपेड़ों से यह हमेशा परिवर्त्तनशील रहा है—आगे भी अपनी प्रकृति से ही परिवर्त्तनशील रहेगा, क्योंकि यह ऐसा ही तत्त्व है। लिहाजा, उसका यह क्रम और चक्र कभी रुकेगा नहीं। समस्यायें और परिस्थितियाँ ही स्वयं अपना मार्ग निर्धारित कर लेती हैं। जो समाज या राष्ट्र इस गति को समझकर, इसके अनुसार राह बनाते हैं, वे जीवित रहते हैं; वर्ना स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं। यह भूमिका अपनी पृष्ठभूमि के साथ उसी अनुपात में सभी सार्वजनिक संगठनों, विशेषतः आर्थिक संगठनों पर भी हावी होती है। क्योंकि अर्थ-व्यवस्था और अधिक तीव्र गति से बदलती रहती है। स्वतंत्रता के बाद योजनाओं के संदर्भ में हमारी अर्थ-व्यवस्था का जो कायाकल्प ही हो रहा है—वह इस तीव्र गति का ही प्रमाण है।

इसके साथ-साथ मानवीय वर्गों का संघर्ष भी एक प्रक्रिया है और मानव-स्वभाव भी मूलतः अपने सभी क्षेत्रों और समाजों में इस संघर्ष की दृष्टि से एक जैसा ही कहा जायगा। अपने क्षेत्रगत नैतिक संस्कारों या परम्परागत बातों से प्रभावित भी वह इस संघर्ष के विषय में कम ही है।

प्रकाशक-संघ अपने नाम से एक व्यवसाय के हित एवं संरक्षण का संगठन है। किन्तु, यह व्यवसाय निश्चय ही दूसरों से भिन्न है। ज्ञान, विद्या और साहित्य का प्रचार एक रचनात्मक कार्य है। और, जब किसी परतंत्र राष्ट्र की नवीन स्वतंत्रता के बाद नव-निर्माण की चर्चा हो, भावात्मक राष्ट्रीय एकता का संकल्प हिन्दी के माध्यम से सोचा गया हो, तो हमारे प्रकाशकों पर आए हुए इतने कार्यभार तथा उत्तरदायित्व से कौन इनकार कर सकता है? इसी कार्यभार एवं उत्तरदायित्व की दृष्टि से जो

समस्यायें एवं परस्थितियाँ आती हैं, उनका मूल्यांकन कर हमें अपना मार्ग निर्धारित करना है।

अखिल भारतीय प्रकाशक-संघ के जन्मकाल से मैंने प्रायः 'पुस्तक-जगत' और 'हिन्दी-प्रचारक' में अपने लेखों द्वारा भी इस विषय पर अपना मत प्रकट किया है कि हो सकता है कि संघ के संस्थापकों के उद्देश्य में कोई दूसरी बात न हो, किन्तु अन्दाज, अनुमान या मूल्यांकन में त्रुटि अवश्य है। यह प्रकाशक-संघ सारे व्यवसाय की प्रतिनिधि संस्था निश्चित नहीं हो सकती। हमारे देश के वातावरण एवं यहाँ की समस्याओं की तुलना विकसित देशों से करना, हवा में उड़ने वाली बात होगी। बीमारी के निदान के अनुसार चिकित्सा हो तो निश्चय ही वह सफल सिद्ध होती है। जबकि यहाँ की समस्यायें और परिस्थितियाँ दूसरे देशों से भिन्न हैं तो हमारा निदान और चिकित्सा भी दूसरों से भिन्न होगी। लक्ष्य और उद्देश्य तो प्रायः निर्विवाद होते हैं, किन्तु परिस्थितियों के अनुसार अपना मार्ग निर्धारित करना ही विवेक और साहस की परीक्षा मानी जायेगी। यहाँ सबसे बड़ी समस्या हिन्दी-पुस्तक-व्यवसाय में है : विक्री। विक्री न होने के अनेकों कारण हैं, जिन्हें हमारे व्यवसायी बन्धु जानते हैं। हिन्दी के राष्ट्रभाषा घोषित होने पर भी उसके माथे पर अभी भी अँगरेजी सवार है। पढ़ा-लिखा वर्ग अब भी अँगरेजी पुस्तकों को अधिक महत्त्व देता है। पुस्तक-व्यवसाय का ठोस आधार खुदरा विक्री पर है, जो हिन्दी में नाममात्र है। बाकी विक्री का सारा आधार है सरकारी सप्लाई। और, सरकारी सप्लाई स्थानीय विक्रेताओं पर निर्भर करती है। यूँ भी खुदरा विक्री हो या थोक एवं सप्लाई, यह सभी विक्रेताओं के द्वारा ही होती है। प्रकाशकों द्वारा सीधी सप्लाई, बड़ी सरकारी खरीदों में जितनी होती है, उसे हमारे प्रकाशक-बन्धु जानते हैं। तब, हिन्दी-प्रकाशन की इस मूल समस्या में, विक्रेता के सहयोग के बिना मामला हर स्टेज पर उलझता ही है। यह तो व्यावहारिक और कारोबारी पक्ष है—किन्तु सिद्धान्ततः भी यह इस प्रश्न का एक आवश्यक अंग है।

यूँ भी विक्रेता की उपेक्षा हमारे अपने ही हित और स्वार्थ के लिए एक हैंडीकैप है। उनके बिना प्रकाशकों के किसी उद्देश्य और कार्य की पूर्त्ति संभव नहीं; हमारी सारी योजनायें उनके बिना अधूरी हैं और यह बात तो निर्विवाद ही है कि दोनों एक परिवार के प्रमुख सदस्य हैं। उनकी उपमा भाई-भाई या और किसी पारिवारिक निर्भर नाते से दी जाय, तो वह असंगत नहीं है। दोनों का अस्तित्व एक-दूसरे पर निर्भर है, हर अंश दूसरे की पूर्त्ति है; प्रकाशन-व्यवसाय या राष्ट्रभाषा के प्रचार-प्रसार के दोनों ही समान स्तम्भ हैं। कार्य की दृष्टि से भले ही एक विक्रेता प्रकाशक न हो, किन्तु अपने यहाँ ही प्रकाशक का विक्रेता होना अनिवार्य-सी चीज हो चुका है। चाहे उसकी दूकान बाजार में शो-रूम के साथ हो या केवल कार्यालय-टाइप माल भेजने-सैंतने के छोटे-बड़े कमरे—किन्तु थोक या परचून हर प्रकाशक विक्रेता अवश्य है। अतः, प्रकाशन-व्यवसाय के अधिकांश भाग में, ऐसे भी और वैसे भी, विक्रेतापन की मात्रा अधिक है।

इसमें कोई लक्षणसंगत भेदभाव ला देना तो वस्तु-स्थिति से साफ और सीधे इनकार जैसा ही लगता है,

जिसे एक दम्भ नहीं तो निश्चय ही अभिनय अवश्य माना जायेगा। इसी कारण प्रकाशक-संघ न कोई आन्तरिक योजना कार्यान्वित कर पाया है और न सरकार के विरुद्ध, राष्ट्रीयकरण को मिटाने के प्रश्न को लेकर कोई संयुक्त मोर्चा बना पाता है। अब हालत यहाँ तक आ पहुँची है कि पंचतंत्र, हितोपदेश, रामायण और महाभारत की कहानियाँ तक सरकार के प्रकाशन-विभाग छापने लगे हैं। यह राष्ट्रीयकरण अब आगे पाठ्य-पुस्तकों तक ही सीमित न रहकर, इस गति से, उपन्यास, कथा-कहानी और आलोचना पर भी अपना हाथ साफ करेगा।

एक निष्कर्ष : एक चेतावनी

पुस्तक-व्यवसाय के हेतु वर्षों के देश-भ्रमण और अनेक विक्रेताओं प्रकाशकों से सम्पर्क के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि हमारे यहाँ, जहाँ तक पुस्तक-व्यवसाय का सम्बन्ध है उसकी समस्यायें, परिस्थितियों को दृष्टि-गोचर करते हुए, किसी भी उस संस्था के द्वारा जिसमें व्यवसाय के इन दो प्रमुख वर्ग, विक्रेता और प्रकाशक, का संगठित मंच न हो, कभी भी नहीं सुलझ सकतीं। विना एक-दूसरे के संगठित सहयोग के कोई भी अपने उद्देश्यों को कार्यान्वित नहीं कर सकता। यह तथ्य ऐसा ठोस है कि यदि इसे आज प्रकाशक-संघ के अधिवेशन में ठुकरा भी दिया जाये, तो इसे आपको बहुत ही जल्द स्वीकार भी करना होगा। यदि आप सचमुच ही भाषा और पुस्तक-व्यवसाय की प्रगति चाहते हैं और इसके लिये सीरियस हैं तो आज की इन परिस्थितियों के मूल्यांकन करने और ईमानदारी से विचार करने के बाद उसके समाधान के लिए इन दोनों के एकीकरण के लिए बाध्य होना ही पड़ेगा, वरना अन्दरूनी और बहरूनी दोनों ही मोर्चों पर, प्रकाशक, जो इस सम्प्रदाय का अल्पसंख्यक वर्ग है, कभी सफल नहीं हो सकता। मेरे इस तथ्य की पुष्टि अनेकों उदाहरणों से ही होती है, किन्तु संक्षेप में चंद एक का उल्लेख करूँगा। नेट बुक समझौता एवं राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह, जिसमें हम लज्जाजनक रूप से असफल हुए हैं, के विषय में जब भी विक्रेताओं से बात होती है तब वे स्पष्ट कहते हैं कि "प्रकाशकों की संस्था के नियम, सिद्धांत और अनुशासन के पालन का हमपर कोई वैधानिक, नैतिक और व्यावहारिक उत्तरदायित्व नहीं है। 'प्रकाशक-संघ' का सीधा अर्थ है कि इसमें हमारा कोई प्रतिनिधि नहीं है, न सीधा सम्पर्क। अतः हमारे लिए सहयोग का कोई आधार या प्रेरणा नहीं है।" नेट बुक समझौते की असफलता के इस ठोस प्रमाण को हमारे सभी जिम्मेदार पदाधिकारी और संघ के प्रमुख सदस्य क्षेत्रीय समितियों के न होने के फलस्वरूप ही स्वीकार कर रहे हैं। कुछ मित्रों ने नेट बुक समझौते में विक्रेताओं के पंजी-बन्धन को विक्रेताओं का अपूर्व संगठन कह डाला है, किन्तु यदि इन दोनों बातों को हम ईमानदारी से मानते हैं, तब मैं नहीं समझ पाया कि विक्रेताओं के अलग संगठन पर उनके द्वारा जोर दिया जाना कहाँ की दूरंदेशी और बुद्धिमत्ता है। यह तो ख़ामखाह एक प्रकार के वर्ग-संघर्ष को आमंत्रित करने वाली बात होगी। जब संगठन अलग होगा तब स्वार्थों के परस्पर संघर्ष के साथ हर एक संघ अपने ही हित और स्वार्थ को ठीक सिद्ध करने के लिए एक-दूसरे के विरुद्ध दोषारोपण के कुचक्र में बुरी तरह फँस जायगा। अर्थशास्त्रियों के साथ कुछ आचार्य, विद्वान, विशेषज्ञ भी ऐसे संघर्ष के समाधान में, संघर्ष बढ़ाने के बजाय, उसे समाप्त करने के लिए, को-ऑपरेशन, को-ऑर्डिनेशन और यूनाइटेड फ्रंट, यानी सहयोग, सहकार, एकता और विलीनीकरण जैसे शब्द भी शब्दकोष में कुछ वैसे ही नौसिखुआ, उतावले और ना-तजुर्बेकार लोगों के मार्गदर्शन के नाम पर छोड़ गए हैं। यह बात कुछ दूसरे भी उदाहरणों से सिद्ध हो गई है कि विना विक्रेताओं के सहयोग के कोई दूसरा निर्विवाद रचनात्मक कार्यक्रम हम सम्पन्न नहीं कर सकते, क्योंकि अकेले प्रकाशक तो इस व्यवसाय एवं संगठन में बहुत ही हीन-संख्यक होते हैं।

इस बात को हमारे अध्यक्ष श्री बेरीजी जानते हैं कि जब मैं और गोरखपुर के श्री मोदीजी उनके साथ संघ के संगठन, कमीशन संबंधी नियमों का पालन और राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह का प्रचार एवं संगठन कराने जयपुर गए थे तो दो दिनों के प्रयत्न के बावजूद विक्रेता इकट्ठे तो हुए, किन्तु उनमें से एक-दो ने तो स्पष्ट कह दिया और

शेष में से भी बाद में व्यक्तिगत तौर पर कुछेक ने अपनी उदासीनता का कारण बताया कि "आप ही बताइए कि हमारा संस्था से क्या सम्बन्ध है? यह तो हमारी सज्जनता या सीधेपन का लाभ उठाने के लिए आपलोगों की चतुराई है कि आप हमें प्रकाशक-संघ के नियमों के पालन के लिए बाध्य करते हैं।" तो यह है विक्रेताओं का शान्तिमय मानसिक असहयोग और विद्रोह। इसी कारण वहाँ संघ की प्रार्थना पर न तो नेट बुक समझौते के प्रश्न पर कोई संगठन कायम हो सका और न ही एक निर्विवाद और साधारण-सी बात 'राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह' को भी मनाया जा सका। इस उदाहरण ने मेरे उस पुराने मत को दृढ़ विश्वास में परिवर्त्तित कर दिया और उसी समय मैंने संकल्प किया कि इस बात को—स्वयं एक प्रकाशक और प्रकाशकों का प्रतिनिधि होते हुए—निष्पक्ष हितैषी की तरह साहस के साथ मुझे संघ में उपस्थित करना चाहिए। आखिर हममें से ही तो कोई कहेगा; वरना हर बात को एक कंजरवेटिव की तरह सोचते रहने, पुरानी रूढ़ियों और लकीरों को पीटते रहने, हमेशा औपचारिक और रखरखाव और अपने पक्ष के समर्थन के हठ से बात बनती नहीं है।

यही बात देहली में हुई। श्री पुरीजी ने राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह के लिए देहली के प्रायः सभी पुस्तक-विक्रेताओं को योजना बनाने के लिए आमंत्रित किया। किन्तु, ८४ में से केवल ४ सदस्य उपस्थित हुए। यहाँ भी मेरी इस शंका का कारण बहुत-कुछ यही निकला। एक विक्रेता-बन्धु कहने लगे, "हमारा इससे क्या सम्बन्ध है? लाभ उठायें प्रकाशक या उनका संघ और हम अपनी उपेक्षा के बाद भी उनके लिए नारे देते फिरें!" एक और उदाहरण सुन लीजिए। एक समय से प्रकाशक-संघ इन्दौर में वार्षिक अधिवेशन बुलाने का इच्छुक था। वहाँ हमारे संघ के एक स्तम्भ सदस्य श्री गोकुलदास धूत की सज्जनता और निष्ठा के बारे में कोई शंका कर ही नहीं सकता। प्रयत्न करने पर भी वे अधिवेशन बुलाने में सफल नहीं हो सके। उनका कहना है कि जिस इन्दौर को आप मध्यप्रदेश का सबसे बड़ा एवं औद्योगिक नगर कहते हैं, उसमें प्रकाशक नामधारी कोई भी व्यक्ति नहीं है; और

विक्रेता प्रकाशक-संघ के अधिवेशन के लिए सहयोग देने को तैयार नहीं हैं। वैसी सूरत में, यदि हमारी इस संस्था का नाम, जैसा कि मेरे इस निबन्ध का उद्देश्य है, वह होता, तो प्रकाशक-संघ को अधिवेशन बुलाने या पुस्तक-समारोह मनाने के लिए इतना गिड़गिड़ाना नहीं पड़ता। जब किसी एक संस्था में भावात्मक एकता ही अपने पूरे वर्ग की नहीं होगी, तो वह संगठन अधूरा माना जायगा।

आपने मध्यप्रदेश, राजस्थान, देहली की बात सुनी। अब हिन्दी प्रकाशन के गढ़ उत्तरप्रदेश की सुनिये। जो महानुभाव वहाँ से संघ के प्रतिनिधि हैं, क्या वे दावे के साथ कह सकते हैं कि यदि विक्रेता संघ को सहयोग न दें तो प्रकाशक-संघ के किसी एक परिपत्र के अनुसार कोई काम भी पूरा हो। किन्तु प्रकाशकों के नाम से वहाँ भी कोई संगठन नहीं है। उत्तरप्रदेश के बाद बिहार—जो हिन्दीभाषी प्रान्तों में कई बातों के लिए प्रसिद्ध है, प्रकाशन के अलावा विक्री, जो दूसरे प्रान्तों की तुलना में यहाँ सर्वाधिक है—आता है, जहाँ हम इन विगत वर्षों में भी प्रकाशक-संघ की कोई सीधी शाखा, दूसरे चारों प्रान्तों की तरह, स्थापित नहीं कर सके हैं। यहाँ भी मेरी बातों की पुष्टि काफी जबर्दस्त ढंग पर होती है कि पिछले वर्ष हमारे संघ के वार्षिक अधिवेशन के साथ-साथ बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ का अधिवेशन काफी शानदार ढंग पर हुआ था। भले ही यहाँ के कुछ प्रमुख प्रकाशकों ने शानदार ढंग पर प्रकाशक-संघ का वह अधिवेशन बुलाया था, मगर बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ, जो अखिल भारतीय हिन्दी-प्रकाशक-संघ से कहीं अधिक संगठित और बलशाली संस्था है, प्रकाशक-संघ से सम्बद्ध होने को तैयार नहीं है। हमारे किसी परिपत्र में बँधने और नैतिक या वैधानिक रूप में उसका उत्तर तक देने के लिए वह बाध्य नहीं है। तब यहाँ प्रकाशक-संघ की क्षेत्रीय समिति के कायम होने का शताब्दी तक भी कोई चान्स नहीं दिखायी देता। केवल एक हवाई किला है—ताकि लोग कुछ उलटा न समझें, क्योंकि वस्तुस्थिति उन्हें साफ नजर आ रही है। लेकिन केवल इस वैधानिक रूढ़ि के लिए अकारण ज़िद हमारी शंकाओं को बढ़ा देती है। यदि इसी संगठन का नाम 'हिन्दी प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता संघ' हो जाये तो हमारी गाड़ी ठीक पटरी पर चलने के कारण अपनी मंजिल की ओर सही गति से बढ़ेगी और तब मंजिल पर पहुँचना कठिन नहीं होगा। यही बात आपको कलकत्ते में नजर आयेगी। वहाँ के सभी विक्रेताओं से कौन अपरिचित है, जो प्रायः छोटे-बड़े प्रकाशक भी हैं। हमारे वर्त्तमान प्रधान श्री बेरीजी एवं मनोनीत अध्यक्ष श्री लक्ष्मीचंद जैन जी तो बनारस के साथ-साथ वहाँ से भी उतना ही सम्बन्ध रखते हैं। वहाँ की संस्था का नाम भी बंग पुस्तक-व्यवसायी-संघ है। प्रकाशक-संघ की सीधी शाखा जब अबतक इस नगर में नहीं बन सकी, तो संगठन का यह वास्तविक तत्त्व हमें चेतावनी ही दे रहा है। अगर संगठन को निरुद्देश्य रखना है तो चाहे जो बना लो, मगर उससे पूरे सम्प्रदाय का भला न होगा। दो-चार व्यक्तियों के हित की आपूर्त्ति भी एक काम हो तो हो, भले ही वे सारे प्रतिशत की तुलना में मात्र दो प्रतिशत रहें।

इस दिशा में यदि निबन्ध का कलेवर बढ़ने का भय नहीं होता तो मैं अन्य प्रान्तों और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का कुछ विवरण देता। सभी देशों में प्रकाशक-विक्रेता के संयुक्त संगठन भी हैं और बेशक अलग-अलग संगठन भी। किन्तु हमारी मौजूदा हालत प्रकाशक और विक्रेता का अलग-अलग संगठन रखने की नहीं है।

घाटा नहीं, लाभ

यद्यपि हम प्रकाशक अल्पसंख्यक हैं, फिर भी व्यवसाय की नींव हैं। इसके अधिक बुद्धिजीवी और सक्रिय वर्ग होने के नाते, यदि यह संगठन प्रकाशक और विक्रेता का एकीकृत हो जाय, तो भी बागडोर और नेतृत्व इसके ही हाथ में रहनेवाला है। सो मैं विधान में दिये गये अपने इस संशोधन को प्रकाशक और विक्रेता का संघ में विलीनीकरण नहीं मानता, बल्कि विस्तार मानता हूँ। आशा है कि संघ के कतिपय जिम्मेदार व्यक्ति इस बात पर ध्यान से विचार करेंगे कि उनकी और मेरी दो बातों में से कौन-सी बात अधिक हित और लाभ की है। क्या वे इतने अल्पसंख्यक वर्ग के प्रतिनिधि बने रहना चाहते हैं, या एक विशाल समूह के संचालक। एक व्यक्ति, जो गाँव में

निजी तौर पर सम्पन्न हो, वह अपने परिवार या गोत्र में ही बड़ा होगा, किन्तु यदि वही व्यक्ति सारे गाँव का चौधरी, पंच, मुखिया चुना जाता है तो उसकी इस आपाती प्रतिष्ठा और प्रगति का लाभ तो उसके अपने परिवार को होगा ही; जनसेवा, मानवीय कर्त्तव्यपालन और नैतिक दृष्टि के माध्यम से उसकी प्रतिष्ठा के साथ-साथ गाँव और जवार को भी लाभ होगा। सौ कुएँ का मेढक बनने के बजाय किसी विशाल नदी और सागर की मछली बना जाय। यदि लोग इसी प्रगतिशील दृष्टि और रचनात्मक बुद्धि से सोचेंगे तो निश्चय ही हिन्दीभाषा की सेवा के साथ-साथ अपने व्यवसाय की भी वृद्धि करेंगे।

यही हमारे विवेक और दूरदर्शिता का तकाजा है कि हम समस्याओं और परिस्थितियों का समाधान सूझबूझ और साहस के साथ करते हैं या बेकार में नई समस्यायें उत्पन्न कर बैठते हैं। विक्रेताओं के बीच जो चिनगारी है, वह कभी भी आग बन सकती है और तब बेकार का बतंगड़ जैसा वर्गसंघर्ष खड़ा हो जायगा। वह हमारी नैतिक पराजय होगी। द्वितीय श्रेणी का जो समाज होता है, वह पहली श्रेणी के द्वारा समाधानों और सहूलियतों के द्वारा साधना चाहिए—यही आज का युगदर्शन है। वर्गों के संघर्ष को आमंत्रित करने वाला दर्शन, युग की बात बनने के पहले ही अपने तंग दायरे में जकड़कर छटपटा मरा है। इस समन्वय के पीछे मनुष्य की स्थायी स्थिति का निजी मनोविज्ञान भी है, और खासकर प्रकाशन-व्यवसाय को तो अन्य दूसरे वर्ग-संगठनों के आड़े आने के ढंग का मजा सोचकर अपना इतिहासवाद सोचना ही नहीं चाहिए। यह मत समझिए कि मुर्गा नहीं बोलेगा तो सुबह ही नहीं होगी। सुबह तो होगी ही, किन्तु गाँव में सीख देनेवाले बड़ों का कहना है कि अगर सफर लम्बा हो तो मुर्गे की पहली आवाज पर ही उसे शुरू कर दो ताकि लोग कहें कि इसने ठीक समय पर यात्रा शुरू की और अब यह मंजिल पर सबसे पहले चैन की साँस ले रहा है।
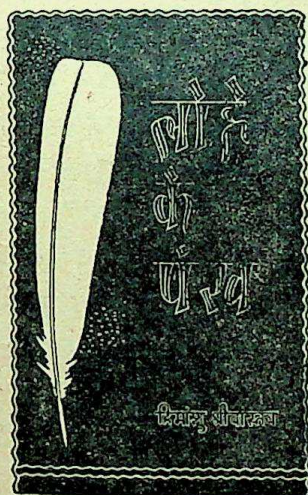
एक आजाद लेखक की दर्दनाक कहानी

श्री राबर्ट कंक्वेस्ट

लेनिनग्राड के संगतराश और लेखक मिखेल नरित्सा को केजीबी (गुप्त पुलिस) द्वारा १३ अक्तूबर, १९६१ को गिरफ्तार किया गया और वह अभी भी उनकी कैद में है।

नरित्सा का अपराध यह था कि उसने अपने एक उपन्यास "The Unpractised Song" की पांडुलिपि अधिकारियों की बिना अनुमति के प्रकाशित होने के लिये रूस से बाहर भेज दी थी और वह उपन्यास "ग्रानी" ने प्रकाशित किया था। "ग्रानी" का सम्पर्क काफी दिनों से कम्युनिष्ट देशों से बाहर भेजे गये साहित्यों और साहित्यिक व्यक्तित्वों से था। नोबल पुरस्कार विजेता इवान ब्युनिन की इधर, बेनामी तौर पर, इस प्रकार रूस से बाहर निकली हुई कई रचनाएँ छपी थीं। नरित्सा की पुस्तक को इसने नारिमोव के छद्म नाम से छापा था। लेकिन बाद में नरित्सा ने एक सीधा पत्र ख़ुश्चेव को लिखा और उस पत्र में अपने-आप को इस पुस्तक का लेखक घोषित कर दिया। इस पत्र में उसने दृढ़तापूर्वक कहा कि अपने सिद्धान्तों और आदर्शों को प्रकट करना और बिना किसी राजनीतिक अधिकारवाद की परवाह किये उन्हें प्रकाशित कराना एक लेखक का अधिकार और कर्तव्य है और चूँकि इस अधिकार और कर्तव्य का इस्तेमाल रूस में नहीं किया जा सकता, इस अधिकार और कर्तव्य का इस्तेमाल रूस से बाहर करके मैंने पूर्ण नैतिक आजादी कायम रखी है।

संक्षिप्त जीवनी

नरित्सा का जन्म १९०९ में हुआ था, अतः रूसी क्रान्ति के समय उसकी उम्र आठ वर्ष की थी। एक सरकारी शिशु-गृह में उसका लालन-पालन हुआ था जिसके बाद संगतराशी के एक छात्र के रूप में वह लेनिनग्राड के आर्ट-टेकनिकम में दाखिल हुआ था। १९३३ में उसने अपनी एक सहपाठिन से ब्याह किया और अगले वर्ष उसकी पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम फेडर रखा गया। १९३५ में नरित्सा लेनिनग्राड अकादमी आफ आर्ट्स के स्कल्प्चर सेक्शन का एक सदस्य हुआ।

दर्दनाक कहानी

इसके बाद वह इसी वर्ष गिरफ्तार कर लिया गया। छह महीने कैद भुगतने के बाद पाँच वर्षों की सजा काटने के लिये उसे स्तालिन के जमाने में उत्तरी ध्रुव के कुख्यात पेचीदे इलाके में स्थित उख्ता पेचोरा लेबर कैम्प में भेज दिया गया। उसकी पत्नी और बच्चे को देश-निकाला दे कर उत्तरी ध्रुव में ही कहीं अन्यत्र भेज दिया गया, जहाँ वे लम्बे अरसे तक भूखमरी और बेरोजगारी की तबाही झेलते रहे, लेकिन फिर संयोगवश एनकेवीडी वितरण केन्द्र में काम मिल गया।

१९४० में नरित्सा को कैम्प से मुक्त करके भूतपूर्व कैदी के रूप में एक लेबर बटालियन में भेज दिया गया। छह महीनों के बाद, और चन्द आपरेशनों के बाद, स्वास्थ्य-सम्बन्धी कारणों से उसे बटालियन से अलग कर दिया गया और दूसरे वर्ष वह पुनः अपने परिवार में मिला। अरखंजेल के निकट एक सामूहिक फार्म में उसे काम मिल गया जहाँ उसके दूसरे पुत्र पीटर का जन्म हुआ।

देश-निकाले में

१९४८ में एक डिगरी के द्वारा अरखंजेल क्षेत्र के सभी भूतपूर्व कैदियों को देश-निकाला पड़ गया और नरित्सा-परिवार को ल्यूगा भेज दिया गया। १९४९ में नरित्सा को दुबारे गिरफ्तार किया गया और १९५० तक उसका समय जेल में बीता। उसके बाद कजाकिस्तान के वृहत् निष्कासन-केन्द्र कारागंडा में उसे भेज दिया गया जहाँ उसका परिवार पुनः उससे आ मिला। १९५४ में येजोव और जदानोव द्वारा मिथ्यारोप के शिकार कैदियों का पुनर्वास संभव हुआ। वर्षों तक दरखास्तें देने के बाद १९५७ में नरित्सा को पुनर्वासित किया गया। वह लेनिनग्राड वापस लौटा और अकादमी आफ आर्ट्स में उसे पुनः दाखिल किया गया।

उपन्यास बाहर गया

नरित्सा ने अपना उपन्यास लिखना १९५२ में आरम्भ किया था और १९६० में उसे समाप्त किया। इस उपन्यास के

समाप्त होते ही, जैसा कि उसने कहा, उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य इस उपन्यास को प्रकाशित कराना हो गया। सर्वप्रथम हरमिटेज आर्ट गैलरी में उसने इस उपन्यास की पांडुलिपि एक फ्रेंच महिला को देने का प्रयास किया। पांडुलिपि उक्त महिला से गिर गयी और दोनों को पकड़ कर मिलिशिया के सुपुर्द कर दिया गया। वहाँ उक्त महिला ने यह कह कर नरित्सा को बचा लिया कि नरित्सा वह व्यक्ति नहीं है जिसने उसे वह पांडुलिपि दी थी। बाद में वह अपने उपन्यास की पांडुलिपि पश्चिम जर्मनी के एक व्यक्ति को दे देने में सफल हो गया। इस व्यक्ति ने पश्चिम जर्मनी लौटने पर पांडुलिपि डॉ० क्लास मेनर्ट को सौंप दी। यह बात १९६० की शरद् ऋतु की है।

स्वतंत्रचेता लेखक और रूसी नौकरशाही

ज्योंही नरित्सा अपनी पांडुलिपि बाहर भेजने में सफल हुआ, उसने उस उपन्यास की एक दूसरी पांडुलिपि एक पत्र के साथ, जिसमें उसने अपने दृष्टिकोण को व्यक्त किया, ख्रुश्चेव के पास भेजी। चूँकि उसे अपने पत्र का कोई उत्तर नहीं मिला (उपन्यास अभी तक बाहर प्रकाशित नहीं हुआ था; 'ग्रानी' ने इसे जुलाई, १९६१ के अन्त में प्रकाशित किया था), नरित्सा और उसके परिवार ने सुप्रीम सोवियत से अपील की कि उन्हें रूस छोड़ने की अनुमति इस बिना पर दी जाये (रूसी लेखकों और राजनीतिक विचारकों की पहले की पीढ़ी के साथ ऐसा आम तौर पर होता था) कि वे वहाँ जाकर काम करना चाहते हैं जहाँ वैचारिक स्वातंत्र्य हो। इस तरह की अपील अनियमित तो नहीं थी, किन्तु नरित्सा की गिरफ्तारी के समय पर्यन्त इस तरह की हर अपील चन्द टेक्निकल प्रशासनिक (नौकरशाही) आधार पर खारिज कर दी जाती रही थी।

पीटर पर कोप

जैसा कि नरित्सा ने ख्रुश्चेव को लिखे गये अपने पत्र में कहा था : "मेरा परिवार मेरे दृष्टिकोण में पूरी तरह भागीदार है और मेरे उपन्यास-लेखन में उनका योग न केवल मसाले जुटाने में है बल्कि रचनात्मक दिशा में भी उनका महत्त्वपूर्ण हाथ है" नरित्सा की गिरफ्तारी पर जिरह के लिये उसकी पत्नी और बच्चे को पकड़ मँगाया गया और बाद में उसकी पत्नी और बच्चे को छोड़ दिया गया। उसका बेटा पीटर अकादमी आफ आर्ट्स के संगतराशी-सेक्सन में माडल के तौर पर काम करता था, लेकिन अब उसे नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया। पीटर की इस सजा पर अकादमी के छात्रों ने विरोध किया और अन्त में एक कलाकार ने उसे निजी काम पर लगा लिया।

तथाकथित विचारों का गढ़ंत फार्मूला

नरित्सा के उपन्यास को जिन लोगों ने पढ़ा है उनका कहना है कि यथार्थवादी व्यंग्य की यह एक उत्तम रचना है। ख्रुश्चेव को लिखा गया उसका पत्र एक कलाकार और साधारणतया स्वतंत्र मानव के अधिकारों की निश्चित घोषणा है। अपना पत्र उसने इस बात पर खेद प्रकट करते हुए आरंभ किया है कि जब वह मिलिशिया के द्वारा गिरफ्तार किया गया था तो उसने अपनी पुस्तक "Unpractised Song" के लेखक के रूप में अपने-आप को

कबूल करने से इनकार किया था और ऐसा उसे इसलिये करना पड़ा कि जब तक वह अपनी पांडुलिपि सुरक्षित रूप से बाहर भेजने में सफल नहीं हो सका था, पुलिसवालों को धोखा उसे विवश होकर देना पड़ा था। अब, चूँकि वह आश्वस्त हो चुका है; वह स्वतंत्रतापूर्वक बोलने में अपने को समर्थ पा रहा है।

अपने पत्र में उसने आगे लिखा है : "मैं पूँजीवाद को अनैतिक और एक भ्रष्ट व्यवस्था मानता हूँ, लेकिन यह, जिसे आप समाजवाद के नाम से पुकारते हैं, ठीक एक दूसरे ढंग का पूँजीवाद है।" इतना ही नहीं, अगर उसकी पुस्तक बाहर छप सकती है और रूस में नहीं छप सकती है तो इसलिये कि "वहाँ सांस्कृतिक कार्यों के लिये कुछ स्वतन्त्रता है····यहाँ कलाकारों को स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने की आजादी नहीं है। उन्हें केवल तथाकथित विचारों के मनगढ़न्त फार्मूले का इस्तेमाल करने की इजाजत दी जाती है जिसका नतीजा है कि विचार ही गायब हो गये हैं।"

ब्लैकमेल और ठगी का हथियार

नरित्सा ने अपने पत्र में ख्रुश्चेव को साफ लफ्जों में सम्बोधित किया है : "आपके द्वारा हमें यह कहा जाता है कि हमें अपने शेड्रिन्स और गोगोल्स की आवश्यकता है। यह सब खोखली बातें हैं।··· यहाँ तक कि आप अपने को (अपनी पार्टी को) युग का ज्ञान, चेतना और प्रतिष्ठा मानते हैं, लेकिन एक दृढ़ ज्ञान दूसरे अन्य ज्ञान के सम्पर्क में आने से भयभीत नहीं होता है। ईमानदारी के संघर्ष और विदेशी विचार-दृष्टि के स्वस्थ तत्त्वों के पारस्परिक विनिमय के वातावरण में प्रगतिशील विचार पैदा हो सकते हैं और एक दृढ़ चेतना विकसित हो सकती है।····पारस्परिक बोध का दृष्टिकोण ब्लैकमेल और ठगी जैसे तगड़े शास्त्र का इस्तेमाल कर सकता है?"

नरित्सा ने अपना पत्र यह कह कर समाप्त किया है कि अगर अब भी उसकी और उसके परिवार की आवश्यक स्वतंत्रताएँ नहीं मंजूर की गयीं तो वह और उसका परिवार रूस छोड़ देना बेहतर समझेंगे।

"मैं नहीं जानता हूँ कि हमलोगों से जुदा होने में आपको क्या कठिनाई होगी; लेकिन हमलोग बिना किसी पश्चात्ताप के अपने-आप को समाजवाद की सारी खुशियों से वंचित कर लेंगे, गो कि दूसरे देशों में कोई स्वर्ग पाने की आशा हमें नहीं है।"

वैचारिक स्वतंत्र्य या मानसिक असंतुलन !

नरित्सा के बारे में अन्तिम जानकारी प्राप्त हुई दिसम्बर १९६१ में, जबकि वह जेल-अस्पताल में कैद था और जिरहबाज अधिकारीगण उसे पागल घोषित कर देने की चेष्टा कर रहे थे। यह एक ऐसी चाल है जो हाल में दूसरे नास्तिक (!) लेखकों के विरुद्ध भी प्रयुक्त की गयी है। ऐसे लेखकों में कवि यस्सेनिनवोलपिन (पहले की पीढ़ी के विख्यात सोवियत कवि सेरजी यस्सेनिन का पुत्र) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। संभवतः गुप्त पुलिस वाले वास्तव में अपने-आप को यह मनवाने में समर्थ हैं कि सत्ता की और पार्टी के यन्त्रों को खुलेआम चुनौती देना और वैचारिक स्वाधीनता की घोषणा करना अपने समुचित मानसिक गुणों का अभाव प्रदर्शित करना है।

नेट बुक समझौता : एक प्रयोग : एक रहस्य : और अब एक पोस्टमार्टम

श्री रामतीर्थ भाटिया

नेट बुक समझौते के स्थगित होने की सूचना जैसे ही पुस्तक-व्यवसायियों को मिली, सभी पर एक आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। देहली में तो प्रश्नों की बौछार होती ही थी, यह हालत हर जगह पैदा हो गई। कुछ मित्रों ने पत्र द्वारा भी मुझसे पूछताछ किया। पटना जाते हुए मैं बनारस रुका तो वहाँ वैसी ही प्रतिक्रिया थी। प्रायः सभी लोगों ने व्यंग्य एवं क्रोध के अपने भाव प्रकट किये। यहाँ तक कि घनिष्ट एवं परिचित व्यक्ति ने नमस्ते और राम-रमइया और कुशल-मंगल पूछने के पूर्व, मुझे देखते ही, यह वाक्य दूर से ही जड़ दिया कि "कर आये न समाप्त! अब तो जैसा प्रकाशक करेंगे वैसा नहले पर दहला हम भी मारेंगे। न जाने क्यों पहले देहली वाले इसे लागू करने की चिंता में मरे जा रहे थे, जो पंजीबद्ध नहीं हुआ उसके विरुद्ध आस्तीनें चढ़ा लेते थे। भले ही कमीशन के मामले में वे स्वयं पहले ही सतर्क हों, किन्तु भगवान ही जाने कि यह क्या रहस्य है कि थोड़े ही समय के बाद, यही दो-चार कतिपय प्रमुख प्रकाशक इसकी हत्या करने के पीछे पड़ गए, और कई बार असफल रहने के बाद इसमें अब कामियाब भी हो गए।" इतने में श्री वेरीजी भी वहाँ पहुँच गए तो लोग लगे उन्हें भी उलहना देने, और कुछ श्री द्विवेदीजी से भी गिला करने लगे कि 'आप क्यों नहीं देहली गए।' ऐसी कई बातें, कई आरोप और कड़ी आलोचना। और, मैं जो देहली की इस घटना का चश्मदीद गवाह था—एक देहली वाला और वह भी कार्यसमिति का सदस्य उससे उस घटना या मैच की आँखों-देखी कमेन्टरी सुनने की उनकी उत्सुकता स्वाभाविक बात थी। यही बात पटने में हुई और तब मुझे ऐसा महसूस हुआ कि प्रकाशक एवं विक्रेता-बन्धुओं की दृष्टि में देहली में एक हत्याकांड हुआ है, जिसमें एक अपराधी मैं भी था और अब जुर्म सिद्ध होने के डर से बनारस या पटना भाग आया हूँ। खैर, पहले तो मुझे अपनी निजी सफाई देनी पड़ी कि मैं और लखनऊ के श्री तेजनारायण टंडन ने कार्यसमिति में कड़ा विरोध किया था और मेरे आग्रह पर ही यह सर्वसम्मति से पास न होकर मतदान पर दो मतों के विरुद्ध आठ के समर्थन से स्वीकृत हुआ। बैठक की अध्यक्षता, श्री वेरीजी के न आ सकने के कारण, उपाध्यक्ष श्री ओमप्रकाशजी ने की—जो पटना-अधिवेशन से ही इसे समाप्त करने की इच्छा वाले सबसे प्रमुख व्यक्ति रहे हैं। कुछ अन्य सदस्य जो पहले इन नियमों को रखने के पक्ष में थे, वे भी न जाने किन कारणों से इस प्रस्ताव के समर्थक हो गये। खैर, विचार-स्वातंत्र्य का स्वयं पक्षपाती होते हुए मैं किसी की नीयत पर शक नहीं कर सकता। इन सदस्यों में से श्री रामलाल पुरी प्रधानमंत्री के पद से पहले त्यागपत्र दे चुके थे। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि देहली के स्थानीय प्रमुख प्रकाशकों में से जहाँ तक पुरीजी का सवाल है वे ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने कि मनसा वचसा कर्मणा इन सिद्धांतों का पालन किया, शेष ने यदि भयंकर धाँधली नहीं की तो बीच-बीच में हाथ जरूर मारे। इस बात को प्रकाशक-संघ के कई सदस्य जानते हैं कि पुरीजी जहाँ दूसरों से असन्तुष्ट थे वहीं अपने इन सहयोगियों के बारे में भी स्पष्ट और खुलेआम कहते थे—और अपने उद्‌गार जिस तरह ठेठ पंजाबी में वे व्यक्त करते हैं उनकी वह दिलचस्प स्पष्टवादिता हमें कभी नहीं भूलती—"आहो मैनूँ पता ए कि ए सारे बिचों चुस्कियाँ ला लेन्दे ने, मैनूँ एवें खराब कीता होया ने।" अर्थात्—मुझे अच्छी तरह मालूम है कि ये सारे बीच में चुस्कियाँ लगा लेते हैं; यानी नियम तोड़कर माल दे देते हैं और मुझे यूँ ही खराब कर रखा है।

मेरे 'पुस्तक-जगत' में लिखने के बाद, श्री पुरीजी ही पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने दिलेरी से कहा था कि "पाकेट-बुक्स को नेट बुक समझौते से मुक्त करना इस मजबूत दीवार की पहली दरार थी, क्योंकि एक तरफ वह पान-सिगरेट बेचने वालों को भी देने की आजादी थी, जैसे कि वह पुस्तक नहीं, कोई मासिक और दैनिक पत्र है, तो

दूसरी ओर हर जगह साहित्यिक पुस्तकों की तरह सूची में स्वीकृति के लिए शिक्षा-विभागों और पुस्तकालय-अधीक्षकों के पास भेजी गई। और यह एक ही साँस में दो बात थी।" ऐसे में बड़ी पुस्तकों की सप्लाई में अन्डरहैन्ड जो तरीके बरते गए, उनको जानता हूँ; क्योंकि यह प्रतिवाद दूसरों से तो चल सकता है, मुझसे नहीं; उन दूसरों से, जिनके प्रतिनिधि मेरे ही साथ प्रायः दफ्तरों में जाते हैं। किन्तु, मैं हमेशा मार्जिन रखकर संयम से बात करने का आदी हूँ और समझता हूँ कि इन्सानी कमजोरियाँ हर जगह होती हैं। सोलह आने सत्य रामराज्य में भी नहीं था। किन्तु इतना अन्तर न हो कि बुराई अधिक और सत्य कम हो। इसलिए जब यह चुनौती देते हुए इन कतिपय प्रकाशकों को देखता हूँ तो फिर मेरा भी दिल करता है कि पर्दाफाश कर तोड़ दूँ शीशा फरेब का। यदि वे सारा आरोप दूसरों पर ही लगाते हैं और स्वयं दूध के धोये बनते हैं, तो वे ही महाशय जरा प्रकाशक-संघ के अधिवेशन में ही उपस्थित सदस्यों में से अपना पंच चुनकर मामला रखें तो फिर दूध का दूध और पानी का पानी हो जाये। इसी मीटिंग में मैंने जब कहा था कि सुना है कि अनुशासन-समिति के सदस्यों ने भी इस विचार से कि नियम आज या कल टूट ही जायेंगे, इसलिए इसके पहले ही उल्लंघन शुरू कर दिया, तो उस समय के माननीय अध्यक्ष महोदय ने मेरे इस ऐतराज को इम्मेटेरियल कह कर रद्द कर दिया था। और, जब मैंने शुरू में ही यह कहा कि बुराई कुछ निश्चय ही फैल रही है, उल्लंघन होते हैं; फिर भी नियम तोड़ने और नियम के यथावत् रहने की तुलना में कौन-सी बात लेसर-एविल और ग्रेटर-एविल है, यही समस्या के निर्णय का आधार होता है—तब उसका जबाव किसी से बन नहीं पड़ा। अब हैरानी की बात यह है कि एक ही मास के अन्दर नया बुद्धत्व प्राप्त हुआ, आन्तरिक किसी ज्ञान ने झलक दिखाई और पुनः इसे रखने के पक्ष में जो हो गए हैं, तो संघ के इस पुराने चालू नियम को आखिर वे तोड़ देने की ही जरूरत क्यों समझ रहे थे। पहला तो प्रयोग था, किन्तु अब एक रहस्य बन गया है, और अब इसीलिए नेट बुक समझौते के मुर्दे का पोस्ट-मार्टम किए बिना अधिकांश प्रकाशक या विक्रेता अब किसी के हाथ का खिलौना या मोहरा नहीं बनना चाहते। क्योंकि एक महीने में धरती छोटी से बड़ी नहीं हुई है, अतः अब किसी दावेदार के पास इसका कौन-सा प्रमाण है कि अबसे इस नेट बुक समझौते का ठीक से पालन हुआ करेगा।

व्यवसाय-जगत में अनेकों और भी निष्ठावान पुस्तक-विक्रेता और प्रकाशक हैं जिन्होंने नियम का पालन निष्ठा से किया है; किन्तु बहुतेरों ने केवल जुबानी पालन किया है, अलबत्ता इस पालन का अभिनय भी कुशल पात्रों की तरह ही किया। अतः हम यदि अनियमितताओं की घटनाओं को छोड़ दें और हम निष्ठावानों को ही आधार मान लें तो फिर इस नेट बुक समझौते को तोड़ने की आवश्यकता नहीं थी। इसका अर्थ यह हुआ कि गलत किस्म के लोगों से हम प्रभावित हुए और उनको गलत तरीके से जब आर्डर हथियाते देखा तो हम स्वयं सम्पन्न प्रकाशक होते हुए भी, पैसे की इस लालसा के कारण, उनको देख कर अपना धीरज-धर्म खो बैठे और हमारा सन्तुलन बिगड़ गया कि हाय, वह आर्डर ले गया और हम बैठे रह गये! जब किसी देश के नेताओं, सुधारकों और बुद्धिजीवी-वर्ग यानी ब्राह्मण-वर्ग का जो मस्तिष्क है, वह बिगड़ जाये तो बैठ गया भट्टा उस राष्ट्र का। यह बात हर संगठन पर घटती है। हमारे भी इस आन्दोलन के संस्थापक, प्रवर्त्तक और संचालकों ने एक योजना शुरू की तो इसका अर्थ है कि वह अपनी ही प्रेरणा से पहले अगुआ बनकर, सुधारक बनकर आए थे। तब उनमें और जिनका सुधार इस प्रोग्राम के अनुसार हमें करना है उन सर्वसाधारण प्रकाशक और विक्रेताओं में कर्त्तव्य-पालन की सीमारेखा और उत्तर-दायित्व की दिशा भिन्न हो जायेगी; क्योंकि वे संचालक तो पहले से यह मान कर चले हैं कि हमने अपनी प्रेरणा से ही यह सिद्धान्त माना है, किन्तु जो नहीं जानते, उनका सुधार हमें करना है। किन्तु, बाद में उनकी और अपनी तुलना को एक ही स्तर पर करना या काम बिगड़-बिगाड़ देने पर उनको ही दोषी बताना तो पतन की हद है। अतः मैं इस समझौते का कट्टर समर्थक होते हुए भी अब इसे दो स्तरों और दो वर्गों के अलग-अलग उत्तरदायित्व के उक्त प्रकार के ढंग से रखने के पक्ष में नहीं हूँ। बीमारी के एक

और एकतरफा इलाज की असफलता के बाद पुनः वैसा ही प्रयोग दूरदर्शिता नहीं माना जा सकता। यदि पुस्तक-व्यवसाय में लोग सीरियस हैं और अपनी भलाई चाहते हैं, तो इस रोग का दूसरा भी इलाज है।

यदि संघ में निष्पक्ष वातावरण हुआ, जैसे वातावरण की नये अध्यक्ष से आशा भी है, तो निश्चय ही मैं वह इलाज व्यक्त करूँगा। इस समय हमने एक निष्पक्ष व्यक्ति को अपना नेता चुना है, जो किसी दलबन्दी और पक्षपात की मनोवृत्ति नहीं रखकर व्यवसाय के सहयोगी हित के लिए पक्का है। अतः जहाँ हम उनसे आशा रखते हैं कि ऐसे जटिल प्रश्न के मर्म को जानकर कोई कदम उठाएँगे, कागजी प्रोग्रामों के बजाय संक्षिप्त, सरल एवं व्यवसाय के सामान्य हित और एक दृढ़ संगठन की दृष्टि से दो-वर्षीय योजना निर्धारित करेंगे; वहाँ अपने व्यवसायी बन्धुओं से भी मेरा निवेदन रहेगा कि गत वर्ष जैसी लापरवाही और उदासीनता यदि जारी रही—जैसे कि एक मिटिंग को छोड़कर कार्यसमिति की तमाम मिटिंगों का कोरम तक नहीं बन सका—तो भविष्य में इस निष्क्रियता का यही परिणाम होगा कि अध्यक्ष-पद के लिए भी संघ को "जरूरत है—एक प्रधान की" यह विज्ञापन देना होगा। बिना परस्पर सहयोग के, यदि स्वयं भगवान भी आ जायें तो, न वे हमारा भला कर सकेंगे और न हम उनके आने का लाभ उठा सकेंगे।

अ० भा० हिन्दी प्रकाशक संघ
विधान : संगठन और कार्यप्रणाली : एक समीक्षा

श्री द० व० देशपांडे

विधान : मामूली तौर पर

यदि कोई संगठन और यूनियन बनाया जाय तो उसके चलने और प्रेरणा के लिए कुछ संचित, तत्कालीन और सीधे स्वार्थ के सामायिक आन्दोलन एक ओर तीव्र रखे जाते हैं, ताकि सारा संगठन सदैव सचेष्टता में संगठित रहे; दूसरी ओर कुछ राष्ट्रीय या जातीय नैतिकता के सवालों के दूरंदेशी आन्दोलन चलाए जाते हैं, ताकि उस विशेष ट्रेड-संगठन के प्रति देश के अन्य ट्रेड-संगठनों और हितों का सहानुभूतिपूर्ण रूख हो। इन दोनों नजदीक और दूर तक के आन्दोलन में अगर एक जैसी तीव्रता नहीं रखी जाकर, एक तरफ ज्यादा और एक तरफ कम कर दी जाय, तो दूरंदेशी के आन्दोलन पर ज्यादा जोर का नतीजा यह होगा कि सामयिक स्वार्थों के आन्दोलन धीमे पड़ेंगे, और तब संगठन सदस्यों को अवास्तविक, काल्पनिक, फैशनेबुल और धार्मिक जैसा उपेक्षणीय लगेगा; और सामयिक स्वार्थों के आन्दोलन पर दूरंदेशी के आन्दोलन से ज्यादा जोर दिया जाय तो अन्दरूनी वर्गों की टकराहट इतनी बुरी तरह बढ़ेगी या उस संगठन के विरुद्ध दूसरे नजदीकी संगठनों की नाक-भौं इस बुरी तरह चढ़ेगी कि संगठन अन्दरूनी झटकों और बाहरी कतराव से पदे-पदे टूटता रहेगा। आन्दोलन के इन दोनों रूपों में सन्तुलन रखना संगठन के जिम्मेवार व्यक्तियों का काम तो है ही, बल्कि उससे ज्यादा इसकी जवाबदेही विधान पर ही होती है। साधारणतः देखा जाता है कि विधानों की उद्देश्य बताने वाली धारा में बहुत-बहुत दूरंदेशी वाले कार्य और विचार १०-१०, २०-२० उपधाराओं द्वारा शुरू में ही लिखे रहते हैं; मगर बाद में संगठन वाली धाराओं को पढ़ने पर ऐसा लगता है कि वे मशीन के पुर्जे की तरह, कार्यकारिणी के हितों को सम्हालने के सिवा, पहले कहे गए उद्देश्यों के मामले में कोई भी निराकरण या व्याकरण नहीं हैं। भारत के संविधान से लेकर किसी भी भारतीय छोटे-बड़े संगठन के विधान में कार्यकारिणी के हित-साधक कलपुर्जापन के सिवा धाराओं-उपधाराओं का और कोई अर्थ नहीं है। अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ का विधान भी इस मामले में कोई अपवाद नहीं है। इसी प्रक्रियात्मक यकसापन का यही नतीजा है कि किसी भी श्रम-व्यवसाय-सरकार-ट्रस्ट आदि संगठन के विधान को उठाकर आप पढ़ लीजिए, लगेगा कि वे अपने गुण-कार्य में एक-दूसरे से जमीन-आसमान जैसा अन्तर रखने के बावजूद अपने विधान के संगठनपालन संबधी अनुच्छेदों के मामले में बिलकुल एक जैसे नकलची हैं। यही कारण है कि हमारे यहाँ, विभिन्न संगठनों से संबंधित क़ानून की किताबों में, परिशिष्टस्वरूप उस संगठन के लिए एक स्टीरियोटाईप विधान का बना-बनाया फर्मूला होता है और संगठन उसी के फिल-अप-दि-ब्लैंक में अपना नाम और जात भरकर अपने को सरकार के यहाँ रजिस्टर्ड-पेटेंट करा लिया करते हैं।

विधान : प्रकाशक-संघ का

प्रकाशक-संघ के विधान में भी वही बात है। उद्देश्य में तो उसके भी तात्कालिक कम, दूरंदेशी ज्यादा लुभावने नारे हैं; मगर संगठन की धाराओं में बिलकुल इसके उलटे जोर है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि ऐसा होने पर, अर्थात् तात्कालिक पर ज्यादा जोर पड़ने पर संगठन अन्दर से टूटता है और बाहर से बोझ महसूस करता है। मैं यह भी कह चुका हूँ कि यह तात्कालिक जोर भी, संगठन के मामले में, कार्यकारिणी के हित में ही इतना अधिक है कि वह देश के दूसरे तमाम संगठनों के विधानों के मुकाबले कुछ कम नहीं है। मैंने इसके पहले, शायद कलकत्ता-अधिवेशन के कुछ बाद, इसी 'पुस्तक-जगत' में अ० भा० हिन्दी प्रकाशक संघ के विधान के मामले में बलराम का एक लेख पढ़ा था। उसपर प्रकाशक-संघ में शायद कुछ भी नहीं सोचा गया। यह कोई बात नहीं है

कि देश के किसी वर्ग के संगठन के विधान पर कोई उस संगठन के बाहर तक का समझदार प्रश्नचिह्न लगाए और संबंधित संगठन यह समझ कर उसका निराकरण करने से टाल जाय कि यह प्रश्न करनेवाला आदमी तो हमसे बाहर का है। आखिर, जब संगठन और उसका विधान सर्वसाधारण के बीच एक प्रकाशित चीज है और भारतीय जनतंत्र का विधान जनता के बीच हर प्रकाशितों को जाँचजूँच के लिए अधिकृत करता है, तो कोई कारण नहीं कि कोई संगठन ऐसे प्रश्नों के उत्तर देने से आनाकानी करे। और, आखिर में उत्पन्न प्रश्नों को समझने और उनका उत्तर देने से इनकार करने या टालने पर खुद संबंधित संगठन को भी तो अपनी हानि है। क्या अ० भा० हिन्दी प्रकाशक-संघ के अधिकारी इससे इनकार कर सकते हैं कि 'पुस्तक-जगत' में बलराम ने विधान की जिन कमजोरियों पर प्रश्न पैदा किए उनपर संघ का गौर न करना, या बलराम की तरह के दूसरे लोगों द्वारा पैदा किए गए प्रश्नों पर अपने विधान की तंगी को नहीं समझ-सुधार कर चलना ही, इस लखनऊ-अधिवेशन के आते-आते संघ की टूटने जैसी स्थिति बनाए हुए है। संगठन में एक बुनियादी हक का ही मामला लिया जाय। पुस्तक-व्यवसाय के दो पहिए हैं : एक प्रकाशक और दूसरा विक्रेता। सिद्धान्ततः भले ही दुनिया के लोग इनके कार्य-क्षेत्र को दो अलग-अलग चीज समझें, मगर व्यवहारतः हमारे देश में निन्यानवे से अधिक प्रतिशत ही प्रकाशक स्वयं विक्रेता भी हैं। संविधान में प्रकाशक और विक्रेता के एक व्यक्ति होने की इस बात को विना समझे ही कार्य-पालिका के सारे अधिकार प्रकाशकों के हाथ में दे दिये गये और कार्यपालिका के सारे अनुशासन जबर्दस्ती विक्रेता पर लाद दिए गए और उसपर तुर्रा यह लगाया गया कि कार्यपालिका में उनकी कुल उद्योग की निन्यानबे प्रतिशत से भी अधिक आबादी को संबद्धता की तंग शर्त भर पर ही शून्य जैसा गिरा हुआ प्रतिनिधित्व दिया गया [देखें धारा ४ (आ), धारा ५ आ), धारा ५ (इ)]। विधान में विक्रेताओं के समक्ष (?) सदस्यों के अधिकार की भी कोई चर्चा नहीं है। ऐसी हालत में कोई भी समझदार व्यक्ति संगठन में [illegible] इस [illegible]

वैधानिक जिच को आसानी से समझ सकता है कि ऐसी कोई जातिनिर्णय की लकीर के स्वभावतः इस उद्योग में नहीं रहने के कारण कब कोई विक्रेता बनकर कमीशन-नियमन के विरुद्ध होने को भला समझना शुरू कर दे और प्रकाशक-संघ के अनुशासन को रद्द कर दे और कब वही प्रकाशक सिद्ध होकर अपने मुनाफा पीट लेने के बाद अन्य विक्रेता भाइयों पर ऐसे-वैसे अनुशासन लादने लगे। अभी लखनऊ अधिवेशन के पहले जिन प्रकाशकों (!) ने नेट-बुक समझौते को रद्द कर देने की तरफदारी की है, वे ही इससे पहले इसे कायम रखने की तेजदारी में थे। वे यह कह सकते हैं कि जब इस समझौते का पालन चारों ओर से टूट ही रहा है, तो इसे कायम रखने में क्या हित ? मगर, असल में यह बात नहीं है। असल बात तो यही होने की गुंजाइश है कि कल वे प्रकाशक के नाम-नाते पर माल [illegible] कर रहे थे और आज जब उनके पास बेखपे

माल की ढेरी सड़ रही है, तो जिस-तिस कमीशन पर उसे बाजार में निकालने के लिए अपने को विक्रेता के रूप में बाजार में छितराकर निकल जाना चाहते हैं और इस मनमानी के विरुद्ध प्रकाशक रूप में उन्हीं का बनाया जो कमीशन-नियमन का नियम उनके आड़े आता है, उसे समाप्त कर देना चाहते हैं, और फिर चार दिन बाद जब माल निकल जाय, तो अच्छा मार्जिन पीटने के लिए फिर उत्पादक-प्रकाशक के पद पर आकर बाकी विक्रेताओं पर फिर कमीशन का नियमन लाद देना चाहते हैं। ये या इस ढंग के प्रकाशक ऐसा कर भी सकते हैं; क्योंकि विधान में इन्होंने अपने एक भौगोलिक क्षेत्र के और कोरम के नाते एकमत होने के अपने मतलब को भी साध लिया है [देखें धारा १४ (अ), धारा ८ (आ) और ६ (अ) विक्रेता माल के लिए स्वभावतः लालायित है और वह अपने क्षेत्र में किसी भी माल की खपत, किसी का प्रतिनिधि बनकर कमीशन-कमाई के लिए करता है। अपनी इस कमाई पर वह जीवन तभी चला सकता है, जबकि प्रकाशक-उत्पादक उसे ही अपना प्रतिनिधि उस क्षेत्र में छोड़े, न कि खपत न होने वाली चीजें उसके सिर पटक कर खपत की चीजें खुद थोक-बेथोक खरीदारों के यहाँ सन्दूकों-बिल्टियों से पहुँचाएँ और अपने अधिक मार्जिन के साथ-साथ विक्रेता के भी कमीशन-मार्जिन को खुद ही उठा लें। विधान में इस 'अनुशासन' या प्रकाशक के व्यापारिक कार्य-क्षेत्र की कोई चर्चा नहीं है। इसका भी यही कारण है कि अपने यहाँ कार्य-क्षेत्र के नाते प्रकाशक और विक्रेता की यदि विधानतः अलग-अलग परिभाषा की जाती, तो प्रकाशक को विक्रेता के क्षेत्र में या विक्रेता को प्रकाशक के क्षेत्र में, घुसकर अपना-अपना अव्यापारी मतलब साधने का मौका नहीं मिलता। तो विधान में दोनों के लिए क्या परिभाषा है? वह परिभाषा है मात्र मेम्बरी फीस की रकम और संबद्धता-शुल्क का पैसा। तब कौन विक्रेता है, जो संगठन से सम्बद्ध भर ही हो सकता है और कौन प्रकाशक है जो सीधे सदस्य हो सकता है या वस्तुतः कोई प्रकाशक या विक्रेता है भी या नहीं? इन बातों की जाँच के लिए एक समिति बना दी गई। आखिर वह समिति भी तो कार्य-कारिणी के द्वारा बनाई जाती है, जो कार्यकारिणी विधानतः एक क्षेत्रीय होने की ही अधिक गुंजाइश रखती है और उस पर उस समिति के समक्ष विधान और नियम में दर्ज निर्णय लेने की कोई प्रणाली भी नहीं है। अतः, वह समिति भी जो निर्णय लेगी, वह इतना ही मनमाना होने वाला है कि उसकी व्याख्या या परिभाषा किसी के भी लिए बिलकुल असंभव है। 'कुछ एक बड़े प्रकाशक' कह कर अपने में सम्मिलित किये गए प्रकाशकों के अलावा जो 'कुछ एक छोटे प्रकाशक' हैं, वे ऐसे ही पुस्तक-विक्रेता हैं, जो प्रकाशक होकर भी अपने क्षेत्र तक ही सीमित रह गए हैं और 'बड़ों' की तरह एजेन्ट वगैरह घुमा-फिरा कर सारे देश या उसके किसी विस्तृत अंग पर नहीं छा गए हैं।

नेट-बुक-समझौता या कमीशन-नियमन की असफलता व्यवसाय के, खासकर पुस्तक-विक्रेता के हित में जितनी बुरी चीज है; उस असफलता के कारणस्वरूप विक्रेताओं और प्रकाशकों में आया हुआ आपसी अविश्वास, जिसका कारण व्यावसायिक सीमाबद्धता का न होना और दोनों का अलग-अलग परिभाषित न हो सकना है, कम नहीं है। इस अविश्वास का कारण संघ के विधान द्वारा विक्रेताओं से निचले स्तर का अपारिभाषित और अधिकारशून्य सम्बन्ध करना है। नेट-बुक-समझौते की असफलता के बाद, उस असफलता के लिए प्रकाशकों द्वारा ही अन्य प्रकाशकों पर आरोप तथा प्रत्यारोप होते हुए भी, कुछ विचारक प्रकाशकों द्वारा असफलता का निराकरण सोचा जा रहा है कि प्रकाशक-संघ जब नेट-बुक-समझौते-जैसे सवाल पर विक्रेताओं को अपने साथ नहीं चला सका, तो उसको शुद्ध प्रकाशकों का ही संगठन रह जाना चाहिए तथा विक्रेताओं को अलग संगठन बना लेना चाहिए। सरदारमल थानवी का कहना है कि "प्रकाशक की परिभाषा स्पष्ट नहीं की गई, जिससे रुपये के बल पर कोई भी प्रकाशक बन सकता है, चाहे वह 'हनुमान-चालीसा'-जैसी दो-चार पुस्तकों का नियमित रूप से प्रकाशन करता हो। इस प्रकार प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता को एक साथ मिलाना एवं दोनों का सर्वांगी हितसाधन न कर विधान बनाना मूलभूत भूल हुई।" इस प्रकार हर कोई विधान और तदनुसार कार्य की समता करने पर मेरे जैसे ही निष्कर्ष पर पहुँच रहा है।

मगर, थानवी जैसे बारीकी से विधान की इस चूक को समझने वाले भी व्यक्ति विधान में वर्गपरिभाषा की स्पष्टता, कार्याधिकार के व्यावसायिक निर्धारण एवं प्रकाशक तथा विक्रेता के संगठन में समानाधिकार के आश्वासन की कोई बात नहीं कर, बहुतेरे साधारणजनों-जैसी साधारण बात ही करते हैं कि 'पुस्तक-विक्रेताओं के अलग-अलग संगठन न' बनने चाहिए अर्थात् प्रकाशकों को अपना लंगर अलग ही चलाना चाहिए और नहीं तो विक्रेताओं के साथ लेखकों तक को (प्रेसों और डिजाइनरों को नहीं ?) समेट कर 'अखिल भारतीय हिन्दी-पुस्तक-व्यवसायी संघ' बना देना चाहिए। यह तो कुछ आश्रमधर्म अनुशासन को न समझकर दूर की घबड़ाहट से यह मजेदार कल्पना करने जैसा ही हुआ कि या तो सभी को ब्रह्मचर्य में बाँध दो या सबको सबके सहवास में जाने दो। ये दो सीमान्त चिन्तन समझाने के बाद थानवीजी की समझ में खुद नहीं आया कि तब क्या होगा ? अतः, वे सब लेखक-प्रकाशक-विक्रेता का एक संगठन चाहने पर भी इन अलग-अलग वर्गों का 'उपसंघ निर्माण का मौका' बोल ही गए। व्यवसाय-वाणिज्य से लेखक का कोई संबंध नहीं रखना व्यावसायिकों, विशेषकर पुस्तक-व्यवसायकों के लिए अच्छी बात नहीं है। लेखक को अलग कर वे अपने व्यवसाय के प्रकाशक और विक्रेता-जैसे दो वर्गों को ही संगठित करें। हाँ, लेखकों के अधिकार देने का वे कोई अनुशासन बनाकर देश-हित की दिशा में बढ़ें, तो यह मेरे कहे गए दूरंदेशी के आन्दोलन में उनका आगे बढ़ना ही होगा। मगर, प्रकाशक और विक्रेता का क्षेत्र-निर्धारण और परिभाषा तो उन्हें अपने विधान में, अनियमित कार्यवाहियों पर फैसला लेने के लिए भी कभी-न-कभी करना ही पड़ेगा। दोनों संगठनों के अलग-अलग हो जाने पर वह परिभाषा भी अत्यन्त क्रूर हो उठेगी और यहाँ तक भी क्रूर हो उठ सकती है कि दोनों एक-दूसरे के व्यवसाय के मामले में जानी दुश्मन तक हो उठें; बल्कि दोनों के एक संघ में रहने पर भी वह परिभाषा करनी ही पड़ेगी, और करनी पड़ेगी तो नरम, स्वाभाविक तथा सहयोग की ही होगी। लोग खुद अनुभव करते हैं कि 'हनुमान-चालीसा' वाले को प्रकाशक कहा जाय या नहीं। विधान में 'पाकेट बुक्स' के प्रकाशक, राजनीतिक दलों के प्रकाशन, 'रानी सती' मार्का फुटपाथ पर बिकने वाले प्रकाशन और टेक्स्ट-बुक के प्रकाशनों पर भी सोचने का कोई कायदा नहीं है। फल यह होता है कि पाकेट बुक्स के प्रकाशक को संघ में लिया जाता है, बल्कि उसे कमीशन-नियमन से छूट तक दी जाती है; जबकि टेक्स्ट-बुक, रानी सती-मार्का और दलीय प्रकाशकों को शैतान या खुदा की तरह दूर से ही नमस्कार जताया जाता है। समझ में नहीं आता कि यह सब विधान के किस नियम के अनुसार कार्यसमिति कर लिया करती है। प्रकाशक-पुस्तकविक्रेता-संघ होने पर कार्य-क्षेत्रों के सहयोग और सीमा के उपनियम अवश्य बन जाने चाहिए; मगर यह खुदा और शैतान समझकर दूर से प्रणाम करने की गुंजाइश नहीं रहनी चाहिए। नाम को लेकर झंझट बड़ी पुरानी सनातनी श्रद्धा-जैसी कट्टरता ही है। काम को लेकर यदि विचार किया जाय, तो प्रकाशक और विक्रेता का एकत्व और एक काम है। अपने यहाँ और कब कौन किस हैसियत में है, यह सोचने के हवास के पक्ष में सचेष्टता का कोई तर्क नहीं है। मजदूर के मजदूर का मजदूर और नाती के नाती का नाती दो अलग रिश्ते हैं; क्योंकि परिवार में जहाँ ऊपर वाली डिग्री नाती के निचले नाते से परनाना-जैसी चीज हो जाती है, वहाँ व्यवसाय में ऊपर वाली डिग्री का मजदूर निचली डिग्री की दृष्टि से आजकल मजदूर ही है। पुस्तक-व्यवसाय में भी—निचले प्रकाशक का ऊपर वाले से वैसा ही ट्रेड का नाता है, न कि वंश का। इसीसे पाठ्य, फुटकर, सड़की, दलीय सभी में वह इकाई का लक्षण अवश्य है कि वे किताब निकालते हैं और बेचते हैं। उनका व्यवसाय कैसे चले और उनसे ऊँची हैसियत वालों का किस दर का सहयोग रहे, ताकि कहीं जिच न हो, विधान में ऐसी उदारता के अनुशासन आने चाहिए

केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय के पिछले सहायक शिक्षा-सलाहकार सरदार श्री मोहन सिंह ने भी दिल्ली के संघ द्वारा आयोजित किसी सेमिनार में कहते हुए यह माना है कि "पुस्तक-व्यवसाय में छोटे-छोटे प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता बहुत बड़ी संख्या में हैं और अधिकांश प्रकाशक अपनी पुस्तकों के विक्रेता भी हैं।" विगत कलकत्ते के अधिवेशन में यह बात भी, शायद पाकेट-बुक्स को परचून-

चाय-बीड़ी की दूकान में बिकनेवाली चीज की कैटेगरी में रखकर और प्रकाशनों से अलग की चीज सिद्ध करते हुए उसी तर्क पर कमीशन-नियमन से छूट देने का बहाना खोजने के ही नाते, आई थी कि चाय-सिगरेट की दूकानों तक पर किताबों की बिक्री होनी चाहिए। तब प्रश्न उठता है कि चाय-सिगरेट-जैसी दूसरी जाति की चीज का कारोबार करने वाले जब पुस्तक-विक्रेता भी हो सकते हैं और वे जब अपने व्यवसाय की चीज हो सकते हैं, तो निखालिस पुस्तक बेचने वाले 'छोटे-मोटे' प्रकाशक एक ही व्यवसाय के होकर प्रकाशकों के साथ सम्मिलित संगठन के क्यों नहीं हो सकते?

मगर, उसी वक्तव्य में आगे बढ़ते हुए श्री मोहन सिंह ने कहा कि "आधुनिक समाज एक बड़ा समाज है और बड़े समाज को अपनी सेवा के लिए बड़े संगठनों की जरूरत होती है। तात्पर्य यह कि आधुनिक समाज में छावड़ी वाले का कोई स्थान नहीं है और हमारे आज के अधिकांश पुस्तक-विक्रेता न्यूनाधिक रूप में पुस्तकें बेचने वाले छावड़ी वाले हैं।" अगर आज गाँधीजी होते और तब मोहन सिंहजी तो क्या, उनसे बड़े-बड़े भी उनके डाइरेक्ट चेले किसी भी दूसरे इंजीनियरी व्यवसाय तक के लिए ऐसी बात कह देते, तो निश्चय ही वे उनकी दृष्टि में निकृष्टतम सिद्ध हुए होते—यह हर वह आदमी दावे से कह सकता है, जो गाँधीजी के संस्कारों और सिद्धांतों का क-ख-ग भी देखे हुए है। कम-से-कम पुस्तक-व्यवसाय के मामले में तो सरकार तो क्या, किसी समूह तक के दवाव को गाँधीजी किसी कीमत पर सहने वाले नहीं थे। सरदारजी ने अपने उस सारे भाषण में पुस्तक और उसकी पढ़ाई के माध्यम को 'बड़े संगठन' के नाम पर सरकारी केन्द्रीकरण के चश्मे से ही देखा है और इस नाते उनका यह 'बड़ा' मात्स्यन्याय से भी कोई बड़ा जल-अजगर है। जहाँ सरदारजी 'बड़े' के इस चक्कर में फाँसकर शिक्षा और साहित्य के इस नितान्त व्यक्तिविशिष्ट माध्यम को सरकार-तांत्रिकता के हाथों का काठ का उल्लू बना छोड़ना चाहते हैं और कुटीर-उद्योग जितनी भी आर्थिक तथा नैतिक स्वतंत्रता नहीं देना चाहते, वहाँ उसी सेमिनार में दीनानाथ मल्होत्राजी का कहना हो जाता है कि "यह अभी तक एक कुटीर-उद्योग अथवा लघु-उद्योग' है और इतना कह कर वे भी सरकार से आर्थिक सहयोग और केन्द्रीय संचालित सहकार-जैसी चीजों के लिए गिड़गिड़ाने लगते हैं। शायद केंद्र (दिल्ली) में पहुँचते ही किसी को यह हवा लग जाती है कि वह सारी गाँधी-गीता-गाँव भूलकर 'केंद्र केंद्र, सहकार-संगठन, सरकार-सहायता' आदि-आदि बकने लगता है। और, यह बकवास यहाँ तक बढ़ती है कि वे सब यह भूल जाते हैं कि यह मोटर के लिये बका जा रहा है, या टैंक के लिए, या टॉफी के लिए या अपनी-अपनी किताबों के लिए।

संघ को इस विषय में विधानतः भी सोच लेना चाहिए। जब यह स्वीकार किया जाता है कि यह प्रकाशन का व्यवसाय अपने यहाँ गृह-उद्योग के स्तर का है, तो ऐसा क्यों सोचा जाता है? ऐसा इसलिए सोचा जाता है कि यह कुल धंधा विकेंद्रित और व्यक्तिगत छोटे-छोटे रिस्कों में चालू है और इसमें कई छोटे-बड़े स्तर के मालिक या उत्पादक हैं। अपने को 'गृह-उद्योग' कहने की दुहाई देकर सरकारी संरक्षण की माँग या कोई केंद्रित उद्योग-आयोजन की कोआपरेटिव-जैसी चाह भी, इस उद्योग को 'गृह-उद्योग' की सीमा से निकाल देगी और एकाधिकृत रूप दे देगी—ऐसा 'गृह-उद्योग' की दुहाई मारने वालों को सोच लेना चाहिए। दूसरे, यह लोहा, दवा या दूसरी आपूर्तियों के उद्योग-जैसी चीज नहीं है, बल्कि यह विद्या और जनता के व्यक्तियों की स्वतंत्र चेतना बनाने का साधन है और इसके उद्योग के केंद्रीकरण या सरकारमुखी होने से देश के लोगों में से स्वतंत्र चिन्तन समाप्त हो जायगा। शिक्षा और साहित्य के राष्ट्रीयकरण या सरकारीकरण से जो लोग खुश हैं, उन्हें वैसा रुच सकता है। मगर, व्यवसाय की वैयक्तिकता के लिहाजे भी दीनानाथजी-जैसों को यह सोच लेना पड़ेगा कि तब वैसी सूरत में उन-जैसे कुछ प्रमुखों को भी कुछ हाथ नहीं लगेगा, बल्कि उनपर ही देश की विचारकुंठा का दोष लगेगा। अतएव, शिक्षा और पठन के किसी भी साधन का राष्ट्रीयकरण, सरकारीकरण, यहाँ तक कि सामाजिक केंद्रीकरण भी नहीं होना चाहिए। और तब, इसके लिए संघ को अपने विधान में भी यह गुंजाइश करनी चाहिए कि छोटे-से-छोटे उद्योगी तक एक

समानाधिकार एवं समानाधार पर अपना हक पावें। यों भी विक्रेता और प्रकाशक के बीच अपने यहाँ कोई अंतर नहीं डाला जा सकता है और इस आधार पर भी उनमें अंतर नहीं होना चाहिए। तीसरे, अपने यहाँ जो शिक्षा का विस्तार हुआ है, चाह हुई है और आगे और भी होने वाली है, उसे देखते हुए आगे इतना लम्बा-चौड़ा बाजार होने वाला है कि उसमें आज के इतने व्यवसायी भी काफी कम ही पड़ेंगे। तब होड़ की वह क्या शंकास्पद बात है कि संघ के लोग आपस में किसी मात्स्यन्याय-जैसी मूर्खता पर उतरें। फिर भी एक जो बुरी होड़ है, वह है सरकारी खरीद के कारण। 'प्रकाशन-समाचार' भी अपने सम्पादकीयों में सरकारी मार्का पुस्तकों की पक्षपाती खरीद पर कम नहीं रोया है। राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध अवश्य सोचना चाहिए, मगर उसकी जड़ सरकारी खरीद-जैसी बातों में ही है—इसे भी वह सोचते समय सोच लेना पड़ेगा।

कमीशन-नियम

सचमुच यदि कमीशन और टेन्डर की धाँधली और होड़ को न रोका जाय, तो सिद्धान्त और नैतिकता की दृष्टि से प्रकाशकों और विक्रेताओं के संगठन का कोई काम ही नहीं बचता है। जहाँ राष्ट्रीयकरण और एकाधिकार इस व्यवसाय को बाहर से चोट पहुँचाकर तोड़ता है, वहाँ कमीशन की होड़ इसे अन्दर से तोड़ती है। तात्कालिक आन्दोलन, जिसका प्रभाव-अनुभाव संगठन को तत्काल प्रेरित किए रहता है, इस कमीशन-नियमन के आधार पर ही चल सकता है। सिद्धान्ततः भी, पुस्तक कोई वैसी व्यावसायिक चीज नहीं है, जिसपर व्यवसाय के बाहर के कोई व्यक्ति या खरीद को कमीशन का हित दिया जाय। इसके अलावा भी एक आवश्यक कारण यह है कि अपने यहाँ ड्यूटी, श्रम आदि लागतों के सस्तेपन को देखते हुए, उस अनुपात में पुस्तकों का मूल्य जो बढ़ा हुआ लगता है, उसका कारण भी कमीशन का ज्यादा होना और उसका इस रोजगार के बाहर वालों को मिलना है। यद्यपि यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि कम संख्या के संस्करण, अधिक रायल्टी और न बिक सकने के खतरे के बावजूद विदेशी प्रकाशनों के मुकाबले हमारे यहाँ पुस्तकों के मूल्य काफी सस्ते हैं। फिर भी प्रकाशन-व्यवसाय का यह राष्ट्रीय और नैतिक कर्त्तव्य हो उठता है कि, इस तंग आर्थिक हैसियत के ग्राहकों वाले अपने देश में पुस्तकों के मूल्य और कम होने चाहिए। ये ग्राहक भी जबकि आवश्यक दैनिक चीजों के रूप में पुस्तकों को नहीं गिनते हैं, बल्कि 'यों ही' के तौर पर इसके सम्बन्ध में कुछ उत्साह दिखाते हैं, तो उनमें और भी उत्साह देने के लिए कमीशन को खत्म कर आमतौर में सस्ते दर पर पढ़ने की चीज मिलनी ही चाहिए। व्यवसाय में कमीशन को सीमित कर देने का हित ग्राहकों को सस्ते मूल्य के पाठ्य के रूप में मिलना चाहिए—नियमन का यही नैतिक रूख होगा। मगर, इस कमीशन-नियमन को लागू करने में ग्राहकों के उस हित को कहीं भी नहीं घोषित किया गया, जिसका नतीजा यह है कि न तो इस नियमन के प्रति ग्राहकों की हमदर्दी बन सकी, जो ग्राहकों के वोट और मन को समझ कर सारी योजनायें और बातें करती है—उस सरकार ने भी ग्राहकों के मन के अनुसार यह समझा कि संघ का यह नियमन बहुत दिखाऊ चीज है और आपस में व्यवसायियों ने भी नियमन के स्थायी लक्ष्य की अघोषणा की स्थिति में इसे कुछ-एक का प्रोग्राम भर ही समझा। आखिर, यही कारण है कि संघ के विगत वर्षों के संगठन-कार्य में केवल कमीशन-नियमन पर ही इस तरह जोर दिया कि जैसे बाकी कोई कार्य इसके लक्ष्य में न हो; और इसका चोर की दाढ़ी में तिनका-जैसा अर्थ लगना, संगठन के बे-कार्यकारियों के लिए इसलिए सरल हुआ कि इस नियमन को उन्होंने मात्र इजारेदारों का मुनाफा-मार्जिन अधिक करना भर ही समझा। शेष का यह विश्वास स्वाभाविक था ; क्योंकि संघ ने कमीशन-नियमन से होने वाले लाभ के विषय में कोई दूरंदेशी आन्दोलन की चर्चा नहीं की थी और मात्र व्यक्तिगत आरोप-प्रत्यारोप की भँवर से इस करार की नैया को निकाले जा रहे थे। लखनऊ-अधिवेशन में, व्यवसाय में मुनाफा-मार्जिन बढ़ाने के लिए कमीशन-नियमन के शक को मिटाकर, इस प्रश्न को तात्कालिक आन्दोलन की सतह से उठाते हुए, यह स्पष्ट कर ही देना चाहिए कि अपने आपसी व्यवसाय के सहयोगियों के लिए निश्चित कमीशन के अलावा और

किसी को भी किसी अंश में कमीशन नहीं दिया जायगा। सरकार को यद्यपि खुद ही सोचना चाहिए, आखिर उसमें अक्लमंद लोग ही कहे जाते हैं, कि पुस्तकें कोई सौदे की चीजें नहीं हैं और उसपर सरकारी तौर पर कमीशन चाहने से वे सौदे की चीज हो जाती हैं। मगर, वह यदि इस उसूल को नहीं समझती, तो संघ को सीधे जनसाधारण के ग्राहकों के पास पहुँचना चाहिए और उन्हें इस नियमन से होने वाले उनके हित को समझाना चाहिए। लेखक, जो आजाद विचारक ही है; प्रकाशन-व्यवसाय का उससे जो सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध ही एक वह स्थायी चीज है; जो इसे कहीं व्यवसाय से भी बड़ा बड़प्पन देती है। संसार के अधिकतर आदर्श प्रकाशक स्वतंत्र और स्वच्छंद विचारों के अपने प्रकाशनों को लेकर अपने यहाँ के शासन-तंत्रों के कोपभाजन हो चुके हैं और बाद में उन्होंने ही अपने देश को एक नए मोड़ का इतिहास दिया है। शायद उस स्तर तक अपनी हैसियत सोचने की स्थिति आज संघ के किसी प्रकाशक में न हो; मगर व्यवसाय का हित सोचने, उसे टूटने से बचाने तथा उसे अधिकाधिक ग्राहकों में प्रतिष्ठित करने की स्थिति तो होगी ही। इस नाते भी कमीशन-नियमन को लागू करना आवश्यक है। यह अलग बात है कि इस लागू करने के कुछ असली स्टेज बना लिए जाएँ, ताकि पहले यह नियमन अपने व्यवसायियों पर हो और फिर सरकार पर।

दूरंदेशी के आन्दोलन

ऊपर इस विषय की कुल बात हर प्रसंग में कही जा चुकी है। वह बात यह है कि शिक्षा और साहित्य का राष्ट्रीयकरण तथा केन्द्रीकरण नहीं होना चाहिए। पुस्तकों की तो बात ही दूर, देश के लगभग समझदार अब और सब तमाम चीजों के भी राष्ट्रीयकरण और केन्द्रीकरण के विरुद्ध हैं। यह राष्ट्रीयकरण व्यावसायिक दृष्टि के भी विरुद्ध है और व्यक्तिगत स्वाधीनता की दृष्टि के भी। यही एक ऐसा विषय है, जिसपर व्यवसाय अपने स्थायी जीवन का निर्णय समझ सकता है और देश के बाकी व्यवसायों और हितों की हमदर्दी पा सकता है। पुस्तक-व्यवसाय मात्र व्यवसाय नहीं है, बल्कि प्रचार, विचार और संस्कार का माध्यम ही अधिक है, इसलिए उसे ही इस आड़े प्रश्न को सुलझाने में सबका नेतृत्व प्राप्त होगा।

इस दूरंदेशी के आन्दोलन में और बातें भी जुट सकती हैं और वे महत्त्व की हैं। जैसे—अपने देश के इर्द-गिर्द के बाकी एशियाई देशों से, जिनकी सांस्कृतिक स्थिति भारत-जैसी ही है, हमारा कोई सम्बन्ध न होकर उन योरोपीय देशों से अबतक है, जो हमारे संस्कार से बहुत दूर के हैं। यह स्थिति इतिहास और भूगोल के सामीप्य के नाते बहुत ही जल्द पलट जाने वाली है। अतः, प्रकाशकों को संघरूप में ऐसी आवश्यक स्थिति का अध्ययन करते हुए इन-जैसे पड़ोसी राष्ट्रों की भाषाशिक्षा और अनुवाद की ओर अग्रसर होना चाहिए। यह काम, मौजूदा स्थिति में, सचमुच किसी व्यक्तिगत प्रकाशक के बूते के बाहर की है। इसीलिए इस या इस-जैसी रचनात्मकता को पहले संघ को सम्हालना चाहिए और फिर स्थिति सम्हलने पर व्यक्तिगत दायित्वों पर वह छोड़ भी सकता है।

दूरंदेशी के आन्दोलन का किसी संगठन के उद्देश्यों से सीधा सम्बन्ध होता है और उसे ही पूरा करने के लिए जो संगठन चले, उसके पूरकरूप में ही विधान का बाकी विस्तार होता है। इस सन्तुलन को भूल कर उद्देश्य के अलावा जो रूढ़ नियमों भर को ही समझना है, वह अच्छी बात नहीं है—यही इतना कहने का अर्थ है।

पुस्तकों के अल्पमोली संस्करण

श्री महेशनारायण 'भारतीभक्त'

तमिल की वर्णमाला अभी-अभी सीखी थी। मद्रास में एक पुस्तकों की दूकान पर तमिल पुस्तकों के नाम पढ़ने की कोशिश कर रहा था। सहसा एक पुस्तक पर दृष्टि जम गई। आवरण-पृष्ठ पर बड़े-बड़े अक्षरों में जगमगा उठा था एक शब्द —'कवितैगल' !

'कवितैगल' शब्द मेरे लिए नया नहीं था। उसका अर्थ है —कविताएँ ! भाषा-ज्ञान तो अधिक था नहीं, लेकिन कविता-प्रेमी होने के नाते वह पुस्तक हाथ में ले ली। देखा, सुब्रह्मण्य भारती की समस्त कविताओं और गीतों का संकलन है। सर्वथा नवीन अल्पमोली संस्करण। दाम शायद डेढ़ रुपया मुद्रित था।

सुब्रह्मण्य भारती की रचनाओं पर पहले मद्रास-सरकार का कॉपीराइट था। उन दिनों भारती की इस पुस्तक का पाँच रुपये से कम का कोई संस्करण नहीं निकला था। सन् १९५३ या '५४ में मद्रास-सरकार ने भारती की रचनाओं पर से अपना कॉपीराइट उठा लिया। उसका सबसे पहला जो सुन्दर परिणाम हुआ, वह यह कि भारती की कविताओं का यह अल्पमोली संस्करण जनता के सामने आया। बिक्री की कुछ पूछिए नहीं। जिसको देखता, उसी के हाथ में 'कवितैगल' की ताजी प्रति पाता। शादी-ब्याह के अवसरों पर पुस्तकें भेंट देने की प्रथा हिन्दी-क्षेत्र में नहीं के बराबर है, लेकिन दक्षिण में तो वह जोरों पर है। भारती की रचनाएँ वहाँ ऐसे अवसरों के लिए विशेष उपयुक्त समझी जाती हैं। जितनी भी शादियों के जलसों में मैं शरीक हुआ, प्रायः सब में 'कवितैगल' की प्रतियों के दर्शन होते रहे।

'कवितैगल' के अल्पमोली संस्करण का प्रकाशन सफल रहा। इतना सफल कि तमिल-प्रकाशन-जगत में अल्पमोली संस्करणों की बाढ़ आ गई है। ये अल्पमोली संस्करण सनसनीखेज जासूसी उपन्यासों के नहीं, बल्कि साहित्य की श्रेष्ठतम कृतियों के हैं। नाम्मालवार का 'दिव्य प्रबंधम' तिरुवाचकर का 'तिरुवाचकम' और कम्बन की 'रामायण' के ही नहीं, बल्कि संघमकालीन गौरव ग्रन्थ 'शिलप्पधिकारम', मणिमेखलै', 'पुरूनानूरू' (काव्य-संकलन) आदि के भी अल्पमोली संस्करण निकले हैं। एक रुपये से लेकर दो रुपये तक इनके दाम हैं, छपाई-सफाई भी घटिया नहीं।

हिन्दी में 'रामचरित मानस' के गीता प्रेस वाले संस्करणों को छोड़ दिया जाए, तो श्रेष्ठ ग्रंथों के अल्पमोली संस्करण शायद ही कहीं दिखें। 'पद्मावत', 'कामायनी' 'साकेत' या 'गोदान' आदि अधिकतर पाठक माँग कर ही पढ़ जाते हैं। खरीद कर पढ़ने की आदत तो तभी बढ़ सकती है जबकि ये एक-डेढ़ रुपये की जिल्दों में उपलब्ध हों।

अल्पमोली संस्करणों के प्रकाशन की दिशा में पाकेट-बुक-सिरीज की पुस्तकों का हवाला दिया जा सकता है। लेकिन, इस सिरीज में नई पुस्तकें ही ज्यादातर सामने आ रही हैं। दो-चार प्रसिद्ध उपन्यास रख दिये गये हैं और 'दीवान-ए-गालिब' तथा 'गीतांजलि' प्रस्तुत की गई है। बाकी तो प्रायः सभी नई-की-नई चीजें है। अल्पमोली संस्करण निकालने का सही उद्देश्य इनसे पूरा नहीं होता।

नवीनतम कृतियों के सस्ते या अल्पमोली संस्करण नहीं निकाले जाएँ, ऐसा कोई नहीं कहना चाहेगा। मेरा अभिप्राय है तो यही है कि जो ग्रन्थ काफी प्रसिद्ध हो चुके हैं या जिनका साहित्य में स्थायी मूल्य है, उन्हें अल्प मूल्य में उपलब्ध कर देने की आवश्यकता है। कुछ पाठक शौकिया होते हैं, उन्हें अच्छी-अच्छी कृतियाँ पढ़ने का ही नहीं, बल्कि उनका संग्रह करते रहने का भी शौक रहता है। इस प्रकार का शौक निस्संदेह उच्चतम कोटि का शौक है। लेकिन, शौक हो और सबल आर्थिक आधार नहीं हो, तो मन को मसोसते रहिए, हसरतों को दबाते रहिए ! हमारे देश के अधिकांश शौकिया पाठक इसी कोटि में आएँगे। अल्पमोली संस्करण निकालने वालों को क्या उनकी फिक्र है ?

सिर्फ फिक्र की बात नहीं है। प्रकाशक व्यवसाय की बात पहले सोचेंगे और उनका सोचना जरूरी भी है। दुनिया भर की फिक्र का आखिर ठेका तो नहीं ही ले रखा है उन्होंने। तो, व्यवसाय की दृष्टि से भी क्या यह घाटे का सौदा होगा? कुछ लोग यह सोच सकते हैं कि जब पाँच रुपये की पुस्तक की दो हजार प्रतियाँ खपा देने से ही काम चल जाता है, तब बेकार एक रुपये का संस्करण निकाल कर दस हजार प्रतियाँ छापने-बेचने का सिरदर्द क्यों मोल लिया जाय! ऐसा सोचनेवाले या तो अधिक आरामतलब होंगे या सफलता की छलाँग मारने के लिए अपेक्षित साहस और उत्साह का उनमें अभाव होगा। महत्त्वाकांक्षी प्रकाशक शायद ही इस ढंग से सोचेगा। हाँ, उनकी बात अलग है, जो केवल टेक्स्ट-बुक या लाईब्रेरियों के लिए ही पुस्तकें छापते हैं।

दक्षिण में अक्सर ऐसे विद्यार्थी मिलते रहे, जो 'कामायनी', 'साकेत' या 'शेखर : एक जीवनी' की तलाश में रहते थे। साधारण हैसियत के परिवारों के लड़के-लड़कियाँ थीं, खरीद कर पढ़ना उनके लिए संभव नहीं था। उनकी आम शिकायत रहती कि हिन्दी-पुस्तकों और पत्रिकाओं के दाम अधिक रहते हैं। महीने में तीन-चार बार नाश्ते में कटौती करके एक-डेढ़ रुपये की पुस्तक खरीदी जा सकती है, लेकिन एक पुस्तक के लिए महीने भर बगैर नाश्ते के रहना मुमकिन नहीं है।

हिन्दी का क्षेत्र जितना विशाल है, उसके अनुरूप पाठक नहीं हैं और जो हैं भी उनमें भिखमंगी-वृत्ति वाले, माँग कर पढ़ने वाले अधिक हैं। इसकी वजह क्या है? जनता जाग्रत नहीं है, सिर्फ यही कह देने से काम नहीं चलेगा। व्यवसाय की बात सोची जाए, साथ-साथ जनता के पास पहुँचने का प्रयास भी तो होना चाहिए। जो जनता के पास पहुँचेगा, उसका व्यवसाय भी चमकेगा।

तमिल-प्रदेश की आबादी दो करोड़ भी नहीं है। तमिल साप्ताहिक 'कल्कि' और 'आनन्द-विकटन' कहने भर के लिए साप्ताहिक हैं। उनके प्रत्येक अंक में 'सरिता' से कम सामग्री नहीं रहती है। 'सरिता' का दाम एक रुपया है जबकि 'कल्कि' पचीस नये पैसे में मिल जाता है। 'आनन्द-विकटन' का भी शायद यही दाम है। ये पत्रिकाएँ हर गुरुवार को निकलती हैं। उस दिन शाम के वक्त लोग अपने-अपने दरवाजे पर अखबार बेचनेवाले की राह देखते रहते हैं। हर परिवार में तो नहीं, लेकिन बहुत-से परिवारों में जितने पढ़नेवाले सदस्य होते हैं, उतनी प्रतियाँ इन पत्रिकाओं की खरीदी जाती हैं। हर आदमी 'पहले' पढ़ने के लिए उतावला ठहरा, दाम सिर्फ पचीस नये पैसे, फिर लाख-डेढ़-लाख प्रतियों का खप जाना कौन-सी बड़ी बात है।

पत्रिकाओं का यह उदाहरण जान-बूझकर दिया गया है। अच्छी पुस्तकों के अल्पमोली संस्करण की लोकप्रियता में संदेह की गुंजाइश नहीं है। हिन्दी पाठकों में पढ़ने की, खरीदकर पढ़ने की, प्रवृत्ति को बढ़ाने का यही एक रास्ता है। तरुणों में घटिया साहित्य खरीदकर पढ़ने की जो रुचि आम तौर पर पैदा हो गई है, उसका परिष्कार भी इसीसे संभव है। वह स्थिति पैदा की जानी चाहिए कि 'कामायनी' एक रुपये में, 'आँसू' पचीस नये पैसे में, 'गोदान' और 'साकेत' डेढ़-डेढ़ रुपये में मिल सकें।

तर्क-युक्ति-संगत संयत विचार का लेख मतभेद रखने वालों को भी आकृष्ट कर लेता है। किन्तु, लेखक के विचार से सहमत होने वाले पाठक भी अवांछनीय शैली कदापि पसन्द न करेंगे। आजकल बहुत-से आवेशपूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं। जिनमें विचारों का सन्तुलन नहीं होता। पत्र-सम्पादक की यह जिम्मेदारी है कि वह निरंकुश लेखनी की नकेल सँभाले।

—शिवपूजन सहाय
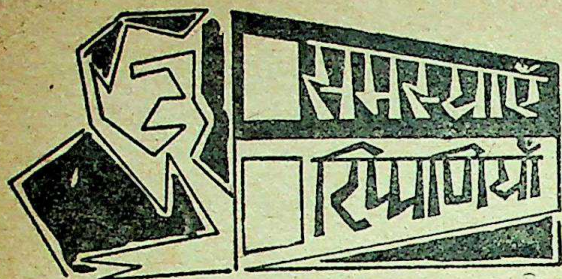
अ० भा० हिन्दी-प्रकाशक-संघ के प्रति कुछ विचार

[१]

संघ द्वारा प्रचारित नियमों का सभा-मीटिंगों में जो प्रचार करते थे, वही अपने या दूसरे नामों से इन नियमों का उल्लंघन करते-करवाते थे, अधिक कमीशन देते थे और संघ की जड़ में तेल डालने में हर प्रकार से व्यस्त रहते थे। पटना में हुए वार्षिक अधिवेशन में इन नियमों को बरकरार रखने के पक्ष में भाषण करने वाले एक महानुभाव को यह कहते तक सुना गया कि १२½ प्रतिशत का नियम होने की वजह से उनके लिए १५-१६ प्रतिशत कमीशन पर पुस्तकें बेच पाना आसान हो गया है।....संघ का वार्षिक अधिवेशन २१-२२ अप्रैल को लखनऊ में होने जा रहा है: नेट-बुक-समझौते के प्रश्न पर वहाँ गम्भीरता से विचार होना चाहिए। संघ पुस्तक-व्यवसायियों का व्यावसायिक जमात है—भाषण और नारों का मंच नहीं।

—'प्रकाशन समाचार', अप्रैल, ६२

[२]

संघ ने कमीशन-संबंधी नियमों की व्यवस्था की, जो 'नेट-बुक-समझौता' नाम से प्रचलित हुई। इसका मुख्य उद्देश्य पुस्तक-विक्रेताओं की सहायता करना था। प्रकाशकों का अपना सीधा लाभ इससे कोई नहीं था।...पुस्तक-विक्रेता-संघ के अभाव की परिस्थिति में प्रकाशक-संघ ने हिन्दी-पुस्तकें बेचनेवाले पुस्तक-विक्रेताओं को पंजीवद्ध किया। एक प्रकार से यह पुस्तक-विक्रेताओं का संगठन हो गया।... पिछले वर्ष से छह मास पूर्व ही संघ के नियमों में ढील आनी शुरू हुई। ढील आने का कारण कोई परिस्थिति में परिवर्त्तन नहीं था, बल्कि एक ही कारण था कि संघ के कार्यालय में अत्यन्त ही शिथिलता आ गई थी। जो शिकायतें प्राप्त हुईं, उनपर कोई कार्रवाई नहीं की गई। इससे पूर्व नियम तोड़नेवाले पुस्तक-विक्रेताओं को संघ की ओर से पत्र जाते थे।...यदि तोड़ते भी थे तो संघ के जनमत के कारण आगे के लिए सावधान हो जाते थे। परन्तु, संघ के कार्यालय ने कार्य करना बन्द कर दिया तो धीरे-धीरे नियमों पर चलनेवाले व्यवसायी भी शिथिल होने लगे। उनको ऐसा अनुभव होने लगा कि जो नियम तोड़ते हैं, वे फायदे में रहते हैं और हम जो शिकायत करते हैं, हमारी सुनवाई नहीं होती और हम हानि उठाते हैं। एक नहीं, अनेक ऐसी घटनाएँ हुईं—जिनकी शिकायतों के पत्र संघ के कार्यालय में पहुँचे और उनको उत्तर भी नहीं दिया गया।...पंजीवद्ध विक्रेताओं की सूची पिछले वर्ष में एक बार भी प्रकाशित नहीं की गई।...इस बात पर विचार करने के लिए संघ की एक विशेष बैठक २८ जनवरी १९६२ को दिल्ली में बुलाई गई।....कार्यालय की निष्क्रियता के कारण यह काम संघ की अनुशासन-समिति ने करने का निश्चय किया।...इस बीच पुस्तक-विक्रेताओं ने त्यागपत्र भेजे कि ऐसी डोलती स्थिति में...संघ में रहने में कोई लाभ नहीं।...संघ के नियम ठीक हैं और पुस्तक-व्यवसाय का भला भी इसी में है कि यह इस कमीशन-सम्बन्धी अनुशासन को चलाए।...आखिर गत मास अनुशासन-समिति ने इस बात का फैसला किया कि जब ये नियम नहीं चल रहे, तो कार्यसमिति नेट-बुक एग्रीमेंट को स्थगित कर दे और अप्रैल में जब संघ का अधिवेशन हो, तो व्यवस्था नए सिरे से की जाय।...कार्यालय बड़ा सुदृढ़ होना चाहिए और पूरा समय काम करने वाला एक वैतनिक मंत्री भी।...पुस्तक-विक्रेताओं का अपना एक अखिल भारतीय संगठन होना चाहिए।...यदि अखिल भारतीय पुस्तक-विक्रेता-संघ एकदम नहीं बन सकता, तो कुछेक बड़े-बड़े स्थानों पर पुस्तक-विक्रेता-संघ अथवा प्रान्तीय पुस्तक-विक्रेता-संघ बनाए जाएँ और वे प्रकाशक-संघ को योगदान दें।...राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह...कार्य को भी और आगे बढ़ाया जा सकता है।...प्रकाशन-व्यवसाय में कार्य करनेवालों की शिक्षा के कार्यक्रम को भी किसी-न-किसी रूप में आयोजित करना होगा।

—दीनानाथ मल्होत्रा

[३]

जबतक पुस्तकों की माँग कम है और उत्पादन अधिक, तबतक यह सम्भव है कि हमारे कुछ बन्धु व्यक्तिगत स्वार्थ में अन्धे होकर ऊँचे कोटेशन देते रहें और इस प्रकार अपने पैरों पर स्वयं कुल्हाड़ी चलाते रहें।...

—श्रीनिवास अग्रवाल, किताब महल

[४]

सच बात तो यह है कि नेट बुक समझौते के लिए जो प्रारंभिक कार्य होना चाहिए था और जिसे संघ ने करने के लिए आदेश दिया था, उसके बिना पूरा हुए ही हमने इसे पुस्तक-विक्रेताओं पर लाद दिया। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि पंजीबंधन करते समय प्रत्येक पुस्तक-विक्रेता के चुनाव के लिए जो कमेटी बनी थी, उसने न किसी का चुनाव किया और न हमने उसके निर्णय की अपेक्षा की।...दूसरे, क्षेत्रीय समितियाँ भी नहीं बन पायीं, जो पुस्तक-विक्रेताओं के नियन्त्रण के लिए परमावश्यक चीज होतीं।...पुस्तक-विक्रेताओं को, जिन्होंने किसी रूप में अपनी पूँजी लगा रखी है, अपना संघ बनाना चाहिए; चाहे वह अखिल भारतीय स्तर पर हो, चाहे क्षेत्रीय स्तर पर।... पुस्तक-विक्रेता यदि अपने और प्रकाशकों के हित में ऐसा संगठन नहीं तैयार करते, तो हम लोगों को अग्रसर होना चाहिए।...प्रकाशकों के छोटे-छोटे समूह ऐसे बनने चाहिए जो समान कमीशन के स्तर वाले हों और आपस में एक-दूसरे के प्रकाशन के वितरण की व्यवस्था विशेष रूप से करने के लिए तत्पर हों। इस तरह की पारस्परिक सहायता के रूप में प्रत्येक प्रकाशक का अपना विक्रय-केन्द्र भी बन जायगा और व्यापार के नियन्त्रण में सहूलियत होगी।

—वाचस्पति पाठक, भारती भंडार

[५]

नेट-बुक-समझौता का सिद्धान्त लागू करने की बात तय हुई, तब से संघ की स्थिति कमजोर होनी शुरू हो गई।...यह संस्था प्रकाशकों का मात्र संगठन है जिसके लगभग सभी सातों उद्देश्य प्रकाशकों से ही संबंधित व उन्हीं के लिए हितकर हैं। विक्री-संबंधी अनुबंध को छोड़कर पुस्तक-विक्रेता के ... की और किसी बात का समावेश नहीं किया गया, पर पंजीबद्ध सदस्यों के रूप में पुस्तक-विक्रेताओं की एक भीड़ एकत्र कर ली गई, जिनकी न कोई छानबीन की गई और न कराई जा सकी। इस तरह, पुस्तक-विक्रेताओं के सामने प्रकाशकों की संख्या नाम मात्र की रह गई। संघ के नियमों में प्रकाशकों पर कोई विशेष अनुबन्ध न लगाकर पुस्तक-विक्रेताओं को ही अनुबन्धित किया गया। 'प्रकाशकों' की परिभाषा स्पष्ट नहीं की गई, जिससे रुपये के बल पर कोई भी प्रकाशक बन सकता है, चाहे वह 'हनुमान चालीसा' जैसी दो-चार पुस्तकों का नियमित रूप से प्रकाशन करता हो। इस प्रकार, प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेताओं को एक साथ मिलाना एवं दोनों का सर्वांगी हित-साधन न कर विधान बनाना मूलभूत भूल हुई।....संघ का नाम 'प्रकाशक-संघ' न होकर 'अखिल भारतीय पुस्तक व्यवसायी संघ' होना चाहिए और विधान में लेखक, प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता आदि सबके हितों की रक्षा के नियम-उपनियम हों और सबको अनुशासन में अनुबन्धित किया जाय। ..पुस्तक के मूल्य के निर्धारण में यह ध्यान रखा जाए कि लागत के तिगुने अथवा चौगुने से अधिक मूल्य न रखा जाए। कमीशन के निश्चित नियम हों, जो बारह मास पुस्तकें बेचने वालों के लिए २५ प्रतिशत हो और थोक पुस्तक-विक्रेताओं के लिए ३३⅓ एफ० ओ० आर० होना चाहिए। इसमें किसी भी हालत में परिवर्त्तन न हो ——हाँ, नकद खरीद पर ढाई प्रतिशत अतिरिक्त कमीशन दिये जाने की व्यवस्था भी की जा सकती है। ...लेखक, प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता इन तीनों का एक सम्मिलित संगठन होना विशेष लाभप्रद हो सकता है, पर ऐसे संघ के साथ-ही-साथ इन तीनों को अलग-अलग अपने-अपने हितों का ध्यान रखते हुए इसी संघ के अधीनस्थ उपसंघ के निर्माण का भी मौका मिलना चाहिए। ....वर्तमान संघ में लेखकों को तो कोई स्थान ही नहीं दिया गया है और पुस्तक-विक्रेताओं को भी अपने विचारों को अधिकारपूर्वक रखने का मौका नहीं मिला। ....टेन्डर-प्रणाली को बन्द कराने के लिए तीव्र आन्दोलन और सर्वतोमुखी प्रयास किया जाए और जबतक संघ, सरकार से टेन्डर-प्रणाली समाप्त नहीं करवा सकता, तब-

तक निर्धारित कमीशन पर माल देने का नियम कोई महत्त्व नहीं रखता। इसी प्रकार २०-२५ पैसे मूल्य की १० पुस्तकों के खरीदार को २० प्रतिशत कमीशन देने का नियम उचित और दो हजार से लाख रुपये तक की एक-एक पुस्तक खरीदने वाले को १२½ प्रतिशत ही कमीशन देने का सुझावित नियम अनुचित—यह सिद्धान्त कोई वजन नहीं रखता। व्यक्तिगत खरीद पर ६⅔ प्रतिशत कमीशन की छूट का नियम भी किसी परिस्थिति में उचित नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार की कुछ भूलों को, जो मूल-भूत भूलें हैं, लेकर बने नियमों को पालन कराने पर जोर देने और उनको परिवर्त्तन कराने के सुझावों पर ध्यान न देने से संघ की जड़ें हिलीं।

—सरदारमल थानवी

[६]

संघ ने जो भी नाम कमाया है और जो शक्ति या धाक अर्जित की है, वह गौरव की बात है, किन्तु आज हमारा यह संगठन लगता है, जैसे संकट की स्थिति में से गुजर रहा है। यह एक सामान्य धारणा हो गई कि—

१. संघ की शक्ति छिन्न-भिन्न है, इसके पदाधिकारियों में पहले-जैसी क्रियाशीलता नहीं रही।

२. संघ जिन उद्देश्यों की घोषणा करता है, उन्हें क्रियान्वित करने-करवाने की क्षमता आज उसमें नहीं।

३. नेट-बुक-एग्रीमेंट को अपने कार्यक्रम और संगठन की धुरी बनाया गया, किन्तु उसी को तोड़ने में अधिकांश सदस्यों का हाथ रहा और एक-न-एक समय प्रायः सभी छोटे-बड़े प्रकाशकों का नाम इस संदर्भ में कमेटी में या बाजार में लिया गया। धुरी के टूटने का फल आज हमारे सामने प्रत्यक्ष है। संघ का शकट गतिहीन हो गया है।

४. संघ ने अन्य ऐसा कोई कार्यक्रम नहीं बनाया या क्रियान्वित नहीं किया जो संघ के सदस्यों को उनके व्यवसाय में लाभदायक होता या देश के हित में जिनका प्रभाव लक्षित होता।

निस्संदेह यह खेद की बात है कि जिस कार्यक्रम को आज तक संघ ने सर्वाधिक प्रमुखता दी थी, उसकी असफलता की घोषणा इतने दिनों बाद इसमें डूब जाकर करनी पड़ रही है, किन्तु शायद यही घोषणा संघ के अस्तित्व की सुरक्षा और आगामी प्रगति का प्रयाणबिन्दु बने।

व्यक्तिगत रूप से मैं अनुशासन-समिति के सदस्यों को बधाई देता हूँ कि उन्होंने संघ द्वारा दिये गए उत्तरदायित्व को निभाने का पूरा प्रयत्न किया और जिस निष्कर्ष पर पहुँचे, उसे साहस के साथ, सचाई के साथ, घोषित करने का निर्णय लिया। समिति आज भी किसी पुरानी परिपाटी की आड़ ले सकती थी और सिफारिश कर सकती थी कि ३१ मार्च तक के लिए नेट-बुक-एग्रीमेंट को निष्क्रिय रखा जाय। पर, क्या वह ईमानदारी की बात होती? क्या पहले जो किया गया वह अपने सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा की बात थी? आज की बात मैं जानता हूँ, पहले की बात नहीं।

अब हमारे सामने मुख्य विचारणीय प्रश्न यह है कि संघ का भविष्य क्या है? क्या हो? यदि आगे के लिए हमारे पास कोई प्रोगाम नहीं है, तो अच्छा यह है कि फिलहाल इसको समाप्त कर दिया जाय। प्रोग्राम तो है और हो भी सकता है, किन्तु यदि संघ को चलाने की इच्छा प्रमुख सदस्यों की या कार्यसमिति की नहीं है, तो भी इसे समाप्त कर देना ही अच्छा है। बीच का रास्ता एक हो सकता है कि कुछ बन्धु यह समझें कि संघ का नाम तो कायम रखना चाहिए, समाप्त कर देने से ठीक नहीं होगा, कम-से-कम सरकारी दफ्तरों में इसका नाम है, और प्रकाशकों का कुछ-न-कुछ हित होता ही रहेगा। मैं स्वयं इस मत का नहीं हूँ। इस प्रकार के प्राणहीन संघ की सदस्यता से सम्बद्ध रहना हममें से बहुत नहीं चाहेंगे।

मेरा कर्त्तव्य है कि मैं कुछ निर्माणात्मक बातें भी आपके सामने रख दूँ—

१. मैं मानता हूँ कि ध्वंस कर देना आसान है, निर्माण करना बहुत कठिन है। अतः, संघ का पुनर्निर्माण करना चाहिए।

२. प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं की सदस्यता के सिद्धांतों का ठीक-ठीक ढंग से प्रतिपादन होना चाहिए, ताकि ऐसे लोग सदस्य न हो सकें, जिनका प्रकाशन-व्यवसाय में कुछ विशेष स्टेक नहीं है या जिनके साधन इतने भी नहीं कि ढंगसिर की दूकान या पुस्तकों का सम्मानप्रद

स्टाक रख सकें। पिछले अनुभव के आधार पर उचित नियम बनाये जायँ ताकि उनके प्रति सदस्यों की आस्था हो। वर्तमान कार्यसमिति एक ऐसी उपसमिति का निर्माण कर दे, जिसके सदस्य इन अनुभवों के आधार पर संघ के लिए संशोधित विधान तैयार करें, कार्य-प्रणाली स्थिर करें। यह उपसमिति पहले सब सदस्यों से सुझाव माँगे कि संघ को पुष्ट करने के लिए और कार्य-पद्धति को निर्दोष बनाने लिए विधान में या नियमों में क्या सुधार अपेक्षित हैं। बाद में समिति निर्णय करके अधिवेशन में नया विधान या नये नियम प्रस्तुत करे। सदस्यता के नये नियमों के अनुसार तत्काल सदस्य बना लिये जायँ। उसी आधार पर नई कार्यसमिति का गठन अधिवेशन में हो।

३. नेट-बुक-एग्रीमेंट को समाप्त भी करना हो, तो उसके बाद बहुत-से काम रह जाते हैं, जिन्हें संघ को करना चाहिए और जो व्यवसाय के हित में हैं।

४. व्यवसाय के हित को प्राथमिकता देते हुए भी हमें प्रकाशन के उद्देश्यों को देश के हित से सम्बद्ध रखने के लिए क्रियात्मक उपाय सोचने चाहिए। व्यवसाय से लाभ उठाने के अतिरिक्त हमें व्यवसाय को ऊँचे स्तर पर ले जाने, प्रकाशनों को राष्ट्र की आवश्यकताओं, समाज के उत्कर्ष, ज्ञान की वृद्धि, सृजनात्मक साहित्य की रचना आदि उद्देश्यों के प्रति समर्पित करने की दृष्टि को यथोचित स्थान देना होगा।

५. पाठकों का निर्माण, उनकी रुचि का परिष्कार, पुस्तकों का प्रचार, व्यवसाय करने वालों का नियमानुकूल आचरण आदि के कार्यक्रमों की रूपरेखा तैयार करके उन्हें क्रियान्वित करना होगा।

६. संघ की पत्रिका इन उद्देश्यों की पूर्त्ति का साधन बने, ऐसी व्यवस्था करनी होगी। यह तभी हो सकता है, जब संघ स्वयं क्रियाशील हो। इसका कार्यालय व्यवस्थित हो। केन्द्र और राज्यों में इसका समुचित संगठन हो। सदस्य और अधिकारी जागरूक हों।

७. केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार, पुस्तकालय, निदेशालय, सरकारी और अर्द्ध-सरकारी संस्थाएँ पुस्तकों की बिक्री और प्रचार आदि के बारे में क्या नियम बनाते हैं, इसकी जानकारी संघ के सब सदस्यों को रहे। भारी आर्डरों की सम्भावनाएँ, पारस्परिक प्रतियोगिता को मात्र स्वार्थ के आधार पर ही न विभाजित कर दें, कोई पुष्ट आधार रहे, जो व्यवसाय के सामूहिक हित में हो।

हिन्दी-प्रकाशन के सामने जो अभूतपूर्व और विशाल व्यावसायिक हित की संभावनाएँ आज हैं और आगे होने जा रही हैं, उनसे लाभ उठाने का एकमात्र रास्ता दृढ़ और ईमानदार संगठन है। अन्यथा पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण अवश्यंभावी है, जो न लोकतंत्र के हित में है न व्यवसाय के।

मैं जानता हूँ, ऊपर लिखी गई बातें सिद्धान्तों की पुनरावृत्ति लगेंगी, किन्तु बिना इनको स्वीकार किये संघ की उन्नति की कामना दुराशा मात्र है—

- संघ की उपयोगिता और संघ के सिद्धान्तों के प्रति आस्था,
- अनुभव के आधार पर विधान और नियमों का संशोधन,
- कार्यालय की क्रियाशीलता,
- पदाधिकारियों की निष्ठा,
- कार्यक्रम की व्यापकता, व्यावहारिकता और पूर्त्ति—

ये संघ की तात्कालिक आवश्यकताएँ हैं। यदि इन्हें क्रियान्वित करने की इच्छा सदस्यों की है तो संघ को नई शक्ति और साहस द्वारा चलाना चाहिए अन्यथा········ जैसा आप सब बन्धु ठीक समझें।

—लक्ष्मीचन्द्र जैन, मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ

अ० भा० हिन्दी प्रकाशक संघ
लखनऊ-अधिवेशन

स्वागत-समिति

अ० भा० हिन्दी प्रकाशक संघ के निम्नलिखित पदाधिकारी स्वागत-समिति के लिये चुने गये हैं और अधिवेशन एवं प्रदर्शनी का स्थान "केसरबाग बारादरी" निश्चित किया गया है। अधिवेशन का प्रोग्राम दिनांक १८-४-६२ को निश्चित होगा। उसी दिन उसकी सूचना देंगें। "सेमीनार" पुस्तिका के लिये मैटर भी दिनांक १८-४-६२ को भेजेंगे। निमंत्रण-पत्र भेजे जा रहे हैं।

स्वागताध्यक्षा:—श्रीमती रानी रामकुमार भार्गव एम० एल० सी०; फोन नं० ३४३२

उपाध्यक्ष:—श्री बिशुनुनारायण भार्गव
श्री प्रेमनारायण भार्गव
श्री भृगुराज भार्गव
श्री नन्दकुमार अवस्थी
श्री नरोत्तम भार्गव

स्वागत-मंत्री:—श्रीमती प्रकाशवती पाल (विप्लव कार्यालय) २ शिवाजी मार्ग, फोन नंबर ३३६२

सहायक एवं प्रचार-मंत्री:—श्री उमाशंकर दीक्षित (राष्ट्रीय प्रकाशन मंदिर)

कोषाध्यक्ष:—श्री तेजनारायण टंडन (हिन्दी साहित्य भंडार) फोन नं० ६०३३

परिचर्चा

अखिल भारतीय प्रकाशक संघ का वार्षिक अधिवेशन इस वर्ष २६-३० अप्रैल को लखनऊ में होने जा रहा है। इस अवसर पर अन्य आयोजनों के साथ-साथ एक विशेष परिचर्चा का आयोजन भी किया गया है जिसका विवेच्य विषय है "हिन्दी में बाल-साहित्य तथा उसके लेखन तथा प्रकाशन की समस्याएँ।" इस परिचर्चा का सभापतित्व पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी तथा उद्घाटन शिक्षामंत्री आचार्य जुगलकिशोर करेंगे। इसमें लेखक, प्रकाशक तथा ऐसे प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री भाग लेंगे जिन्होंने बाल-साहित्य तथा मनोविज्ञान पर विशेष रूप से कार्य किया है।

पुस्तक-प्रदर्शनी

प्रकाशन-व्यवसाय के सामने इस समय कई समस्याएँ हैं जिनका समाधान इस अधिवेशन में प्राप्त किया जायगा और संघ एक नई आशा, नये बल एवं नये कार्यक्रम के साथ कार्य-क्षेत्र में अग्रसर होगा।

सम्मेलन के अवसर पर हिन्दी की साहित्येतर : उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता और आलोचना को छोड़कर : पुस्तकों की एक भव्य प्रदर्शनी करने का भी आयोजन किया गया है। उपयुक्त प्रकाशन निम्न पते पर भेजे जायँ—

श्री तेजनारायण टण्डन, संयोजक, स्वागत-समिति, द्वारा, हिन्दी साहित्य भण्डार, गंगाप्रसाद रोड, लखनऊ।

प्रदर्शनी के उपरान्त पुस्तकें स्वागत-समिति द्वारा यथावत वापस कर दी जायेंगी।

'भाषा' भारत सरकार के शिक्षा-मंत्रालय की एक त्रैमासिक पत्रिका है।... पहले अंक (अगस्त '६१) में ७ व्यक्तियों के चित्र छपे हैं, जिनमें राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री, एक स्व० मुख्यमंत्री तथा तीन केन्द्रीय मंत्री हैं। इस सरकारी परिवार के अतिरिक्त एक चित्र है, स्व० गौरीशंकर हीराचंद ओझा का। ऐसा प्रतीत होता है कि सरकारी पत्रिकाओं के वेतनभोगी सम्पादक, मंत्रियों तथा अन्य वरिष्ठ अधिकारियों के चित्र छाप कर या प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष उनकी गुणगाथा प्रकाशित कर उऋण होना चाहते हैं, या फिर सीढ़ियाँ चढ़ने के लिए उनकी कृपा का प्रसाद प्राप्त करना चाहते हैं। चापलूसी की यह प्रवृत्ति और फूहड़ ढंग सभी सरकारी प्रकाशनों में द्रष्टव्य है।

 —चेतन, कल्पना, १२७

—भारत सरकार ने पपुलर तथा जनरल पुस्तकों के हिन्दी में अनुवाद तथा प्रकाशन की एक योजना बनाई है। तत्सम्बन्धी नियमावली तथा पूरी जानकारी संचालक, हिन्दी निदेशालय, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, १५-१६, फैज़ बाजार, दिल्ली-६ से प्राप्त की जा सकती है।

इस योजना के अंतर्गत पुस्तकों के प्रकाशन के संबंध में निर्णय करने के लिए निदेशालय ने एक समिति नियुक्त की है। संघ की ओर से इस समिति में प्रतिनिधित्व करने के लिए कार्यकारिणी ने श्री कन्हैयालाल मलिक को मनोनीत किया है। इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की कठिनाई होने पर आप उनसे संपर्क स्थापित कर सकते हैं।

—केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय की एक विज्ञप्ति में आठवीं बाल-साहित्य पुरस्कार-प्रतियोगिता की घोषणा की गयी है। इस प्रतियोगिता में सब आधुनिक भारतीय भाषाओं में बच्चों की पुस्तकें और पाण्डुलिपियाँ भेजी जा सकेंगी।

उन पुस्तकों या पाण्डुलिपियों पर पुरस्कार दिये जाएँगे, जिन्हें सरकार बहुत श्रेष्ठ समझेगी। हर पुरस्कार १-१ हजार रु० का होगा और कितने पुरस्कार दिए जाएँगे, इसकी घोषणा बाद में की जाएगी। पुरस्कार की घोषणा करने के बाद भी बिना कारण बताए सरकार को उसे रोकने का अधिकार होगा।

जो लेखक या प्रकाशक अपनी पुस्तकें, पाण्डुलिपियाँ प्रतियोगिता में भेजना चाहते हैं, उन्हें पुस्तकों या पाण्डु-लिपियों की पाँच-पाँच प्रतियाँ १ मई, १९६२ तक भेजनी होंगी। पुस्तकों या पाण्डुलिपियों के साथ लेखकों को ३ रु० और प्रकाशकों को ५ रु० का खजाने का चालान भी भेजना जरूरी है।

आठवीं पुरस्कार-प्रतियोगिता के नियम तथा अन्य विवरण निम्न अधिकारी से प्राप्त करना चाहिए :

अधिकारी—एज्युकेशन ऑफिसर सेक्सन बी-३, मिनिस्ट्री ऑफ एज्युकेशन, भारत सरकार, नई दिल्ली।

—दूसरी लोकसभा का अन्तिम सत्र समाप्त होने से पूर्व सदन के हिन्दी साहित्य सम्मेलन विधेयक में हिन्दी साहित्य सम्मेलन को राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था घोषित किया गया है और उसके संचालन के निमित्त भी कुछ व्यवस्था निर्धारित की गयी है।

—पिछले दिनों राज्यसभा में पंडित नेहरू ने प्रश्नोत्तर के समय अपना मत व्यक्त किया कि वे भारत-विरोधी साहित्य, पत्र-पत्रिकाओं एवं चित्र, मानचित्रादि के भारत-आयात पर प्रतिबंध लगाने के पक्ष में नहीं हैं। उन्होंने कहा कि प्रतिबंध लगाने से संभवतः देश की अधिक हानि होती है।

—पश्चिमी व पूर्वी देशों में सांस्कृतिक संपदा का पारस्परिक परिचय बढ़ाने की यूनेस्को की नीति का अनुसरण करते हुए अब तक दस भारतीय ग्रंथों का इंगलिश व फ्रेंच भाषाओं में अनुवाद किया जा चुका है।

अनुवादित पुस्तकों में कालिदास का कुमारसंभव, कबीर की कविताएँ, रवीन्द्र का गोरा एवं श्रीराजगोपाला-चारी की काम्ब रामायण भी हैं।

इस समय यूनेस्को इंगलिश व फ्रांसीसी भाषाओं में अनुवाद के लिए ही सहायता प्रदान कर रहा है, परन्तु निकट भविष्य में अन्य योरोपियन भाषाओं में भी अनुवाद कराये जायेंगे।

दर्शन, धर्म, इतिहास के ग्रंथों के अनुवाद के अति-रिक्त हलके उपन्यासों, लघुकथाओं आदि के अनुवाद को प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

—साहित्य अकादमी प्रतिवर्ष की श्रेष्ठ पुस्तकों पर उनके लेखकों को ५-५ हजार रुपये पुरस्कार में देती है। इस वर्ष 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' नामक ग्रंथ पर महामहोपाध्याय गिरधर शर्मा चतुर्वेदी को, 'भूले बिसरे चित्र' पर श्री भगवतीचरण वर्मा को पुरस्कृत किया गया है। इनके अतिरिक्त पंजाबी की पुस्तक "इक म्यान दो तलवारां" पर पंजाबी के मूर्द्धन्य उपन्यासकार श्री नानकसिंह को पुरस्कृत किया गया है। उनका यह ऐतिहासिक उपन्यास अमरीका-प्रवासी भारतीय देशभक्तों द्वारा स्थापित गदर पार्टी के नेता कर्तारसिंह के जीवन और

कार्यकलापों पर आधारित है। असमिया भाषा की पुस्तक 'इयारुइगम' पर श्री वीरेन्द्रकुमार भट्टाचारी को, उर्दू की पुस्तक 'दीवान-ए-ग़ालिब' पर श्री इम्तियाज अली अर्शी को, बंगला की पुस्तक 'भारतेर शक्तिसाधना ओ शाक्त साहित्य' पर डॉ० शशिभूषण दास गुप्त को, गुजराती भाषा की पुस्तक 'कच्छनुं संस्कृतिदर्शन' पर श्री रामसिंह राठौर को, कन्नड़ भाषा की पुस्तक 'बंगाली कादम्बरीकार बंकिमचन्द्र' पर डॉ० ए० आर० कृष्णशास्त्री को, मराठी भाषा की पुस्तक 'डॉ० केतकर का जीवन-चरित्र' पर डॉ० गोखले को, कश्मीरी भाषा की पुस्तक 'नौरोज-ए-सबा' पर श्री रहमान राही को, उड़िया भाषा की पुस्तक 'अर्द्ध शताब्दी ओडिसा ओ तांहिरे मो स्थान' पर पंडित गोदावरी मिश्र को तथा तेलगु भाषा की पुस्तक 'आंध्र वागेयकार चरित्रम्' पर श्री रजनीकांत राव को पुरस्कृत किया गया है।

—भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से भारतीय भाषाओं की सर्वश्रेष्ठ घोषित कृति पर हर साल एक लाख रु० का पुरस्कार प्रदान करने का निश्चय किया गया है।

पुस्तकों का चुनाव करने के लिए यह तरीका सोचा गया है कि भारतीय भाषा की श्रेष्ठतम पुस्तक चुनने के लिए उक्त भाषा के विद्वानों की एक सलाहकार-समिति नियुक्त की जाय। उपर्युक्त पद्धति द्वारा भारतीय भाषाओं की चुनी हुई पुस्तकों में से श्रेष्ठतम कृति का चुनाव करने के लिए एक निर्णायक-मंडल की स्थापना होगी जिसमें राष्ट्रीय ख्याति के लगभग १२ विद्वान् होंगे।

भारतीय संविधान द्वारा मान्यताप्राप्त किसी भी भारतीय भाषा का हर जीवित लेखक, जिसकी कृति सर्वश्रेष्ठ समझी जायेगी, पुरस्कार प्राप्त करने का अधिकारी होगा।

एक लेखक को यह पुरस्कार एक ही बार दिया जायगा।

शिक्षा, पाठ्य और पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण अवांछनीय है

श्री रामलाल शालिहोत्र

शिक्षा, पाठ्य और पुस्तकों पर किसी भी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप या राष्ट्रीयकरण जैसी नीति के विरुद्ध माँग होनी चाहिए कि यह काम लोक के एतदर्थ उत्साह और स्वयंभू संगठनों के ही द्वारा चले। इस विषय में राज्य का उलटे यह काम मात्र होना चाहिए कि वह लोक के एतदर्थ उत्साह और स्वयंभू संगठनों के कार्यों में आई हुई अड़चनों को, उनकी ओर से माँग होने पर, दूर करे। शिक्षा, पाठ्य या पुस्तकों के राष्ट्रीकरण के विरुद्ध निम्नांकित तर्क हैं।

राष्ट्रीयकरण करने के पक्ष में दो बातें कही जाती हैं। पहली बात तो यह कि उससे पाठ्य-साधन, पुस्तकादि तथा पढ़ाई सस्ती कीमत की करना लक्ष्य होता है। दूसरी बात यह है कि प्रकाशकों और संस्थाओं के अधीन पाठ्य या पुस्तकें रहने से वह अनुत्तरदायी और भ्रष्ट होती हैं—और उन्हें ही रोकने के लिये सरकार वह सब अपने हाथ में लेती है। हम इन दोनों दलीलों को ठीक नहीं समझते। क्योंकि पहले तो सरकार-अधिकृत प्रकाशन, जो अब तक हुए हैं, और पाठ्य-पुस्तकें विचारों और सम्पादनों के नाते काफी छिछली देखी जा रही हैं—जैसा कि संस्थाओं और स्वतंत्र प्रकाशकों के अधीन कभी नहीं हुआ। इसका प्रत्यक्ष और सतर्क कारण भी यह है कि प्रकाशक और संस्था किसी भी हालत में अपने समाज, अपने ग्राहक, अपने क्षेत्र और सरकार तक से वैसी बेपरवाह नहीं हो सकतीं कि किसी कदर की धाँधली कर सकें, और दूसरे, उन्हें अपने ही मुकाबले की दूसरी संस्थाओं और प्रकाशकों से अपना उन्नत और अच्छा हवाला बनाए रखने की भी मजबूरी या पाबन्दी रहती है; क्योंकि इसी कारण उनका जीते रहना बना रह सकता है, और यही कारण है कि वे एक-दूसरे के मुकाबले बढ़-बढ़ कर अपने उत्पादन अच्छे-से-अच्छा दिया करते हैं। बल्कि, प्रकाशकों के द्वारा रद्दी और घटिया और एकांगी चीजों के इधर जो-कुछ उत्पादन होने लगे हैं, उसका कारण पुस्तकालय आदि की खरीद में सरकार की एकछत्रता ही है। यह बात छिपी नहीं है कि ऐसी थोक सरकारी हिदायत वाली खरीद में सरकार के ही किसी अधिकारी को मामूली लोभ में बहकाया जाता रहा है और तब ऐसी खरीद में अपने जो-सो सामान को धड़ल्ले से धकेला जाता रहा है। प्रकाशकों या संस्थाओं की अधिकारहीनता और अपने-आप सधने वाली सर्व-नैतिकता के नाते उनमें यह दोष कभी नहीं आ सकता, हाँ सरकार के एकाधिकार और पक्ष-नैतिकता में ही यह दोष हर प्रकार सम्भव है। सरकार का तत्संबंधी अधिकारी जब इस प्रकार की जिस-तिस खरीद या दाखिले को जारी करे तो पहले तो उसके अधिकार के विरुद्ध ऐसे बुराई के निवारण के लिए सुनवाई का चारा बहुत ही कठिन होता है और सुनवाई हुई भी तो सरकारी तौर-तरीके के कारण उसपर फैसला इतनी लम्बी देरी से होता है कि तबतक संबंधित दोषियों का बहुत अच्छा बन चुकता है कि जिसके मुकाबले उस दोष के विरुद्ध कोई फैसला इतना काफी तुच्छ हो जाय कि उससे दूसरों को भी ऐब करने का प्रोत्साहन प्राप्त हो, और इस प्रकार सारे पाठ्य और पुस्तकालय तबतक ओछे होकर अपने समझदार पाठकों में अपने प्रति या तो अश्रद्धा या अपने नासमझ पाठकों में एकांगी या रद्दी विचार काफी उत्पन्न कर देते हैं। खुले मुकाबले के कारण अपने को अच्छे-से-अच्छा बनाने वाला अवसर ही इससे ज्यादा अच्छा और स्थायी समझदारी का है। इसमें उत्पादक हर अंग और माँग को पूरा करने की नयी-से-नयी कोशिश करते हैं और यह कोशिश खासकर तब और आगे बढ़ती है जबकि उनकी किताबों की कोई सरकारी स्वीकृति न होकर सीधे हर चाहने वालों की खुली स्वीकृति हो। हर चाहने वालों की स्वीकृति जितनी आसानी से सभी अंगों को पूरा करती है, सरकार की स्वीकृति दलगत, एकांगी और वैसे अधिकारियों से मातहत, जिनकी कोई खुली माँग नहीं हो सकती है और जिनका मन एक खास गुजरे जमाने से बँधा चला आता है, होने के कारण

स्वभावतः उतनी आसानी से सभी अंशों की माँग नहीं पूरा कर सकती। और, यह बात भी साफ है कि हर प्रकाशक खुले मुकाबले में आकर अपनी चीजें उत्तरोत्तर उन्नत करने का जहाँ आग्रही होता है, वहीं बँधे हुए ढग की जैसी-तैसी सरकारी खरीद उसके इस अच्छे आग्रह को हमेशा-हमेशा के लिये तोड़ देती है। लेखक भी बड़ी तेजी से विचारों के अधकचरे खरीतों को बहुत-बहुत अददों में पुस्तकें बनाकर वैसे प्रकाशकों के द्वारा वैसी सरकारी खरीद की आलमारियाँ भरने में लग जाते हैं और तब लेखकों में भी कोई विकास या विवेक साधने वाला अभ्यास बाकी नहीं बचता। इस समय विचारों और आचारों में आयी हुई तंगनजरी या एकांगीपन का यही कारण भी है कि तमाम पाठ्य और पुस्तकालय वैसी ही किताबों से भरे पड़े हैं जिनमें कि विचारों का कोई खुला मुकावला या अनुसंधान न होकर लीक पर चलने भर की ही बातें हैं।

दूसरी बात यह कि पढ़ाई की पुस्तकें सस्ती कीमत पर मुहैया करने के लिए राष्ट्रीयकरण किया गया है—यह भी सिद्धान्ततः व्यर्थ ही है। राष्ट्रीयकरण की हुई दूसरी चीजों की भी दर न तो सस्ती हुई है, वल्कि संस्थागत उद्योग के मुकाबले मँहगाई के अनुपाततः भी कई गुना वढ़ी ही है और सबसे बुरी बात तो यह हुई है कि उनकी उत्तरोत्तर आगे बढ़ती हुई सर्वसुलभता ही पीछे हटते-हटते दुर्लभता की सीमा तक आ गई। पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण तो और भी अधिक इस बुरी स्थिति को पाये हुए है। अब तो इस बुरी स्थिति का अपवाद ही एक आश्चर्य की चीज हो उठा है। इसका कारण सैद्धान्तिक तौर पर तो वही है, जोकि अन्य राष्ट्रीयकृत व्यवसायों एवं व्यवहारों का है। किन्तु यहाँ और भी कारण हैं और वे बहुत पहले से लेकर बहुत बाद तक, बहुत बुरी तरह फैले हुए हैं। जैसे, सरकार सिलेवस जारी कर तो देती है, किन्तु उस सिलेवस का स्वयं पालन नहीं किया करती है, क्योंकि उसके गोदाम में पिछले सिलेवस के अनुसार बनी पुस्तकों का जो स्टाक होता है, उसका व्यापाराना मोह उसे यह उचित कार्य करने से रोक देता है। यही कारण है कि माप और मुद्रा की प्रणाली में वर्षों पहले बाजार में [illegible] करा कर भी सरकार गणित आदि की गंडा-पद्धति वाली अपनी वही पुरानी पाठ्य-पुस्तकें जारी किये हुए है।

इस विषय में यह समझ लेना आवश्यक है कि पुस्तकों और पाठ्यों का संबंध राष्ट्र के सभी विचारों एवं अनुसंधानों से तथा शिक्षा से है, न कि व्यवसाय से। और, इस समझ के विपरीत, सरकार का, अपने गोदाम में अँटे पिछले माल को खपाने की लालच में, नियुक्त सिलेवस जारी न करना, मात्र शिक्षा के प्रति व्यापाराना सलूक ही है। यदि पाठ्य-क्रम पर पुस्तकें प्रस्तुत करने में सरकार का एकमात्र हक न होता और सारे पुस्तक-व्यवसायी स्वतंत्र होते तो वे माँग के सिद्धान्त के अनुसार अपने पुराने स्टाकों का बोझ सहकर भी सिलेवस के अनुसार तत्काल पुस्तकें उपस्थित करते। हर बात की पढ़ाई के लिये सिले-बस का होना भी एक वेबुनियादी बात है। इससे हर शिक्षालयों और प्रकाशकों को, अनुसंधान या उन्नति की तैयारी करने तथा तदर्थ प्रतिस्पर्धी होने के बजाय, अनुकरणी हो जाना पड़ता है। हर शिक्षालय अपने शिक्षाविषय या उसकी प्रणाली के लिये स्वतंत्र हो और प्रकाशक नये-नये विचारों और मीमांसाओं की पुस्तकें तथा पाठ्य-साधन स्वतंत्रतापूर्वक उपस्थित करें तो देश भर को शिक्षा में नयी प्रतिष्ठाओं और शोधों का ताँता चले तथा हर विद्यार्थी को अपनी रुचि के योग्य विद्यालय और पाठ्य चुनने में बाहुल्य का सुन्दर बोध हो। प्रारम्भिक गणित और भाषाभ्यास जैसे खास पावन्द विषयों तक तो सिलेवस की पाबन्दी उतनी नहीं अखरती, मगर जब इस भाषा और गणित के द्वारा कुछ प्राप्ति वाले विषयों तथा विचारों की बात आती है तो सिलेवस सिर्फ पुराने सिक्के ढालनेवाली एक जाकड़ मशीन भर लगता है, जोकि सरकार के बँधे-बँधाये कामों को किरानीगिरी जैसी हैसियत के आदमी भुनाने के ही लायक बहुत बाजारू बात हो जाता है। होना तो यह चाहिए कि हर शिक्षालय विषय-पढ़ाई के केवल उत्तरोत्तर पढ़ाने के अपने-अपने योग्य स्तर स्वतंत्रतापूर्वक बना लें और प्रकाशक जो पाठ्य-योग्य चीज प्रस्तुत करें, उसे उस-उस स्तर की शिक्षा में लेने में स्वतंत्र हों तथा विद्यालय जो-जो नये अनुसंधान या प्रयोग अथवा अपने [illegible] द्वारा नये विचार प्रकाशित करें उन्हें

पुस्तक-प्रकाशक ग्रहण कर ग्रंथरूप दें। पुस्तक-प्रकाशकों और शिक्षाशालाओं की इस उन्नत कड़ी के बीच, सहज उत्पन्न पारस्परिकता के बीच, किसी और बाह्य तत्त्व का, और खासकर राजनीति और उसकी दलपोषित सरकार का आना अध्ययन की सामर्थ्य पर चोट पहुँचानेवाली बहुत बड़ी व्यर्थता है। इस नाते, सरकार की ओर से जारी सिलेबस तक एक व्यापाराना चीज के सिवा और कुछ नहीं है। आज किसी भी विषय की पढ़ाई के लिए स्तरशः पुस्तकों का न तो अभाव हैं, बल्कि यदि पुस्तक-प्रकाशकों और विद्यालयों को सिलेबस जैसी खानापूरी का पाबन्द नहीं किया जाय तो स्तरशः पुस्तकों और पाठ्यों में उत्तरोत्तर बाहुल्य ही आवे, और न तो पढ़ाने का अनुभव और पेशा रखने वाले विद्याव्यसनी ही इतने अयोग्य हैं कि वे पढ़ाई का उत्तरोत्तर ढंग न समझ पायें, बल्कि इस विषय में राष्ट्रीयकरण करने वाली सरकार ही योग्यता का दावा करने का कोई हक नहीं रखती है। यहाँ स्पष्टतः तीन बातों के अन्तर को समझ लेना उचित होगा। वे बातें हैं : शिक्षा, सरकार और व्यापार। तीनों साफ अलग-अलग चरित्र की चीजें हैं। यदि सरकार शिक्षा और पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण कर लेती है तो तीनों एक चीज और एक चरित्र हो जाते हैं। तब सरकार अपने व्यापार के लिये शिक्षा और अपनी शिक्षा के लिए व्यापार करने लगती है। सिद्धान्त तो यह है कि सरकार को न व्यापार में पड़ना चाहिए और न शिक्षा में, तथा शिक्षा और व्यापार दोनों ही दो विरोधी दिशाओं की वस्तु हैं। पुस्तक-प्रकाशन का उद्योग केवल अपने लोगों की रोजी-रोटी भर ही व्यापार है—नहीं तो वह केवल और प्रमुखरूप में शिक्षा-साधन ही है। राष्ट्रीयकरण करने के मामले तथा कर आदि के मामले में तो सरकार इस व्यवसाय से व्यापार का सलूक करती है, मगर जहाँ इन्डस्ट्री इत्यादि व्यापाराना मामलों में सहायता देने का प्रश्न आता है, वहाँ इसे दूसरी इन्डस्ट्रियों जैसा व्यापार वाला दर्जा तक नहीं देती।

शिक्षा और पाठ्य सारे देश के लिए उन्मुक्त और एक जैसा प्राप्य तो क्या, अब सारे विश्व के लिए भी एक जैसा प्राप्य हो चला है। जो जिस विषय पर जितना जानना और पढ़ना चाहता है, सारे विश्व के विश्वविद्यालय उसको वह देने के लिए खुले हुए रहने चाहिये—आज के विश्व-शिक्षा-संस्कृति-संघटन का यह लक्ष्य है। किन्तु, विश्व की बात तो क्या, अपने इस देश में ही विभिन्न राज्यों के किस्म-किस्म के स्तरवाले राष्ट्रीयकरण ने शिक्षा पर पाबन्दी करने के साथ-साथ उसे एक जैसा मुहैया करने के बजाय किस्म-किस्म का मुहैया कर दिया।

धान कूटते हुए भी शिव के गीत गाना हमारे संस्कार में है।...थोड़ी-सी खड़े होने की जगह पाने के लिए ये लोग इधर एक के पाँव पर पड़ते हैं और उधर दूसरे के पाँव पर पड़ते हैं, लेकिन केवल ये एक काम करने में बिलकुल असमर्थ हैं कि मनोराज्य में अपने पाँव पर ही अपना वजन देकर खड़े हों। यह मानसिक कापुरुषता जितनी ही कॉमिक है उतनी ही ट्रैजिक भी है। और, यह कॉमिक-ट्रैजिक जो हो, किन्तु इस रोग की सृष्टि की है हमारे विश्वविद्यालयों ने। बुद्धि को मार कर विद्या को बढ़ाये जाने पर इस अनर्थ की सृष्टि तो होगी ही।...जो लोग किसी एक आर्ट की चर्चा में व्यस्त हैं—समाज की विराट उपेक्षा के अंदर समाज के प्रति वीतराग हो जाने की संभावना उनके प्रति ही अधिक है। ऐसी स्थिति में उनके मन को दो-चार रसिकों की सहानुभूति ही स्वस्थ रख सकती है। और, इसके अलावा, हृदय के साथ हृदय के मिलन की तुलना में मन के साथ मन के मिलन का प्रयोजन मनुष्य के लिए किसी कदर कम मूल्य का नहीं है।

—*प्रमथनाथ चौधुरी*

अ० भा० हिन्दी प्रकाशक-संघ का प्रस्तावित विधान : एक समीक्षण

श्री बलराम

२९–३० अप्रैल को लखनऊ में होने वाले अ० भा० हिन्दी प्रकाशक संघ के अधिवेशन में प्रस्तुत होने वाले विधान के प्रारूप पर एक दृष्टि देते हुए कुछ कहना आवश्यक हो गया है। कहा गया है कि यह प्राप्त सुझावों को समाहित कर बनाया गया है। यह प्रसन्नता की बात है कि १९५९ से जारी विधान के मुकाबले यह प्रारूप काफी संक्षिप्त है। किन्तु, साथ ही यह शिकायत भी है कि इस संक्षेप के कारण वह जरूरत से ज्यादा रूढ़ भी हो गया है। पिछले विधान में जहाँ सदस्य-दाखिले के लिए 'प्रवेश-उपसमिति' थी, कि किसे प्रकाशक मानकर उसे सदस्य बनाया जाय, वहाँ अब यह रूढ़ कर दिया गया है कि 'प्रकाशक' वह है जोकि साल में कम-से-कम पाँच-पाँच पुस्तकें लगातार प्रकाशित करता रहे और 'विक्रेता' वह है जो कम-से-कम पाँच हजार रुपयों का स्टाक रखता हो। यह जरूर ठीक हुआ है कि विक्रेता और प्रकाशक को इस तरह परिभाषित किया गया है। मगर, इस परिभाषा में भी जोड़-घटाव करना पड़ेगा। प्रकाशक पुस्तकों का ही क्यों, पत्र-पत्रिकाओं का, जो कि अहम प्रकाशन है, क्यों नहीं ? ऐसे ही, 'पुस्तकें' प्रकाशित करने से प्रकाशक तो हुआ, किन्तु वे पुस्तकें 'हनुमान चालीसा', कुंजी, कौन क्या कहाँ—आदि शीर्षकों की भी हो सकती हैं। 'पुस्तक' की परिभाषा करना इसलिए भी जरूरी है कि ब्लाकों की सप्लाई या पुस्तकालयों की सप्लाई में बड़े घटिया किस्म के, और कहीं इसका व्यवसाय नहीं करने वाले वक्ती प्रकाशक हो रहे हैं; जो पाँच तो क्या पचीसों ४८–४० पृष्ठ की एक-डेढ़ रुपया दाम की पुस्तकें निकाल रहे हैं। इस नाते, परिभाषा को और स्पष्ट करना जरूरी है, और साथ ही 'प्रवेश-उपसमिति' जैसी चीज का रखना भी जरूरी है।

प्रकाशन-कार्य करने वाली सार्वजनिक संस्थाओं को निःशुल्क सम्मानित सदस्य बनाने की बात इस प्रारूप में है। मगर, यह साफ हो जाना चाहिए कि उनके अधिकार क्या होंगे। इसके साथ, उनके साथ केवल 'प्रकाशन का कार्य' की शर्त्त न होकर 'व्यवसाय' करने की भी शर्त्त होनी चाहिए। यह भी सोच लेना चाहिए कि कमीशन-नियमन जैसी कोई आगामी बात में ये 'सम्मानित' शरीक होंगे कि नहीं, और अगर नहीं शरीक हुए तो संघ अपने सदस्यों से इनके साथ क्या व्यावसायिक अनुशासन बरतने को कहेगा या कह सकेगा। कारण, ऐसी संस्थायें अधिकतर सरकारी-अर्धसरकारी हैं और अपने-अपने विधान-विशेष में बँधी हुई हैं। और, उस अपने विधान के मुकाबले संघ के विधान को तरजीह नहीं देनेवाली हैं। एक खास बात यह और समझ लेनी चाहिए कि यदि संघ को राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध आन्दोलन करना पड़ेगा ही, तो इन संस्थाओं का, जोकि राष्ट्रीकरण के कदम के बतौर ही हैं, संघ की रीति-नीति से क्या सम्बन्ध होगा।

सदस्यता के संबंध में कहा गया है कि 'प्रकाशन-संस्थाओं को ही सदस्य माना जायगा' मगर 'प्रकाशन-संस्था' मात्र कहने से यह शक बना रह जाता है कि वे अव्यावसायिक हितकारिणी भी हो सकती हैं।

२५ सदस्यों की कार्यसमिति होगी, जिसे सम्मानित और प्रकाशक सदस्य मिलकर बनाएँगे। मगर, सम्मानितों का कुछ अनुपात नहीं कहा गया। इसकी बैठकों का कोरम ७ का होगा, और फिर कहा गया है कि एक घंटे तक प्रतीक्षा करने पर सात व्यक्ति भी न जुटें तो पाँच व्यक्ति भी सारी कार्यवाही तय कर सकते हैं और वह ठीक मानी जायगी। इसपर इसे यह भी सहूलियत है कि पत्राचार के मत पर भी यह प्रस्ताव स्वीकृत कर लेगी। आगे यह भी कहा गया है कि जहाँ कार्यालय होगा, कार्य की सुविधा की दृष्टि से, पदाधिकारियों में से तीन तो उसी स्थान के होने चाहिए। अब जरा कार्यकारिणी की मात्र व्यक्तिनिष्ठ सर्वसत्तात्मक शक्ति का अन्दाज लगाया जाय। पहले तो तिहाई से भी कम की सात की कोरम संख्या, दूसरे उस सात में भी पाँच की

संख्या को उचित ठहराते हुए रियायत, तिसपर भी अपने प्रस्ताव के पक्ष में अनुपस्थितों द्वारा भी मत माँग लेना—यह सब किसी भी तीन आदमी के गुट के हाथ में सारे संगठन को सौंप देने के सिवा और क्या बात है। कार्यकारिणी के तीन अधिकारी आदमी तो केन्द्रीय स्थान के होंगे ही, और पाँच में जब बैठक चल जाती है, तो उसमें इन तीनों के पक्ष का बहुमत तो बना-बनाया ही है। चाहिए तो यह कि केन्द्रस्थान के व्यक्तियों के कार्यकारिणी में रहने-न-रहने की कोई चर्चा न हो, जो कोरम निश्चित है उसकी संख्या में कोई रियायत न हो और प्रस्ताव के पक्ष-विपक्ष में डाक द्वारा मत देने की सहूलियत कार्यकारिणी के किसी भी सदस्य को न दी जाय। प्रस्तावित विधान की इन रियायतों से प्रक्रिया में एक खतरा है। उदाहरण देता हूँ। मान लीजिए कि रेलवे-विभाग ने पुस्तक खरीदने के मामले में संघ से पाँच-सात प्रतिनिधि माँगे। कार्यकारिणी को प्रतिनिधि चुनना है, और इस चुनाव वाली बैठक में पाँच ही आदमी आए। इनमें तीन अधिकारी तो विधानतः स्थानीय ही हो गये। इन तीनों ने कोई साँठ-गाँठ कर अपने व्यापारिक पक्ष के उन पाँच-सात आदमियों का नाम रखा जिन्हें रेल-विभाग को राय देने जाना है। बैठक के बाकी दो विरोध भी करें, तो बहुमत के बल पर ये तीन तो अपने पक्ष का प्रस्ताव पास करा ही लेंगे। इस प्रसंग में एक और भी खतरनाक उदाहरण देखा जाय। संघ से संबद्ध विक्रेताओं के पालन-योग्य नियम-उपनियम बनाने का तमाम अधिकार इसी कार्यसमिति को है। चाहे कितने भी पुस्तक-विक्रेता संघ से संबद्ध हों, मगर उनका कोई अनुपात न होकर, केवल उन विक्रेताओं में से पाँच ही व्यक्ति कार्यसमिति में सहयोजित होंगे। अब मान लीजिए कि कार्यकारिणी के केन्द्रस्थित उन तीनों अधिकारियों की यह नीयत हो कि सहयोजित होनेवाले पाँचों ही विक्रेता उन्हीं के गुर्गे हों, तो कोरम की पाँच सदस्यों वाली रियायत का लाभ उठाकर वे, बाकी दो के विरोध होने पर भी, अपने गुर्गों को कार्यसमिति में ले ही लेंगे।

पदाधिकारी और उनके कार्य से संबंधित धारायें भी बड़ी विचित्र हैं। कार्यसमिति के चुनाव के लिए सदस्य प्राथमिकता के हिसाब से क्रमांक देकर अपना मत-पत्र देंगे। और, प्रस्तावित में सबसे अधिक प्राथमिकता जिसे मिलेगी वह सभापति मान लिया जायगा। अब प्रश्न होता है कि विधानतः यह मत तो कार्यकारिणी के सदस्यों को चुनने के लिए लिया गया, न कि पदाधिकारी के। मान लीजिए, कोई मतदाता किसी को सर्वप्रथम कार्यसमिति में तो भेजना चाहता है, और शायद इसलिए कि वह उसके मत से विरोधी-पक्ष का पार्ट करने के लिए सर्वोत्तम है और इसीलिए वह उसे सभापति नहीं बनाना चाहता, मगर प्राथमिकता देने के कारण जो वह नहीं चाहता विधान वही कर देता है; यानी वह सभापति हो जाता है। दूसरी बात यह कि जब उत्युच्च मत पानेवाला स्वतः सभापति हो जाता है, तो उससे कम और फिर उससे कम मत पानेवाले को क्रमशः स्वतः उपसभापति, मंत्री, उपमंत्री नहीं बनने देने का क्या अर्थ? प्रधानमंत्री के कार्य के संबंध में कहा गया है कि वह कार्यसमिति और अधिवेशन की बैठकें बुलाया करेगा। यहाँ कार्यसमिति की बैठक बुलाने की बात तो जँचती है, मगर अधिवेशन की बैठक, चाहे वह विशेष माँग पर बुलायी हुई हो, कार्यसमिति को ही बुलाना चाहिए। आखिर उस अधिवेशन का एजेन्डा वगैरह तो मंत्री नहीं ही तय कर सकता है; तो फिर उसके द्वारा उसकी बैठक क्योंकर बुलायी जा सकेगी। विशेष माँग के अधिवेशन के आगे मामला उपस्थित करना भी तो अकेले मंत्री के निर्णय की चीज नहीं है; उसपर तो सारी कार्यसमिति को ही निर्णय करना चाहिए। इस धारा का तो यह भी अर्थ लग सकता है कि मंत्री को यह हक मिल गया कि वह अधिवेशन बुला ले और उसके पहले कार्यसमिति की बैठक न भी बुलावे और इस तरह कार्यसमिति अधिवेशन होने तक से असूचित छोड़ दी जाय। कोषाध्यक्ष के लिए कहा गया है कि वह आय-व्यय-परीक्षक द्वारा जाँच कराई गई अपनी रिपोर्ट कार्यसमिति के या अधिवेशन के सम्मुख उपस्थित करेगा। अब प्रश्न होता है कि उसका आय-व्यय-विवरण केवल कार्यसमिति के ही आगे क्यों नहीं उपस्थित होगा, कि कार्यसमिति उसपर विचार कर, मंत्री के विवरण के साथ जोड़कर, अधिवेशन में विचारार्थ

रखे। 'कार्यसमिति या अधिवेशन' में विवरण उपस्थित करने का कोषाध्यक्ष को अधिकार दिए जाने का तो यह भी अर्थ होता है कि कोषाध्यक्ष चाहे तो कार्यसमिति की तरफ से उससे विवरण चाहने की माँग होने पर भी वह कार्यसमिति की अवहेलना यह कहकर करे कि वह उसे विवरण नहीं देकर अधिवेशन को देगा।

इस प्रारूप में संघ का एक उद्देश्य है: "लेखक, प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेताओं के पारस्परिक सम्बन्धों में सामंजस्य स्थापित करना"। यही बहुत बड़ा उद्देश्य है। किन्तु लेखक को छोड़ भी दिया जाय; केवल व्यवसाय के बहुमत-वर्ग विक्रेता को ही लिया जाय, तो विधान ही उसके मामले में सामंजस्यहीन है। धारा ६ (अ) के अनुसार यह तो पता चलता है कि संघ से संबद्ध पुस्तक-विक्रेताओं के पालन-योग्य सारे नियम-उपनियम कार्य-कारिणी बनाएगी। मगर, सारे विधान में विक्रेताओं के सम्बद्ध होने की शर्त का कहीं बखान नहीं किया गया है। ऐसा जानबूझ कर किया जा सकता है कि वे शर्तें इतनी अनुदार हों कि उनको प्रकट करने पर विक्रेता संघ से भड़क उठें। दूसरे, चाहे लाखों विक्रेता सम्बद्ध हों, और वे होंगे ही, क्योंकि व्यवसाय के अल्पतमसंख्यक होकर भी प्रकाशकों का यह संघ उनपर कुछ व्यवहार की ऐसी शर्त्तें और नियोजनों से पेश आयगा कि उन्हें मानने पर ही उनका श्रेय होगा, तो भी उन सम्बद्धों के केवल पाँच प्रतिनिधि ही कार्यसमिति में सहयोजित होंगे। इसके अलावा उनके लिए और कोई बात नहीं है।

इस प्रारूप में बड़ी गलतफहमियों वाली बातें भी हैं। मसलन, कार्यसमिति के सात सदस्य लिखित आवेदन कर विशेष अधिवेशन बुला सकते हैं। अब इसमें यह बात साफ नहीं की गई है कि इन सात लोगों में सारे मता-धिकार का हक रखने वाले सहयोजित पाँच पुस्तक-विक्रेता भी आते हैं कि नहीं। संघ की सारी सदस्यता के दो-तिहाई लोग भी विशेष अधिवेशन बुला सकते हैं— यह भी प्रारूप है। इसका अर्थ तो यह साफ ही हुआ कि सारे सदस्यों के मुकाबले कार्यसमिति को अधिक एकाधिकार है। कार्यसमिति के कोई भी सात सदस्य जब अधिवेशन बुलाने का अधिकार रखते हैं, तो उन्हें हरदम, साल में १२-१४ बार तक अधिवेशन बुलाने का हक मिल जाता है; जबकि साधारण सदस्यों को दो-तिहाई की शर्त्त में कस कर कभी भी अधिवेशन न बुला सकने की स्थिति दे दी गई।

ऐसे ही, यह तय कर दिया गया है कि केन्द्रीय कार्यालय दिल्ली में ही रहेगा और कार्यसमिति के तीन प्रमुख पदाधिकारी भी दिल्ली के ही होंगे, और केन्द्रीय कार्यसमिति चाहे तो उपयुक्त स्थानों में उपकार्यालय भी खोले जा सकते हैं। अब उपकार्यालय के 'उपयुक्त' कौन स्थान है—इसका निर्णय लेने में भी पक्षपात की यह गुंजाइश रहती ही है कि कार्यसमिति के पाँच संख्यावाले कोरम के तीन जनों का बहुमत तो दिल्लीवालों का ही है, और वे जिसे 'उपयुक्त' कहेंगे वही उपयुक्त होगा।

इसके अलावा, कार्यसमिति के कार्य, अधिवेशन के कार्य, सहयोजितों के अधिकार वगैरह को साफ-साफ बताने की कोई उपधारायें यहाँ नहीं हैं। यह बहुत ही शंकास्पद स्थिति है, जिसमें कि कार्यकारिणी पूरी छूट के साथ मनमानी कर सकती है।

उद्देश्य में भी सरकार के साथ प्रकाशन-उद्योग के सम्बन्ध और शिक्षा, साहित्य एवं प्रकाशन-संबंधी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के सवाल पर कोई स्पष्टीकरण नहीं है।

यदि संघ को स्थायी रूप से संगठित रहना है और लेखक-प्रकाशक-विक्रेता की सुदृढ़ भित्ति पर देश को आगे बढ़ाना है, तो विधान ऐसा सुविचारित और अच्छा होना चाहिए कि उसमें किसी को गुट बनाकर अधिकृत हो जाने की गुंजाइश न हो और पदे-पदे संशोधन एवं परि-वर्धन का सवाल न झेलना पड़े। साथ ही, या तो संब-द्धता की शर्त्त ही किसी के साथ न हो, और अगर हो तो उस सम्बद्ध-वर्ग के साथ सहयोग एवं सहूलियत को साफ-साफ रखा जाय।

विधान के छोटे होने का गुण, तब गुण नहीं माना जाकर दोष ही माना जायगा, जबकि उसमें परिभाषिता के बजाय बिखराव जैसा अनगढ़पन हो।

विधान के इस प्रारूप में वह सब ऐब है।

आकाशवाणी पटना से प्रसारित कविसम्मेलन

श्री विचारकेतु

१. हिन्दी कवि-सम्मेलन

गत मार्च महीने में रेडियो-सप्ताह के अन्तर्गत आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से विशेष कार्यक्रम प्रसारित किये गये। इसी क्रम में पटना-केन्द्र ने अन्य वर्षों की भाँति इस वर्ष भी हिन्दी कवि-सम्मेलन प्रसारित किया, जिसमें बिहार तथा अन्य राज्यों के कवियों ने भाग लिया। यह कार्यक्रम १३ मार्च को आकाशवाणी के प्रांगण में रेडियो-सप्ताह के लिए विशेष रूप से निर्मित पंडाल में आमंत्रित श्रोताओं के सामने सम्पन्न हुआ। [मुझे पता नहीं है, आकाशवाणी द्वारा अपने विशेष कार्यक्रमों में किस आधार पर लोगों को आमंत्रित किया जाता है, किस प्रकार के लोग वहाँ की 'विशेष सूची' में सम्मिलित किये जाते हैं, क्योंकि स्थानीय साहित्यिकों में भी आकाशवाणी ने अपनी वर्गभेद की नीति अपना रखी है। अस्तु।] इस हिन्दी कवि-सम्मेलन में भाग लेने वाले कवि थे—सर्वश्री वालकृष्ण राव, 'बेढब' बनारसी, डॉ० शम्भुनाथ सिंह, नागार्जुन, जानकीवल्लभ शास्त्री, हंसकुमार तिवारी, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', रामदयाल पांडेय, रामगोपाल 'रुद्र,' भोलानाथ 'बिम्ब,' चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा', पोद्दार रामावतार 'अरुण', कन्हैया और ब्रजकिशोर 'नारायण'।

कवि-सम्मेलन का प्रारम्भ कन्हैया की एक रचना से हुआ। 'सागर, लहरें और मनुष्य' में मात्रा-दोष एवं स्वर का अस्वाभाविक खिंचाव बरबस अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करता था। ऐसा लगता है, कवि-सम्मेलनों में मुक्तक का पढ़ना अनिवार्य कर दिया गया है। कन्हैया ने भी मुक्तक पढ़े, पर वह ऐसा नहीं रहा जिसकी प्रशंसा की जाय। भोलानाथ 'बिम्ब' ने गीत प्रस्तुत किये, पर कन्हैया की तरह स्वर के अस्वाभाविक आरोह एवं उच्चारण-दोष ने उनका भी पीछा नहीं छोड़ा। पोद्दार रामावतार 'अरुण' के 'सृजन-संवेश' में कल्पना की उड़ान के साथ-ही-साथ शुष्क दर्शन भी था। डॉ० शम्भुनाथ सिंह की कविता 'अमृतपुत्र का प्रश्न' विचार एवं अभिव्यक्ति की दृष्टि से उत्तम थी। उन्होंने एक गीत भी सुनाया—'पाहुन दो दिन का'—जो अनुनासिकता के बाहुल्य के बावजूद सफल रहा। रामगोपाल 'रुद्र' द्वारा प्रस्तुत 'साजन के ढिग कैसे जाऊँ' मुझे रुदन के अलावा और कुछ भी नहीं लगा। चंद्रमुखी ओझा 'सुधा' ने गीत प्रस्तुत किये—

> रात नभ से धरा पर उतरने लगी,
> प्राण, सुधियाँ तुम्हारी सिसकने लगीं।

इसमें शक नहीं, 'सुधा' गीत अच्छा गा सकती हैं—इतना अच्छा गा लेती हैं कि श्रोताओं को यह सन्देह हो सकता है कि वे सरल कंठ-संगीत सुन रहे हैं, पर गीत के लिये गेयता ही सब कुछ तो नहीं! भावों में छिछलापन नहीं होना चाहिए। रामदयाल पांडेय की 'चन्द्र-यात्रा' उल्लेखनीय नहीं रही। 'बेढब बनारसी' ने सदा की भाँति अपने मुक्तकों से स्वस्थ हास्य एवं मनोरंजन प्रस्तुत किया। ब्रजकिशोर 'नारायण' अपने द्वारा छोड़े गये 'तीन तीर' में बार-बार स्वयं व्यंग्य की उक्ति दुहराने के अलावा और भी कुछ कर रहे थे? वे जब भी अपनी कविताओं का पाठ किया करते हैं, मुझे अनायास ही उनसे सहानुभूति होने लगती है। नागार्जुन ने दो कवितायें पढ़ीं—'थी तलहटी हजार बाँहों वाली' और 'फागुन के बीचोबीच'। इन दोनों कविताओं की चित्रात्मकता उल्लेखनीय है। हंसकुमार तिवारी की कविता थी—'रात सितारों ने बात की'। अच्छा होता, तिवारीजी कोई गीत ही प्रस्तुत करते। जानकीवल्लभ शास्त्री ने दो बहुत ही सुन्दर गीत प्रस्तुत किये 'मेरी प्यास' और 'तुम कहाँ हो?' केदारनाथ

मिश्र 'प्रभात' गीत द्वारा उत्पन्न वातावरण को तोड़ नहीं पाये। सबके अंत में बालकृष्ण राव आये। इनकी रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय रहीं। आधुनिक सारी विशेषतायें इनकी कविताओं में एक साथ मिलीं।

कवि-सम्मेलत में पढ़ी गयी कविताओं में दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों की झलक मिली—जीवन के प्रति स्वस्थ आशावादी दृष्टिकोण एवं निराशावादी दृष्टिकोण।

२. लोकभाषा-कवि-सम्मेलन

३१ मार्च को चौपाल-कार्यक्रम में सायंकाल सवा ६ बजे लोकभाषा-कवि-सम्मेलन प्रसारित किया गया। मगही, भोजपुरी और मैथिली भाषा के कुल ६ कवियों ने इसमें भाग लिया। ये थे सर्वश्री मृत्युंजय मिश्र 'करुणेश', वसन्तकुमार, गोपालजी झा 'गोपेश', सत्यदेव शान्तिप्रिय, मधुकर सिंह, काशीकांत मिश्र 'मधुप', श्रीकान्त शास्त्री, हरेन्द्रदेव नारायण और चन्द्रनाथ मिश्र 'अमर'।

सर्वप्रथम मृत्युंजय मिश्र 'करुणेश' ने मगही कविता 'जब से पहुनवा बसल परदेसवा' में विरहिणी नारी का सुन्दर चित्रण किया। नये चित्रों की बुनावट में ये सफल रहे पर पाठ-दोष से बच नहीं पाये। वसन्तकुमार ने भोजपुरी रचना 'बसन्त' प्रस्तुत की। 'आइल बसन्त के लहरिया गूजरी, मधु से माती गईल भीतर बहरिया गूजरी'—वसन्त का चित्रण या स्वयं वसन्त भी इतना नीरस हो सकता है, यह मैंने पहले नहीं जाना था। एक बात और। पता नहीं क्यों वसन्तकुमार ने हमेशा 'गूजरी' को 'गूंजरी' की तरह उच्चारण किया। हाँ, इन्होंने पवन की कई सुन्दर उपमायें दीं। गोपालजी झा 'गोपेश' की मैथिली कविता 'ताहि देश के प्रतिनिधि छी हम' में मिथिला के रीति-रिवाजों का वर्णन सुन्दर तो अवश्य था, परन्तु हो सकता है, वाणी में ओज के कारण या और किसी कारणवश मुझे यह कविता गर्वोक्ति-सी लगी।

पहले मगही, उसके बाद भोजपुरी और फिर मैथिली इसी क्रम से कविताओं का पाठ हो रहा था। सत्यदेव शांतिप्रिय ने दो मगही कवितायें प्रस्तुत कीं—'बीतल फागुन' और 'आयल चैत'। पहली कविता 'धानी धरती के अँगना में बौरायल फागुन आयल हल' नयी उपमाओं एवं स्पष्ट पाठ के कारण अच्छी लगी, पर 'आयल चैत' के पाठ-दोष ने पहली कविता द्वारा उत्पन्न सारे वातावरण को नष्ट कर दिया। अगर शांतिप्रियजी एक ही कविता पढ़ते तो ज्यादा अच्छा रहता। मधुकर सिंह ने भोजपुरी में 'नये वर्ष के गीत' को सस्वर गाया। लोकगीत की सच्ची धुन में 'चल भिनसार खरिहनिया हो रनिया सुन' सुनकर ऐसा लगा मानो सचमुच गाँव में पहुँच गये हों। मधुकर सिंह को स्वरों के आरोह-अवरोह का ज्ञान है एवं वे बड़ी ही स्थिरता से कविता-पाठ करते हैं। ठीक इसके विपरीत, काशीकांत मिश्र 'मधुप' की मैथिली कविता 'ककर नयन' स्वर में व्यर्थ के उतार-चढ़ाव एवं पाठ-दोष के कारण प्रभावित नहीं कर सकी।

श्रीकान्त शास्त्री ने अपनी मगही कविता 'मधु के पियास' का स्वरसहित पाठ किया। इनकी कविता में प्रतीक एवं उपमायें सुन्दर थीं। हरेन्द्रदेव नारायण ने भोजपुरी में दो सवैयों का पाठ किया। पाठ स्पष्ट एवं सुन्दर था, किन्तु समय की कमी के कारण जल्दी-जल्दी में वह प्रभाव उत्पन्न नहीं हो सका, जिसकी अपेक्षा थी। अंत में, चन्द्रनाथ मिश्र 'अमर' ने अपनी मैथिली कविता 'आजुक प्रयोजन' को स्वर-सहित प्रस्तुत किया। युद्ध एवं शांति आदि सामयिक विषयों वाली ऐसी कविताओं की अन्य भाषाओं में भी आवश्यकता है।

इस कवि-सम्मेलन में सबसे बुरी तरह खटकनेवाली चीज थी, समय का सही अनुपात में वितरण नहीं किया जाना। काशीकांत मिश्र 'मधुप' के ज्यादा वक्त लेने से समय की कमी हो गयी और समय की कमी के कारण हरेन्द्रदेव नारायण एवं चन्द्रनाथ मिश्र 'अमर' जैसे प्रमुख कवियों की स्थिति नहीं जम सकी।

वर्ष के अन्य महीनों में साधारणतया काम में ढिलाई की जाती है और मार्च महीने में जब वित्तीय वर्ष समाप्त होने को आता है और पैसे बच जाते हैं तो जल्दी-जल्दी कई कार्यक्रम प्रस्तुत किये जाते हैं। अगर प्रारम्भ से ही इसपर ध्यान दिया जाय और विशेष कार्यक्रमों के लिये विशेष नीति नहीं अपनायी जाय तो अच्छा हो।

द्विधा

लेखक—युगल
प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
मूल्य—चार रुपये
पृष्ठ सं०—३०७

'द्विधा' को एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है। कुमार के भीतर की 'द्विधा' ही इस उपन्यास का कथानक है। "आदमी, जितना ऊपर का है, उतना ही अपने में पूरा तो नहीं है। जो उसके अवचेतन में है, अन्तर में है, उतना सब मिलाकर वह पूरा है, सो उस व्यक्ति को पूरा पाने के लिये, गहराई में से निकालकर ऊपर तल पर लाने के लिये मैंने यह उपन्यास लिखा है; और अपने अवचेतन मन की 'द्विधा' में पड़े उस व्यक्ति का नाम दिया है—कुमार।" कुमार निरुपमा की दुर्बलताओं को जानता था और जान-बूझकर वह उसके साथ बँधा। वह एक 'एडवेन्चर' करना चाहता था, पर असफल रहा। वह अपने कम्प्लेक्स का विश्लेषण नहीं कर सका, मजबूत गाँठ को वह नहीं देख पाया। निरुपमा भी सदा उससे असंतुष्ट रही। कुमार और निरुपमा के संबंधों को देखते हुए कुमार कुछ 'अप्राकृतिक'-सा लगता है। स्वयं लेखक ने भी बाद में स्वीकार किया है, "अवचेतन में उलझा हुआ उसका व्यक्तित्व बाहर फैलकर भी उलझा ही रहा। शायद यही कारण है कि वह आपको 'एबनार्मल' लगे, असहज लगे और शायद अपार्थिव लगे।" कुमार के बारे में सोचते-सोचते मुझे कई बार जैनेन्द्रकुमार के 'व्यतीत' का नायक याद आ गया है।

उपन्यास के सभी पात्रों के अपने कुछ-न-कुछ 'कम्प्लेक्स' हैं। "···यहाँ किसके जी में गाँठ नहीं है? सभी के जी में है—कुमार, पुष्पा, शैल, राजन, सभी के। लगता है कि सभी अपने भीतर भेद पाल रहे हैं।···जो कुछ प्राप्त है, उसमें अभाव की अतृप्ति है। प्राप्त, जो मन की किसी भी भाँति स्वीकार्य नहीं है, उसे स्वीकार कैसे किया जाय; अथवा जो प्राप्त है, उसे स्वीकार नहीं किया जाय तो क्या किया जाय, सबकी आत्मा ऐसी ही द्विधा में बँटी हैं। अपने भीतर कुछ लेकर, कुछ बाँधकर सभी उबरना चाहते हैं। लेकिन घुंडी बँधी है, और सभी धुरी-उच्छिन्न पुच्छल-से दिशाहीन, गतिहीन हो रहे हैं—कट रहे हैं और काट रहे हैं।"

चरित्र-अनुशीलन में 'प्राकृतिक' सहजता एवं भाषा में कथ्य के प्रति सौम्य सरलता के निर्वाह में लेखक सफल रहा है।

प्रूफ संबंधी भयंकर अशुद्धियाँ एक-दो नहीं, सैकड़ों की संख्या में हैं। कई दोष अनचाहे रूप से आ गये हैं— "उसका डोर तो अब स्वयं कटकर रह गया है।" (पृ० सं० १३)

वैसे छपाई साफ एवं गेट-अप सुन्दर है।

नदी फिर बह चली

लेखक—हिमांशु श्रीवास्तव
प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
मूल्य—सात रुपये
पृ० सं०—३३४

प्रस्तुत उपन्यास 'लोहे के पंख' के प्रसिद्ध लेखक हिमांशु श्रीवास्तव की नवीनतम कृति है। "कथा-सूत्र का सम्पूर्ण अस्तित्व उपन्यास की नायिका परबतिया के व्यक्तित्व के चारों ओर घूमता है···किन्तु इसे एक व्यक्तिवादी उपन्यास नहीं कहा जाना चाहिए।" परबतिया इस उपन्यास की धुरी अवश्य है, पर उसके इर्द-गिर्द जो अन्य चरित्र चक्कर काटते हैं उनका भी अपना अलग अस्तित्व है। परबतिया उस बरगद के पेड़ की तरह अपनी छाया सारे उपन्यास पर नहीं डालती जिसके नीचे, धूप एवं वर्षा के अभाव में, अन्य कोई पेड़-पौधा नहीं उगता। प्रकाशकीय में कहा गया है,···"परबतिया ने समाज की अनेक बुराइयाँ देखी हैं, वैसे वातावरण में पली है, बुरी परिस्थितियों ने उसकी दुखती नसों पर उँगली रखने की कोशिश की है, किन्तु यह हिमांशु श्रीवास्तव की प्रतिभा का ही कमाल है कि उन्होंने उसे आत्म-विचलित नहीं होने दिया

और भारतीय ग्रामीण नारी के संस्कारगत महान आदर्शों की रक्षा भी की है।" सचमुच परबतिया ने काफी दुःख झेले हैं। उसके आस-पास का जो वातावरण है उसमें परिस्थितियाँ किसी को भी विचलित कर सकती हैं। जहाँ पर परबतिया को भूखी दिखाया गया है और दो-दो बच्चे उसकी सूखी छाती से चिपटे हुए हैं, उसका पति जगलाल 'जेहल' में बन्द है—वहाँ पर पाठक को ऐसा लगता है कि परबतिया भी 'जनकिया की माँ' वाला पेशा अख्तियार कर लेगी। उस हालत में यह अस्वाभाविक नहीं था। किंतु वहाँ पर उसे आत्मविचलित नहीं होने देकर लेखक ने असीम धैर्य एवं साहस का परिचय दिया है। हाँ, 'भारतीय ग्रामीण नारी के संस्कारगत महान् आदर्शों की रक्षा' में लेखक को बहुत दिक्कत हुई है और उपन्यास के अंत में आते-आते परबतिया का चरित्र उससे सँभल नहीं पाया है। ऐसा लगता है, लेखक को जबरदस्ती परबतिया को दूसरी ओर मोड़ना पड़ा है। अंत में इतनी शीघ्रता से घटनाएँ घटती हैं कि मालूम होता है कि कोई जासूसी फिल्म देख रहे हों। परबतिया राजनीति में भाग लेती है, विधान-सभा के समक्ष होने वाले प्रदर्शन में शामिल होती है और अंत में पुलिस की लाठी की चोट से उसका सिर फट जाता है, उसकी मृत्यु हो जाती है। शायद लेखक के सामने दूसरा कोई उपाय नहीं था। एक बात अवश्य है, लेखक ने परबतिया की व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं के घात-प्रतिघात का सफल अंकन करते हुए प्रारब्धवाद के विरुद्ध वर्ग-एकता का संघर्ष दिखलाया है और समाज के समसामयिक मूल्यों पर उसने ऐसी व्यंग्यात्मक चोटें की हैं कि मन रह-रहकर तिलमिला उठता है।

पुस्तक पढ़ जाने पर अचानक ही एक प्रश्न मेरे सामने उठा—इसे 'आंचलिक उपन्यास' की कोटि में रखा जाय या नहीं। संवादों में लगभग सारे बोलचाल के ही शब्द रखे गये हैं। देहात का जीवन मूर्तिमान करने में लेखक ने लोक-परंपराओं, रीति-रिवाजों, लोकोक्तियों, मुहावरों, कहावतों और लोक-संगीत का सफल अंकन किया है। रीति-रिवाजों और ग्रामीण व्यवहारों की लेखक को गहरी जानकारी है। लगभग प्रत्येक पृष्ठ में एक-न-एक कहावत अवश्य है। फिल्मी गीतों का भी बहुत ही प्रचुरता से प्रयोग किया गया है। अन्य लेखक भी कभी-कभी अपनी कहानियों एवं उपन्यासों में फिल्मी गीतों का उद्धरण देते हैं। मैंने हमेशा पाया है कि उनकी पंक्तियाँ गलत रहती हैं (शायद उन लेखकों को पूरा-का-पूरा फिल्मी गीत याद नहीं रहता), किन्तु हिमांशुजी द्वारा उद्धृत फिल्मी गीतों में एक भी अशुद्ध पंक्ति नहीं मिली।

एक ओर लेखक अगर ग्रामीण वातावरण के चित्रण में सफल रहा है तो दूसरी ओर शहर के निम्नवर्गीय समाज के चित्रण में जीवन की भीषण पृष्ठभूमि को उद्घाटित करते हुए भी उसे काफी सफलता मिली है। इस उपन्यास के साथ सचमुच 'गोदान' की परम्परा कुछ और आगे बढ़ी है। लेखक को इस सफल कृति के लिए बधाई।

भाषा सहज एवं शैली प्रवाहमयी है। प्रूफ की अशुद्धियाँ नहीं के बराबर हैं। छपाई साफ है। प्रच्छदपट को कुछ और आकर्षक होना था।

—विचारकेतु

खेती और पशुपालन गणित

लेखक—चतरसैन जैन

प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

मूल्य—पाँच रुपये

भारत एक कृषिप्रधान देश है। कृषि में पशु का उपयोग और महत्त्व किसी भी दृष्टि से कम नहीं है। और, खासकर भारत जैसे देश में, जहाँ कृषि में पूर्ण यंत्रीकरण कई कारणों से संभव नहीं है, इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

प्रस्तुत में लेखक ने पशुपालन संबंधी हिसाब रखने की आवश्यकता पर जोर देते हुए उसकी विधियों का उल्लेख किया है।

लेकिन पुस्तक का पाँच रुपये मूल्य इसकी उपयोगिता के ठीक-ठीक मूल्यांकन में बाधक होगा।

कुछ पुरानी चिट्ठियाँ

लेखक—जवाहरलाल नेहरू

प्रकाशक—सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

मूल्य—दस रुपये

मूल रूप में 'ए बंच ऑफ ओल्ड लेटर्स' नाम से अंग्रेजी में प्रकाशित, प्रस्तुत श्री नेहरू को लिखी और कुछ श्री नेहरू द्वारा लिखी पुरानी चिट्ठियाँ संग्रहित हैं।

सन् १६१७ से १६४८ के बीच लिखित इन ऐतिहासिक महत्त्व की चिट्ठियों को पुस्तक में कालक्रमानुसार रखा गया है। अतः इस काल की घटनाओं के विकास को समझने में ये सहायक सिद्ध होंगी और इतिहास में रुचि रखनेवाले पाठक या विद्यार्थी इससे समुचित लाभ उठा सकते हैं। भारत के स्वातंत्र्य-संग्राम और उसमें राष्ट्रीय नेताओं के योग की भी एक झलक इन चिट्ठियों में मिलेगी।

मूल के प्रथम संस्करण में कुल ३६६ और प्रस्तुत में ३६८ चिट्ठियाँ संग्रहित की गई हैं। पुस्तक के प्रकाशकीय से ज्ञात होता है कि दूसरे संस्करण में 'भूत' में ये दोनों चिट्ठियाँ भी जोड़ दी गई हैं।

अनुवाद में मूल के भाव को बड़ी ही खूबी के साथ निबाहा गया है—और कुछेक तो मूल से भी अधिक भाव को स्पष्ट करने में सफल हुई हैं। पर, पुस्तक में अनुवादक का नाम ही नहीं दिया गया है और पाठक के सम्मुख यह प्रश्न रह ही जाता है कि इसका अनुवाद स्वयं श्री नेहरू ने किया है या अन्य किसी ने।

—विश्वनाथ पाण्डेय

इश्क पर जोर नहीं

लेखक—अजीमबेग चग़ताई

प्रकाशक—हिमालय पॉकेट बुक्स, इलाहाबाद

मूल्य—१.००

पृष्ठ-संख्या—१२८

प्रस्तुत आलोच्य पुस्तक को उपन्यास न कहकर लम्बा हास्य-निबंध कहना उपयुक्त होगा। नाटकीय ढंग से लिखा गया यह हास्य और व्यंग्य काफी रोचक है। आरम्भ से अन्त तक एक कुत्ता (टी-फॉक्स ट्रेयर व्हाइट ऑफ सी-सी लन्दन) की जिंदगी के विभिन्न रूपों का स्केच लेखक ने उचित स्थलों पर व्यंग्य के पुट के साथ खींचा है। राजनीतिक एवं सामाजिक व्यंग्य, हास्य के साथ कुशलतापूर्वक तीखा बनाया गया है।

भाषा और शैली श्लाघनीय है, किन्तु उसमें नवीनता नहीं है। इस शैली में हास्य और व्यंग्य अन्य उर्दू लेखकों ने भी प्रस्तुत किये हैं। इस पुस्तक के पढ़ते समय मुझे कृशनचन्दर की याद हो आयी थी और उसकी पुस्तक "एक गधे की आत्मकथा" के भी शिल्प स्मृति में उभरने लगे थे।

लेखक के संकीर्ण एवं द्वेषपूर्ण विचारों का सफल प्रदर्शन पृष्ठ ४६ में देखने को मिलता है : "तुम बड़े बदतमीज़ और नालायक लड़के हो। बड़ों का कुछ भी लिहाज नहीं करते। आजकल के लड़के जाने कैसे हो गये हैं। लगता है, यह सब हिन्दी भाषा का असर है।" इसके बाद लेखक ने अंग्रेजी भाषा के समर्थन में उदाहरण प्रस्तुत किया है।

संक्षेप में, पुस्तक मनोरंजनार्थ पठनीय है।

अपने अपने अजनबी

लेखक—अज्ञेय

प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

मूल्य—३.००

पृष्ठ-संख्या—१२७

प्रस्तुत उपन्यास न राजनीतिक है और न सामाजिक। इसे धार्मिक एवं अधार्मिक उपन्यास की भी श्रेणी में रखना कठिन हो गया है। इस उपन्यास में लेखक अज्ञेय ने एक नवीन शैली तथा शिल्प की स्थापना की है। जिस भाषा का निर्वाह लेखक ने आरम्भ से अन्त तक किया है—उसमें काफी सफलता मिली है। प्रश्न उठाया जा सकता है—"क्या अपने-अपने अजनबी की भाषा उपन्यास की भाषा है?" इसपर विवाद हो सकते हैं, हो रहे हैं, और होंगे भी। किन्तु, इस प्रकार के विवाद से न साहित्य का लाभ है और न भाषा का ही विकास सम्भव है।

"नदी के द्वीप" और "शेखर : एक जीवनी" के लेखक अज्ञेय का प्रयोगात्मक रूप प्रस्तुत उपन्यास में उभरा है। पूरी पुस्तक पढ़ने पर लगता ही नहीं है कि रूढ़ि नाम का कोई तत्त्व लेखक के अंदर है। सब कुछ नया है, यहाँ तक कि गंध भी नयी है और लेखक का प्रयोग भी।

उपन्यास का वातावरण मृत्यु की घुटन से भरा हुआ है। 'योके' और 'सेल्मा' के द्वन्द्वपूर्ण विचारों की सफल अभिव्यक्ति के लिए, 'सेल्मा' के नैराश्यपूर्ण कथोपकथनों के लिए तथा स्थान-स्थान पर दार्शनिक पुटों के लिए लेखक बधाई का पात्र है। इस नीरस उपन्यास के अन्दर 'पॉल सोरेन' की चर्चा कर लेखक ने रूमानी वातावरण उत्पन्न करने का सर्वथा असफल प्रयास किया।

भारत के लेखक होने के नाते अज्ञेय को इस उपन्यास के अन्दर भारतीयता की गंध भरना एक आवश्यक कार्य था, किन्तु ऐसा न कर उसने अपनी अक्षमता का परिचय दिया है। पढ़ते समय लगता है--कोई नीरस वार्तालाप का पाठ किया जा रहा हो। और, स्थल-स्थल पर लेखक का कविरूप भी उभरा है : जैसे पृष्ठ ६४ पर धूप का वर्णन, पृष्ठ २३ पर क्षण की परिभाषा आदि। छोटी कहानी को मोटे अक्षरों और मोटे कागजों में, उपन्यास की मुटाई में मुद्रित कर पाठकों एवं साहित्यकारों को एक तरह से धोखे में रखा गया है।

—सीतेन्द्रदेव नारायण

हरिवंशराय बचन **(आज के लोकप्रिय कवि—३)**
लेखक और संपादक—**चन्द्रगुप्त विद्यालंकार**
प्रकाशक—**राजपाल एंड संज, दिल्ली-६**
मूल्य—**दो रुपये**

नयी दिल्ली में प्रधान मंत्री के निवास से दो सौ गज दूर एक स्वच्छ और सुन्दर बंगला (जिसके शांत और खुला होने की चर्चा विद्यालंकारजी ने दो बार की है), उसमें रहनेवाला कवि से अधिक अफसर, वेश-भूषा की विचित्रता, चमकते जूते, मोटे फ्रेम का चश्मा, स्वच्छ और चमकती कार, पति-पत्नी दोनों को कार-ड्राइव का शौक, पार्टियों की व्यस्तता, लम्बी दिनचर्या की सूची पूरे दिन की भोज्य-सूची के साथ, अध्ययन-कक्ष का आकार, उसमें सजी कुर्सी-टेबुल, एक पुस्तकालय जितनी पुस्तकें, लिखने के ढंग और मूड्स आदि की अनावश्यक बृहत सूची में यदि उनका छींकना, चलना, देखना तथा अन्य अवस्थाओं की भंगिमाएँ भी समाविष्ट कर ली जातीं तो श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार द्वारा प्रस्तुत यह पुस्तक कवि के जीवन तथा उनकी कविताओं की दिग्विजयी भंगिमाओं को कंठगत करने में कविता-पाठ के समय झूमनेवाले तथा गुनगुनाकर साथ देनेवाले श्रोताओं को शायद और हर्ष का अनुभव कराती।

कवि बचन के पूर्व के जीवन की चर्चा में उनके कद, बाल, मुद्रा, नोट-बुक (जिसमें हृदय की प्यारी कल्पनाएँ छन्दोबद्ध दर्ज रहती थीं), होटल के स्नानघर में अपनी ही कविता की पंक्तियों का गुनगुनाना, मधुशाला की जादुई पंक्तियाँ, छपते ही उसकी आश्चर्यजनक बिक्री, बनारस में हुआ उनका अविस्मरणीय कविता-पाठ जिसमें श्रोता कंठ, कान और अभिनय से साथ दे रहे थे, आदि के साथ ही यह बात भी शामिल है कि च० विद्यालंकारजी कलकत्ते में हुई कवि-गोष्ठी में कैसे बचनजी के कवि-व्यक्तित्व के कायल ही नहीं बल्कि प्रशंसक भी हो गए, जिसका परिणाम यह पुस्तक है, जो अत्यन्त परिचयात्मक और प्रारम्भिक बातों की जिज्ञासा रखनेवाले पाठकों को भी उबा देने के लिए पर्याप्त है। सम्मोहित होकर लिखी गई पुस्तक का स्तर इससे भिन्न और हो ही क्या सकता है।

इसके अतिरिक्त कुछ बातें, जैसे पारिवारिक चिंता, 'पायोनियर' तथा 'अभ्युदय' की नौकरी, शिक्षा (आरम्भ से लेकर डाक्टरेट प्राप्त करने तक), पत्नी की मृत्यु, फिर कई साल बाद नाटकीय परिस्थितियों में कुमारी तेजी से परिचय और विवाह, इस बीच लिखी गई कविताएँ और जीवनानुभूति, 'निशा-निमंत्रण' से 'आकुल अन्तर' तक की कविताओं का नया दौर, हालावाद को प्रतीक रूप देने वाले हिन्दी-जगत के कवि, मैकबेथ और अथेलो का अनुवाद (मैकबेथ का सफलतापूर्वक अभिनय) ब्योरेबार संग्रहीत कर लिया गया-सा लगता है। इसे उनके कवि-जीवन के निर्माण-काल का ब्योरा भी कह सकते हैं। परिस्थितियाँ, अनुभूति, कविताएँ, प्रवृत्ति और परिणाम—'कवि बचन' (जिसमें दिन-दिन उनके कवि का लोकप्रिय

होता जाना भी शामिल) है। देश की अन्य भाषा के साहित्यकार अथवा विदेशी साहित्यकार को यह पुस्तक हाथ लग जाय तो हिन्दी साहित्यकार की जीवन सम्बन्धी सतही बातों के ब्योरे या विवरण के साथ उसके बहुमूल्य विभूति होने की घोषणा, शैली की सरलता और माधुर्य की दृष्टि से हिन्दी काव्य के शिल्प-विधान को नवीन देन (या दिशा) तथा 'निशा-निमंत्रण' भारतीय काव्य की अमर रचना है आदि अन्य घोषणाएँ हास्यास्पद ही लग सकती हैं।

अंत में अपनी कविताओं के सम्बन्ध में बच्चनजी के अपने विचार भी जीवनी खंड में हैं, जिसकी चर्चा करने के बाद संकलन-खंड में नमूने के तौर पर सभी संकलनों से चुनी हुई कविताओं के सम्बन्ध में अलग से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रह जायगी। चुस्ती में विश्वास रखते हुए अथवा चुस्त कविता लिखने में विश्वास रखते हुए भी श्री बच्चन अत्यन्त शिथिल अनुभूति के तथाकथित 'लोकप्रिय' कवि ही कहला सके। एक जगह कवि ने कहा है कि मिल्टन को समझने के लिए मिल्टन चाहिए। मैं यह जोड़ना चाहूँगा कि कोई भी कवि-आलोचक या आलोचक-कवि मिल्टन होने की आकांक्षा भले कर ले किन्तु बच्चन होने की आकांक्षा तो सपने में भी भूलकर नहीं करना चाहेगा। बच्चन होना बच्चन को ही मुबारक। अपने विचारों तथा भावों के सम्बन्ध में कहते हैं कि 'आई लिव देम' यानी मैं उन्हें जीता हूँ, किन्तु कविताएँ तो मात्र तन्द्रिल भावुकता की सतह पर ही तैरने का प्रमाण रखती हैं जो शायद किशोर-मति कवि के लिए स्वाभाविक है। बच्चनजी कहते हैं—"प्रारम्भिक इच्छा कहानीकार बनने की थी, किंतु 'मधुशाला' के गीतों की लोकप्रियता ने उनके कवि को प्रबल बना दिया और कहानीकार (बेचारा – यह मेरा शब्द है) दब गया।" और अब मुझे यह संदेह हो रहा है कि इस पुस्तक ने अगर उनकी लोकप्रियता में और कई चाँद जोड़ दिये तो बेचारे प्रकाशकों को बाजार से कागज के लुप्त होने की स्थिति का सामना करना पड़ेगा और तब कोई दूसरा प्रबल रूप सामने आयेगा। च० विद्यालंकारजी ने यह भी सूचना दी है कि उनकी दो पाण्डुलिपियाँ दीमकें खा गईं। अवश्य उनका स्वाद तीव्र रहा होगा।

श्री बच्चन कहते हैं— कविता लिखना मेरे जीवन की विवशता है। इसमें मैं कुछ जोड़ना चाहूँगा, वह यह कि कविता लिखते जाने का निर्वाह करना या करते हुए रहना मात्र अवश्य उनकी अपनी विवशता बन गई है, जिसे आप कमजोरी भी कह सकते हैं।

पुनः वे कहते हैं कि 'मेरी रचना जहाँ मैं एकात्म हूँ, वहाँ वह सहानुभूति (यानी मैं जो अनुभव कर रहा हूँ, दूसरे ने भी वही अनुभव किया) जाग्रत करने में समर्थ है, जिसे रस कहते हैं, जिसमें सहृदय पाठक सिद्ध कवियों की रचना पढ़ते समय डूब जाता है, डूबकर तर जाता है'।

रस मिलता हो अथवा नहीं, पाठक सहृदय हो अथवा नहीं, कवि सिद्ध हो अथवा असिद्ध किंतु अगर पाठक उसमें डूबकर तर जाता है (यानी उसे मुक्ति मिल जाती है) तो यह अवश्य एक बड़ी बात होगी और भगवान बुद्ध के सम्प्रदाय का भार भी हलका होगा।

अब उनकी कविताओं को समझने का एक फार्मूला दे देता हूँ : सह + अनुभूति + रस = डूबकर तर जाना = श्री बच्चन की कविताएँ। इनके कुछेक नमूने स्पष्टतः व्यक्तिगत रुचि से च० विद्यालंकार द्वारा प्रस्तुत इस पुस्तक के संकलन-खंड में आपको मिलेंगे।

कहना चाहता हूँ कि प्रकाशक की काल-ज्ञान-शून्यता इस पुस्तकमाला के नामकरण से स्पष्ट परिलक्षित है, इसलिए कि जिन कवियों की रचनाएँ इसके अन्तर्गत संग्रहीत कर प्रकाशित हैं वे पड़ाव पर के ही कवि हैं, यानी गये कल के हैं और इस तरह इसका नाम 'कल के लोकप्रिय कवि' होता तो उपयुक्त होता।

अंत में श्री बच्चन की पंक्ति 'लेटकर लिखी कविता लेखक के समान शिथिल हो जाती है' उद्धृत करते हुए उनसे क्षमा चाहूँगा इसलिए कि गद्य ही सही, मैं लेटकर लिख रहा हूँ।

—प्रेमेन्द्र

रामेश्वर शुक्ल अंचल (जीवनी और कविता)
संपादक और लेखक—पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
प्रकाशक - राजपाल एंड संज, दिल्ली-६
मूल्य—दो रुपये

शायद पिता के उतार-चढ़ाव वाले जीवन के मुकाबले अंचल का जीवन भी काफी स्थिर है, और यही कारण

है कि आदि से अबतक इनकी कविताओं में काफी स्थिरता रही। जीवनी-लेखक को भी इसीलिए इनकी जीवन-चर्चा के बजाय इनके कवि-कर्म के विषय में काफी प्रमाण-पत्र परिभाषित करने पड़े। "छायावादी कविता···वायवी हो गई थी, उसमें···गहराई छूने की क्षमता नहीं रही थी···कविता को इस स्थिति से उबारने वालों में···बच्चन के साथ···अंचल का स्थान महत्त्वपूर्ण है।···प्रसाद, निराला और पंत को 'वृहत्त्रयी' का नाम दिया जाता है। मैंने···अंचल, नरेन्द्र और सुमन को 'लघुत्रयी' का नाम दिया। बच्चन इन दोनों के बीच की कड़ी हैं।···हाड़-मांस की नारी···प्रेयसी को लेकर तीनों ने काव्य-जगत में प्रवेश किया।·····खुलेपन में अंचल का स्वर सर्वाधिक तीखा और सशक्त था।·· अकेले अंचल ही··केन्द्रच्युत नहीं हुए।···भाषा पर किसी सीमा तक अधिकार उपलब्ध।·· नन्ददुलारे वाजपेयी ने कहा···'विषण्ण स्मृतियों का गायक'।···महादेवीजी के अधिक निकट।···एक साथ प्रेम और समाजवादी संस्कृति के आदर्श को मानकर चलनेवाले शक्तिसम्पन्न कवि" आदि-आदि जीवनी-लेखक ने कवि के विषय में जो लिखा है, वह वस्तुतः कवि से अधिक हो गया। संकलन तो नहीं, बल्कि कवि की इन प्रशंसाओं के प्रमाण में जीवनी-प्रसंग में जो छंद लेखक ने आदर्श के रूप में उपस्थित किए हैं, मेरे विचार से प्रस्तुत कवि की समीक्षा के लिए वे ही काफी हो सकेंगे। छंद, तुकान्त और भाषा के रद्दीपन के उनमें से कुछ उदाहरण हैं :

कैसे मुझसे रूठे इतने, कैसे लौट गए।
क्यों बिन बोले, बिना बुलाए, प्रियतम लौट गए॥

यहाँ पहले तो ऊपर-नीचे के पद का एक ही अशुद्ध तुक चिन्तनीय है और दूसरे "लौट" जैसा अगेय अक्षरों का शब्द और वह भी सम के पहले। इसी पद के ऊपरी भाग में नायिका "सोच रही हूँ यही विरह की मारी मैं फिर-फिर" कहकर जब अपने प्रति चिन्ता प्रकट करती है, तो "मिलनवती को सजने में लगती ही है देरी" अपने प्रति यह कहना उसके "नव बाला" होने की भद्द ही उड़ा छोड़ता है।

है रही जाती दबी झंकार नूपुर कंकणों की
है भरी आती व्यथा जलसिक्त आँखों में निराशा
तुम न आये बीतते जाते चले मधु के दिवस भी

इन तीनों पंक्तियों में खामखाह की एकार्थक क्रिया-दर-क्रिया कितना अवैयाकरणी और उच्चारणदग्ध अपव्यय है, इसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं। इसी के पहले पद में "लाज-रक्तिम गात पीली ओढ़नी में कसमसाता" जैसा शब्द अपने प्रति कहने वाली नायिका, पता नहीं चलता कि किस चलन की है, क्योंकि 'लाज-रक्तिम' होकर भी वह अपने लिए 'कसमसाता' कह कर भलों में एक भँड़ैती ही बोलती है। ऐसे ही, "जिसमें जलकर राख बने सदियों की मिटी गुलामी" में यह नहीं समझ आता कि सदियों की मिटी हुई गुलामी को फिर राख बना देने की मिट्टी-पलीद में काव्यार्थ का कौन रस है।

यों पुराना कवि है, इसलिए पढ़ा ही जाय—यह कोई बात हो तो यह भी एक किताब है।

भगवतीचरण वर्मा (जीवनी और कविता-संकलन)

लेखक एवं संपादक—अमृतलाल नागर
प्रकाशक—राजपाल एंड संज, दिल्ली-६
मूल्य—दो रुपये

प्रस्तुत की जीवनी पूर्वोक्त अंचल वाली जीवनी के मुकाबले काफी सुघर है। लेखक नागर ने कविता की विवेचना जैसी आरोपित बातों से बोझिल न कर बहुत नाटकीय और रोचक ढंग पर कवि वर्मा की जीवन-चर्चा की है। इस माला की पुस्तकों में, इस मामले में, यह आदर्श है।

कविता के मामले में भी, कवि वर्मा का जीवन संबंधी अनुभव, जो उन्हें आदर्श कथाकार कर चुका है, काफी बहुमुख है। कहने की बातें जिसे जितनी अधिक आती हैं, उसके यहाँ स्वभावतः उतने ही छन्द और लय भी चले आते हैं। इस संकलन में कवि की सभी वह कविताएँ हैं जो कभी काफी जानी-मानी जा चुकी हैं। हाँ, आज के लिए कविताकथ्य का वह शिल्प बड़ा पुराना हो चुका है।

—लालधुआँ

विश्वविद्यालयों के पाठ्यग्रन्थ

••

राँची विश्वविद्यालय स्नातक-कक्षा के लिये स्वीकृत

काव्य में अभिव्यंजनावाद

काव्यगत अभिव्यंजनाओं के अद्यतन सिद्धान्तों का सुसम्बद्ध समीक्षण

लेखक : श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु — मूल्य : ५·००

••

पटना विश्वविद्यालय स्नातक (प्रतिष्ठा) कक्षा के लिये स्वीकृत

विश्वराजनीति-पर्यवेक्षण

विश्वराजनीति-विषय पर मननीय समीक्षण वाले निबन्धों का संग्रह

लेखक : डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा — मूल्य : ५·५०

••

पटना विश्वविद्यालय स्नातक (प्रतिष्ठा) के लिये स्वीकृत

आधुनिक भाषाविज्ञान

भाषाविज्ञान के अद्यतन सिद्धान्तों एवं प्रतिपादनों पर शास्त्रीय समीक्षण

लेखक : प्रो० पद्मनारायण — मूल्य : ३·००

••

भागलपुर विश्वविद्यालय स्नातक-कक्षा के लिये स्वीकृत

संचयन

हिन्दी गद्य की विकासपरम्परा की श्रेय रचनाओं का सुसंपादित संचयन

सम्पादक : प्रिंसिपल कपिल — मूल्य : ३·००

••

राँची विश्वविद्यालय के प्राग्विश्वविद्यालय एवं स्नातक-कक्षा के लिये

रचना-कला

हिन्दी भाषा-शैली का शिक्षण देनेवाली समर्थ पुस्तक

लेखक : श्री सुरेश्वर पाठक विद्यालंकार — मूल्य : ३·००

••

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

प्रकाशक-संघ के लखनऊ-अधिवेशन के नाम

यह 'पुस्तक-जगत' का अंक प्रकाशन-व्यवसाय की समस्याओं को ही प्रमुखतया इसलिए रख रहा है कि यह अ० भा० हिन्दी प्रकाशक-संघ के लखनऊ-अधिवेशन को दृष्टिगत करते हुए है। संघ के प्रमुख अधिकारी श्री लक्ष्मी-चन्द्र जैन के कथनानुसार बिक्री पर कमीशन के नियमन पर जोर देने के अलावा और भी ऐसे रचनात्मक या आन्दोलनात्मक प्रश्न थे, जिनपर संघ को सक्रिय होना चाहिए था। थानवी के अनुसार उस कमीशन-नियमन में भी काफी विचारणीय दोष थे। और इसके पूर्व, पिछले विधान और लखनऊ-अधिवेशन में उपस्थित विधान के नए प्रारूप को लेकर इस अंक के और कलकत्ता-अधिवेशन के बाद के अंक के हमारे लेखक श्री बलराम ने संघ के विधान में काफी खामियाँ उपस्थित कीं। साधारणतः और प्रकाशकों का यह संगठन होने के कारण, इस विधान को अपने प्रकाशकों का हित तय करने के साथ-साथ अपनी एजेन्सी. अर्थात् विक्रेताओं का भी हित जहाँ तय करना चाहिए, वहाँ उन विक्रेताओं पर केवल अनुशासन लादने के अलावा और उनके ५-७ प्रतिनिधियों को संघ से सम्बद्धता के नाते कार्यसमिति की बैठकों में जगह देने के अलावा पुराने और नये विधान ने सचमुच कोई निर्णयनिहित हक नहीं दिया है। विक्रेताओं पर पिछले समय जो अनुशासन संघ ने लादा, वह था कमीशन का नियमन। मगर, आखिर यह नियमन क्यों नहीं चला और उसे संघ को स्थगित करना पड़ा—इसे भी संघ को ही सोच लेना है। यह सोचते समय निश्चय ही संघ के कार्यकारी लोग कई तर्क और कारण कहेंगे। वे तमाम तर्क और कारण 'पुस्तक-जगत' के इस अंक में हैं। उनमें से प्रमुख तर्क और कारण है कि विक्रेताओं को सम्बद्ध करते समय या प्रकाशकों को सदस्य बनाते समय यह नहीं जाना गया कि कौन सचमुच प्रकाशक है और कौन सचमुच विक्रेता। मगर हमारे विचार से कोई भी ऐसी स्थिति अपने यहाँ साफ नहीं है कि हम किसी को मात्र विक्रेता या मात्र प्रकाशक कह सकें। अपने यहाँ ऊँचे-से-ऊँचा और नीचे-से-नीचा पुस्तक-व्यवसायी भी अपने को विक्रेता या प्रकाशक अलग-अलग किसी दर पर सिद्ध नहीं कर सकता—खासकर हिन्दी का पुस्तक-व्यवसायी। तब विधान में एक साथ दोनों के सहयोजित उद्योग की बात न होकर, केवल प्रकाशकों के हित के अन्दाज की बातें रखने से कोई काम नहीं चलेगा और फिर वही जिच बरकरार रहेगी। अतः यह आवश्यक है कि यह संघ प्रकाशक और विक्रेता दोनों का समानाधिकार रखने वाले विधान का हो और इसमें, अधिक-से-अधिक, विक्रेताओं और प्रकाशकों के आर्थिक तथा व्यापारक्षेत्र की सीमा तय की जाय। इसके विपरीत, विक्रेताओं के अलग संघ और प्रकाशकों के अलग संघ की माँग जो करते हैं, वह माँग भी तभी उचित मानी जायगी जबकि वैसी माँग करने वाले खुद अपने मामले में केवल विक्रेता या केवल प्रकाशक होकर बरतने के लिए तैयार हों। मगर, इसी अंक में ऐसी माँग की पैरवी करने वालों का यह बयान भी छापा गया है कि यदि विक्रेता अपना स्वतंत्र संगठन बनाकर प्रकाशक-संघ के अनुशासन के अनुसार न चलें तो जो तदनुसार समर्थ प्रकाशक हों वे ही आपसी निश्चित कमीशन-व्यवहार के अनुसार बाज़ार चलायें। उनके इस वक्तव्य से ही सिद्ध हो जाना काफी है कि ऐसी माँग करने वाले वे प्रकाशक, प्रकाशक और विक्रेता दोनों ही धर्म के हैं और दोनों ही धर्मों पर इतनी तगड़ी हैसियत रखते हैं कि इस धमकी के साथ पेश आने को तैयार हैं कि विक्रेता उनके अनुसार बरतें, नहीं तो वे उनको समाप्त कर उनके स्थान पर अपने कुछ लोगों को मिलाजुलाकर सीधी एजेन्सी कायम करेंगे। उपर्युक्त विधान के प्रारूप में और इसके पूर्व के विधान में भी ऐसी ही माँग करने वाले एकाधिकारी प्रकाशकों की मनोभावना का संरक्षण है। एकाधिकारी मनोभावना के संरक्षण का हमारा यह आरोप मात्र इसी तर्क के साथ है कि कमीशन-नियमन का जो राष्ट्रीय हित यह होना चाहिए कि उस नाते ग्राहकों को कम दाम पर आवश्यक पुस्तकें मिलें और अधिक दाम की कैंची-पट्टी सम्पादन की पुस्तकों जैसे अज्ञान और अपव्यय से

टकारा मिले—प्रकाशकों का यह संघ इस विषय पर संगठन के विगत दिनों में एकदम निश्चेष्ट रहा है। इसी प्रकार, जनतन्त्र की वैचारिक स्वाधीनता और व्यक्तिगत उद्योग के विरुद्ध जो शिक्षा, साहित्य, सूचना आदि का काम सरकारी एकाधिकार में राष्ट्रीयकरण के नाम पर किया जा रहा है—उसके विरुद्ध भी संघ का कोई उद्देश्य और कोई कार्यवाही नहीं है; उल्टे ये प्रकाशक, जो प्रकाशक तथा विक्रेता का कार्य एक साथ एकाधिकार में करना चाहते हैं, सरकारी सहायता में पनपने, सरकारी खरीद में बिकने, बल्कि शिक्षा और साहित्य के नाम पर बेशर्त सरकारी सहायता चाहने और एवज में सारे आर्थिक नखरों की सिद्धि के साथ बिकने को जब ऐसे उद्विग्न हैं—तो ऐसी सूरत में संघ के विधान पर और भी अच्छी तरह सोच लेना चाहिए, ताकि मात्र इन जैसों के आर्थिक हित के लिए देश के विचार, देश की सरस्वती और देश के बाकी पुस्तक-उद्योगी कहीं तहस-नहस न हो जायँ। संघ के सम्मानित नेता श्री लक्ष्मीचन्द्र जी जैन ने भी कहा है कि कमीशन-नियमन जैसी कमाई की शर्तों के अलावा भी संघ को और सब बहुत काम करने थे। और, हम भी समझते हैं कि सस्ती और सुनिरूपित पुस्तकों का उत्पादन तथा शिक्षा, साहित्य एवं पाठ्य पर से राष्ट्रीयकरण का हटना ऐसे ही बहुतेरे काम हैं, जिन्हें लेकर प्रकाशन और पुस्तक का उद्योग देश के विचारशीलों की सुरक्षा तथा देश के जनतांत्रिक हित को साध सकता है।

कमीशन-नियमन के विषय में विक्रेताओं पर जो प्रकाशकों द्वारा असहयोग करने का आरोप है, उसके पीछे, यदि ईमानदारी से सोचा जाय तो, प्रकाशकों का ही अधिक दोष निकलेगा। तमाम लाइब्रेरी और ब्लाकों की सरकारी ढंग की खरीद की सूची देखी जाय तो पता चलेगा कि प्रकाशकों ने ही, प्रकाशकों की तरफ से विक्रेताओं को मिलने वाले नियमित कमीशन जैसा या उससे भी अधिक कमीशन देकर, ८०-६० प्रतिशत तक ऐसी सप्लाई सीधे स्वयं की है। प्रकाशक उत्पादक हैं, और वे निश्चित कमीशन में अपने मुनाफे का कुछ हिस्सा तक जोड़कर सीधे माल देने लगें, तो विक्रेता-वर्ग जो उनके निश्चित कमीशन पर ही अपनी आजीविका पाता है, अपने प्रति इस एकतरफा अनुशासन को क्यों नहीं बुरा मानेगा। कमीशन-नियमन के टूटने का यही एकतरफा अनुशासन प्रधान कारण है। खेद का विषय है कि इस अनुशासन को पुनः कायम करना चाहने वाले प्रकाशक तक इस जीते-जागते कारण से आँखें मूँद कर फिर वैसा ही एकतरफा अनुशासन का मकड़जाल रच रहे हैं।

स्वत्वाधिकारत्व का घोषणा-पत्र, फार्म ४, रुल ८

१. प्रकाशन का स्थान	ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना–४ (बिहार)
२. प्रकाशन का समय	मासिक (हर महीने की २८-२६ तारीख)
३. मुद्रक का नाम	सीताराम पाण्डेय
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना–४
४. प्रकाशक का नाम	सीताराम पाण्डेय, वास्ते ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, पटना–४
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना–४
५. संपादक का नाम	अखिलेश्वर पाण्डेय बी० ए०, बी० एल०
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	नयाटोला, पटना–४
६. पत्र के स्वत्वाधिकारी	ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, खजांची रोड, पटना–४
	मैनेजिंग डाइरेक्टर—मदनमोहन पाण्डेय

मैं यह घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गए विवरण, जहाँ तक मेरा विश्वास और जानकारी है सही हैं।

तिथि—२७-४-६२ *सीताराम पाण्डेय*

'पुस्तक-जगत' के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ४) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य ३७ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* साधारण अंकों में विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
,, द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
,, आधा पृष्ठ	:	२०.००
,, एक चौथाई पृष्ठ	:	१२.००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,
पुस्तक-जगत, ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

रजिस्टर्ड नं० : पी० ८०४ मूल्य : प्रत्येक अंक ३७ न० पै० : प्रस्तुत अंक ७५ न० पै० वार्षिक : चार रुपये
वर्ष—८ :: अंक—६ :: मई—१९६२

पुस्तक-जगत

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

डायरी बेतारीख

श्री राजकमल चौधरी

(एक)

अभी यह बात सोचने में भी बड़ी अजीब लगती है। आज से चार महीने पहले तक मैंने हेनरी मिलर की एक भी किताब नहीं पढ़ी थी—क्योंकि, क्रिस्तोफर ईशरउड और आइन रैन्ड के बाद, हेनरी मिलर मेरा अँग्रेजी का सबसे प्रिय और आत्मीय लेखक हो गया है।

बात ऐसी हुई, एक फ्रांसीसी महिला जनवरी में पेरिस से कलकत्ते आयीं, और यह समझकर कि मैं लेखक हूँ (और फ्रेंच भाषा नहीं जानता हूँ) और मेरे लिए किताबों की सौगात ही सबसे प्यारी होगी, फ्रांस में छपी हेनरी मिलर की सारी किताबें साथ ले आयीं। तब, मैं हेनरी मिलर को नहीं जानता था (केवल 'एनकाउन्तर' में उसकी चर्चाएँ पढ़ी थीं) और अपरिचित लेखक की किताबें पढ़ना मेरे जैसे काहिल आदमी के लिए अपरिचित औरत से सम्बन्ध के बराबर ही है। मैं ये दोनों काम नहीं करने की ही कोशिश भरसक करता हूँ। मगर, श्रीमती सिल्वा ने कहा—"और न सही, 'ट्रॉपिक ऑफ़ कैन्सर' ज़रूर पढ़ जाओ!"

'ट्रॉपिक ऑफ़ कैन्सर' मिलर का पहला उपन्यास था, जिसे उसने तैंतीस वर्ष की उम्र में लिखा था। यह उपन्यास लिखे जाने के पूरे दस वर्ष के बाद, १९३४ में पेरिस के ओबेलिख प्रेस द्वारा प्रकाशित किया गया। मिलर जन्म से अमरीकन है, मगर हज़ार कोशिशों के बावजूद कोई भी अमरीकी प्रकाशन मिलर की रचनाएँ छापने को तैयार नहीं हुआ, और, उसे उदारतावादी देश, फ्रांस की शरण लेनी पड़ी।

फिर, इसके बाद, 'ट्रॉपिक ऑफ़ कैप्रिकॉर्न' और 'ब्लैक स्प्रिंग', और इसके बाद 'द रोज़ी क्रूसिफिक्शन' नाम की ट्रिलॉजी के खण्ड, 'सेक्सस' और 'प्लेक्सस' (तीसरा खण्ड 'नेक्सस' अभी लिखा नहीं गया है), और 'द वर्ल्ड ऑफ़ सेक्स', और एक प्रबन्ध-पुस्तिका 'ऑब्सिनिटी ऐन्ड द लॉ ऑफ़ रिफ़्लेक्शन', और अन्त में 'द बुक्स इन माई लाइफ़'।[1] लगभग सवा तीन हज़ार पृष्ठों में फैला हुआ हेनरी मिलर का पूरा साहित्य पढ़ जाने के बाद मैं मिलर को दास्त्यावस्की और तोलस्तोय और मोपाँसा और थॉमस मैन की कतार में रखता हूँ, और सोचता हूँ, वह कौन-सी बात है, जिसने फ्रांस के प्रकाशकों और फ्रांस की सरकार को भी विवश किया कि वह affair-miller का मसविदा तैयार करे और उसे जलील करने की कोशिश करे।

यह तो फ्रांस के समकालीन लेखकों के ही बस की बात थी कि उन्होंने मिलर के बचाव के लिए एक संस्था कायम की। नहीं तो मिलर की किताबों को भी वही यातनाएँ भुगतनी पड़तीं, जो एक सदी तक 'लेडी चैटर्लीज़ लवर' को ब्रिटेन में भुगतनी पड़ीं।

'सेक्सस' प्रकाशित होते ही फ्रांस की सरकार ने मिलर को दोषी ठहराया कि वह फ्रांसीसी जनता को अनैतिकता की राह पर ले जा रहा है। मिलर ने इसकी सफ़ाई देते हुए लिखा था—"मैंने कभी भी नैतिकता-अनैतिकता की चिन्ता नहीं की है। मैंने अपने जीवन की, ख़ासकर अपने जीवन की चिन्ता अपनी रचनाओं में की है···मैं अपनी रचनाओं में अपने जीवन को अंकित करता हूँ, जितनी लज्जाहीनता से, जितनी नग्नता से, जितनी सत्यता से यह संभव है, मैं करता हूँ। जीवन के प्रति मुझे अगाध प्रेम है और मैं उसे ग़लत उपस्थित नहीं कर सकता। मैंने··· जीवन को जैसा देखा है, जो देखा है, मेरी रचनाओं में वही चित्रित हुआ है।···सेक्स जीवन का एक अविछिन्न अंग है; अनिवार्य अंग है। और, यह भी माना जाता है, सेक्स का महत्त्व और सेक्स का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में अलग-अलग मात्रा और ढंग से होता है। प्रश्न उठता है कि तब, जीवन के इस विशेष सत्य को, इस अनिवार्यता को (यानी, जहाँ तक सेक्स का संबंध यौन-संभोग के कार्यों

१ मैं लिखना भूल गया था, मिलर की एक और किताब है, 'बिग सुर ऐण्ड द ऑरेन्जेज ऑफ़ हिरोनिमस बॉश' जिसे न्यू डाइरेक्शन्स (न्यूयार्क) ने प्रकाशित किया है।

से है) साहित्य में किस मात्रा में और किस ढंग से स्वीकार किया जाए? यही प्रश्न इस प्रकार भी रखा जा सकता है: क्या कोई सही ढंग (और मात्रा) और कोई ग़लत ढंग (और मात्रा) है, जिससे साहित्य में सेक्स का उपयोग किया जा सकता है? और, इसके बाद यह प्रश्न: और यह सही ढंग क्या नैतिकतावादी उपदेशक, और सेन्सर-बोर्ड, और पुलिस का ही है? और, क्या सरकार और सरकारी कानून बनाने वाले ही इस बात के भी अधिकारी हैं कि निर्णय कर सकें कि साहित्य में क्या सही और ग़लत है, क्या अच्छा और बुरा है?..."

हेनरी मिलर का अपराध यही है कि उसने अपने उपन्यासों में झूठी नैतिकताओं और मनुष्य की सेक्स-संबंधी ग़लत कुण्ठाओं पर पूरी ताक़त से चोट की है। वह इस टैबू के खिलाफ़ बग़ावत करता है कि उपन्यासों और कहानियों में रति-कार्यों का वर्णन करते समय या तो बगल से कतरा जाएँ, या केवल शिष्ट और सांकेतिक शब्दों एवं अस्पष्ट प्रतीकों का ही इस्तेमाल करें।

जब मेडिकल-साइन्स की किताबें स्त्री-पुरुष के गुप्तांगों की बारीक-से-बारीक तस्वीरें छाप सकती हैं और उन अंगों-उपांगों का नामोच्चारण कर सकती हैं, जब बलात्कार के मुकदमों में सवाल करते वक्त वकील-बैरिष्टर वादी और प्रतिवादी को रति-कार्य की महीन-से-महीन बात बोलने को मजबूर कर सकते हैं, जब एन्थ्रोपॉलॉजी और समाज-शास्त्र के विद्वान आदिम युग के मनुष्यों के रति-व्यवहारों का सविस्तर वर्णन लिख सकते हैं, तब लेखक को यह स्वाधीनता क्यों नहीं है कि वह अपने पात्रों के जीवन की यौन-संबंधी घटनाओं को (खुले अल्फ़ाज में) पाठकों के सामने रख सके।

—हेनरी मिलर के उपन्यासों में फैले हुए इस प्रश्न का उत्तर मेरे पास नहीं है। मैं सोचता हूँ, और उत्तर पाना चाहता हूँ, मगर उत्तर नहीं मिलता है।

हेनरी मिलर कहता है कि वह अपनी रचनाओं के द्वारा दुनिया के हर आदमी के सामने, हर औरत और हर बच्चे के सामने बाइबिल रखना चाहता है, लड़ाई के हथियार रखना चाहता है, चोरी और ईमानदारी और झूठ और सच्चाई और हत्या और बलात्कार और पारिवारिक आनन्द और युद्ध और सौन्दर्य और मृत्यु, सभी कुछ रखना चाहता है—और कहना चाहता है कि देखो, यह एक रास्ता है और यह दूसरा रास्ता है—इनमें से एक रास्ता चुन लो। चुन लो कि तुम्हें अपनी बीवी और अपने बच्चे और अपनी किताबों और अपने गीतों और फूलों से प्यार है, या तुम्हें बदसूरती से और मौत से प्यार है! एक रास्ता चुन लो।

हेनरी मिलर किसी को अँधेरे में नहीं रखना चाहता है, और न यही कहना चाहता है कि दुनिया में ग़लत रास्ते पर चलने की सज़ा मौत के बाद मिलेगी। वह झूठी आशा नहीं देता है, और झूठी निराशा भी नहीं।

वह लेखक है, न फ़रिश्ता है और न शैतान ही है।

हेनरी मिलर महान् लेखक है, क्योंकि वह कहता है—"मुझमें यह कहने का साहस है कि कोई भी पुस्तक चाहे कितनी ही गन्दी, कितनी ही बदसूरत, बदबूदार, अश्लील और जघन्य क्यों न हो, अगर उससे जीवन को बल मिलता है, अगर वह उस घाव की चीर-फाड़ करती है, जो मानवता के कलेजे को सड़ा रहा है, तो वह सुन्दर पुस्तक है, पवित्र और महान पुस्तक है!"

मिलर के उपन्यास हमें रौरव नरक में ज़रूर खींच ले जाते हैं, मगर, हमें यह बताते हैं कि यह नरक है, और यह स्वर्ग है, और आदमी को स्वर्ग में रहने की ही कोशिश करनी चाहिए!

(दो)

मेरे एक बड़े ही अज़ीज दोस्त हैं (उनका नाम लिखना उचित नहीं है)। उम्र में मुझसे काफ़ी बड़े हैं। रोज़ शाम को कालीघाट के मन्दिर में पूजा करने जाते हैं, और रोज़ सुबह गीता-पाठ करते हैं। धर्म और ईश्वर के प्रति उन्हें अगाध विश्वास है। पाखण्डी नहीं हैं, आडम्बर नहीं करते, अपनी धार्मिकता का ढिंढोरा नहीं पीटते हैं। अरविन्द और स्वामी विवेकानन्द की किताबें पढ़ते हैं, रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि के अधिकांश पद उन्हें कंठस्थ हैं।

चार साल की निरन्तर मित्रता के बाद भी मुझे पूरा विश्वास है कि धर्मसंबंधी ग्रन्थों पर इनकी आस्था सच्ची है, इसमें ज़रा भी नकल या बनावट नहीं है। मित्र डल-

हौजी के एक बड़े दफ्तर में नौकरी करते हैं। पत्नी के मरे दस-बारह साल हो गये। बच्चे ननिहाल में रह कर पढ़ते-लिखते हैं।

बालीगंज लेक के पास एक फ्लैट लेकर रहते हैं। पिछले रविवार को मैं इनसे मिलने गया। तिमंजिले पर एक किनारे फ्लैट है, लेक की ठंढी हवा आती रहती है। रविवार की शाम वहाँ बिताना, और उनके धार्मिक विश्वासों का मजाक उड़ाना मुझे बहुत पसन्द है। दरवाज़ा खुला था, मैं ड्राइंगरूम में जाकर बैठ गया। सोचा, मित्र कहीं आसपास ही होंगे, अभी आ जाएँगे। तभी बाथरूम से किसी लड़की की आवाज़ सुनाई दी। मैं चौंक गया, चालीस साल के एकान्तप्रेमी विधुर के बाथरूम में लड़की! दबे पाँव अन्दर चला गया। बाथरूम में दरवाजे के ऊपर शीशा लगा होता है।

मैंने उचक कर देखा।

फिर, चुपचाप वापस ड्राइंगरूम में आकर बैठ गया। मुझे लगा, जैसे अभी तुरत ही भूकम्प होने लगेगा, और यह मकान ढह जाएगा और शहर के सारे मकान ढह जाएँगे, और मलबे के अन्दर से लाशें निकालने के लिए कहीं कोई आदमी नहीं बचेगा!

दो मिनट बाद ही वह लड़की और मेरे मित्रवर बाहर आ गये। लड़की की उम्र मुश्किल से ग्यारह साल होगी। गोरी-चिट्टी लड़की, फूलदार फ्रॉक, बालों में नीली रिबन, तीखा नाक-नक्शा, और आँखों में कोई हलचल नहीं, उत्ताप नहीं, शर्म नहीं, कुछ भी नहीं। जैसे, उसकी आँखें पत्थर की बनी थीं। लड़की ने दोनों हाथ जोड़ कर मुझे नमस्ते किया, और मित्रवर से बोली—"जाती हूँ, चाचाजी" और, चली गयी।

लड़की के जाते ही वे ठहाका लगाकर हँस पड़े,—"आखिर, तुमने पकड़ ही लिया?"

"कौन है यह लड़की?"—मैंने पूछा।

"बगल के फ्लैट की है। बाप की नौकरी चली गयी है, फ्लैट का किराया भी नहीं दे पाता। रोज लड़की को भेजता है, कि चाचाजी से दो-चार रुपये माँग लाओ!"

(तीन)

खैर, मित्रवर को तमाचा लगाकर मैं वापस तो चला आया, मगर, रास्ते भर सोचता रहा। अब भी सोच रहा हूँ कि भगवद्गीता और टैगोर की गीतांजलि और अरविन्द और विवेकानन्द की रचनाएँ मेरे इस शरीफ दोस्त को शैतान बनने से रोक क्यों नहीं सकीं? उपनिषद् और वेदान्त और संहिताओं ने उन्हें क्यों नहीं बताया कि ऐसा करना घोर अपराध है, पाप है, नीचता है, अनैतिकता है?

और, इस सवाल के बाद मुझे लगता है कि ज्ञान, विद्या, बुद्धि, धर्म, पाप-भय, धार्मिक ग्रन्थ, इनमें से कोई भी चीज आदमी के कार्यों को अनुशासित करने की क्षमता नहीं रखती है। क्षमता रखती है, समाज-व्यवस्था। क्षमता रखती है, अर्थ-व्यवस्था। क्षमता रखती है, शासन-व्यवस्था और राजनीति।

इस लड़की के बाप की नौकरी नहीं गयी होती, वह गरीब नहीं होता, तो मेरे दोस्त को यह मौका नहीं मिलता, कभी नहीं मिलता। असली बात गरीबी! किताबों से और मजहब से कुछ नहीं होता है, होता है गरीबी से और

अमीरी से ! आदमी चाहे हेनरी मिलर की किताबें पढ़े या बाइबिल पढ़े—उसके कार्यों में कोई फर्क नहीं पड़ता है। फर्क तब पड़ता है, जब पड़ोस की लड़की दो रुपये माँगने आ जाती है, और फ्लैट में दूसरा कोई नहीं होता है, जो पुलिस को खबर दे सके !

मेरे मित्रवर स्वामी विवेकानन्द को पढ़ते हैं, और मैं हेनरी मिलर और सदाअ्रत हसन मन्टो और डी० एच० लॉरेन्स पढ़ता हूँ। मगर, अध्ययन के द्वारा हममें कोई फर्क नहीं आया है, नहीं आएगा। फर्क हममें यही है कि वे सात सौ रुपये प्रतिमाह कमाते हैं, और मैं बड़ी कठिनाई से मास में पचास-साठ रुपये उपार्जन कर पाता हूँ। और, इसी फर्क के कारण वे दस साल की लड़की को बाथरूम में ले जाते हैं, और मैं एक नवोदित कवयित्री के 'स्नेहमय' पत्रों का उत्तर देने में डरता हूँ।

किताबों को पढ़ने से आदमी अच्छा या बुरा नहीं बनता है। किताबों में आदमी को बदलने की ताकत नहीं है। आदमी को बदलने की, शैतान या फरिश्ता बनाने की ताकत सिर्फ एक चीज में है, वह है रुपया। और,

रुपया राजकमल चौधरी के पास नहीं है, मन्टो और मोपासाँ के पास नहीं है, हेनरी मिलर के पास नहीं है। रुपये रहते तो हमलोग दुनिया को एक खूबसूरत और पवित्र और धार्मिक स्थान बनाने की कोशिश जरूर करते। कोशिश हम अपनी किताबों से भी जरूर कर रहे हैं—मगर, जिनके पास रुपये हैं, वे हमारी किताबों को अश्लील बताते हैं, वे हमारी किताबों को जब्त कर लेते हैं, वे हमारी किताबों को आग में जला देते हैं—क्योंकि, हमारी किताबें उनके सामने एक आईना होती हैं और अपनी तस्वीरें देखने से वे डरते हैं।

हिन्दी प्रकाशक-संघ : उपलब्धियाँ और कार्यक्रम

श्री कृष्णचन्द्र बेरी

'अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ' राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रकाशकों की सर्वोच्च अधिकारी संस्था है। हिन्दी के सभी वर्गों के प्रकाशक इसके सदस्य हैं और देश की विभिन्न प्रान्तीय एवं नगर प्रकाशन संस्थायें इसकी सहयोगी हैं। वैसे तो हमारे देश में प्रकाशकों की संगठित संस्थायें प्रान्तीय और नगर स्तर पर १९३० से ही चली आ रही हैं, परन्तु अखिल भारतीय स्तर पर हिन्दी प्रकाशकों की इस संस्था की स्थापना १९५४ की मई में दिल्ली में हुई। संघ के उद्देश्य हैं :

अ—हिन्दी पुस्तकों के प्रकाशकों के हितों का संरक्षण और सामूहिक प्रतिनिधित्व करना।

आ—प्रकाशन-व्यवसाय को समृद्धिशाली और गौरवान्वित करना।

इ—प्रकाशन-व्यवसाय सम्बन्धी आधुनिक जानकारी एवं तथ्यों का प्रसार करना।

ई—हिन्दी साहित्य के स्तर को उत्तरोत्तर ऊँचा करना तथा उसके अभावों की पूर्ति के लिए प्रयत्न करना।

उ—लेखक, प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेताओं के पारस्परिक सम्बन्धों में सामंजस्य स्थापित करना।

ऊ—उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पत्र निकालना, पुस्तकालय स्थापित करना, पुस्तक-प्रदर्शनियाँ करना तथा अन्य उचित सम्भावित प्रयत्न करना।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पिछले ८ वर्षों में संघ ने बहुत ही सक्रिय कदम उठाये हैं। हिन्दी प्रकाशकों तथा पुस्तक-विक्रेताओं के हितों के संरक्षण की दृष्टि से संघ ने सबसे बड़ा कार्य यह किया कि पाठकों को हिन्दी पुस्तकें सर्वत्र एक ही मूल्य पर उपलब्ध हों, इसके लिए नेट बुक समझौता भारत के हिन्दी पुस्तक-विक्रेताओं और प्रकाशकों के बीच लागू किया। संघ के इस प्रयत्न से सत्साहित्य उचित मूल्य पर जनता को मिलने लगा, साथ ही प्रकाशकों तथा पुस्तक-विक्रेताओं को भी आर्थिक लाभ हुआ। कतिपय कारणों से संघ के इस समझौते के कार्यान्वयन में इधर व्याघात आ पड़ा है, परन्तु हमें आशा है कि लखनऊ अधिवेशन इस अड़चन को दूर करने में सफल होगा। पुस्तकों पर रेल का किराया अधिक न हो, इस पर संघ ने सम्बन्धित मंत्रालय से पत्राचार किया। साथ ही अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक-संघ के निश्चयानुसार एक शिष्टमंडल २४ फरवरी १९५५ को प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू से देश में विभिन्न प्रकाशकीय समस्याओं पर बात-चीत करने के लिए मिला। इस अवसर पर रेलमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री उपस्थित थे। नेहरूजी ने श्री शास्त्रीजी से प्रकाशकों की माँगों पर विचार करने को कहा, परिणामस्वरूप पुस्तकों का किराया रेल-मंत्रालय ने आधा कर दिया। पुस्तकों पर पोस्टेज कम करने की दिशा में संघ ने आंदोलन किया और अभी भी इस दिशा में प्रयत्न जारी है। टेंडर-प्रथा के विरुद्ध संघ ने आन्दोलन किया और उसका परिणाम यह हुआ कि केन्द्रीय सरकार के शिक्षा तथा वित्त मंत्रालय ने एक पत्र द्वारा विभिन्न राज्य सरकारों को लिखा है कि अच्छा हो कि पुस्तकों पर टेंडर न माँगा जाय। पुस्तकें बौद्धिक तथा आध्यात्मिक चेतना की प्रतीक हैं और इनपर टेंडर माँगने की प्रथा उचित नहीं है। पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध संघ के प्रयत्न अभी जारी ही हैं।

प्रकाशन-व्यवसाय को समृद्धिशाली और गौरवान्वित करने की दिशा में संघ ने अपने अभी तक के कार्यकाल में आशातीत कार्य किये हैं। विभिन्न अवसरों पर संघ द्वारा विचार-गोष्ठियों का आयोजन किया गया, जिनके द्वारा प्रकाशकों को सुझाव दिया गया कि वे उच्चकोटि के प्रकाशन करें और मुद्रण-आकल्पन में आधुनिक वैज्ञानिक तौर-तरीके अपनायें। प्रकाशकीय मर्यादा को समझते हुए सत्साहित्य प्रकाशित करें। गन्दी व्यापारिक होड़ में न पड़ें और ऐसे कार्य करें जिनसे राष्ट्रीय जीवन में प्रकाशन-

व्यवसाय का सम्मान्य स्थान बना रहे। संघ ने अब तक दो विचार-गोष्ठियाँ आयोजित की हैं। इनमें से पहली सन् १६५८ में २८ सितम्बर से ४ अक्तूबर तक दिल्ली में हुई, जिसका उद्घाटन केन्द्रीय शिक्षामंत्री डॉ० के० एल० श्रीमाली ने किया। इस गोष्ठी में ग्रेट ब्रिटेन तथा अमेरिका के अधिकारी विद्वानों के अतिरिक्त देश के चुने हुए प्रकाशकों, लेखकों तथा सरकारी अधिकारियों ने भाग लिया। दूसरी विचार-गोष्ठी भी दिल्ली में ही सन् १६६० में १७ से १६ नवम्बर तक 'पुस्तक-व्यवसाय में सहकारिता' विषय पर हुई जिसका उद्घाटन भारत सरकार के शिक्षा-सचिव श्री पी० एन० कृपाल ने किया। इस गोष्ठी में भारत सरकार के शिक्षा-मंत्रालय के शिक्षा-उपदेष्टा सरदार सोहनसिंह, नीदरलैंड दूतावास नई दिल्ली के फर्स्ट कल्चरल सेक्रेटरी श्री जे० ई० शाप, राजपाल एण्ड सन्ज के व्यवस्थापक श्री दीनानाथ मलहोत्रा, राजकमल प्रकाशन के डाइरेक्टर इन्चार्ज श्री ओंप्रकाश तथा हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय के व्यवस्थापक श्री कृष्णचन्द्र बेरी ने सहकारिता के विभिन्न पहलुओं पर अपने-अपने निबन्ध प्रस्तुत किये।

प्रकाशन-व्यवसाय सम्बन्धी आधुनिक जानकारी और तथ्यों का प्रचार करने में उपर्युक्त विचार-गोष्ठियाँ उपयोगी रहीं। इनके अतिरिक्त, नवम्बर १६५६ में यूनेस्को की दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों की क्षेत्रीय विचार-गोष्ठी में संघ के प्रतिनिधियों ने भारत का प्रतिनिधित्व किया। उपर्युक्त गोष्ठियों के निष्कर्षों का संघ ने अपने सदस्यों में प्रचार किया। संघ की ओर से १६५६ की इटली के फ्लोरेंस नगर में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशक-काँग्रेस में श्री दीनानाथ मल्होत्रा तथा श्री ओंप्रकाश घई, वियेना में अनुष्ठित १६५६ की अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशक-काँग्रेस में सर्वश्री रामलाल पुरी, कृष्णचन्द्र बेरी तथा श्यामलाल ने भाग लिया और वहाँ से लौटने पर भारतीय प्रकाशकों तथा संघ के सदस्यों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय अनुभवों पर रिपोर्ट प्रचारित करायी। संघ ने पुस्तकों के मुद्रण में एकरूपता लाने के लिए अक्षरी तथा वर्त्तनी समिति का निर्माण किया। केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-मंत्रालय ने भी संघ के इस कार्य में सहयोग दिया और इसका एक रूप निर्धारित हो गया है, जिससे भविष्य में हिन्दी के समस्त प्रकाशनों में मुद्रण सम्बन्धी एकरूपता आ जायेगी और विभक्ति आदि की समस्यायें सुलझ जायेंगी।

हिन्दी साहित्य के स्तर को उत्तरोत्तर ऊँचा करने तथा उसके अभाव की पूर्ति के लिए संघ के प्रकाशक-सदस्यों ने काफी कार्य किया है। आज हिन्दी में सभी विषयों पर पुस्तकें उपलब्ध होने लग गयी हैं। संघ ने यह अनुभव किया है कि बौद्धिक और आध्यात्मिक चेतना के लिए ऐसे प्रकाशन किये जाने चाहिए जिनसे जनता में विद्यमान उपर्युक्त चेतनाएँ सजीव रहें और भारतीय पुस्तकों की भूमिका युगानुकूल रहे। इसमें सन्देह नहीं कि आज के भौतिकवादी युग में व्यापारी वर्ग की प्रवृत्ति लाभार्जन की ओर अधिक रहती है, जनहित की ओर कम। परन्तु संघ का यह मत रहा है कि प्रकाशकों को पुस्तकों के कलात्मक रूप पर अधिक ध्यान देना चाहिए और लाभ पर कम। संघ ने सदस्यों को इस बात की समय-समय पर चेतावनी दी है कि प्रकाशक लाभ कम-से-कम लें जिससे सत्साहित्य जनता को कम मूल्य पर सुलभ हो। साथ ही, संघ का सत्परामर्श रहा है कि प्रकाशकों को जनता की रुचि पर पुस्तकें प्रकाशित नहीं करनी चाहिए, बल्कि ऐसी पुस्तकें प्रकाशित करनी चाहिए जिनसे जनता की रुचि सत्साहित्य की ओर आकृष्ट हो। प्रसन्नता की बात है कि आजकल हिन्दी में सभी प्रमुख विषयों पर पुस्तकें उपलब्ध हैं। हिन्दी का प्रकाशन तथा मुद्रण स्तर बहुत हद तक सुधरा है। पुस्तकों की रूपसज्जा, बँधाई आदि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। हिन्दी के प्रकाशकों को अपने साहित्य के गौरव के लिए इसके रहे-सहे अभाव की पूर्ति भी यथाशीघ्र करनी चाहिए।

लेखक, प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता में परस्पर सामंजस्य स्थापित करने के लिए संघ ने अनेकानेक प्रयत्न किये हैं। संघ ने अपनी विचार गोष्ठियों में इन विषयों पर निबन्ध-पाठ करवाये हैं जिनमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जब तक इन तीनों वर्गों में अच्छे सम्बन्ध स्थापित नहीं होंगे तब तक साहित्य के प्रचार की दिशा में उचित प्रगति नहीं हो सकेगी। प्रसन्नता की बात है कि संघ के प्रयत्नों से इस दिशा में आशातीत प्रगति हुई है।

दिल्ली में २७ अप्रैल १६५६ को पुस्तकों के जैकेटों

की एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी संघ की ओर से की गयी जिसमें भारत की विभिन्न भाषाओं के प्रकाशकों के अतिरिक्त आस्ट्रेलिया, आस्ट्रिया, ब्रिटेन, चेकोस्लोवाकिया, चीन, डेनमार्क, फ्रांस, हंगरी, नार्वे, पाकिस्तान, पोलेण्ड, यू० एस० ए०, युगोस्लाविया और कनाडा जैसे प्रमुख देशों ने भाग लिया। संघ के विभिन्न अधिवेशनों के अवसर पर स्मारिकायें प्रकाशित होती हैं जिनमें प्रकाशन-सम्बन्धी उपयोगी सूचनाओं से युक्त लेख आदि रहते हैं। सर्वसाधारण के लिए विभिन्न विचार-गोष्ठियों में पढ़े गये निबन्धों की रिपोर्ट भी संघ ने प्रकाशित की है। प्रदर्शनियों के सिलसिले में संघ पिछले तीन वर्षों से भारतव्यापी पुस्तक-समारोहों का आयोजन करता आ रहा है। संघ के प्रयत्न से ही पिछले वर्ष १४ से २६ नवम्बर तक देश का पहला राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह मनाया गया जिसमें यूनेस्को, देश की विभिन्न प्रकाशन-संस्थाओं, केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों का सहयोग संघ को मिला। इस समारोह के आन्दोलन में संघ को सबसे महत्त्वपूर्ण योग केन्द्रीय सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय का मिला। आकाशवाणी और वृत्तचित्रों द्वारा समारोह के कार्यक्रम प्रसारित किए गये। पटना-अधिवेशन में, जिसका उद्घाटन तब बिहार के राज्यपाल डॉ० जाकिर हुसैन ने किया था, राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह की योजना संघ ने घोषित की थी और तदनुसार राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह देश के पाँच बड़े नगरों, यथा वाराणसी, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा बम्बई में बड़े धूमधाम से मनाया गया। समारोह के समय विभिन्न पत्रों ने अपने विशेषांक प्रकाशित किये, अधिकारी विद्वानों ने 'पुस्तकों की महत्ता' पर व्याख्यान दिये और प्रदर्शनियों का आयोजन हुआ, जिन्हें २०-२५ हजार व्यक्तियों ने देखा। आशा है, संघ आने वाले वर्षों में इस समारोह का रूप व्यापक करने में सफल होगा। इन महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों के अतिरिक्त संघ ने भारतीय मानक-संस्था, देश के विभिन्न रीजनल स्कूल आफ प्रिंटिंग टेकनालाजी तथा फेडरेशन आफ मास्टर प्रिंटर्स से अपने सम्बन्ध स्थापित किये हैं।

संघ के बढ़ते हुए कार्य-क्षेत्र को देखते हुए अब यह आवश्यक हो गया है कि संघ का एक सुदृढ़ कार्यालय स्थापित किया जाय जिसमें विभिन्न विभागों को देखने के लिए वेतन-प्राप्त अधिकारी नियुक्त हों। हिन्दी पुस्तकों की बिक्री के लिए सामूहिक प्रयत्न सहकारिता के आधार पर होना चाहिए। विज्ञापन तथा वितरण-व्यवस्था के लिए सहकारी-संघ स्थापित किये जाँय तो बहुत ही उत्तम हो। प्रकाशक-संघ प्रतिवर्ष हिन्दी की राष्ट्रीय ग्रन्थसूची स्वतः प्रकाशित करे और उसका मूल्य बहुत ही अल्प रखा जाय, जिससे सभी पुस्तकालय उसे आसानी से ले लें। अच्छा तो है कि ऐसी ग्रन्थसूची प्रकाशक-संघ की ओर से निःशुल्क भेंट की जाय। प्रकाशक-संघ की ओर से एक महत्त्वपूर्ण कार्य होना चाहिए १६वीं शताब्दी में प्रकाशित पुस्तकों की सूची का प्रणयन। साथ ही, प्रकाशक-संघ को अपने सदस्यों की जानकारी के लिए एक ऐसी समिति नियुक्त करनी चाहिए जो उन्हें यह सुझाव दे सके कि कौन-सी अनुपलब्ध पुस्तकें छापी जा सकती हैं। संघ की ओर से पाठकों की रुचि का सर्वेक्षण किया जाना चाहिए साथ ही ऐसे पाठकों या पुस्तकालयों की सूची बननी चाहिए जो विषयविशेष की पुस्तकों में दिलचस्पी रखते हों। हिन्दी के प्रकाशकों तथा पुस्तक-विक्रेताओं की वार्षिक डायरेक्टरी यदि संघ प्रकाशित कर सके तो अत्युत्तम कार्य होगा। हिन्दी में प्रान्तीय भाषाओं की अच्छी कृतियों का अनुवाद भी संघ के सदस्य प्रकाशकों को प्रस्तुत करना चाहिए। संघ का मुखपत्र पूर्वयोजना के अनुसार शीघ्र ही प्रकाशित होना चाहिए। मुझे आशा है कि संघ हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि में अपनी भूमिका का उचित रूप से निर्वाह करेगा।

ब्रिटेन में गत डेढ़ सौ वर्षों में पंचतन्त्र और हितोपदेश के अनुवाद तथा इस विषय पर प्रायः एक हजार ग्रन्थ और निबन्ध लिखे गए हैं। जर्मन में तो इसका पूर्ण शोध हुआ और हजारों पुस्तकें और निबन्ध छपे। कोई भी यूरोपियन विद्वान् ऐसा न निकला, जो संस्कृत जानता हो और जिसने इस विषय पर कुछ-न-कुछ न लिखा हो। इसके अनुवाद यूरोप की सभी भाषाओं में हुए हैं।

बाल-साहित्य : प्रणयन का प्रश्न

श्री अखिलेश्वर पाण्डेय

[प्रस्तुत निबंध, हाल में हुए अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक-संघ के लखनऊ-अधिवेशन में, 'पुस्तक-जगत' के संपादक की स्थिति में, तदर्थ विवाद-गोष्ठी में, लेखक को पढ़ने के लिए आमंत्रित किया गया था। किन्तु, गोष्ठी में स्वागतसमिति की अवांछनीय अव्यवस्था के कारण यह पढ़ा नहीं जा सका। हम समझते हैं कि आयोजकों की यह अव्यवस्था संघ की ही अप्रतिष्ठा है। इसे सुबुद्धिपूर्वक संघ समझे—हमारी यह सत्कामना है।—सहायक संपादक]

माननीय सभापति महोदय, आदरणीय आचार्यजी एवं साथियो!

"पुस्तक-जगत" के सम्पादक के रूप में विचारगोष्ठी में आमंत्रित कर जो आदर आपने मुझे दिया है, वह वस्तुतः हिन्दी प्रकाशन-क्षेत्र में "पुस्तक-जगत"-पत्रिका के योग की स्वीकृति और प्रतिष्ठा है। मुझे विश्वास है, अपने बीच मेरे नन्हे व्यक्तित्व को पाकर आपको झटका ही लगा होगा। आपने अपने बीच फिर भी मुझे बैठने और विचारने का यह जो अवसर दिया है, उसके लिए मैं अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक-संघ की स्वागत-समिति का हृदय से आभारी हूँ।

बाल-साहित्य का प्रणयन-प्रकाशन सबसे उत्तरदायित्व-पूर्ण, सबसे कठिन और सबसे महँगा कार्य है। प्रकाशन का यह वह क्षेत्र है, जिसमें प्रकाशक, लेखक और चित्र-कार को समानरूप से सजग और संलग्न होना पड़ता है तथा "टीम" के रूप में सहयोगिता निभानी पड़ती है। इन तीनों कड़ियों में किसी के भी कमज़ोर पड़ने पर प्रकाशन के हल्के होने का निश्चित खतरा है। बाल-साहित्य का प्रकाशन, अन्य प्रकाशनों से भिन्न, योजना-बद्धता की भी सबसे अधिक अपेक्षा रखता है। यहाँ हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि यह उत्तरदायित्वपूर्णता, कठिनाई, महँगापन तथा योजनाबद्धता की अपेक्षा, सभी एक सूत्र हैं।

बाल-साहित्य का प्रकाशन करते समय यह बात बहुत दूर तक भुला देनी पड़ती है कि आप व्यवसायी हैं। आपको महसूस करना होगा कि आप पिता हैं और अपने बच्चों को संस्कार का साँचा देने जा रहे हैं। कम-से-कम स्वतंत्र और लोकतन्त्रीय देश में, बाल-साहित्य के लेखन-प्रकाशन के क्षेत्र में अपनी भावना को इस ऊँचाई पर ले जाकर ही सिद्धान्त और नैतिकता की कसौटी पर कोई प्रकाशक खरा उतर सकता है तथा अपनी कर्त्तव्य-परा-यणता का परिचय दे सकता है। इतना तो आपको सजग रहना ही है कि आप अपने बनाये साँचे में देश के भावी को गढ़ रहे हैं।

राष्ट्रभाषा के प्रकाशक के रूप में यह आपकी प्रतिष्ठा का भी प्रश्न है। यदि आपने यह सजगता न बरती, तो भविष्य जब कभी भी पलट कर पीछे देखेगा, तो आपके व्यावसायिक मनोवृत्ति से विकृत चेहरे को पहचान घृणा से मुँह फेर लेगा। मुझे यह कहने की इजा-जत दीजिए कि आज हिन्दी में जो अधिकतर बाल-साहित्य प्रकाशित हो रहा है, उसमें इस प्रकाशकीय चेतना का निश्चित रूप से अभाव है। वस्तुतः हम मात्र व्यावसायिक दृष्टि से अनुप्रेरित होकर बाल-साहित्य के नाम पर "डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड-साहित्य" दे रहे हैं।

उपर्युक्त उत्तरदायित्व के भी विभिन्न अंग हैं। आपको सोचना है कि बच्चों के स्वाभाविक विकास-क्रम को बनाये रखते हुए, बाल-साहित्य के माध्यम से उन्हें कहाँ तक आप संस्कृत कर सकते हैं कि वे लोकतन्त्रीय देश के स्वतन्त्र चिन्तक बन सकें। लोकतन्त्र के प्रति आस्था रखते हुए अपनी प्रकाशन-नीति को निर्धारित रखने का यह वास्तविक स्थल है। इसी स्थल पर आप सच्चे और सजग पहरुआ होने का परिचय दे सकते हैं। इसका दूसरा पहलू भी है और वह है—निश्चित विचारधारा को पल्लवित करने के उद्देश्य से बीजरूप बाल-साहित्य के बोने की क्रिया सम्पन्न करना, जो आगे चलकर मान-सिक गुलामी के रूप में, व्यक्तित्व में, उभरता है। यह खेद की ही बात है कि हमारे देश की जनप्रिय सरकार, लोकतन्त्र के शब्दों में आस्थावान भी, व्यवहार में बाल-

साहित्य के एक प्रमुख अंग—बच्चों की पाठ्य-पुस्तक—का राष्ट्रीयकरण कर बैठी है। हिन्दी के बाल-साहित्य के प्रकाशकों को उचित है कि सैद्धान्तिक रूप से लोकतन्त्रीय चेतना के इस अवरोध के प्रति अपना विरोध प्रकट करें। यह खतरा पुस्तक-व्यवसाय में खपत के स्थल पर भी है। हिन्दी में, दुर्भाग्य से, बाल-साहित्य की खपत के लिए सम्पूर्णरूप से सरकारी खरीद की ओर हमारे प्रकाशक उन्मुख हैं। यह झुकाव भी इस चेतना के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हो सकता है। जैसा वे चाहें, वैसा ही बाल-साहित्य हम दें—यह बात न तो सिद्धान्ततः ठीक है और न व्यवसाय के विस्तार और भविष्य की दृष्टि से उचित ही।

लेखकीय दृष्टि से हमें यह भी सोचना है कि बाल-साहित्य के माध्यम से मानवीय गुणों का उन्मेष बच्चों में कैसे हो? सार्वजनिक रूप से अनुभूत आवश्यकता, जैसे राष्ट्रीय एकात्मकता की भावना किस प्रकार अंकुरित की जाय? यहाँ उपदेशात्मकता और नीतिकथात्मकता के खुरदरेपन की आशंका अवश्य है, जो बाल-साहित्य से अपेक्षित रस और जिज्ञासा का अपहरण कर लेती है। हिन्दी का सम्पूर्ण पुराना बाल-साहित्य, जो उपदेशात्मक वाक्य से समाप्त होता था, इस रोग से पीड़ित था। अभी भी, जिस मनोवैज्ञानिक सूत्र के सहारे हमें उपर्युक्त गुणों को बच्चों में ढालना है, उसके प्रति न तो हम सतर्क हैं और न सचेष्ट ही। यदि प्रकाशक-संघ जैसी संस्था इस दिशा में प्रयोग और जाँच के लिए विभिन्न आयुवर्ग के बच्चों की प्रयोगशाला तैयार कर, कुछ निश्चित सूत्र निर्धारित कर सके तो एक महान रचनात्मक कार्य सम्पन्न हो सकेगा।

वर्त्तमान की पृष्ठभूमि पर, ऊपर चर्चित उत्तरदायित्व अनेक कठिनाइयों का सृजन करते हैं। हिन्दी में बाल-साहित्य के लिए खुले बाजार का अभाव जहाँ एक ओर है, वहाँ सरकारी खरीद एकमात्र बाजार का रूप ले रही है। ये दोनों ही खतरनाक बातें हैं। आवश्यक है कि हिन्दी के प्रकाशक अपने स्थायित्व के लिए खुले बाजार को बनाने में लग जाएँ; यह कार्य कष्टसाध्य तो अवश्य है, लेकिन क्रान्तिकारी एवं ठोस है।

प्रश्न है कि "खुला बाजार" बने तो कैसे? साम्यवादी देशों से आने वाले सस्ते बाल-साहित्य का हमला हमारे इस बाजार को भी हमसे छीने जा रहा है। प्रकाशक-संघ को चाहिये कि इस बाहरी हमले से हिन्दी-क्षेत्र को बचाने के लिए, अपने जनतंत्र की चेतना को सुरक्षित रखने के लिए, देश के प्रकाशन-उद्योग की समृद्धि के लिए सैद्धान्तिक स्तर पर सरकार से बात करे। साथ ही, यह भी आवश्यक है कि साधन-सम्पन्न और समर्थ हिन्दी-प्रकाशन-संस्थाएँ, न केवल अपने उद्योग की दृष्टि से, बल्कि देश और समग्र व्यवसाय की दृष्टि से भी, भारी संख्या में उतने ही खूबसूरत, सस्ते, साथ ही स्वस्थ बाल-साहित्य प्रस्तुत कर खुले बाजार में इन विदेशी साहित्यों से होड़ पैदा कर दें।

बाजार की कशमकश और हिन्दी-प्रकाशकों की साधनहीनता तथा आर्थिक कमजोरी को निहारते हुए लेखक, प्रकाशक, चित्रकार, ब्लाक-मेकर की सहयोगी संस्था खड़ी कर भी, इस दिशा में, अपने कार्य को काफ़ी सरल बनाया जा सकता है। ऐसे प्रयोग बंगाल में हुए हैं

और इस प्रकार निर्मित वहाँ की कतिपय संस्थाएँ कुछ बड़ी अच्छी चीजें बँगला और हिन्दी दोनों में दे सकने में समर्थ हुई हैं। मेरा विश्वास है कि योजनाबद्ध रूप में सर्वांगसुन्दर तथा स्वस्थ बाल-साहित्य के प्रकाशन में यह योजना कारगर तो सिद्ध होगी ही, साथ ही अधिक संख्या में संस्करण देकर, यथाशक्ति मूल्य कम रख, उसे सर्वसुलभ बनाने में भी यह सहायक सिद्ध होगी।

हिन्दी बाल-साहित्य के प्रणयन के क्षेत्र में, जो पहली महत्त्वपूर्ण कठिनाई सामने आती है, वह है—आयु-वर्ग (Age Group) के अनुसार निर्धारित शब्दकोष (Vocabulary) का अभाव। व्यक्तिगत रूप से भी किसी हिन्दी-प्रकाशन-संस्था ने इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी है। अतः उनका विशेष बाल-साहित्य किस आयु-वर्ग के निमित्त है, इसका निर्देश पुस्तक पर कहीं नहीं होता। जैसे उनका सम्पूर्ण बाल-साहित्य सब आयुवालों के लिए है। जिस उपभोक्ता को जो भा जाए—यही मापदंड है मानो। यह दृष्टिकोण व्यावहारिक स्वार्थ की साधना मात्र है, स्वस्थ बाल-साहित्य के प्रकाशन की वैज्ञानिक पद्धति नहीं। यह मैं मानता हूँ कि शब्द-कोष (Vocabulary) का निर्धारण कोई अकेले के वश की बात नहीं है, पर इस ओर तनिक उन्मुखता भी तो दृष्टिगोचर होती। प्रकाशक-संघ को चाहिये कि अपने उद्देश्यों की सीमा जरा चौड़ी कर, ऐसे महत् कार्यों को भी कार्यक्रम में स्थान दे।

मैंने प्रारंभ में ही कहा है कि बाल-साहित्य का प्रकाशन योजनाबद्धता की अपेक्षा सबसे अधिक रखता है तथा इसके प्रकाशन में लेखक, प्रकाशक और चित्रकार के समान, सम्मिलित, सजग प्रयास की जरूरत होती है। इसमें छिटपुट असंयोजित प्रकाशन द्वारा आप न्याय नहीं कर सकते। मान लें कि विज्ञान-संबंधी विषयों पर बाल-साहित्य के प्रकाशन की, जिससे हिन्दी अभी सूनी-सी है, इच्छा आपके मन में जगी, तो आपको निश्चित करना है कि किस आयु-वर्ग-विशेष के लिए यह साहित्य होगा, इसमें विज्ञान के कौन-कौन-से अंग समाहित किए जाएँगे, जो विशेष आयु-वर्ग के बच्चों के अनुकूल पड़ेंगे। निस्सन्देह वे विषय उनकी रोजाना जिन्दगी से सम्बन्धित और परिचित होने चाहिए। ५ से १२ आयु-वर्ग वाले बच्चों के लिए आणविक शक्ति जैसे विषय की चर्चा हास्यास्पद ही होगी। और फिर, यह भी आपको निर्णय करना है कि किस आकार-प्रकार में चुने विषयों पर कितनी पुस्तकें होंगी। निस्सन्देह ऐसी पुस्तकों के आकार-प्रकार तथा विषयों पर आप अकेले निर्णय नहीं ले सकते। ऐसी मालाबद्ध पुस्तकों के लिए विषय-विशेष के विद्वान और बाल-साहित्य में अभिरुचि रखने वाले व्यक्ति की, सम्पादक के रूप में, नियुक्ति आवश्यक होती है। आपकी दृष्टि निश्चित करेगी कि "कमर्शियल-आर्टिस्टों" के बीच अपनी इन पुस्तकों के चित्रण के लिए, कौन-सा व्यक्ति उपयुक्त होगा, जो वैज्ञानिक बाल-साहित्यों के चित्रण में विशेष अभिरुचि और दक्षता रखता हो। और, अब तीन – सम्पादक, प्रकाशक और चित्रकार—की टोली तय करेगी कि इन मालाबद्ध पुस्तकों का आकार-प्रकार, रूप-रंग तथा विषय क्या होंगे। और, यहीं बात समाप्त नहीं हो जाती। सम्पादक के साथ विचार-विमर्श कर विषय के अनुरूप लेखकों का निश्चयन आप करेंगे और फिर लेखक-सम्पादक आपस में विचार कर यह तय करेंगे कि किस विषय की कितनी बातें, आयु-वर्ग को दृष्टि में रख, पुस्तकों में समाहित की जा सकती हैं, और तब आयु-वर्ग-विशेष के शब्दकोष को दृष्टि में रख, लेखक पुस्तक की रचना कर संपादक के समक्ष प्रस्तुत करेगा और आवश्यक सुधार के बाद, वह चित्रकार के पास चित्रण के लिए जाएगी। ऐसे बाल-साहित्य के सर्वांग-सुन्दर होने के लिए पूरी पुस्तक का चित्रकार द्वारा "ले-आउट" किया जाना ज्यादा अच्छा होता है। हो सकता है कि "ले-आउट" के सिलसिले में पाठ की एक-दो पंक्तियाँ हटाने की आवश्यकता पड़े, तो उसकी भी गुंजाइश होनी चाहिए। और, इन सारी क्रियाओं के सम्पन्न होने के बाद 'ब्लॉक"-मुद्रण या "आफसेट"-मुद्रण के लिए वह जा सकती है। पुस्तक यदि बहुरंगों में हुई, तो मूल्य को संयमित रखने के लिए बड़ी संख्या में संस्करण देना आवश्यक होता है। बाल-साहित्य की प्रकाशन-क्रिया में योजना का उपर्युक्त विस्तार तथा कठिनाइयाँ, निस्सन्देह इसे महँगा बना देती हैं। अतः, मूल्य उपभोक्ता की क्रय-शक्ति के बाहर न हो जाए, इसके लिए

प्रकाशक के पास बड़ी संख्या का संस्करण देने के अतिरिक्त कोई राह नहीं रह जाती। पर, ऐसे बड़े संस्करण की खपत कहाँ हो, कैसे हो? हिन्दी में बाल-साहित्य के विकास-क्रम में यह समस्या प्रश्नचिह्न डाले खड़ी है। किन्तु, मेरा निवेदन है कि खुला बाजार बनाने और इसपर अधिकार करने के लिए भी यही मार्ग है। समय आ गया है कि इस दिशा में साधन-सम्पन्न प्रकाशक व्यावसायिक साहस का परिचय दें।

बाल-साहित्य का बाजार बनाने की दिशा में सामाजिक चेतना जगानेका कार्यक्रम भी हमारा होना चाहिए। जब कभी बच्चों को उपहार दें, तो पुस्तकें ही दें, यह बात जन-समाज से व्यावहारिक रूप में स्वीकार करा लेने की जरूरत है। समय-समय पर, जगह-जगह पर 'बाल मेला' का आयोजन हो और पुरस्कृत बच्चों को पुस्तकें दी जाएँ। इन मेलाओं में हिन्दी-बाल-साहित्य की प्रदर्शनी हो— सर्वांग-सुन्दर ढंग से। पर, इन सब प्रयासों के पहले, ऐसे प्रकाशनों से हिन्दी-प्रकाशकों का 'लैस' होना आवश्यक है। ऐसा न हो कि उपभोक्ता की माँग आपके दरवाजे से असंतुष्ट लौट जाए। ऐसा मैं इसलिए कह रहा हूँ कि बाल-साहित्य के विक्रेता के रूप में, अँगरेजी या बँगला पुस्तकों की तरह, बच्चों के सुन्दर और उपयोगी साहित्य की खोज करनेवाले अभिभावकों को असंतुष्ट लौटते, मैंने देखा है।

बाल-साहित्य के प्रणयन में चित्र उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, जितना कि विषय-वस्तु। और, मेरी दृष्टि में, हिन्दी-प्रकाशन में जितनी उपेक्षा इस अंग की हुई है, उतनी विषय-वस्तु की भी नहीं। बाल-साहित्य के बीच से एक विभाजक-रेखा जाती है, जो उसे आयु-वर्ग के अनुसार दो भागों में बाँटती है—पहला, ५ से ८ वर्ष और दूसरा, ६ से १४ वर्ष तक। और, इन दोनों वर्गों की चित्रण-शैलियों में निश्चित रूप से अन्तर अपेक्षित है। जहाँ शिशु-वर्ग की पुस्तकों के लिए मोटी और कम रेखाओं में चित्र होने चाहिए, वहाँ ही उन चित्रों में भावाभिव्यक्ति अधिक-से-अधिक होनी चाहिए। दूसरी ओर, उसके ऊपर के आयु-वर्ग के साहित्य के चित्रों में डीटेल्स की जरूरत होती है। सम्भवतः यही कारण है कि शिशु-साहित्य में कतिपय विदेशी प्रकाशकों ने व्यंग्यचित्र-शैली का बड़ा मजेदार प्रयोग किया है। स्वयं रवि बाबू ने अपने कुछ शिशु-साहित्य में बंगाल के गाँवों में बच्चों द्वारा चित्रित होने वाले भित्तिचित्रों का प्रयोग कर पाठक-बच्चों और चित्रों में एकात्मकता स्थापित करने की मनोवैज्ञानिक पैठ का परिचय दिया है।

अकबर-बीरबल की कथाओं के संग्रह बाल-साहित्य के अन्तर्गत हम भी प्रकाशित करते हैं और बंगाली प्रकाशक भी। पर वे बंगाली प्रकाशक हमसे कितने अधिक सतर्क हैं कि देश-काल के प्रति सम्पूर्ण रूप से बालक का परिचय स्थापित कराने के लिए उनका चित्रण मुगल-शैली में कराते हैं।

इधर कुछ वर्षों में, बाल-साहित्य के अन्तर्गत हिन्दी के कई प्रकाशकों ने लोक-कथाओं की कई सीरीजें, एक साथ उपस्थित कर दी हैं। आश्चर्य है कि ऐसी कई सीरीजों में उपस्थित की गई विभिन्न क्षेत्रों की लोक-कथाओं का लेखक एक ही व्यक्ति है। ऐसी प्रतिभा के लिए हिन्दी को गौरवान्वित ही होना चाहिए कि वह भारत के सभी क्षेत्रों की, कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक तथा असम से लेकर पंजाब तक, बोलियों की जानकारी रखता है। मैं नहीं कह सकता कि वे लोक-कथाएँ कहाँ तक प्रामाणिक हैं या अँगरेजी के माध्यम से उतर कर आई हैं। पर, लोक-कथाओं में क्षेत्र और जन-जीवन-विशेष का जो स्पष्ट चित्र उभरना चाहिए, विभिन्न क्षेत्र को जो वैविध्य दृष्टिगोचर होने चाहिए, वे उनमें कहीं नहीं दीखते। खेद की बात तो यह है कि इनके प्रकाशकों ने भी क्षेत्रों के अनुसार लोक-शैली में चित्र देकर, उनमें वैविध्य उत्पन्न करने या जन-जीवन को अभिव्यक्ति देने की कोशिश नहीं की है।

अन्त में, दो बातें शिशु-साहित्य में प्रयुक्त भाषा के सम्बन्ध में कर लेना चाहूँगा। मैं भाषा की सहजता और सरलता जैसी कही-कहाई बातों की ओर आपका ध्यान नहीं खींचना चाहता। प्रश्न है कि शिशु-साहित्य में भाषा की एकरूपता क्या सम्भव है? हिन्दी निस्सन्देह बच्चों की मातृभाषा नहीं है, वे अपनी-अपनी बोलियों में ही भावाभिव्यक्ति सीखते हैं। ये बोलियाँ अलग-अलग हैं

और शिशुओं का साहित्य ऐसी भाषा में होना चाहिए, जिसमें उनके अधिक-से-अधिक परिचित शब्द हों। निस्संदेह, ऐसी स्थिति में, इन बोलियों से आये शब्दों का प्रयोग क्षेत्र-विशेष के शिशुओं के लिए अपेक्षित होगा। बिहार से आये शिशु-साहित्य में "टमटम" को देखकर दिल्ली का बच्चा चौंकेगा ही, उसे तो "ताँगा" चाहिए और लखनऊ के शिशुओं को "इक्का"। और, यह बात उस उम्र तक चलेगी, जब तक कि हिन्दी के बच्चे इन तीनों शब्दों से परिचित होकर यह न समझ लेंगे कि ये सभी एक ही चीज के द्योतक हैं। भाषा की एकरूपता अतः ८ वर्ष से ऊपर के बच्चों के साहित्य में ही सध सकती है। जहाँ तक नीचे का प्रश्न है, क्षेत्र-क्षेत्र के लिए अलग-अलग शिशु-साहित्य होना चाहिए और इसी दृष्टि के अनुसार सरकार को भी शिशु-साहित्य की खरीद करनी चाहिए।

आप सोच रहे होंगे कि मैं हिन्दी के बाल-साहित्य के लेखन-प्रकाशन की आलोचना-ही-आलोचना कर गया, प्रशंसा के शब्द एक भी नहीं बोला। पर, सच मानिये, बाल-साहित्य, विशेषतया उनकी पाठ्य-पुस्तक के सम्बन्ध में विभिन्न राज्य-सरकारों की नीति, सरकारी खरीद का वर्त्तमान स्वरूप, व्यापक रूप से हिन्दी-प्रकाशकों में बाल-साहित्य के नाम "कतरन मार्का" डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड-साहित्य के प्रकाशन की बढ़ती प्रवृत्ति और फिर दूकान से हिन्दी बाल-साहित्य से असंतुष्ट लौटते हुए अभिभावकों और उनके बच्चों की सूरतें मुझसे यह सब कुछ कहलवा गई हैं। यूँ, मैं राजकमल प्रकाशन, सस्ता साहित्य मण्डल आदि सजग प्रकाशकों द्वारा, विज्ञान-सम्बन्धी बाल-साहित्य के क्षेत्र में, उनके साहसी प्रयास के लिए, उन्हें दाद देता हूँ।

मैं समझता हूँ कि हिन्दी-बाल-साहित्य के वर्त्तमान बाजार के बीच, कोई प्रकाशक एक भी योजनाबद्ध सर्वांग-सुन्दर बाल-साहित्य एक वर्ष में रखता है, तो हिन्दी के प्रकाशन-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योग देता है। मेरा "पुस्तक-जगत" उसका अभिषेक एक साहसी प्रकाशक के रूप में करेगा, यद्यपि मैं नहीं कह सकता कि आप अखिल भारतीय हिन्दी-प्रकाशक-संघ के विधान में, "प्रकाशक" की प्रस्तावित परिभाषा के अनुसार, उसे प्रकाशक मानेंगे या नहीं।

एक बार मैं पुनः स्वागत-समिति के प्रति अपना और "पुस्तक-जगत"-परिवार की ओर से आभार प्रकट करता हूँ। जय हिन्द !

जो विज्ञान और ज्ञान दोनों को ही एक साथ समान भाव से साधते हैं, वे लोग विज्ञान के द्वारा जबकि इस विश्वसृष्टि से पार पाते हैं तो ज्ञान के द्वारा अमरता को भी उपलब्ध होते हैं।

—यजुर्वेद, अ० ४०, मं० ११

बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ का सरकार के समक्ष माँग-पत्र

सेवा में :—

श्रीमान् शिक्षा-मन्त्री, बिहार सरकार,
पटना ।

मान्यवर,

पिछली बार आपके शिक्षा-मन्त्री-पद पर आरूढ होते ही हम प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता-वर्ग आपकी सेवा में, न्याय के निमित्त, अपनी फरियाद लेकर उपस्थित होने वाले थे। इसे हम अपने संघ द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव के रूप में आपको पेश भी कर चुके हैं। किन्तु, चुनाव का कोलाहल सामने पाकर हमलोगों ने आपको कष्ट देना उचित नहीं समझा।

हम सदा से अनुभव करते रहे हैं कि आप-सा सुयोग्य शासक एवं क्रान्तिकारी दृष्टि का व्यक्ति ही शिक्षा-विभाग द्वारा विगत काल में जल्दीबाजी में उठाए गए अप्रजातांत्रिक और अव्यावहारिक कदमों का दृढतापूर्वक परिमार्जन कर सकता है। प्रजातन्त्र-पोषक राज्य में पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण ऐसा ही अव्यावहारिक और गलत कदम था, जिस ओर हम, निम्नलिखित शब्दों के साथ, आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं—

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण :

शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप और वह भी विचारधारा को आरोपित करनेवाला हस्तक्षेप अधिनायकवादी और नौकरशाही की ही नीति होता है, जो सैनिक शासन तथा पराधीन देशों की सरकार द्वारा ही प्रश्रय पाता है। यही कारण था कि विगत काल में केरल की साम्यवादी सरकार के विरुद्ध आवाज बुलन्द हुई थी। यह अफसोस की ही बात है कि प्रजातन्त्र के उन पहरुओं ने जिस सैद्धान्तिक आधार को लेकर अन्य राज्य (केरल) में लड़ाई लड़ी थी, उस सिद्धान्त का अपने ही राज्य में गला घोंट दिया।

आप देखेंगे कि इंगलैंड-जैसे जनतन्त्रवादी देशों में भी, लोकतन्त्र की रक्षा के निमित्त, वहाँ के सजग प्रहरियों ने सरकारी हस्तक्षेप से शिक्षा को हमेशा बचाए रखा है। हमारे देश में भी समाज-चिन्तकों ने सदैव पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध ही अपने विचार व्यक्त किए हैं। इसी प्रसंग में हम सुधी-चिन्तक आचार्य श्री विनोबा भावे के ये शब्द, अपने तर्क की पुष्टि के लिए, आपके सामने रखना चाहते हैं—"सरकार के हाथों में किसी भी प्रकार की शिक्षापद्धति नहीं होनी चाहिए। शिक्षा पर सरकारी प्रभाव का मतलब जनता के विचार तथा मस्तिष्क को बाँध रखना है।"

सुप्रसिद्ध विचारक श्री धीरेन्द्र मजूमदार ने कहा है—"शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण लोकतन्त्र की हत्या है। जहाँ तक केरल में शिक्षा का प्रश्न है, केरल की कोई पृथक समस्या नहीं है, वरन् वह अखिल भारतीय समस्या है।··· काँग्रेस द्वारा शासित भारत के अन्य राज्यों में सरकारी नियंत्रण क्या कम है? ···कई पाठ्य-पुस्तकें शिक्षा-विभाग द्वारा लिखवाई जाती हैं और वही उन्हें प्रकाशित करता है। ···क्या शिक्षा पर यह सरकारी नियंत्रण नहीं है?"

इस सिलसिले में ही अपनी वर्तमान विधान-सभा के अध्यक्ष श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', जोकि बिहार की पाठ्य-पुस्तक-समिति के सदा से सचेत सदस्य रहे हैं, के विचार भी रखना अप्रासंगिक न होगा—"सरकार के लिए जनता का, प्रजातन्त्रीय जनता का पथ-प्रदर्शक मात्र रहना ही श्रेयस्कर है। जनता का हाथ पकड़ कर रास्ते पर घसीटना अच्छा नहीं···।

पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण तो राष्ट्रघातक ही माना जा सकता है। इसमें न तो सरकार का लाभ है और न जनता का···। सरकार यह दावा नहीं कर सकती कि उसकी प्रकाशित पाठ्य-पुस्तकें बाजार में सबसे अच्छी हैं, सस्ती हैं और राष्ट्रीय विचारों से परिपूर्ण हैं।"

किसी भी प्रजातान्त्रिक देश में, जो समाजवादी सिद्धान्त को लेकर आगे बढ़ता है, मूलतः वे ही भारी उद्योग सरकारी नियन्त्रण में लिए जाते हैं, जो देश के

अर्थतन्त्र की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं—जैसे इस्पात-उद्योग, कोयला-उद्योग आदि।

हम यहाँ यह निवेदन करना चाहते हैं कि पुस्तकों का प्रकाशन भारी उद्योग भी नहीं है, बल्कि लघु-गृह-उद्योग है, जिसके समुचित विकास और प्रश्रय के लिए हमारी यह जनप्रिय सरकार वचनबद्ध और सक्रिय है। हमारा यह विचार कि पुस्तक-प्रकाशन मात्र लघु-गृह-उद्योग है, पुस्तक-प्रकाशन-क्रिया के विभिन्न कार्य-स्तर और रूप से स्पष्ट होगा। पुस्तक का प्रकाशन कुछ मुट्ठी भर व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित नहीं है और न तो इस क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिए कोई भारी-भरकम पूँजी की आवश्यकता होती है, जो भारी उद्योगों के लिए अपेक्षित है। यही कारण है कि इस क्षेत्र में अपनी रोजी-रोटी के लिए आनेवालों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। यहाँ हम यह भी निवेदन करना चाहते हैं कि यही एकमात्र क्षेत्र है, जहाँ थोड़ी पूँजी लेकर भी अपनी प्रतिभा के बल पढ़े-लिखे व्यक्ति आदर-पूर्वक अपनी रोटी उपार्जित कर सकते हैं। पुस्तक-प्रकाशन-कार्य भारी उद्योगों की तरह एक व्यक्ति द्वारा नियोजित और एक जगह सम्पादित होकर सम्पन्न होने वाला धन्धा नहीं है, जैसा कि भारी उद्योगों में होता है। पुस्तक-लेखन की क्रिया किसी और व्यक्ति द्वारा सधती है, पुस्तक-प्रकाशन के लिए कच्चे माल, जैसे कागज आदि, का व्यापार और व्यक्तियों द्वारा होता है, छापने का कार्य तीसरे व्यक्ति करते हैं और वह बँधती भी है चौथे हाथ से और चौथे घर में।

प्रकाशन की उपर्युक्त क्रिया से यह स्पष्ट है कि मौलिक रूप से यह लघु-गृह-उद्योगीय धन्धा है। हमें अफसोस है कि हमारी जनप्रिय सरकार, जो लघु-गृह-उद्योगों और उनमें रत व्यक्तियों की रक्षा के लिए वचनबद्ध है, वही पाठ्य-पुस्तक जैसे लघु-गृह-उद्योग का, अनजाने और गलतफहमी में, राष्ट्रीयकरण कर बैठी है।

व्यावहारिक दृष्टिकोण :

राष्ट्रीकरण के पीछे छिपे उद्देश्य सम्भवतः तीन होते हैं—(क) अच्छी-से-अच्छी पाठ्य-पुस्तकें बच्चों को दी जा सकें, (ख) उनके मूल्य कम-से-कम हों, (ग) वे समय पर आसानी हो प्राप्य हो सकें। इन तीनों में मूल उद्देश्य पहला ही है। सोचना यह है कि इसकी सिद्धि किस प्रकार सम्भव है।

राष्ट्रीयकरण में, इसके निमित्त आप निश्चित विषय के सरकारी दृष्टि में विद्वान व्यक्ति से समुचित पुरस्कार देकर पुस्तकें लिखवाते हैं। शिक्षाविदों की समिति द्वारा उसकी जाँच करा उसमें समुचित सुधार कर, फिर चित्रित करा मुद्रण के लिए भेजते हैं। जाँच करने वाले शिक्षाविदों के समक्ष, उस समय, उनकी तुलनात्मक दृष्टि में, कोई दूसरी पुस्तक नहीं होती। इस प्रकार, पुस्तक के प्रणयन में मूलतः पाँच या छः व्यक्तियों का मस्तिष्क कार्य करता है—राष्ट्रीयकरण में। यहाँ एक मौलिक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या हम बच्चों की शिक्षा के क्षेत्र में पाँच-छः व्यक्तियों की बुद्धि को ही पूर्ण-विराम मान लें और वह भी तब, जबकि उनके समक्ष पारस्परिक तुलना के लिए कोई दूसरी कृति न हो! क्या हम इस प्रकार अपने बच्चों को असंख्य व्यक्तियों की सूझ-बूझ से वंचित नहीं रखते? हो सकता है कि सरकार की दृष्टि से ओझल कोई व्यक्ति उसके द्वारा मनोनीत और प्रतिष्ठित व्यक्ति से कहीं अच्छी पाठ्य-पुस्तक, विषय तथा वर्ग की, दे सकता हो।

अपने उपर्युक्त विचार के स्पष्टीकरण के रूप में अपनी बिहार सरकार के द्वारा प्रकाशित पाठ्य-पुस्तकें ही आपके समक्ष रखना चाहेंगे, जिनके सम्बन्ध में, शिक्षा-विभाग द्वारा पिछले दिनों नियुक्त महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की सत्र-कमिटी की रिपोर्ट पर आप दृष्टि डाल चुके होंगे। आपकी तीक्ष्ण और अनुभवी दृष्टि आपके शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत, प्रकाशकों की पाठ्य-पुस्तकों तथा सरकारी पाठ्य-पुस्तकों को, तुलनात्मक दृष्टि से एक क्षण देखकर, निर्णयात्मक वास्तविकता पर पहुँच जाएगी। यह अपने ही राज्य की गाथा नहीं है; कहीं भी, जिस राज्य में भी पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण हुआ है, दुर्भाग्य से, यही बात हुई है।

मद्रास राज्य-सरकार द्वारा प्रकाशित एक पाठ्य-पुस्तक के सम्बन्ध में मद्रास हाईकोर्ट के न्यायाधीश का यह वाक्य, इस प्रसंग में, उल्लेखनीय है—"एक अच्छी पाठ्य-पुस्तक

कैसी नहीं होनी चाहिए, इसका यह एक उदाहरण है। संकुचित मनोवृत्ति के कारण, यह विचार आज सहसा अनुमोदित नहीं किया जा सकेगा कि इस तरह का काम वैयक्तिक उद्योगों के अधीन ही छोड़ देना श्रेयस्कर होगा। शिक्षाधारा के अन्तर्गत एकाधिकार की स्थापना का प्रयास, विशुद्ध आर्थिक क्षेत्र में ऐसे प्रयोग से कहीं अधिक विपत्तिजनक है।"

दूसरी ओर, आप जब खुले बाजार से पाठ्य-पुस्तक स्वीकृत करने के लिए माँगते हैं, तो अनेक उपेक्षित प्रतिभाएँ उभरकर सामने आती हैं। आपके समक्ष तुलनात्मक दृष्टि से विचार के लिए अनेक पुस्तकें होती हैं। वस्तुतः आवश्यकता इस बात की है कि सरकार स्वस्थ पाठ्यानुक्रमणिका दे। उसका संचालन-यंत्र इतना दृढ़ हो कि सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों को, निष्पक्ष चुनाव कर, स्वीकृत कर सके। जनतंत्र में सरकार का सजग पहरुआ होना अपेक्षित होता है, न कि स्वयं संयोजक होना। अच्छी पाठ्य-पुस्तकें स्वस्थ प्रतियोगिता की अपेक्षा सदा रखती हैं।

वस्तुतः पाठ्य-पुस्तकों का मूल्य-निर्धारण भी सरकार ही करती है और इस पहलू को सामने रख कर करती है कि उनके प्रकाशकों और लेखकों को थोड़ा-बहुत लाभांश नहीं, पारिश्रमिक मिल जाए। और, वर्त्तमान में, अपने राज्य में जबकि सरकार द्वारा प्रकाशित पाठ्य-पुस्तकों का मूल्य-निर्धारण अधिक-से-अधिक लाभांश को रखकर किया गया है, वहाँ प्रकाशकों की पाठ्य-पुस्तकों पर उन्हें उचित पारिश्रमिक का अंश भी देने से सरकार कतरा गई है। पाठ्य-पुस्तकों के मूल्य-निर्धारण का मापदण्ड भी दुर्भाग्य से सरकार ने एक ही रखा है, चाहे वह पुस्तक बिना चित्रों की हो या चित्रों से भरपूर हो, एक रंग में हो या बहुरंगों में, व्याकरण की हो या विज्ञान की। पुस्तक का मूल्य-निर्धारण कम-से-कम हो—यही मात्र आवश्यक नहीं है। आवश्यक यह भी है कि मुद्रित मूल्य पर और समय पर बच्चों के हाथ में वे पहुँचें। पाठ्य पुस्तक के राष्ट्रीयकरण के प्रथम वर्ष में, पुस्तकों के अभाव में, बच्चे महीनों भटकते रहे और सरकार पुस्तकें समय पर न दे सकी। इस अभाव ने पुस्तकों के क्षेत्र में भी "चोर-बाजारी" को जन्म दिया। व्यावहारिक दृष्टि से यह भी सोचने की बात है कि जिस बहुसंख्या में आज पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता है बाजार को, क्या सरकार दो-चार या दस ही वर्त्तमान अधिकारियों या कर्मचारियों के बल पर, बिना अपनी समुचित मुद्रण-व्यवस्था के इतनी राष्ट्रीयकृत पाठ्य-पुस्तकें समय पर प्रस्तुत कर सकती है? जबकि वास्तविकता यह है कि, दूसरी ओर, केवल थोड़ी-सी पाठ्य-पुस्तकों को समय पर बाजार में उपस्थित करने के लिये सैकड़ों प्रकाशक, हजारों लेखक-प्रकाशक तथा उनके सहयोगी चित्रकार, मुद्रक और उनके असंख्य कर्मचारी निरन्तर कार्यरत हैं। सरकारी पाठ्य-पुस्तक के इस अभाव ने ही, राष्ट्रीयकरण के दूसरे वर्ष में, पुस्तक-प्रकाशन के पवित्र क्षेत्र में एक दूसरे कुकर्म को जन्म दिया और वह है—'जाली-पुस्तक'। वर्त्तमान में यह संक्रामक रूप में राज्य के प्रत्येक भाग में व्याप्त है। और, इसका नतीजा यह है कि सड़े-गले कागजों पर जैसी-तैसी छपी अशुद्ध पुस्तकें ही जाली पुस्तकों के रूप में बच्चों तक पहुँच रही हैं। हम यह नहीं कह सकते कि सरकार का यह दायित्व भी है या नहीं कि ऐसे कुकृत्यों का वह मूलोच्छेद करे।

व्यावहारिक दृष्टि से, यह भी कैसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण में, 'सिलेबस' के बदल जाने के बावजूद, आर्थिक क्षति के भय से, वित्तीय विभाग के अंकुश के कारण, पुस्तकों के आउट-आफ-डेट (Out-of-date) होने के बावजूद, आप पुस्तकें बदल नहीं पाते!

नैतिक दृष्टिकोण :

हम समझते हैं कि इस लघु-उद्योग में लगे हम हजारों प्रकाशक, लेखक, मुद्रक और हमारे लाखों सहयोगी और इन सब के आश्रित भी इस राज्य की ही जनता हैं। क्या हमारी जनप्रिय सरकार पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ इन सबकी रोजी-रोटी की व्यवस्था का दायित्व लेती है? सरकार कह सकती है कि हमसब वे पुस्तकें प्रकाशित करें जिनकी भारतीय भाषा में कमी है; लेकिन, यह कथन ऐसे ही व्यक्ति का हो सकता है, जो सामान्य (General) पुस्तकों के बाजार और व्यापार से अन-

भिन्न है। वर्तमान स्थिति में, उनके सहारे जिन्दा रहना कठिन ही नहीं, अपितु असंभव है। वास्तविकता तो यह है कि आज इस देश में प्रकाशक-वर्ग पाठ्य-पुस्तकों के सहारे ही खड़ा होता है और तब मात्र हिन्दी-सेवा, भाषा-सेवा और अपनी संस्था के शृंगार की दृष्टि से सामान्य (जेनरल) पुस्तकों का प्रकाशन करता है। ऐसी स्थिति में सामान्य पुस्तकों के अभाव की पूर्ति के लिए भी यह नितान्त आवश्यक है कि पाठ्य-पुस्तकों पर राष्ट्रीयकरण का जाल न बिछे।

अन्त में, हम आपका ध्यान 'टेक्स्ट बुक एण्ड एडुकेशन लिटरेचर कमिटी' द्वारा नियुक्त सब-कमिटी की इस सिफारिश की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं :—

"उप-समिति का यह दृढ़ मत है कि पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण उठा लिया जाए और यह कार्य क्रमशः तीन वर्षों में एक निश्चित कार्यक्रम के अनुसार पूरा किया जाए, किन्तु साहित्य में राष्ट्रीयकरण सम्भवतः वांछनीय होगा।"

हमें विश्वास है, आप उपर्युक्त बातों पर विचार करेंगे तथा शीघ्र-से-शीघ्र प्रजातंत्र की पीठ पर लादे गए पाठ्य-पुस्तक के राष्ट्रीयकरण को हटा, एक शान्त क्रान्ति का श्रीगणेश करेंगे।

विनीत
बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ
पटना-४

[२]

सेवा में—
श्रीमान् कानून-मंत्री, बिहार सरकार,
पटना।

मान्यवर,

अपने बिहार राज्य में, पन्द्रह वर्ष के लोकप्रिय शासन के बावजूद, पुस्तकों के क्षेत्र में फैली और निरन्तर बढ़ती हुई जालसाजी की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करते हुए, हम पुस्तक-व्यवसायी-वर्ग निम्नलिखित शब्द आपके विचारार्थ रख रहे हैं :—

(क) हमारे राज्य में पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण के साथ ही पुस्तक-व्यवसाय के क्षेत्र में एक दुराचार ने जन्म लिया और वह है—पाठ्य-पुस्तकों (सरकारी और गैर-सरकारी दोनों) तथा चलनेवाली पुस्तकों के जाली संस्करण का व्यापार। और, अब तो वह इतना व्यापक हो गया है कि इस क्षेत्र का मुख्य व्यवसाय ही यह हो गया है। उन जाली संस्करणों के कारण, सरकार को स्वयं वर्षों से राजस्व-मद में काफी आर्थिक हानि उठानी पड़ रही है। जहाँ उसकी पाठ्य-पुस्तकों की बिक्री राज्य में विद्यार्थियों की संख्या के अनुसार लाखों में होनी चाहिए, वहाँ महज कुछ हजारों में होकर रह जाती है और उसके द्वारा छपाई गई पुस्तकें सरकारी गुदाम की शोभा बढ़ाती हैं या दीमकों का आहार बनती हैं।

(ख) इसी प्रकार, प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित पाठ्य-पुस्तकों तथा अन्य पुस्तकों के जाली संस्करण धड़ल्ले से निकल आए हैं। कोई भी शासन जनता के जानो-माल की सुरक्षा के लिए होता है और जनतंत्र के युग में, इस दिशा में, उसका उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है। लेकिन, खेद है, हमारे राज्य में वास्तविक प्रकाशकों एवं लेखकों की सम्पत्ति खुले बाजार लुट रही है और सरकार मौन इस अनाचार को देखती जा रही है। दुःख की बात तो यह है कि हमारे देश की शासन-व्यवस्था का मखौल, इस कारण, विदेशों में उड़ाए जाने का मौका मिलता है; क्योंकि कई अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के विदेशी प्रकाशकों, यथा लौंगमेन्स, मैकमिलन, ऑक्सफोर्ड आदि, की पुस्तकों के भी जाली संस्करण हमारे राज्य में निकल आए हैं, और धड़ल्ले से बिक रहे हैं।

(ग) इन जाली पुस्तकों के छद्म प्रकाशकों और विक्रेताओं ने सर्वश्री पंडित नेहरू, मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर, बेनीपुरी आदि अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तर के लेखकों की पुस्तकों को भी नहीं छोड़ा है। और, इस प्रकार वे स्पष्ट रूप से इन महान व्यक्तियों को भी हानि पहुँचा रहे हैं।

चूंकि ये जाली पुस्तकें सड़े-गले कागजों पर अशुद्ध रूप से जैसी-तैसी छपी होती हैं (और ये ऐसी होंगी ही, क्योंकि इनके छापने और प्रकाशित करने वालों की

प्रतिष्ठा का प्रश्न इनके साथ लगा नहीं होता है और अधिक-से-अधिक मुनाफे की भावना उनके पीछे होती है), हमारे राज्य के बच्चों की शिक्षा-दीक्षा पर इसका कुप्रभाव पड़ता है। साथ ही उनके स्वनामधन्य लेखकों और उनके वास्तविक प्रकाशकों की प्रतिष्ठा को भी काफी ठेस पहुँचती है। यह कहना न होगा कि हमारी जनप्रिय सरकार का कर्त्तव्य यह भी है कि गैरकानूनी ढंग से किसी व्यक्ति की प्रतिष्ठा को मिटाने वाले इन असामाजिक तत्त्वों के प्रति कार्रवाई करे।

(घ) इस चक्की में, नैतिकता और ईमानदारी को आधार बनाकर अपनी व्यावसायिक नीति पर चलने वाला पुस्तक-विक्रेता-वर्ग भी निरन्तर पिसता जा रहा है। आज के होड़पूर्ण बाजार में असली पुस्तकों को लेकर (जिनमें लाभांश जाली पुस्तकों के मुकाबिले अत्यन्त कम है) उनके लिए पैर टिकाकर रहना असम्भव हो रहा है; या तो उन्हें अपनी ईमानदारी की वेदी पर शहीद हो जाना पड़ेगा, नहीं तो फिर अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए उन्हें भी उसी 'काले बाजार' का सहारा लेना होगा। और साथ ही, एक दूसरे खतरे का भी, अपनी मान-मर्यादा के प्रति सजग रहने के बावजूद, इन ईमानदार पुस्तक-विक्रेताओं को वक्त-बेवक्त मुकाबला करना पड़ ही जाता है और वह है कि कहीं अनजान में जाली पुस्तकें उनके घर आ गईं, तो वे भी पुलिस के चक्कर में पड़ जाते हैं और उनकी सारी साख धूल में मिल जाती है।

(च) उपर्युक्त परिस्थितियों में राज्य के सम्पूर्ण पुस्तक-विक्रेताओं एवं प्रकाशकों की ओर से आपसे हम अपील करते हैं कि पुस्तकों के जाली संस्करण के व्यापार का उन्मूलन करने की दिशा में शीघ्र-से-शीघ्र आवश्यक कदम उठाएँ। इस संदर्भ में, यहाँ यह कथन अप्रासंगिक नहीं होगा कि वर्त्तमान कानून की कोई धारा या उपधारा स्पष्ट-रूप से ऐसे दुराचार को रोकने में सहायक नहीं है और अब-तक इस सिलसिले में सरकार या व्यक्तिगत प्रकाशकों द्वारा जितने भी मुकदमे हुए हैं, उनमें दोषी व्यक्तियों को कानूनी शिकंजे से मुक्ति मिल गई है। सम्भवतः यही कारण है कि बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ द्वारा दूकान की मुहर-सहित ऐसी जाली पुस्तकें खरीदकर आवश्यक कार्रवाई के लिए सरकार को भेजी भी गईं, पर सरकार मौन बनी रही। अतः यह आवश्यक हो गया है कि—

(i) ऐसा कानून अलग से बने, जो स्पष्ट रूप से जाली पुस्तकों के मुद्रक, प्रकाशक और विक्रेता को सजा के योग्य घोषित करे।

(ii) कानून में यह निर्देश हो कि पुस्तक पर दूकान की मुहर, जहाँ से वह खरीदी गई हो, अवश्य हो। अन्यथा पुस्तक जाली समझी जायगी और जिसके पास बिना मुहर की पुस्तक होगी, वह सजा का भागी होगा।

(iii) हर प्रकाशक (सरकारी या गैर-सरकारी) अपनी प्रकाशित पुस्तक के प्रत्येक संस्करण की एक-एक प्रति सरकार के पास जमा करेगा, जो प्राप्ति की मुहर और तिथि के साथ सरकारी संग्रहालय में जमा रहेगी और जिसकी प्राप्ति की रसीद प्रकाशक को, समय पर काम देने के लिए, दी जायगी। ऐसे सरकारी संग्रहालय में जमा की गई पुस्तकों को, लिखित या विहित साक्ष्य के रूप में, कोई भी न्यायालय ऐसे मुकदमों के सिलसिले में माँग सकेगा।

हमारा विश्वास है, सरकार इस दिशा में शीघ्र-से-शीघ्र कदम उठाएगी और राज्य में पनपे इस व्यापक व्यापार का मूलोच्छेद करने में तत्पर होगी।

निवेदक
सदस्यगण,
बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ
पटना-४

हिन्दी के मूर्धन्य विद्वानों ने रवीन्द्र-साहित्य से हिन्दी-साहित्य को प्रभावित बतलाने में अपनी मेधा-शक्ति का अद्भुत परिचय दिया है, पर हिन्दी ने रवीन्द्र-साहित्य को देश-देशान्तर में फैलाकर और हिन्दी के सन्त-साहित्य तथा भक्ति-साहित्य ने महाकवि की दार्शनिक एवं आध्यात्मिक रचनाओं पर अपना रंग चढ़ाकर सूद के साथ ऋण चुकाने का जो महत्कार्य किया, उसका उल्लेख तक न करना ही उचित समझा गया। *शिवपूजन सहाय*

वाचनाभिरुचि और ग्रन्थानुशीलन

श्री सुरेन्द्र प्रसाद जमुआर

मानव-जीवन में अन्य रुचियों से अपेक्षाकृत 'वाचनाभिरुचि' का विशिष्ट स्थान है। जिसे पुस्तकाध्ययन से अभिरुचि (Interest) है, उसे ही 'वाचनाभिरुचि' कहा जाता है। यह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। मान लीजिए कि किसी काम को निभाने के लिए रुचि उत्पन्न हुई। पर रुचि होने मात्र से काम झटपट हो जाता है, ऐसी बात नहीं। उसके लिए निरन्तर प्रयास और समय लगाना पड़ता है। स्मरणीय है कि वाचनाभिरुचि में इतना घनघोर प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। सच पूछिए तो, इसका विशेष सम्बन्ध हमारी 'ज्ञान-बुभुक्षा', पठन-जिज्ञासा से है। ज्ञान की बुभुक्षा के प्रशमन और अपनी जिज्ञासा व उत्सुकता की शान्ति के हेतु पुस्तक और पत्र-पत्रिकाएँ श्रेष्ठ साधन हैं। ज्ञान की रोचकता व सौंदर्य पढ़ने में है, कंठ की मिठास गीत-रागिनी झंकृत करने में है, कलम की मनोहारिता लिखने में है, नायिका की सुन्दरता चित्त को आकृष्ट करने में है और पुस्तक की सार्थकता वाचनाभिरुचि में है। पुस्तकाध्ययन का आनन्दानुभव पाठक की रुचि पर निर्भरित है।

मानव-मन की अभिरुचि उसकी भावनाओं का प्रकाशन है। मन लगाने से रुचिवर्द्धन और काम सुफल होता है। जो चीज दिलचस्प होती है, वही मनोहर और चित्ताकर्षक लगती है। रुचि दो प्रकार की है, परिष्कृत एवं कलुषित; अर्थात् स्वस्थ एवं अस्वस्थ। परिष्कृत रुचि का पाठक उत्कृष्ट कोटि का होता है, तो अस्वस्थ रुचि का पाठक निकृष्ट कोटि का। एक का कथन जीवन के चिरन्तन मूल्यों को स्वर देता है, तो दूसरे का कथन अंधविश्वास एवं रूढ़ि के बन्धन से जकड़ा होता है। जो परिष्कृत रुचि का साहित्यकार और महापुरुष है, वही समादृत होता है और उसके विचारों से जनता को असीम प्रेरणाएँ मिलती हैं। अस्वस्थ रुचि के लेखक या पाठक की बातें सुनी-सुनाई उड़ती खबरों का विस्फोट हैं, जिनमें हुँकारी के सिवा कुछ नहीं रहता।

हिन्दी में तथाकथित ऐसी रुचि के लेखक हैं, जो सस्ती किताबें लिखकर अपनी लेखनी का करिश्मा दिखाने के लिए बेताब रहते हैं, जिनकी बातों में कोई प्राणवत्ता नहीं रहती। आज बजारू उपन्यास लिखनेवालों की बाढ़ आ गयी है। ऐसे शख्स प्रतिभाहीन, कलुषित रुचि के और पाठकों की आँखों में धूल झोंककर नाजायज फायदा उठानेवाले लेखक होते हैं। इनसे साहित्य का कोई उपकार नहीं, अहित ही है। पाठकों की रुचि को अभिजात्य-संस्कार देने एवं माँजनेवाले लेखक ही साहित्य की सच्ची सेवा कर सकते हैं। जो ठरसेदार लेखक अपना दिमागी भँड़ास निकालना चाहते हैं, सोद्देश्य एवं उपयोगी कृति लिखने में असमर्थ हैं, उन्हें कलम उठानी ही नहीं चाहिए!

पुस्तक पढ़ना मनुष्य का एक नैसर्गिक गुण है। जिसे पढ़ने का शौक नहीं, वह डिग्री पाकर भी विचारशून्य है। प्रायः यह देखा जाता है कि जो सुशिक्षित बन्धु कहीं नौकरी कर अच्छा वेतन पाते हैं, वे कपड़े पहनने में बड़े शौकीन होंगे, अपने बच्चों के पहनावे पर ज्यादा ध्यान देंगे, नाश्ता-चायपान करेंगे और बड़े ठाट से बिस्तर पर अँगड़ाई लेंगे, लेकिन दो आने का अखबार नहीं खरीदेंगे। जो निर्धन है, वह अगर मँहगी पुस्तकें नहीं खरीदता है तो कुछ हद तक क्षम्य है। पर जो धनी है, उसे तो पुस्तकें खरीदकर पढ़नी चाहिए। जीवन की सुख-सुविधा के वास्ते ऐसे संपन्न लोग पैसे को पानी की तरह लुटा देते हैं, किन्तु पुस्तक की मद में अपनी कमाई का एक आना प्रतिशत भी खर्च करना नहीं चाहते। अजीब स्थिति है। यह ठीक है कि वर्तमान परिस्थिति इतनी नाजुक है कि मनुष्य को कमाई से ही फुर्सत नहीं मिलती, तो वह क्या ग्रन्थानुशीलन कर पाएगा? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। पर अवकाश का अवसर मिलता ही नहीं, ऐसा कहना समीचीन नहीं। रात को आदमी निद्रा की गोद में विश्राम करता है। जिसमें वाचनाभिरुचि होगी, वह बिछावन पर लेटकर कुछ तो पढ़ेगा ही, भले वह एक घंटा कम सोए।

पुस्तक पढ़ना एक 'नशा' है। जिसे ग्रन्थानुशीलन की खुमारी लग जाती है, उसे भूख-प्यास भी नहीं लगती।

इसी प्रकार का पाठक 'किताबी कीड़ा' (Voracious Reader) होता है। उसे हर वक्त पुस्तक ही सूझती है। पढ़ना-लिखना उसका एक कार्यक्रम बन जाता है। ग्रंथानुशीलन मनुष्य की निस्सीम वाचनाभिरुचि का प्रत्यायक है। जिसे पढ़ने की दिलचस्पी नहीं, उसके लिए महज दो-ढ़ाई फर्मे की पत्रिका, पुस्तक या पैम्फलेट पढ़ना असंभव है। यहाँ तक कि वह इधर-उधर 'टन्डइली' मारेगा, निरुद्देश्य टहल लगाएगा, पार्क की सैर करेगा, लेकिन पुस्तकालय जाना पार नहीं लगेगा। मनुष्य चाहे तो, आर्थिक दृष्टि से अंकिचन होकर भी पुस्तकालय-सरीखे विद्यामन्दिर में अपनी ज्ञान-जिज्ञासा को तोष दे सकता है। मनुष्य की वाचनाभिरुचि में जितनी अधिक शुचिता व निर्मलता आती है, ग्रन्थानुशीलन की दिशा में भी उसकी प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती है।

किसी ग्रन्थ का मनोयोगपूर्वक परिशीलन करना कठिन साधना और अनुचिन्तन का प्रतिफल है। यह काम भात-दाल का कौर या चटपटी मसालेदार की हाजमा-पुड़िया नहीं, घनघोर परिश्रम की वस्तु है। जो अनुसंधायक शोधकर्त्ता होते हैं, उन्हें ऐसा ही श्रमसाध्य अध्ययन करना पड़ता है। असंख्य ग्रन्थों के अनुशीलन एवं छानबीन के बाद एक भारी-भरकम पोथी तैयार होती है, जिनका सन्दर्भोपयोगी महत्त्व असंदिग्ध है। ग्रन्थानुशीलन करना बाएँ हाथ का खेल नहीं, टेढ़ी खीर है; यह काम वही संपन्न करता है जिसमें धैर्य, साहस है और जिसका चित्त एकाग्र है, पढ़ने-लिखने की उमंग है। किसी चीज के सम्यक अध्ययन में मनुष्य के चित्त की एकाग्रता (Concentration of mind) अत्यन्त अनिवार्य है। सच्चा अध्ययन वही है, जिसमें मन रमे और हम खो जाएँ। जिस प्रकार योगी प्रभु-चिन्तन में इस कदर समाधिस्थ हो जाता है कि उसे भूख भी नहीं सताती, वही स्थिति ग्रन्थानुशीलन में होनी चाहिए। परीक्षोत्तीर्ण होने की दृष्टि से किया गया अध्ययन सच्चे अर्थ में 'अनुशीलन' नहीं है। ऐसे अध्ययन में पाठ्यक्रम को समाप्त करने की धुन सवार रहती है जिससे 'रसानुभूति' नहीं हो पाती। काम को चलता-फिरता कर दिया जाता है। परीक्षा का कोर्स समाप्त करने में अध्ययन का कुछ स्वाद तो लेते हैं, पर उससे उनके अन्तर का उत्स उभरता नहीं। अतः आंतरिक आनन्द का उन्मेष करने में स्वतंत्र रूप से किया गया अध्ययन ही सहायक होता है। टेक्स्ट-बुक या तत्संबंधी नोट-बुक की तैयारी में मनुष्य का दृष्टिकोण सीमित व बहिर्मुखी रहता है, जबकि अध्ययन का आनन्द लेने में दृष्टि प्रखर, व्यापक और अन्तर्मुखी होनी चाहिए।

एकाग्रता का अध्ययन में असाधारण महत्त्व है। अध्ययन पर चित्त को केन्द्रित करने के हेतु कतिपय टेकनिक अपनाने पड़ते हैं; उदाहरणार्थ—(१) अनावश्यक शारीरिक विक्षिप्तता का परित्याग और स्वास्थ्य को बनाए रखना (२) दिवा-स्वप्न नहीं लेना (३) कार्यकुशलता (४) विश्राम का समय निर्धारित कर लेना (५) रुचि जाग्रत करने की चेष्टा (६) आत्म-अनुशासित आदत डालने का निरन्तर अभ्यास (७) विघ्न-बाधाओं पर विजय पाना (८) बचकाने दृष्टिकोण को प्रश्रय देना । पढ़ते वक्त दिमाग में अवांछनीय बातों को नहीं लावें। ग्रन्थों का अध्ययन केवल ज्ञान ही नहीं प्रदान करता, प्रत्युत मनुष्य की मनोवृत्ति में परिष्कार लाकर जीवन को उन्नत बनाता है। पढ़ने के लिए तो इतना अथाह ज्ञान-कोष है कि मनुष्य आजीवन पढ़ सकता है, पर ज्ञानरूपी समुद्र की थाह पाना दुष्कर है। वह व्यक्ति अवश्य ही भाग्यवान और बुद्धिमान है, जो निरन्तर ग्रन्थानुशीलन का लाभ उठाता है। लेकिन पुस्तकों का चुनाव व्यावहारिक व विवेकसम्मत होना चाहिए। अच्छी पुस्तक वह साबुन है, जिससे मनरूपी कपड़े के मटमैले रंग धोए जा सकते हैं। अध्ययन के उपरान्त मनुष्य का चित्त ऐसा भास्वर हो जाता है, जैसे साबुन से धोने पर कपड़े नयनाभिराम लगते हैं। पुस्तक-प्रेमी ही विद्यानुरागी और समाज की सांस्कृतिक विभूति हैं।

यद्यपि महाकवि (रवीन्द्रनाथ) ने हिन्दी लिखने-पढ़ने और बोलने में कभी अपनी अभिरुचि नहीं दिखाई, तथापि राष्ट्रभाषा के पद की महत्ता का ध्यान रखकर हिन्दी ने उन्हें अविरल स्नेह के साथ अपनाया।

—शिवपूजन सहाय

पुस्तकालय-अध्ययन : निर्देशक के रूप में

श्री परमानन्द दोषी

पुस्तकालय की महत्ता स्थापित करते समय लोग इसके विविध गुणों का उल्लेख तो करते हैं, पर यह अपने पाठकों के अध्ययन-प्रवाह को सही और समुचित ढंग से प्रवाहित होने देने में भी सहायक होता है, इसका उल्लेख करना लोग प्रायः भूल जाते हैं।

यह बात सत्य है कि निरक्षरों को साक्षर बनाने, साक्षरों को सुशिक्षित करने और सुशिक्षितों को विद्वान् बनाने में अन्यान्य शिक्षण-संस्थाओं की अपेक्षा पुस्तकालय ज्यादा सक्षम और सहायक होते हैं। लोगों में पुस्तक-प्रेम और अध्ययन-लिप्सा उत्पन्न करने में भी पुस्तकालयों की अपनी निजी विशेषतायें हैं और इस कारण इनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, कम ही होगी। पर यह भी सत्य है कि जिस व्यक्ति में अध्ययन की स्वाभाविक अभिरुचि होती है, जिसमें उत्कट पुस्तक-प्रेम होता है वह किसी प्रकार की पुस्तकालय-सेवा के अभाव में भी अपनी अध्ययन-पिपासा की प्राप्ति करता ही है। किसी पुस्तकालय की सेवा सुलभ नहीं होने पर ऐसा व्यक्ति या तो स्वयं पुस्तकें खरीदकर या अपने मित्रों से माँगकर अथवा अपनी निजी लाइब्रेरी बनाकर मनोवांछित पुस्तकें पढ़ा ही करता है। इस प्रकार के लोगों के उदाहरणों की कमी नहीं, जो जीवन भर किसी पुस्तकालय के प्रांगण में गये नहीं पर अच्छे अध्येता रहे।

तो वैसे लोग जो खूब पढ़े-लिखे हैं, जिनका बौद्धिक धरातल बड़ा ही ऊँचा है, मानसिक स्थिति बड़ी अच्छी है, भले-बुरे का जिनमें विवेक है और उचित-अनुचित को समझने की जिनमें हंसबुद्धि है—अच्छी पुस्तकें स्वयं चुनने की सामर्थ्य रखा करते हैं। अपनी पैनी बुद्धि के सहारे, अपने अनुभव और अध्ययन के आधार पर वे सदैव सद्ग्रन्थ ही अपने अध्ययनार्थ चुनेंगे, बुरी पुस्तकों की ओर उनकी अभिरुचि होगी ही नहीं। पुस्तकों के सतत साहचर्य के कारण अच्छे ग्रन्थों के चयन का उन्हें अच्छाखासा अनुभव हो जाता है।

यदि कभी भ्रमवश गलती से बुरी पुस्तक भी उनके हाथों पड़ जाती है, तो उसके कुछेक अंशों को पढ़कर ही वे उसके बारे में पूरा-पूरा जान लेने में समर्थ हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में अव्वल तो वे उसे आगे पढ़ते ही नहीं और यदि किसी प्रकार पढ़ भी जाते हैं, तो अपने विकसित व्यक्तित्व, प्रौढ़ बुद्धि एवं उच्च मानसिक धरातल के कारण उसके दुष्प्रभाव से अपने को एकदम बचा लेते हैं। सारांश यह है कि चतुर, सतर्क और सुलझे हुए पाठकों पर बुरी पुस्तकें बुरा असर डालने में असफल रह जाया करती हैं।

ऐसे पाठक यदि स्वयं पुस्तकें खरीद कर पढ़ें या किन्हीं अन्य सूत्रों से उन्हें प्राप्त कर पढ़ें, हर दशा में उन्हें लाभ-ही-लाभ होगा। हाँ, यदि किसी साधन-संपन्न और सुसंचालित पुस्तकालय से उनका संपर्क है, तो फिर सोने में सुगन्ध वाली उक्ति ही चरितार्थ होकर रहेगी। क्योंकि ऐसे पुस्तकालय से तो उन्हें बुरी पुस्तकें मिलेंगी ही नहीं, उन्हें पढ़ने का सवाल ही नहीं उठता।

जो साधारण पाठक हैं, जिनके पास औसत अथवा औसत से कम ज्ञान, विवेक और बुद्धि है, वे अगर उपयुक्त पारंगत पाठकों एवं अधीती अध्येताओं की भाँति पुस्तकों के पढ़ने में 'फ्रि लान्सिंग' करेंगे, तो उन्हें धोखा अवश्य होगा। हर आकर्षक कवर वाली पुस्तक, अच्छे मुद्रण वाली पुस्तक और अच्छे लेखकों की लिखी हुई पुस्तक हरदम अच्छी ही नहीं हुआ करती। बुरी पुस्तकें कभी-कभी

वेश्याओं की-सी तड़क-भड़क और हाव-भाव से पाठकों को फँसाती हैं और संपर्क साधने पर पाठक अपने को सत्यानाश की-सी स्थिति में पाता है। जबतक औसत पाठक फुटपाथों, रेलवे बुकस्टालों एवं बाजारू पुस्तक-विक्रेताओं के यहाँ से खरीदकर बिना किसी निश्चित सिद्धान्त के सिर्फ पुस्तकों की चटक-मटक और उसकी रंगीन भड़कदार भाषा को देखकर पुस्तकें पढ़ता रहेगा, तबतक वह छला जाता रहेगा। उसे अध्ययन का लाभ नहीं बुझायेगा, पुस्तक से प्रीत जोड़ने पर उसे मलाल ही रहेगा और ग्रन्थ-गरिमा की बात उसके लिए धोखे की टट्टी ही बनी रहेगी।

ऐसे पाठकों के लिये पुस्तकालय पथ-प्रदर्शक अथवा दिशा-निर्देशक का काम करता है। संयोगवश विश्व में औसत ज्ञान के पाठकों की ही संख्या सर्वाधिक है। अपने भारत में तो अधिकांश लोग औसत से भी नीचे स्तर के हैं। ऐसी अवस्था में, उन्हें अध्ययन की सही दिशा मिलना अनिवार्य है। यह दिशा बतलाने का काम निस्संदेह पुस्तकालय करता है। भ्रष्टरुचि और बिगड़ी तबियत के असंख्य पाठकों को बहुतेरे पुस्तकालयों ने सुरुचि-संपन्न और गंभीर अध्येता के रूप में परिणत कर दिया है, इसके अनेक दृष्टान्त उपस्थित किये जा सकते हैं।

शहरी और ग्रामीण पुस्तकालय के औसत सदस्य नवयुवक ही हुआ करते हैं। ऐसे नवयुवकों का व्यक्तित्व निर्माणावस्था में हुआ करता है। यदि उन्हें अच्छी पुस्तकें पढ़ने को मिलती रहीं, तो उनका व्यक्तित्व बन जाता है, यदि बुरी पुस्तकें मिलीं, तो उनके व्यक्तित्व का विनाश हो जाता है। पर पुस्तकालय तो हितकारी संस्था है न! वह भला क्यों चाहेगा कि उसका पाठक-सदस्य पतन के गर्त में गिरे। यदि कोई पुस्तकालय ऐसा चाहता भी है तो, वह पुस्तकों का घर नहीं, विष और वासना का घर है।

हमारे अधिकांश नवयुवक पाठक पुस्तकालयों से रोमांस और सस्ते प्रणय-वर्णन की पुस्तकें चाहते हैं। ऐसी पुस्तकों को पढ़ने से उनमें एक उत्तेजना पैदा होती है, उनकी कमजोर प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है और उन्हें एक गलत ढंग का संतोष होता है। मगर पुस्तकालय अपने ऐसे पाठकों की इच्छा-आकांक्षा के आगे आत्म-समर्पण कर दे और अपने पुस्तकालय को वैसी ही अनुने-

चित और अवांछनीय पुस्तकों से भर दे तो फिर निभ चुकी उससे अपनी उत्थानमूलक महत्त्वपूर्ण भूमिका। पुस्तकालय को चाहिये कि वह अपने पाठकों की पाठ्याभिरुचि को परिष्कृत-परिमार्जित करे, उसे अच्छी-अच्छी पुस्तकें पढ़ने को दे, पढ़ने की प्रेरणा का बीज-वपन उनमें करे। यदि वह ऐसा नहीं करता है, तो फिर उसके रहने से न रहना ही श्रेयष्कर है।

इसीलिये पुस्तकालयों में पुस्तकों के निर्दोष संग्रह और चयन पर अतिशय जोर दिया जाता है। पुस्तकाध्यक्ष की योग्यता को पुस्तकालय की एक महत्त्वपूर्ण निधि समझा जाता है। पुस्तकों में अमृत-तुल्य संजीवनी-शक्ति होनी चाहिये और पुस्तकाध्यक्ष में व्यक्ति और समाज को समुचित दिशा की ओर ले चलने की नेतृत्व-शक्ति।

इस परिपेक्ष्य में यदि हम अपने देश को रखकर देखते हैं, तो हमें अपने पुस्तकालयों को पाठ्य निर्देशक का रूप देना परम आवश्यक प्रतीत होता है। यहाँ अभी व्यापक अशिक्षा है। लोग अज्ञानान्धकार में निरुद्देश्य भटके जा रहे हैं। नाना प्रकार की रूढ़ियों से हमारा समाज, और हमारे लोग ग्रस्त हैं। अन्धविश्वास और गलत-सलत मान्यतायें हमारे सामने विकराल रूप में खड़ी हैं। हमारे चारों ओर निराशा और किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता का घना कुहरा छाया है। जो निरक्षर-भट्टाचार्य हैं, उनके लिए तो काला अक्षर भैंस बराबर है ही, जो पढ़े-लिखे भी हैं उन्हें पुस्तक और अध्ययन से नफरत है। और, जिन्हें पढ़ने-लिखने का शौक भी है तो, कुशवाहा कान्त, प्यारेलाल आवारा आदि के बाद कोई दूसरा लेखक उन्हें नजर ही नहीं आता।

ऐसी स्थिति में यदि पुस्तकालय भी पाठ्य-निर्देशन का अपना आवश्यक आर्य छोड़ दे, तो इस देश का भगवान ही मालिक होगा। यदि आप पाठक या अध्येता हैं, पुस्तकालय के निर्देशन में अपनी अध्ययन-धारा को प्रवाहित होने दीजिये और यदि आप पुस्तकाध्यक्ष या पुस्तकालय-संचालक हों, तो अपने प्यारे पाठकों को पढ़ने-लिखने में दिशा-निर्देश कीजिये।

गत मास का साहित्य

श्री जयप्रकाश शर्मा

[इस सर्वेक्षण एवं आकलन के लिए प्रकाशकों, लेखकों एवं संपादकों से प्रार्थना है कि वे अपनी गतिविधियों से स्तंभलेखक को परिचित कराते रहें। कृपया समस्त सूचना-सामग्री इस पते पर भेजने का कष्ट करें : श्री जयप्रकाश शर्मा, १७/८२ आनन्दपर्वत, दिल्ली-५। —संपादक]

कोई भी बात कहने से पूर्व मैं पाठकों के प्रति अपनी अनुपस्थिति की क्षमा चाहता हूँ और विश्वास दिलाता हूँ कि भविष्य में ऐसा न हो, इसके लिए प्रयत्नशील रहूँगा।

'गत मास का साहित्य' में इस अंक में उन सब घटनाओं पर तो विचार नहीं हो सकता—जो इस पूरे अन्तराल में घट गईं, अलबत्ता लेखे-जोखे के अन्तर्गत कुछ घटनायें इस प्रकार व्यक्त भी की जा सकती हैं :—

गत अन्तराल में हमसे एक नहीं, कई महारथी बिछुड़ गये, जिनमें महाप्राण निराला ही नहीं, लोकगीतों और उर्दू शायरी को हिन्दी में लाने के उन्नायक पं० रामनरेश त्रिपाठी की हानि तो है ही।

भगवतीचरण वर्मा को इस बरस साहित्य अकादमी यानी भारत सरकार ने ५,०००) का नकद पुरस्कार तथा राजा राधिकारमण को पद्मविभूषण से भूषित किया है। इस परम्परा को मानते हुए भी यह कहना अनौचित्यपूर्ण नहीं होगा कि महज 'भूले बिसरे चित्र' पर पाँच हजार रुपये देकर या पद्मविभूषण की पदवी बाँट कर ही सरकार को अपने कार्य की इतिश्री नहीं कर लेनी चाहिये और उसे राजस्थान के उस साहित्यकार के प्रति भी जागरूक होना चाहिये जिसने वसीयत में अपने पूरे साहित्य को साथ जलाने की माँग की है। यूँ यह बात काफी सहजता से ली गई है, पर सवाल यह पैदा होता है कि क्या राजनीति से हट कर भी साहित्यकार का कोई मोल है, क्योंकि अभी भी एक नहीं, दर्जनों साहित्यकार हैं, जिनकी सरकार तथा समाज उपेक्षा किये हुए है, महज इसलिये कि वे उतने चुस्त नहीं हैं कि अहं को ताक पर उठाकर रख सकें। और, संभवतः यही कारण है कि वे इतना परिश्रम करते हुए भी उपेक्षित हैं।

यूँ तो हर साल पुस्तकों का प्रकाशन होता ही है, और होता रहेगा, जिसमें कुछ की भरती महज प्रकाशन के लिए होती है और कुछ का प्रकाशन होता है जनता के खास तौर से अपरिपक्व अवस्था के पाठकों के दिमाग का शोषण करने के लिए। दरसल देखा जाय तो सबसे ज्यादा साहित्य इसी आशा के अन्तर्गत प्रकाशित होता है और संभवतः समाज इसकी सबसे बड़ी कीमत अदा करता है। ये घासलेटी साहित्य; जिनके मुख्य गढ़ दिल्ली और इलाहाबाद हैं— इस तेजी से विस्तार करते जा रहे हैं कि कभी तो आश्चर्य होता है कि आखिर हम, समाज और सरकार, हैं कहाँ। प्रस्तुत साहित्य, जिसमें मुख्य साहित्य 'कथा-साहित्य' ही होता है; और उनमें जो लेखक आते हैं, उनकी मनोवृत्ति इतनी कुत्सित होती जा रही है कि यह कहते हुए भी लाज आती है कि ये लोग साहित्य लिखते हैं या साहित्य का पेशा (वेश्या-वृत्ति के समान ही) करते हैं। यूँ इन सब का दारोमदार देशव्यापी किराया-खोर छोटे-मोटे पुस्तक-ग्रह हैं, जो बारह आने की छपे मूल्य की किताब का एक दिन का किराया दो आने भी ले लेते हैं और छिपाकर रखी यौन-उत्तेजना की पुस्तक का चार भी आना। जबतक इस गंदी प्रवृत्ति से छुटकारा नहीं मिलता तबतक ये सारे-के-सारे आयोजन व्यर्थ हैं।

अन्त में जो मुख्य घटना हुई, पर जो स्वयं में अंतिम नहीं, वह है पाकेट बुक्स का निरंतर प्रकाशन। अबतक जो संस्थायें इस क्षेत्र में हैं, उनकी गति का क्रमवार ब्योरा इस बात का द्योतक है कि हिन्दी-क्षेत्र कहने भर को ही विशाल है—यूँ उसके पाठकों की क्रयशक्ति 'न' के बराबर है और पाकेट बुक्स की खपत के लिए भी अन्य आकर्षणों

के अलावा अन्यतम कमीशन का भी भुलावा देना होता है और इस तरह इन सब उत्साही प्रकाशकों को, जिनमें अनुभव भी है और सामर्थ्य भी, अपना काम काफी कम करना होता है। कुछ पाकेट-बुक्स-प्रकाशकों ने उपर्युक्त मनोवृत्ति का सहारा भी लिया और घिनौना तथा हास्यास्पद साहित्य हिन्दी-जगत को देकर अपने कार्य की इतिश्री कर डाली। फिर भी जबतक आपके सम्मुख यह लेख होगा :—

(१) हिन्द पाकेट बुक्स अपना पुस्तक-'शतांक', अर्थात् सौ पुस्तकें छाप चुका होगा। यह कम बड़ी बात नहीं।

(२) राजकमल पाकेट बुक्स की तब तक ७२ पुस्तकें प्रकाश में आ गई होंगी।

यूँ इस प्रकाशन-संस्था ने एक सीमा तक एक बड़ा अच्छा प्रयास यह किया है कि हिन्दी के छपे 'क्लासिक' को अल्प मोल पर प्रकाशित किया। वास्तव में यही एक 'शानदार कार्य' हम हिन्दी वाले इस क्षेत्र में कर सकते हैं।

(३) सस्ता साहित्य अल्पमोली पुस्तकों का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है; और जब इस संस्था ने अपनी पाकेट-बुक्स की घोषणा की थी तो कम-से-कम इन पंक्तियों के लेखक ने एक राहत की साँस ली थी कि इस सामर्थ्यसम्पन्न संस्था के हाथ इतने लम्बे होंगे कि अन्य अवसरवादी संस्थायें इसके सम्मुख हार जायेंगी। पर काफी खेद से इस बात को व्यक्त करना पड़ता है कि उक्त संस्था ने उस गति से, जितनी की अपेक्षा थी, कार्य नहीं किया; न गति में और न कोटि में। आशा करनी चाहिये कि आगामी बरस में यह संस्था और अधिक तेजी से कार्य करेगी।

(४) प्रचारक पाकेट बुक्स बनारस ने भी इस क्षेत्र में बड़े जोर-शोर से पदार्पण किया था और उसी गति से कार्य हो भी रहा है। पर वही खपत वाली बात। जो लोग अवसरवादी नहीं हैं उन्हें इस क्षेत्र में परिश्रम ज्यादा करना पड़ता है और लाभ का तो मालिक कोई और ही बनता है। फिर भी प्रचारक पाकेट बुक्स, श्रेष्ठ पाकेट बुक्स परम्पराओं में से एक है; जिसकी नींव से पाकेट बुक्स परम्परा उद्भावित हुई थी।

(५) अशोक पाकेट बुक्स दिल्ली ने भी काफी शोर से, काफी गति से कार्य किया था, पर त्रिशंकु की तरह लटकता हुआ बीच के मार्ग में, जिसे 'मिडिल क्लास' कहकर सम्बोधित किया जाता है, इस संस्था को पड़ना पड़ा; और नयी प्रतिभा प्रस्तुत करने का काम काफी मँहगा पड़ा। फिर भी, महँगा हो या सस्ता, एक स्तुत्य कार्य तो था ही, जिसे निभाने के लिए काफी धैर्य आवश्यक होता है।

(६) संध्या पाकेट बुक्स और अर्चना पाकेट बुक्स तथा साथ ही भारत सेवक समाज पाकेट बुक्स ने इस दिशा में वही किया जो एक व्यवसायी व्यक्ति करता है। जिस करवट ऊँट बैठे, बैठ जाने दो। जिधर व्यापार दीखे, उधर चल पड़े। ये पाकेट बुक्स छपते रहें तो भी ठीक है; छापना बन्द कर दें तो भी कोई और अंतर नहीं पड़ेगा, क्योंकि एक जायेगा तो दूसरा आ जायेगा। एकाध उच्चकोटि के लेखक की किताब, तीन-चार बंगला-उर्दू-जन-साहित्य और अंगरेजी का मलीदा तथा दो नये चेहरे, या फिर एक ही लेखक की लगातार छपी पुस्तकों का प्रकाशन। यही हाल स्टार पाकेट बुक्स का भी है। व्यापारियों के क्षेत्र में कला का मूल्य शायद अधिक नहीं होता।

(७) सप्तसिन्धु प्रकाशन और अजन्ता पाकेट बुक्स उपर्युक्त संस्थाओं से भी एक कदम नीचे हैं, अतः ये लोग व्यावसायिक दृष्टि से भी असफल रहे हैं।

(८) साहित्य में सम्प्रदायवाद तथा हिन्दूराष्ट्राय नमः जैसी प्रवृत्ति को अगर आप ताक पर रखकर पढ़ सकें तो गुरुदत्त का साहित्य भी कम दिलचस्प नहीं है और पाकेट बुक्स में तो बराबर लेबिल-पैंकिंग करने में इसका नाम अग्रगण्य है। पर सवाल तो आत्मा और शरीर का है। मुर्दा-निकले पिरामिडों को देखकर कबतक बहला जा सकता है, यह वास्तव में सोचने को बाध्य किया जा रहा है। नटराज पाकेट बुक्स इसी परम्परा का प्रतीक है।

(९) उपन्यासों के माध्यम से लोकप्रिय होने वाली सबसे सस्ती सीरीज निकालने वाली सुमन पाकेट बुक्स

दिल्ली आठ हिन्दी के मौलिक और चार उर्दू के उपन्यास छापने के बाद बारह आने से रुपये पर आ गई—और अगले चार एक रुपये के उपन्यासों में संभवतः सभी मौलिक उपन्यास देना इस बात का परिचायक है कि पाठक अब उर्दू, बंगला, अंग्रेजी के रूपान्तरों से भलीभाँति ऊब चुके हैं।

(१०) पाकेट बुक्स की बात तबतक अधूरी ही रहेगी, जबतक कि हिमालय पाकेट बुक्स का उल्लेख नहीं किया जाय। हिमालय पाकेट बुक्स हिन्दी के उस उपन्यासकार का प्रयास है जिसे पाठकों का सबसे ज्यादा स्नेह पाने का गर्व है। प्यारेलाल आवारा, जिनके हाथ में इलाहाबाद की नहीं, पूरी लैंडिंग लायब्रेरी की मार्कीट है; अपनी यह पाकेट बुक्स किसी गहन उद्देश्य से लाये हों, यह बात इनके छपे साहित्य में ही देखनी है तो कहना होगा कि हिमालय पाकेट बुक्स कच्चे और पक्के का सम्मिश्रण नहीं, संगम है। पर जब लेखक किसी बात को हाथ में लेता है, तो इसके अतिरिक्त भी आशा की जाती है।

पाकेट बुक्स का वर्गीकरण

सम्पूर्ण पाकेट बुक्स के आकलन पर विषयदृष्टि से देखा जाय तो हमें विषय के रूप में निम्न तथ्य प्राप्त होंगे :

कथा-कहानी (उपन्यास) :	६९%
कहानी साहित्य :	५.३ प्रतिशत
नाटक साहित्य :	००.७ प्रतिशत
योग	७५.०
शेष विविध साहित्य :	२५ प्रतिशत
जिसमें	
शायरी :	१६ प्रतिशत
ज्ञान-विज्ञान, व्यावहारिक ज्ञान :	६ प्रतिशत
गृहस्थ विज्ञान :	३ प्रतिशत
अन्य :	३ प्रतिशत

कथा-साहित्य में अगर ध्यान से देखा जाय तो जितने उपन्यास प्रकाशित हुए उनमें ६१ प्रतिशत उपन्यास-अनुवाद थे। अनुवाद बंगला, गुजराती और उर्दू से हुए थे। पर सही श्रेष्ठ कथा-साहित्य नहीं आ सका, यह बात तो विचारणीय है ही। लेखकों में गुरुदत्त, यज्ञदत्त, ओमप्रकाश शर्मा तथा मन्मथनाथ गुप्त और या यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र ऐसे रहे जिन्होंने धड़ल्ले के साथ उपन्यास प्रकाशित करवाये।

कुल मिलाकर पाकेट बुक्स की स्थिति ऐसी ही दीन है, जैसी एक साल पहले थी; और इसके लिये पाठकों की क्रयशक्ति ही नहीं, प्रकाशकों की व्यापारी दृष्टि और लोभ-संकोच भी उत्तरदायी है।

अन्य पठनीय साहित्य

श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन का नया ग्रन्थ—पूर्व और पश्चिम—उन लोगों के लिए है जिन्हें भारत बाजीगर का देश दिखलाई देता और या जो यूरोप के सामने भारत को श्रीहीन तथा फीका समझते हैं। यूँ लेखक के इस भाषण-संग्रह का सत्कार होगा, यह सही है; पर अच्छा हो अन्य लेखक भी इसी तरह की परम्परा का अनुकरण करें। इस क्रम में दूसरी पुस्तक नैवेद्य है जिसे रवीन्द्रनाथ का नाम लेखक के रूप में पाने का सौभाग्य मिला है, और तीसरी पुस्तक है ताराशंकर वंद्योपाध्याय की राधा। पर इन पंक्तियों के लेखक की निजी राय यह है कि हरकारा इससे भी ज्यादा प्रभावपूर्ण उपन्यास है।

राजपाल एन्ड संस के यहाँ से ही प्रकाशित आनन्द प्रकाश जैन का 'पलकों का ढाल' एक सरस और इतिहास-रस में रँगा उपन्यास है; जिसमें गुलामों की सलतनत और गुलामों की सत्ता, आकाश में चमचम करती रजिया के प्रणय और शौर्य का दिलचस्प वर्णन है। यह वर्णन क्योंकि साधारण पात्रों द्वारा असाधारण रूप से प्रस्तुत किया गया है; अतः ख्याति का अधिकारी तो है ही। पर यह उपन्यास अगर और भी विकसित हो पाता तो संभवतः ज्यादा रसपूर्ण होता, जो अब संभव नहीं।

प्रचारक पाकेट बुक्स की नई दस पुस्तकों में से सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है राहुल सांकृत्यायन की मसूरी पर आधारित कहानियाँ—जो कहानियाँ होते हुए भी किसी उपन्यास से कम नहीं हैं। मसूरी के पूरे जीवन को समेटकर आगे बढ़ती हैं और यह संभवतः एक नई दिशा है। इस सेट की 'गोरी हो गोरी', वनपाखी, कटी पतंग—कथा-साहित्य की उत्कृष्ट रचनायें हैं। सैट की अन्य पुस्तकों में

चमत्कारिक अनुभूतियों पर जरूर ध्यान जाता है; जिसमें महज वर्णन है। अच्छा होता लेखक इनके साथ उनके कारणों की गहराई में जाने का प्रयास करते, ताकि पुस्तक चमत्कारिक कम और वैज्ञानिक अधिक होती। अगले सैट में हम ऐसी ही किसी पुस्तक की प्रतीक्षा करेंगे।

पढ़कर ही अभिनेय-दर्शन का मजा देने वाला अनूदित नाटक 'अन्तर्द्वन्द्व' संभवतः अपनी थीम; हास्य-व्यंग्य के कारण इतना बढ़िया बन पाया है; जिसका अगर भारतीयकरण भी कर दिया जाता तो ज्यादा अच्छा होता।

युगल किशोर पाण्डेय का 'कलियुगी शैतान' और ओमप्रकाश शर्मा का 'तूफान फिर आया' गत मास के दो अविस्मरणीय उपन्यास हैं, जिन्हें अन्य साहित्यकारों और उच्चकोटि के पाठकों का स्नेह भी प्राप्त होगा। दोनों ही उपन्यास अपने कलेवर के कारण अगले कई सालों तक याद किये जायेंगे। किन्तु 'तूफान फिर आया' जो वास्तव में गजनी के सुलतान महमूद के अन्त और सही अन्त को प्रदर्शित करता है, ऐसी उपन्यास-कड़ी है; जिसमें दिलचस्प शैली का निवाह करके कुछ सही तथ्यों का भी निवाह किया गया है। आशा है इस कड़ी के अन्य उपन्यास भी प्रकाश में आयेंगे।

'अनामंत्रित मेहमान' आनन्द शंकर माधवन का ऐसा वृहद् उपन्यास है जिसे प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। भारतीय जीवन, आध्यात्मिक वृत्ति और सहज विश्वसनीय घटना को लेकर चलने वाले इस अनामंत्रित नहीं, आमंत्रित उपन्यास को अगर माधवनजी कुछ कम कलेवर में भी ले आते तो संभवतः और भी ग्राह्य हो उठता। पर वह नन्हा अबोध बालक, जिसको लेकर उपन्यास चलता है, संभवतः और भी ज्यादा कलेवर माँगता है।

अपना देश : अपनी भाषा

राष्ट्रभाषा के नाम पर अबतक एक नहीं, कई बड़े काम हुए हैं। जगह-जगह प्रसार हुआ है, पर दरसल हम कहाँ हैं यह उन बेचारे साहित्यकारों के कठोर जीवन से ही मालूम होता है जो गरल को पीकर साहित्यसुधा की रचना करते हैं। वास्तविक हिन्दी और हिन्दी साहित्यकार क्या हैं; यह समय-समय पर इन पंक्तियों में आपको देखने को मिलेगा :

राहुल सांकृत्यायन हिन्दी के नहीं, भारत और एशिया के जाने-माने विद्वान हैं। जीवन भर इस तपस्वी ने भाग-दौड़ की, परेशानियाँ सहीं और हिन्दी साहित्य को अमूल्य साहित्यरत्नों से भरते गये, पर अब जब ये रोग-शय्या पर हैं तो सरकार को इनकी चिन्ता नहीं, हमें भी नहीं। और, न तो चिन्ता करेगा कोई। चिन्ता करे भी क्यों ?

खैर, राहुल जी तो बड़े आदमी हैं। साधारण उपन्यासकारों की स्थिति क्या है, यह निम्न आँकड़ों से पता लगता है :

'मैला आँचल' का प्रथम संस्करण रेणु को स्वयं अपनी जेब से रचना पड़ा था।

देश भर में एक नहीं, दर्जनों उपन्यासकार हैं; जिनकी पहली कृति ही क्यों, दूसरी-तीसरी कृति के लिये भी निजी पूँजी लगानी पड़ी है; और पूँजी भी वापिस नहीं हो पाई है।

आनन्द शंकर माधवन ने अपना उपन्यास 'अनामंत्रित मेहमान' स्वयं प्रकाशित किया; जिसकी लगभग सौ प्रति वे पत्र-पत्रिकाओं को बाँट चुके हैं। पर बिक्री अभी तक तीन प्रतियाँ ही हैं। बाकी का क्या होगा, यह उन्हें स्वयं नहीं मालूम।

युगलकिशोर पाण्डेय, जिनके लगभग डेढ सौ उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं, अभी भी पचहत्तर रुपये में उपन्यास का कापी-राईट बेचते हैं। कुछ उपन्यासों पर तो उनकी प्रति तक प्राप्त नहीं हुई।

आखिर क्यों ? अपना देश है, अपनी भाषा !

न नादाँ आँ चुना रोज़ी रसानद।
कि दाना अन्दराँ हैराँ ब मानद॥
ईश्वर मूर्खों को इस प्रकार रोज़ी पहुँचाता है कि बुद्धिमान चकित रह जाते हैं।

विद्या और विनय की मूर्ति : स्वर्गीय डॉ० विद्यार्थी

श्री हिमांशु श्रीवास्तव

बिहार नेशनल कॉलेज के प्राचार्य का निवास।

शाम हो चुकी थी। बत्ती जल रही थी और बरामदे पर लगी कुर्सियों पर अनेक लोग बैठे हुए थे। मैंने पहचाना, उनमें से कई प्रोफेसर भी थे। मैंने कल्पना की, उनसे मिलने के लिए मुझे भी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। सोचा, लौट जाऊँ—ये लोग आवश्यक कार्यवश आये होंगे—मैं तो यों ही आया हूँ। क्यों इन लोगों के समय में हिस्सा बटाऊँ?

मगर, मैं बरामदे की सीढ़ियों को पार करने लगा। डॉ० दिवाकर प्रसाद विद्यार्थी अपने कमरे में बैठे थे और बरामदे की ओर खुलने वाली जो खिड़की थी, उससे साफ नजर आ रहे थे। तभी उनकी स्नेह-भरी वाणी सुनायी पड़ी, "हिमांशुजी, प्रणाम। आइए, आइए।"

सोचा, कितना भाग्यशाली हूँ! इतने लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं और मुझे उनके दिल ने पुकार लिया। हिंदी का एक साधारण लेखक उस व्यक्ति से ऐसा आदर-स्नेह पा रहा था, जो अंग्रेजी और हिंदी भाषा के साहित्य पर समान अधिकार रखता था। आजकल जो लोग थोड़ी-सी अंग्रेजी जानते हैं, हिंदी के साहित्यकारों को 'दो कौड़ी का व्यक्ति' समझते हैं। मैं बेधड़क विद्यार्थीजी के समीप पहुँचा। बोले, "कहिये, अच्छे तो हैं। बैठिये, बैठिये।"

जब मैं उनके सामने बैठ गया, तब अनुभव किया कि वे कॉलेज की आवश्यक फाइलों के बीच व्यस्त हैं। बोला, "आपके आशीर्वाद से मजे में हूँ। मगर विद्यार्थीजी, मैं तो यों ही आ गया। आप कार्य-व्यस्त हैं। आपके दर्शन हो गए। फिर कभी आऊँगा।"

वे बोले, "बैठिए, बैठिए, व्यस्तता तो यों ही लगी रहती है। कॉलेज का काम तो रोजी-रोटी का धंधा है। इसमें तो रोज ही लगा रहना पड़ता है। मगर, आपलोगों के साहचर्य का मौका भला रोज कहाँ मिलता है।"

इस प्रकार जब उन्होंने मुझे उत्साहित किया, तब मैं इतमीनान से बैठ रहा। बातों-ही-बातों में नोबेल पुरस्कार-विजेता हेमिंग्वे की चर्चा चल निकली; क्योंकि तुरत ही यह समाचार प्रकाशित हुआ था कि नोबेल पुरस्कार-विजेता हेमिंग्वे ने गोली मार ली। कहने लगे, "यह बतलाना मुश्किल है कि हेमिंग्वे ने धोखे से जान दी या जान-बूझ कर; क्योंकि उनके पिताजी ने भी आत्महत्या ही की थी और वह पिस्तौल भी हेमिंग्वे को अपनी माँ से मिली थी, जिस पिस्तौल से हेमिंग्वे के पिता ने आत्महत्या की थी।"

इसी क्रम में उन्होंने मुझे हेमिंग्वे के बारे में इतनी बातें बतलायीं कि सुनकर मैं दंग रह गया। और, तब मैंने अनुमान किया कि वे किसी विशिष्ट साहित्यकार के कृतित्व के विषय में ही नहीं, उसके व्यक्तित्व के विषय में भी काफी से ज्यादा जानकारी रखते थे।

मैंने कहा, "यह तो बड़े दुःख की बात है कि ऊँचे विचारकों और लेखकों को आत्महत्या के लिए विवश होना पड़ता है।"

विद्यार्थीजी गंभीर हो आए। बोले, "बात यह है कि परम्परा ही ऐसी रही कि ऊँचे विचारकों और लेखकों को दुनियादारी सूट नहीं करती और साधारण लोग जब उन्हें अपने ही स्टैण्डर्ड के अनुकूल नहीं पाते, तब उन्हें तंग करने लगते हैं। मानसिक ऊब और विद्रोह के वश आकर उन्हें ऐसा करना पड़ता है। स्टीफेन ज्विग ने भी आत्महत्या की, मोंपासा ने की और आपलोग तो जानते ही होंगे कि मैक्सिम गोर्की के बारे में भी पता नहीं चला कि उन्होंने स्वाभाविक बीमारी से शरीर का त्याग किया या आत्महत्या करके।"

विद्यार्थीजी से मेरा परिचय तब हुआ, जब वे मेरे एक उपन्यास की समीक्षा आकाशवाणी पर कर चुके थे। इसके बाद जब मेरी भेंट उनसे हुई, तो बोले, "आप मेरे यहाँ आते क्यों नहीं? आप तो उपन्यास-कला के विद्वान हैं। आप आइएगा, तो आपसे मैं थोड़ा सीखूँगा और आप मुझसे कुछ सीखेंगे।"

तब मैंने संशोधन किया, "भला, आप मुझसे क्या सीखेंगे ? आप तो मुझे बीस वर्ष तक यह सिखला सकते हैं कि उपन्यास है क्या चीज ? हाँ, मैं आपके बच्चे के दाखिल हूँ, इसलिए मुझे उत्साहित अवश्य कर रहे हैं।"

'बच्चे के दाखिल' शब्दों का उच्चारण मैंने ठीक ही किया था; क्योंकि उनके बड़े पुत्र मेरी उम्र के या मुझसे दो-तीन साल बड़े हैं। मगर, उन्होंने संशोधन किया, "नहीं, नहीं; हमलोग तो ब्रदर-राइटर हैं।"

उनका स्नेह पाकर मैं ढीठ हो गया और जब मौका मिलता, तब उनके दर्शनार्थ चला जाया करता था। हमलोग केवल साहित्य-संबंधी बातें करते। इधर हाल में उन्हें साहित्य-अकादमी से शेक्सपीयर की अमर कृति 'ओथेलो' का अनुवाद-कार्य मिला था। उसकी चर्चा चली, तो बोले, "अनुवाद करने का कार्य बड़ा कठिन है। 'ओथेलो' को मैंने बार-बार पढ़ा है, कई पृष्ठों का अनुवाद भी किया और उन्हें नष्ट भी कर दिया; क्योंकि मुझे ऐसा लगा कि उसकी भाषा, भाव और लय को समझना कठिन बात है। इसके लिए बड़ी योग्यता चाहिए।"

विद्यार्थीजी के मुँह से ये बातें सुनकर आश्चर्य हुआ; क्योंकि मैं देख रहा था और देख रहा हूँ कि कई टुट-पुँजिए डॉक्टर महीने में शेक्सपीयर की दो कृतियों के अनुवाद कर और प्रकाशित करा रहे थे, और, उसी शेक्सपीयर की कृतियों के अनुवाद के संबंध में अंग्रेजी का वह विद्वान लाचारी प्रकट कर रहा था, जिसकी अंग्रेजी से कभी अंग्रेज प्रोफेसर लोग भय खाते थे। यह बात संभवतः बहुत कम लोगों को ही मालूम होगी कि डॉ० विद्यार्थी यूनियन सर्विस कमीशन के अंग्रेजी-पत्र के परीक्षक भी थे।

एक रोज हम दोनों अंग्रेजी में ही बातें कर रहे थे। मैंने एक अंग्रेजी शब्द का गलत उच्चारण किया। मैं अपने जानते ठीक ही उच्चारण कर रहा था। मेरे बार-बार गलत उच्चारण करने पर बोले, "देखिए, आप गलत उच्चारण कर रहे हैं। इस शब्द का उच्चारण यों होना चाहिए।" फिर उन्होंने मुझे उस शब्द का सही उच्चारण बतलाया और यह भी बतलाया कि पहले इस शब्द का रूप क्या था, यह शब्द किस भाषा से छनते-छनते अंग्रेजी भाषा में आया।

अभी हमलोग बातें कर ही रहे थे कि एक अखबार वाला आया। उसकी बातें सुनने से पहले उन्होंने उसे सोफे की ओर संकेत कर कहा, "बैठिये, बैठिये।"

अखबार वाला डर रहा था। जोर देकर बोले, "बैठिये न भाई, आपकी भी बातें सुनता हूँ।"

अखबार वाला जब सोफे पर बैठ गया, तब मैंने चकित होकर उनकी आँखों में देखा। वे मेरे भाव ताड़ गये। बोले, "सब ठीक है, हिमांशुजी ! गिरिधर मुरलीधर कहे, कछु दुख मानत नाहिं।"

अपनी कानूनी असावधानी से मैं कुछ कानूनी अड़चन में फँस जाने वाला था। मैं उदास था और उनसे चर्चा कर रहा था, "संभव है कि मुझे जेल भी हो जाय।"

बोले, "हिमांशुजी, आप-जैसे लोगों को जेल भेजना आसान है ? आप इतनी चिंता क्यों करते हैं ? ऐसा वक्त आयेगा, तो शहर के बड़े-से-बड़े वकील निःशुल्क आपकी सहायता करेंगे। मैं खुद उनके यहाँ चलूँगा।"

सन् १९५८ में पक्षाघात के चंगुल में आ गया। उस वक्त उनकी भी तबीयत खराब थी। खबर मिली, तो अपने एक छात्र को मेरी कुशलता जानने के लिए भेजा। मेरे जिन प्रोफेसर मित्रों से मुलाकात होती, उनसे बराबर मेरे समाचार पूछते रहते थे।

डॉ० दिवाकर प्रसाद विद्यार्थी उन साहित्यकारों में से नहीं थे, जो केवल नवीन पुस्तकों का सूचीपत्र अथवा विज्ञापन-भर पढ़कर, उन पुस्तकों के बारे में फतवे दिया करते हैं। हिंदी अथवा अंग्रेजी का कोई ऐसा श्रेष्ठ ग्रंथ उनकी आँखों से दूर नहीं रहता था, जिसमें प्रतिभा, रस और साहित्य की नई उपलब्धियाँ हों। कोई भी मलाट-समीक्षक उन्हें धोखा नहीं दे सकता था। बातचीत के सिलसिले में मैं उनसे शिकायत किया करता था कि आप अपनी रचनाएँ प्रकाशित क्यों नहीं कराते। कहते थे, "हिमांशुजी, अपनी रचनाएँ क्या प्रकाशित कराऊँ। और लोगों की रचनाएँ पढ़ता हूँ, तो लगता है—मैं कुछ नहीं हूँ—मेरी रचनाओं से भला जनता को क्या मिलेगा ?"

अब सोचता हूँ (सोचा तो तब भी था) कि विद्यार्थीजी ने इतना पढ़ लिया था कि औसत दर्जे की रचनाएँ उन्हें प्रभावित ही नहीं कर पाती थीं।

एक रोज, जिस प्रकाशन-संस्था में मैं काम करता हूँ, मेरी अनुपस्थिति में आए थे। इस संस्था के अहाते में लाल कनेर के वृक्ष हैं। संस्था के प्रबंध-निर्देशक मदनमोहन पांडेय से कहा, "पंडितजी, मेरे अहाते में लगाने के लिए कुछ लाल कनेर देते, तो बड़ी कृपा होती।"

मुझे जब उनकी इस इच्छा का पता चला, तब मैंने उसकी डालें उनके यहाँ भिजवायीं और चपरासी के हाथ एक पत्र भी भेजा। चपरासी ने लौट कर कहा, "प्रिंसिपल साहब ने आपको प्रणाम कहा है और धन्यवाद दिये हैं। और हाँ, आपके स्वास्थ्य के बारे में पूछ रहे थे।"

इसके बाद अनेकों बार मैं उनसे मिला और घंटों उनका साहचर्य प्राप्त किया। इन्हीं स्थितियों में उन्होंने मुझे बतलाया कि वे हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास अंग्रेजी में लिखना चाहते हैं। इस ग्रंथ के प्रारूप के बारे में भी सविस्तर बातें होतीं। उन्होंने मुझसे वैसी किताबें चाही थीं, जो अंग्रेजी भाषा में हिंदी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करती हों। डॉ० विद्यार्थी की यह महान इच्छा उनके साथ ही चली गई, इसका भी मुझे कम दुःख नहीं है।

अगस्त, १९६१ की एक शाम को, जब मैं उनके यहाँ गया, तो देखा, वे प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ० रघुनाथ शरण से बातें कर रहे थे और कह रहे थे, "अब तो अपने को अच्छा महसूस करता हूँ—थोड़ी दूर टहल-फिर लेता हूँ।"

उनके मुँह से ऐसी बात सुनकर विशेष प्रसन्नता हुई कि दमा का रोग अब विद्यार्थीजी को राहत दे रहा है। मगर, साल भी न पूरा हुआ और विद्यार्थीजी हमलोगों को छोड़ कर चले गए। आश्चर्य और दुःख होता है, मगर यह सोच कर हृदय को धीरज बँधाता हूँ कि शून्य आकाश में प्रकाश की जो तेज रेखा प्रस्फुटित होती है, वह देर तक कहाँ टिकती है, वह तो प्रकाश देकर चली जाती है। विद्यार्थीजी ने भी वही किया। मात्र उनचास वर्ष की अवस्था में हमें गहन अध्ययन, एकांत चिंतन-साधन और विनम्रता का प्रकाश देकर चले गए—हमें संदेश दे गए—अल्प अध्ययन से अपने को धोखा मत दो, अपरिपक्व रचनाएँ देकर पाठक-वर्ग को धोखे में मत रखो और अगर विद्वान हो, तो विनम्रता को ही अपनी सहचरी समझो। विद्यार्थीजी ने हमें यह दिव्य संदेश दिया—विद्या के क्षेत्र में अपने जीवन-मन को विद्यार्थी ही बना कर रखो—अध्यापक नहीं—सलाह देने की आदत कम डालो—सलाह लेना सीखो।

पाणिनि के पूर्व के उल्लिखित आचार्यों के ग्रन्थ अब प्राप्त नहीं होते। परन्तु, उनके पूर्व शब्दशास्त्र का विकास हो चुका था और अष्टाध्यायी की पूर्णता और व्यापकता के कारण ही अन्यों द्वारा रचित व्याकरण अप्रचलित हो गये। पं० श्रीगिरिधर शर्मा कहते हैं कि इन्द्र, आपिशलि, काशकृत्स्न आदि शाब्दिक थे, वैयाकरण नहीं। शाब्दिक और वैयाकरण में कदाचित् वैसा ही भेद है, जैसा आज भाषाशास्त्री और वैयाकरण में माना जाता है। निरुक्तकार यास्क का उद्देश्य वैदिक शब्दों के अर्थ को विवृत करना था, व्याकरण लिखना नहीं। अतः उसका ग्रन्थ व्याकरण का पूर्ण ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता, वह तो वेदों में प्रयुक्त अनेक शब्दों का निर्वचन-मात्र करता है। पाणिनि ने एक विस्तृत धातुपाठ दिया है और वे धातु से शब्द-निर्वचन की पद्धति को स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि अधिकांश शब्द धातुज हैं। पर, कुछ शब्दों के प्रयोग के लिए वे लोक-प्रमाण को भी स्वीकार करते हैं तथा ऐसे शब्दों को 'यथोपदिष्ट' कहते हैं। उणादि प्रत्ययों को वे स्वीकार करते हैं, पर उनके विस्तार में वे नहीं पड़ते। सूत्रकार-रूप में पाणिनि इतने प्रतिष्ठित हुए कि कात्यायन और पतञ्जलि ने उन्हें श्रद्धा से भगवान् कहा हैं : भगवतः पाणिनेः सिद्धम् (कात्यायन); भगवतः पाणिनेः पराचार्यैण सिद्धम् (पतञ्जलि)। वे व्याकरण के प्रमाणभूत आचार्य के रूप में स्वीकृत हुए। परवर्त्ती वैयाकरणों ने वार्त्तिक, भाष्य काशिका आदि की रचना कर पाणिनीय परम्परा का विकास किया।

सूचनाएँ विज्ञप्तियाँ

अ० भा० हिन्दी प्रकाशक-संघ लखनऊ में सातवाँ अधिवेशन

अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ का सातवाँ अधिवेशन २९-३० अप्रैल, ६२ को लखनऊ में उत्साहपूर्ण वातावरण में समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। अधिवेशन का उद्घाटन उत्तर प्रदेश के शिक्षामन्त्री आचार्य जुगलकिशोर ने किया। अपने भाषण में आपने विश्वविद्यालयों की शिक्षा के लिए हिन्दी की उपयुक्त पुस्तकों की माँग को एक चुनौती बताया और कहा कि हिन्दी के प्रकाशक इस चुनौती को आगे बढ़कर स्वीकार करें।

हिन्दी की सबसे पुरानी पत्रिका 'सरस्वती' के सम्पादक श्री श्रीनारायणजी चतुर्वेदी ने अपने भाषण में इस बात पर बल दिया कि प्रकाशकों ने ऐसी साहित्येतर पुस्तकें छापने का साहस भी किया है जिनकी बिक्री नहीं के बराबर होती है। यह उनकी बहुत बड़ी सेवा है। ऐसी पुस्तकों की बिक्री तभी बढ़ सकती है और प्रकाशकों को तभी प्रोत्साहन मिल सकता है, जब हिन्दी-भाषी प्रान्तों के विश्वविद्यालयों में हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बना दिया जाय।

अधिवेशन की स्वागताध्यक्षा रानी लीला रामकुमार भार्गव, एम० एल० सी० ने अपना स्वागत-भाषण प्रस्तुत करते हुए बताया कि प्रकाशन को व्यवसाय के स्तर से उठाकर उसे अपना मिशन बनाना होगा, तभी हिन्दी को उसका सम्मानपूर्ण स्थान दिलाया जा सकेगा। लेखकों की कोमल भावनाओं का आदर करने की सलाह भी आपने प्रदान की।

उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री माननीय श्री चन्द्रभानु गुप्त ने अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए अहिन्दी-पुस्तकों के अनुवाद प्रकाशित करने के परामर्श में कहा, हिन्दी-प्रकाशक अन्य भारतीय भाषाएँ सिखाने वाली सांध्य-कक्षाओं का आयोजन करें तो बहुत अच्छा हो।

अधिवेशन के अध्यक्ष श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने प्रकाशन-क्षेत्र में पदार्पण करनेवाली राजसत्ता की तीव्र आलोचना की और टेंडर-सिस्टम को 'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' की कहावत चरितार्थ करनेवाला बताया। आपने इस बात पर भी जोर दिया कि राज्य-सरकारें पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन, वितरण और अन्य पुस्तकों की खरीद से सम्बन्धित उद्देश्यों, कार्य-पद्धतियों और उपलब्धियों की छानबीन के लिए जाँच-समितियाँ नियुक्त करें। 'नेट बुक समझौते' को आपने हिन्दी-प्रकाशन व्यवसाय में नया प्राण फूँकने वाला बताया और कहा कि उससे अवांछनीय प्रतियोगिता दूर हुई, अच्छे साहित्य का मान बढ़ा, प्रकाशकों को प्रकाश मिला और विक्रेताओं को लाभ पहुँचा। पंजीबंधन के सिलसिले में आपने प्रकाशकों और विक्रेताओं के पारस्परिक सहयोग पर बल दिया और कहा कि प्रकाशकों को भी अपने ऊपर बन्धन लगाने चाहिए और उनका पालन करना चाहिए। विक्रेताओं के एक अखिल भारतीय संगठन की आवश्यकता पर भी प्रकाश डाला और कहा कि प्रकाशकों को राष्ट्र के जीवन का निर्माण करना है और ऐसा साहित्य प्रस्तुत करना है जो समग्र मानव-जाति को आत्मीय दृष्टि से देखने की प्रेरणा देता हो और ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों को सर्वसाधारण और प्रशिक्षित-वर्ग की आवश्यकताओं के अनुरूप प्रस्तुत करता हो। आपने कहा, जो व्यक्ति अशोभन और अमंगलकारी साहित्य के प्रकाशन को अपनी जीविका या मनोरंजन का साधन मानते हैं, उन्हें प्रकाशन-व्यवसाय की पवित्रता को नष्ट करने का कोई अधिकार नहीं है।

श्री दीनानाथ मलहोत्रा ने निम्नलिखित प्रस्ताव प्रस्तुत किया :

"अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ का यह अधिवेशन कार्यसमिति द्वारा प्रस्तुत नेट बुक समझौते के कार्यान्वयन के स्थगन-सम्बन्धी प्रस्ताव को स्वीकार करता है। संघ का दृढ़ विश्वास है कि नेट बुक समझौते के सिद्धांत पुस्तक-व्यवसाय के परम हित में हैं। इस सिद्धान्त के कार्यान्वयन के उद्देश्य से जो नियम-उपनियम बनाये गए थे और जिनका व्यापक पालन नहीं हो सका उनपर

आमूल और पुनः सोच-विचार की आवश्यकता को यह अधिवेशन स्वीकार करता है।

नेट बुक समझौते के नियमों-उपनियमों, अनुबन्ध, पंजीबन्धन, प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं की व्याख्या एवं प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं के सम्बन्ध आदि की कुल व्यवस्था पर विचार करने के लिए संघ का यह अधिवेशन एक समिति नियोजित करता है। इस समिति को संघ यह आदेश भी देता कि वह जून '६२ के अन्त तक नई व्यवस्था के लिए आवश्यक कार्यवाहियाँ पूरी कर ले तथा जुलाई और अगस्त '६२ में नई व्यवस्थाओं और नियमों-उपनियमों के अनुरूप फिर से नया पंजीबन्धन कर ले ताकि १ सितम्बर, '६२ से नेट बुक समझौते के सिद्धांत को फिर से कार्यान्वित किया जा सके। संघ अपने सब सदस्यों से विशेषतः तथा अन्य समस्त पुस्तक-व्यवसायियों से भी अपील करता है कि वे व्यवसाय के परम हित के लिए नेट बुक समझौते के कार्यान्वयन को सफल बनाने के नये प्रयत्नों को अपना अमूल्य सहयोग प्रदान करें।"

मरुभूमि में खोयी नदी (उपन्यास)

लेखक : प्रभाकर द्विवेदी
प्रकाशक : बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना-४
पृष्ठ-संख्या : १५० । मूल्य : २.२५

हिन्दी के जाने-माने कथाकार प्रभाकर द्विवेदी का उपन्यास अपने शीर्षक की छाया में अक्षरशः सार्थक है; क्योंकि इसका नायक वस्तुतः मरुभूमि में नदी को ढूँढ़ने का प्रयास करता रहा और अपनी मुँहबोली बहन से केवल सभ्यता-जनित बाहरी प्यार के सिवा कुछ और नहीं पा सका। अपनी उम्र, स्थिति और संस्कार के अनुसार वह उन क्षणों को ही भोगता रहा था, जब उसे एक नारी-हृदय के मुक्त और आत्मिक स्नेह की आवश्यकता थी—भावुकतावश वह असंपृक्त स्थिति को भी अपने में समाहित पाना चाहता था, मगर पीछे यह स्पष्ट हो गया कि वह और कुछ नहीं, मरुभूमि में नदी को खोज रहा था। द्विवेदीजी ने जिन स्थितियों का चित्रण किया है, लगता है, जैसे स्वयं उन्हें उन स्थितियों में जीना पड़ा है और हृदय की अतल गहराइयों में बहती हुई वह जीवन-धारा कथा-साहित्य बन कर उभर आई है। इनके इस लघु उपन्यास से यह आशा बँधती है कि जैनेन्द्रजी की परम्परा हिन्दी-कथा-साहित्य की एक विरासत ही बन कर नहीं रह जायगी, बल्कि अगली और नई पीढ़ी की बारीक कलमों के द्वारा स्थायी प्रतिनिधित्व करती रहेगी। एक पाठक के रूप में, इनके उपन्यास से ऐसा प्रभाव पाकर मैं इनके उपन्यास का स्वागत करता हूँ; क्योंकि उपन्यास में तराश और तरंग हैं, ऐसी लहरें हैं, जिनमें स्वयं घिर जाने को जी चाहता है।

छपाई-सफाई और पृष्ठ-संख्या देखते हुए मूल्य भी कुछ कम ही जान पड़ता है।

भारत के जागते उद्योग

लेखक : केशव पद्माकर
प्रकाशक : बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना-४
पृष्ठ-संख्या : १६० । मूल्य : ३.००

हिन्दी भाषा में वस्तुतः अब तक स्वतंत्र रूप में, ऐसी एक भी पुस्तक नहीं प्रकाशित हुई थी, जिसके द्वारा भारत की आम जनता को देश के औद्योगिक विकास की जानकारी करायी जा सके। इस दिशा में प्रकाशक का यह एक महत्त्वपूर्ण कदम कहा जायगा। भारत में फैलते और पनपते हुए विभिन्न उद्योगों की विस्तृत जानकारी, आँकड़े सहित, इस पुस्तक में दी गई है, साथ ही भारत सरकार की आर्थिक नीति पर दो ऐसे स्वतंत्र लेख हैं, जिनसे लेखक की अर्थशास्त्रीय दृष्टि स्पष्ट होती है। ये दोनों लेख अत्यंत तर्कपूर्ण हैं। नवीनतम कल-कारखानों के चित्र देकर पुस्तक को प्रकाशक ने और सजा दिया है। हम आशा करते हैं कि स्वतंत्र भारत की सजग जनता इस पुस्तक का स्वागत करेगी।

—मुक्तिदूत

बक़लम खुद

लेखक—डॉ० नामवर सिंह
प्रकाशक—हिमालय पाकेट बुक्स, इलाहाबाद
पृष्ठ-संख्या—१४३ । मूल्य—१.००

प्रस्तुत पुस्तक का नाम फ़ारसी-उर्दू के शब्दों पर है। लेखक पर उर्दू का प्रभाव है, यह पुस्तक के नाम से ही सिद्ध होता है। पुस्तक का नाम असाहित्यिक है और एक तरह से अरुचि के भाव उत्पन्न होते हैं।

पुस्तक-समर्पण की समस्या, और 'बापू की बिरासत' पर लेखक ने बड़े ही रोचक एवं व्यंग्यात्मक ढंग से अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। अन्य परिच्छेद या चर्चित विषय के शिल्प से यह बात उभर आती है कि संग्रहीत सारे निबंध कॉलेज-जीवन के समय के हैं। यदि वे आज के हैं, तो यह कहने में मैं नहीं संकोच करूँगा कि नामवरजी की लेखन-शक्ति का ह्रास हुआ है।

एक बार सभी साहित्यिक बन्धुओं को यह पुस्तक पढ़ लेनी चाहिए; क्योंकि यह केवल नामवरजी की लिखी नहीं है, वरन डाक्टर-उपाधि-विभूषित नामवर सिंह की कृति है।

बहती गंगा (उपन्यास)

लेखक—केशर
प्रकाशक—हिमालय पाकेट बुक्स, इलाहाबाद
पृष्ठ-संख्या—१३४। मूल्य - १.००

प्रस्तुत आलोच्य पुस्तक में बनारस की तीन पीढ़ियों की कहानियाँ संग्रहीत हैं। हर कहानी के अन्दर पंडों के काशी-विश्वनाथ के मन्दिर के रक्षार्थ शौर्य के प्रदर्शन का वर्णन किया गया है।

प्रकाशक ने लेखक के संबंध में आवरण के अन्तिम पृष्ठ पर लिखा है :—"केशरजी कांत-स्कूल के सफल आंचलिक कथाकार हैं।" प्रकाशक के इस कथन की पुष्टि तीन पीढ़ियों की कहानी के बाद बनारस की ही एक और कहानी "चम्पा बाई" से हो जाती है। बनारस की आंचलिक बोली का प्रायः हर पृष्ठ में प्रयोग कर लेखक ने अपने को नागार्जुन, रेणु और अमृतलाल नागर की परम्परा में रखने का प्रयत्न किया है। जान-बूझ कर कहानियों एवं उपन्यासों में आंचलिकता का प्रयोग करना फैशन-सा हो गया है, और मैं समझता हूँ कि ऐसा करना कहानी के अन्य प्रमुख तत्वों के साथ अन्याय करना है।

केशरजी ने रोचक भाषा में कहानियाँ प्रस्तुत की हैं। शिल्प के संबंध में कुछ भी लिखना बेकार ही होगा और अन्त में प्रकाशक महोदय को मैं सुझाव देना चाहता हूँ कि इस तरह आंचलिकता के पीछे दौड़ने के बजाय यदि कुछ मौलिक ग्रन्थों का प्रकाशन करें तो साहित्य का विशेष कल्याण हो।

गिरिजाकुमार माथुर (आज के लोकप्रिय कवि-६)

सम्पादक—डॉ० नगेन्द्र : कैलाश वाजपेयी
प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली-६
पृष्ठ-संख्या—११६। मूल्य—दो रुपये

विलक्षण मस्ती और नैराश्यपूर्ण बहकाव से युक्त श्री गिरिजाकुमार माथुर के व्यक्तित्व का, छायावादी दुरूहता और अस्पष्टता से मुक्त प्रतिभा का समुचित मूल्यांकन श्री कैलाश वाजपेयी ने किया है। संकलित कविताओं के अध्ययन से यह तो सही मालूम होता है कि कवि में विलक्षण मस्ती और नैराश्यपूर्ण बहकाव है, किन्तु कुछेक कविताओं को छोड़कर अस्पष्टता से मुक्त रचनाएँ नहीं हैं। 'मंजीर' की कविताएँ और 'नाश और निर्माण' की "कौन थकान हरे जीवन की" में 'कौन......हरे?' अस्पष्ट और संशयपूर्ण प्रश्न नहीं है? मैं पूरी कविता के अन्तरित भाव पर अस्पष्टता का आरोप लगाऊँगा और यह निस्संकोच भाव से कहूँगा कि आदर्शों की सतह पर खड़ा रहकर भी 'मंजीर' का कवि 'नाश और निर्माण' तथा 'धूप के धान' में किसी विशेष आदर्श, जिसे हम मौलिक कहें, की स्थापना नहीं कर सका है।

श्री नगेन्द्र ने 'कृतित्व' का विश्लेषण करते हुए—अंग्रेजी काव्य के तीन-चार आत्मविश्वासी बिम्बवादी कवियों ने जो निजी तौर पर रूमानी प्रवृत्ति का अन्त करने का निश्चय किया था और कुछ उद्देश्य-पत्र प्रकाशित कराये थे—उसके संबंध में भी अपने विचार एक वाक्य में व्यक्त किया है। छायावाद के विरोध में हिन्दी में कवियों के तीन वर्ग उभरे—इसका भी वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इन सारी बातों के उद्घाटन के लिए डॉ० नगेन्द्र वास्तव में बधाई के पात्र हैं।

श्री गिरिजाकुमार माथुर की २८ कविताओं का संकलन संपादकद्वय ने किया है। चार कविता-संग्रहों से उत्कृष्ट कविताओं का संचयन अवश्य ही किया गया होगा—संपादकद्वय की रुचि के अनुसार। 'चूड़ी का टुकड़ा', 'वसंत की रात', 'शाप की धूप' और 'सूरज का पहिया' बिम्बयोजना और अभिव्यंजना की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। 'चंदरिमा' कविता भी चौंकाती है, किन्तु इसमें प्रयुक्त बिम्बों पर मेरी अपनी आस्था नहीं है। यह सही है कि उक्त कविता में कवि ने परम्परागत उपमान को नये उपमान-प्रतीकों के साथ मिलाकर कोमल बिम्बों को प्रस्तुत किया है।

प्रकाशक ऐसी पुस्तक के प्रकाशन, विद्वान सम्पादकों के चुनाव एवं छपाई-सफाई के लिए बधाई का पात्र है।

—सीतेन्द्रदेव नारायण

हमें यह कहना है
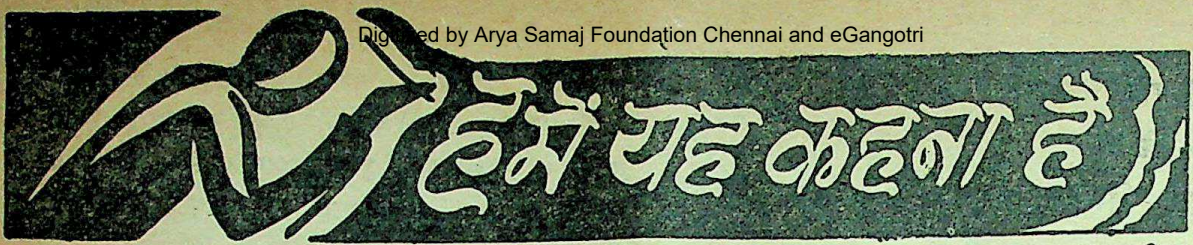
पत्र-पत्रिका-पुस्तकालय की आवश्यकता

इसके पूर्व भी इस विषय पर हमने कुछ कहा था। सरकार, सुधी पाठक और अधिकारी-वर्ग कम-से-कम पत्र-पत्रिका के सम्पादकीय भी पढ़ लिया करें और तदनुसार कुछ करें तो पता लगे कि उतने प्रश्नों की ओर वे उत्तर-दायित्व के साथ उत्सुक हैं। मगर वैसा होता नहीं। देश में हर जिले का एक केन्द्रीय पुस्तकालय होने लगा है। इन पुस्तकालयों में अधिकतर पुस्तकें और कुछ दैनिक-मासिक पत्र आते हैं। मगर पुस्तकें और पत्र-पत्रिकायें दो चीज हैं। पुस्तकें इतिहास जैसी स्थायी चीज होती हैं, जबकि पत्र-पत्रिकायें उत्तरोत्तर तत्काल का इतिहास। अपने समय के सामान को समझने के लिए और विगत के विषय के तात्कालिक विवेचन को जानने के लिए पत्र-पत्रिकाओं का एक जगह मिलना बहुत जरूरी है। समाज, राज, विज्ञान, कला आदि तमाम विषयों पर विश्व में बहुत सारी पत्रिकायें निकलती हैं, और दैनिक तो नहीं, दैनिकों के विशेषांक भी इस विषय में महत्त्वपूर्ण होते हैं। इस नाते, हर जिले में हो न हो, किन्तु प्रान्तीय केंद्र में तो एक ऐसे पुस्तकालय की नितान्त एवं तत्काल आवश्यकता है, जिसमें कि उस प्रान्त में प्रचलित तमाम भाषाओं की पत्र-पत्रिकायें तथा दैनिकों के विशेषांक आयें और उन्हें बाद में जिल्द बाँध कर सूची-करणपूर्वक सुरक्षित रखा जाय। जैसे; हमारे बिहार में हिन्दी, बँगला, उर्दू, अंगरेजी, संताली आदि प्रमुख भाषायें हैं। इन तमाम भाषाओं की देश से निकनेवाली तथा अंगरेजी की विदेश तक से निकलनेवाली तमाम विषयों की पत्रिकाओं, और दैनिकों के विशेषांकों को ऐसे पुस्तकालय में लिया जाय। क्योंकि यही इतना भारी और खर्चीला काम होता है कि किताबों के पुस्तकालय से अधिक तगड़ा हो उठता है, अतः एसे पुस्तकालय को पुस्तकों से कोई सम्बन्ध नहीं रखना है। पत्रिकाओं के संरक्षण, सूचीकरण और वितरण में भी साधारण पुस्तकालय से अधिक योग्य, संख्यक, और सचेष्ट कार्यकर्त्ता चाहिए। हाँ, इस विषय में, तब पत्रिकाओं के और दैनिकों के विशेषांकों के लिए उनके व्यवस्थापकों से यह वाजिब माँग होगी ही कि वे उन्हें न्यूज-प्रिंट वगैरह कम-टिकाऊ कागज पर न छाप कर अच्छे टिकाऊ पर छापें, ताकि वे पुस्तकालयी ढंग पर संग्रहीत किए जाने योग्य हों।

हम कम-से-कम अपने बिहार के समाज एवं साहित्य के नेताओं, विद्याव्यसनियों, संबंधित राजकीयों से इस विषय में साग्रह निवेदन करेंगे कि वे इस पत्र-पत्रिका-पुस्तकालय के लिए शीघ्र सचेष्ट हों। पत्र-पत्रिकाओं की पुरानी फाइल या अंक न जुटे तो न ही सही, किन्तु अब से सभी का पुस्तकालय जारी किया जाय। आशा है कि प्रान्त की राजधानी पटने में एक ऐसा पुस्तकालय जारी करने के लिए, राजधानी के सभी गण्यमान्य अवश्य कुछ-न-कुछ करेंगे।

स्व० डॉ० दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी

बी० एन० कॉलेज पटना के प्रिंसिपल, आंग्ल-साहित्य के मूर्धन्य शिक्षक, हिन्दी साहित्य के सुधी स्रष्टा और देशप्रसिद्ध आंग्ल-हिन्दी-अनुवादक एवं साहित्यचिन्तक डॉ० दिवाकरप्रसाद की आकस्मिक दिवंगति से दुःखित 'पुस्तक-जगत'-परिवार हुतात्मा की सद्गति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है एवं उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति अपनी सहानुभूति निवेदित करता है।

'पुस्तक-जगत' के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ४) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य ३७ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* साधारण अंकों में विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०·००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०·००
,, द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५·००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५·००
,, आधा पृष्ठ	:	२०·००
,, एक चौथाई पृष्ठ	:	१२·००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,
पुस्तक-जगत, ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना—४

अखिलेश्वर पाण्डेय द्वारा संपादित, सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, पटना-४ में मुद्रित एवं प्रकाशित

पुस्तक-जगत

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

जुलाई ६२

प्रेमचंद के ३००० नये पृष्ठ

कहानियाँ; उपन्यास, लेख, चिट्ठी-पत्री और एक सम्पूर्ण, प्रामाणिक जीवनी

प्रेमचंद
कलम का सिपाही

लेखक

अमृतराय

विस्तृत विवरण के लिए चौरंगा फोल्डर मँगाइए

हंस प्रकाशन • [illegible] जीरो रोड • इलाहाबाद

हमारे अनुपठनीय पाठ्य

'HINDI THROUGH ENGLISH'

By : **Sarbdeo Narayan Sinha** *M. A.*

Instructor, Hindi Training Centre, Secretariate, Patna

"I am sure it will be useful to those who want to learn Hindi through the medium of English."

—*R. S Pandey, I. A. S.*
Agent, Tata Iron & Steel Co.

Price Rs. 6·00

मानव-मन

लेखक : श्री द्वारका प्रसाद

"मानवमन में सामान्य मनोविज्ञान के प्रत्येक साधारण पहलू पर संक्षिप्त तथा वैज्ञानिक ढंग से विचार किया गया है।" —*'युगप्रभात'*

मूल्य : ४·७५

व्यक्ति, प्रकार और अन्य मनोविश्लेषण

लेखक : डॉ० प्रमोद कुमार, एम० ए०, पी-एच० डी०

"लंबे नाम में ही कलेवर का आभास मिलता है। भिन्न-भिन्न विषयों की समालोचना मनोविज्ञान के आधार पर करने का लेखक ने वांछनीय और प्रशंसनीय यत्न किया है।" —*'युगप्रभात'*

मूल्य : २·२५

परिवार : एक सामाजिक अध्ययन

लेखक : श्री पंचानन मिश्र

"श्री पंचानन मिश्र ने गहन और विवादग्रस्त विषय पर एक अधिकारी और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा है।"
—*जयप्रकाशनारायण*

मूल्य : ४·००

हिन्दी साहित्य : एक रेखाचित्र

लेखक : प्रो० शिवचन्द्र प्रताप

"इतिहास इतना सरस, मनोरंजक, प्रवाहपूर्ण हो सकता है, इसकी कल्पना भी इस ग्रंथ को देखने के पूर्व नहीं हो सकती।"
—*डॉ० रामखेलावन पाण्डेय*

मूल्य : ३·००

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

प्रकाशन-व्यवसाय : संगठन तथा व्यवसाय की समस्यायें

श्री रामलाल पुरी

[अ० भा० हिन्दी प्रकाशक-संघ के प्रधानमंत्री-पद से, २६ अप्रेल १९६२, सप्तम अधिवेशन (लखनऊ) के समक्ष विवरण]

हम सभी के लिए यह गौरव का विषय है कि अखिल भारतीय हिन्दी-प्रकाशक-संघ का सातवाँ अधिवेशन लखनऊ में हो रहा है। लखनऊ, जो उस अवधी जनमानस का केन्द्र है जिसने राष्ट्र-भाषा हिन्दी को 'रामचरितमानस' और 'पद्मावत' जैसी गौरवमयी साहित्यक उपलब्धियाँ प्रदान की हैं, वहाँ लखनऊ को आज देश के प्रमुख हिन्दी-भाषी राज्य उत्तर-प्रदेश की राजधानी होने का भी गौरव प्राप्त है। लखनऊ की कमनीय संस्कृति का उत्तर भारत की सांस्कृतिक परम्परा के इतिहास में विशेष स्थान है, और लखनऊ की नजाकत और नफ़ासत तो हिन्दी के मुहावरों में ढल चुकी है। इसलिए मुझे विश्वास है कि इस अधिवेशन में उपस्थित सभी पुस्तक-व्यवसायी-बन्धु संघ की नाजुक समस्याओं को नफ़ासत के साथ समझेंगे और सुलझायेंगे।

हिन्दी के राष्ट्र-भाषा पद पर आसीन होने के साथ-साथ हिन्दी-प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेताओं की जिम्मेवारियाँ बढ़ीं। परिणामस्वरूप अखिल भारतीय हिन्दी-प्रकाशक-संघ की स्थापना हुई। सभी ने कंधे-से-कंधा मिलाकर संघ के निर्माण और संगठन में पूरे उत्साह से सहयोग दिया और विश्वास प्रकट किया कि संघ अपनी संगठित शक्ति और ठोस कार्य के आधार पर हिन्दी-पुस्तक-व्यवसाय की कठिनाइयों को दूर करने में सफलता प्राप्त करेगा।

किसी भी संगठन का प्रारंभ बड़े चाव और उत्साह के साथ होता है। स्थापना होते ही संघ का कार्य पूरे जोश और तेजी के साथ आगे बढ़ा। सभी ने निःस्वार्थ भाव से संघ के उद्देश्य की पूर्ति के लिए पूरा सहयोग दिया। फलस्वरूप संघ समूचे हिन्दी-पुस्तक-व्यवसाय की धुरी बन गया। संघ ने प्रकाशन-व्यवसाय की समस्याओं के हल के लिए सुचारु रूप से कार्य आरम्भ किया और उसे किसी हद तक सफलता भी प्राप्त हुई। दूसरी ओर सदस्यों की संख्या में भी आशातीत वृद्धि हुई। आज यह निर्विवाद है कि संघ अपनी अनेक मजबूरियों और कमजोरियों के बावजूद हिन्दी-प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं का एक ऐसा शक्तिशाली विशाल संगठन है जिसकी सत्ता को देश-विदेश में सरकारी और गैर-सरकारी पैमाने पर सभी स्वीकार करते हैं।

संघ के गत वर्ष के कार्य-कलाप के सम्बन्ध में मैं निवेदन करना चाहूँगा कि पहले की तरह गत वर्ष भी हमने बहुत-से प्रस्ताव स्वीकार किये, जिनमें कुछ एक तो ऐसे थे जिनको क्रियान्वित करना हमारी सामर्थ्य के बाहर था और कुछ प्रस्ताव ऐसे थे जो स्वीकार किये जाने के बाद कार्य की प्रतीक्षा में पड़े हो गये और उनपर कोई विशेष कार्यवाही न की जा सकी।

संघ की कार्यकारिणी की बैठकों में भी सदस्यों ने विशेष उत्साह नहीं दिखाया और इलाहाबाद तथा बनारस में बुलाई गई कार्यकारिणी की बैठकों में तो कोरम पूरा करने के लिए कार्यकारिणी के नये सदस्य बनाकर काम चलाया गया। यह संघ के उत्तरदायी सदस्यों की संघ के प्रति उपेक्षा की जीती-जागती मिसाल है।

इस वर्ष पंजीबद्ध सदस्यों ने भी, जिनमें संघ के जिम्मेवार सदस्य भी शामिल हैं, जी खोल कर संघ के नियमों का उल्लंघन किया और नेट-पुस्तक-समझौते की शर्तों को तोड़कर अपने स्वार्थों की पूर्ति की।

इन तमाम बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संघ के अधिकांश सदस्यों ने संघ में रहकर अपनी स्वार्थ-साधना की और संघ की सदस्यता का अनुचित लाभ उठाया। इस दृष्टि से हम पिछले वर्ष को किसी हद तक संघ की असफलता का वर्ष कह सकते हैं और इसके लिए मैं अपने आपको ही

जिम्मेवार समझता हूँ। मैं स्वीकार करता हूँ कि प्रधानमंत्री के रूप में मैं अपने कर्त्तव्य का पूरी तरह निर्वाह नहीं कर सका और साथ ही मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि संघ जैसी विशाल और शक्तिशाली संस्था का प्रधानमंत्री होने की योग्यता मुझमें नहीं थी। परन्तु पिछले अधिवेशन में परिस्थितियाँ ही ऐसी पैदा हो गई थीं कि मुझे आपका अनुरोध टालने की हिम्मत न हुई और मुझे प्रधानमंत्री-पद का भार सँभालना पड़ा।

संघ की इस बढ़ती हुई अनियमितता को रोकने और सदस्यों को अनुशासन में लाने का श्रेय अनुशासन-समिति के संयोजक और संघ के संयुक्त-मंत्री श्री कन्हैयालाल मल्लिक को है; जिन्होंने संघ के नियमों का उल्लंघन करने वाले सदस्यों के विरुद्ध सख्त कदम उठाया और अनुशासन-समिति को प्रभावशाली ढंग से संगठित किया गया।

इस आत्मालोचन के साथ-साथ मैं यह भी निवेदन करना चाहूँगा कि इन सब कमजोरियों के बावजूद संघ ने न केवल अपनी शक्ति को अक्षुण्ण रखा है, बल्कि उसमें वृद्धि भी हुई है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि केन्द्रीय हिन्दी-निदेशालय द्वारा वैज्ञानिक पुस्तकों की हिन्दी-अनुवाद तथा प्रकाशन-सम्बन्धी मूल योजना में केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय ने संघ की १४ सितम्बर, १९६१ को दिल्ली में हुई कार्यकारिणी की बैठक में पारित योजना-सम्बन्धी प्रस्ताव और संघ के अधिकारियों की बातचीत के आधार पर आवश्यक संशोधन किया और अनूदित पुस्तकों का मूल्य लागत का ढाई से तीन गुना तक निर्धारित करना स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त, शिक्षा-मंत्रालय ने इस योजना के अन्तर्गत विचार करने वाली समिति में संघ के आगत प्रतिनिधि को स्थान दिया। मैं शिक्षा-मंत्रालय के इस कदम का स्वागत करता हूँ। मुझे विश्वास है कि भविष्य में भी इस प्रकार की योजनाओं में संघ को उचित स्थान प्राप्त होगा।

पिछले वर्ष संघ की सबसे बड़ी उपलब्धि है—'राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह'। 'राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह' १० से २१ नवम्बर, १९६१ तक देश के प्रमुख नगरों में जिस धूमधाम से मनाया गया, इसकी सूचना आपको पत्रों द्वारा मिल ही चुकी है। इतने बड़े पैमाने पर आज से पहले देश में कहीं भी ऐसा पुस्तक-समारोह कभी नहीं मनाया गया। इस पुस्तक-समारोह ने निस्सन्देह जनता को पुस्तकों के महत्त्व के प्रति आकर्षित किया है। इस विशाल आयोजन का पूरा श्रेय संघ के अध्यक्ष श्री कृष्णचन्द्र बेरी को है, जिन्होंने इस समारोह की रूपरेखा तैयार की और उसे क्रियात्मक रूप दिया।

इस संदर्भ में मुझे यह कहते हुए अत्यन्त खेद है कि 'राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह' जैसे पुस्तकों के प्रचार और प्रसार के महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए पूरी योजना और उसके बजट पर सहानुभूतिपूर्वक विचार-विमर्श करने के बाद भी केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय ने अन्तिम समय में अनुदान देने से इन्कार कर दिया; जबकि मंत्रालय के प्रमुख अधिकारीवर्ग ने अनुदान दिये जाने का आश्वासन दिया था। इसी आश्वासन के आधार पर 'राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह' की जो योजना बनायी गई थी, उसे मंत्रालय की इन्कारी के बाद पूरे रूप में क्रियान्वित नहीं किया जा सका।

टेण्डर-प्रणाली

पुस्तकों की खरीद में सरकार द्वारा टेण्डर-प्रणाली के विरुद्ध एक प्रस्ताव पास करके इसे समाप्त किये जाने की अपील की गई थी और इस सम्बन्ध में कार्य को आगे बढ़ाने के लिए संयुक्त-मन्त्री श्री पुरुषोत्तम मोदी को नियुक्त किया गया। उन्होंने इस सम्बन्ध में केन्द्रीय तथा विभिन्न राज्य सरकारों से पत्राचार किया और स्वयं अधिकारियों से मिलकर इस विषय पर बातचीत भी की। परन्तु खेद है कि संघ अभी तक इस दिशा में सफल नहीं हो सका है और टेण्डर-प्रणाली अपने उसी बीभत्स रूप में जहाँ-की-तहाँ मौजूद है।

मेरी दृष्टि में पुस्तकों के क्रय में सरकारी, अर्द्ध-सरकारी अथवा गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा प्रयोग में लायी जाने वाली टेण्डर-प्रणाली पुस्तक-व्यवसाय के लिए घातक विषय है। इस टेण्डर-प्रणाली ने जहाँ पुस्तक-व्यवसायियों में फूट का बीज बोया है, वहाँ उसने व्यवसाय में ऐसे तत्त्वों का पोषण किया जो अपने तुच्छ स्वार्थ के

लिए व्यवसाय के हितों का गला घोंटने के लिए तैयार रहते हैं।

सदस्यता-शुल्क

मेरी राय में संघ ने सदस्यता-शुल्क घटा कर भारी गलती की है। मेरा निश्चित मत है कि बिना पर्याप्त धन के किसी भी संस्था अथवा संगठन का कार्य सुचारु-रूप से नहीं चल सकता। इसलिए यदि संघ का सफलता-पूर्वक संचालन करना है तो उसके लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता है और इसका एकमात्र साधन है सदस्यता-शुल्क। मेरे विचार से सदस्यता-शुल्क वही ५० रु० या भी इससे अधिक होना चाहिए।

हिन्दी-पुस्तकों की बिक्री

हिन्दी का क्षेत्र विस्तार और जनसंख्या की दृष्टि से जितना बड़ा है उस अनुपात में हिन्दी-पुस्तकों की खपत की स्थिति निःसन्देह दयनीय है। तर्क दिया जाता है कि हिन्दी के पाठकों के पास पुस्तकें खरीदने के लिए पर्याप्त धन नहीं है। मैं इस तर्क को खोखला और आधारहीन मानता हूँ। हिन्दी-भाषी-क्षेत्र की जनता सिनेमा, चाय, पान-बीड़ी और सिगरेट के मद में करोड़ों रुपये खर्च करती है और यह भी निर्विवाद सत्य है कि हिन्दी-भाषी-क्षेत्र अहिन्दी-भाषी-क्षेत्रों की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से कहीं अधिक सम्पन्न है। परन्तु फिर भी अहिन्दी-भाषी-क्षेत्रों में वहाँ की क्षेत्रीय भाषाओं की पुस्तकों की खपत आनुपातिक दृष्टि से कहीं अधिक है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी-भाषी जनता में पुस्तकों के प्रति रुचि और प्रेम नहीं है और यही कारण है कि अच्छे-से-अच्छे हिन्दी-लेखक की श्रेष्ठ कृतियाँ भी इतनी संख्या में नहीं बिक पातीं जितनी बंगला, मलयालम, तमिल, तेलुगु, मराठी आदि भाषाओं में। यह इसलिए भी संभव होता है कि हिन्दी-प्रकाशन की अपेक्षा उपर्युक्त भाषाओं के प्रकाशकों तथा विक्रेताओं को लाभ का मार्जिन अधिक है। इसलिए वे पुस्तकों के प्रचार में अधिक खर्च कर सकते हैं। इसके विपरीत, हिन्दी-प्रकाशक को जो लाभांश मिलता है, वह पुस्तकों के प्रचार के लिए बिलकुल नाकाफी है। यदि हिन्दी-प्रकाशकों तथा विक्रेताओं को समुचित लाभ मिले तो वे भी पुस्तकों के प्रचार में अधिक व्यय कर सकते हैं।

यह एक गम्भीर समस्या है। जबतक हिन्दी में लाखों की संख्या में पुस्तकें खरीद कर पढ़ने वाले स्वतंत्र पाठकों का वर्ग तैयार नहीं होता तबतक स्वस्थ हिन्दी-पुस्तक-व्यवसाय आत्मनिर्भर नहीं हो सकता। वह इसी प्रकार आर्थिक जोखिम का शिकार बना रहेगा। इसलिए इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि जनता में पुस्तकों के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए विशाल पैमाने पर आन्दोलन चलाया जाय जिसमें सरकार के विभिन्न मंत्रालयों, शिक्षण-संस्थाओं और राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक पार्टियों और संस्थाओं के साथ-साथ मिलों, कारखानों और फैक्टरियों के छोटे-बड़े मालिकों और व्यवस्थापकों से पूरा सहयोग और सहायता प्राप्त की जाये।

संघ ने अपने अल्प कार्यकाल में पुस्तक-समारोहों और प्रदर्शनियों का आयोजन करके इस दिशा में अच्छा कार्य किया है, परन्तु यह शुभारम्भ मात्र है। संघ को इस सम्बन्ध में एक विस्तृत योजना तैयार करके तुरन्त कदम उठाने की आवश्यकता है। यहाँ हमें प्रकाशक की हैसियत से अपनी जिम्मेवारी के प्रति भी जागरूक रहना चाहिए। हमें अपनी राष्ट्रभाषा का भण्डार उन समस्त विषयों की पुस्तकों से भरना है, जो जीवन के हर क्षेत्र की आवश्यकता को पूरा कर सकें। इसके लिए हमें अधिकाधिक विषयों पर मौलिक पुस्तकें लिखवाने को प्रोत्साहन देना चाहिए और साथ ही श्रेष्ठतम विदेशी वैज्ञानिक और प्राविधिक पुस्तकों के अनुवाद कराये जाने चाहिए, जिनकी भाषा सरल और प्रवाहमयी हो। केवल ललित-साहित्य के प्रकाशन से ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर गौरवान्वित नहीं किया जा सकता।

पारस्परिक सम्बन्ध

प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेताओं की विभाजन-रेखा कम-से-कम हमारे देश में नहीं है। हम सभी पुस्तक-व्यवसायी हैं। व्यवसाय में होड़ होती है और स्वस्थ होड़ व्यापारिक प्रगति के लिए आवश्यक है। परन्तु इस होड़

और प्रतिस्पर्धा में ईर्ष्या नहीं होनी चाहिए, और साथ ही व्यवसाय के सामूहिक हित में किसी भी प्रकार की होड़ को बाधा नहीं बनना चाहिए। संघ ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और पहले की अपेक्षा पारस्परिक सहयोग की भावना बहुत बढ़ी है। फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं जो अरुचिकर होने के साथ-साथ कटुता को बढ़ाने वाली हैं। मैं सबका जिक्र न करके केवल एक ही उदाहरण देना चाहूँगा। मान लीजिए कि किसी एक प्रकाशक ने एक विशेष विषय पर कुछ पुस्तकें प्रकाशित करने की योजना बनाई, और प्रकाशन आरम्भ कर दिया। तभी हम देखते हैं कि किसी दूसरे प्रकाशक बन्धु ने तुरन्त ही वैसी पुस्तकें छाप डालीं। नतीजे में दोनों का या किसी एक का नुकसान होता है। अतः हर दृष्टि से इस प्रकार की होड़ जहाँ व्यवसाय के लिए हानिकारक है, वहाँ चारित्रिक दृष्टि से अभद्रतापूर्ण भी। वास्तविकता यह है कि अभी हिन्दी में अनेक विषय ऐसे हैं जिनके योजनाबद्ध प्रकाशन की आवश्यकता है और जिनकी बिक्री में हम एक-दूसरे के लिए सहायक हो सकते हैं।

पुस्तक-व्यवसाय और समाचार-पत्र

समाचार-पत्र जनता की आँख और कान है। यदि वे गम्भीरतापूर्वक पुस्तकों के प्रचार और प्रसार के महत्त्व को समझते हुए इस कार्य में रुचि लें तो वर्षों का कार्य महीनों में पूरा हो सकता है। परन्तु प्रायः देखा जाता है कि समाचार-पत्र इस विषय में उदासीन हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि समाचार-पत्रों में पुस्तकों की नियमित समालोचना बहुत प्रभावशाली सिद्ध हो सकती है। परन्तु देखा यह जाता है कि, बम्बई की घटिया फिल्मों के प्रचार के लिए तो समाचार-पत्र में एक विशेष पृष्ठ जुड़ सकता है, परन्तु पुस्तकों की समालोचना और परिचय के लिए कोई विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। जिस पुस्तक की दो प्रतियाँ, जिस समाचार-पत्र के पास समालोचना के लिए पहुँच गईं, उसकी समालोचना सालों बाद प्रकाशित की जाती है, या पुस्तक का संस्करण समाप्त हो जाने के बाद होती है। बहुत बार तो आलोचना होती ही नहीं और पुस्तकें मुफ्त में हड़प ली जाती हैं।

यूरोप के समाचार-पत्र इस सम्बन्ध में आदर्श कहे जा सकते हैं। वे किसी भी अच्छी पुस्तक की समालोचना प्रकाशित करने के लिए प्रकाशक की ओर से निःशुल्क भेजी जाने वाली प्रतियों की प्रतीक्षा नहीं करते। वे हर अच्छी पुस्तक की टोह में रहते हैं और जैसे ही वह मार्केट में आती है, उसकी प्रति खरीदकर उसकी समालोचना प्रकाशित की जाती है। वहाँ के सभी अच्छे समाचार-पत्र अपने पुस्तक-परिचय-अंक प्रकाशित करते हैं जिसमें विषय तथा लेखक के महत्त्वानुसार पुस्तकों का विषद परिचय रहता है। क्या हम आशा करें कि हमारे हिन्दी समाचार-पत्रों के मालिक इस दिशा में सोचेंगे और जनता में पुस्तकों के प्रति रुचि पैदा करने में सक्रिय सहयोग प्रदान करेंगे।

डाक की दरें

पुस्तक-व्यवसाय मुख्यतः डाक के माध्यम से होता है। आज जो पाठक अपनी रुचि की पुस्तक डाक से मँगाता है, उसपर उसे कम-से-कम ८७ न० पै० मूल्य के अतिरिक्त देने होते हैं। और, अब तो सुनने में आया है कि डाक की दरें और भी बढ़नेवाली हैं। इस स्थिति में पुस्तक-व्यवसाय को अतिरिक्त कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। संघ को संगठित रूप से प्रयत्न करना चाहिए कि वर्तमान डाक की दरें पुस्तकों के लिए कम की जायें। इस विषय में लोकसभा और राज्यसभा के सदस्यों का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है, ताकि वे दोनों सदनों में न केवल हिन्दी बल्कि सभी भाषाओं के पुस्तक-व्यवसाय के हित में अपनी आवाज उठाएँ और पुस्तक-व्यवसाय को इस संकट का शिकार न होने दें।

प्रकाशन : व्यवसाय : राष्ट्रीय दायित्व

श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन

[अ० भा० हिन्दी प्रकाशक-संघ के सप्तम वार्षिक अधिवेशन में अध्यक्ष-पद से अभिभाषण]

हिन्दी प्रकाशन की जिन गम्भीर और बहुमुखी समस्याओं पर विचार करने के लिए यह अधिवेशन आमन्त्रित है उनके लिए उचित परिप्रेक्ष्य और समुचित रंगभूमि, ये दोनों साधन, हमें आज उत्तरप्रदेश राज्य की राजधानी के अतिरिक्त और कहाँ मिलते ? हिन्दी के निर्माण और विकास में उत्तरप्रदेश ने ऐतिहासिक योगदान किया है। योगदान ही नहीं, नेतृत्व प्रदान किया है। हिन्दी साहित्य का इतिहास साक्षी है कि उत्तर प्रदेश के साहित्य-स्रष्टाओं ने प्रत्येक युग में हिन्दी को अभिव्यक्ति की नित नयी सामर्थ्य दी किन्तु अभिव्यक्ति का यह कौशल अपने-आप में कोई उपादेय तत्त्व न होता यदि यहाँ के मनीषियों और राष्ट्रनिर्माताओं ने चिन्तन और क्रियात्मक जीवन के क्षेत्र में ऐसा कुछ न दिया होता जो सचमुच अभिव्यक्ति के योग्य है। हमारे जीवन-दर्शन और हमारी संस्कृति की सच्ची उपलब्धि वही है जिसे व्यक्त करके साहित्यकारों ने अपने-आपको कृतकृत्य समझा और जिसे प्राप्त करके देश ने अपने को धन्य माना। यह उपलब्धि समूचे देश की सामूहिक सम्पत्ति है और इसके निर्माण में देश के सभी क्षेत्रों की प्रतिभाएँ क्रियाशील रही हैं।

भावनात्मक एकता का प्रश्न

हमारे आज के राजनीतिक और आर्थिक जीवन तंत्र के आधारभूत तीन राष्ट्रीय चुनावों और दो पंचवर्षीय योजनाओं को सम्पन्न करने के बाद हम अनुभव कर रहे हैं कि हमारी वे सफलताएँ कितनी भी बड़ी हों, इनकी सार्थकता की नींव कहीं ढीली है जिसे हमें तत्काल भरना है। देश की भावनात्मक एकता पर बल देने का अर्थ ही नींव की उस कमजोरी को दूर करने के संकल्प की घोषणा है। मुख्य प्रश्न यह है कि देश के ४४ करोड़ व्यक्तियों को इस भावनात्मक और सांस्कृतिक एकता की प्रतीति कैसे हो ? उत्तर एक ही है कि हमारे देशवासी एक-दूसरे के सम्पर्क में आयें। सम्पर्क में आने के दो उपाय हैं—एक यह कि हम प्रत्यक्ष एक दूसरे से मिलें-बोलें, और दूसरा यह कि हम परोक्ष रूप से एक दूसरे की बात जानें-समझें और अनुभव करें कि हमारे हृदय भावनात्मक तादात्म्य के एक ही सुर-ताल पर स्पन्दित हैं। वाणी द्वारा सम्पर्क स्थापित करें या साहित्य द्वारा; दोनों ही दशाओं में हमें भाषा का एक समान माध्यम चाहिए। और, वह माध्यम हिन्दी है। नहीं है, तो होगा; आंशिक रूप से है, तो उसे पूर्णरूप से होना होगा। दूसरा कोई उपाय नहीं। हिन्दी-प्रकाशन के राष्ट्रीय दायित्वों और अधिकारों की भूमिका यहीं से प्रारम्भ होती है।

दायित्वों की गम्भीरता

हमारे दायित्वों की गम्भीरता और महत्ता असन्दिग्ध है, किन्तु साथ ही यह भी कम महत्त्व की बात नहीं कि हमारे अधिकारों का क्षेत्र उसी अनुपात में व्यापक है। व्यवसाय की दृष्टि से हिन्दी-प्रकाशन को अपनी प्रगति के लिए १८ करोड़ हिन्दी भाषा-भाषियों का समूचा साक्षर-वर्ग तत्काल उपलब्ध है। देश के दूसरे अञ्चलों के द्वार भी हिन्दी के लिए खुले हुए हैं और खुल रहे हैं। हमें आज विज्ञान ने क्षमता दी है और हमारे विधान ने सुविधा कि हम इन करोड़ों पाठकों तक सरलता से पहुँच सकें। हिन्दी-प्रकाशकों को सबसे पहले यह बात हृदयङ्गम कर लेनी होगी कि इस शक्ति का उपयोग बड़ी सतर्कता चाहता है, बड़ा संयम चाहता है। लेखक और प्रकाशक जानते हैं कि सत्साहित्य के पाठकों का निर्माण और उनकी प्राप्ति कठिन काम है। दूसरी ओर, मनुष्य की नैतिक दुर्बलताओं, असंयमित आचार-व्यवहार और वासनाओं को उत्तेजित या चित्रित करनेवाले साहित्य के लिए असंस्कृत पाठकों में कितनी सहज ललक है और कितनी बड़ी उनकी संख्या है ! जिन प्रबुद्ध प्रकाशकों के वर्ग का प्रतिनिधित्व हमारा संघ करता है या करने की आकांक्षा रखता है, उनका कर्तव्य है कि वे अपने दोहरे दायित्व को समझें।

एक यह कि वे स्वयं उस सत्साहित्य के प्रकाशन को अपना लक्ष्य मानें जो हमारी संतति और हमारे राष्ट्र के जीवन का निर्माण करता है, जो समग्र मानव-जाति को आत्मीय दृष्टि से देखने के लिये जन-मन को प्रेरित करता है, जो ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों को जनता और प्रशिक्षित-वर्ग की अपनी-अपनी आवश्यकताओं तथा बौद्धिक स्तरों के अनुरूप प्रस्तुत करता है और जो साहित्य की राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय सर्जनात्मक चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरा दायित्व यह है कि जो व्यक्ति अशोभन और अमंगलकारी साहित्य के प्रकाशन को अपनी जीविका या मनोरंजना का साधन मानते हैं, उन्हें प्रकाशन-व्यवसाय की पवित्रता को नष्ट करने से रोकें। जिस देश में जनता की आय सीमित है और खरीद कर पुस्तकें पढ़ने की प्रवृत्ति संकुचित है वहाँ यह निश्चित है कि हर रद्दी किताब हर अच्छी और भली पुस्तक की छाती पर लात रखकर ही पाठक के पास पहुँचती है।

राष्ट्रीयकरण के चिन्ताजनक नमूने

यों तो साहित्य-सृजन और प्रकाशन के क्षेत्र में उत्कृष्ट तथा निकृष्ट का संघर्ष सदा से चलता आया है, किन्तु आज हमारे देश में इस संघर्ष ने एक व्यापक समस्या का रूप ले लिया है। यह समस्या राष्ट्रीय बन गयी है, क्योंकि लेखक, प्रकाशक और पाठक के स्वत्वों तथा स्वार्थों के बीच एक बड़ी अपरिहार्य शक्ति आ बैठी है, जिसका नाम है, 'राजसत्ता'। सत्ता जब विवेक की सहगामिनी होती है तो वह मङ्गल और कल्याण को जन्म देती है, किन्तु यदि सत्ता विवेक को त्याग दे, प्रबुद्ध होने के बजाय प्रमत्त हो जाये, सत्य और सात्त्विकता के स्थान पर सगोत्रियों के स्वार्थ की पोषक बन जाये तो राष्ट्र के लिए इससे अधिक भयंकर और कोई दूसरी स्थिति नहीं होती। अनेक राज्यों में राजसत्ता स्वयं ही पाठ्य-पुस्तकों की प्रकाशक और विक्रेता बन गयी है। यदि हम संविधान में वर्णित ज्ञान-विज्ञान को स्वतन्त्र रूप से प्राप्त करने की सुविधा और चिन्तन की स्वाधीनता के प्रश्न को छोड़ भी दें, यद्यपि यही तो हमारी लोकतन्त्रात्मक प्रणाली के प्राण हैं, तो भी राज्यतन्त्र में पाठ्य-पुस्तकों का समय पर प्रकाशित न होना, मूल्यवृद्धि के लाभ का व्यक्तिगत हस्तांतरण, अशुद्धियों की प्रचुरता और इस प्रकार अज्ञान का व्यापक प्रसार, वितरण में पक्षपात, भ्रष्टाचार आदि अनेक दोष इस प्रणाली से जनमे हैं और इसके द्वारा समर्थित हैं।

पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशक के रूप में राज्य सरकारों ने जो 'ख्याति' अर्जित की है उसका क्षेत्र शायद सन्तोष-जनक नहीं था, इसलिए विक्रय के क्षेत्र को हस्तगत करने के साथ-साथ पुस्तकों के क्रय के क्षेत्र में भी सरकार प्रमुखता से अग्रसर हो गयी है। वास्तव में दोनों क्षेत्र भ्रष्टाचार को प्रश्रय देने में एक-दूसरे से होड़ लगाये हुए हैं। आधुनिक हिन्दी के जनक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की एक प्रसिद्ध कृति की मौलिक कल्पना और शीर्षक को इन लोगों ने अपने विभाग के विज्ञापनपट्ट पर अंकित कर दिया है—पहली पंक्ति तो मैं नहीं कहूँगा, क्योंकि वह गलत हो जायेगी, हाँ, दूसरी स्पष्ट है—'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा!' इसी को आधुनिक भाषा में कहते हैं—टेण्डर सिस्टम। परवाह नहीं कि पुस्तक का लेखक कौन है, विषय क्या है, स्तर क्या है, गुण-अवगुण की तुलना क्या है, मूल्य क्या है, प्रकाशक प्रामाणिक है या नहीं, वितरक का अस्तित्व और प्रयोजन प्रमाणित है या नहीं—इन सब की कोई पूछ नहीं, कसौटी है केवल कमीशन और वह भी अधिक-से-अधिक! कमीशन देने वालों की कमी नहीं, जैसा कि मैंने कहा उत्कृष्ट और निकृष्ट का संघर्ष व्यापक रूप से चल रहा है, और दुर्भाग्य यह कि राजसत्ता प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निकृष्ट के पक्ष को अपना पक्ष प्रमाणित करती चली आ रही है। उत्कृष्ट दीन और खिन्न हैं और अन्त में एक ही रक्षा-कवच का सहारा लेते हैं—'स्वान्तःसुखाय।' यह न होता तो कहिये क्या होता? प्रश्न गम्भीर है। इस मंच से हम यह माँग करें, केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों से यह निवेदन करें कि वे पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन, वितरण और अन्य पुस्तकों की खरीद से सम्बन्धित उद्देश्यों, कार्यपद्धतियों और उपलब्धियों की छानबीन के लिए जाँच-समितियाँ बैठायें और भविष्य के लिए अपना मार्ग निश्चित करें। अखिल भारतीय हिन्दी-प्रकाशक-संघ अपनी सेवाएँ और सहयोग समर्पित करता है।

स्वयं क्या करने को तैयार

यह बात हमने राजसत्ता से कही। हम स्वयं क्या करने को तैयार हैं? हिन्दी-प्रकाशक-संघ ने वर्षों के परिश्रम के बाद एक अभूतपूर्व महत्ता का काम किया था। संघ ने सदस्य-प्रकाशकों पर बन्धन लगा दिया था कि वे पुस्तकों की फुटकर बिक्री पर कमीशन नहीं देंगे, पुस्तकालयों और केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की थोक खरीद पर केवल निश्चित सीमा तक कमीशन देंगे और इन नियमों को पालनेवाले, संघ-द्वारा पंजीकृत पुस्तक-विक्रेताओं को ही पुस्तकें बेचेंगे। इन नियमों के कारण हिन्दी-प्रकाशन-व्यवसाय में नये प्राण आये, वह व्यवस्थित हुआ, अवांछनीय प्रतियोगिता दूर हुई, अच्छे साहित्य का मान बढ़ा, प्रकाशकों को स्वयं प्रकाश मिला, विक्रेताओं को लाभ पहुँचा। किन्तु, 'ट्रेजेडी' घटित हो चुकी है। संघ के नियमों को चालू रखने का आग्रह जितना प्रबल था, उन्हें तोड़ने की प्रवृत्ति भी धीरे-धीरे उतनी ही प्रबल होती गयी। स्वार्थियों को लाभ इसी में दिखायी दिया। अच्छे प्रकाशक धोखे में रहे, अन्य प्रकाशक केवल लाभ-ही-लाभ में। विवश होकर वह व्यवस्था भङ्ग कर देनी पड़ी। हम लज्जित हैं अपनी असमर्थता पर, और राजसत्ता की लोलुपता पर कि उसने अपने कमीशन के स्वार्थ की वेदी पर साहित्य की श्रेष्ठता का, व्यवसाय की व्यवस्था का और जनता के हित का बलिदान कर दिया है। निस्सन्देह सबसे बड़ा दोष स्वयं नियम तोड़ने वाले प्रकाशकों का है, किन्तु कानून अपराधी को ही नहीं, अपराध की प्रवृत्ति को उत्तेजित करनेवाले को भी दण्डित करता है। यहाँ सरकार समान रूप से अपराधी है। क्या उसके मन में लांछना की अनुभूति है?

अखिल भारतीय तन्त्र स्थापित हो

हम लज्जित हैं, किन्तु हताश नहीं। अनुभव सब से बड़ा शिक्षक होता है। इस अधिवेशन के सामने सबसे अधिक गम्भीर और विचारणीय प्रश्न यही है कि जिस व्यवस्था के लाभ देश और व्यवसाय के हित में इतने अधिक स्पष्ट और प्रमाणित थे, वह क्यों नहीं चल पायी। जरूर, हमारे तन्त्र में कहीं कोई कमी, हमारी परिकल्पना में कहीं कोई कसर रही होगी। उसका हम पता लगायेंगे और उसे हम दूर करेंगे। संघ की कार्यसमिति ने विधान में संशोधनार्थ कुछ प्रस्ताव प्रस्तुत किये हैं। आप इनपर विचार करेंगे और निर्णय लेंगे। दूसरी समस्या पंजीबद्ध पुस्तक-विक्रेताओं की है। एक बात स्पष्ट है पुस्तक-विक्रेताओं पर बन्धन लगाने से पहले प्रकाशकों को स्वयं अपने ऊपर बन्धन लगाने होंगे। ऐसे प्रकाशकों को संघ की सदस्यता से वंचित करना होगा जो वास्तव में 'प्रकाशक' नहीं, मात्र स्थिति-विशेष का लाभ उठाने के लिए प्रकाशकीय चेहरा लगाये हुए हैं। और, उन्हें भी जो 'प्रकाशक' की परिभाषा को सार्थक करनेवाले एक न्यूनतम स्तर का दायित्व निभाने में असमर्थ हैं। प्रकाशक-संघ इस उद्देश्य का समर्थन करे कि प्रकाशन का समान स्तर रखनेवाले या समान स्तर की व्यवस्था रखनेवाले प्रकाशक संघटित हों, उनके अपने-अपने बिक्री-संघटन प्रकाशक-संघ के व्यापक अनुशासन या स्वीकृति के अन्तर्गत अपने-अपने नियमों के अनुसार स्वचालित हों। तदनुसार ही एक का दूसरे को समर्थन प्राप्त हो और सबकी आन्तरिक निष्ठा संघ के प्रति हो। इस प्रकार की व्यवस्था सम्भव है।

ऐसा होने पर पुस्तक-विक्रेताओं की श्रेणियाँ और उनके स्तरों के अपने-अपने वर्ग रूप ले लेंगे। विक्रेताओं के पंजीबन्धन का दायित्व जब प्रकाशकों के विभिन्न वर्ग-समूहों के हाथों में आ जायगा तब व्यवसाय में नयी व्यवस्था जन्म लेगी जो पंजीबन्धन के पूर्व अनुभूत लाभों को प्राप्त करेगी। अप्रामाणिकता पर अंकुश रखने का काम भी प्रकाशक अपने-अपने वर्ग के अन्तर्गत करेंगे और, इस तरह, समान स्तर के आदान-प्रदान द्वारा प्रकाशकों में अधिक निकटता और आत्मीयता आयेगी। संघ एक सर्वोपरि संस्था के रूप में प्रकाशन-व्यवसाय के हितों की रक्षा करेगा। संघ का यह प्रयत्न भी होना चाहिए कि वह हिन्दी पुस्तक-विक्रेताओं को अपना एक अखिल भारतीय तन्त्र स्थापित करने की प्रेरणा दे और उन्हें प्रत्येक उचित तथा आवश्यक सहायता दे।

बिक्री-सहकार-संस्थानों की स्थापना

संघ के अन्तर्गत प्रकाशकों के वर्ग-संघटन का एक लाभ यह भी होगा कि प्रकाशक अपने-अपने प्रयत्नों के

लिए विशेष विषय और क्षेत्र चुन सकेंगे। इस तरह हिन्दी-साहित्य का सर्वतोमुखी विकास होगा। तब फिर, हम यह भी व्यवस्था स्थिर कर सकेंगे कि देश की भावनात्मक एकता के उद्देश्य से किन भारतीय भाषाओं के साहित्यिक आदान-प्रदान का उत्तरदायित्व आपस में किस प्रकार विभाजित किया जाय। यह काम बड़ा है, आवश्यक है और इसके लिए सामूहिक प्रयत्न सब दृष्टियों से वांछनीय है।

यदि नयी व्यवस्था हमें बिक्री-सहकार-संस्थानों की स्थापना के लिए प्रेरित करती है तो हमें व्यावसायिक प्रगति की नयी दिशाएँ और नये आयाम मिलेंगे। सहकार-संस्थानों के आधार पर पुस्तक-भण्डारों को उनकी साख पर बैंकों से ऋण मिलना अधिक सरल हो जायगा। प्रकाशन व्यवसाय में जितनी कठिनाइयाँ हैं— प्रकाशन के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए व्यय की, मूल्य-निर्धारण की, निजी सीमा की, मुद्रण के स्तर को ऊँचा उठाने के साधनों की कमी की, बढ़ते हुए स्टाक में अधिक पूँजी लगाये रखने की — इन्हें देखते हुए वह आवश्यक है कि सरकार प्रकाशन-व्यवसाय को समुचित आर्थिक सुविधा दे, विशेषकर इसलिए कि हिन्दी-प्रकाशन का क्षेत्र सर्वाधिक विस्तृत है और इसकी आवश्यकताएँ बड़ी तथा तात्कालिक हैं। बैंकों को भी इस क्षेत्र के विकास में सहायक होना चाहिए, क्योंकि आज की पूँजी का विनियोग उन्हें भविष्य में लाभप्रद होगा और आत्मसन्तोष भी देगा कि उन्होंने अच्छी प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने में योगदान किया।

हिन्दी-प्रकाशकों की कठिन समस्या

हिन्दी-प्रकाशकों के सामने यह समस्या कठिन-से-कठिनतर होती जा रही है कि सामान्य पुस्तकों की बिक्री के लिए सरकारी अनुदानों के बाहर की बिक्री उत्पादन के अनुपात में बढ़ नहीं रही है, क्षेत्र यद्यपि इतना विस्तृत है और साक्षरों की संख्या बराबर बढ़ रही है। हिन्दी-प्रकाशक-संघ को यह तन्त्र स्थापित करना होगा कि हमें हर तीसरे मास या समय-समय पर पता चलता रहे कि नयी पुस्तकों का उत्पादन अमुक अवधि में कितना हुआ, कितनी पुस्तकें बिकीं और हिन्दी-पुस्तकों का स्टाक किस अनुपात में घटा-बढ़ा। ये तथ्य और अंक यदि संघ के पास उपलब्ध रहेंगे तो व्यवसाय को अपनी क्षमता कूतने में और कार्यक्रम बनाने में बड़ी सुविधा होगी। देश की अनेक संस्थाएँ सम्बन्धित विषयों के उत्पादन और खपत के अंक संकलित करने में समर्थ हैं और वे आधुनिक सांख्यिकी का लाभ उठाती हैं। प्रकाशक-संघ पुस्तकों की विज्ञप्ति सामूहिक वर्गीकृत सूचियाँ प्रकाशित करे, विभिन्न प्रकाशकों की विज्ञप्ति प्रकाशन-योजनाओं की सूचना कार्यालय में रखे, एक ही पुस्तक के अनेक अनुवादों और एक ही विषय पर एक ही पद्धति की अनेक पुस्तकों के प्रकाशन की योजना की सूचना के अभाव में प्रकाशकों की जो हानि हो जाती है उससे उन्हें बचाने का प्रयत्न संघ को करना चाहिए।

राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह

राष्ट्रीय पुस्तक-समारोहों का आयोजन हमारे संघ के वार्षिक कार्यक्रम का अंग बन चुका है। हम जितनी बड़ी योजना की परिकल्पना घोषित करते हैं, उसके अनुपात में हमारा वास्तविक कार्य नगण्य होता है। यह संघ की प्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं। अगले वर्ष हमारे समारोह कल्पना में बेशक छोटे हों किन्तु प्रभाव में वे महत्त्वपूर्ण होने चाहिए। अपने ही प्रयत्नों द्वारा हम जबतक सामान्य पुस्तकों की बिक्री नहीं बढ़ाते, हम दृष्टिविहीन माने जायेंगे। पाठकों का निर्माण करना राष्ट्र की बहुत बड़ी सेवा है। व्यवसाय का लाभ तो उसमें प्रत्यक्ष है ही। पुस्तक-मेले, पुस्तक-प्रदर्शनियाँ नयी चीज नहीं। संघ के अधिवेशनों और आयोजनों के अवसर पर प्रत्येक स्थान की स्वागत-समिति हिन्दी के नाटकों का अभिनय करे और इन नाटकों के टिकट तत्काल खरीदी गयी नयी पुस्तकों के रूप में हों। इन पुस्तकों पर विशेष रियायत दी जाय और सेट के मूल्य के हिसाब से प्रत्येक प्रकाशक पुस्तकों के सेट का आकर्षण प्रस्तुत करे। इसी प्रकार, जिस परिवार में कोई विवाह आयोजित हो वहाँ हम बधाई का आकर्षक पत्र भेजें और वर-वधू को उपहार में पुस्तकें देने की प्रेरणा दें। ऐसे अनेक उपाय हैं जिनके बारे में आप में से अनेक ने अधिक गम्भीरता से सोचा है और आप संघ का तथा स्थानीय बिक्री की प्रवृत्तियों का मार्गदर्शन करेंगे।

प्रशिक्षण-सूत्र की व्यवस्था

एक सुझाव आया है कि संघ एक ऐसे प्रशिक्षण स्कूल की व्यवस्था करे जिसमें पुस्तकों के नियोजन, मुद्रण, प्रकाशन और वितरण से सम्बन्धित विषयों का ज्ञान और व्यावहारिक अनुभव प्राप्त हो सके। यह सुझाव अत्यन्त उपयोगी है। हिन्दी के प्रमुख प्रकाशक भुक्तभोगी हैं कि उन्हें समुचित ज्ञान रखनेवाले अनुभवी कार्यकर्त्ता नहीं मिलते। दूसरों के वैज्ञानिक ज्ञान ने मुद्रण-कला को विकसित किया है, उसका लाभ हम उठा रहे हैं। किन्तु हिन्दी-पुस्तकों के उत्पादन और वितरण के कार्य में कोई बाहरी संस्थान हमारी अधिक सहायता नहीं कर सकता। हमें अपनी ही शक्ति और क्षमता पर भरोसा करना पड़ेगा। 'प्रकाशन-व्यवस्था-प्रशिक्षण-संस्थानों' की योजना यदि संघ ने बनायी और स्वयं उत्तरदायित्व लेने के लिए क्रियात्मक पग उठाये तो मुझे विश्वास है कि शासन का सहयोग हमें प्राप्त होगा।

मुद्रण-कला के आधुनिक उपादानों के प्रयोग की शिक्षा के लिए सरकार ने बम्बई, कलकत्ता, इलाहाबाद और मद्रास में संस्थाएँ स्थापित की हैं। इनकी संचालक-समितियों में हिन्दी-प्रकाशक-संघ के प्रतिनिधि भी रहें, यह माँग संघ के मञ्च से गत वर्ष भी की गयी थी। उसकी पूर्त्ति अभी नहीं हुई है। हम आशा करते हैं कि वर्तमान स्थिति में राजकीय अधिकारी इस उचित माँग पर पुनर्विचार करेंगे।

प्रकाशन : व्यवसाय और अनुष्ठान भी

हिन्दी के विकास और उन्नयन में जो-जो भी लगे हुए हैं—लेखक, प्रकाशक, पुस्तक-विक्रेता, केन्द्रीय और राज्य सरकारें—ये सब सहयोगी हैं और सभी एक-दूसरे के पूरक हैं। साहित्य अकादमी, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा-मन्त्रालय, वे सब सभाएँ और सम्मेलन जो लेखकों को पुरस्कृत करते हैं, साहित्य-सृजन को प्रोत्साहित करते हैं, दुर्लभ ग्रंथों और अलभ्य पाण्डुलिपियों को प्रकाशित करते हैं—उन सब के प्रति हिन्दी-जगत उपकृत है। प्रकाशक-संघ इस अवसर पर उत्तर-प्रदेश सरकार को बहुमूल्य साहित्यिक कृतियों के प्रकाशन पर बधाई देता है और आकांक्षा करता है कि वे भविष्य में प्रकाशन-मुद्रण की दिशा में प्रेरणादायक होंगे। उत्तरप्रदेशीय शासन ने साहित्यिक पुरस्कारों की योजना को जो अब नया रूप दिया है, पाँच हजार रुपये से पाँच सौ तक के पुरस्कारों के लिए लगभग ३७ हजार रुपये की वार्षिक राशि निश्चित की है, वह स्तुत्य है। उत्तरप्रदेश सरकार विशेष बधाई की पात्र है।

अन्त में एक बात और। आज नहीं तो कल, प्रकाशकों को इस नैतिक उत्तरदायित्व की प्राप्ति करनी होगी कि जब जिन लेखकों की पुस्तकें हम प्रकाशित करते हैं उनके सुख-दुख के हम सहभागी हैं। लेखक अपनी कृति और अपने दायित्व के प्रति निष्ठावान् हो, वह श्रम से न कतराये और प्रकाशक लेखक के प्रति शतप्रतिशत सच्चा हो। प्रकाशन-कार्य व्यवसाय भी है और सांस्कृतिक अनुष्ठान भी। दोनों में विरोध नहीं, यदि लेखक और प्रकाशक एक-दूसरे के सच्चे सहकर्मी हैं और दोनों मिलकर राष्ट्र के प्रति समर्पित हैं।

—तुमने लिखा है कि तुम्हारी "स्व" नामक एक चीज है। यह सुनकर सुखी हुआ, क्योंकि हमारी जाति में इस एक चीज का ही अभाव है। हमारी जाति पैदा होते ही अपने जीवन का स्वत्वस्वामित्व खो बैठा करती है। जीवन के विषय में हमारी जैसी "निःस्व" जाति संसार में और कोई नहीं है। मैंने एक जगह लिखा भी है कि "जिस प्रकार राम के जन्म के पहले 'रामायण' की रचना कही जाती है, वैसे ही हमारे जन्म से पहले एक "हमारायण" लिखा हुआ रहता है।" इन दोनों में अंतर यही है कि रामायण को वाल्मीकि ने लिखा, और हमारी सारी राष्ट्रीय जाति का हमारायण लिख गये हैं मनु।

—प्रमथनाथ चौधुरी,

सुधीन्द्रसिंह को लिखा पत्र

ता० १७-८-१९१७

कवीन्द्र रवीन्द्र

श्री के० एस० राणा 'परदेशी'

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म ६ मई १८६१ को कलकत्ता में जोड़ासाँको भवन में हुआ था। रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और पितामह द्वारकानाथ ठाकुर थे। माता का नाम शारदा देवी था। ठाकुर-वंश पिराली ब्राह्मण-समाज की एक शाखा है। इस वंश को ठाकुर की उपाधि पाँच-छः पुश्त से मिली है। इस वंश पर लक्ष्मी और सरस्वती की पहले से ही समान दृष्टि है। इसलिए ठाकुर-वंश की बंगाल में विशेष प्रसिद्धि भी है। "रवीन्द्रनाथ के जीवन के साथ बंग-भाषा का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है, दोनों के प्राण जैसे एक हों। रवीन्द्र सूर्य और बंग-भाषा का साहित्य सुन्दर पद्म है।" रवीन्द्र के आगमन के पश्चात् ही बंग-साहित्य का नवीन युग आरम्भ होता है : "जागरण के प्रथम प्रभात में आवेश भरी भैरवी बंगालियों ने सुनी—वह संगीत, वह तान, वह स्वर, बस जैसा चाहिए वैसा ही जाति के जागरण को कर्म की सफलता तक पहुँचाने, चलकर जगह-जगह पर थकी-बैठी हुई जाति को कविता और संगीत के द्वारा आश्वासन और उत्साह देने के लिए उनका अमर कवि आया, प्रकृति ने प्रकृति का अभाव पूरा कर दिया। वे सौभाग्यवान पुरुष बंगाल के जातीय महाकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे।"

अपने विकास-काल में लिखित एक रचना देखिए :

"आजि ए प्रभाते सहसा केन रे
पथहारा रविकर
आलय न पेये पड़े छे आसिये
आमार प्राणेर पर
बहुदिन परे एकटी किरण
गुहाय दियछे देखा
पड़े छे आमार आँधार सलिले
एकटी कनक-रेखा।"

कवि कहता है : "आज इस प्रभात के समय, सूर्य की एक किरण एकाएक अपनी राह क्यों भूल गई, यह मेरी समझ में नहीं आता। वह कहीं ठहरने की जगह न पा, मेरे प्राणों पर आकर गिर रही है। मेरे हृदय की कन्दरा में बहुत दिनों के बाद एक किरण दिखाई दे रही है। मेरी अँधेरी सलिल-राशि पर सोने की एक-रेखा खिंची हुई है।" वास्तव में कवि का यह कहना कितना स्वाभाविक है। उनके हृदय में भावनाओं की प्रबल धारा फूट बाहर निकलने को आतुर हो रही थी; काव्य-प्रेम, आशा, सुख, शान्ति की किरण की तीव्र रेखा, जिसके आगमन के अर्थ को कवि पहले न जान पाया। आगे देखिए : उसे स्वप्न में भी यह विश्वास न था कि वह इतना महान है; उसके भीतर इतनी शक्ति है—इतनी प्रतिभा है—इतनी विशालता है। वह इस सम्बन्ध में स्वयं कहता है :—

"प्राणेर आवेग राखिते नारि,
थर-थर करि काँपिछे वारि,
टलमल जल करे थल थल
कल कल करि धरेछे तान।
आजि ए प्रभाते कि जानि केन रे।
जागिया उठेछे प्राण।"

"मैं अपने प्राणों के आवेग को नहीं रोक सकता। मेरे हृदय की सलिल-राशि थर-थर काँप रही है। जल टल-मल कर रहा है। आज इस प्रभात में मेरे प्राण क्यों जग पड़े, यह मेरी समझ में नहीं आता!" यह काव्य-विकास का प्रथम समय है। हृदय खुल रहा है :

"जागिया देखिनु चारिदिके मोर
पाषाणे रचित कारागार घोर
बुकेर उपरे आँधार बहिया
करिछे निजेर ध्यान
ना जानि केन रे एतो दिन परे
जागिया उठेछे प्राण।"

"जगकर मैंने देखा, मेरे चारों ओर पत्थरों का बनाया हुआ घोर कारागार है और मेरी छाती पर बैठा हुआ अंधकार अपने ही स्वरूप का ध्यान कर रहा है। इतने दिन बाद क्यों मेरे प्राण जग पड़े, यह मेरी समझ में नहीं आता।" महाकवि रवीन्द्र एक महान् देशभक्त थे। उनकी एक कविता देखिए :

"आमि भुवन-मनोमोहनी
आमि निर्मल सूर्यकरोज्वल धरणी
जनक जननी जननी!
नील-सिंधुजल-धौत चरण-तल।
अनिल-विकम्पित श्यामल अंचल,
अम्बर-चुम्बित भाल हिमाचल
शुभ्र - तुषार - किरीटिनी!
प्रथम-प्रभात- उदय तव गगने,
प्रथम साम - रव तव तपोवने,
प्रथम प्रचारित तव वन-भवने
ज्ञान धर्म कत काव्य काहिनी।
चिर कल्याणमयी तुमि धन्य;
देश-विदेशे वितरिछ अन्न,
जाह्नवी-यमुना विगलित-करुणा,
पुण्य पीयूष-स्तन्य-वाहिनी।"

रवीन्द्र देश की कल्याण-कामना करते हुए परमात्मा से जिन शब्दों में प्रार्थना करते हैं वह किसी से छुपा नहीं है। स्वदेश-भक्ति पर एक अन्य कविता देखिए :

"जे तोमारे दूरे राखि नित्य घृणा करे
हे मोर स्वदेश,
मोरा तारी काछे फिरी सम्मानेर तरे
परी तारी वेश!
विदेशी जानेना तोरे अनादरे ताई
करे अपमान,
मोरा तारी पीछे थाकी योग दिते चाई
आपन सन्मान!
तोमार जे दैन्य मातः ताई भूषा मोर
केन ताहा भूली,
परधने धिक् गर्व, कही कर जोड़
भरी भिक्षा - झुली!

पुण्य हस्ते शाक अन्न तुली दाव पाते
ताई जेनो रुचे;
मोटा वस्त्र बुने दाव यदि निज हाते
ताहे लज्जा घुचे।
सेई सिंहासन यदि अञ्चलटी पातो
करो स्नेह-दान
जे तोमा तुच्छ करे, अमारे मातः
कि दिबे सम्मान!"

कवि कहता है : "ऐ मेरे स्वदेश! जो मनुष्य तुझे दूर रख कर नित्य ही तुमसे घृणा करता है, हम सम्मान के लिए उसी के वेश में उस के पास चक्कर लगाया करते हैं। विदेशी तुम्हें (तेरी महत्ता को) नहीं जानते, इस लिए उनमें निरादर का भाव है। वे तुम्हारा अपमान किया करते हैं। और हम तुम्हारी गोद के बच्चे उनके पीछे लगे हुए, उनके इस कार्य की सहायता किया करते हैं। माँ! तुम्हारी दीनता ही मेरे वस्त्र और आभूषण हैं। इस बात को क्यों मैं भूलूँ, माँ! दूसरे के

धन के लिए अगर गर्व हो तो उस गर्व पर धिक्कार है। हाथ जोड़ कर हम भीख की झोली भरते हैं, माँ! अपने पवित्र हाथों से तुम जो रोटियाँ और साग थाली पर रख देती हो, ईश्वर करे उसी भोजन में हमारी रुचि हो, और अपने हाथों से तुम जो मोटे कपड़े बुन देती हो, उन्हीं से हमारी लज्जा-निवृत्ति हो, हमारी देह ढक जाय। अपने स्नेह का दान करने के लिए यदि तुम अञ्चल बिछा दो, तो हमारे लिए वही सिंहासन है, माँ! तुम्हें जो तुच्छ समझता है वह हमें कौन-सा सम्मान दे देगा?" विश्वकवि रवीन्द्रनाथ पाखण्ड एवं धर्मान्धता के भी प्रबल विरोधी थे। निम्न कविता द्वारा मन्दिरों-मस्जिदों के व गुरुद्वारों के महत्त्व पर कुछ प्रभाव पड़ा या नहीं, मैं नहीं कह सकता, पर धर्म के ठेकेदार साधुओं, जिन्होंने मुफ्त में पेट भरना अपना जीवन-लक्ष्य बनाया है, उनपर यह एक चोट है। यह कविता उनकी सुधार-वृत्ति का पता देती है:

"तोमारे शतधा करि क्षुद्र करि दिया
माटीते लुटाय जारा तृप्त सुप्तहिया
समस्त धरणी आजि अवहेला भरे
पा रखेछे ताहादेर माथार ऊपरे।
मनुष्यत्व तुच्छ करि जारा सारा बेला
तोमारे लइया सुधु करे पूजा खेला
मुग्ध भाव भोगे सेइ वृद्ध शिशुदल
समस्त विश्वइ आजि खेलार पुत्तल।
तोमारे आपन साथे करिया सम्मान
जे खर्व वामनगण करे अपमान
के तादेर दिबे मान? निज मन्त्र स्वरे
तोमारेइ प्राण दिते जारा स्पर्द्धा करे
के तादेर दिबे प्राण? तोमारे ओ जारा
भाग करे, के तादेर दिबे ऐक्य-धारा?"

कवि कहता है: "हे ईश्वर! तुम्हारे सैकड़ों टुकड़ों में बँटे हुए जो लोग तुम्हारे ही छोटे स्वरूप हैं, जो लोग मिट्टी पर लोटते हैं और उसी में जिन्हें तृप्ति मिलती है और आनन्द से वहीं सो जाते हैं, आजअवज्ञापूर्वक सम्पूर्ण संसार उनका सिर कुचल रहा है। जो लोग अपनी मनुष्यता को तिलांजलि देकर करते तो हैं तुम्हारी पूजा की तरह, परन्तु वास्तव में तुमसे बच्चों के ऐसा खेल किया करते हैं, भोग ही जिनका भाव है और उसी में जो लोग मुग्ध रहते हैं; वे वृद्ध होते हुए भी शिशु हैं, वे आज सम्पूर्ण विश्व के खिलौने हो रहे हैं। हे ईश्वर! सर्वाकृति वामन होते हुए भी जो लोग तुम्हें अपने ही बराबर समझते हैं, बतलाते हैं; ऐसा कौन है जो उन्हें सम्मान दे सके? अपने ही मंत्र के उच्चारण से जो लोग तुम्हारे लिए अपने प्राणों को निछावर कर देने की स्पर्द्धा करते हैं, ऐसा कौन है जो उनमें जीवन का संचार करे? जो लोग तुम्हारे भी टुकड़े कर डालते हैं, कहो, उन्हें कौन एकता की रीति बतलावे?" उपर्युक्त कविता में पाखण्डियों की धज्जियाँ उड़ाई गई हैं। एक 'दुइ उपमा' नामक छोटी कविता देखिए:

"जे नदी हाराये स्रोत चलिते ना पारे,
सहस्र शैवाल्य-दाम बाँधे आसि तारे;
जे जाति जीवनहारा अचल असाड़
पदे-पदे बाँधे तारे जीर्ण लोकाचार।
सर्व जन, सर्व क्षण चले जेई पथे,
तृणगुल्म सेथा नाहीं जन्मे कोनो मते—
जे जाति चले ना कभू, तारि पथ परे
तंन्त्र-मन्त्र संहितार चरण न सरे!"

जीवन की वास्तविकता पर प्रकाश डालते हुए कवि इस जीवन की तुलना एक नदी से करते हैं। उनका कहना है कि क्रियाशीलता ही जीवन है और जड़ता मृत्यु। "जिस नदी का प्रवाह रुक जाता है, वह फिर बह नहीं सकती। फिर तो हजारों प्रकार की जंजीरें उसे आकर जकड़ लेती हैं। इसी प्रकार जिस जाति के जीवन का नाश हो गया है, जो जाति अचल और जड़वत हो गई है, उसे भी, पद-पद पर जीर्ण लोकाचार जकड़ लेते हैं। जो आम रास्ता है, जिसपर लोग सब समय चलते रहते हैं, उसमें घास नहीं उग सकती। इसी तरह जो जाति कभी चलती नहीं, उसके पथ पर तन्त्र-मन्त्र और संहिताएँ भी पंगु हैं।" कैसा सुन्दर सत्य है! इस कविता के द्वारा उन्होंने देश की पराधीनता की ओर संकेत किया है।

"पन्द्रहवें साल से पहले ही रवीन्द्रनाथ कुछ कविताएँ कहा सके थे। उनकी पहले की कविताएँ और समालोचना

'ज्ञानाङ्कुर' में निकलतीं थीं।" 'भारती' में भी इनकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहतीं थीं। बाद में 'वनफूल' के नाम से इनकी ११-१५ साल के बीच की रचनाएँ संग्रहित हैं। बीसवें साल के मध्य "गाथा"-नामक पुस्तक में कविता-कहानी छपी जिसे पढ़ कर पश्चिमी विद्वान इनपर "स्काट का प्रभाव" बताते हैं।

इसी वर्ष इन्होंने भानु-सिंह-संगीतों के बीस गीत लिखे। कुछ लोग इसी साल से विश्वकवि के साहित्यिक जीवन का आरम्भ मानते हैं। १८७८ में विलायत से वापस आने पर 'मेघनाद-वध' काव्य पर इनकी एक पैनी समालोचना निकली। फिर 'करुणा' उपन्यास, 'भग्नहृदय' पद्यबद्ध नाटक प्रकाश में आये। १८८१-१८८७ तक का समय रवीन्द्र के लिए सच्चा साहित्यिक काल था। इस काल में "सन्ध्यासंगीत" कविता पुस्तक के प्रकाशित होने से बंगाल भर में उनकी प्रतिभा चमक उठी। "उस समय के बड़े-बड़े विद्वानों तक ने रवीन्द्रनाथ का लोहा मान लिया।" फिर आयी 'वाल्मीकिप्रतिभा' और 'कालमृगया'। संगीत की दृष्टि से इन्हें उच्च स्थान दिया जाता है। भाषा, भाव, छन्दों की पुष्टता के कारण ही शरतबाबू को कहना पड़ा: "मेरा विश्वास है, भारत में इतना बड़ा कवि नहीं पैदा हुआ।" 'प्रभात-संगीत' के आते ही बंगाल में उनकी धूम मच गई। बहुत-से लोग उनकी कविताओं में 'प्रभात-संगीत' को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। उनके उपन्यासों में 'बहू ठकुरानीर हाट' भी इसी समय निकला, फिर 'प्रकृतिर परिशोध', 'छवि ओ गान' तथा दुःखान्त नाटक 'नलिनी' और 'मायार खेला' प्रकाश में आये। 'विर्सजन', 'आलोचना', 'समालोचना' के प्रकाश में आने से आलोचना और निबन्ध के क्षेत्र में भी उनकी धाक जम गई। यौवनावस्था पर पहुँचते-पहुँचते 'कड़ी ओ कोमल' की सृष्टि की, १८८७ में गाजीपुर में रहते हुए 'मानसी' लिखी जिसमें "भैरवी" जैसी भावात्मक कविताएँ जहाँ हैं वहीं 'सूरदासेर प्रार्थना' 'गुरु गोविन्द' जैसी ऐतिहासिक, शान्त एवं वीर रस की कविताएँ भी हैं। 'मानसी' के बाद 'राजा ओ रानी' निकला। ६५ वर्ष तक पहुँचते-पहुँचते 'चित्राङ्गदा' नाटक निकला। यह एक पौराणिक कथा पर आधारित है। "कुछ लोग चित्राङ्गदा को नाटक न कहकर उत्कृष्ट कविता कहते हैं। रवीन्द्रनाथ के अंग्रेज समालोचक तो 'चित्राङ्गदा' के अंग्रेजी अनुवाद चित्रा पर मुग्ध हैं। वे नाटकों में 'विसर्जन' को रवीन्द्रनाथ का श्रेष्ठ नाटक मानते हैं। साथ ही उनका कहना है कि 'विसर्जन' बंगला साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नाटक है।" 'सोनार तरी' की अधिकांश कविताएँ छायावादी पर हैं। 'चित्रा' में 'उर्वशी' कविता संसार भर में प्रसिद्ध है। १८९५ में 'साधना', 'चैताली' निकलीं। उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें : 'कल्पना', 'कथा', 'काहिनी' 'क्षणिका' हैं। १९०१ से १९०७ का काल रवीन्द्र का उपन्यासकाल कहाता है। 'गोरा' इसी काल की रचना है।

१९०२ में स्त्री के देहान्त से वे धैर्यशील, शान्त तथा एकान्तप्रिय हो गये थे। अलमोड़ा में रहकर अपने लड़के के मनोरंजन के लिए 'कथा' में कुछ बाल-कहानियाँ लिखीं। 'स्मरण' उनकी पत्नी की स्मृति में लिखा गया। १९०३ में उन्होंने 'The wreck' उपन्यास लिखकर हिन्दुओं के भाव, भक्ति, प्रेम को दर्शाने की कोशिश की। १९०४ में

देशभक्ति सम्बन्धी पद्यों का संग्रह 'स्वदेश-संकल्प' के नाम से निकला। १६०५ में 'खेया' के निकलते समय उनके छोटे लड़के की मृत्यु हो गई। १६०५ में बंग-भंग-आन्दोलन में सरकार की कटु आलोचना की भारती पत्रिका का आप ने जन्म दिया। समय-समय पर आपके विद्वत्तापूर्ण लेख, कहानियाँ, समालोचनाएँ 'बंगदर्शन' 'प्रवासी' आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती थीं। रवीन्द्रनाथ लार्ड मेकाले की चलाई शिक्षा-पद्धति के कट्टर विरोधी होने के कारण शांतिनिकेतन की नींव रख सुव्यस्था करने में समर्थ रहे। आज वही 'विश्वभारती' के नाम से संसार-प्रसिद्ध है। शांतिनिकेतन में रहते हुए उन्होंने अद्भुत भावपूर्ण कविताएँ लिखीं। जिनका संग्रह "गीताञ्जलि" में किया गया जो बंगाल में 'गीता' बन कर रह गई। सभी ने उसकी सराहना की। अपने मित्र एंड्रूज के कहने से उन्होंने उसे अंग्रेजी में अनुवाद कर 'विज्ञान-कला-साहित्य-परिषद्' को भेज दिया। इस परिषद् ने 'गीताञ्जलि' को विश्व में "सर्वश्रेष्ठ पुस्तक घोषित कर नोबिल प्राइज देकर रवीन्द्रनाथ को विश्व-साहित्य के एक 'अमर कवि' होने में सहायता दी।

'राते ओ प्रभाते' कविता में महाकवि की कलम से निकली, निश्छल प्रतिबिम्बित, युवा पति-पत्नी के प्रेम का वर्णन देखिए :

"कालि मधुयामिनीते ज्योत्स्नानिशीथे
कुञ्जकानने सुखे
फेनिलोच्छल यौवन सुरा
धरेछि तोमार मुखे" (१)

कवि कहता है कि : ऐ प्रिये ! कल वसन्त की चाँदनी में अर्धरात्रि के समय, उपवन में लता-कुंज के नीचे छलकती हुई फेनिल यौवन की सुरा सुखपूर्वक मैंने तुम्हारे ओठों पर लगाई थी।

"तुमी चेये मोर आँखीं परे
धीरे पात्र लयेछो करे
हेसे करियाछो पान चुम्बन-भरा
सरस बिम्बाधरे
कालि मधुयामिनीते ज्योत्स्नानिशीथे
मधुर आवेश भरे" (२)

"तुमने मेरी दृष्टि से अपनी दृष्टि मिला कर, धीरे-धीरे वह सुरा-पात्र ले लिया था। फिर हँस कर, मधुर आवेग से भर कर, कल वसन्त की चाँदनी रात में, चुम्बन भरे अपने सरस बिम्बाधरों से उसका पान कर गईं थीं।"

"तव अवगुण्ठन खानि
आमि केड़े रखे छिनु टानि
आमि केड़े रखे छिनु वक्षे तोमार
कमल कोमल पाणि" (३)

"मैंने तुम्हारा घूँघट खोल डाला था, तुम्हारे कमल-कोमल हाथ को हृदय पर खींच कर रख लिया था।"

"भावे निमीलित तव नयन युगल
मुखे नाहीं छिलो वाणी" (४)

"उस समय तुम्हें भावावेश हो गया था, तुम्हारी दोनों आँखों की अधखुली हालत थी, और मुँह से एक शब्द भी न आ रहा था।"

"आमी शिथिल करिया पाश
खुले दिये छिनु केशराश,
तव आनमित मुख खानि
मुखे धयेछिनु बुके आनि,
तुमी सकल सोहाग सयेछिले, सखि
हासी-मुकुलित मुखे,
कालि मधुयामिनीते ज्योत्स्नानिशीथे
नवीन मिलन सुखे" (५)

"बन्धनों को शिथिल करके मैंने तुम्हारी केशराशि खोल दी थी, तुम्हारे झुके हुए मुख को सुखपूर्वक हृदय से लगा लिया था। सखी, कल वसन्त की चाँदनी रात में नवीन मिलन-सुख के समय, मेरे द्वारा किये गये इन सब सुहागों को हँस-हँस कर तुमने सहन किया था। तुम्हारी हँसी की कली ज्यों-की-त्यों मुकुलित ही बनी रही—न मसली, न मसल जाने के दर्द में आह भरने के इरादे में उसने मुँह खोला।"

शृंगार पर महाकवि रवीन्द्रनाथ की एक और गजब की कविता देखिए, नाम है 'ऊर्वशी'। उनकी हर एक

कविता बोलती है। "स्वाभाविकता वही है जो उनकी कविता में बोलती है।"

"न हो माता, न हो कन्या, न हो वधू, सुन्दरी रूपसि,
हे नन्दनवासिनी ऊर्वशी (१)
गोपे जबे सन्ध्या नमि श्रान्त देहे स्वर्णांचल टानी
तुमी कोनो गृहप्रान्ते नाहीं जाल सन्ध्यादीप खानि;
द्विधाय जड़ित पदे, कम्पवक्षे नम्र नेत्रपाते
स्मित हास्य नाहीं चलो सलज्जित वासर शय्याते
स्तब्ध अर्द्ध राते (२)
ऊषार उदय सम अनवगुण्ठिता
तुमी अकुण्ठिता (३)

अर्थात्—नन्दनवासिनी ओ रूपवती उर्वशी! तुम न माता हो, न कन्या हो और न वधू हो (१) थकी देह पर सोने का आँचल खींच कर सन्ध्या जब गौओं के चरागाहों में उतरती है तब, ऐ उर्वशी! तुम किस घर के कोने में शाम का दीपक नहीं जलातीं—न संकोचवश जकड़े हुए पैरों से, काँपते हुए कलेजे से, नीची निगाह करके मन्द-मन्द हँसती हुई; अधरात के सन्नाटे में प्रिय की सेज की ओर लज्जित भाव से जाती हो। (२) तुम्हारा तो घूँघट सदा उसी तरह खुला रहता है जैसे उषा का उदय, और तुम सदा ही अनवगुण्ठित रहती हो। (३)

उर्वशी का एक अन्य उद्धरण देखिए:

"कोनो काले छिले ना कि मुकुलिका बालिका वयसी
हे अनन्त यौवना उर्वशी! (७)
आँधार पाथार तले कार घरे बसिया एकला
माणिक मुकुता लये करेछिले शैशवेर खेला,
मणिदीप दीत कक्षे समुदेर कल्लोल संगीते
अकलंक हास्यमुखे प्रवालपालंके घुमाइते
कार अंकटी ते? (८)
जखनि जागिले: विश्वे, यौवने गठिता
पूर्ण प्रस्फुटिता। (९)

अर्थ—ऐ उर्वशी! तुम्हारे इस यौवन का क्या कभी अन्त भी होता है? अच्छा, माना कि तुम्हारा यौवन अनन्त है, परन्तु यह तो बताओ, कली की तरह तुम बालिका भी थीं या नहीं? अतल के अन्धकार में तुम किसके यहाँ अकेली बैठी हुई मणियों और मुक्ताओं को लेकर अपने शैशव का खेल करती थीं?—मणियों के दीपों से प्रदीप्त भवन में समुद्र के कल्लोलों के गीत सुनकर निष्कलंक मुख से हँसती हुई प्रवालों के पलंग पर तुम किसके अंक में सोती थीं? (८) इस विश्व में जब तुम्हारी आँखें खुलीं, तब तुम्हारा यौवन गठित हो चुका था—तुम बिलकुल खिल गई थीं। (९)

हिन्दी साहित्य में जिन प्रसिद्ध कवियों ने घनाक्षरी, सवैया, दोहा, सोरठा और चौपाई आदि अनेकानेक छन्दों की सृष्टि की है, बहुत सम्भव है, वे स्वयं गाते हों। ठाकुर रवीन्द्रनाथ भी संगीत-शास्त्र के महान् ज्ञाता थे:

"बाजिलो काहार वीणा मधुर स्वरे!
अमार निभृत नव जीवन परे।"

"मेरे निभृत (निर्जन) और नवीन जीवन पर यह मधुर स्वर में किसकी वीणा बजी?" "महाकवि का जीवन नवीन है—एकान्त में सुरक्षित है, और वहीं एक वीणा मधुर स्वर में बजती है।" यह वीणा है किसकी? कौन, कहाँ से बजा रहा है? यह कवि नहीं जानता। यही रहस्य है—साहित्य में यही छायावाद रहस्यवाद है।

"अहा जागि पोहाल विभावरी
क्लान्त नयन तव सुन्दरी।
म्लान प्रदीप उषानिल चंचल,
पाण्डुर शशधर गत अस्ताचल।
मुछो आँखिजल, चलो सखी चलो,
अंगे नीलाम्बर संवरी।"

"अहा! जगकर सारी रात तुमने बिता दी! सुंदरी, तुम्हारी आँखों में थकान आ गई है। दिये की जोत मलिन पड़ गई है। चाँद मुरझाकर अस्ताचल में धँस गया है। तुम अपने आँसू पोंछो—चलो सखी, नीलाम्बरी साड़ी के अञ्चल-प्रांत को देह पर सम्भाल लो।" इस संगीत-रचना में छायावाद का आश्रय लिया गया है। इसी कारण हिन्दी कविता में छायावाद के आगमन में प्रेरणा देनेवालों में रवीद्रनाथ ठाकुर का नाम आता है।
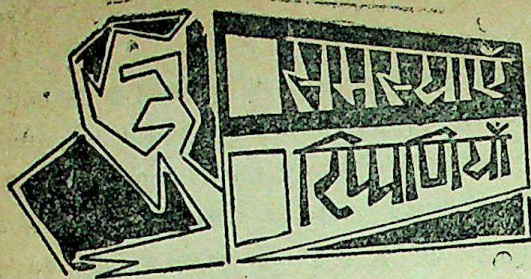
एक लाख का साहित्यिक पुरस्कार

[१]

बम्बई से भेजी गयी एक गश्ती चिट्ठी मुझे मिली है, जिसमें एक लाख के पुरस्कार की योजना का जिक्र है। निस्सन्देह यह योजना अत्यन्त गौरवपूर्ण तथा हर्षोत्पादक है। उसपर कुछ महानुभावों की सम्मति भी माँगी गयी और उनमें मेरा भी नाम है, इसलिए अपनी अयोग्यता का अनुभव करते हुए भी अपनी राय मैं पत्रों को लिख रहा हूँ।

हिन्दी में महाराज वीरसिंह जू देव ओरछेश का देव-पुरस्कार पहले सबसे बड़ा माना जाता था। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि उसकी प्रेरणा इन पंक्तियों के लेखक ने ही उन्हें दी थी और बहुत वर्षों तक उसका प्रबन्ध भी हमलोगों के हाथ में ही रहा था। साहित्य अकादमी की प्रबन्धकारिणी समिति का भी मैं पाँच वर्ष तक सदस्य था, इसलिए उसके द्वारा प्रदत्त पाँच हजार के पुरस्कारों का भीतरी वृत्तांत मैं कुछ-कुछ जानता हूँ।

पुरस्कार के पीछे जो सद्भावना है, उसे स्वीकार करते हुए दानी महोदय को धन्यवाद देना हमलोगों का प्रथम कर्तव्य है। पर उसके साथ-ही-साथ अपनी ईमानदारी की राय भी बतला देना आवश्यक है।

एक लाख की रकम इतनी बड़ी है और भारत की चौदह-पन्द्रह भाषाओं का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि इस घोषणा से इन सब क्षेत्रों में उत्साह की कोई लहर नहीं फैल सकती। इससे कहीं अधिक उत्तम यह होता है कि ११-११ हजार के नौ पुरस्कार रख दिये जाते और वे भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं के सुयोग्य लेखकों तथा कवियों में वितरित किये जाते। एक लाख के पुरस्कार के लिए जो कनवेसिंग होगा, जो भाग-दौड़ होगी, जिस प्रकार निर्णायकों को घेर बतायी जायगी, उसकी कल्पना मैं आसानी से कर सकता हूँ। भारत की पन्द्रह भाषाओं में एक-से-एक बढ़कर लेखक पड़े हुए हैं। उनकी रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन कौन कर सकेगा? काका साहब कालेलकर-जैसे बहुभाषा-भाषी व्यक्ति सिर्फ तीन-चार भाषाओं की रचनाओं के विषय में अधिकारपूर्वक कह भी दें, पर उन जैसे व्यक्ति इस देश में हैं कितने?

जिन महानुभाव ने इस दान की कल्पना की है, स्वयं उनके कई पत्र चल रहे हैं। यदि उन पत्रों में छपने वाले लेखों के पारिश्रमिक की रकम जोड़ी जाय तो शायद वह भी लाख-डेढ़-लाख से ज्यादा ही बैठेगी और उनके पत्रों में लेख लिखने वालों की संख्या कई सौ होगी। यदि उस मजदूरी का वितरण सन्तोषजनक ढंग पर किया जा सके तो उससे कितने ही सुयोग्य लेखकों तथा कवियों में उत्साह की लहर फैल सकती है। पर क्या ऐसा हो रहा है? मैं किसी को दोष नहीं देना चाहता और न किसी की शिकायत ही करना चाहता हूँ।

हम भले ही कमेटी कायम कर लें और नियमोपनियम के शिकंजों में कस कर भले ही आत्मसन्तोष भी प्राप्त कर लें, पर लेखक-समुदाय में यथोचित उत्साह उत्पन्न करना एक अलग ही विषय है और वह रुपये-पैसे वालों की शक्ति के बिलकुल बाहर है। उसके लिए जन्मजात विनम्रता और सहज संस्कृति की अनिवार्य आवश्यकता है, और ये दोनों चीजें बाजार में किसी भाव नहीं मिलतीं।

—बनारसीदास चतुर्वेदी

(युगप्रभात, मई, ६२)

[२]

पिछले दिनों उद्योगपति श्री शांतिप्रसाद जैन की पत्नी श्रीमती रमा जैन ने दिल्ली में टाइम्स ऑव इंडिया द्वारा आयोजित एक गोष्ठी में प्रतिवर्ष एक लाख रुपये का पुरस्कार देने की घोषणा की है। यह पुरस्कार वर्ष में प्रकाशित भारतीय भाषा की उस कृति पर दिया जायगा, जो सर्वोत्तम निर्णीत होगी। पुरस्कार भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से दिया जाया करेगा, जिसकी रमाजी अध्यक्षा हैं। लगभग पचास हजार रुपया इस पुरस्कार की व्यवस्था पर हर साल खर्च हुआ करेगा।

साहित्य के क्षेत्र में सबसे बड़ा पुरस्कार इस समय पाँच हजार रुपये का है, जो प्रतिवर्ष साहित्य अकादमी

द्वारा, भारतीय संविधान के अंतर्गत स्वीकृत, चौदह भारतीय भाषाओं पर, दिया जाता है। इसके अतिरिक्त बारह सौ रुपये का मंगलाप्रसाद पारितोषिक, दो हजार का हरजीमल डालमिया पुरस्कार है। किसी जमाने में इन पुरस्कारों का थोड़ा-बहुत आकर्षण था, पर अब तो उनके द्वारा रस्म-अदाई हो रही है। उनकी प्रेरणा से न अच्छे साहित्य का सृजन होता है, न लेखकों को ही प्रोत्साहन मिलता है।

केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय तथा विभिन्न राज्य सरकारें भी पुस्तकों पर प्रतिवर्ष पुरस्कार देती हैं; पर उनके बावजूद आज आम शिकायत है कि हिन्दी साहित्य के अभाव यथावत् बने हुए हैं।

अब जो लाख रुपये के पुरस्कार की घोषणा हुई है, उसका देश में उत्साहवर्द्धक स्वागत नहीं हुआ और यह स्वाभाविक ही है। अबतक के प्रचलित पुरस्कारों तथा इस पुरस्कार की राशियों में इतना अंतर है कि सामान्यतया पहली धारणा यह होती है कि इस पुरस्कार के पीछे लोगों को चमत्कृत करने की भावना है।

दूसरी बात मन में यह उठती है कि भारतीय भाषाओं के विपुल साहित्य में से सर्वोत्तम कृति का निर्णय सही ढंग से हो सकेगा, इसमें सन्देह का पूरा अवसर है।

फिर यह भी संभावना है कि इस बड़ी राशि को प्राप्त करने के लिए बहुत-कुछ अवांछनीय तत्त्व उभरेंगे और वे भारतीय भाषाओं के बीच सौहार्द स्थापित करने के बदले विग्रह पैदा कर सकते हैं।

हमने गोष्ठी के समय आपसी चर्चा में कहा था कि एक लाख के एक पुरस्कार के स्थान पर यदि प्रमुख भारतीय भाषाओं की कृतियों पर ग्यारह-ग्यारह हजार रुपये के नौ पुरस्कार दिये जायँ तो उसका अधिक हितकर परिणाम निकल सकता है। विभिन्न विषयों का वर्गीकरण करके, नौ वर्ग बनाकर, उनपर पुरस्कार दिये जा सकते थे। कहने का तात्पर्य यह कि पुरस्कार का इतना बड़ा क्षेत्र रखकर न किसी भाषा के साथ न्याय हो सकता है, न लेखकों के साथ।

इस राशि का एक दूसरे रूप में भी उपयोग हो सकता था। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा लेखकों को साधन-सुविधाएँ देकर उस साहित्य का सृजन कराया जा सकता था, जिसकी आज बड़ी आवश्यकता है। भारतीय ज्ञानपीठ ने बहुत-से प्रकाशन किये हैं; लेकिन उनके पीछे कोई योजना नहीं है और न उनमें ऐसे मार्के के ग्रंथ हैं, जिन्हें अन्य सीमित साधनों वाली प्रकाशन-संस्था न निकाल सकती हो।

किसी जमाने में कवियों तथा कलाकारों को राजाश्रय दिया जाता था; लेकिन राजाश्रय पानेवालों में कुछ स्वाधीनचेता कलाकार इतने समर्थ होते थे कि वे अपने स्वाभिमान की रक्षा कर सकते थे। आज के युग में यह संभव नहीं है। ऐसी दशा में बड़े-बड़े पुरस्कार लेखकों की सृजनात्मक शक्ति को कुण्ठित कर सकते हैं, बढ़ा नहीं सकते। हमें मालूम हुआ है कि बहुत-से लेखकों ने अभी से पुरस्कारदाता के यहाँ चक्कर लगाना आरंभ कर दिया है।

यदि इतना बड़ा पुरस्कार दिया ही जाना था तो उसे किसी मान्य सार्वजनिक संस्था अथवा भारत सरकार के द्वारा देना अधिक संगत होता।

जो हो, हमारा सुझाव है कि अब भी अधिकारी व्यक्तियों को इस दिशा में गंभीरतापूर्वक विचार करके ऐसी योजना करनी चाहिए, जिससे इस राशि का पूरा-पूरा उपयोग हो, उससे लेखकों को प्रोत्साहन मिले, अच्छे साहित्य का सम्वर्द्धन हो और भारतीय भाषाओं के बीच सद्भाव स्थापित हो।

—'जीवन-साहित्य' जून, ६२

मैंने बहुत सोच-विचार कर देखा है कि इस युग में हमारा भरोसा एक स्टैटिक्स पर ही है। तुमने ब्यूटी का नाम सुनते ही, उसके शत्रु यूटिलिटी की बात उठाई है। इस विषय में मेरा वक्तव्य है: ब्यूटी को अग्राह्य करने का अर्थ भगवान के हस्तलिखित परिचयपत्र को अग्राह्य करना है।

—प्रमथनाथ चौधरी, सुधीन्द्रसिंह को पत्र, १७-८-१७

आदिवासियों के धार्मिक विश्वास

श्री श्यामसुन्दर घोष

संसार में कोई जाति, धर्म, समुदाय और पंथ ऐसा नहीं है जिसके अपने धार्मिक विश्वास नहीं हों। कभी एक जाति के धार्मिक विश्वास दूसरी जाति के धार्मिक विश्वासों से मिलते-जुलते भी प्रतीत होते हैं और कभी उनमें पर्याप्त अंतर भी होता है। लेकिन यदि विभिन्न जातियों, धर्मों और समुदायों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो यही सिद्ध होता है कि विभिन्न जातियों के धार्मिक विश्वासों में वैषम्य की अपेक्षा साम्य ही अधिक है—खासकर सृष्टि-विधान के संबंध में विभिन्न धार्मिक जातियों के विश्वास प्रायः एक-से हैं।

प्रायः सभी धर्मों और मतों में उल्लिखित है कि संसार का आदि-पुरुष एक है और उसी से सृष्टि का विकास हुआ है। बिहार के आदिवासी भी, जिनमें संताल, मुंडा, हो, उराँव आदि सम्मिलित हैं, ऐसा ही मानते हैं और आदि-पुरुष को ठाकुरजी कहते हैं। जिस प्रकार ईश्वर ने अपनी इच्छा-शक्ति से लीला का विस्तार किया, ठीक उसी प्रकार आदिवासियों के ठाकुरजी ने भी अपने मनो-रंजन के लिए ग्रह, उपग्रह, सूर्य और चाँद-तारों का निर्माण किया। तत्पश्चात् विभिन्न जीवों की रचना की। जीवों में सबसे श्रेष्ठ मनुष्य हुआ, क्योंकि बुद्धियुक्त होने के कारण उसने आदि-पुरुष की महत्ता समझी और गायन किया—

ठाकुराक् मैलागी भानेवा
ठाकुराक् मैलागी आवो भानेवा
ठाकुरे बोसेन गो भानेवा
ठाकुरे बोसेन गो कुन्दाल भानेवा

आदिवासियों के अनुसार मनुष्य ठाकुरजी की देह के मैल से बने हैं। इसीलिये उसमें ठाकुरजी के रूप और गुणों का सम्यक् समावेश है।

जिस प्रकार अन्यान्य धर्मों और जातियों में पहले एक ही ईश्वर की कल्पना और तत्पश्चात् उसके अनेक रूपों का विधान स्वीकृत है, ठीक वैसा ही हम आदिवासियों में भी पाते हैं। जाति-जीवन के विकास के साथ-साथ देव-ताओं की संख्या बढ़ती है और उन्हें अलग-अलग उपाधियों से संयुक्त किया जाता है। आगे चलकर माराङ्ग ठाकुर, माराङ्ग बुरू तथा सिंजबोंगा– आदिवासियों के इष्टदेव बनते हैं और इनकी पूजा का विधान होता है। देवी-देवताओं की संख्या यहीं तक नहीं रहती, वरन् उनका और विकास होता है और मोड़ेको, तुरूईको, जाहेरएरा, गोसाईएरा आदि देवी-देवताओं की उपासना का विधान भी प्रचलित होता है।

जिस प्रकार हिन्दू धर्म में पंचदेवों की कल्पना की गई है उसी प्रकार आदिवासियों में भी पंचदेवताओं की कल्पना है और माराङ्ग बोंगा, माराङ्ग ठाकुर आदि पंच-देवों के देव ईश्वर को लेकर तुरूईको अर्थात् षष्ठ देव का विधान है। इससे आदिवासियों के धार्मिक विश्वासों की प्राचीनता और सम्पन्नता का अनुमान होता है।

जिस प्रकार हिन्दू-धर्म या संत-साहित्य में संसार को भवसागर और ईश्वर को खेवनहार कहा गया है, उसी प्रकार आदिवासी भी ईश्वर को इस संसार-सागर का खेवनहार समझते हैं। संतालों के ग्राम-देवता हैं माँझी—अर्थात् नाव खेनेवाला। वास्तविक माँझी अर्थात् नाव खेनेवाला तो वह ईश्वर ही है, लेकिन उसके प्रतिनिधि के रूप में हर गाँव में मुखिया के रूप में एक मानव माँझी भी चुना जाता है जो गाँवरूपी सागर में ग्रामीण-जीवन-रूपी नौका को खेने के लिये माँझी का काम करता है। यह माँझी गाँव का एक विशिष्ट व्यक्ति होता है।

आदिवासियों में यत्र-तत्र भूत-प्रेत की पूजा-उपासना का भी विधान है। लेकिन इसका उनके मूलभूत धार्मिक विश्वासों से कोई संबंध नहीं है। ये रूढ़ियाँ और अन्ध-विश्वास तो बाद में चलकर प्रचलित हुए। उनके आदि-पुरुषों ने भूत-प्रेत की पूजा का कोई विधान निश्चित नहीं किया था। भूत-प्रेत की पूजा की तरह ही नशा-पानी की आदत भी आगे चलकर रूढ़ियों और अन्धविश्वासों के फलस्वरूप ही सामने आई। पहले जहाँ ये ईश्वर के प्रेम के नशे में मतवाले रहते थे, वहाँ बाद में लौकिक नशा-पानी में रत रहने लगे। यों आदिवासियों का आदर्श

सादा जीवन और उच्च विचार ही है। जंगलों में रहना, कम वस्त्रों के सहारे जीवन व्यतीत करना, कन्द-मूल-फल खाकर सात्विक जीवन जीना ही इनका आदर्श है। इनका जीवन अनासक्त संतों जैसा है। आदिवासियों की संताल उपजाति इस मत की पुष्टि भी करती है, क्योंकि संताल शब्द का अर्थ ही है संत पुरुष।

एक बार गोर्की से एक सीधे-सादे अनपढ़ किसान ने सवाल किया था—"गोर्की साहब! एक बात मेरी मामूली-सी समझ में नहीं आई कि जो पूँजीपति आपके खयालों का दुश्मन है, वही आपके खयालों को किताबी सूरत में क्यों छाप देता है?" मेरी स्थिति भी बिलकुल गोर्की से मिलती-जुलती है। बांबे वाला सेठ लोग मुझसे गीत माँगता है और कहता है—"मुंशी शायर साहब! शाला ऐसा गाना लिखो, जिसपर चार आने क्लास वाला हर बोल पर ताली पीटे!...हमारे पिक्चर में भी ऐसा गाना मारो कि शाला मजूर लोग तड़प उठे।"

—साहिर लुधियानवी

व्यावहारिक जीवन में पुस्तकों का सहयोग

श्रीमती लीलावती जैन 'प्रभाकर'

पुस्तकावलोकन न केवल हमारे ज्ञानमण्डल को बढ़ाता, हमारे व्यक्तित्व के विकास में सहयोग देता है, वरन् व्यापारिक क्षेत्र में भी अधिक रुपया कमाने और सफल होने में योग देता है।

हम भारतीयों में पुस्तक पढ़ने की रुचि बहुत कम है। इधर के वर्षों में कुछ बढ़ी है, पर नाममात्र को। आम जनता का ख्याल है कि पुस्तक पढ़ने से कोई खास लाभ नहीं होता अथवा जितना समय उसे पढ़ने में खर्च करना पड़ता है उतना लाभ नहीं होता। प्रत्येक चीज को तराज़ू पर तौलने की प्रवृत्ति खराब है। दूसरी बात है कि पुस्तक पढ़ने के लाभ का हम एकदम नाप-तौल नहीं कर सकते। कुछ लाभ तो प्रत्यक्ष मालूम पड़ता है और कुछ अप्रत्यक्ष होता है, जिसे हम अनुभव नहीं कर पाते, पर होता अवश्य है। बाहर के लोग उसे कभी-कभी अनुभव करते हैं। उससे अपनी आदतों का सुधार, मस्तिष्क की स्वच्छता, विचारों में पुष्टता तथा स्पष्टता के साथ-साथ मानसिक क्षितिज विस्तृत होता है। इन सब का मनुष्य पर भारी प्रभाव पड़ता है और ये उसके व्यक्तित्व के उचित विकास में अप्रत्यक्ष रूप से जबरदस्त सहयोग देते हैं। ज्ञानभण्डार की अभिवृद्धि से वह अधिक प्रभावशील बनता है। आन्तरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, शारीरिक विकास के साथ-साथ जीवन-यापन में अधिक आनन्द और सफलता प्राप्त होती है। इसी कारण हमारे देश में सदा से व्यापक अध्ययन की ओर जोर दिया जाता रहा है।

यही नहीं, अपने पेशे-धन्धे में रुपया कमाने में, जीवन में अधिक सफलता पाने तक में भी पुस्तक पढ़ने की रुचि का हमें सीधा लाभ मिलता है।

भारत की अधिकांश जनता हिन्दी और अन्य प्रादेशिक भाषाएँ जानती है। दुर्भाग्य से उनमें विभिन्न प्रकार के साहित्य का अभाव है। पाठकों के सामने सभी विषयों पर पुस्तकें नहीं हैं। अंग्रेजी जाननेवाले कम हैं, जो हैं वे अपेक्षाकृत अधिक पुस्तकें पढ़ते हैं, उनमें पुस्तक पढ़ने की अधिक रुचि है और अंग्रेजी में विविधता भी बहुत है।

हिन्दी में इधर के वर्षों में जो पढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ी है वह है उपन्यासों की ओर उनमें भी निम्नकोटि के प्रेम-संबंधी उपन्यासों की। इससे उनका कोई भी लाभ नहीं है।

विदेशों में स्त्री-पुरुष सभी खूब पुस्तकें पढ़ते हैं और अपनी खरीद कर। साधारण नागरिक का भी ज्ञान अच्छा-खासा होता है। रूमानिया, जो पूर्वीय योरोप का एक छोटा-सा देश है, इस क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ा है। वहाँ साढ़े तीन करोड़ पुस्तकें प्रतिवर्ष प्रकाशित होती हैं और वहाँ की आबादी पौने दो करोड़ है। अर्थात् प्रति मनुष्य के लिए दो पुस्तकें।

उनके व्यावहारिक जीवन पर इसका भारी प्रभाव पड़ा है। अनेक रूमानियन लोगों ने बताया है कि पुस्तकें पढ़ने से उनकी आमदनी बढ़ी है, उनको अपने काम में अधिक सफलता मिली है। देश का भी लाभ हुआ है।

सामूहिक फार्म पर काम करनेवाले एक मजदूर ने बताया कि अन्य विषयों के अतिरिक्त वह पौधों के उगाने में विशेष दिलचस्पी रखता है। उसे एक पुस्तक में वैज्ञानिक ढंग से खेती करने की बड़ी उपयोगी जानकारी प्राप्त हुई।

एक दूसरे ने बताया, जो सामूहिक फार्म के बागवानी में काम करता था, कि उसे मधुमक्खी पालने में शौक था। एक पुस्तक में इस सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त हुई जिसके कारण उसका शहद का उत्पादन बढ़ गया।

इन दोनों ने बताया कि उनके फार्म को पुस्तक पढ़ने के कारण काफी लाभ हुआ है।

एक ट्रैक्टर ड्राईवर ने बताया कि उसे टेकनिकल पुस्तकों में अधिक रुचि है। उसने खेती-बाड़ी में इस्तेमाल होनेवाले ट्रैक्टरों पर एक वाद-विवाद चालू किया जिसमें दो इनजीनियरों ने भी भाग लिया। उसके

व्यावहारिक प्रदर्शन व वाद-विवाद से बहुत लाभ हुआ जो पुस्तक पढ़ने के कारण ही सम्भव हो सका।

एक इनजीनियर ने बताया कि उसको एक क्लब में एक कठिन पुस्तक पर बोलने को कहा गया। उसने किताबों की विषय-सूची को समझाकर कुछ सन्दर्भ-पुस्तकों के नाम बता दिये जिससे उनके सिद्धान्तों का ज्ञान हो जाय। बाद में उनका प्रदर्शन भी किया गया और फिर उनको उत्पादन में लागू किया गया जिससे बहुत लाभ हुआ।

एक दूसरे सामूहिक खेत पर काम करनेवालों ने बताया कि उनके फार्म पर अनेक नये-नये ढंग अपनाये जा रहे हैं जो पुस्तक पढ़ने के परिणामस्वरूप प्राप्त हुए हैं।

इसी प्रकार विभिन्न उद्योग-धंधों के कार्यकर्त्ताओं ने पुस्तकों में पढ़कर अनेक नये प्रयोग और सिद्धान्त सीखे और उन्हें अपने-अपने काम में चालू करके अपना और देश का लाभ किया।

पुस्तकों की उपयोगिता इतनी बढ़ गई है कि उनकी माँग बहुत है। हर जगह पुस्तकालय है। प्रत्येक फैक्टरी में भी है और प्रत्येक स्त्री-पुरुष का अपना घरेलू पुस्तकालय अलग है। पुस्तकालयों में सुबह से लगाकर शाम तक बराबर काम होता रहता है और उनके कार्यकर्त्ता अपनी पाली (शिफ्ट) के हिसाब से बदलते रहते हैं जैसे कि किसी कल-कारखाने में मजदूर लोग बदलते जाते हैं २४ घंटे या १६ घंटे काम के लिए। भारत के लिए यह नयी बात है पर रूमानिया में यह आम बात है। यह स्थिति भी पिछले १६ वर्ष के नये शासन में उत्पन्न हुई है। पहले तो भारत की तरह ही वहाँ भी पुस्तकें न पढ़नेवाले थे।

—केन्द्रीय शिक्षामंत्रालय की शिक्षा-अनुसंधान-परिषद् ने स्कूलों में राष्ट्रीय आधार पर एक पाठ्यक्रम लागू करने के संबंध में जो योजना तैयार की है उसके अनुसार भारतीय इतिहास, भौतिकी, सामान्यविज्ञान और गणित की पाठ्यपुस्तकों की रूपरेखा तैयार करने के लिए विशेषज्ञों की चार पृथक् समितियों की स्थापना का निश्चय किया गया है। समस्त भारत के विशेषज्ञों से अनुरोध किया जायगा कि वे पाठ्यपुस्तकों के लिए अपने विशिष्ट विषयों से संबंधित अध्याय लिखें। पाठ्यपुस्तकें पहले अंग्रेजी में तैयार होंगी, और बाद में हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं में इनका अनुवाद होगा।

पाठ्यपुस्तकों के अलावा स्कूलों के लिए अन्य पुस्तकें भी तैयार करायी जाएँगी, जिनमें बच्चों के लिए भारत-संबंधी एक विश्वकोश भी सम्मिलित है, जो काफी बड़ी संख्या में लेखकों के सहयोग से तैयार होगा।

—लोकसभा में शिक्षामंत्री डा० श्रीमाली ने बताया है कि आंध्र प्रदेश, केरल और मैसूर में छठी कक्षा से हिन्दी अनिवार्य है, तथा असम में चौथी कक्षा से और गुजरात में पाँचवीं कक्षा से। जम्मू-कश्मीर और मद्रास के स्कूलों में हिन्दी ऐच्छिक विषय है। उड़ीसा में हाई स्कूलों में हिन्दी अनिवार्य है। प० बंगाल में छठी और सातवीं कक्षाओं में हिन्दी अनिवार्य, तथा पंजाब, राजस्थान, दिल्ली और हिमाचल प्रदेश में हिन्दी अनिवार्य विषय है। उत्तर प्रदेश में अहिन्दीभाषी छात्रों के लिए तीसरी कक्षा से हिन्दी अनिवार्य विषय है, और बिहार में चौथी कक्षा से। मध्यप्रदेश में हाई स्कूलों में अहिन्दीभाषी छात्रों को हिन्दी भी पढ़ाई जाती है। अंडमान-निकोबार द्वीप और उत्तर-पूर्व सीमान्त अभिकरण में तीसरी कक्षा से हिन्दी अनिवार्य विषय है, तथा लक्ष और मिनिकाय द्वीप में आठवीं और नवीं कक्षाओं से। मणिपुर में आठवीं कक्षा तक हिन्दी अनिवार्य है; त्रिपुरा में मिडिल कक्षाओं से, महाराष्ट्र में पश्चिम महाराष्ट्र और विदर्भ में पाँचवीं कक्षा से हिन्दी अनिवार्य है, पर उर्दूभाषी छात्र हिन्दी की जगह मराठी ले सकते हैं, मराठवाड़ में तीसरी कक्षा से हिन्दी ऐच्छिक विषय है।

—भारत सरकार ने स्टैंडर्ड और पोर्टेबल हिन्दी टाइपराइटरों के कुंजीपटल को अन्तिम रूप दे दिया है।

स्टैंडर्ड टाइपराइटर के कुंजीपटल में ४६ कुंजियाँ होंगी और पोर्टेबल टाइपराइटर के कुंजीपटल में ४४ कुंजियाँ। पोर्टेबल टाइपराइटर में कुंजी-संख्या ४४ और ४५ नहीं होंगी।

कुंजीपटल को विस्तृत जाँच और सावधानी से विचार के बाद अन्तिम रूप दिया गया है। इस संबंध में टाइपराइटर बनानेवाली विभिन्न कंपनियों के प्रतिनिधियों से भी परामर्श किया गया। टाइपराइटर बनाने वाली कंपनियों ने अपने टाइपराइटरों के लिए यह कुंजीपटल अपनाना स्वीकार कर लिया है।

—तीसरी योजना में शिक्षा पर २१०० करोड़ रुपये से अधिक का व्यय होगा। पहली योजना में शिक्षा व प्रशिक्षण पर २०२ करोड़ रुपये खर्च किये गये थे, जोकि १९६० करोड़ रुपये की योजना का १०.३ प्रतिशत था। दूसरी योजना में इसी मद पर ३५८ करोड़ रुपये खर्च किये गये, जो ४६०० करोड़ रुपये की योजना का ७.८ प्रतिशत था। तीसरी योजना में शिक्षा के लिए ७६५ करोड़ रुपये की व्यवस्था है। यह ७५०० करोड़ की योजना का १०.२ प्रतिशत है।

इसी प्रसंग में चार हिन्दीभाषी प्रदेशों—उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश और बिहार—ने यह स्वीकार कर लिया है कि वे अपने यहाँ चार दक्षिणी भाषाओं में से एक की पढ़ाई के लिए व्यवस्था करेंगे।

—केन्द्रीय स्वास्थ्यमंत्री डा० सुशीला नायर ने बताया है कि सरकार शीघ्र ही एक आयुर्वेद भैषज्य-संग्रह-समिति की नियुक्ति करेगी, जो आयुर्वेदिक औषधियों के सम्बन्ध में दो भागों में एक ग्रंथ तैयार करेगी।

—केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय ने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के लिए श्री श्रीप्रकाश की अध्यक्षता में प्रथम प्रबन्धक-समिति की स्थापना की है। समिति के सदस्यों में सेठ गोविन्ददास, श्री रामधारीसिंह 'दिनकर', श्री वियोगी हरि,

श्री मौलिचन्द्र शर्मा, श्री बालकृष्ण राव आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। लखनऊ के श्री गोपालचन्द्र सिंह समिति के सचिव होंगे।

—भूतपूर्व सूचना व प्रसारणमन्त्री डा० बी० वी० केसकर राष्ट्रीय पुस्तक-न्यास (ट्रस्ट) के अवैतनिक अध्यक्ष नियुक्त किये गये हैं।

—केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय द्वारा उन संस्थाओं के सम्बन्ध में आवश्यक सूचना एकत्र की जा रही है, जिन्होंने १९५७-५८ से १९६१-६२ तक हिन्दी के प्रचार और विकास का कार्य किया है।

—केन्द्रीय वैज्ञानिक अनुसंधान व सांस्कृतिक मामलों के मन्त्रालय द्वारा सन् १८१८ से लेकर १९४७ तक भारत की स्वतंत्रता के आन्दोलन में भाग लेनेवाले सेनानियों से संबंधित 'कौन कौन है' के शीर्षक से पुस्तक के लिए आवश्यक सामग्री एकत्रित की जा रही है।

—जिन अहिन्दीभाषी राज्यों में हिन्दी पढ़ाई जा रही है वहाँ के स्कूलों, कालेजों और सार्वजनिक पुस्तकालयों को शिक्षा-मंत्रालय ने हिन्दी की पुस्तकें अनुदान में देने का निश्चय किया है। यह इसलिए किया जा रहा है ताकि अहिन्दीभाषी क्षेत्रों में हिन्दी का प्रचार बढ़े।

इसके लिए शिक्षा-मन्त्रालय ने हिन्दी की उपयुक्त पुस्तकें काफी मात्रा में खरीदने की व्यवस्था की है। शिक्षा-मंत्रालय उपन्यास, कहानियाँ, नाटक, कविता, निबन्ध, यात्रा-विवरण, जीवनियाँ, संस्कृति, इतिहास, विज्ञान, साधारण ज्ञान आदि की और बच्चों की पुस्तकें खरीदेगा। इन विषयों पर अन्य भाषाओं से हिन्दी के अनुवाद भी खरीदने पर विचार किया जायगा।

इस सम्बंध में उन्हें पुस्तकें भेजने की अन्तिम तारीख ३० जून, १९६२ है।

—मध्यप्रदेश सरकार ने राज्य के निर्धन साहित्यकारों को आर्थिक सहायता देने की एक योजना स्वीकृत की है। इसमें केवल वही साहित्यकार आर्थिक सहायता पा सकेंगे जो कम-से-कम गत दस वर्ष से साहित्य-सेवा कर रहे हैं। अन्यत्र कहीं से सहायता पाने वाले साहित्यिकों को इस योजना के अन्तर्गत राजकीय सहायता नहीं दी जाएगी। इसके लिए शिक्षामन्त्री की अध्यक्षता में एक पाँच सदस्यीय समिति गठित की गई है जो प्राप्त आवेदनों पर राज्य सरकार को आवश्यक सिफारिशें करेगी।

—पंजाब सरकार ने पंजाबी भाषा में वैज्ञानिक तथा टेकनिकल पुस्तकें तैयार करने के काम को प्रोत्साहित करने के लिए पंजाबी में उक्त विषय की पुस्तकों को पुरस्कार देने का निश्चय किया है।

एक प्रेस-विज्ञप्ति में बताया गया है कि पंजाबी विश्वविद्यालय के चालू होते ही ऐसी पुस्तकों की अत्यन्त आवश्यकता पड़ेगी, क्योंकि शिक्षा का माध्यम पंजाबी रहेगा।

पुरस्कार के लिए भेजी जाने वाली उक्त विषयों की पुस्तकें पंजाबी विभाग, पंजाब सरकार, पटियाला के पास ३० नवम्बर, १९६२ तक पहुँच जानी चाहिएँ।

कसौटी
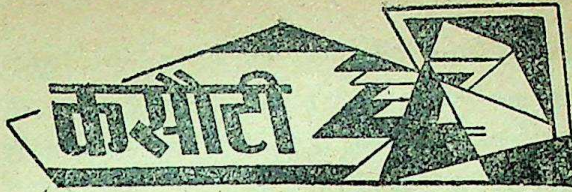
मानदण्ड (उपन्यास)

लेखक—वनफूल
अनुवादिका—माया गुप्त
प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
मूल्य—३.५० न० पै०
पृष्ठ-संख्या—१६६.

प्रस्तुत आलोच्य उपन्यास व्यक्तिगत द्वेष से उत्पन्न तनाव का सफल चित्रण है। पूँजीपतियों के विरोध की छाया में द्वेष-भावना का पलना समाज, परिवार एवं स्वयं के लिये भी कितना घातक होता है, इसे रुचिकर ढंग से उपन्यासकार ने पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है।

तुंगश्री, महत्त्वाकांक्षा से ग्रस्त एक क्रान्तिकारिणी महिला, का जब अपने आदर्श के माध्यम से विश्वास उठ जाता है तो वह उस माध्यम (केशव सामन्त) का गोली से अन्त कर देती है। हिरण्यगर्भ वर्मन अपने व्यवहार से दुश्मन (तुंगश्री) का हृदय जीत लेता है और परिवार की प्रतिष्ठा एवं संस्कार के नाम पर होनेवाले व्यभिचार का भी अस्तित्व उसके सुलझे हुए अटल विचारों से डोल जाता है। उपन्यास के अन्य चरित्र महत्त्व के नहीं हैं, उनका सृजन केवल कथानक को सहारा देने के लिए किया गया है।

संक्षेप में, यदि उपन्यासकार अपने डाक्टरी-ज्ञान का यत्र-तत्र प्रदर्शन न करते तो उपन्यास का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता। अनुवाद की भाषा प्रवाहमयी है।

जिन्दगी की राह (उपन्यास)

लेखक—बालशौरी रेड्डी
प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मूल्य—३.०० न० पैसे
पृष्ठ-संख्या—१६५.

प्रस्तुत पुस्तक सामाजिक उपन्यास है। शीर्षक से उपन्यास का रूप मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक लगता है किन्तु भाषा, कथोपकथन तथा सामाजिक समस्याओं के उभारने के तरीके से निराशा होती है।

पुस्तक पढ़ते समय निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान जाता है:—

(क) भाषा प्रांजल होती हुई भी अप्रांजल कही जा सकती है। कॉलेज में पढ़ने वाले छात्र जिस तरह संस्कृतगर्भित शब्दों का प्रयोग अपनी धाक जमाने के लिए करते हैं, मैं समझता हूँ कि जाने-अजाने लेखक भी इस रोग से ग्रस्त हैं।

(ख) कथोपकथन प्रस्तुत करने का ढंग, अनुभव की कमी के कारण, संभवत: अल्पज्ञान का परिचायक बन गया है।

(ग) कथानक न मनोवैज्ञानिक है, न दार्शनिक है और न इसमें नवीनता ही है। सरला का भावावेग एवं क्षण-विशेष से प्रभावित हो गर्भ-धारण कर आत्महत्या कर लेना तथा सुहासिनी का अनभिज्ञता में गरीबी का आवाहन कर अपने फुफेरे भाई से व्याह कर लेना दक्षिण के समाज के लिए महत्त्वपूर्ण हो सकता है, किन्तु, साहित्य के लिए इस कथानक की उपयोगिता मेरी समझ से नाम-मात्र भी नहीं है।

भाषा, जन्म और कुल से लेखक के दाक्षिणात्य होने के कारण पुस्तक की यदि प्रशंसा होनी चाहिए तो प्रस्तुत आलोच्य पुस्तक का हर पक्ष श्लाघ्य है।

एक इन्सान (उपन्यास)

लेखक—जयन्त
प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली.
मूल्य—२.५० न० पै०
पृष्ठ-संख्या—१६२.

इस उपन्यास में स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व और बाद के समाज की स्थिति का वर्णन लेखक ने एक स्वार्थहीन युवक के दृढ़ चरित्र के साथ सफलतापूर्वक किया है।

रामनारायण-जैसे आदर्श, सुधीर-जैसे लोभी और तिकड़मी चरित्र का सृजन लेखक ने वर्तमान समाज एवं राजनीति को देखकर किया है। इसमें जयन्त को बहुत अधिक सफलता मिली है। जहाँनार सच्चरित्र महिला है, किन्तु, क्रान्ति (विधवा) कामाग्नि से तप्त आधुनिक

समाज में 'फिट्' होने वाली युवती है। दोनों के चरित्र को उभरने का पूरा-पूरा मौका मिला है।

उपन्यास के अन्दर पृष्ठ १२६ से १४८ तक के स्थल क्रान्ति की काम-वासना की तृप्ति के लिए किए गए प्रयत्नों के सफल-असफल प्रदर्शनों से भरे हुए हैं। कथोपकथनों से स्पष्ट होता है कि क्रान्ति रामनारायण से एक दिन की भीख माँगती है और प्राप्त हुए दिन को वह अपनी कामाग्नि शांत करने में बिताना चाहती है। वाराणसी के कुछ प्राख्यात यौन-उपन्यासकारों का प्रभाव लेखक पर पड़ा है, अन्यथा विस्तार में न जाकर एक ही संदर्भ में क्रान्ति की भावना वे प्रस्तुत कर सकते हैं। लेखक को, कम-से-कम, संयम से काम लेना चाहिए था।

लेखक लिंग संबंधी भूल से अपने को नहीं बचा पाया है। पृष्ठ १३०, १३१, १३४ और १४२ में लेखक ने साँस शब्द का व्यवहार पुंल्लिंग में किया है। प्रकाशक को चाहिए था कि पांडुलिपि एक बार किसी योग्य व्यक्ति से संशोधित करा लेता। यत्र-तत्र प्रूफ की भी गलतियाँ हैं।

कथानक सामाजिक एवं शिक्षाप्रद है।

बन्द दरवाजा (उपन्यास)

लेखिका—अमृता प्रीतम
प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली.
मूल्य—२.५० न० पै०
पृष्ठ-संख्या—११७.

पीड़ा की गायिका अमृता प्रीतम का प्रस्तुत आलोच्य उपन्यास कम्मी-जैसी अनेक युवतियों के हृदय में पुरुषों के प्रति घृणा के भाव जगा, प्राण को कुरेदता रहेगा। अविवाहिता के मन में अपने भावी पति के घर का दरवाजा बन्द दीखेगा और यदि खुला हुआ दीख पड़ा तो वह परिस्थितियों की छाया में बन्द हो जाएगा।

कम्मी की माँ के लिए उसके पति का दरवाजा बन्द हुआ और वह मर गई। कम्मी के सामने सत्यपाल (बचपन का मित्र) का खुला हुआ दरवाज़ा मिला, अन्दर गई, किन्तु अपनी सदयता (गुण) के कारण शील (पाल की पूर्व प्रेमिका) को भीतर प्रविष्ट करा कर सदा के लिए स्वयं का दरवाजा बन्द करा दिया। कम्मी की आँखों ने एक और खुला हुआ दरवाजा देखा (सुमेश के कलुषित मन का सजा दरवाजा), अन्दर गई, किन्तु सुमेश की दगाबाजी से वह बाहर करा दी गई और दरवाजा सदा के लिए बन्द हो गया।

उपन्यास का नाम कथानक के अनुरूप है। सम्पूर्ण पुस्तक नारी के स्वयं की समस्याओं से भरी हैं। 'डॉ० देव' और 'पिंजर' के कथानक की तरह यदि इस पुस्तक को भी लेखिका कसती तो सम्भवतः इसका और भी अधिक प्रभाव पाठकों पर पड़ता।

—सीतेन्द्रदेवनारायण

जंगल के फूल

लेखक—राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित'
प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मूल्य—४.०० रुपये।

'रेणु' के 'मैला आँचल' के बाद हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों की जो परम्परा चली उसमें राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' का अपना स्थान है। बस्तर के जन-जीवन पर आधारित 'जंगल के फूल' उनका एक अनुपम उपन्यास हैं। 'घोटुल' को, जो एक प्रकार के 'बैचलर्स होम' हैं और बस्तर में प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं, केन्द्र मानकर लेखक ने बस्तर के मुरिया गोड़ों की संस्कृति, आचार-विचार और समाज-व्यवस्था का एक चित्र हमारे सामने रक्खा है।

मुलकसाये और महुआ गढ़बंगाल के घोटुल के अलमस्त जवान जोड़े हैं। सुलक गाँव के गायता (मुखिया) का पुत्र है तो महुआ गाँव के सिरहा (ओझा, झाड़ाई-फुँकाई करने वाला) की पुत्री। दोनों का रूप में कोई जवाब नहीं। नाचने में भी बेजोड़ हैं। वे दिन भर काम करने के बाद गाँव के अन्य कुमार-कुमारियों के साथ घोटुल में आ जाते। मुलकसाये घोटुल का सरदार था। सभी प्रेमी अपनी-अपनी प्रेमिकाओं को लेकर नाचते और फिर जोड़े बनाकर ही सो जाते। दोनों का प्रेम अटूट था। किन्तु प्रेम का रास्ता कभी निष्कंटक नहीं रहा। मुलकसाये एक उत्सव में जब नेतानार गया तो उसने मुसरी के पति की शराब के नशे में हत्या कर दी। नियम के अनुसार उसे मुसरी से विवाह करना चाहिए, किन्तु वह महुआ का हो

चुका था। अपनी इस भूल पर पश्चात्ताप की आग में वह दिनरात जला करता। एक दिन वह फिर कभी न लौटने के लिए घर छोड़ कर चला गया। इसी 'प्रवास' में गुण्डा धूर और डेबरी धूर के नेतृत्व में होने वाले 'भूमकाल' या विद्रोह का, जो अंग्रेजों के खिलाफ किया गया था, वह भी एक अगुआ था। वहीं उसका महुआ से पुनर्मिलन हुआ। गोंड़ों की वीरता अंग्रेज डी० एस० पी० ग्रेयर के छल के सामने हार गई। यह विद्रोह एक ऐतिहासिक सत्य है, जो आज से लगभग पचास वर्ष पहले हुआ था। उपन्यास का अन्त बड़ा मार्मिक है। विद्रोह की असफलता के बाद हजारों गोंड़ गोरों के नृशंस अत्याचारों के शिकार हुए। भाग कर सुलक और महुआ ने अपने गाँव के उस खंडहर में शरण ली जहाँ झरिया चुड़ैल ने ग्रेयर को खाट से पटक दिया था। सियार की आवाज से डरी हुई, थकी-माँदी महुआ को सान्त्वना देने के लिए कहे गए सुलक के इन शब्दों में कितनी वेदना है, कितनी आशावादिता, दृढ़ता—'जो हो चुका, उससे बड़ा अशुभ अब क्या हो सकता है महुआ! यह कोल्हा (सियार) तो भूमकाल के असमय अन्त पर रो रहा है। पर सचमुच यह अन्त नहीं है साइगुती (साथी)! सबेरे का नया सूरज हमें नई ताकत देगा। तब हम देखेंगे, ग्रेयर हमारी भूमि से कैसे बचकर बाहर निकलता है।'

भाषा, चरित्रों का नामकरण, घटनाओं का सृजन आदि सभी दृष्टियों से लेखक ने उपन्यास में अधिक-से-अधिक स्वाभाविकता लाने का प्रयत्न किया है। सिट्टी (कुतिया), साइगुती (साथी), वेकीमन (लड़की), चेलिक (प्रेमी) आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जो पुस्तक में दिए गए अर्थ से ही समझे जा सकते हैं। किन्तु सम्पूर्ण पुस्तक में प्रेम के लिए "पिरेम" के अतिरिक्त और कोई दूसरा शब्द ढूँढ़ने पर भी नहीं मिला, यद्यपि यह बहुत स्वाभाविक नहीं लगता कि बस्तर के इन आदिवासियों की भाषा में इतनी बड़ी व्यापक भावना के लिये कोई उनका अपना शब्द न हो, जबकि विवाह, प्रेमिका, लड़की आदि के लिये उनके अपने शब्द हैं। महुआ के मुँह से, जो यह भी नहीं जानती कि 'सकूल' क्या बला है, 'समाज' शब्द का प्रयोग निश्चय ही स्वाभाविक नहीं लगता। इसी

प्रकार औरत और प्रेम के सम्बन्ध में भी लेखक ने जहाँ सीधे अपने विचार प्रकट किए हैं, वे बहुत ही प्रभावशाली ढंग से रक्खे गए हैं, किन्तु वे ही विचार जंगल के भूलों के मुँह से खटकने लगते हैं। महुआ एक औरत है और इसीलिए वह औरत की मजबूरी को दिल छूने वाली भाषा में कह सकती है—"औरत की जात! वह तो कच्ची माटी की हंडी है। जिसे जो निशान उस पर बनाना हो, बना दे।" अपनी पत्नी के हत्या के बाद हिरमे जब हत्यारे की माँ को धिक्कारते हुए सहज स्वाभाविक रूप से औरत के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करता है, वह समाज के कितने प्रतिशत लोगों का विचार है? "औरत के मरने का क्या दुख? मर गई तो अच्छा ही हुआ, दूसरे दिन दूसरी आ जायेगी। एक के साथ रहते-रहते तबीयत ऊब जाती है। रोज पेज का पानी किसे सुहाता है गूमा की माँ! कभी तो स्वाद बदले। औरत स्वाद की बदलाहट है।" लेकिन जब "सकूल" के अर्थ पर माथा ठोंकने वाली महुआ "दुनिया" का हवाला देते हुए जंगली जीवन का समर्थन करती है (पृष्ठ २६) तो वह नितान्त अस्वाभाविक लगता है।

गोड़ों के समग्र जीवन पर प्रकाश डालने का जो प्रयत्न लेखक ने किया है, उसमें निश्चय ही उसे सफलता मिली है। मुझे दो जगह भाषा की भूलें कुछ खटकीं, "देखते ही झमको ने आगे बढ़कर महुआ के चिहुँटी काटी" (पृष्ठ ८) और "ये प्रेमिका समय-समय पर बदल सकते हैं।" (पृष्ठ २४)। अगर 'ये' का अर्थ प्रेमी लिया जाय तो यह वाक्य सही हो जाता है, किन्तु घोटुल में क्या केवल प्रेमी ही अपनी प्रेमिका बदल सकते हैं, प्रेमिका प्रेमी नहीं?

लेखक ने गोड़ों के भावमय लोकगीतों के जो उदाहरण दिये हैं, उन्होंने पुस्तक में जान डाल दी है।

—राकेश भारती

वेणु (कविता-संकलन)

कवि : श्यामसुन्दर खत्री
प्रकाशक : वाणी-बिहार, वाराणसी
मूल्य : ५.००—पृष्ठ : १८०

स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा के कवि के विषय में शब्द हैं : "पद्य पिंगल के काँटे पर तुले हुए हैं, भाषा साफ है, रचना में माधुर्य और प्रसाद है।" यह कविकारुकर्म काफी पुराना है। कवि के शब्दों में : "शर्माजी (पद्मसिंह) के शब्दों से मुझे प्रेरणा मिली और मैंने रचनाओं का संग्रह करके पूज्यपाद पंडित माखनलाल चतुर्वेदी के पास सम्मति और आशीर्वाद के लिए भेजा। उनके यहाँ उन दिनों कई बार तलाशी हुई······इन झमेलों में उनकी अमूल्य वस्तुओं के साथ मेरा संग्रह भी गुम हो गया··· लापता रचनाओं को एकत्र करना मेरे लिए कठिन हो गया। मैंने पुस्तक छपाने का विचार ही त्याग दिया।"

इस संकलन के विषय में अब तीन बातें स्पष्ट हैं। पहले तो, साहित्यगुरु पद्मसिंह शर्मा किसी भी बे-अच्छी चीज की कभी बड़ाई नहीं कह सके, और उन्होंने इन कविताओं को काफी सराहा है। दूसरे, शर्माजी के मत से, तथा किसी कविता-पाठक के पढ़ने पर भी, यह रचना भाषा, पिंगल, काव्य-शिल्प और कथ्य के विषय में काफी सुष्ठु और बहुमुख है। तीसरे, प्रकाशक की यह बहुत बड़ी कृपा है कि उनने खत्रीजी की, आज के लिए ओझल, इन कृतियों को प्रकाशित कर पाठकों की आँखें खोली हैं।

'प्रिया' शीर्षक कविता में :

छवि में कुछ समझी हुई चिन्हानी-सी थी,
स्वर में कुछ जागी हुई निशानी-सी थी,
चितवन में भूली हुई कहानी-सी थी,
उर में उर की पहचान पुरानी-सी थी।

'तुलसी' शीर्षक कविता में :

कहना है कठिन, विचारते सचाई जब
तुलसी के मानस-प्रसार-परिणाम की,
तुलसी की महिमा बढ़ाई रामनाम ने कि
तुलसी ने महिमा बढ़ाई रामनाम की।

'तिलक' शीर्षक कविता में :

वस्तुत शारदा के, हामी थे स्वतंत्रता के,
राज्यसत्तावादियों की जान के बवाल थे।

अनशन-सत्याग्रही यतीन के प्रति 'धन्य यतीन' शीर्षक कविता में :

आये, देखे, सीखे कोई अमर यतीन से कि
मर कर नर कैसे अमर कहाता है।

'आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा' शीर्षक कविता में :

सचाई खोजने में खूब तेरी दृष्टि चोखी थी
हृदय का जौहरी तू था, परख तेरी अनोखी थी।

पंक्तियों का सुगठन एवं भाषा का मुहावरापन देखते ही बनता है। और, कविता का शिल्प तो निजस्व है ही।

प्यासी पथराई आँखें (कविता-संकलन)

कवि : नागार्जुन
प्रकाशक : यात्री प्रकाशन, इलाहाबाद
मूल्य : ३.००—पृष्ठ : ५४

कविता में नाटकीयता के साथ समय की और उसके पते की बात कह देने की रंगव्यंग्यमय विशेषता, जैसी प्रसिद्ध है इन कवि की, वैसी ही सिद्धिप्रद कवितायें हैं अधिकतर इसमें। "समान आकृतिवाले दो पुरुषों की छाया में पथरा गई बेचारी!" (अहल्या), "एक बंबा है, तीन लैट्रीन; देख कर पानी का मोर्चा पसीने को आती है शर्म' (आदम का तबेला), "बिल के होठों पर मुस्कराये चूहे, और तुम नदारद थीं!" (खुली हैं किबाड़ें), "ठमक गया चौराहे पर शिकार, बोम्मारा! बोम्मारा! जाल-समेत मछली बह गई धार में—जहन्नुम में जाये सुसरी!" (चीखा आक्रोश अंध), "बिजनी की मूँठ से खुजलाकर पीठ, पुजारिन भाभी बोली—आँधी आएगी···· छेड़ती रहेगी छिनाल पुरवइया" (झुक आए कजरारे मेघ) आदि कविताएँ नाटकीयतापूर्ण रंग-व्यंग्य [व्यंग्य अधिक] के वैसे स्थिरचित्र हैं जोकि क्षणे-क्षणे-यन्नवता के शपथ के साथ रसिक मन में चटकते-मटकते रहते हैं।

'भारती सिर पीटती है', 'लुमुम्बा', 'हिम-कुसुमों का चंचरीक', 'आओ रानी···', 'टके की मुस्कान...' आदि कुछ रचनाएँ समय के झकटे पर लिखी होने से गठन के बजाय बिखरावट की हैं। मगर फिर, "प्लीज एक्स्क्यूज मी", "शूर्पणखा", "अबके मौसम में", "गुलाबी चूड़ियाँ" उतने ही गहरे शान्त क्षणों की रचनाएँ हैं कि मन पर भित्तिचित्र की तरह छप जाती हैं। छपाई, सजावट, सफाई अच्छी है। —'लालधुआँ'

उठो, हिम्मत करो

लेखक : हिमांशु श्रीवास्तव
प्रकाशक : बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना-४
पृष्ठ-संख्या : ११२—मूल्य : २.००

हिमांशु श्रीवास्तव मूलतः उपन्यासकार और रेडियो-नाटककार हैं। परन्तु, इधर बड़े मनोयोगपूर्वक उन्होंने कई किशोर-साहित्य की रचना की है, जिसका स्वागत होता रहा है। 'पुरुषार्थ के बोलते चित्र' और 'मंगलध्वनि' के बाद इनका यह तीसरा जीवन-प्रेरक किशोर-साहित्य है। मगर, यह इस शैली में लिखा गया है कि इसे वयस्क विद्वान भी पढ़े, किशोर भी पढ़े और जीवन के क्षेत्र में हिम्मत के महत्त्व को समझे। वस्तुतः ऐसे साहित्य पर धन व्यय करना धन का अपव्यय नहीं कहा जा सकता। अगर आप उदास और निराश हैं; तो इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें। अगर आप प्रसन्नचित्त और उत्साह रखने वाले व्यक्ति हैं, तब भी इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें; क्योंकि यह शब्द-संजीवनी अपूर्ण को पूर्ण और पूर्ण को परिपूर्ण करने वाली है। छपाई, सफाई प्रशंसनीय है।

बड़ों से मिलने के विचित्र अनुभव

लेखक : डॉ० महेशनारायण
प्रकाशक : बिहार ग्रंथ कुटीर, पटना-४
पृष्ठ-संख्या : २१३. मूल्य : ३.००

इस पुस्तक के लेखक डॉ० महेशनारायण चिकित्सा-विज्ञान के मर्मज्ञ हैं, मगर पुस्तक पढ़ने पर पता चलता है कि साहित्य से इनका अभिन्न-जैसा संबंध है। आप संसार के इने-गिने साहित्यकारों, नेताओं और क्रांतिकारियों से मिले हैं, उनसे हस्ताक्षर और इण्टरव्यू लिये हैं और इन क्षणों के अपने अमूल्य अनुभवों को पुस्तक का रूप दिया है। सरदार भगत सिंह द्वारा लिखे गए बटुकेश्वर दत्त के नाम पत्र के ब्लॉक बड़े ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। साहित्य और इतिहास के शोधकर्त्ताओं के लिए यह पुस्तक अति उपादेय है।

लेखक ने कहीं-कहीं इण्टरव्यू की लीक छोड़ दी है। सजग लेखक को अपनी परिधि की सीमाओं पर ध्यान देना उचित था। —सूक्तिदूत

बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ का तीसरा अधिवेशन

मंत्री श्री अखिलेश्वर पाण्डेय का विवरण

बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ के इस तृतीय वार्षिक अधिवेशन में आपका हृदय से स्वागत है। यह अधिवेशन वस्तुतः और पहले ही आयोजित किया जाना चाहिये था, किन्तु इस बार कार्यकारिणी-समिति ने अधिवेशन के साथ, 'लोकतंत्र में पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण'-विषय पर विचार-गोष्ठी भी संयोजित करने का निश्चय किया था, अतः इसकी तिथि आमंत्रित विद्वानों के सुविधानुसार यहाँ तक टाल कर लानी पड़ गई।

पिछले वर्ष अधिवेशन के अवसर पर, हमलोगों ने कुछ प्रस्ताव स्वीकृत किये थे। उनमें पहला प्रस्ताव भारत सरकार के शिक्षा-मंत्रालय से केंद्रीय सरकार की प्रकाशन-योजनाओं में बिहार को समुचित हिस्सा देने के सम्बन्ध में अनुरोध-मूलक था। वह अनुरोध और तदुपरान्त स्मरण-पत्र मैंने अधिकारियों को भेजा था; पर कोई उनका उत्तर मुझे अबतक नहीं प्राप्त हो सका। मैं अनुभव करता हूँ कि इसके निमित्त बिहार से प्रतिनिधि-मंडल दिल्ली जाय और अपनी माँगें उनके सामने पेश करे। कोरा कागज दौड़ाने से यह सम्भव नहीं है; क्योंकि स्वयं दिल्ली में प्रकाशन-क्षेत्र के दिग्गज बैठे हैं, जो हमेशा चौकन्ने हैं।

दूसरा प्रस्ताव बिहार के शिक्षा-विभाग से अनुरोध था, जिसमें जिला-शिक्षा-अधीक्षकों द्वारा पुस्तकों की खरीद के नियम और प्रणाली की जाँच के लिए एक कमीशन नियुक्त करने की बात कही गई थी। करीब-करीब इसी से सम्बन्ध रखनेवाला प्रस्ताव था कि ग्रन्थ-सूची और बाल-सूची की तैयारी में बिहार सरकार पुस्तकों के मूल्य और उनकी उपयोगिता पर ध्यान दे। ग्रन्थ-सूची-निर्माण में एक मनोनीत व्यक्ति भी रखा जाय। इस सम्बन्ध में अधिकारी व्यक्ति को पत्र दिये गये। जो शिक्षा-निर्देशक उस समय सम्बधित विभाग की देख-भाल किया करते थे, उनसे हमारी कार्यकारिणी के कई सदस्य मिले तथा उनके सामने यह बात रखी भी। उन्होंने हमारी सलाह की उपयोगिता को स्वीकारते हुए तदनुरूप कार्यवाही शुरू भी की, किन्तु उनके स्थानान्तर के साथ-साथ यह मसला खटाई में पड़ गया और आजतक सरकार की ओर से कोई निर्णय सामने नहीं आ पाया।

तीसरा प्रस्ताव अखिल भारतीय हिन्दी-प्रकाशक-संघ से उनके सदस्यों द्वारा नियमोल्लंघन की शिकायत भरा स्वर लिए हुए था। उक्त संस्था को यह प्रस्ताव भेज भी दिया था, लेकिन उनसे किसी प्रकार की आशा व्यर्थ थी; क्योंकि उनके अपने ही नीचे की जमीन काँप रही थी और अब तो उनकी दीवारें भी ढहने लग गई हैं। इस स्थिति में, अनुभव करता हूँ कि बिहार में जेनरल बुक्स के बाजार को सुव्यवस्थित रखने के लिए हमारे संघ को ही कदम उठाना आवश्यक हो गया है। मैं यह भी अनुभव कर रहा हूँ कि हमारे राज्य पर बाहर से पुस्तक-व्यवसाय के क्षेत्र में हमले निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं। अतः, शिक्षा एवं ज्ञान के स्वाभाविक प्रवाह में अवरोध उत्पन्न किये बिना, अपने राज्य के पुस्तक-व्यवसाय की सुरक्षा के लिये, कुछ नियन्त्रण लाना आवश्यक हो गया। मैं इसके निमित्त इस वृहद् सभा के विचारार्थ, अपने निम्नलिखित सुझाव पेश कर रहा हूँ—

१. शिक्षा-विभाग एवं लोक-स्वायत्त-शासन पर यह दबाव डाला जाय कि शिशु-साहित्य की खरीद में सत्तर प्रतिशत स्थान स्थानीय बोलियों से पूरित बिहारी लेखकों और प्रकाशकों की कृतियों को दें।

२. सरकारी खरीद में ली जानेवाली पुस्तकों का मूल्य-निर्धारण उनके रूप-रंग और विषय को देखते हुए सरकार स्वयं करे। इसके निमित्त जो उप-समिति सरकार गठित करे उसमें सहयोग के लिए संघ का भी प्रतिनिधित्व हो।

३. बाहर से जो भी प्रकाशक या उनके प्रतिनिधि बिहार में व्यापार करना चाहें, वे प्रथमतः हमारे संघ से अपने को पंजीबद्ध कराएँ। बाजार को संतुलित रखने के लिए हमलोग कतिपय नियम बनावें, जिनका पालन करने का वे लिखित आश्वासन हमें दें।

मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि यदि इस त्रिसूत्री कार्य-

क्रम को हमारा संघ कार्यरूप दे सका तो हम सभी आज के इस बिगड़े हुए जेनरल बुक्स के बाजार को संतुलित और संयोजित कर सकेंगे। साथ ही, राज्य में पुस्तक-उद्योग को गति भी प्राप्त हो सकेगी।

पिछले अधिवेशन के अवसर पर, प्रस्ताव द्वारा हम-लोगों ने बिहार सरकार के शिक्षा-विभाग से यह भी अनुरोध किया था कि वह पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण तोड़ देने के अपने निर्णय को शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित करे। इस क्षेत्र में हमारी सरकार की नीति उलझन में डाल देनेवाली रही है। निस्संन्देह सरकार ने यह निर्णय, राष्ट्रीयकरण की राह पर पाँच-सात वर्षों तक चलने के बाद, ज्ञान-सिद्धि की उपलब्धि के रूप में, लिया था। उसने जो उप-समिति इसके लिये गठित की थी उसने सारे सैद्धान्तिक, व्यावहारिक एवं नैतिक पहलुओं की जाँच कर, अपने सुझाव पेश किये थे, जिन्हें सरकार ने स्वीकृत किया था। लेकिन, उनको कार्यरूप दिया भी न गया कि दूसरे जाँच-कमीशन की नियुक्ति की बात हवा में तैर गयी। हर बार सरकार बदलने के साथ-साथ यह कमीशन का पुतला खड़ा करना और उसे फिर अपने ही हाथों जलाना, क्या शिक्षा के प्रति सरकार का खिलवाड़ तथा जनता के पैसों का दुरुपयोग नहीं है? सिलेबस बना दिया जाता है, लागू कर दिया जाता है, पर उसके अनुसार पाठ्य-पुस्तकें नहीं बदलतीं और न सरकार की ओर से रक्खी जाती हैं—यह हमारी शिक्षा-विभाग की कार्य-कुशलता का नमूना है। इधर, राह चलते, हमारे प्रधान-मंत्री को, देश के पश्चिम प्रदेश में, किसी गैरजवाबदेह प्रकाशक द्वारा प्रकाशित कोई अशुद्धि-भरी पाठ्य-पुस्तक हाथ लग गई और उन्होंने कोलाहल मचा दिया। उनकी धारणा बन गई कि सारे हिन्दुस्तान के प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित सभी पाठ्य-पुस्तकें गैरजवाबदेही के ही नमूने हैं। यहाँ यह प्रश्न उनसे कोई पूछ सकता है कि ऐसी पाठ्य-पुस्तक स्वीकृत करने की जवाबदेही किसपर थी—उस प्रकाशक-विशेष पर या उनकी सरकार पर। मैं कह सकता हूँ कि उन्हें ऐसी धारणा बनाने का कोई हक नहीं है। मैंने उनके और केन्द्रीय शिक्षा-मंत्री के अवलोकनार्थ बिहार सरकार द्वारा प्रकाशित पाठ्य-पुस्तकें, बिहार के शिक्षा-मंत्री को दिए गए स्मृति-पत्र की प्रतिलिपि के साथ, उन्हें भेज दी है कि वे अपनी खुली आँखों देख लें कि शिक्षा के प्रति हम खिलवाड़ कर रहे हैं या उनकी अपनी ही सरकार। यहाँ मैं यह भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि यदि प्रकाशकों की स्वीकृत पाठ्य-पुस्तकें अच्छी नहीं हैं तो इसकी सारी जिम्मेवारी उनपर है, जो प्रकाशकों द्वारा स्वीकृति के लिये दी गई पाठ्य-पुस्तकों की जाँच करते-कराते हैं और यह जाँच की मशीनरी भी सरकारी ही है न कि प्रकाशकों की। यदि वह अपनी मशीनरी को शुद्ध नहीं रख पाती, तो प्रतिक्रिया में पागल बन सम्पूर्ण पुस्तक-व्यवसायी-वर्ग की रोटी छीनने का अधिकार उसे नहीं है। और, न उसे यह अधिकार है कि अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बन अपने चुने-चुनाये दो-चार लोगों से पाठ्य-पुस्तकें रचवाकर इस क्षेत्र के अन्य सभी चिन्तकों के सोचने-समझने के मार्ग में तथा प्रणयन-बुद्धि के आगे पूर्ण विराम डाल दें तथा प्रतियोगिता में ऐसी ही पुस्तकें हमारे बच्चों पर लाद दें। हमारा सरकार से निवेदन है कि हमने जो स्मृति-पत्र भेजा है उसके सारे तर्कों का या तो जवाब दे नहीं तो अपनी हठवादिता छोड़ दे।

हमने प्रस्ताव द्वारा सरकार से तथा विश्वविद्यालयों से अपनी प्रकाशित पाठ्य-पुस्तकों पर कमीशन बढ़ाने की भी माँग की थी। इस सम्बन्ध में मैंने अधिकारी व्यक्तियों को पत्र दिए थे। हमारी कार्यकारिणी के एक वरिष्ठ सदस्य ने शिक्षा-मंत्री एवं अधिकारियों के सामने यह बात रक्खी भी। उनका मौखिक आश्वासन भर अवश्य मिला, जैसे औरों को मिलता है, लेकिन कुछ ठोस बातें सामने न आईं। हाँ, यहाँ मैं यह बात अवश्य कहूँगा कि इस संबंध में अपेक्षित था कि शिक्षा-मंत्री तथा अधिकारियों से हमारा प्रतिनिधि-मंडल स्मृति-पत्र के साथ मिलता। लेकिन हमें खेद है, ऐसा निश्चय करके भी हम राह पर ही निराश पथिक की साँस लिए बैठे रहे, उनके दरवाजे पर दस्तक तक न दी। अपने लोगों की असह-योग-भावना, उदासीनता, जो मुझे वर्ष भर झेलनी पड़ी, उसका यह भी एक टुकड़ा है।

पिछले वार्षिक अधिवेशन के प्रस्तावानुसार हमने एक उप-समिति गठित कर विधान में अपेक्षित संशोधन

भी करा दिया है, जो हम आपको पेश कर चुके हैं। उसे प्रतिनिधि-सभा की स्वीकृति भी मिल चुकी है।

एक प्रस्ताव द्वारा प्रकाशक-बन्धुओं से हमलोगों ने आग्रह किया था कि वे सहायक-पुस्तकें, नोट आदि का मूल्य यथायोग्य कम कर दें। इस प्रस्ताव के पीछे दो भावनाएँ थीं। पहली कि हमलोग अपने ग्राहकों के बीच यह मनोवैज्ञानिक वातावरण पैदा कर दें कि कमीशन पर रोक लगाकर हम कोई लूट पर नहीं उतर आए हैं। दूसरी भावना व्यावहारिकता की दृष्टि से परिपूरित थी कि अपने कमीशन-नियम को हम व्यापकता और सार्थकता दे सकें। अपने ग्राहकों से मुद्रित मूल्य माँगने पर हमारी आत्मा काँपे नहीं। किन्तु खेद है कि हमारे प्रकाशक-बन्धुओं ने अपने लिए इसकी कोई उपयोगिता न समझकर इसकी ओर उपेक्षा की दृष्टि ही डाली। अपने में केन्द्रीभूत इन प्रकाशकों ने स्वस्थ बाजार की सृष्टि में सहयोग देने की इस सामाजिक जवाबदेही से कतराना ही उचित समझा। प्रस्ताव को कार्यरूप देने के लिए हमारी कार्यकारिणी-समिति ने एक उपसमिति का गठन किया था। मैं नहीं कह सकता कि उपर्युक्त उपसमिति ने अबतक क्या कार्य किया है; क्योंकि उसके संयोजक-बन्धु ने मेरे कई स्मरण-पत्रों के उत्तर में मौन साधना ही अपनी व्यावसायिक बुद्धि से उचित समझा।

संघ का एक आवश्यक कार्य इसे सोसाइटीज ऐक्ट में दर्ज कराना था, जो दुर्भाग्य से पूरा नहीं हो सका। संघ के प्रारंभ में ही यह कार्यभार पटने के आर० एन० रुद्रा एण्ड कम्पनी को सौंपा गया था। उन्होंने इसके निमित्त रजिस्ट्रार के द्वारा उठाये गये कतिपय प्रश्नों के उत्तर तथा विधान में संशोधन की माँग की थी। यद्यपि, मैंने बहुत पहले ही उत्तर प्रेषित कर दिया था और विधान में भी संशोधन कर दिए गए थे, किन्तु खेद है कि उपर्युक्त संस्था ने यह कार्य पूरा नहीं किया। इस सिलसिले में उन्हें पत्र दिया और स्वयं मिला भी, पर उत्तर में, तीन-चार रोज में कार्य संपन्न करा देने का कोरा आश्वासन ही मुझे मिलता रहा। इस कार्य के संपन्न न होने से ही राँची और मगध विश्वविद्यालयों के सीनेट में अपने संघ का प्रतिनिधित्व दिलाने का प्रयास भी सफल न हो सका; क्योंकि वे, विश्वविद्यालय के नियमानुसार, केवल रजिस्टर्ड संस्थाओं को ही अपनी सीनेट में प्रतिनिधित्व का मौका देते हैं।

हमारी प्रतिनिधि-सभा ने पुस्तकों के जाली संस्करण की रोक-थाम के लिए व्यापक योजना स्वीकृत की थी। इस सिलसिले में एक-दो सदस्यों को सदस्यता-निलम्बन की सजा भी दी गई थी। पर इन सबके बावजूद, जिस नैतिकता और ईमानदारी के साथ, अपने ही बन्धुओं की व्यावसायिक सुरक्षा के लिए, इसका पालन किया जाना चाहिए था, इस भावना का चारों ओर अभाव ही मिला। इस योजना के कार्यान्वयन के लिए अपेक्षित है कि :—

(क) सभी छोटे-बड़े प्रकाशक सजगता बरतें एवं अपने-अपने ट्रेड मार्क तथा मुखपृष्ठों की डिजाइनों का रजिस्ट्रेशन आवश्यक रूप से करा लें।

(ख) सभी जिला-समितियाँ और क्षेत्रीय समितियाँ इसे अपनी नैतिक जिम्मेदारी के रूप में स्वीकारें और आवश्यकता पड़े तो केन्द्रीय संघ को जाँच आदि में समुचित और अविलम्ब सहयोग दें।

(ग) सभी सदस्य, विशेषतया पुस्तक-विक्रेता-बन्धु, इस पेशे को अत्यन्त घृणित, अमंगलीय एवं संघ-भावना के प्रतिकूल मानें।

ज्यों-ज्यों हमारा संघ सदस्य-संख्या की दृष्टि से व्यापक एवं ठोस होता गया है, त्यों-त्यों मैंने अनुभव किया है कि हमारे संघ के अन्दर वर्ग-संघर्ष की सृष्टि होती गई है—प्रकाशक-वर्ग तथा पुस्तक-विक्रेता-वर्ग के बीच। हमारे पुस्तक-विक्रेता एक ओर जहाँ जाली संस्करण के विक्रय बन्द करने की बात को संघीय उत्तरदायित्व नहीं मानते, वहाँ, दूसरी ओर इसका, प्रकाशक-वर्ग से सुविधाएँ प्राप्त करने का, मेल-जोल के साधन के रूप में, उपयोग करते हैं। दूसरी ओर, हमारे प्रकाशक-बंधु अनिबन्धित पुस्तक-व्यापारियों एवं शिक्षकों को कमीशन पर पुस्तकें न देने तथा इस प्रकार एक स्वस्थ संतुलित बाजार बनाने की बात नहीं स्वीकारते। इन दो स्वार्थों की टकराहट ने संघ के अन्दर एक चिनगारी उत्पन्न कर दी है। मैंने

इस संदर्भ में कतिपय वरिष्ठ प्रकाशक-बन्धुओं से बड़े भाई की सदाशयता और सहृदयता बरतने का करबद्ध निवेदन किया था; किंतु खेद है कि मेरी आवाज नक्कार-खाने में तूती की आवाज बन कर रह गई। मुझे भय है, यह चिनगारी ही इस संघ को कहीं भस्म न कर दे। इस दिशा में कुछ निश्चित हल निकालना आवश्यक है। यदि संघ को बचाना हो तो।

मुझे लगता है कि आप इतने सारे खेद भरे स्वर सुनकर ऊब चुके होंगे। तो लीजिये, प्रसन्नता की बात सुन ही लीजिये। आपके संघ के सदस्यों की संख्या इस वर्ष सात सौ से बढ़कर ग्यारह सौ के पार पहुँच गई है। यह वृद्धि हमारे विस्तार का परिचायक है; इस बात का सूचक है कि हमारे बन्धु निरन्तर संघ की आवश्यकता और उसके लाभ को समझ रहे हैं—आप शायद यही कहेंगे। पर मुझे तो यह कहने दीजिए कि यह प्रेरणा नहीं है, बल्कि लाचारी है। हाँ, सदस्य बढ़ाने में हमारे क्षेत्रीय संघों ने जो मुस्तैदी दिखलाई वह इस बात का सूचक अवश्य है कि क्षेत्रीय संघों का निर्माण निश्चित रूप से लाभदायक सिद्ध हुआ। पिछले वर्ष जहाँ क्षेत्रीय समितियों की संख्या मात्र दस थी वह अब चौदह है—इससे संघ की संगठनात्मकता बढ़ी है। संघ को संगठनात्मक सुदृढ़ता देने की दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य मुजफ्फरपुर जिला-संघ ने किया है। इस जिला-संघ ने अपने विभिन्न सबडिवीजनों में अपने संघ की शाखाएँ गठित कर संघ की गठनात्मक सुदृढ़ता में महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्देश किया है। अन्य जिले भी इस मार्ग का अवलम्बन करें तो हमारे संघ को ठोस धरती मिलती जाएगी। और साथ ही, कतिपय क्षेत्रीय समितियों की उदासीनता भी मुझे झेलनी पड़ी है। मैं तो चला। पर मैं चाहूँगा कि आप अपने भावी मंत्री को अपने कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व के प्रति बेरुखी द्वारा सताएँ नहीं।

संघ की श्रृंखलाबद्धता कार्य-संचालन के लिए उपयोगी है। पर उससे भी अधिक आवश्यक है कि निचले संघ के लिए ऊपर के निर्णय आवश्यक रूप से मान्य हों, अन्यथा अराजकता और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। हाँ, यदि वे ऊपर के निर्णय को उपयुक्त नहीं मानते

तो प्रतिनिधि-सभा की बैठक या साधारण-सभा ही बुलवा कर इस प्रश्न को रखा जा सकता है। लेकिन तब तक ऊपर का निर्णय ही उनके लिये मान्य होना चाहिए, यह अनुशासन की माँग है। ऐसा न होने पर, मैंने अनुभव किया है कि, कार्य की प्रगति रुक गई है, संघ की एक-बद्धता टूटती-सी नजर आई है।

हम सबने पिछले दिनों यह भी निश्चय किया था कि संघ का एक पाक्षिक मुखपत्र प्रकाशित किया जाय। किन्तु इसके प्रकाशन के लिये मात्र जिलाधीश का आदेश प्राप्त करने का नियम नहीं रह गया। इसके लिए प्रथमतः भारतीय समाचार-पत्र के रजिस्ट्रार, दिल्ली से आदेश प्राप्त करना होता है। इस सम्बन्ध में मैंने उन्हें पत्र दिया है, स्मरण-पत्र भी भेजा है, किन्तु दिल्ली दूर है; वहाँ तक हमारी आवाज पत्र से नहीं पहुँच पाती— ऐसा मुझे लग रहा है। इसके लिए यदि शीघ्रता चाहते हों तो किसी चुस्त व्यक्ति को दिल्ली भेजने की आवश्यकता है।

संघ के तीन वर्षों के अंदर हमने कई नियम बनाए और उनपर चलने का प्रयास किया। हमें जरा अब ठहर कर यह भी जाँच लेना चाहिए कि इन नियमों में कौन-कौन-से अव्यावहारिक हैं या व्यर्थ का वितंडावाद खड़ा करते हैं। मेरे एक अजीज दोस्त ने, जो सरकार में उत्तरदायी पद पर हैं तथा अनेक ऐसी भोलेन्ट्री संस्थाओं से संबंधित हैं, मुझसे कहा था कि ऐसी संस्था में कम-से-कम पालन करने के नियम होने चाहिएँ अन्यथा उनके टूटने का भय बना रहता है; क्योंकि इनके पीछे शक्ति के नाम पर नैतिक दबाव के अतिरिक्त और कुछ रहता नहीं है। उनने निस्संदेह बड़े अनुभव की बात कही थी। मेरा निवेदन है कि आप जरा गौर से अपने नियमों को देखें और अनुभव से काम लें। अव्यावहारिक और व्यर्थ के नियम हटा दिये जायँ। इनसे अपने नए मंत्री का सरदर्द कम करेंगे ही, कार्यालय का कार्यभार भी हल्का होगा।

मैं यहाँ अपने संघ के अधिकारियों की, चुनाव करते समय, अपनायी जाने वाली नीति पर भी थोड़ी बात कर लेना आवश्यक समझता हूँ। हमारा संघ व्यवसायियों का संघ है। इसकी स्थिति चेम्बर-आफ-कामर्स की सी है। अतः अधिकारियों का चुनाव होते समय, मैं समझता हूँ कि, हम सबको इतना सजग रहना चाहिये कि वे ऐसे व्यक्ति हों, जो अपने विस्तृत व्यापार के कारण इतने प्रभावशाली हों कि उनकी बातें आपमें प्रकम्पन पैदा कर सकें।
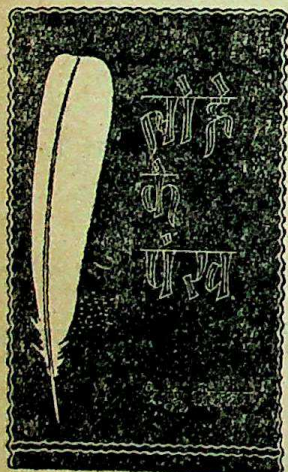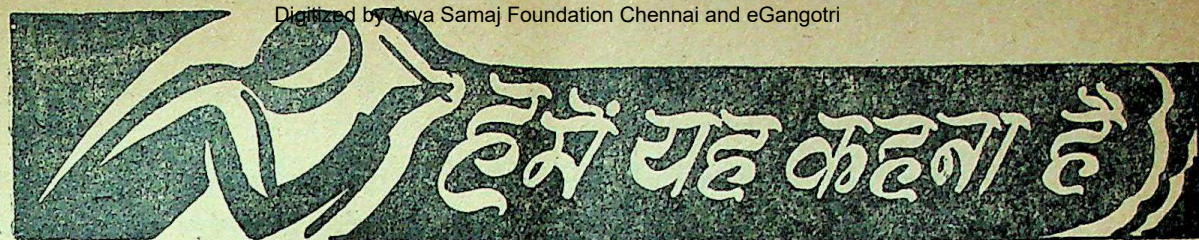
बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ : तीसरा अधिवेशन : राष्ट्रीयकरण पर सेमिनार

बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ का तीसरा वार्षिक अधिवेशन पटने में २३-२४-२५ जून ६२ को सम्पन्न हुआ। उसके कार्यों और अवस्थाओं की कुछ झाँकी इसी अंक में प्रकाशित मंत्री के विवरण से प्राप्त होगी। यह सत्य है कि अपने देश में पुस्तक-व्यवसाय के जितने प्रान्तीय संगठन हैं, उनमें बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ का संगठन सर्वाधिक सुचारु है। सदस्यता के नाते और नियम तथा अनुशासन के नाते भी यह अधिक सचेष्ट है। कमीशन-नियमन की पाबंदी भी इसने अच्छी रखी है और इस नियमन के फलस्वरूप ग्राहकों को सस्ते दर पर पुस्तकें उपलब्ध कराने का प्रस्ताव भी इसने पारित किया है। पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध स्मृति-पत्र भी इसने सरकार के पास भेजा है। सरकार के शिक्षा-विभाग की ओर से पाठ्यपुस्तकों के निर्माण और व्यवसाय के विषय में एक विशद प्रश्नावली सभी विचारवानों के बीच प्रान्त में वितरित की गई है। आशा है कि उक्त प्रश्नावली को पाए हुए सभी संबंधित व्यक्ति यथाशीघ्र इस विषय पर अपने विचार बनाकर सरकार के पास भेजेंगे और सरकार एक समिति बनाकर उन विचारों के आधार पर निश्चित निर्णय लेगी। उक्त प्रश्नावली पर बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ ने भी सम्भवतः उत्तर-पत्र तैयार किया है और उसे सरकार के पास भेजा जायगा। इस विषय में सरकार को संघ के उस उत्तर-पत्र को संस्था के उत्तर के मान पर ही लेना चाहिए।

संघ के इस अधिवेशन के अवसर पर पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण के विषय में एक चर्चागोष्ठी की गई। लगभग ऐसी गोष्ठियों में बोलनेवाले विचारवानों का जो चलता स्तर होता है, वह इसमें भी था। अधिकतरों ने पाठ्यपुस्तकों के राष्ट्रीयकरण की ही पैरवी की, मगर यह मानते हुए कि पुस्तकों का रद्दी और अशुद्ध होना, लेखकों को पूरा पैसा न मिलना और पुस्तकों का मँहगा होना तथा समय पर छात्रों को न मिलना आदि भ्रष्टाचारी दोषों को दूर करना चाहिए। एक पक्ष ऐसा भी था, जिसका कहना था कि सरकार भी पाठ्यपुस्तकें छापे और पुस्तक-व्यवसाय भी, मगर सरकारी पुस्तकें ही पाठ्य में लागू हों यह शर्त्त न होकर, सरकार तथा व्यवसाय में जिसकी चीज अच्छी हो वह पाठ्य में लगे। अर्थात् सरकार का इस विषय में व्यवसाय से खुला मुकाबला हो।

हमारी समझ में ये दोनों तर्क ठीक नहीं जँचते। ये दोनों तर्क बहुत ऊपरी हैं। अन्तिम तर्क, सरकार से व्यवसाय का मुकाबला, काफी वाहियात है, इसलिए कि अन्त में पुस्तक-चुनाव की कोई भी समिति नौकरशाही-प्रणाली के दबाव में सरकार के ही पक्ष की होगी और तब वही सरकारी धाँधली जो अब है ज्यों-की-त्यों बरकरार रहेगी। दूसरे, व्यक्तिगत या छोटे संघों के व्यवसायी शक्तितः सर्वसत्तापन्न सरकार का मुकाबला शायद ही कर सकें और ऐसे होड़ में अस्वीकृत माल को सहने का खतरा जहाँ सरकार सह सकती है वहाँ शायद ही सह सकें। पहले तर्क में, जो राष्ट्रीयकरण को ठीक माना गया है और ठीक मानते हुए भी जिन बुराइयों को दूर करने की दुहाई दी गई है, यह सैद्धान्तिक बात जान-बूझ कर भुला दी गई है कि वे सब बुराइयाँ राष्ट्रीयकरण की ही

सन्ततियाँ हुआ करती हैं और उन बुराइयों का नाश खुले व्यावसायिक होड़ के ही द्वारा सम्भव होता है न कि राष्ट्रीयकरण के द्वारा।

मूर्धन्य शिक्षाविदों के अनेक विचार हम अपने पिछले अंकों में इस विषय पर दे चुके हैं। उन विचारों को देखते हुए यही उचित है कि सरकार शिक्षा तथा पाठ्य के विषय में निर्देशन एवं नियंत्रण का कार्य राष्ट्रीय हित की दृष्टि से भले ही करे, किन्तु अपनी ओर से उसका व्यवसाय न करे।

हम पाठ्यपुस्तकें तो क्या, शिक्षा तथा प्रसारण तक के समस्त क्षेत्रों के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध हैं और पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ का जो स्मृति-पत्र सरकार के पास प्रेषित हुआ है, उसके सक्रिय सहयोगी हैं।

हमारा अगला कदम : काव्य-समीक्षांक

'पुस्तक-जगत' ने विगत वर्षों में व्यवसायांक, राजनीति-साहित्य-विशेषांक एवं वर्षांकों के रूप में पाठकों को पर्याप्त सामग्री दी है। आगामी सितम्बर में हमारा वर्ष समाप्त होता है, जिस अवसर पर हम यथावत वर्षांक के रूप में विशेषांक प्रस्तुत करेंगे। प्रस्तुत अंक के अनन्तर अगस्त ६२ वाले अंक को हम कविता-पुस्तकों की और काव्य-जगत की समीक्षा के अंक के रूप में निकालना चाहते हैं। सितम्बर के अंक को विशेषांक के रूप में देने के कारण इस कविता-समीक्षांक का कलेवर साधारण अंकों जैसा ही होगा।

'पुस्तक-जगत' के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ४) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य ३७ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* साधारण अंकों में विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०·००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०·००
,, द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५·००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५·००
,, आधा पृष्ठ	:	२०·००
,, एक चौथाई पृष्ठ	:	१२·००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,

पुस्तक-जगत, ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना—४

रजिस्टर्ड नं० : पा० ८०४

वर्ष— ८ :: अंक—११ :: जुलाई—१९६२

अखिलेश्वर पाण्डेय द्वारा संपादित, सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, पटना-४ में मुद्रित एवं प्रकाशित

पुस्तक-जगत

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

प्रेमचंद के ३००० नये पृष्ठ

कहानियाँ, उपन्यास, लेख, चिट्ठी-पत्री और एक सम्पूर्ण, प्रामाणिक जीवनी

प्रेमचंद
कलम का सिपाही

लेखक

अमृतराय

विस्तृत विवरण के लिए चौरंगा फोल्डर मँगाइए

हंस प्रकाशन : ६३ जीरो रोड :

हमारे अनुपेक्षणीय पाठ्य

'HINDI THROUGH ENGLISH'

By : **Sarbdeo Narayan Sinha** *M. A.*

Instructor, Hindi Training Centre, Secretariate, Patna

"I am sure it will be useful to those who want to learn Hindi through the medium of English."

—*R. S. Pandey, I. A. S.*
Agent, Tata Iron & Steel Co.

Price Rs. 6·00

मानव-मन

लेखक : श्री द्वारका प्रसाद

"मानवमन में सामान्य मनोविज्ञान के प्रत्येक साधारण पहलू पर संक्षिप्त तथा वैज्ञानिक ढंग से विचार किया गया है।"

—'युगप्रभात'

मूल्य : ४·७५

व्यक्ति, प्रकार और अन्य मनोविश्लेषण

लेखक : डॉ० प्रमोद कुमार, एम० ए०, पी-एच० डी०

"लंबे नाम में ही कलेवर का आभास मिलता है। भिन्न-भिन्न विषयों की समालोचना मनोविज्ञान के आधार पर करने का लेखक ने वांछनीय और प्रशंसनीय यत्न किया है।"

—'युगप्रभात'

मूल्य : २·२५

परिवार : एक सामाजिक अध्ययन

लेखक : श्री पंचानन मिश्र

"श्री पंचानन मिश्र ने गहन और विवादग्रस्त विषय पर एक अधिकारी और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा है।"

—जयप्रकाशनारायण

मूल्य : ४·००

हिन्दी साहित्य : एक रेखाचित्र

लेखक : प्रो० शिवचन्द्र प्रताप

"इतिहास इतना सरस, मनोरंजक, प्रवाहपूर्ण हो सकता है, इसकी कल्पना भी इस ग्रंथ को देखने के पूर्व नहीं हो सकती।"

—डॉ० रामखेलावन पाण्डेय

मूल्य : ३·००

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

कृति-कविताओं की संभावित दिशा के नोट्स और नव-सूर्योदयी घोषणा-पत्र

श्री श्रीराम तिवारी

नयी कविता की कलात्मक उपलब्धि, उसका काव्य-गत मूल्य क्या है? यह प्रश्न सीधे आज की कविता को 'मूल्यों' के बड़े प्रश्न से जोड़ देता है। हर कलात्मक उपलब्धि अंतिम होती है, समय के प्रभावों से बेदाग बची हुई—इस अर्थ में नयी कविता का काव्य-मूल्य (पोयेटिक वैल्यू) क्या ऐतिहासिक ज्ञान से अलग है और क्या उसने अपने किसी स्वतंत्र, वजनी और जानदार ऐतिहासिक दायित्व को पहचाना है? इन प्रश्नों के उत्तर में हमारे साथ के कविता के सम्बन्धों का भी तथ्यपूर्ण उत्तर छिपा हुआ है।

अपने ऐतिहासिक काल की अत्यन्त सामान्य प्रवृत्ति—अनिश्चय की व्याप्त विरसता और प्रतिक्रिया-वादी संवेदनों और जीवन-स्थितियों के बीच सभी देशों में नयी कविताओं की प्रतिष्ठा और ग्रहण की प्रक्रिया पूरी हो चुकी है। अपने जन्म की शुरुआत से ही नयी कविता ने असाधारण बनने की कोशिश की। इस 'आसाधारण' ने अनायास इसे एक सार्वदेशिक चरित्र (cosmopolitan character) दे दिया—इसकी किसी केन्द्रीय संवेदना और रुचि की दिशाओं का स्वतंत्र निर्माण नहीं हो सका। नयी कविताओं में एक प्रकार की विशिष्ट भाषा की तात्कालिकता का सौन्दर्य-मूल्य बना (और इसी ने इसे एक असमर्थ कविता बनने से बचा लिया)—जीवन या मूल्यों की स्वस्थ मान्यता में उत्कीर्ण कोई विचार-मूल्य सामने नहीं आया। अगर कोई विचार-मूल्य आया भी तो (इसको 'आधुनिकता' का नाम दिया जाता है) वह अपने समय के ऐतिहासिक अनुभव या ज्ञान से भिन्न, अलग से किसी स्वतंत्र मूल्य का ग्रहण नहीं कर सका—आधुनिकता की एक आवश्यक प्रक्रिया से गुजरने के नाम पर इसकी 'नियति' को इसने हू-बहू अपनी नियति मान लिया। ऐसा होना एक आवश्यक 'फेज' मात्र था जिसे उपन्यास, कहानी अन्य विधाओं के साथ नयी कविता ने भी अपनी [illegible] में 'एबसोल्यूट' जीवन मान लिया। इस रूप में नयी कविता का जो 'मूल्य' बना वह हारी हुई हताश संवेदनाओं, कृतित्वों का बना; जिसको सामान्य तौर से बड़ी आसानी के साथ उपन्यास, कहानी की स्वतंत्रता, अकेलापन, नरक, अप्रेम, सह-अस्तित्व की अर्थहीनता आदि मान्यताओं की पारदर्शी संगतियों में देखा जा सकता है। इसीलिये हम ऐसा नहीं मान सकते कि नयी कविता किसी समयविशेष को सहवर्ती अमित जीवन (Immense Life) देनेवाली कविता रही, कोई भी महान् जीवित कविता बिना यह दिये अपने को कैसे कायम रख सकेगी? हमारे लिये ऐसा मानने के निश्चित कारण हैं कि नयी कविता संकेतों, संभावनाओं, खोजों की एक 'फेज'-मात्र है कि—वह एक प्रॉसेस रही है जिसमें कविता के रूप-विचारगत कुछ गुण (Qualities) अवश्य पैदा हुए या पहले से अधिक पनपे; किसी खास सधे विचार और सौन्दर्य-मूल्य के रूप में कोई 'उपलब्धि' इसे नहीं मिली। इस सिलसिले में नयी कविता के निस्तेज होने की बात भी एक मजा है। यह दबी आवाज इस कविता के उत्थापक कवियों के वर्ग से ही आई है, जिसका कारण है कि स्वयं नये कवियों के पास कोई सबल विचार नहीं रहा जो इसके कविता-मूल्यों को 'ससटेन' कर सके। भाषा की एक अर्जित शक्ति को बदले संवेदनों और स्थितियों के सम्बन्ध-सूत्रों में पिरोने की क्रिया का अंत मात्र १० वर्ष के भीतर हो गया—जटिल अवधारणाओं और नयी अर्थ-व्यंजनावाले अनुषंगों का थिर जलपिण्ड बन कर नयी कविता रह गई, उच्छल जल-धारा नहीं बनी।

यह या ऐसा और कुछ नयी कविता को किसी प्रतिक्रिया में देखना या उसकी स्थिति और मान्यता को अस्वीकार करना या गलत बताना नहीं है। हमारी मूल बात है कि नयी कविता 'स्टेपिंग स्टोन' है, वह एक [illegible] है जिससे नयी कविता के समस्त बहावों के

बीच से एक निस्संग जीवित धारा को चुन लेना है। सर्वांशतः यह प्रश्न नयी कविता को अब दिशा देने या 'मूल्य' देने का है—आज की जीवित, सप्राण और ग्रहणीय चेतना के साथ नयी कविता अपनी सापेक्ष स्थिति को समझ सके, हमें कहीं पहुँचाये, इसके लिये यह जरूरी है। नयी कविता ने अपने सम्पूर्ण अवदानों के साथ हमें कहीं भी नहीं पहुँचाया, हमारी संस्कृति के साथ किसी खास बिन्दु पर इसका लौजिको मीनिंगफुल इण्टेग्रेशन नहीं हो सका—मात्र नयी कविता के साथ हम भीतर-बाहर से वस्तु, रूप, संवेदन को भोगने या उपार्जित करने में ही बीतते रहे। इस भोग-प्रक्रिया ने भविष्य के लिये कोई मूल्यगत परिणति नहीं छोड़ी: चार्ल्स टॉमलीशन के आज के कवि-सम्बन्धी विचार से कहें तो यह निष्कर्ष यहाँ पहुँचता है कि what one misses in the literary scene is the presence of that poet who can provide us with the conclusive image of our condition and the prophetic image of that which we may attain to। इस आलोक में नयी कविता के माध्यम से हमने अपने को पहचाना ही नहीं है। कृति-कविताओं के विकसनशील संस्कार में यह बात लागू नहीं है।

× × ×

नयी कविता की चेतना के प्रभाव में कविता करने वाले कवि सब एक ही प्रकार के नहीं हैं। वास्तविक नये कवि हिन्दी में वे हैं जिन्होंने 'नयी कविता' नाम को उछाला नहीं, न उसे स्थापित करने के फेरे में रहे: उन्होंने मात्र नयेपन के प्रभावों और बोधों, अनुषंगों की ताजगी को कविता के दिशा-परिवर्त्तन की आवश्यकता में महसूस किया; वे अलग से कुछ सापेक्ष मूल्यों के ग्रहण और चिन्तन में रहे। एक अपने ढंग के विवेक और सामूहिक आन्तरिक उन्मेष को ऐसे कवियों ने कविता की एक बनती मूल्य-प्रक्रिया में साधा—इसके व्यापक प्रवर्त्तन की चिन्ता का अनायास खिंचता हुआ अन्तःसूत्र बँधता गया: इसी के नामकरण और इसके भीतरी रेशों को ढूँढने की चेष्टा का संबंध कृति-कविताओं के नये मूल्यों की स्थापना के प्रश्न से है। बहुत [illegible] लेना—चिन्तन, निर्वाह, जीवन-उपक्रम में इसी को पा जाना हमारी सिद्धि और भविष्य है, यही हमारी वरिष्ठ; हमीं से अभिषिक्त मौलिकता भी।

× × ×

ऐसे—अपनी प्रकृति से ही सृष्ट कृति-कवियों का शुद्ध सम्बन्ध जीवन और कविता के रचना-मूल्यों से रहा है: ऐसे कवि रचनाधर्मी, रचनासंवेद्य, समूह मन के उद्गाता और प्रस्तुतकर्त्ता रहे हैं—जीने और रचने की अपराजित आकांक्षा में ही इन्होंने कविता, जीवन के सम्पूर्ण सौन्दर्य को देखा है। नयी कविता के उपक्रम में पैठी ऐसे कवियों की कविताओं को हम कृति-कविताएँ (Creative Poetry) कहते हैं। वैसे, हर कविता एक सृजन है, पर जब हम 'कविता' को सृजन (creation) कहते हैं तो इसमें आज के संदर्भ में कविता की आवश्यकता को ही क्रीएटिव मानने पर बल है—आज की कविता की उपयोगिता ही क्रिएटिव्हनेस को बनाये, जिलाये रखने में है। क्रीएशन का सम्बन्ध हमेशा अन्त में चलकर मूल्यों से होता है। कविता के क्रीएटिव्ह मूल्य उसके विचार-प्रतीकों में अवतरित होते हैं: इन्हीं विचार-प्रतीकों से हिन्दी में कृति-कविताएँ अपनी स्फीत रैशनैलिटी से पहचानी जाती हैं। नयी कविताओं के पूरे विस्तार और अलग-अलग वैयक्तिक प्रयोगों में से वास्तविक नयी कविताओं या कृति-कविताओं को छाँटने की एक सम्मत कसौटी बनती है जिससे साफ तौर पर कृतिवादी कविता-दिशा के सूत्र और महत्त्व की परिभाषाएँ निर्मित होती हैं: उनके अर्थ, उद्देश्य और मूल्य की खोज हम निम्नांकित रूप से कर सकते हैं—

- जो कविताएँ स्वच्छ और पारदर्शी विचारों के संवेग जगाती हैं,
- जो बोध के धरातल पर जीवन और जीने की रचनात्मक अन्तःक्रिया का प्रभाव पैदा करती हैं,
- जिनमें चेतना और संवेदन के साफगो स्तर पर सामूहिक जीवन की क्रिया की गहराई और [illegible] हुए हैं,

- जिनमें एक मानवीय पकड़, राग की आत्मीयता के साथ, आई है—जीवन में, ऑबजेक्ट में इस आत्मीयता की खोज की गई है,
- जिनमें सामूहिक मन (Collective mind) के संवेगों और आकांक्षाओं, धारणाओं को आस्थावादी और अन्तःशक्ति देने वाले फलकों पर रखकर देखा गया है,
- जिनमें आशा और विश्वास के स्वर 'भविष्य' की 'संभावना' के संदर्भ में व्यक्त हुए हैं,
- जो कविताएँ अपना एक व्यक्तित्व छोड़ती हों—उनकी सम्पूर्ण अनुभव-प्रतिमा हमारे सामने खड़ी हो जाती हो—अनुभव के माध्यम से पाठक में 'विचार-प्रतीक' कौंध जाता हो,
- जिनमें रचना का कृति-सौन्दर्य हो—इसी सौन्दर्य से वह कविता महत्त्वपूर्ण बन गई हो—उसका क्रिएटिव व्हैल्यू साफ झलकता हो,
- जिनमें अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों की ईमानदारी हो—यह ईमानदारी हठात् नवीनता का आघात (Shock of novelty) देती हो—जिससे फॉर्म पर कवि का पूर्ण अधिकार व्यक्त होता हो :

इन सारे लक्षणों को एक ऐतिहासिक उदाहरण द्वारा हम देखें—कविता है, डॉ० नर्मदेश्वर प्रसाद की 'एक नया सिद्धान्त' जिसमें एक सूक्ष्म विचारात्मक पैटर्न के भीतर सौन्दर्य, मूल्य और नई सांस्कृतिक बिम्बरुचि की परस्पर-आबद्ध अवगतियाँ हैं। कविता ऐसे है—

नींद का घर
अनगिनत आवाजों के बाग में
चुप, गुमसुम, ऊँघता हुआ
ख्वाब देख रहा है

किसी अजाने भविष्य का
जब वायलिन के दरवाजे को
आहिस्ता से खोलकर
गृहलक्ष्मी सहसा हँस देगी

और तब
यहाँ और वहाँ—सारे में
एक नया सिद्धान्त जन्म ले लेगा

[अपरम्परा ३ : पृष्ठ १८८ : डॉ० नर्मदेश्वर प्रसाद]

ऊपर की कविता से उपरिलिखित कसौटियों के क्रम में दो और महत्त्वपूर्ण तथ्य जुड़ते हैं जो एकान्त रूप से इस विशेष कविता की देन माने जा सकते हैं। वैसे, अनुभूति और ओव्हरलैपिंग बिम्बों के बारीक रेशोंवाली इस कविता का ऐतिहासिक अध्ययन शेष है :

- ऐसी कविताएँ कवि को 'आउट-साइडर' नहीं मानतीं—उसे जीवन-प्रणाली (Life-Pattern) और सामाजिक क्रिया (Social action) का आवश्यक भोक्ता मानती हैं।
- ऐसी कविताएँ एक परमामेंट संस्कृति की अभिव्यक्ति हैं। वे किसी सांस्कृतिक संकट या chaos को अपनी दृष्टि का मूल्य-प्रतिमान नहीं मानतीं; बदलते हुए सामाजिक मूल्यों के साथ समायोजित रहती हैं।

× × ×

आज की हिन्दी कविता में कृति-कविताओं के निम्न कवि कुछ छुटे कवियों के साथ सहज गिनाये जा सकते हैं। ऐसे कवियों के दो वर्ग बनते हैं—एक मुक्त कवियों का दूसरा गीति-कवियों का। मुक्त कवि-वर्ग में अज्ञेय (केवल सामाजिक चेतना और यथार्थ वाली कविताएँ), नलिनविलोचन शर्मा, नर्मदेश्वर प्रसाद, केदारनाथ सिंह, शमशेर बहादुर सिंह, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर, श्रीकान्त वर्मा, ठाकुर प्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र, रघुवीर सहाय, गजानन माधव मुक्तिबोध, नरेश मेहता, भवानी प्रसाद मिश्र, वीरेन्द्र कुमार जैन, दुष्यंत कुमार (कुछ कविताएँ), रमेश कुन्तलमेघ, सुरेन्द्राचार्य, कुंवर नारायण, शुकदेव सिंह, शंभुनाथ सिंह, राजा दूबे, शरद देवड़ा, प्रभाशंकर मिश्र आदि मिलते हैं और गीति-वर्ग में वीरेन्द्र मिश्र, रामनरेश पाठक, महेन्द्र शंकर, रवीन्द्र भ्रमर, केदारनाथ सिंह,

केदारनाथ अग्रवाल, शंभुनाथ सिंह, मधुकर सिंह, चित्तरंजन सिंह आदि आते हैं। इधर के कुछ कवियों की अगली पंक्ति भी कृति-कवियों की है जो समयक्रम से साफ हो रहे हैं।

× × ×

कृति-कविताओं की संभावित दिशा की ओर कुछ स्थूल बातें बताई जा सकती हैं। अँगरेजी कविता की ओर मुड़ने पर कृति-कविताओं की स्थापना में टी० एस० इलियट नहीं, डब्ल्यू० बी० इट्स निकट हैं, जिन्होंने व्हॅइटलिज़्म को अनुभूति और क्रिया के सभी ज्ञात-अज्ञात स्तरों और अन्तःसम्बन्धों में पवित्र सत्ता दी है। मनोवैज्ञानिक अणुत्व (Psychological atomism) की जो धारणाएँ अस्तित्ववादी चिन्तन में आई हैं, उनके विपरीत कृतिवाद की परिभाषा और प्रक्रिया में 'गेसटाल्ट'-मनोविज्ञान के सिद्धान्त हैं जो मस्तिष्क और बाहरी दुनिया के सम्बन्ध को आदान-प्रदान (Transaction) द्वारा निश्चित करते हैं। इस प्रकार, आधुनिक समाजशास्त्र की दृष्टि कृतिवाद की मान्यताओं को गढ़ती है जो व्यक्ति से शुरू नहीं होती—हमेशा सामाजिक चेतना के केन्द्र में समूह या ग्रूप को देखती है। इस प्रकार, सामाजिक जीवन के सम्पर्क में डिसएसोशिएशन ऑफ सेन्सिबिलिटि का कोई क्रियात्मक अस्तित्व नहीं रह जाता—व्यक्ति की चेतना को हमेशा सामुदायिक जीवन, सामाजिक परिवर्त्तन की दिशाओं में 'निर्माण' या 'आन्तरिक उन्मेष' से जोड़ता है। थोड़ी देर के लिये समय और स्थान के प्रभावों से तीव्र परिवर्तन के कारण भले ही जीवन और मूल्यों की विसंगति और विघटन के आसार नजर आवें, सुनियंत्रित सामाजिक प्रक्रिया और घटनाएँ इन सारी परिस्थितियों को एक लीक पर समेट लेती हैं।

आगे बढ़ने पर निर्माण (स्थूल अर्थ में नहीं—'रचना' के कोमल संदर्भ में) के नये मिथों का ग्रहण कृति-कविताओं में कविता की पहली शर्त है। परम्परा और पुराण के वे सारे प्रतीक, जो हमारी संस्कृति को कभी अर्थ देते थे, मात्र कविता में अर्थ-ग्रहण के माध्यम बनें, यह कृति-कविताओं की प्रकृति के विरुद्ध है। ऐसी कविताओं में वे पूरी चेतना में अंग-रूप ढल कर आते हैं—पूरी भावना और संवेदन को सार्थक करते हैं, पूरे सामूहिक अवचेतन को अमित जीवन के साथ जोड़ने का काम करते हैं। इस प्रकार, कृति-कविताएँ अपनी सीमा में पूरे देश के मस्तिष्क (Mind of the nation) को बाँधती हैं—यह मस्तिष्क उस देश का निजी होता है, विदेशी या उधार लिया हुआ-सा नहीं। ऐसा करने से कृति-कविताओं में सहज ही जागरूकता (Awareness) के परिपक्व संकेत आ जाते हैं। यह जागरूकता कंक्रीट सोसॅल सिच्यूएशन्स को बौद्धिक सहानुभूति देने से आती है। उनमें कोई कवित्व-गर्व (Poetic pride) नहीं होता, जिससे अधिकांश 'नयी कविता' कही जाने वाली कविताएँ ग्रस्त हैं। उनमें दृष्टि (व्हिजन) को सहज प्रवाह में रखकर देख लेने से 'मूल्य-गति' को संस्कार मिल जाता है।

अंतिम विवेचन में कृति-कविताओं की चर्चा में वीरेन्द्रकुमार जैन का नव-सूर्योदयी घोषणा-पत्र अपना समीचीन महत्त्व रखता है। हिन्दी की पूरी काव्य-चिन्ता को बिल्कुल एक नया डाइमेनशन देने का यह पहला प्रयत्न है जो 'फ्यूचर पोएट्री' की दिशा को स्पष्ट करने की ओर जोरदार संकेत करता है। जीवन की मुक्त आस्थाशील संभावनाओं की खोज में एक विकासमान 'इनट्यूशन' का उद्रेक इस घोषणा-पत्र का प्रमुख विषय है जो नयी कविता की डिकेडेण्ट प्रवृत्तियों को रोकने और अनास्था, अनिश्चय से उत्पन्न हिन्दी के एक विशेष कवि-वर्ग की प्रतिक्रियाओं को साफ करने का कार्य करता है। ग्रहणशील 'आस्था' के मूल्य- —जो कृति-कविताओं के आधार हैं—उद्घोषणा का एक आन्दोलनात्मक प्रयत्न यह घोषणा-पत्र करता है, जिसका व्यापक अनुचिन्तन और समर्थन आज की अगली पंक्ति के उन कवियों और अध्येताओं द्वारा होना चाहिये जो वस्तुतः कविता की चिन्ता करते हैं और उसको कोई सुनियोजित दिशा देने के प्रयत्न में साथ हैं—'व्यक्तिगत प्रयत्न' से जनमी कविताओं के कुहरे से जो निकलना चाहते हैं। 'लघुमानववाद' के उत्तर में 'सामूहिक मन', जो प्रकृतितः आस्थाशील होता है, 'अहं' के और 'व्यक्तिवादी बौद्धिकता' के उत्तर में सह-अस्तित्व, साहचर्य और प्रेम पर

आधारित क्रियाशील मनश्चेतना और कॉसमिक जीवन्त बौद्धिकता का उन्मेष – कुछ ऐसे साफ आधार यह घोषणा-पत्र देता है जिसपर भविष्य की कविता और आज की कृति-कविता को बेस्ड होना है। और सब कुछ छोड़ दें—यह घोषणा-पत्र एक प्रकार के अस्तित्ववादी 'हॅकनीड' काव्य-चिन्तन के विपरीत सोचने का एक नया 'एनव्हेरॉनमेंट' देता है। अरविन्द के अतिमानसिक लोक सम्बन्धी विश्व-दर्शन की अन्तर्धारा इस समस्त घोषणा-पत्र में व्याप्त है। इस प्रकार, एक रचनात्मक जीवन-दर्शन को यह घोषणा-पत्र हमारे सामने रखता है। इस घोषणा-पत्र से मीनिंगस् अभी पैदा होंगे। इस घोषणा-पत्र के साथ हम कृतिवाद की नई संज्ञापूर्ण संभावनाओं की अभिलाषा रखते हैं। जीने की इच्छा, संघर्ष, निर्माण, शांति जैसे बड़े मूल्यों के वातावरण में हम कृति-कविताओं का स्वागत करते हैं।

[हनुमानटोला, धरहरा चौकी, आरा, बिहार]

कविता स्फीत तथा पूर्णतम आत्माओं के परिपूर्ण क्षणों का लेखा है।

—शेली

सुब्रह्मण्य भारती : कविता : राष्ट्रीयता

श्री महेशनारायण भारतीभक्त

उर्दू के शायर इकबाल की ये प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं—

जिस खेत से दहकाँ को मयस्सर नहीं रोटी।
उस खेत के हर खोश-ए-गंदुम को जला दो॥

जिन दिनों ये पंक्तियाँ लिखी गयी थीं, लगभग उसी समय दक्षिणापथ में एक कवि की ओजस्वी वाणी गूँज रही थी—

तनियोरुवनुक्कु उणविल्लेयेनिल
जगत्तिनै अऴित्तिडुवोम!

(यदि यहाँ एक भी भूखा रहे तो सारे जगत को ही नष्ट कर देंगे।)

यह एक तमिल-भाषी कवि की वाणी थी। उसका नाम अब हमारे लिए उतना अपरिचित नहीं रहा है—सुब्रह्मण्य भारती का नाम!

आधुनिक तमिल कविता को भारती की देन अपरिसीम है। ३८ वर्ष की ही आयु उन्होंने पायी थी, लेकिन उतनी ही अवधि में वे तमिल कविता पर छा गये। उसी तरह, जैसे रवीन्द्र बंगला कविता पर छा गये। रवीन्द्र के प्रभाव से मुक्त होने की कोशिश तो बँगला के कवि बराबर करते रहे, लेकिन तमिल के कवि आज भी भारती की परिधि में ही चक्कर काट रहे हैं।

हिन्दी के किसी कवि से भारती की तुलना करने की जब इच्छा होती है तो लगता है, यह बड़ा दुष्कर कार्य है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि तमिल में वे 'भारतेन्दु' की तरह आये 'दिनकर' बनकर चले गये।

भारतेन्दु ने हिन्दी गद्य का उद्धार किया, भारती ने तमिल पद्य का। भारती से पहले की तमिल कविता जनसाधारण की पहुँच से प्रायः बाहर रही। भाषा, छंद, शैली सब क्लासिक स्तर के हों तो ऐसा होगा ही। कवि और कविता को जनसाधारण पूज्य तो अवश्य मानता रहा, लेकिन उन्हें पूरी तरह समझकर ग्रहण करने में प्रायः असमर्थ रहा। संघमकालीन प्राचीनतम तमिल कविता की बात छोड़िये, भक्तिकालीन कविता का भी अधिकांश साधारण जनता के लिए सहज-ग्राह्य नहीं रहा। तुलसी की कम्बन से और कबीर की तिरुवल्लुवर से अक्सर लोग तुलना कर बैठते हैं, लेकिन कम्बन और तिरुवल्लुवर क्या जनकवि हैं? कबीर और तुलसी का जनमानस से सीधा सम्बन्ध रहा है, जबकि कम्बन और तिरुवल्लुवर के साहित्य का क्लासिक महत्त्व है।

सुब्रह्मण्य भारती ही ऐसे कवि हुए जिनकी कविताएँ तमिलनाडु की जनता का कंठहार बन सकीं। लोकरुचि के अनुरूप गेय छन्द और सरल भाषा उनके काव्य की विशेषताएँ हैं। उनकी लोकप्रियता को बल मिला राष्ट्रीयता के भावोन्मेष से। राष्ट्रीय कविताओं के कारण ही वे तमिल के युगप्रवर्त्तक कवि कहलाये।

कालक्रम के विचार से भारती का समय हिन्दी के 'भारत-भारती'-युग से पहले का है। सन् १९२१ में ही उनका देहान्त हो गया था। लेकिन यदि उनकी कविताओं पर गौर किया जाय तो लगेगा कि 'भारत-भारती' से काफी आगे की चीज वे तमिल को बहुत पहले ही दे गये। अतीत के गौरव-गान द्वारा जागरण का संदेश-मात्र ही उन्हें देना होता तो अपनी 'संगत्तनाडु' (हमारा देश) कविता में वे इस तरह नहीं कहते—

इन्नल् वन्दुद्रिडु पाददर कंजोम्
एळथराहि इनि परिणार तुंजोम्।
तन्नलम् पेणि इळि ताळिल पुरियोम्।
तायित्तरु नाडंनिल इनिवकैयै विरियोम्।

हिन्दी भावार्थ :—

विघ्नों का दल चढ़ आये तो उन्हें देख भयभीत न होंगे,
अब न कभी हम दीन-दलित हो हीन दशा में पड़े रहेंगे।
नीच स्वार्थ के सिद्धि-हेतु हम कभी न गर्हित कर्म करेंगे,
पुण्यभूमि यह भारतमाता, जग की अब हम भीख न लेंगे।

यह ललकार, यह हुंकार भारती की कविताओं में सर्वत्र दृष्टिगत होती है। और, इसी कारण मैंने यह कहने का साहस किया कि वे तमिल में 'भारतेन्दु' बनकर आये और 'दिनकर' बनकर चले गये।

भारती के खंडकाव्य 'पांचाली शपथम्' को छोड़कर उनकी समस्त कविताओं और गीतों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहले में उनकी राष्ट्रीय कविताओं को रखा जायगा। जिनका संग्रह 'देशिय गीतंगळ्' (राष्ट्रीय गीत) हुआ है। दूसरे भाग में उनके वे गीत आएँगे जो 'कण्णन् पाट्टु' (कृष्णगीत) और 'कुयिल पाट्टु' (लोकगीत) के रूप में प्रसिद्ध हैं। पराशक्ति, प्रकृति एवं तत्त्व-चिन्तन से सम्बन्धित रचनाओं को तीसरे भाग में रख सकते हैं।

सुब्रह्मण्य भारती की इन तीनों प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखने पर ही उनका सही मूल्यांकन संभव है। एक ओर राष्ट्रीय चेतना का उग्रतर स्वरूप, दूसरी ओर आध्यात्मिक चेतना का उभार—इन्हीं दो रेखाओं के बीच उनकी प्रतिभा की किरणें जगमगायी हैं।

यह सही है कि भारती का राष्ट्र-प्रेम सबसे ऊपर है; यह उनके अध्यात्म-प्रेम पर भी छाया हुआ है। 'पांचाली शपथम्' में उन्होंने दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' की तरह ही युगधर्म को निभाया है। इन सब पर एक ही जगह चर्चा करने से विस्तार का भय है, इसलिए यहाँ भारती की केवल कुछ राष्ट्रीय कविताओं को ही चर्चा का विषय बनाऊँगा।

भारती की राष्ट्रीय कविताओं में 'सुतन्दिरप् पळ्ळु' (स्वतंत्रता-गान) विशेष लोकप्रिय है। इसकी रचना स्वतन्त्रता-प्राप्ति (१५ अगस्त, १९४७) से लगभग तीस वर्ष पूर्व हुई थी। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद जिस आनन्द एवं उल्लास का अनुभव देश ने किया, उसकी कल्पना उन्होंने उसी समय कर डाली—

आडुवोमे—पल्लुप्पाडुवोमे !

आनन्द सुतन्दिरम अडैंतुविट्टोमेन्रु !

(स्वतंत्रता का आनन्दमय पर्व आया है, हम नाचेंगे और गायेंगे।)

इस गीत में क्या जादू है, इसका अनुभव वही कर सकता है जो इसका गान प्रत्यक्ष सुने। तमिल मूल न देकर उसकी कुछ पंक्तियों के अनुवाद मात्र ही यहाँ दे रहा हूँ :

> गोरे ही हों लाट हमारे
> वह युग तो अब बीत गया है।
> शोषक की हम करें गुलामी
> वह युग भी अब बीत गया है।
>
> ० ० ०
>
> खेती औ' उद्योग बढ़ा अब
> वंदन श्रम का सभी करेंगे,
> बैठे जो हैं मजा उड़ाते
> निंदा उनकी सभी करेंगे।
>
> ० ० ०
>
> ऊसर पर जल व्यर्थ छिड़ककर
> माथ नहीं धुन अब रोयेंगे,
> स्वार्थ-लोलुपों की खातिर हम
> निज श्रम-शक्ति नहीं खोयेंगे।

यह स्वतंत्रता-गान काफी लम्बा है। केवल स्वतंत्रता पाने के उल्लास का चित्रण इसमें नहीं हुआ है, बल्कि देश के नवनिर्माण के सपने भी सजाये गये हैं। संपूर्ण भारत की एकता और समन्वय की दृष्टि से उनकी कविता 'भारतदेशम्' संभवतः भारतीय साहित्य में अपने ढंग की अकेली है। उसकी कुछ पंक्तियों का भावार्थ है—

> विद्यालय को ही हम अब से
> देवालय के तुल्य करेंगे,
> भारत देश हमारा है यह
> जग को हम ललकार कहेंगे।
>
> ० ० ०
>
> बंग-भूमि की प्रलयवाहिनी
> नदियों का हम मुख मोड़ेंगे,
> मध्य देश कर सिंचित उनसे
> मरुथल को आबाद करेंगे।
>
> ० ० ०

आठ दिशाओं में जाकर हम
अपनी चीजें खुद बेचेंगे,
और वहाँ से मनचाही सब
चीजें ले-ले कर लौटेंगे।

० ० ०

स्निग्ध ज्योत्स्नामयी रात में
सिंधु नदी के तीर चलेंगे;
केरल की नव सुन्दरियों के
संग-संग मन-मोद करेंगे;
गान करेंगे मधुर स्वरों में
तेलुगु के मधुमय गीतों का
औ' नौका खे-खे कर हम सब
हर्षित वहाँ विहार करेंगे।

० ० ०

पुष्ट स्वच्छ गेहूँ के दाने
गंगा के तट से हम लेंगे,
और सुगंधित पान वहाँ पर
कावेरी-तट से भेजेंगे !...

भारती की 'भारतदेशम्' कविता उनके 'स्वतंत्रता-गान' से भी बड़ी है। युगद्रष्टा कवि ने बंगाल की नदियों से मध्यप्रदेश की सूखी धरती को सिंचित करने की कल्पना उस समय की जब पंचवर्षीय योजनाओं की कोई स्पष्ट रूपरेखा देश के सामने नहीं थी। देश आत्म-निर्भर बने, ज्ञान-विज्ञान में किसी से पीछे न रहे—यही कवि का स्वप्न था। स्वयं तमिलभाषी होते हुए भी तेलुगु के गीतों को वह 'मधुमय' कहता है। छोटी-छोटी कीलों से लेकर बड़े-बड़े पोतों का निर्माण हम खुद करें, चन्द्र-लोक जाकर उसका सारा रहस्य हम जान लें, विद्यालयों को ही हम देवालयों का गौरव दें, दुर्जन और सज्जन को छोड़कर हम मनुष्य की और कोई जाति न मानें—आदि ऐसी कल्पनाएँ हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि भारती की राष्ट्रीयता पूर्णविकसित एवं व्यापक थी।

आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि जिस तमिलनाडु ने देश को राष्ट्रीय एकता का ऐसा अमर पुजारी दिया, वहीं से देश की अखंडता को चुनौती भी इधर मिलने लगी है। अलग द्रविड प्रांत की माँग करने वाले, कवि को अपना कवि नहीं मानते, ऐसा भी नहीं है। भावनात्मक एकता पर आये दिनों चर्चाएँ हो रही हैं, सम्मेलन-पर-सम्मेलन हो रहे हैं। मेरी धारणा है कि यदि भारती की राष्ट्रीय कविताओं को ही कुछ समय के लिए देशव्यापी चर्चा का विषय बनाया जाए तो भावनात्मक एकता की अवरोधक शक्तियाँ अपने-आप ढीली पड़ जाएँगी।

मुझे ऐसा लगता है कि पूर्वी देशों में सारे प्राचीन कलारूप त्यागे जा रहे हैं और एक ऐसी घातक आधुनिकता अपनायी जा रही है जिसका अतीत से कोई संबंध नहीं है, जैसा कि यूरोप में भी भविष्यवाद के आन्दोलनों के नाम पर किया गया था।

—स्टीफेन स्पैण्डर

चौदह पढ़ी पद्य-पुस्तकें

श्री रामप्रिय मिश्र 'लालधुआँ'

संस्कृत काव्य से अनुवाद करते समय यह कोई आवश्यक नहीं समझना होगा कि वह पद्य में ही हो। पद्य में अनुवाद होने पर वहाँ के भाषा-समास को हिन्दी के भाषा-व्यास में रखने की कठिनाई और श्लेष का हितार्थ लाना, हिन्दी को टुका-टुकाया ठेठ नहीं रहने देगा। इस ठेठपन के लिए गद्य को ही लय-ताल के साथ—जो चूर्णक नहीं, निरन्तरश्लेषघन भी नहीं, आविद्ध में विंधा हो—लिया जा सकता है। 'गीता : हिन्दीपद्यानुवाद' (अनुवादक : रामकृष्ण भारती । प्रकाशक : मुनि प्रकाशन, ११२७७ डोरीवालाँ, कौरोलबाग, दिल्ली ५। मूल्य : १.०० । पाकेट-बुक-प्रणाली) 'पद्यानुवाद' के नाते ही, ऐसा गच्चा खा गया है। उपर्युक्त कारण कि संस्कृत के शब्दों के श्लिष्ट-संश्लिष्ट और लक्षणान्वयी भावों को विस्तार-सुतार देना अनुवाद के पद्यों के चरणों से चौड़ी बात है। एक उदाहरण : पुस्तक के 'परिचायिका-' लेखक ने "सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ, ततो युद्धाय युज्यस्व नैनं पापमवाप्स्यसि" (२-३८) को आविद्ध-शैली के गद्य में जबकि सुचारु अर्थ दिया कि "सुख-दुःख, नफा-नुकसान, जय-पराजय को समान मानकर फिर तू युद्ध कर। ऐसा करने से तुझे (कोई भी) पाप नहीं लगेगा" तो वहीं पद्यानुवादक ने पद्य की तंगी से तंग और मात्रा-यति-दग्ध यह अनगढ़ अनुवाद दे मारा है—"सुख हो, दुख हो, हानि-लाभ हो, जय हो, होवे हार अगर। इन सबको तुम जानो सम ही, युद्ध करो, नहिं पाप गहो।" यहाँ 'कृत्वा' का 'होवे अगर' और 'पापमवाप्स्यसि' का 'पाप गहो' कैसा भद्दा लकारदोष है, यह कहना न होगा। यहाँ का 'नहिं', 'और वचन फिर ये बोला' (१-३), 'अर्जुन, तुझे विषम इस स्थल में कैसा हुआ व्यास अज्ञान' (२-२) आदि भाषादग्धता के भी स्मरणीय उदाहरण हैं। इन उदाहरणों से पता लगेगा कि (१) अनुवादक को हिन्दी कारक-परसर्गों के प्रति अज्ञान है, (२) 'वचन फिर ये', 'विषम इस स्थल' जैसे प्रयोगों के मामले में छन्द की भाषापत्ति उसे नहीं आती है, (३) 'नहिं', 'मम', 'तव' जैसे लगातार आने वाले शब्दों के नाते वह हिन्दी भाषा का बचकाना व्यक्तित्व है।

उपर्युक्त पद्यानुवाद के विपरीत, 'मेघदूत' (अनुवादक : डॉ० भगवतशरण उपाध्याय । प्रकाशक : हिन्द पाकेट बुक्स । मूल्य: १.००) इसलिए अत्यन्त उत्तम जा कहा सकता है कि वह आविद्ध-पद्धति के गद्य में कल्पित है; तुकान्तों में तंग नहीं। इसके इस शैली के और भी अनुवाद पहले हो चुके हैं, जैसे नागार्जुन का; मगर वह चूर्णक गद्य से अलंकृत अतः कविता का उतार जैसा है, जबकि यह भावों का उद्वाह। इसके कई टुकड़े गद्य की सुचारुता और भावोद्वहन के उदाहरणस्वरूप रखे जा सकते हैं—

[कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे।
—३ पूर्व०]

तो फिर गलबहियाँ डालने के लिए आतुर
उन विरहियों के क्या कहने,
जो अपनी प्रियाओं से दूर हों !

× × ×

[तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहम्।
—६ पूर्व०]

इसी से दुर्भाग्य का मारा,
प्रिया से बिछुड़ा,
मैं तुम्हारे पास याचक बनकर आया भी हूँ।

यहाँ ऊपर के पद में 'कण्ठाश्लेषप्रणयिनि···किं पुनः' का 'गलबहियाँ डालने के लिए आतुर···क्या कहने' जैसे अनुवाद का सचमुच क्या कहना ! वैसे ही, दूसरे पद में 'विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहम्' का 'दुर्भाग्य का मारा, प्रिया से बिछुड़ा' में मुहावरेदारी ने जैसे सचमुच ही मूल के मुँह की बात छीन ली हो। मेघ ही खुद आ गया है मौके से उस गरीब के समक्ष, मगर जैसे प्यासा ही टटोल कर कुएँ तक आया हो, अनुवाद में मूल से बढ़कर यह आतुरता ('कमात्तः' के नाते भी हो) बड़े मजे में यों

ला दी गई है—"(इसी नाते) मैं तुम्हारे पास याचक बनकर आया भी हूँ।" फिर देखा जाय—

[...इति भ्रूविलासानभिज्ञैः प्रीतिस्निग्धैर्जनपद-वधूलोचनैः पीयमानः।—१६ पूर्व०]

ऐसा जानकर गाँवों की बहुएँ,
भौंहों के खेल में कोरे
पर प्यार से भीगे अपने लोचनों से तुम्हें पी लेंगी।

यहाँ 'अनभिज्ञ' का 'कोरे', 'विलास' का 'खेल', 'प्रीतिस्निग्धैः' का 'प्यार से भीगे' हिन्दी अनुवाद की बड़ी सफल पर्याप्तता है, और इसी पर्याप्तता से स्वरसित है सारे-का-सारा अनुवाद-शिल्प।

× × ×

उर्दू और हिन्दी दो भाषा और दो लिपि तो यों ही हैं, बाकी शब्दों के पीछे-पलटू आग्रह का पिंड छोड़कर चलते ढंग पर सोचा जाय तो उर्दू कविता उसी ढंग की है। 'अलिफ़' के बजाय 'अ' की आत्मा में आने पर 'मीर' से 'साहिर' तक चलती हिन्दी वालों के वैसे प्यारे हो भी चुके और होते ही रहते हैं। हाँ, इकबाल, कुछ, शब्दों में पीछे-पलटू आग्रहवाले होने के कारण, कड़े-ऐंठे मानकर हिन्दी वालों के लिए चलन्त चीज उतने नहीं हुए। 'इकबाल की शायरी' (संपादक : हीरालाल चोपड़ा। प्रचारक पाकेट बुक्स सं० १६। दाम १.००) जैसी चीज एक नाते इसलिए भी हिन्दी में श्लाघ्य है कि उर्दू के पीछे-पलटू चरित्र के शब्दों पर नम्बर देकर इनमें फ़ुटनोट में अर्थ समझा दिया जाता है। और तब, योग्यता चाहने वाले पाठकों को फायदा यह होता है कि वे लगातार फ़ुटनोटों के सहारे शब्दों का उत्तरोत्तर प्रयोगार्थ समझकर अपनी लिपि में ऐसी आक्रान्त उर्दू को भी समझ-लिख सकने लायक हो पाते हैं।

'इकबाल की शायरी' में कई साहित्यिक सिफ्त है। 'खुदी को कर बुलंद...' वाले ही पद में एक सिफ्त यह है कि कविता भी गद्य की तरह सतरी लिखी जा सकती है, क्योंकि यहाँ 'कि हर' और 'पहले' जैसे, लाइन या उप-वाक्य जोड़ने वाले, कविता को अविराम सीधा किये रहते हैं। 'सच कह दूँ ऐ बरहमन...' वाला पूरा अगला पद भी इसी सिफ्त का है। और तब, नाटकीयता, जो उर्दू-कविता में खूब होती है, इस विचार-बयानी के ढंग से मारी जाती है। यह विचार-बयानी इकबाल की दार्शनिकता का प्रतिरूप भी है। 'ज़रीफ़ाना' उनके समय तक विकसित वही 'हास्य-रस' है, जिसमें पर्दे के हामी शेख, पर्दा-छोड़ू कालेजी लड़कियाँ, इम्पीरियल कौंसिल की मेम्बरी तक सारी बात होकर रह जाती थी।

× × ×

व्यंग्य तो आगे चलकर हो सकने वाली चीज़ है, मगर हर के फिलहाल का रस हास्य हमारी हिन्दी में काफी अनोना है। उर्दू गद्य में वह काफी है, मगर कविता में उतना ही कम। हिन्दी में तो दोनों में ही काफी कम। कविता विचार की तंग मुद्रा या पीड़ा (अपने-पराये की, प्रेम और पेट की) का जैसे प्रतीक हो। रस-परिपाक के नाते, खालिस भड़ैंती कोई बिदकने की चीज साहित्य-शपथ में नहीं है, बल्कि कुछ सही है। यह कानून तथा अपने यहाँ की सभ्यता (?) की चढ़ी हुई नाक-भौं की ही बात है कि उसकी बदौलत हास्य के हर परिपाक से बचने की लाचारी ढोई जाती है (शृंगार की भी, पोस्टर-फाड़ू आदि आन्दोलनों के कारण) और तब व्यक्ति के प्रेषण को बच जाती हैं सिर्फ कुछ कनबुची बातें। "कौवारोर" (कवि : कौतुक बनारसी। प्रकाशक : बनारस प्रेस सिंडिकेट। मूल्य : २.००) और "दुलत्ती" (कवि : काका हाथरसी। प्रकाशक : संगीत कार्यालय, हाथरस। मूल्य : २.००) इसी लाचारी के नाते हास्य के हरावल न होकर हरावट-से हैं। ये दोनों कवि इस लाचारी में तो हैं ही, और भी एक मामले में समरस हैं। हास्य के लिए चुटकुले की तरह उचित और सही मार और बचाव का, मारा और खिसका जैसा, मार्ग छोटे-मोटे मुक्तकों का ही है। मगर ये दोनों समान भाव से सारी बात खतम करने के फेर में कविता को पृष्ठ-दर-पृष्ठ तानते जाते हैं। बहुत मोटी बातें दोनों में बहुतेरी हैं : "चचाजी अब बचा जनने जचाखाने जायेंगे" (दुलत्ती : क्रान्ति का बिगुल) और "बीबी-बच्चे वजन बढ़ाते, फटा जा रहा कन्धा" (कौवारोर : कुण्डलिया)। इसमें कौवारोर में कुछ छोटे-छोटे सुगठित पद भी हैं, क्योंकि काफी से ज्यादा 'अखबार' पर जोर है। 'दुलत्ती' में

ब्रजभाषा के अच्छे परिमार्जन हैं, यथा—"फक्क-फक्क गाड़ी चलै, धक्क-धक्क जिय होय; एक पन्हैया रहि गई, एक गई कहुँ खोय।" दोनों में ही चित्र चमत्कारपूर्ण हैं और काफी हैं, मगर कौवारोर का ग्राउंड-चित्र हास्य के नाते वेरस है, क्योंकि वह सोवर छपा है।

× × ×

कविता के ढंग के कथोपकथनों को लेकर नाटक लिखना शिल्पी के लिए काफी चुस्ती-मस्ती का काम है। पात्र के अनुरूप भाषा का निवाह ऐसे कारुकार्य में और कठिन हो उठता है; कारण, कहीं वहाँ शिल्पी पर तदनुकूल नाट्यवस्तु को ठेलकर उसका कवि सवार न हो जाय। जो व्यक्ति आद्यन्त ओजस्वी और साथ ही भावुक अन्तर्मुखी भी उतना ही रहा हो, उसे मुख्य पात्र रखकर, बहुभाव-बहुपात्र के परिवेश में उजागर करना बड़ा काम है। "नीलकंठ निराला" में (लेखक : रामेश्वर सिंह काश्यप। प्रकाशक : राष्ट्रीय प्रकाशन मंडल, पटना-४। मूल्य : २·००) हजारी दादा, जो निराला के शुरू के लड़ंतिया साथी हैं, किराना-दूकानदार श्यामलाल से, जो निराला से मिलने आया है, पूछते हैं—"क्यों भैया, तुम भी लिक्खाड़ हो? कवित-उवित लिखते हो? उसके दोस्त ···कड़ियल कलमबाज हुआ करते हैं।" इसके बाद इतने का ही उत्तर न देकर अपनी सारी इहलीला एक साँस में श्यामलाल कह जाता है, और हजारी चुप सुनते रहते हैं। हजारी का वह चुस्त प्रश्न इस लम्बे और अधिक उत्तर को सुनने के लिए इतनी देर सुस्त हुआ। फिर हजारी द्वारा की गई निराला की लंबी प्रशंसा के बाद श्यामलाल का कहना—"वाह, बड़ी खुशी हुई मिलकरके आप से···" कुछ तपाक की वैसी बात हुई, जैसे साहबों में होती है। वैसे ही, उन दोनों के बीच आगन्तुक साहित्य-प्रेमी का आते ही उन अपरिचितों से परिचय जैसा स्वभाव न पूछकर—खासकर तब, जबकि वह वहाँ 'जो-कुछ भी सुनता' है, उन्हें, 'लिपिबद्ध' करने के लिए 'नित्य आकर बैठता' है—"महोदयो, क्षमा करें, क्या मैं पूछ सकता हूँ—महाकवि कहाँ हैं अभी?" पूछना तो उरले का परले ढंग जैसा अस्वभाव ही होता है। हजारी या श्यामलाल जैसों के निहित ढंग के कथोपकथनों को तुरुप-काट चलना चाहिए। वह तुरुप-काट मिस्टर लाल, उत्तरा और निराला के कथोपकथनों में ठीक है, जहाँ "निराला—तुम्हें मेरा चरण नहीं छूना था।" "उत्तरा—आप आदरणीय हैं···ब्राह्मण हैं।" "निराला—मैं हूँ अँग्रेजी का ज्ञाता, उसमें तो ब्राह्मण होता नहीं, ब्रहमिन हुआ करता है···नाम क्या तुम्हारा है?" "उत्तरा—जी मैं हूँ उत्तरा।" "निराला—और ये तुम्हारे अभिमन्यु हैं?" आदि बात चलती है। नाटक का अंत भी स्वप्नलय जैसा है। अतः आदि-अन्त से अधिक इस नाटक का बीच वाला भाग कौशलपूर्ण है। शुरू से ही विष्कम्भक जैसे झटकों पर न चलने से यह ढिलाई हुआ करती भी है।

× × ×

एक लटके जैसे लय से पद सान्त करना भारतेन्दु से चलकर हिन्दी में कम ही हुआ है। उस लटके को भी पद का पदार्थ कर लेना तो सचमुच चमत्कार है। "बैठो मेरे पास" (कवि : केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'। प्रकाशक : राष्ट्रीय प्रकाशन मंडल, पटना-४। मूल्य : ३·००) उसी संगति से समोयी संगीति-चतुष्पदियों का संकलन है। उमरखैयामी रुबाइयों में जिस तरह की उनींदी है, यहाँ भी कुछ वैसे का प्रयास है—

नागपाश की प्रवंचना में
ज्योति जा रही बाँधी
बैठो मेरे पास, तिमिर का
अवगुंठन हिलता है।

× ×

इति की आँखों के आँसू
अथ के मोती बनते हैं
बैठो मेरे पास, भोर का
तारा गीत बनेगा।

× ×

बैठो मेरे पास, अमृत को
मन की ऋचा बनाओ।

× ×

बैठो मेरे पास, यहाँ
हर आँसू गंगाजल है।

यह बानीपना इन मुक्तकों में हर ओर है। हाँ, जहाँ-तहाँ खिन्नी भी आई है, और तब 'बैठो मेरे पास' की बात किसी बहाने की बात भी हो गई है।

× × ×

कविता में पुराना जो हुआ वह शास्त्रानुषंगी और रीति हुआ, क्योंकि बाद वाले समीक्षक या साहित्य-प्रणाली के अन्वेषक उसे प्रकरणबद्ध कर सोचने-समझने का व्याकरण-निराकरण निकालते हैं, और जो नया हुआ वह पुराने के वैसे व्याकरण-निराकरण से इन्कार करने का दावा रखते हुए अपनी परपसा या घोषणा या प्रकृतिवाचन का फैला-सिकुड़ा हुआ तंत्र उपस्थित करता ही है। यह तंत्र शब्दों के मामले में तबतक के लिए सर्वनाम जैसा इसलिए रहता है कि उनका जबतक नहीं बन पाया रहता है। इस प्रकार के नये-पुराने के बीच भी कुछ काव्य लिखे जाते हैं; उनके साथ लिखने की लाचारी कवियश जैसी भारी नहीं ही होती है, क्योंकि वे किसी शैली का शिक्षण और तदनुसार प्रेषण, वस्तु और शिल्प और भाषा तक में, बेजाने ही, उम्र के उकसते लय पर कुछ कहने की उतावली के वैसे ही मजबूर होते हैं जैसे कि कवियशःप्रास-वर्ग अपने लगभग प्रारंभ में। यशः-प्रार्थना जैसी आजमाइश तो इस प्रारंभ के बाद का स्टेज है, जो सहारे या अभ्यास या जिद के कारण तबतक मंचस्थ रहता है। मगर, कविता जिस तेजी से टोन बदलती है, वह संगीत-चित्र आदि के व्यक्तिनिजस्व से भी बढ़ी हुई जल्दी का इतिहास है। इस इतिहास का जो पूर्वापर है, उसकी परंपरा तो होगी ही और अतः रीति भी। मगर, इस पूर्वापर को न समझने वालों के लय की भी स्थिति है। उसी स्थिति के कुछ कविता-संकलन हैं: "पर गूँज रह जाती है" (कवि : नन्दकिशोर। प्रकाशक : अरुण प्रकाशन, भागलपुर—१। मूल्य : २·२५), "पथ के गीत" (कवि : मुनिश्री मोहनलालजी शार्दूल। प्रकाशक : आत्माराम एंड संस, दिल्ली। मूल्य : २·५०), "एक डाल : तीन फूल" (कवि : त्रिलोकीनाथ व्रजबाल। प्रकाशक : हिन्दी प्रचार सभा, मथुरा। मूल्य : २·००), "मीत मेरे : गीत तेरे" (कवि-प्रकाशक वही। मूल्य : १·००) "गीत मैं कैसे लिखूँ" (कवि : जगदीश शर्मा। प्रकाशक : किताब महल। मूल्य २·५०) "सुधियों की पायल" (कवि : प्रमोदकुमार भदानी। प्रकाशक : आदित्य प्रकाशन, गया। मूल्य : २·७५) आदि। इनमें कवि नन्दकिशोर की किताब के स्वर जाने हुए गद्यगीत के ढंग के हैं, बाकी गीत के। नन्दकिशोर के स्वर हैं : "भाई ने कहा—क्या मैं बुद्धू हूँ··? सत्य ने उत्तर दिया—नहीं, तुम बुद्धू नहीं, बुद्ध हो; लघु नहीं महान्।" या "सपूत ने गंगाजली हाथ में उठाकर, माँ से खुलकर कह दिया है : देख माँ, कमान-सी पतली इन अँगुलियों ने गोवर्द्धन उठाने का अभ्यास बना लिया है।··तूफानी तोप को इस्पाती वक्ष से टकरा कर मुड़ जाना होगा।" इत्यादि-इत्यादि। इस्पाती वक्ष से टकराकर मुड़ जाने वाली इस अप्राप्य तूफानी तोप की बात कहनेवाले इन कवि का परिचय है : 'गौर वर्ण' 'कुंचित कुंतल कलाप' 'व्यवसाय से अध्यापक'। मगर इनकी समस्त संकलित विचित्रोक्तियों का 'अध्यापन' इनके ही लिए अनर्गल न हो उठे, तभी तो कविता-पाठकों के पाँच पंच समझें।

व्रजबाल का 'मीत मेरे : गीत तेरे' "पूजनीय (?) माताजी एवं पिताजी" के नाम समर्पित है और 'एक डाल : तीन फूल' "प्रभुपदानुरागिनी बालतपस्विनी शुद्ध-हृदया अपनी छोटी बहिन को" तथा कवि के समर्थन में पद्मसिंह शर्मा कमलेश का कथन है : "प्रकाशन के बल पर प्रयोगवाद ने जो खलबली मचाई है उससे अच्छे-अच्छे कवियों को भयभीत होना पड़ा है" और इस 'अच्छे-अच्छे' के नमूने में कमलेशजी ने कवि की ये पंक्तियाँ उद्धृत की हैं : "सुन्दर प्रतिमा तब बनती है, जब पत्थर चोटें सहता है।" पता नहीं, इस बनाने वाले के करिश्मे को पत्थर का करिश्मा सिद्ध करने जैसी भजनोपदेशकता से नयी कविता को क्या लेना-देना है कि कमलेशजी इसकी पैरवी और 'नयी कविता' की हतक बोल गए। यों, कवि को ही देखा जाय : "यह पूर्णचन्द्र की मधुर हँसन (?) है कितने दिन?" (मीत मेरे), "रत्न श्वासा (?) दीप्त आशा" (मीत मेरे), "मेरा मन-व्यवहार अलग है" (एक डाल), "नौका को माँझी के बतौर" और "चहुँ ओर तिमिर घिरता आता"।

इन शब्ददग्ध उदाहरणों की, इन दोनों पुस्तकों में काफी भरमार मिलेगी। हाँ, "मन-दर्पण में लखा एक मुख" (मीत मेरे) और "सजल तरी, सहज तिरे, नील-राशि अंग भरे" (एक डाल) जैसे सिद्ध पद भी कहीं-कहीं निकल आए हैं। मगर, वहाँ भी बाकी सारी कविता इन्हें अपने में नहीं समो सकने के दुर्गुण से दग्ध है। 'एक डाल' वाले संकलन में अधिकतर ललकार और 'मीत मेरे' में अधिकतर 'प्रिय' को वही क्लीव संबोधन-सा है।

जब जब भी साथी! दोनों
रगड़ी हथेलियाँ जातीं।
बोलो, उभर-उभर कर उष्मा
क्या कभी एक में आती?
फल मिलता दोनों को ही जो होता है घर्षण में।

× × ×

अगर किसी ने उन्नति की तो
हर आँखों में खार बहुत है।
यह संसार असार बहुत है।

× × ×

आँख झपकी, हृदय धड़का, खा गया सिर चक्र
लड़खड़ाए पैर तब ही लगे पड़ने बक्र।
भीति उभरी स्पष्ट मुख पर बड़बड़ाए ओठ।

× × ×

फिर भी तेरे लघुकणरे को मैं कब क्षण भर भी आराध सका।

× × ×

भुजा-युगल का जोर लगाकर तन्मयता से दही मथा जब।
आँख खोल कर पूर्ण गौर से······

उपर्युक्त 'पथ के गीत' की कविता-पंक्तियों में उखड़े-रुखड़े शब्दों का ताँता तो है ही; 'दोनों को घर्षण में फल मिलने' जैसी और 'भुजा-युगल का जोर लगाकर तन्मयता से दही मथने' जैसी 'प्रससार शनैर्वायु' वाली बेहूदी महक, 'पूर्ण गौर' किया जाय तो, बहुत मिलेगी। तिसपर 'तेरापंथ के प्रथम श्रेणी के' इन 'कवि' को 'दिनकर' ने 'चिन्तक कवि' और 'बचन' ने क्या-कुछ और 'पन्त' ने 'रत्नों का गठर' कह ही दिया है।

×

'आज के युग में जब कविता-स्तर कहाँ-से-कहाँ पहुँच गया है' तो वह स्तर फिर 'पुराने गीतकार' (जगदीश शर्मा!) के लिए 'अथवा फैशन' कैसे हुआ? और, जब उन जैसे 'पुराने गीतकार' आज के युग के 'कविता-स्तर' (बकौल उनकी हरगंगा के 'अथवा फैशन') को 'देखते हुए पथ छोड़' देना भला मानते हैं, तो फिर उनके इस संकलन में--'एक वर्ष में ही प्रथम संस्करण, नई कविता के युग में समाप्त हो गया' अर्थात् कविता-स्तर, युग और इस संस्करण की खपत और साथ ही पुराने गीतकार के अपना पथ छोड़ने में—क्या आपकी ऐतिहासिक तर्क का तुक है? इस 'गीत मैं कैसे लिखूँ' के कुछ पद हैं:

तार तुम्हारा पाकर मुझको
स्वर-लहरी का ध्यान हो गया।

अर्थात्, सारा यंत्र नहीं, केवल तार; और उसी पर ही 'ध्यान हो गया'!

सघन-घन-घूँघट हटा
कर दो झलाझल हिम-हिमाञ्चल।

अर्थात्, सघन के बाद फिर घन जैसा अपकर्ष, और इस घन के पीछे हिम और उसके बाद फिर हिम, और उसके बाद हटने वाले घूँघट के नीचे अञ्चल! वाकई, यह सब 'झलाझल' ही है!

अब तो लोगी प्रेम-परीक्षा;
जीवन का जब अन्त निकट है,
देखो नहीं तमाशा।

अर्थात्, नायक का वैसा बुरा स्खलन और नायिका का फिर भी नायक को प्रेम-परीक्षा के आड़े लेना—सचमुच 'तमाशा' देखने जैसी चीज हुई!

× × ×

भदानी का 'सुधियों की पायल' 'सुधियों' तक की ही वस्तु है, अतः, शिल्प जो स्थिति तक संप्रेष्य होता है, डाल से चूका बन्दर तब हो ही जाता है। पद्य दिवंगता प्रिया को सभी ओर सम्बोधित भर ही करते हैं। वर्तमान के सम्प्रेषण तक लाने का जो शिल्प होता, वह हिन्दी में 'मुरझाया-सा' मालूम लगता है। तब, ऐसी रचना में

जो 'हाय-हाय' भर हुआ करती है, वही है। थोड़ी-सी दूसरी कविताएँ भी हैं।

झरे साध के पात सभी
यह कैसी आँधी आई!

× × ×

सुमन कामना के सारे
क्यों सहसा मरोड़ गयी!

× × ×

माँग-पुँछी-दुलहन-सा क्यों
दे दिया निठुर क्रंदन तुमने?

× × ×

हृदय गा रहा नज्म यादों का हरदम
यों चिथड़े हृदय के सिये जा रहा हूँ!

ये अच्छे-बुरे पद प्रिया की याद वाली पहली कोटि के उदाहरण हैं। उलझन, कौन चला आ रहा है, दीपक बलता आया मैं—आदि दूसरे प्रकरण के उदाहरण हैं। तुक-ताल और यति में यह सब बतियाया गया भर है।

× × ×

एक कुमारोपयोगी वीरखण्डकाव्य है : 'हमीर राव' (कवि : स्वर्णसहोदर। प्रकाशक : किताब महल। मूल्य : १·५०)। हमीर की अपनी ठनावट, जो तब के हर राजपूत सामन्त में चलती थी, प्रसिद्ध तो है ही; मगर इसमें शत्रु के अपराधी को शरण देने की वत्सलता का वही बयान भर है जिसके चलते शरणदाता, शत्रु से युद्ध लेकर और अपने भेदियों से टूटकर, ससैन्य-सजौहर समाप्त होता है, मगर शरणागतवत्सलता से नहीं चूकता। ऐसी कहानी उस काल की और भी है; जिसे इस खंडकाव्य के पात्रों का नाम बदल कर इसी प्रकरण में ज्यों-का-त्यों कहा जा सकता है। वीरता या ओज के प्रधान काव्यों में नाटकीयता; क्षेत्रीय जातिसंस्कार, भूतल-भूगोल-वर्णन, प्रादेशिक युद्ध-चित्रण आदि के द्वारा; लायी जा सकती है। मगर, इसके लिए उस क्षेत्र और जाति के तमाम सांस्कृतिक इतिहास में पैठकर अध्ययन लेना होता है। हिन्दी में इधर के ऐसे ऐतिहासिक खंडादि काव्य इन विवरण-विशेषों की नवीनता के नहीं हैं, और उनके कवि वह अध्ययन-प्रवेश बिना किये ही ऐसा-वैसा लिख मारने की लाचारी उछाला करते हैं। 'छान की घाटी' में जिस विशेष प्रकार का 'रण' ठन सकता है, उस घाटी और उसके उपयुक्त रण का वर्णन जरूरी था, जबकि अधिकतर जरूरी यह समझा गया कि राजपूत और राजपूतानी, आन की महत्ता के आगे प्राण की तुच्छता का लम्बा-चौड़ा रटा-पिटा-सा कथोपकथन पृष्ठ-दर-पृष्ठ भाँजते जायें। 'छान' की घाटी के पाँच वर्ष के रण का वर्णन, यही कारण है कि, पाँच पंक्ति का भी नहीं हो सका। यों, एक अच्छी हिन्दी की कुमारोपयोगी जानकारी इससे हो सकती है, मगर वहाँ 'स्वखंग', 'रिप्वागम' 'पतिंगों की नाई' जैसे शब्द, शब्दालंकार के सिलसिले में न आए हों तो, बदल देने चाहिएँ।

◉

गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते नरः। किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु
अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः। वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्

—आचार्य दण्डी

शास्त्र न जानने वाला गुण-दोषों का भेद कैसे करेगा? रूप-भेद पहचानने का अन्धे को क्या अधिकार? इसीसे तो जिज्ञासुओं की व्युत्पत्ति के लिए विविधमार्गी वाणी का शास्त्र उसके ज्ञानियों ने बनाया है।

विश्वविद्यालयों के पाठ्य-ग्रन्थ

●●

राँची विश्वविद्यालय स्नातक-कक्षा के लिये स्वीकृत

काव्य में अभिव्यंजनावाद

काव्यगत अभिव्यंजनाओं के अद्यतन सिद्धान्तों का सुसम्बद्ध समीक्षण

लेखक : श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु — मूल्य : ५·००

●●

पटना विश्वविद्यालय स्नातक-(प्रतिष्ठा) कक्षा के लिये स्वीकृत

विश्वराजनीति-पर्यवेक्षण

विश्वराजनीति-विषय पर मननीय समीक्षण वाले निबन्धों का संग्रह

लेखक : डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा — मूल्य : ५·५०

●●

पटना विश्वविद्यालय स्नातक (प्रतिष्ठा) के लिये स्वीकृत

आधुनिक भाषाविज्ञान

भाषाविज्ञान के अद्यतन सिद्धान्तों एवं प्रतिपादनों पर शास्त्रीय समीक्षण

लेखक : प्रो० पद्मनारायण — मूल्य : ३·००

●●

भागलपुर विश्वविद्यालय स्नातक-कक्षा के लिये स्वीकृत

संचयन

हिन्दी गद्य की विकासपरम्परा की श्रेण्य रचनाओं का सुसंपादित संचयन

सम्पादक : प्रिंसिपल कपिल — मूल्य : ३·००

●●

राँची विश्वविद्यालय के प्राग्विश्वविद्यालय एवं स्नातक-कक्षा के लिये

रचना-कला

हिन्दी भाषा-शैली का शिक्षण देनेवाली समर्थ पुस्तक

लेखक : श्री सुरेश्वर पाठक विद्यालंकार — मूल्य : ३·००

●●

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना–४

कविता में मुद्रणगत प्रयोग

श्री सूर्यदेव शास्त्री

आलेखन और मुद्रण का प्रारम्भ मानव-सभ्यता के प्रथम चरण के बहुत बाद हुआ। ऐसी अवस्था में कविता को पाठ्य न मान कर श्रव्य मानना स्वाभाविक ही था। कविता श्रव्य थी, अतः उसके श्रवणीय तत्त्वों में ही कलात्मकता सम्बन्धी प्रयोग और विकास सम्भव थे। वैदिक और लौकिक छन्दों के नामों पर अगर हम ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उनमें श्रव्य तत्त्वों के साथ ही दृश्यगत आकृत्तियों के भाव-बोधों को संकेतिक करने का भी प्रयास किया गया है। संस्कृत के 'मन्दाक्रान्ता' और 'भुजंगप्रयात' आदि छन्दों में इस तथ्य की स्पष्ट झलक मिलती है। मन्द आक्रान्ति और भुजंग-प्रयाण में श्रवणीय तत्त्वों की जगह दृश्य तत्त्वों की ही सशक्त व्यंजना होती है। इसमें आक्रान्ति की मन्दता और सर्पिल गति के सहारे दृश्य तत्त्वों को ही संकेतित एवं रूपायित करने का प्रयास किया गया है, जो हमारे सामने मन्द आक्रान्ति वाले गतिशील प्राणी और सर्प के गति-चित्र उपस्थित करते हैं। श्रवणीय माध्यमों से दृश्य-चित्रों और आकृतियों का संप्रेषण जिस रूप में और जितनी सरलता के साथ किया जा सकता है, मुद्रण और आलेखन द्वारा उसी रूप में उतनी सरलता से नहीं किया जा सकता। लिपियों का विकास भी चित्रात्मक और रूपात्मक ही हुआ है। इन तत्त्वों की उपयोगिता समस्त रचना-विधाओं के लिए है, परन्तु कविता में भावगत दृश्य-प्रत्ययों, रैखिक और गाणितिक इकाइयों एवं अनुभूति की प्रक्रियाओं की लयात्मकता आदि के द्वारा अर्थ-ग्रहण और प्रेषणीयता की रक्षा अधिक की जा सकती है। सभ्यता में विकास के साथ ही मुद्रण-कला में भी परिष्कार और प्रयोग होते चलेंगे। इसी क्रम में श्रव्य तत्त्वों की सूक्ष्मता और विभिन्न विशिष्टताओं का पाठ्यगत संक्रमण और अनुवादन भी होता चलेगा। श्रव्य-रूप में कविता आंगिक, वाचिक, सांकेतिक और आहार्य चेष्टाओं के द्वारा जो काम अबतक करती रही है, वही, उसे मुद्रित रूप में, और सूक्ष्मता के साथ, आगे चल कर करना होगा।

कवि की सृजन और अनुभूति प्रक्रिया की सहजानुभूति में भी मुद्रणगत प्रयोगों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कवि किसी दृश्य के प्रति प्रतिक्रियास्वरूप कविता लिखने को प्रेरित होता है। ऐसी अवस्था में दृश्य के विभिन्न चित्रगत संकेतों का प्रभाव और अभिव्यक्तीकरण दोनों ही उसकी कविता से अनुगत होते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि दृश्यगत प्रतिवेशों और परिपार्श्वों का—प्रत्यक्षीकरण का कार्य भी मुद्रणगत प्रयोगों के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। दृश्यों की स्वीय विशेषताओं में लय, गति, यमकता आदि भी हैं। शब्दालंकारों के समस्त ध्वनितत्त्वों का संप्रेषण आज के युग में मुद्रणगत प्रयोगों से ही किया जा सकता है। इस तरह विभिन्न प्रकार के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दों की उत्तेजना से हमारे भीतर भिन्न-भिन्न प्रकार के शारीरिक और सांवेदनिक परिवर्त्तन होते हैं। ऐसी अवस्था में श्रावक अपनी आङ्गिक चेष्टाओं एवं मौद्रिक संकेतों के द्वारा इनका अभिनयात्मक अभिव्यक्तीकरण करता है और संप्रेषण की समग्रता की रक्षा करने के साथ ही अनुभूति की सजीवता को यथावत् व्यक्त करने का प्रयास करता है। कविता जब मुद्रित रूप में हमारे सामने आती है, उसे इन तत्त्वों की संप्रेषणीयता की संवाहन-क्षमता के दायित्व का निर्वाह मुद्रणगत प्रयोगों के द्वारा ही करना पड़ता है। कविता का पाठक श्रव्य तत्त्वों और अभिव्यक्ति के विभिन्न स्तरों के भावन के दुहरे दायित्व को सँभाल सके और संप्रेषण की आनन्दानुभूति उसकी समग्रता के साथ प्राप्त कर सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि दृश्य-तत्त्वों को पाठ्य-तत्त्वों में रूपान्तरित किया जाय।

कभी-कभी कवि के सामने ऐसी समस्या उपस्थित हो जाती है कि वह दृश्यों के अनुक्षण परिवर्त्तनशील चित्रों एवं उसके द्वारा उद्भूत सूक्ष्म प्रभावों को जब शब्दों के माध्यम से दृश्यबद्ध करना चाहता है तो उसके परम्पराप्राप्त साधन अक्षम सिद्ध हो जाते हैं। उसकी यह विवशता कविता की दुर्बलता और अस्वाभाविकता में परिवर्तित

हो जाती है। पंक्तियों के आकृतिक उतार-चढ़ाव और शब्दों की काट-छाँट के द्वारा ही इसकी पूर्त्ति की जा सकती है।

इसी तरह भावात्मक द्वंद्वों की मनःस्थिति के स्पष्टीकरण एवं स्वगत-कथनों के द्वारा अभिव्यक्ति के लिये भी मुद्रणगत प्रयोगों की आवश्यकता होती है। भिन्न-भिन्न प्रकार के वाचक एवं विराम-चिह्नों के द्वारा भी जटिल एवं मूक भावों की स्वाभाविकता की रक्षा की जा सकती है। वाक्यों एवं शब्दों की अर्धाकृति, कोणाकृति, वृत्ताकृति के द्वारा भी मुद्रणगत चित्रमयता की सृष्टि की जा सकती है।

विभिन्न प्रकार के पर्यायवाची शब्द, जो आकृतियों, भावों, गतियों और क्रियाओं की अलग-अलग अभिव्यक्ति करते हैं, उनका चित्रगत प्रयोग भी भावगत स्वाभाविकता की रक्षा कर सकता है।

कविता के मुद्रित पृष्ठ अपने में कई एक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का समावेश किये रहते हैं, जिनमें टाइप एवं पृष्ठ के आकार-प्रकार को भी हम रख सकते हैं। इनके द्वारा मुद्रित कविता में बहुत सारी वैसी विशेषताएँ आ जाती हैं जो उसके श्रव्य रूप में नहीं आ पाती हैं। अर्नेस्ट फेलानिसा ने विश्लेषण के द्वारा यह दिखाने का प्रयास किया है कि चीनी कविताओं में कविता के पूर्ण अर्थ के अतिरिक्त आशय एवं कल्पना के चित्रात्मक संकेतों का भी बहुत बड़ा योग रहता है। अतिरिक्त अर्थ-ग्रहण और दृश्यविधान में उनका बहुत बड़ा हाथ रहता है। पश्चात्य परंपरा में ग्रीक काव्य-संकलनों में संकलित ग्राफिक कविताओं के साथ ही जार्ज हरबर्ट एवं तत्त्वमीमांसावादी कवियों की उसी तरह की कविताओं में मुद्रणगत प्रयोगों के महत्त्वपूर्ण उदाहरण मिलते हैं। इसी तरह की चित्रात्मक कविताओं के उदाहरण स्पेनी गोगोरिज्म, इटालियन मैरीनिज्म एवं जर्मनी वाराक आदि कविताएँ हैं। आधुनिक युग में अमीरिकी कमिंग्स, जर्मनी आरनो होल्ज एवं फ्रांसीसी एपोलनियर आदि कवियों ने भी अपनी कविताओं में कतिपय विशिष्ट मुद्रणगत प्रयोग किये हैं। पंक्तियों की अस्वाभाविक व्यवस्था, पृष्ठ के अधोभाग से लेखन का प्रारम्भ एवं मुद्रण में विभिन्न रंगों से सम्बन्धित चित्रात्मक प्रयोग हुए हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि आज कविताएँ आँख और कान दोनों के लिये लिखी जा रही हैं। श्रव्य रूप में छन्दों, लयों, तुकों और विभिन्न शब्दालंकारों को जो काम करने पड़ते थे, वे मुद्रणगत प्रयोगों के द्वारा ही पूर्ण रूप में स्वाभाविकता से किये जा सकते हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि इन मुद्रणगत प्रयोगों के पीछे बहुत सारी रूपगत और भावगत आवश्यकताएँ काम कर रही हैं। आज का कवि उन तत्त्वसर्जनाओं के प्रति जागरूक है जो काव्यगत मूल्यों एवं प्रेषणीयतागत माध्यमों के रूप में क्रियात्मक योगदान कर सकती हैं। नई हिन्दी कविता में इस तरह के छिटपुट प्रयोगों को देख पाठकों और पुरापंथी आलोचकों का आक्रुद्ध होना स्वाभाविक ही है। मुद्रणगत प्रयोगों के द्वारा जिन अभावों की पूर्त्ति की ओर ऊपर संकेत किया गया है, हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं के कवि उनकी ओर पूर्णतः जागरूक नहीं दीखते। हिन्दी और बँगला के कुछ कवियों ने मुद्रणगत प्रयोगों के द्वारा अर्थग्रहण और प्रभावोत्पादन के साथ ही चित्रप्रक्रिया, आकृतिक चेष्टा एवं अनुकृति की स्वाभाविकता की रक्षा का प्रयत्न किया है। इतनी बात कही ही जा सकती है कि प्रयोगकर्त्ता कवियों ने आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर सूक्ष्मता, सजीवता और स्वाभाविकता से उनकी पूर्ति का प्रयत्न नहीं किया है।

प्रयोग किसी भी तरह का क्यों न हो, उसका उद्देश्य ही है वैसे साधनों की सृष्टि का प्रयास जिनका अभाव तो खटकता है, किन्तु परम्परा के संचित भण्डार से उनकी पूर्त्ति नहीं की जा सकती। प्रयोग सप्रयोजन है और कविता के स्वाभाविक सौन्दर्य की रक्षा में उनका महत्त्वपूर्ण योग रहता है। परन्तु, कभी-कभी निष्प्रयोजन प्रयोग भी किये जाने लगते हैं, जिनसे कविता की नई धारा में विकास और नव्यता की जगह भ्रान्ति और कुत्साचार का ही समावेश होने लगता है। हिन्दी कविता में भी इस तरह के निष्प्रयोजन मुद्रणगत प्रयोग हुए हैं और हो रहे हैं। अतः इस सम्बन्ध में पूरी ईमानदारी के साथ अध्ययन और विश्लेषण की आवश्यकता है, क्योंकि कविता का आगामी निर्माणोन्मुख युग मुद्रणगत प्रयोगों का होगा और शास्त्रीय व्याख्या एवं विश्लेषण का सर्वाधिक दायित्व, उसका संगत मूल्यांकन करना होगा।

[१४/१ ए, शंभूचटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता—१२]
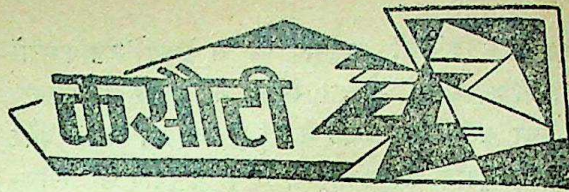
अर्चना

कवि--कृष्णवल्लभ द्वे

प्रकाशक--प्रतिभा प्रकाशन, हैदराबाद

मूल्य--तीन रुपये

'अर्चना' सन् १६५६-६० में रचित कवि के ५६ गीतों का संग्रह है। छायावादी कवियों की तरह ही श्री दवे ने प्रकृति के उपादानों—उषा, तारकवृन्द, मधुरिम मलयानिल, मृदुलित पल्लव आदि—में गीतों का प्रेरणा-स्रोत पाया है। संसार की अगणित वेदनायें देखकर कवि का भावुक हृदय खिन्न है। वह शिशुवत अपने आराध्य से पूछता है--

—विकलित मृदु जीवन को क्या
आहें ही सहना होगा?
मृदुलित प्रिय प्राणों को क्या
आँसू ही पीना होगा?
प्रिय प्राणों को यह अभिशाप
मिल पाया क्यों है अभिराम?

वेदना काव्य का आदि-स्रोत है और पुस्तक के सुन्दरतम पद वे ही बन पड़े हैं जिनमें इस मानव-वेदना की अभिव्यक्ति हुई है। महादेवी की तरह ("तुमको पीड़ा में ढूँढा, तुममें ढूँढूँगी पीड़ा") गीतकार ने पीड़ा को अगर लक्ष्य के स्थान तक नहीं पहुँचाया तो कम-से-कम उसमें प्रियतम को पाने का प्रयत्न तो किया ही है।

"अर्चना" सर्वथा सार्थक नाम है, क्योंकि सभी गीत आराध्य की 'अर्चना' (पूजा) में समर्पित हैं। मुझे ये 'गीत' अधिक 'पद' ही लगे, गीत नहीं। प्रायः एक ही शैली में लिखे, लगभग एक ही भाव से प्रेरित, दस-दस पंक्तियों के इन पदों को स्वतंत्र रूप से अलग-अलग गीतों की संज्ञा देने का क्या तात्पर्य है? एक-दो जगह स्वर-दोष भी आ गया है, जैसे, "अवनी के अंचल से हटकर, खोज क्या संभव है, देव" (दूसरी पंक्ति) या "खिलने से पहले मुरझाना, किस नगरी का नियम देव?" (दूसरी पंक्ति)। पदों के अंत में बार-बार 'देव' शब्द के प्रयोग से एकरसता आ गयी है और कहीं-कहीं वह अनावश्यक भी है।

छपाई और गेट-अप सुन्दर है। आमुख एकदम अनावश्यक लगा, विशेषतः वह अंश जहाँ आमुख-लेखक ने कवि की प्रथम प्रकाशित कृति में त्रुटियाँ अवश्यम्भाविनी मानकर उन्हें "क्षम्य" समझ लिया है।

१. गाता जाये बनजारा

कवि—साहिर लुधियानवी

२. उमर खैयाम की रुबाइयाँ

अनुवादक—(डॉ०) बच्चन

प्रकाशक—हिन्द पाकेट बुक्स प्रा० लिमिटेड

मूल्य—एक रुपया

[१] "गाता जाये बनजारा" उर्दू साहित्य और सिने-जगत के प्रसिद्ध गीतकार साहिर लुधियानवी के रोमांटिक और भावपूर्ण गीतों का संग्रह है। जैसा कि पुस्तक के परिचय में ही कहा गया है, इन गीतों में उर्दू शायरी की लोच और हिन्दी गीतों का रस एक साथ ही मिलता है। प्रथम गीत की प्रथम पंक्ति में ही कवि के हृदय का दर्द उभर आया है:—

अश्कों में जो पाया है, वो गीतों में दिया है
इसपर भी सुना है कि जमाने को गिला है।

साहिर को अपनी जिन्दगी में जिन कष्टों का सामना करना पड़ा (ऐसे, आज उन्हें फिल्म-जगत ने कम-से-कम किसी भौतिक वस्तु का अभाव तो रहने नहीं ही दिया है) उन अनुभवों की पृष्ठभूमि में संवेदनशील तरुण कवि दर्द, मुहब्बत और इन्कलाब के अलावे और कोई दूसरा सन्देश दे ही क्या सकता था? इन पंक्तियों में कितना दर्द है, कितनी टीस!

मैंने चाँद और सितारों की तमन्ना की थी,
मुझको रातों की सियाही के सिवा कुछ न मिला।
मैं वह नग्मा हूँ, जिसे प्यार की महफिल न मिली
मैं वह मुसाफिर हूँ जिसे कोई भी मंजिल न मिली...
जख्म पाये हैं बहारों की तमन्ना की थी। मैंने...

इन गीतों में जिन्दगी के दर्द उभरे तो हैं, किन्तु वे भी किसी 'मिशन' से प्रेरित हैं। साहिर साम्यवादी हैं

और इसलिये स्वाभाविक और आवश्यक है कि वे उम्मीद और इन्कलाब के भी नग़मे गायें—

जिन्दगी सिर्फ मुहब्बत नहीं कुछ और भी है
ज़ुल्फ-ओ'-रुख्सार की जन्नत नहीं कुछ और भी है,
भूख और प्यास की मारी हुई इस दुनिया में
इश्क ही एक हकीकत नहीं कुछ और भी है...

"किसके रोके रुका है सवेरा", "रात के राही थक मत जाना सुबह की मंजिल दूर नहीं", "कभी-कभी मुझे ऐसा खयाल आता है" तथा "वह सुबह कभी तो आयेगी" में एक सशक्त आशावाद है, मानव के सुखी और उज्ज्वल भविष्य की एक मधुर कल्पना।

पुस्तक का विशेष आकर्षण मुझे उन गीतों का संग्रह लगा जो हिन्दी गीत हैं, एक उर्दू कवि द्वारा लिखे गए हिन्दी गीत जो उर्दू गज़लों की लोच रखते हैं, उसकी सीधी-सादी अभिव्यक्ति-शैली। "मेरी उम्र लम्बी हो गई...", "दो बूँदें सावन की", "मेरे दुखी मन सुन मेरा कहना" आदि ऐसे ही गीत हैं। लोकगीतों का माधुर्य लिये कुछ ये मोहक पंक्तियाँ देखिए—

छाई कारी बदरिया बैरिनिया हो राम
घन बदरा गगनवा झुकन लागे हो।

इस संकलन की दुर्बलता यही है कि इसमें फिल्मी गीतों की भरमार है—ऐसे गीतों की भी जिनका आनन्द केवल फिल्म के पर्दे की सीनरी पर ही लिया जाता है। इनके स्थान पर यदि अन्य ऐसी ही कुछ प्रतिनिधि रचनायें रख ली गई होतीं तो संकलन का मूल्य कई गुना बढ़ जाता।

[२] फारस के अमर कवि और दार्शनिक, गणितज्ञ और ज्योतिषी उमर खैयाम की रुबाइयाँ विश्व-साहित्य की अमर निधि हैं। इनमें "मद्य की मादकता, नारी की कोमलता और मानव की अनन्त वासना तथा अतृप्त तृष्णा का चित्रण तो है ही, साथ ही जीवन की गहन समस्याओं के लिये एक नया दृष्टिकोण भी है।" मूल फारसी से फिट्ज़ज़ेरल्ड द्वारा अंग्रेजी में अनुवादित रुबाइयों का हिन्दी अनुवाद बचनजी ने १९३३ में किया था। फिट्ज़ज़ेरल्ड का अनुवाद इतना सजीव हुआ कि उसे 'अनुवादकों का राजा' कहा जाने लगा। जिस तरह अंग्रेजी अनुवाद में न केवल मूल फारसी रुबाइयों की आत्मा जीवित रक्खी गई बल्कि उसे सँवारा भी गया, उसी तरह बचन ने भी पुस्तक का सरस और सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया है। अनुवाद की लोकप्रियता का प्रमाण यही है कि अबतक इसके छह संस्करण निकल चुके हैं।

यों तो सभी रुबाइयाँ अमूल्य हैं और अपने आप में पूर्ण हैं, फिर भी कुछ विशेष विचारों को रखने वाली एक-दो रुबाइयों को उद्धृत करना अनुचित नहीं होगा। खैयाम प्रकृतिवादी थे, संसार जैसा है उसे वैसा ही ग्रहण कर, भूत-भविष्य की चिन्ता भुला उसका आनन्द-उपभोग करने में विश्वास रखते थे। किसे मालूम कि इस जीवन के बाद क्या है।

प्रिये, आ बैठो मेरे पास,
सुनो मत क्या कहते विद्वान।
यहाँ केवल निश्चित यह बात
कि होता जीवन का अवसान।
यहाँ निश्चित केवल यह बात
और सब झूठ और निर्मल;
सुमन जो आज गया है सूख,
सकेगा वह न कभी फिर फूल।

× × ×

अरे, अब भी जो कुछ है शेष,
भोग वह सकते हम स्वच्छन्द।
राख में मिल जाने के पूर्व
न क्यों कर लें जी भर आनन्द;
गड़ेंगे जब हम होकर राख
राख में, तब फिर कहाँ वसन्त।
कहाँ स्वरकार, सुरा, संगीत,
कहाँ इस सूनेपन का अन्त।"

पुस्तक का गेट-अप अत्यन्त सुन्दर है। रुबाइयों के साथ जो रेखा-चित्र हैं वे जैसे रुबाइयों के मूर्तरूप हों। अन्त में दी हुई टिप्पणी और डॉ० बचन के पुस्तक-परिचय ने पुस्तक को प्रायः सभी दृष्टियों से पूर्ण बना दिया है। अगर रुबाइयों का एक आन्तरेंच (इन्डेक्स)

भी होता तो पुस्तक शायद 'परिपूर्ण' हो जाती और पाठकों को पसन्द की रुबाइयाँ चुनने में कुछ सुविधा होती।

आकाश-कुसुम

गीतकार—ज्ञान भारिल्ल

प्रकाशक—दत्त ब्रदर्स, अजमेर

मूल्य—ढाई रुपये

पुस्तक को अजमेर राज्य द्वारा प्रथम पुरस्कार प्राप्त है और लेखक राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर के सचिव हैं। अधिकांश गीत सुन्दर बन पड़े हैं, कुछ तो अत्यन्त ही हृदयस्पर्शी हैं। सर्वत्र प्रेम की ही अभिव्यक्ति है जिसे कवि ने मिलन और विरह के दो परिचित रूपों में देखा है। प्रेम ही जीवन की सार्थकता है—

किन्तु साँस का आना-जाना
क्या जीवन है ?
बिना जिये मर जाना
क्या जीवन है ?
नहीं, जिन्दगी यदि न प्रीति से सनी।
एक जिन्दगी एक गीत से बनी।

सभी गीत गेय हैं और भिन्न-भिन्न स्वरों में रचे गये हैं। कहीं-कहीं तो भावों की अभिव्यक्ति इतनी 'डायरेक्ट' है कि वह उर्दू गजलों का मजा देती है—

सौ बरस हो उमर उन मेहरबान की
जो नशा दे गये बिन पिलाये मुझे।

कवि की अनुभूति में इतनी तीव्रता है और अभिव्यक्ति में इतनी शक्ति है कि वह चाहे जिस भी छन्द में लगे, जैसे भी लिखे; सुन्दर गीतों (या पदों) की रचना कर सकता है। पुस्तक में कहीं-कहीं लिखे गये 'मुक्तवृत्त' (फ्रीवर्स) भी कम प्रभावशाली नहीं हैं। यों तो अधिकांश गीतों में कायिक, यौवनोत्प्रेरित, व्यक्तिगत प्रेम की ही अभिव्यक्ति हुई है, किन्तु "लकीरें" कविता में कवि ने विश्व-प्रेम का भी आदर्श रक्खा है—"और जान लो धरा एक है, धरती का इन्सान एक है।" इन्सान से बढ़ कर कवि के लिये और कुछ नहीं है।

मैं सोच रहा था क्या माँगू जो मिटे नहीं,
इन्सान ?

इन्सान नहीं मरता दुनिया से मर कर भी,
इन्सान जिया करता है अपने यौवन से,
मैंने माँगा इन्सान भले यह नादानी।
मैं इन्सानों के साथ बहुत खुश रहता हूँ,
मन ही तो है—

सुरा और साकी की आराधना शायद हरएक प्रेम और यौवन के गायक का मुख्य विषय हो गया है। "मधुशाला में" भारिल्ल ने सुरा-गीत लिखे हैं और निस्सन्देह वे सुन्दर हैं।

"जहर के दाँत" में हमारी बनावटी सभ्यता पर व्यंग्य किया गया है जो घृणा-द्वेष से पूर्ण है।

श्री ज्ञान भारिल्ल में प्रतिभा है और हिन्दी संसार को वे बहुत-कुछ दे सकते हैं।

गेट-अप, छपाई, गीतों के चयन सभी दृष्टि से आकाश-कुसुम एक मनोरंजक, (विचारोत्तेजक भी) गीत-संग्रह है।

—राकेश भारती

१. प्रेम-विजय
मूल्य—२.५०

२. पत्र-पुष्प
मूल्य—१.७५

३. स्नेह या स्वर्ग
मूल्य—१.७५

४. शबरी
मूल्य—१.५०

५. संवाद-सप्तक
मूल्य—१.२५

कवि-नाटककार—सेठ गोविन्ददास

प्रकाशक—भारतीय विश्व-प्रकाशन, दिल्ली

अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा को समान रूप से ढोने वाले राजनीतिक-साहित्यिक सेठ गोविन्दास की आलोच्य पुस्तकों में 'प्रेम-विजय' महाकाव्य, 'शबरी', 'संवाद-सप्तक' और 'स्नेह या स्वर्ग' नीति-नाटिकायें तथा 'पत्र-पुष्प' विभिन्न कविताओं का संकलन है। सेठजी ने अपनी साहित्य-दृष्टि के दायरे में अनेक पुस्तकों की रचनाएँ की हैं, जिसे यूटोपियन ढंग से स्वीकारा जाय तो कहा जा सकता है कि सेठजी ने अपने कृतित्वों के माध्यम से बन्धुत्व, प्रेम, सत्य, मनुष्य और मनुष्यता के अमर संदेश को जन-जीवन के बीच प्रचारित-प्रसारित करने का सत्प्रयास किया है। इनकी विषय-वस्तु (Subject matter) प्रायः इतिहास और पुराण की होती हैं और विचार गाँधी-संदेश। सेठजी चाहे इनमें कहीं नहीं हों, किन्तु रचनाएँ प्रकाशित होती हैं, यही उनकी प्रतिभा का अघुलनशील तत्त्व है। दुर्भाग्य है, भारत के लेखकों का, जो मरते दम तक साहित्य की सेवा से बाज नहीं आते, अपनी Creative living के लिये मौत तक को अंगीकार कर लेते हैं। ये मर जाते हैं; किन्तु साहित्यकार नहीं कहला पाते। शायद इनका भी प्रकाशन होता तो अपनी प्रतिभा की रोटी तो कम-से-कम अवश्य नसीब होती। खुदा का शुक्र है, जो सेठजी के पास प्रतिभा भी है, प्रकाशन भी।

सेठजी अपने साहित्य के भीतरी स्तरों पर गृहीत सामाजिक मूल्यों (Consumed Social Values) के लिए जीते हैं। इनके कोई वैयक्तिक, मौलिक जीवन-मूल्य नहीं हैं; अपने कृतित्व के सृजनात्मक क्षणों के भीतरी स्तरों पर ये किसी समस्या के लिये नहीं जीते, बल्कि पूर्वाग्रह और अपने वर्त्तमान सामाजिक सेट-अप दोनों के प्रति समान रूप से व्यामोह के फलस्वरूप ये किसी भी प्रकार के साहित्यिक दायित्व से मुक्त हर Realm of life को समाधान का आदर्शवादी 'एप्रोच' जानते भर हैं। इसीलिये इन्हें अपने दायित्व की कोई पीड़ा नहीं है और न नये मूल्यों के चलते किसी भी प्रकार की सामयिक सामाजिक विवशता। बल्कि हर समस्या को एक चश्मे से देखते हुए सम्पूर्ण सामाजिक क्रियाओं के विशाल व्यक्तित्व को कचोटने के बजाय ये 'टीज़' मात्र करते हैं।

आलोच्य काव्यों के मूल में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, पाँच के बजाय एक ही काव्य-पुस्तक प्रकाशित होती, तब भी सेठजी का काव्यात्मक व्यक्तित्व (Poetic personality) अप्रकाशित ही रहता।

सेठजी विचार और भाषा दोनों ही दृष्टि से मौलिक नहीं हैं और स्व० हरिऔध तथा श्री मैथिलीशरण गुप्त से प्रभावित दीखते हैं। पुस्तकों के प्रायः निवेदनों में इन्होंने एक ढंग से स्वीकार ही लिया है: यथा 'शबरी' के निवेदन को ही सेठजी से सुनिये कि "राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' के सदृश इस रचना में कहानी, नाटक और श्रव्य-काव्य तीनों तो हैं ही···।" तात्पर्य यह कि 'सदृश' होना ही सेठजी के इन काव्यों की विशेषता है। छन्दों की दृष्टि से भी ये अमित्राक्षर छन्द के सिद्धहस्त लेखक राष्ट्रकवि के कायल हैं; क्योंकि प्रायः इसी छन्द का इन्होंने प्रयोग भी कई पुस्तकों में किया है।

प्रेम-विजय

सन् १६१६ और १९ के बीच लिखा गया यह महाकाव्य 'जयद्रथ-वध' और 'प्रिय-प्रवास' से प्रभावित, बाणासुर की पौराणिक कथा पर आधारित है। इसके देव और दानव चरित्र आदमी-वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। मूल कथा वही पौराणिक ही है कि बाणासुर ने अपनी घोर तपस्या के बल पर शिव से अद्भुत वरदान प्राप्त कर लिया। यही नहीं, उसे उषा नाम से एक सौन्दर्यमयी बेटी भी हुई। और, महाकाव्य के कथात्मक चरित्र में प्रेम-व्यापारों और प्रेमादर्शों के लिये घटना-परिघटनाओं का उद्भव-विकास परम्परागत तरीके से ही हुआ है और अन्त में उषा-अनिरुद्ध की शादी हो गई है।

यह महाकाव्य सेठजी की धार्मिक दृष्टि की पुष्टि अधिक करता है। कैलास-विहारी शिव चैतन्यतत्त्व के रूप में सृष्टि के कण-कण में व्याप्त हैं। आज की विषमताओं के बावजूद सेठजी अवतारवाद के सिद्धान्त को अपने ढंग से ही प्रतिपादित करते हैं। इन्हें चौबीस या दस अवतारों में विश्वास नहीं है। अपनी आधुनिकता (Modernity) का परिचय सेठजी इस रूप में देते हैं कि इसमें "एक ही अन्तर है कि पुत्र के स्थान पर इस काव्य में कन्या है, जो प्राचीन कथा के अनुसार होते हुए भी आधुनिक काल की दृष्टि से कदाचित् अधिक उपयुक्त है।" अब कुछ शब्दों में यही कहा जा सकता है कि इस महाकाव्य पर 'प्रियप्रवास' का भावनात्मक

प्रभाव तो है ही, अतुकान्त वर्णवृत्तों और मात्रिक छन्दों का प्रयोग भी है।

पत्र-पुष्प

'भारत-दर्शन', 'जन्मभूमि-प्रेम', 'षट्-ऋतु', 'प्रभात-सन्ध्या' वर्णनात्मक शैली की कविताएँ हैं। 'भारत-दर्शन' स्व० जयशंकर प्रसाद की 'भारतवर्ष' से तटस्थ कुछ न होकर मात्र अनुकरण-क्षमता की पुष्टि करता है। शेष कवितायें प्रेम, विप्रलंभ, शृंगारिक भाव, विनोद, द्वन्द्व आदि के परिचयात्मक गीत मात्र हैं।

स्नेह या स्वर्ग

यह गीति-नाट्य महाकवि होमर के 'इलियड' की कथा का भारतीयकरण है। स्वर्ग के राजा इन्द्र का बेटा जयन्त धरती की सुन्दरी स्नेहलता को व्याहना चाहता है, किन्तु स्नेह इस मामले में अपने पिता की अनुमति को भी अनिवार्य मानती है, साथ ही वह अजेय को प्यार भी करती है।

जयन्त की बहन शुचिता व्याह का प्रस्ताव लेकर स्वर्ग से आती है, किन्तु स्नेह ठुकरा देती है। जयन्त भी अनागत आशंकाओं से जबरन स्नेह को अपने यहाँ लिवा जाता है। अन्त में, स्वर्ग और धरती के बीच लड़ाई छिड़ती है। राजा इन्द्र की मध्यस्थता के प्रेरणा-स्वरूप हृदय-परिवर्तन से आदर्श की स्थापना हो जाती है। मौलिकता की दृष्टि से यहाँ भी कोई नवीनता नहीं है और सेठजी यहाँ भी दुन्दुभि की चोट यही दुहराते हैं कि प्रेम महान है, अमर है, जैसा कि शुचिता वार्त्तालाप के प्रसंग में जयन्त से कहती है:—

सर्वश्रेष्ठ सृष्टि एक स्नेह ही है स्रष्टा की।

यथा सेठजी के समग्र कृतित्व में प्रायः संघर्षरत चारित्रिक गुणों का अभाव होता है, यहाँ भी अजेय के मुख से सुन लीजिये:—

...ठीक। किन्तु जिसमें संघर्ष न हो उतना
और बचे गृह का कलह, वही मार्ग है।

सेठजी का मानवतावादी होना इन पंक्तियों से भी प्रमाणित हो जाता है; क्योंकि संघर्ष की यहाँ पीठ ठोकते नजर आते हैं:—

स्वर्ग नहीं जा सकते, देख नहीं सकते
क्यों हमारी नारियां के ऊपर कहो, भला?

स्नेहलता का मानिनीरूप गुप्तजी की यशोधरा की नकल मात्र है; फिर भी न वैसी यहाँ ऊँचाई है और न गहराई ही।

शवरी

यह 'शवरी' उपाख्यान है। छह वर्ष की अवस्था से ही बालिका शवरी ऋषियों की सेवा करती रही है। अपनी टेकनिक की नवीनता के लिये सेठजी ने यहाँ प्रयोग भी किया है—यथा कहानी, एकांकी नाटक, एकपात्री नाटक और श्रव्य-काव्य एक ही स्थल पर व्यवस्थित (Arranged) हैं। वस्तुतः 'शवरी' का श्रव्य-काव्य मार्मिक और सफल उतरा है, जैसे :—

दिन नहीं, मास नहीं, वर्ष पर वर्ष थे
बीत रहे और वृद्धा हो रही थी शवरी।
× × ×
फटक नहीं पाती थी निराशा वर-स्मृति से,
उसका विश्वास उसे था निश्चित रखता।
तेरह बरस हुए राम-वनवास को,
कर चुकी शवरी थी पार तब चौरासी।

संवाद-सप्तक

इसमें भी परम्परा में ही उपदेशमूलक पद्यात्मक सात संवाद हैं। जीव और देह, नारी और नर, धर्म और विज्ञान, न्याय और प्रेम, शान्ति और समर, पिता और पुत्र, सूर्य और चन्द्र एक-दूसरे के पूरक हैं—सेठजी का यही उद्देश्य है। तात्पर्य यह कि सारे आध्यात्मिक तत्त्व परस्पर-सहयोगी और एक-दूसरे के लिए पूरक हैं। ये बाह्य भ्रान्तियाँ हैं जो अलग से कभी प्रमाद जगाकर बुद्धि भ्रष्ट कर देती हैं और सेठजी के अनुसार भ्रष्ट बुद्धि भी हृदय-परिवर्तन की प्रेरणा से शुद्धि और मोक्ष को प्राप्त कर सकती है।

कुल मिलाकर उपर्युक्त आलोच्य पुस्तकें यही हैं। फिर तो गेट-अप और छपाई-सफाई का कहना ही क्या। आँखें तरसने लगती हैं तो तरसती रह जाती हैं।

—मधुकर सिंह

(१) चिलिका (खण्डकाव्य)

मूल लेखक—श्री राधानाथ राय
अनुवादक—श्री युगजीत नवलपुरी
प्रकाशक—साहित्य अकादमी, नई दिल्ली
पृष्ठसंख्या—५६
मूल्य—१.५० न० पै०

प्रस्तुत खण्डकाव्य उड़िया भाषा का महत्त्वपूर्ण काव्य है। खण्डकाव्य की दृष्टि से यह काव्य सर्वांशतः पूर्ण है। आकर-संस्कृति एवं रोमांटिक अंग्रेजी काव्यों के रस-लुब्ध पाठक श्री राधानाथ राय की कवि-प्रतिभा के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह अपनी जन्मभूमि के ऐतिहासिक कल्पकाव्यों की योग्य पृष्ठभूमि के रूप में इन चित्ताभिराम नैसर्गिक दृश्यावलियों का कुछ वैसा ही उपयोग करें जैसा कालिदास, स्कॉट, बायरन, वर्ड्सवर्थ आदि अनेक पूर्वसूरियों ने किया था।

इस लघु-काव्य में उन्होंने स्वयं प्रकृति को ही नायिका माना है। एक अर्थ में यह प्रेमकाव्य भी है, जिसमें प्रेमी स्वयं एक भावुक कवि है तथा प्रेमिका है प्रियदर्शिनी झील चिलिका। कवि ने चिलिका की विविध विशेषताओं का वर्णन ठीक उसी प्रकार किया है जिस प्रकार साहित्यगत प्रेमी अपनी प्रेमिकाओं का वर्णन किया करते हैं। वह स्मृतियों में स्वैर विहार करने लगता है, मानव-जगत् की व्यर्थताओं के अनुचिन्तनों में खो-खो जाता है और फिर इन व्यर्थताओं की विरोध-तुलना निसर्गदत्त शान्ति एवं आनन्द से करता है, अपनी प्रेमपात्री झील के दर्शनों से आनन्द-विभोर हो जाता है। अन्य प्रेमियों की तरह वह भी अपने प्रतिकूल अदृष्ट को कोसता है, जिसके कारण अपनी हृदयहारिणी झील के सान्निध्य में रहना उसके लिए संभव नहीं हो सका।

चिलिका की मोहकता कवि के सर्वातिशायी शब्द-शिल्प से ही उद्भूत होती है, जिसे अनुवादक महोदय ने यथाशक्य निर्वहित किया है। उदाहरण के लिए देखा जा सकता है :—

> सायंतन घन खेलते गगन के आँगन,
> रवि अस्त, गमन के इन्द्रजालवर्णी छन;
> कर-मंडित कंचन-कान्ति-खण्ड अम्बुद के
> शिखरों से झाँका करते उचके-उचके।
> यह छटा किसे पटतरूँ, कहाँ उपमा है ?
> होगी भी तो स्वर्ग में, मर्त्य सूना है।

पुस्तक की छपाई-सफाई श्लाघ्य है। श्री राधानाथ राय का यह खण्डकाव्य समकालीन भारतीय साहित्य की उन स्वल्पसंख्यक कविताओं में गिना जा सकता है, जो प्रकृति के प्रति भव्य महास्तोत्रों की कोटि में रखी जा सकें।

(२) अरुणोदय (काव्य)

कवि - श्री विराज
प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
पृष्ठसंख्या—१३४
मूल्य - चार रुपए

श्री विराज का यह काव्य एक प्रकार से ऐतिहासिक प्रक्रियात्मक काव्य है जिसमें अतीत का रुदन और वर्त्तमान का संवेदनात्मक अरुणोदय है। पुस्तक का पूर्वांश अतीत की रोमांचकारी स्मृतियों का विश्लेषण करता है और शेषांश मानव के अभ्युदय और निःश्रेयस के धर्मों का पाठ पढ़ाता है—विना श्रमं नैव भोक्ष्ये कदाचित्।

कवि ने देशकालानुसार युगधर्म का विश्लेषण आर्ष ग्रन्थों के उद्धरण देकर किया है। किसी दिन का धर्म 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' था, और फिर 'कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशनम्' धर्म हो गया।

आद्यन्ततः निष्कर्ष यह कि शोषण, प्रपीडन कोई नई वस्तु नहीं, पर, इनके विरुद्ध आवाज भी लगभग सदा ही उठती रही है। कवि का विश्वास है कि जबतक शोषण का अस्तित्व है तबतक इस विद्रोही स्वर का मूक हो जाना, मानवता के सत्पक्ष की बड़ी कलंकपूर्ण पराजय होगी। अतः इस नव-जागरण के क्षण में यह स्वर मूक नहीं होगा।

जहाँतक भाषा का प्रश्न है, वह कवि के जागरण-स्वर के अनुकूल नहीं है। भाषा की यह निर्बलता पाठकों के

मन-मस्तिष्क को झनझना नहीं पाती और जागरण की दुंदुभी अस्वस्थ हो जाती है। हाँ, एंटिक पेपर पर दुरंगे प्रकाशन एवं सुरुचिपूर्ण मुद्रण के लिए प्रकाशक अवश्य ही साधुवाद का पात्र है।

(३) बदलता युग (काव्य)

कवि—महेन्द्र भटनागर
प्रकाशक—श्री दीनानाथ बुक डिपो, इन्दौर
पृष्ठसंख्या—पचहत्तर
मूल्य—१.५०

'बदलता युग' जनवादी कवि (?) श्री महेन्द्र भटनागर की तीसरी कृति है। इसकी अधिकांश कविताएँ भारत के राष्ट्रीय इतिहास से संबंध रखती हैं, फलतः बदलते हुए युग के बीच प्रगतिशील परम्पराओं को प्यार करनेवाला कवि तटस्थ कैसे रह सकता है? यही कारण है कि अधिकांश कविताएँ अकाल और साम्प्रदायिक दंगों की पृष्ठभूमि पर लिखी गई हैं, जिनमें विनाश और क्रन्दन के स्वर प्रधान हैं। पर, आज के पाठकों को इनके आस्वादन में बासीपन की गंध मिलती है। इस 'प्रयोग' के युग में परम्परावादी 'प्रगति' किसे मान्य है? यों कवि ने स्वयं ही स्वीकारा भी है कि "मैं प्रयोग करता हूँ पर उन प्रयोगवादियों से भिन्न जो प्रयोग के चामत्कारिक प्रदर्शनों से साहित्य की जनवादी विचारधारा को दबा रहे हैं।" पर, संग्रहीत इन कविताओं में कवि ने कहीं भी अपने इस सत्य का परिचय नहीं दिया है जिसे हम प्रगतिजन्य प्रयोग मान लें। मात्र अतुकान्त शैली में 'प्रयोग' का प्रपंच उठा देना कहाँ तक संगत है? कम-से-कम अतुकान्तता में भी प्रवाह तो होना ही चाहिए। आद्यन्त प्रूफ-संबंधी भूलों से भरी यह पुस्तक बाजार की शोभा बढ़ा रही है।

—सत्यदेव शान्तिप्रिय

त्रिभंगिमा

***लेखक*—बच्चन**
***प्रकाशक*—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-६**
***मूल्य*—चार रुपये, पृष्ठ—२४२**

बच्चनजी पुराने खेवे (?) के उन कवियों में हैं, जो हिन्दी कविता में गुणात्मक एवं रूपात्मक परिवर्तन हो जाने के बाद भी रचनात्मक क्षेत्र में सक्रिय हैं। उनकी तीन वर्षों की रचनाशीलता तीन अदाओं के साथ 'त्रिभंगिमा' में प्रकट हुई है। प्रस्तुत संग्रह की रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि कवि की दृष्टि सामाजिक रही है। तीनों प्रकार की कविताओं की पृष्ठभूमि में सामाजिक चेतना की अन्तर्धारा है। पाठकों को आकृष्ट करने लायक यही एक प्रमुख तत्त्व इस संग्रह में है। लोक-धुनों से अनुप्राणित गीत भावुक पाठकों को सस्वर पाठ करने पर आनन्द देंगे; वैसे, ये गीत लोक-जीवन की आन्तरिकता से भरे-पूरे हैं। सोन-मछरी, लाठी और बाँसुरी, माटी की महक, धारा में बहते फूल, कड़ी मिट्टी, नील-परी, महुआ के नीचे, आँगन का बिरवा आदि गीत आकर्षक एवं तरल हैं। ये गीत स्थिति-प्रसंग की मार्मिकता के साथ मन में गूँजने लगते हैं। प्रायः सभी गीतों में कथा-प्रवाह के अनुकूल लयात्मकता की योजना की गयी है। दूसरे प्रकार की कविताओं में, भावुक या प्रबुद्ध पाठकों को, गहराई कम मिलेगी। मुझे यदि चुनाव करना पड़ता तो चित्रलेखा, स्वागत-गान, नौ-सैनिकों का प्रयाण-गीत, थल-सेना का प्रयाण-गीत, राष्ट्रीय बाल-दिवस, कलि की प्रथा, चिड़िया चुरगुन आदि कविताएँ संग्रह से छाँट (= निकाल) देता। संग्रह को देखने से लगता है कि कवि ने इन वर्षों में जो कुछ लिखा है, निःसंकोच सब कुछ पाठकों के आगे रख दिया है। इन कविताओं में अनुभूति की जगह अनुभव, और भावों की जगह विचारों की प्रधानता है। कोमल-हृदय कवि बच्चन के स्तर में कहीं-कहीं ओज भी दिखायी पड़ता है। इस प्रसंग में 'फिर चुनौती', 'कवि और वैज्ञानिक' और 'ये काम पर जानेवाले' शीर्षक कविताएँ द्रष्टव्य हैं। ओज का स्तर तीसरी भंगिमा वाली कविताओं में पर्याप्त सुनायी पड़ता है। इन कविताओं में बच्चन की प्रवृत्ति अधिक बदली हुई मालूम पड़ती है। इन कविताओं में कवि अत्यन्त बहिर्मुख है और स्तर में अपेक्षया साहस अधिक है। कवि की सामाजिक चेतना ने वर्त्तमान शासन-सत्ता पर जहाँ-तहाँ जो चोट की है, वह दर्शनीय है। ऐसी कविताओं में व्यंग्यात्मक स्वर अत्यन्त प्रखर है। महागर्दभ, दानवों का शाप, खजूर, मिट्टी का दोषारोपण, राजदरबार आदि कविताएँ इस संदर्भ में

उल्लेखनीय हैं। 'वह भी देखा, यह भी देखा' शीर्षक कविता एक अवसादजन्य क्षोभ उत्पन्न करती है। मुक्त-छंद वाली इन कविताओं में पूरी लयात्मकता है। लेकिन, लगता है कि कवि इनमें से कई कविताओं में अपनी बात कम शब्दों में भी कह सकता था। कवि ने प्रायः वर्णनात्मक शैली अपनायी है। प्रगति में विश्वास करने वाले की तो नहीं, पर गति में विश्वास करने वाले की आस्था 'त्रिभंगिमा' से बच्चन के कवित्व पर अवश्य जमी रहेगी।

ओथेलो

मूल लेखक—शेक्सपीयर
अनुवादक—बच्चन
प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली
मूल्य—३.५०, पृष्ठ ३३२

ओथेलो संसार के श्रेष्ठ नाटककार शेक्सपीयर की एक श्रेष्ठ नाट्य-कृति है। इसी का हिन्दी-रूपान्तर हिन्दी के श्रेष्ठ कवि एवं अँग्रेजी के भी विद्वान् डॉ० बच्चन ने प्रस्तुत किया है। किसी भाषा की श्रेष्ठ कृति का दूसरी भाषा में अनुवाद करना आसान काम नहीं है। हर भाषा की अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति होती है तथा हर श्रेष्ठ रचना की अपनी मौलिकता होती है। रचना की मौलिकता और मूल भाषा-प्रवाह का निर्वाह वही कर सकता है, जो दोनों भाषा-साहित्य का मर्मज्ञ हो। बच्चन को हिन्दी-अँग्रेजी में यह प्रसिद्धि प्राप्त है। ओथेलो के एकाध और अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित हो चुके हैं। इस अनुवाद की विशेषता यह है कि मूल कृति की अभिव्यक्ति-पद्धति की रक्षा करने का प्रयास इसमें किया गया है, अर्थात् पद्य का पद्य में और गद्य का गद्य में अनुवाद किया गया है। इससे एक बात हुई है कि मूल प्रसंगों की आत्मा का अवतरण अनुवाद में भी सफलता से हो गया है। भावना-प्रवण प्रसंगों को पद्यमय अभिव्यक्ति शेक्सपीयर ने दी है और बच्चन ने भी। मूल नाटक के प्रधान चरित्रों की चारित्रिक विशेषताओं में कोई कमी अनुवाद में नहीं आयी है। संक्षेप में कह सकते हैं कि मूल नाटक की आत्मा और हिन्दी-भाषा की प्रकृति का सफल सामंजस्य इस अनूदित कृति में हुआ है। इस नाटक को हिन्दी में पढ़ते हुए भी पाठक शेक्सपीयर के नाटक के वातावरण में पहुँच जाता है। इतने सफल अनुवाद के लिए बच्चनजी प्रशंसा के पात्र हैं।

उर्दू शायरी और बिहार

लेखक-संपादक—रज़ा नकवी
प्रकाशक—बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना ३
मूल्य—तीन रुपये, पृष्ठ—१५०

किसी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से उर्दू शायरी पर पुस्तक प्रकाशित करना आज के युग में एक महत्त्वपूर्ण बात है; अतः बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने यह प्रशंसनीय कार्य किया है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उर्दू-लेखक रज़ा नकवी ने यह पुस्तक हिन्दी में प्रस्तुत की है—राष्ट्र-भाषा की सेवा करने के उद्देश्य से। पुस्तक के प्रारम्भ में 'उर्दू-भाषा और बिहार' शीर्षक निबंध में लेखक ने हिन्दी-उर्दू के विकास की समान पृष्ठभूमि का विवेचन किया है और ईमानदारी से यह कबूल किया है कि दोनों भाषाओं का ढाँचा एक ही है; क्योंकि उर्दू में प्रचलित सारी क्रियाएँ, सारे सर्वनाम और ८० प्रतिशत संज्ञाएं हिन्दी की हैं। भाषा की पहचान की कसौटी तो ये हैं ही, शब्द-भण्डार तो इधर-उधर से प्रभावित होते ही रहते हैं। हिन्दी-उर्दू का सम्बन्ध धर्म और राजनीति से जोड़कर विवाद उठानेवाले लोगों के बीच उपर्युक्त तथ्य का प्रचार होना चाहिए। कवितावाले अंश को चार दौरों में बाँट कर संकलन प्रस्तुत किया गया है। ये दौर इतिहास की दृष्टि से बनाये गये हैं और प्रायः ३०० वर्षों से अधिक का काल इस इतिहास में आया है। पुस्तक से यह लाभ होगा कि उर्दू साहित्य के सम्पर्क में नहीं रहनेवाले पाठक उस क्षेत्र में बिहार के योगदान से परिचित हो जाएँगे। साथ ही, प्रारंभ में संवलित भूमिका से हिन्दी-उर्दू के सम्बन्ध में फैली भ्रान्तियों का निराकरण भी होगा। इस संग्रह में संकलित शायरी की विशेषता यह दिखाई पड़ी कि ये व्यापक पृष्ठभूमि पर लिखी गयी हैं। सस्ती, मन फड़काने वाली, गुदगुदा कर रह जाने वाली पंक्तियाँ ही नहीं, अपनी गहराई में पाठकों को डुबानेवाली पंक्तियाँ भी हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन

का स्तर भी अभिव्यक्त हुआ है। उर्दू भाषा का विकास क्रमशः किस प्रकार बिहार में हुआ है, यह भी कविताओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। आधुनिक युग के शायर भाषा के मामले में कुछ उदार हैं और हिन्दी-शब्दों के प्रयोग भी चाहते हैं। प्रस्तुत संकलन का साहित्यिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व है।

—खगेन्द्रप्रसाद ठाकुर

कवितामयी

कवि—डॉ० हरिमोहन मिश्र
प्रकाशक—साहित्यालय, आलमनगर, सहरसा
मूल्य—२.००
पृष्ठ-संख्या—७८

प्रस्तुत पुस्तक में २३ कविताएँ हैं। डॉ० मिश्र की बौद्धिकता का परिचय कविताएँ पढ़ने पर मिलता है। हर कविता अपने में पूर्ण है और दार्शनिकता से सुचारु।

आज की तरुण पीढ़ी के कवियों के लिए प्रस्तुत पुस्तक की प्रयुक्त भाषा अनुकरणीय है। 'हैमवती उमा' में कवि की भाषा का संस्कार अवलोकनीय है और मैं समझता हूँ कि कवि का अधीति-रूप भी इस कविता में उभरा है। शब्दों का चयन, शिल्प का प्रयोग; सभी श्लाघ्य हैं। अन्त की तीन-चार कविताओं में गीति-तत्त्व भी देखने को मिलता है। कवि द्वारा प्रयुक्त आलम्बनादि को समझने के लिए पाठकों को बुद्धि लगानी पड़ेगी और विशेषकर धर्मोपनिषद् के ग्रन्थों का भी अध्ययन आवश्यक होगा।

डॉ० मिश्र के प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन से आज के कवियों को एक प्रकार का बल मिलना चाहिए।

नग़मए हरम

लेखक—अयोध्या प्रसाद गोयलीय
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
मूल्य—४.००
पृष्ठ-संख्या—२७१

प्रस्तुत पुस्तक १०५ ख्यातिप्राप्त एवं प्रतिभासम्पन्न महिलाओं की शायरी का संकलन है। गोयलीय ने नागरी लिपि में इसे प्रस्तुत कर हिन्दी के पाठकों को काफी सुविधा दी है। इस सत्कार्य के लिए वे बधाई के पात्र हैं।

'तख़ैय्युलात की वादी में छुपके आलम से
किसी की गोद को अक्सर सजा के आई हूँ।'

कनीज़ फ़ातमा 'काश' अपनी इन कोमल भावनाओं को एक रूप तब दे पाती हैं जब उनकी कल्पना अपने को अपने ठोस आलम्बन की 'गोद' में पाती है। और, ऐसे समर्पण की भावना से दग्ध बहुत सारी कवयित्रियाँ हैं जिनमें 'काश' को मैं बहुत सफल मानता हूँ। सुश्री मीना काजी 'मीना' का आवाहन से भरा स्वर पाठकों को झकझोर देता है और कवयित्री की शबे-तन्हाई पर सोचने को मजबूर करता है। आवाहन से भरे स्वर से हुंकृत पंक्तियों की चोट से मन में आंगिक दर्द होता है और ओठों पर पंक्तियाँ बरबस आ जाती हैं—

'अब तो आ जा ग़मे-हस्ती के मिटाने वाले
बस तेरी याद है, मैं हूँ, शबे-तन्हाई है।'

बौद्धिक भावनाओं तथा विभिन्न विषयों पर कविताएँ भी लिखी गयी हैं।

इस संकलन में एक बात महत्त्व की है, जिसके लिए हमें गर्व होना चाहिए। कुछ कवयित्रियों ने शुद्ध हिन्दी के शब्दों का सहारा लेकर कविताएँ लिखी हैं। मैं समझता हूँ कि ऐसा उर्दू और हिन्दी के बीच एकाएक पैदा हो जाने वाली खाई को पाटने का ही प्रयास है। यह दोनों भाषाओं के विकास के लिए शुभ है। सुश्री क़ैसर शमीम की कविता 'आज मुझे कुछ गाने दो' की निम्नलिखित पंक्तियों को देखकर आप स्वयं समझ लेंगे की कवयित्री को कितनी सफलता हिन्दी के शब्दों के प्रयोग में मिली है—

'उन नैनों की नीलाहट से माँद हुआ जाता है गगन
उन होंठों का मद पी-पीकर झूम रही है आज पवन;
आज तो इस मतवाले पवन को अमृत-रस छलकाने दो।'

प्रकाशक को इस अमूल्य ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए बधाई।

आन्ध्र के हिन्दी कवि

सम्पादक—डॉ० राजकिशोर पाण्डेय
प्रकाशक—सहकारी जन-साहित्य-प्रकाशन-समिति, हैदराबाद
मूल्य—२.५०
पृष्ठ-संख्या—१७४

तैंतालिस कवियों की कविताओं के प्रस्तुत संकलन में अहिन्दी-भाषाभाषी क्षेत्र में लिखी जाने वाली हिन्दी कविताओं का संचयन हो पाया है—यह देखकर काफी प्रसन्नता होती है।

'फैला रक्त-गाल,
मानो हो अमृत का थाल,
हिला-हिला किसलय-कर,
झुका-झुका क्षीण कमर,
मुख मंदहास, थिरक-थिरक
भृकुटि-विलास कर, भ्रमर को बुला रही।'

श्री वी० वी० सुब्बाराव की इन पंक्तियों के अवलोकन के बाद गहराई में उतरने वाले श्री राजा दुबे और श्रीमती कान्ता की कविताएँ संकलित हैं। दोनों नये शिल्प और नयी विधा के समर्थक हैं। दाक्षिणात्य होने पर भी हिन्दी की वर्तमान धारा को सफलता से समझकर ग्रहण करना एक अद्भुत देशीयता है—और ये उसका निर्वाह कर रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में दो प्रकार के कवि है : (१) जिनका जन्म आन्ध्र में ही हुआ है या दक्षिण के किसी प्रदेश में (अहिन्दी-भाषाभाषी क्षेत्र में) और (२) जिनका जन्म उत्तर भारत में हुआ है किन्तु विशेष परिस्थितिवश दक्षिण में रहे हों। डॉ० पाण्डेय ने प्रस्तुत संकलन प्रस्तुत कर वही क्षेत्रज्ञ कार्य किया है।

आन्ध्र के हिन्दी-कवि का दूसरा खंड भविष्य में प्रकाशित कर डॉ० पाण्डेय उन कवियों से पाठकों को अवश्य परिचित करायेंगे जिनकी कविताओं का संकलन किसी कारण से प्रस्तुत अंक में नहीं हो सका है। संपादक को इस स्तुत्य और श्लाघ्य कार्य के लिए दक्षिण में हिन्दी-हित का श्रेय मिलना चाहिए।

पत्थर का लैम्प-पोस्ट

लेखक—शरद देवड़ा
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
मूल्य—३·०० न० पै०—पृष्ठ-सं० २००

प्रस्तुत आलोच्य पुस्तक कहानी, एक-पात्रीय नाटक, रेखाचित्र, डायरी, इण्टरव्यू, एकालाप, बारह राजस्थानी विरह-चित्र तथा बारह कविताओं का संग्रह है। इन्हें संग्रहीत कर लेखक ने अपनी विकसित होती हुई सफलता का सफलता के साथ प्रदर्शन किया है। 'इण्टरव्यू' में लेखक की सम्पादकीय शैली का परिचय मिलता है।

'बारह राजस्थानी विरह-चित्र' में कवि देवड़ा के मौलिक विचारों का क्या समन्वय हो सका है? राजस्थान में प्रचलित लोक-गीतों के कथा-तत्त्व को लेखक ने मुक्त-छन्द में काव्य का रूप देकर वही कार्य किया है जो बच्चनजी चला रहे हैं। अनुकरण वाली बात अच्छी नहीं लगती—प्रतिभा का एक प्रकार से दुरुपयोग होता है।

संग्रहीत बारह कविताओं के अलावा भी मुझे लेखक की कविताएँ पढ़ने का मौका मिला है। वर्तमान कविता की पद्धति पर जो तर्कपूर्ण आरोप आलोचक लगाते हैं, वही आरोप देवड़ा-काव्य-प्रक्रिया एवं शिल्प पर भी आना आवश्यक प्रतीत होता है। 'हाथी-दाँत की मीनार में' कविता व्यंग्य है। छपाई साफ एवं प्रूफ की गलतियाँ बहुत कम हैं।

हिमालय के आँसू

कवि - आनन्द मिश्र
प्रकाशक - राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
मूल्य—४·००—पृष्ठ-संख्या १४७

प्रस्तुत पुस्तक ६१ कविताओं का संग्रह है। कवि को सन् १९५९-६० के लिए पुरस्कारार्थ घोषित 'सर्वोत्कृष्ट पद्य' विषय के अन्तर्गत प्रस्तुत ग्रंथ पर मध्यप्रदेश शासन साहित्य-परिषद् का २१००) का 'देव-पुरस्कार' प्राप्त हुआ है।

कवि ने निवेदन करते हुए लिखा—'नहीं जानता कि मैं अच्छी कविता लिख भी पाता हूँ या नहीं।…… मैंने अबतक जो कुछ भी लिखा है, उसका अधिकांश कर्त्तव्य जानकर लिखा, ईमानदारी से लिखा है, सोद्देश्य लिखा है।' क्या कवि ने 'चन्देरी का जौहर' तथा 'झाँसी की रानी' प्रबन्ध कर्त्तव्य जानकर ईमानदारी से लिखा है? कर्तव्य और ईमानदारी पर मेरी आस्था नहीं है, क्योंकि ये सारी बातें आदर्श की हैं और केवल बकवास हैं। प्रस्तुत पुस्तक सोद्देश्य लिखी गई होगी—और वह उद्देश्य रहा होगा 'देव-पुरस्कार' प्राप्त करना। यह उद्देश्य शुभ सिद्ध हुआ और कवि को राजपाल एण्ड सन्स जैसा लोकप्रिय प्रकाशक मिला और कुछ लोकप्रियता मिली (पुरस्कार प्राप्त करनेवालों को जैसी ख्याति मिलती है)।

कवि द्वारा प्रयुक्त भाषा और छन्द से दिनकर की याद हो आती है, किन्तु कुछेक कविताओं में कवि का स्वयं समाहित है और उसके लिए वह बधाई का पात्र है।

डूबो नयनों में, अलकों में उलझो, चितवन के तीर सहो,
पर, इस मिट्टी को मत भूलो, इसका भी कर्ज चुकाना है।

उपर्युक्त 'मिट्टी का कर्ज' की दो पंक्तियाँ कवि की मुक्त भावनाओं को देती हैं और आगे की पंक्तियाँ मदिरा की बरसातों से प्यार करने के लिए प्रेरित करती हैं। 'गोताखोर', 'सागर का विस्तार चाहिए' और 'वर्षगाँठ के दिन' शीर्षक कविताएँ पठनीय हैं। 'तुलसी-रत्ना-वन्दन' शीर्षक कविता विषय-वस्तु एवं प्रेषण-प्रक्रिया के लिए स्मरणीय है। गेट-अप मनोहारी एवं छपाई साफ है।

—सीतेन्द्रदेवनारायण

हिन्दी कविता : प्रेषण-समस्या : व्यावहारिक दृष्टि

कविता-पुस्तकें, पहले से औसतन अधिक ही छपती हैं। मगर उन 'अर्थकृतियों' से कवियों को क्या अर्थप्राप्ति होती है, उसके खरीदकर पढ़नेवाले ग्राहक कितने बढ़े हैं, उनके व्यवसाय की क्या उन्नति है आदि प्रश्न पूर्वापर एक ही कारण से बँधे हैं। यों साधारणतया, किसी कालविशेष में नहीं भी, अ-कविता ही गोष्ठियों में जमती है और जल्दी बिकती है; जबकि बाकायदा कविता का प्रेषण सीखे हुओं के बीच ही कविता की माँग होती है। कविता का बाकायदा प्रेषण सिखाना कवियों की चर्चागोष्ठियों की जवाबदेही तो है ही, मगर उसका क्षेत्र बाहरी लोगों के लिए अधिक गहरा पड़ता है और सीमित भी होता है। तब, इसकी जवाबदेही होती है साहित्य-संस्थाओं, विद्यापीठों और भाषाविषय पढ़ानेवाले शिक्षालयों पर ही। मगर, ये सब ऐसा शिक्षण देनेवाले, पाठ्यों के विषय में ४०-५० साल पुराने इतिहास तक ही सीमित हैं। इसका एक साधारण उदाहरण लिया जाय। छप्पय, कवित्त, दोहा आदि पुरानी रीति के छन्दों के बाद छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोग आदि वादों के काल के तमाम कवियों ने छन्दों और लयों में हजार किस्मों का प्रयोग किया, आलम्बन और प्रतीक की नयी संगतियों के अन्तरिक्ष खोले--मगर अनुसन्धान एवं शिक्षण चलानेवाले हिन्दी-क्षेत्र के किसी शिक्षालय ने इस विषय पर तत्पर होकर कोई शास्त्र नहीं कल्पित किया-करवाया। इनकी यही लाचारी है कि ये पाठकों में कविता का वही पुराण-पन्थ, खासकर शिल्प के मामले का, ढोए चले जा रहे हैं। हाँ, वस्तु के ऊपर फुटकर तौर-पर बहुतेरी किताबें आई हैं। मगर, वस्तु तो कवि की इच्छा की चीज है; और न्यायतः वस्तु बतानेवाली कोई किताब निकलते ही पुरानी पड़ सकती है; क्योंकि उसमें उदाहृत वही कोई कवि तबतक और भी किसी तेज-तराज नई वस्तु पर ऐसा कुछ उपस्थित हुआ मिलता है; जो उस किताब के सपने में भी नहीं होगी। वस्तुतः प्रेषण की पात्रता शिक्षण में है, और उसके लिए चाहिए योग्य शिक्षालय और उसका समसमय-व्यापी पाठ्य। पाठ्य के समसमय-व्यापी होने से लाभ भी है। पहला लाभ तो यह है कि समसमय की उस भाषा में ही उसके पढ़े-लिखे भावन करते हैं, जिसमें कि उनके सामने का काव्य साधन-मार्जन करता मिलता है, और दूसरा यह कि तब भाषा और विराट् भावक के बीच कोई अनिर्वचनीय ऊहा, कोई खाई नहीं रहती। हिन्दी भाषा के विरुद्ध आज अनजाने दो परस्पर-विपरीत लांछन कहे जाते हैं। पहला तो यह कि वह आज के भावन के लिए काफी ओछी है और दूसरा इसके विपरीत यह कि वह आज के भावन से अधिक गहरी और अतः कड़ी है। ये दोनों परस्परविरोधी लांछन अच्छे सुपठितों की ओर से ही लगते हैं, और तब यही समझने में आ सकता है कि यहाँ भी समसमय-व्यापी पाठ्य का वही अभाव है जो भावक और भाषा के बीच ऊहा और खाई पैदा किए हुए है। शब्दों को अर्थनिहित करना या अर्थव्याकृत करना, कविता के द्वारा उन्हें दिए हुए टोन (टी-उद्भावन) का ही शाश्वत परिकल्प है। यह बात पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी भी बहुत पहले कह चुके हैं (उनका 'कवि और कविता' शीर्षक निबन्ध)। गद्य अधिक-से-अधिक उसे अर्थरूढ करता है। पद्य और गद्य की यह उत्तरोत्तरता चलती ही रहती है कि पद्य जब टोनों से शब्दों को काफी अर्थव्याकृत कर चुकता है तो गद्य उसे अर्थरूढ कर बाँधता है और गद्य जब उसे काफी अर्थरूढ कर चुकता है तो पद्य उसे पुनः व्याकृति की ओर बढ़ाता है। इस प्रकर्ष के चक्र पर ही साहित्य का रथ चलता है।

इस चक्र को व्यावसायिक दृष्टि से भी देखा जाय। यह गद्ययुग कहा जाता है। इसके पहले अच्छा-खासा पद्ययुग रहा है। मगर इस गद्ययुग ने शब्दों को इतना अर्थरूढ कर दिया है, प्रत्ययों और परसर्गों को इतना जाकड़ कर दिया है कि आज की कविता शब्दों को टोन तो क्या उनके प्रत्ययों-परसर्गों के पूर्वार्जित लाभों में से फिर किसी ऐतिहासिक लाक्षणिक अर्थ को नए प्रसंग में उपस्थित करती है तो वह आज के गद्य पर जमी हुई आँखों को अनाटकीय जैसा घोर प्रतीत होता है। मगर कविता इसके लिए अपना आन्दोलन चला ही रही है। वह आन्दोलन सचमुच इस बीच के शास्त्र के हिसाब से अशास्त्रीय लगेगा ही, मगर तब नए शास्त्र और शिक्षण की उसके लिए कोई गुंजाइश नहीं होगी, ऐसा ही कौन कह सकता है। और, ऐसा कहकर भी वह पश्चात्पदी न होने का दावा करने वाला, क्या अग्रसर पीढ़ी को पढ़ने की स्थिति तक जी भी सकेगा ?

सूचना

—भारत सरकार की मई की नई घोषणा के अनुसार इस वर्ष विदेशी पुस्तकों का आयात बहुत कम हो गया है। जहाँ पहले २.२५ करोड़ रुपये की पुस्तकें विदेशों से आती थीं वहाँ केवल ७५ लाख रुपये की पुस्तकें आ सकेंगी और इसका सबसे ज्यादा असर टैकनिकल विषयों के छात्रों पर पड़ेगा। विदेशों से टैकनोलोजी तथा साइंस की नई पुस्तकें पाना अब उनके लिए असम्भवप्राय हो जाएगा। अप्रैल में भारत सरकार की घोषणा के अनुसार आगामी छः मास तक पुस्तक-आयात-नीति में कोई परिवर्तन नहीं होना था और इसी आधार पर भारतीय पुस्तक-विक्रेताओं ने विदेशी प्रकाशकों को अपने आर्डर भेजे थे। किन्तु मई में अचानक ही कोटा घटाने का निर्णय किया गया। इस निर्णय से अनेक पुस्तक-विक्रेता, जो विदेशी प्रकाशकों का आर्डर भेज चुके थे, परेशानी में फँस गए हैं। भय है कि आर्डर की पुस्तकें न उठाने पर विदेशी प्रकाशक आगे के लिए भारतीय विक्रेताओं से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेंगे। नये निर्धारित कोटे की पुस्तकें विद्यार्थियों और अनुसन्धानकर्ताओं की आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं कर पाएँगी।

इस सम्बन्ध में दिल्ली स्टेट बुकसेलर्स एसोसिएशन ने राष्ट्रपति, प्रधान-मंत्री तथा आयात-निर्यात के चीफ कन्ट्रोलर्स को एक आवेदन-पत्र भेजकर इस नीति में सुधार करने की माँग की है।

'पुस्तक-जगत' के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ४) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य ३७ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* साधारण अंकों में विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
,, द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
,, आधा पृष्ठ	:	२०.००
,, एक चौथाई पृष्ठ	:	१२.००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,

पुस्तक-जगत, ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना—४

रजिस्टर्ड नं० : पी० ८०४ मूल्य : प्रत्येक अंक ३७ न० पै० वार्षिक: चार रुपये
वर्ष ... अंक—१२ :: अगस्त—१९६२

अखिलेश्वर पाण्डेय द्वारा संपादित, सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, पटना-४ में मुद्रित एवं प्रकाशित

पुस्तक-जगत

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

नई कहानी की शुरुआत से

श्री मधुकर सिंह

कहानी क्या है ? क्या हमारे निश्चित दृष्टिकोण का यह परिणाम है अथवा ऐसी कोई धारणा का, जिसे हम कहानी या कहानीकार पर आरोपित कर अपने विचार की पुष्टि चाहते हैं ? कहानी चाहे नई हो चाहे पुरानी; पर प्रायः हम आदत के अनुसार कहानी के 'व्यतीत' होने के पूर्व ही उसे वर्गीकृत कर अपनी भावुकता का आईना बना लेते हैं। असल में पहले से हमारी एक आदत बन गई है : हर जगह एक 'क्राइटेरिया' तय होता है, जो हमारी मूल्यांकन-क्षमता पर हर वक्त हावी रहता है। अगर कहानी हमारी धारणा में अँटी, भावुकता की एक निश्चित परिसीमा के अन्तर्गत आई, तो हम बाँसों उछलकर उसे सर्वश्रेष्ठ कहानी कहने लग जाते हैं और कहानी की ईमानदारी और कहानीकार की विचार-प्रकिया को नजर-अन्दाज कर बैठते हैं। यही कहानी की एकेडेमिक स्तर से भिन्न अन्य समस्यायें हमारी मानसिक गड़बड़ी और निर्धारित बौद्धिक योजना के कारण उठ नहीं पातीं और कहानी की जिस प्रतिष्ठा के लिये कहानीकार का जन्म होता है, वह व्यर्थ हो जाता है। यहीं हम कहानीकार के साथ बहुत बड़ा विश्वासघात अजाने ही कर बैठते हैं। कहानियों में वर्गीकरण और तत्वों को निर्धारित करने की प्रकिया को ही कहानी को समझाने का माध्यम मान लिया गया है। 'कौशिक'-काल की कहानियों को लें। हम ठाठ से कह दिया करते थे : अमुक कहानी 'चरित्र-चित्रण' की दृष्टि से काफी सफल है, यह 'बाल-मनोविज्ञान' या 'पारिवारिक जीवन' की कहानी है अथवा अमुक कहानीकार ने गृह-कलह की कहानी लिखी है। मतलब यह कि शुरू से ही हर कहानी पर किसी-न-किसी प्रकार का लेबुल चिपका दिया जाता था। कहानी के लिए यही घोर अन्याय हुआ। कविता के लिए ऐसा वर्गीकरण संभव है; किन्तु कहानी inter-action से पैदा होती है। युग की समस्यायें, जिनकी व्यापक प्रतिक्रिया व्यक्ति और समाज के साथ होती है, वही कहानी का विषय बनती हैं। इस inter-action को लेबुल के अन्तर्गत देखना कतई न्याय-संगत नहीं। कहानी की आत्मा प्रत्येक युग की समस्या को बिल्कुल तटस्थ ढंग से अलग-अलग निर्मित करते हुए अपने अन्तर्गत जीवन-प्रकिया के असल रूप को बराबर अक्षुण्ण रखे रहती है। कहानी का यही अघुलनशील गुण है। Inder-action एक सामाजिक और 'कासमिक' सत्य है। फिर ऐसी व्यापकता का वर्गीकरण कैसा ? यह तो मात्र पागलपन है; बाँट कर देखने की यह आदत बहुत-बहुत गड़बड़ है, जो हम पर थोपा हुआ चला आ रहा है।

तब इन सबों का निष्कर्ष यह निकला कि कहानी परखने और उसके मूल्यांकन की हमारी जो रूढ़िग्रस्त आदतें हैं उन्हें बदलना है और तभी कहानी की पठन-प्रक्रिया में भी अपने आप ही परिवर्त्तन होने लग जायेगा। सवाल आज कथ्य का है, कथानक का नहीं। कथानक तो पाठकों के मन में होता है। मात्र कथ्य की ही जिम्मेवारी कहानीकार की है। कथानक तो पाठक आखिर ढूँढ ही निकालता है।

परम्परा के अनुसार व्यक्तित्व बनने के बाद ही किसी के कृतित्व को पहचाना गया है। कई अन्तरालों के बावजूद ऐसे व्यक्तित्वों को जोड़कर एकसूत्रता कायम करने का प्रयत्न किया जाता रहा है। चेखव के महाकाव्यात्मक व्यक्तित्व को ओ' हेनरी से जोड़ते हुए हेमिंग्वे तक खींचा जाता है। यही बात हिन्दी के साथ भी दुहराई जा सकती है। इसी एकसूत्रता की काया में कहानी का अध्ययन-मूल्यांकन होता रहा है। बड़ी अजीब-सी बात लगती है। क्या हमारी परख का यह ढंग ठीक है ? यहाँ यदि हम वर्गीकरण के उस माप-तौल को लेकर बैठें, तो क्या किसी भी कहानी के साथ हम उचित न्याय कर सकेंगे ? अगर समस्याओं के कारणों को उभारने के लिये कहानीकार द्वारा कोई अद्भुत, विलक्षण और मौलिक बात कह दी जाती है, तो मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि कोई भी उसे वर्गीकरण के आधार पर नहीं ढूँढ सकता। उसे ढूँढने के लिये तो पकड़ की अद्भुत क्षमता चाहिये।

प्रेमचन्द और अज्ञेय ने कहानी की 'पोटेनसीयल्टी' को इतना 'एक्सप्लॉयट' कर लिया है कि आज के लिये कहानी की 'पोटेनसीयल्टी' समाप्त हो गई है। यही कारण है कि उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न कहानी में अराजकता एक दोष बनी हुई है। इस अराजकता के चलते जो कहानीकार 'कल्पना', और 'कहानी' में लिखता है, वही 'सरिता' और 'मनोहर कहानियाँ' में भी लिखता है। यह व्यावसायिक आधार कहानी के 'पोटेनसीयल' होने में बाधक होता है। इसलिये आज की कहानी को साहित्यिक और असाहित्यिक रूपों में देखा जा सकता है।

मेरा विश्वास है कि मनुष्य न केवल जीवित रहेगा, बल्कि उसकी विजय भी होगी। वह अमर है, केवल इसलिए नहीं कि प्राणियों में केवल उसी की वाणी अद्भुत है, बल्कि इसलिए कि उसके पास एक ऐसी आत्मा है, एक ऐसी प्रेरणा है जो दया, त्याग और सहिष्णुता से ओतप्रोत है। कवि और लेखक का कर्त्तव्य यह है कि वह इन बातों के बारे में अपनी लेखनी उठावे। यह उसका ही कार्य है कि वह उन गुणों का स्मरण कराकर, जो अतीत काल से उसकी विभूति रहे हैं, अपना अस्तित्व बनाए रखने में उसकी सहायता करे।

—स्व० विलियम फौकनर (नोबेल-पुरस्कार के समय भाषण)

पुस्तक-प्रकाशन : एक दायित्व

श्री गोपालजी 'स्वर्णकिरण'

पुस्तक-प्रकाशन का दायित्व मुख्यतया दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : एक तो लेखकीय और दूसरा प्रकाशकीय। लेखकीय और प्रकाशकीय दायित्वों में कौन गुरुतर है, यह भी विवाद का प्रश्न है; पर यह निर्विवाद है कि पाठक, दोनों के दायित्व के सम्यक् रूप से पूरा होने पर ही, अधिकाधिक लाभ उठाता है। आज का पाठक अब पहले का पाठक नहीं रहा। द्रुतगति से वैज्ञानिक विकास होनेवाले युग में मस्तिष्क का विकास तेज़ी से हो रहा है। बौद्धिक दृष्टि से हम पहले की अपेक्षा अधिक सचेष्ट हैं, इस दृष्टि से पुस्तक-प्रकाशन का प्रश्न अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है।

पुस्तक-लेखन का दायित्व मूलतः लेखक पर है और प्रकाशन का मूलतः प्रकाशक पर; पर दोनों की साँठगाँठ से कुछ ऐसी पुस्तकें भी प्रकाशित हो जाती हैं, जिनका दायित्व युगपत् रूप से दोनों पर कहा जाएगा। इससे लाभ तो लेखक और प्रकाशक दोनों को होता है; कम लाभ का भागी बनता है तो बेचारा पाठक। पाठकीय दृष्टिकोण का विचार प्रकाशक अवश्य करते हैं, और यदि सच पूछा जाए तो, उनके लिए यह अपेक्षित ही नहीं, अनिवार्य है। व्यावसायिक दृष्टिकोण, पाठकीय दृष्टिकोण —दोनों पर प्रकाशकों का ध्यान समान रूप से जाना चाहिए।

पुस्तकों की सामान्यतया दो कोटियाँ हैं—पाठ्यक्रमीय तथा पाठ्यक्रमेतरीय। इनमें पाठ्यक्रमेतरीय पुस्तक अधिक विचार-योग्य हैं। वास्तव में, पाठ्यक्रमीय पुस्तकों के ज्ञान को सुपुष्ट करने के लिए ही पाठ्यक्रमेतरीय पुस्तकों का प्रकाशन होता है। इससे एक ओर जहाँ ज्ञान के क्षेत्र में बौद्धिक विकास होता चलता है, दूसरी ओर व्यवहार-क्षेत्र में लाभ भी प्राप्त होता है—लेखक यश के भागी बनते हैं, प्रकाशक को अमित द्रव्य की प्राप्ति होती है। पर लेखक और प्रकाशक जहाँ सीमोल्लंघन करते हैं, वहीं एक विचारणीय प्रश्न खड़ा हो जाता है—लेखक और प्रकाशक का सम्बन्ध कहाँ तक उचित है तथा इनमें व्यावसायिक दृष्टि का योग किस सीमा तक उचित है।

पुस्तक-लेखन के पीछे पुस्तक-लेखन का परिश्रम निस्सन्दिग्ध है। कदाचित् इसीलिए पुस्तकों को 'जीवन-रुधिर' (Life blood) कहकर पुकारा गया है। किन्तु कुछ लेखक बिना परिश्रम के ही अधिक यश प्राप्त करना चाहते हैं। इससे पाठक अधिक लाभान्वित नहीं हो पाता। ऐसे में, पुस्तकें कभी तो भरती की चीजों से भरी-पूरी रहती हैं—अनावश्यक मुटापे का शिकार, कभी बहुफलप्रदीय आवृत्यात्मक शैली (Copious style) से युक्त होती हैं—पाठकों के मस्तिष्क पर सन्देह करनेवाली ! दायित्व पर ध्यान देनेवाला लेखक, पुस्तक-समाप्ति के समय, सोचता है—पुस्तक में बासी चीजें तो नहीं दे दी गयीं, पुस्तक अनावश्यक रूप से मोटी तो नहीं हो गयी, पुस्तक की शैली प्रदर्शनात्मक तो नहीं हो गयी, पूर्व प्रकाशित पुस्तक का शीर्षक मात्र तो नहीं बदल दिया गया, इत्यादि। लेखक की कमी, दायित्व पर ध्यान देनेवाले प्रकाशक भी दूर कर देते हैं; पुस्तक-प्रकाशन के पूर्व वे कई दृष्टियों से उसे तौलते हैं, पर उनमें व्यावसायिकता की मात्रा अधिक होने पर उनकी तौल कभी-कभी ठीक नहीं भी हो पाती। वे प्रकार से बढ़कर, पुस्तक के आकार को महत्त्व दे बैठते हैं, पुस्तक को भारी-भरकम बनाकर लेखक के ज्ञान का विज्ञापन करते हैं, पाठकों को आतंकित करने की चेष्टा करते हैं; और बेचारा पाठक कभी-कभी आतंकित भी हो जाता है।

पुस्तक-लेखक का परिश्रम और साधना पुस्तक में ही आभासित होती है; अतएव ईमानदार लेखक पुस्तक के मुटापे पर कभी ध्यान नहीं देते। यही कारण है, वे जीवन-धारा से युक्त पतली पुस्तक को, जीवन-धारा से शून्य मोटी पुस्तक की अपेक्षा, अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। डॉ० देवराज, आचार्य नलिनविलोचन शर्मा प्रभृति कतिपय आलोचकों ने पुस्तक के प्रकार का महत्त्व, मुक्तकण्ठ स्वीकार किया है। यहाँ, यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि पुस्तक के आकार का कुछ मूल्य है ही नहीं। पुस्तक के आकार का कुछ प्रभाव पाठकों पर अवश्य पड़ता है, पर

अनावश्यक रूप से स्थूल आकारवाली पुस्तक के प्रति घृणाभाव भी अत्यन्त स्वाभाविक है।

पुस्तक-प्रकाशक की ईमानदारी के प्रति भी सन्देह नहीं होना चाहिए। बेचारा प्रकाशक कभी-कभी छली लेखक के द्वारा छला भी जाता है। सर्वज्ञता का दावा कोई नहीं कर सकता। न लेखक, न प्रकाशक। इस स्थिति में बेचारा प्रकाशक क्षम्य है। लेखक के भुलावे में आकर वह ऐसी पुस्तक प्रकाशित कर देता है, जो संकलन-चातुर्य के कारण काफी भारी-भरकम दीखती है। पुस्तक का भारी-भरकमत्व प्रबुद्ध पाठक के सामने महत्त्वहीन है। पर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यावसायिक दृष्टि से आबद्ध होने के कारण, पतली पुस्तक को प्रकाशक मोटी बनाकर छापता है—ऐंटिक पेपर और दूर-दूर की छपाई से पुस्तक के पृष्ठ अनावश्यक रूप से बढ़ा देता है। पृष्ठों के बढ़ जाने से मूल्य का बढ़ जाना स्वाभाविक है। वस्तुतः, बाजार में वही पुस्तक अधिक चलती है जो कम-से-कम दाम में अधिक-से-अधिक चीज देती है। अल्पतम द्रव्यराशि से अधिकतम सन्तोष, यह अर्थशास्त्रीय दृष्टि है, और ऐसा शायद ही कोई पाठक होगा जो इस दृष्टि से पुस्तक का चुनाव नहीं करता हो।

यह प्रसन्नता की बात है कि पुस्तकों के बढ़ते हुए मूल्य की प्रतिक्रिया में, कुछ दायित्व पर ध्यान देनेवाले प्रकाशक कम मूल्य में अधिक मूल्य की पुस्तकें प्रकाशित कर रहे हैं। मेरा संकेत पॉकेट बुक सीरीज निकालनेवाले प्रकाशकों की ओर है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा करने से पाठकों का अधिकतम लाभ होगा, साथ ही यह भी निस्सन्दिग्ध है कि पुस्तक-लेखक भी अधिकतम यश प्राप्त करेगा—लोकप्रिय हो जायगा। प्रकाशकों का यह कदम प्रशंसा के योग्य है, पर उन्हें सदैव सतर्क रहना चाहिए कि किसी पुस्तक को, अनावश्यक रूप से महत्त्व नहीं मिले। इसके लिये पुस्तकों के शाश्वत मूल्यबोध की ओर उनका ध्यान जाना अपेक्षित है। ऐसी पाकेट बुक सीरीज की पुस्तकों के कागज का प्रश्न अलग लेख का विषय है, पर इस सम्बन्ध में यहाँ एक बात पर विचार कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा। एक ही पुस्तक का पॉकेट बुक सीरीज दो प्रकाशकों के यहाँ से इसलिए निकालना कि एक में कागज़ अच्छा, मैटर कम; दूसरे में कागज खराब, मैटर ज्यादा हो—पाठक के साथ सद्व्यवहार नहीं कहा जा सकता। ऐसे प्रकाशकों (नाम लेना उचित नहीं समझता) को सावधान होना अपेक्षित है। पुस्तक-क्रेता प्रकाशकों की ईमानदारी पर विश्वास करता है, यदि प्रकाशक इस तरह का तरीका अख्तियार करेंगे तो फिर पुस्तक-क्रेता अथवा पाठक भी सावधान हो जायगा।

कुशल प्रकाशक पुस्तक के सामयिक मूल्य, शाश्वत मूल्य—दोनों पर समान रूप से विचार करते हैं। भरती की चीजों, पुस्तक के स्थूल आकार से वे आतंकित नहीं होते, न अच्छे और खराब कागज़ में मैटर को कम और ज्यादा करके पाठक को धोखे में रखते हैं। पुस्तक-प्रकाशन का व्यवसाय, संसार के अन्य व्यवसायों में सबसे पुण्य-व्यवसाय है, अतएव प्रकाशक सदैव नमस्य हैं, प्रशंस्य हैं। उन्हें अनमस्य एवं अप्रशंस्य कार्यों के प्रति सावधान रहना चाहिए। पुस्तक के आकार की तुलना में प्रकार की ओर ध्यान जाना अनिवार्य है।

अमेरिका के महान् उपन्यासकार विलियम फौकनर एक विश्व-नागरिक थे। उनकी लेखनी का मुख्य विषय मानव की 'दुखांत गाथा' थी। उनकी रचनाएँ एक नहीं अनेक रूपों में, उनके हृदय में होनेवाले आंतरिक संघर्ष को प्रतिबिम्बित करती हैं। विशद और जटिल रूपकों द्वारा यह कहानी पाठकों का ध्यान आधुनिक संसार में मानव के अस्तित्व से सम्बन्धित कुछ आधारभूत समस्याओं की ओर आकर्षित करती है। यदि फौकनर आधुनिक युग के एक सर्वाधिक विवाद-ग्रस्त लेखक के रूप में सामने आये, तो इसके दो मुख्य कारण हैं। पहला कारण यह है कि हाल के वर्षों में केवल गिने-चुने लेखकों ने अपने पाठकों के समक्ष मननार्थ मानव-जीवन की इतनी अधिक समस्याएँ प्रस्तुत की हैं। दूसरा कारण यह है कि फौकनर ने आधुनिक युग में लेखकों और उनकी कृतियों के महत्त्व के सम्बन्ध में बहुत स्पष्टता के साथ और प्रभावशाली ढंग से अपने विचार व्यक्त किये हैं।

—किशोर २५।५

मुसलमानी राजत्वकाल में लिपि का प्रश्न

श्री उमाशंकर

आज भारत की राष्ट्रलिपि देवनागरी है। भारतीय विधान द्वारा उसकी स्वीकृति मिली है। पर उस पद को प्राप्त करने के लिये नागरी को काफी संघर्ष करना पड़ा था। उस संघर्ष की कहानी रोचक भी है, महत्त्वपूर्ण भी। अभी तक उसका कोई लिखित इतिहास हमारे सामने नहीं है। जो कुछ भी है, वह जहाँ-तहाँ विखरा हुआ है। समय जिस तेज गति से भाग रहा है, अगर उपलब्ध तत्त्वों को इतिहास के सूत्र में बाँधा न जायेगा, तो हमें भय है कि हम उन्हें खो देंगे। नीचे के पंक्तियों में मैंने विखरे हुए तत्त्वों को इतिहास के सूत्र में बाँधने का प्रयास किया है।

आज नागरी जिस पद पर है, वह उस पद पर पहले भी थी। वह उस पद पर कब आई, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है, पर वह अपने पद से सम्राट अकबर के २६ वें वर्ष के शासन-काल में अपदस्थ हुई थी। और, पुनः भारतीय विधान के द्वारा सन् १९५० में वह भारत की राष्ट्रलिपि घोषित की गई। नागरी की जननी ब्राह्मी लिपि है। वह भारत की प्रथम राष्ट्रलिपि भी है। इसका प्रसार हिमालय की तलहटी से कन्याकुमारी तक था। इतना ही नहीं, रंगून से पेशावर तक उस लिपि का प्रचार था। भारत के विभिन्न अंचलों में अशोक के जो शिलालेख मिलते हैं, उनकी लिपि ब्राह्मी लिपि है। अशोक का एक शिलालेख लंका में मिला है, दूसरा शिलालेख टेनीमेली जिला में देखा गया है। उन क्षेत्रों में द्रविड लिपि का प्रचलन है। उन क्षेत्रों में भी ब्राह्मी लिपि सर्वसाधारण की लिपि थी। अगर ऐसी बात न होती तो, शिलालेखों पर सम्राट अशोक का आदेश ब्राह्मी लिपि में अंकित न होता।

बाद में वह स्थिति नहीं रही। राज्य बदला, परिस्थितियाँ बदलीं। वातावरण में उलट-पुलट हुआ। साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। इस पट-परिवर्त्तन में ब्राह्मी लिपि का स्वरूप भी बदला। यह परिवर्त्तन विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न ढंग से हुआ। यही कारण है कि आज उत्तर के प्रत्येक अंचल में जिस लिपि का प्रयोग हम पाते हैं, उनपर ब्राह्मी लिपि की स्पष्ट छाप है। नागरी लिपि पर ब्राह्मी की छाप भर ही नहीं है, उसमें हम ब्राह्मी लिपि के व्यापक स्वरूप का दर्शन भी पाते हैं। देवनागरी लिपि ब्राह्मी का परिवर्त्तित रूप है।

लिपि का नाम देवनागरी क्यों पड़ा? इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न विद्वान अपने-अपने ढंग से अबतक देते रहे हैं, पर वास्तविक बात तो यह है कि लिपि का नाम नागरी इसलिये पड़ा कि वह नागरों की लिपि थी। नागर का अर्थ होता है, सभ्य और सुसंस्कृत लोग। ऐसे लोगों का क्षेत्र सीमित नहीं होता। वे सर्वत्र रहते हैं। अतः नागरी लिपि सर्वत्र देश की लिपि थी। देव की संज्ञा, श्रेष्ठ लोगों की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रेष्ठ एवं सभ्य लोगों की लिपि देवनागरी थी। ऐसे ही लोगों द्वारा राज्य-संचालन होता था। इसलिये इस लिपि का राज्य-लिपि के रूप में प्रयोग होने लगा था। इस लिपि का कब से राज्य-लिपि के रूप में प्रयोग हुआ, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है, पर सन् १५४ ई० के पूर्व इस लिपि का प्रयोग आरंभ हो गया था, यह निश्चित है। कारण, सन् १५४ ई० का नागरी लिपि में लिखित राष्ट्र-कूट-सम्राट दण्डी दुर्ग का एक अनुदान-पत्र प्राप्त है। इससे यह तो प्रमाणित होता है कि नागरी लिपि का राज्य-लिपि के रूप में प्रयोग होने लगा था। यह तो सर्वमान्य है कि १० वीं शताब्दी में तो उसका राष्ट्र-लिपि के रूप में प्रयोग होता था। उस समय का जो नागरी का रूप मिलता है, वह नागरी आज की नागरी से बहुत भिन्न नहीं है। आरंभ से ही नागरी लिपि की विशेषता रही है—'लचीलापन'। आवश्यकता के अनुसार उसके रूप में परिवर्त्तन होते गये हैं। अभी भी उसके रूप में परिवर्त्तन करने की आवश्यकता समझी जा रही है। आये दिन इसके सम्बन्ध में सुझाव मिलते रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुसलमान जब भारत आये थे, तब देश की राष्ट्रलिपि नागरी थी। वे आते ही

उसे उसके पद से अपदस्थ नहीं कर सके। उन्हें राज्य करना था, लोगों को एकता के सूत्र में बाँधकर रखना था। अतः उन्होंने नागरी को राष्ट्रलिपि के रूप में ही अपनाया। उनके समय सर्वत्र इसका प्रयोग होता था। दक्षिण भारत में औरंगाबाद में नागरी लिपि में लिखित अभिलेख मिले हैं। वहाँ की लिपि द्रविड-लिपि है। इस प्रकार हम देखते हैं कि द्रविड-लिपि के क्षेत्र में भी नागरी लिपि का प्रचलन था। मुहम्मद गजनी जब भारत आया था, तब उसके साथ एक यात्री अलबरूनी नाम का भी आया था। उसने अपनी पुस्तक 'तहीकिक-ए-हिन्द' में यह स्वीकार किया है कि नागरी लिपि का प्रचार देश में था। उसका सामान्य लिपि के रूप में प्रयोग होता था। मुहम्मद गजनी ने नागरी लिपि को भारत की प्रधान लिपि के रूप में देखा था। उसके अनुसार, नागरी लिपि भारत की सामान्य लिपि कही जाती थी। मुसलमानी शासन-काल में मुहम्मद कासिम से लेकर सम्राट अकबर के २५ वें वर्ष तक नागरी लिपि का प्रवेश मुसलमानी दरबार में था।

मुसलमानी राजत्व-काल में नागरी का समुचित आदर था। राज्य-कार्यों में नागरी का प्रमुख स्थान था। मुसलमान-सरदार विजय-प्राप्ति के सम्मुख हिसाब-किताब के काम को हेय समझते थे। फलतः वे देश के जिस भाग पर विजय प्राप्त करते थे, वहाँ का कार्य वे वहाँ के कर्म-चारियों पर ही छोड़ देते थे। वे कर्मचारियों को हटाते नहीं थे। वे इसीलिए ऐसा करते थे कि कार्यालय का काम यथाविधि पूर्ववत नागरी लिपि में होता रहे। सन् १०३० में महमूद गजनवी ने पंजाब का शासन अपने हाथ में लिया। उसने भी राज्य-कार्य के लिये नागरी लिपि को स्वीकार किया। उसका एक सिक्का इधर प्राप्त हुआ है। वह चाँदी का है। उसपर अंकित है—'अयंम टंकम मुहम्मदपुर घटिते हिजिरियेन संवति ४१८।' उस समय का एक कलाम भी नागरी लिपि में अंकित मिला है। उसके शब्द इस प्रकार हैं :—

अव्यक्तमं मुहम्मद अवतार,

नृपति महमूद [illegible]

याने ईश्वर अदृश्य है, मुहम्मद अवतार हैं, महमूद राजा है। संवत् १२५० में शाहाबुद्दीन गोरी ने दिल्ली पर कब्जा किया। फिर भी राज्य-कार्य नागरी लिपि में चलता रहा। दिल्ली के सम्राट मुहम्मद बिन शाम का सोने का एक सिक्का अभी उपलब्ध हुआ है। उस सिक्के पर लक्ष्मी की मूर्ति अंकित है। और, उसपर अंकित है—'श्री मुहम्मद विनिसाम।' इस प्रकार का सिक्का प्रत्येक पठानों का उपलब्ध है। गयासुद्दीन तुगलक का एक सिक्का मिला है, जिसपर अंकित है—'श्री सुलतान गयासदीं।' उसके उत्तराधिकारी मुहम्मद बिन तुगलक ने भी एक सिक्का चलाया था, जिसके उपर 'श्री मोहम्मद' लिखा हुआ था।

यह सत्य है कि सिकन्दर लोदी ने हिन्दुओं को फारसी पढ़ने के लिये मजबूर किया था, पर उसने कार्यालय का काम नागरी लिपि में ही रखा। शेरशाह ने भी फारसी पढ़ने पर जोर दिया था। फिर भी सूरवंशी शासन में नागरी लिपि कचहरी से अपदस्थ नहीं हुई। मुगलों के आने के बाद भी नागरी लिपि का पूर्ववत प्रचलन रहा। लोदी-वंश के बाद एवं सूरवंशी शासनकाल में काफी हिन्दू फारसी जानने लगे थे। जिनके पूर्वज नागरी लिपि में काम करते आ रहे थे, उनके वंशज मुसलमानी दबाव में फारसी के अच्छे जानकार हो गये थे। पढ़ाई का अर्थ चाकरी था। नागरी लिपि में जानकारी न होने के कारण मुसलमानी दरबार की नौकरी प्राप्त होना उनके लिये कठिन हो गया था। शिक्षितों की एक बेकार सेना आप-से-आप कायम हो रही थी। लोगों के सामने एक ओर नागरी का मोह था, दूसरी ओर रोटी की माँग थी। पेट की जीत हुई। ऐसे फारसी-जानकारों को नौकरी दिलवाने के लिये राजा टोडरमल ने महान हिन्दी-भक्त अकबर के राज्य-काल में उसके शासन के २६ वें वर्ष में नागरी के स्थान पर फारसी का प्रवेश कराया। इतना तो हुआ, पर मुसलमान बादशाहों ने हिन्दी से और नागरी से प्रेम न तोड़ा। अकबर स्वयं हिन्दी में कविता करता रहा। उसने अपने पुत्र सलीम को हिन्दी पढ़ाई और अपने पोते खुसरो को, जब वह पाँच वर्ष का था, तब उसे नागरी लिपि में हिन्दी पढ़ने के लिये भूदत्त भट्टाचार्य के पास भेजा। फारसी अकबर के समय लादी गई। पर, जबतक मुगलों का शासन रहा, तबतक वह हमारे लिये अधिक भार नहीं हुई। जिस भाषा का प्रयोग होता था, वह हिन्दी से अधिक भिन्न नहीं थी। वह हमारी जानी और समझी हुई थी। उसका नाम उर्दू था। उर्दू को हम एक हिन्दी की शैली मानते रहे हैं। नागरी लिपि अपदस्थ जरूर हुई थी, पर भाषा का स्वरूप बहुत नहीं बिगड़ा था। उसका रूप तब बिगड़ा, जब अंग्रेज आये।
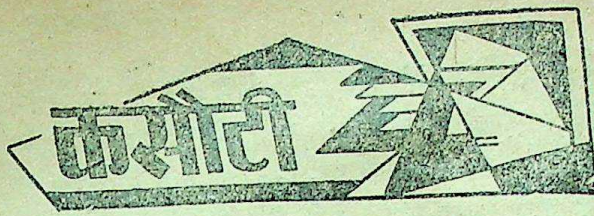
भारतीय फिल्मों की कहानी

लेखक—बच्चन श्रीवास्तव

प्रकाशक—राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली

मूल्य—४.५० : पृष्ठ—२१४+२४

'भारतीय फिल्मों की कहानी' भारतीय फिल्मों के क्रमबद्ध एवं प्राथमिक इतिहास का प्रथम प्रयास है। लेखक ने सिनेमा के जन्म से लेकर सन् ६० के अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म-समारोह तक फिल्मों, फिल्मस्टारों, फिल्म-व्यवसाय सम्बन्धी इस श्रमसाध्य एवं द्रव्यसाध्य कार्य को बड़ी निष्ठा एवं ईमानदारी से पूरा द्रष्टव्य किया है। यह बात लेखक के 'दो शब्द' से भी विदित होती है। यथा, "इस इतिहास पर मैंने सन् ४८ के आस-पास कार्य करना आरम्भ किया था। प्रथम दस वर्ष तो केवल शोधकार्य एवं सामग्री-चयन में लग गये। उसके पश्चात् इसे प्रस्तुत रूप देना आरम्भ किया तथा सन् ६२ में पुस्तक प्रकाशित हुई।" लेखक के इस कथन में भी अतिशयोक्ति नहीं है कि सिनेमा के सम्बन्ध में प्रकाशित होने वाली यह केवल राष्ट्रभाषा ही की प्रथम सचित्र ऐतिहासिक पुस्तक नहीं है, अँगरेजी में भी अभी तक ऐसी कोई पुस्तक देखने में नहीं आयी। केवल दो-तीन पुस्तकों में इतिहास-विषयक दो-एक अध्याय ही पढ़ने को मिलते हैं। इस स्थिति में पुस्तक-लेखक एवं प्रकाशक ने, न केवल सिनेमा-प्रेमियों, बल्कि अन्य पाठकों के लिए, एक बड़े अभाव की पूर्त्ति की है। अतएव लेखक तथा प्रकाशक दोनों बधाई के पात्र हैं। पुस्तक परिचयात्मक है, शोध-प्रबंध नहीं है, पुनरपि इसका रूप मूलतः शोधात्मक है। इसकी उपयोगिता और बढ़ जाती यदि लेखक पुस्तक के अन्त में सिनेमा फिल्म, फिल्मस्टार, फिल्म कम्पनी, निर्माता, निर्देशक आदि की सूची अक्षरानुक्रम से परिशिष्ट रूप में जोड़ देता। २४ पृष्ठों (आर्ट पेपर) पर क्रमिक रूप में सिनेमा-चित्रों को प्रकाशित कर लेखक ने इस ओर अपनी रुचि दिखलाई है। तथ्य एवं आँकड़ों के प्राचुर्य से भी इतिहास की नीरसता अथवा डाक्यूमेण्ट्री की शुष्कता नहीं आयी है। यह पुस्तक की सफलता सूचित कर रही है।

छपाई, सफाई और सजावट प्रशंसनीय है।

चार परतें (उपन्यास)

लेखिका—प्रकाशवती

प्रकाशक—राजपाल एंड संज, दिल्ली

मूल्य—३.०० : पृष्ठ—१५४

आलोच्य कृति 'चार परतें' प्रकाशवती का उल्लेख्य सामाजिक उपन्यास है। इसकी रचना मनोविज्ञान के आत्मचेतना-प्रवाह (Stream of consciousness) तथा प्रत्यग्दर्शन-प्रणाली (Flash back method) के आधार पर हुई है। ऐसे उपन्यास जीवन की वास्तविकता को चित्रित करने के कारण अत्यधिक रुचिकर होते हैं। 'चार परतें' इसका अपवाद नहीं है। लेखिका ने अपनी ओर से यहाँ कुछ नहीं कहकर उपन्यास के मुख्य पात्रों-पात्रियों—वांछा, चिन्मय, पुरुषोत्तम और श्रीकान्त के मुख से ही जीवन के अंतरंग को हमारे सामने रखा है। उपन्यास की नायिका वांछा का अतृप्त जीवन समाज के कठोर विधि-निषेधों के कारण तृप्ति प्राप्त नहीं करता। वह बचपन में पुरुषोत्तम की ओर आकृष्ट होती है, मन-ही-मन पुरुषोत्तम के चरणों पर अपने को अर्पित कर देती है; पर कालक्रम से उसका लाल गुलाब-सा मुँह सूख कर बासी चम्पा हो जाता है। वह अपनी इच्छा के प्रतिकूल एक लम्पट स्वभाव के कवि चिन्मय के साथ बाँध दी जाती है। सुहाग-रात में ही वांछा की इच्छा का बोध हो जाता है। अस्पताल के सर्जिकल वार्ड में वांछा का यह कथन पुरुषोत्तम के प्रति वांछा के आत्म-समर्पण का परिचय देता है—'आह, पुरुषोत्तम, कितने रूपों में छल रहे हो? तुम जन्म-जन्मान्तर से मुक्त प्यासी को भुला रहे हो और मैं तुम्हारे ही पीछे भागती जा रही हूँ। निष्ठुर, मैं तो युग-युग से तुम्हारे लिए रोया करती हूँ—त्रेता में गर्भभार से कातर सीता के वेश में, द्वापर में राधा बनकर, कलि के एक चरण में मीरा होकर और फिर इस वांछा के रूप में जन्म-जन्म की अतृप्ति, अधूरी कामनाएँ लेकर तुम्हें छूने आई तो पुरुषोत्तम बनकर तुमने ऐसा रुलाया कि सभी जन्मों की कठोरता

पराजित हो रही' (पृष्ठ १५)। पुरुषोत्तम आई० सी० एस० की तैयारी में विदेश जाता है और लौटने पर अपनी हॉबी के कारण रामगढ़ काँग्रेस के अधिवेशन में। वहीं छविछाया के भाषण से प्रभावित हो उसे अपनी अर्द्धांगिनी बना लेता है। चीफ जस्टिस बनता है, पर उसके जीवन में वांछा के लिए कुछ आकर्षण रह जाता है। पुरुषोत्तम का कथन है, "वांछा को त्यागकर क्या मैंने लोक-कल्याणी की वह सिद्धि प्राप्त कर ली? उसने तो अपना कल्याण भी नहीं किया। बावली! चिन्मय ने अपने वक्तव्य में लिखाया है, सुहाग की प्रथम रात्रि में ही उसने कहा था, मैं दूसरे की हूँ" (पृष्ठ ६५)। "काम और निष्काम, त्याग और अनुराग ये ही दो तट-बंध हैं जीवन-प्रवाह के। छविछाया मेरे सम्पूर्ण काम की उपलब्धि है तो वांछा मेरी अपूर्ण साधों की पूर्ण सिद्धि। एक उपभोग्या होकर लोक और परलोक की भी अधि-कारिणी है, दूसरी अन्तर्वासिनी जन्म-जन्मान्तर की स्वप्न-प्रिया है (पृष्ठ ६८)।" वांछा के पुत्र हो जाने पर कवि चिन्मय वांछा से और अन्यमनस्क रहता है। वांछा के पुत्र विनय की आकृति पुरुषोत्तम से मिलती है। कदाचित् इसी से चिन्मय वांछा पर कुलटा और विश्वासघातिनी होने का आरोप लगाता है। अपनी नयी पुस्तक 'हँसी की किश्तें' के आवरण के लिए परेशान रहता है। उसे दो सौ रुपये चाहिए। वांछा पुरुषोत्तम को खादी-भण्डार से पाँच-छः हजार की खादी दिला देती है, पर चिन्मय के लिए दो सौ रुपये का प्रबंध नहीं करती। इन छोटे अपराधों का परिणाम होता है चिन्मय द्वारा वांछा पर बुरी तरह प्रहार और पेट में छूरे का आघात। वांछा को फँसाने के लिए चिन्मय तरकारी बनाने की छुरी स्वयं भी पेट में भोंक लेता है। वांछा घुलघुलकर मरती है, चिन्मय खूनी हवालात में बन्द होकर चेतना-प्रवाह में बहता है, "मैंने स्वयं अनेक से प्रेम किया है। नारी-रूप के विभिन्न प्रकारों को मैंने आकंठ भोगा है। लेकिन ऐसी हार मुझे कहीं नहीं मिली। यह साधारण नारी! (पृष्ठ ६८)। कांत (श्रीकांत) ने दुहरा छल किया। मुझे तो धोखे में रखा ही, वांछा को भी बहलाए रहा (पृष्ठ ७०)

डाक्टर नीलरत्न मेरे लंगोटिया यारों में थे। ....उस उड़िया युवती हिमानी ने जब मुझे कानून के हाथों गिरफ्तार कराना चाहा था, इन्हीं की दया से मैं मुक्त हो सका था। किन्तु वांछा मेरी नवपरिणीता थी। उसकी पाप-कथा उसके पति के मुँह से निकले, इस साहस और शक्ति के लिए, डाक्टर की आलमारी से निकालकर पूरी बोतल अकेले चढ़ा गया (पृष्ठ ७६) ...फिर पता नहीं कबतक मैं पशुओं की तरह उसे पीटता रहा। शाम को जब घर लौटा, तब वांछा रक्तक्लेश में पड़ी बुरी तरह ऐंठ रही थी (पृष्ठ ८४)।" चिन्मय अपनी आत्म-हत्या भी नहीं कर पाता। श्रीकान्त पश्चात्ताप से अपने को शुद्ध करना चाहता है, पर कर नहीं पाता। उसकी स्वकारोक्ति है, "स्वार्थ की कड़ियों से मैं बुरी तरह कसा जा चुका हूँ। मेरी मुक्ति कभी नहीं हो सकती" (पृष्ठ १३६)। "पुरुषोत्तम का वह दबा निश्वास आज भी कानों को सुनाई पड़ता है। उसकी व्यथा आज भी प्राणों को सर्द कर जाती है। मुझे क्षमा कर दो, न्यायपति, आज समझ सका, वांछा तुम्हारे किन गुणों की पूजा करती थी। तुमने जिस आसन से चिन्मय को सजा दी, मुझे क्यों छोड़ दिया? चिन्मय तो फाँसी पर झूलकर सभी पाप-तापों से मुक्त हो जायगा। मैं भूल सकूँगा, यह सब? पापी तो मैं हूँ, पुरुषोत्तम, मैं यहाँ हूँ, मुझे भी फाँसी दे दो" (पृष्ठ १४०)।

उपन्यास मूलतः समस्यामूलक है और लेखिका को अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई है। वांछा के आत्म-समर्पण एवं स्पष्टीकरण में भारतीय संस्कृति मुखरित हो रही है। पश्चात्ताप भी जीवन-शुद्धि का सुनहला साधन है। लेखिका के ये उद्देश्य पात्रों-पात्रियों के कथनों में स्थान-स्थान पर दिखाई पड़ते हैं। उपन्यास के चरित्र पिटे-पिटाये नहीं, अपने-आपमें नवीनता लिए हुए हैं। समूचा उपन्यास वांछा के आत्म-विश्लेषण से भी पूरा हो सकता था, किन्तु तब इसका रूप दूसरा ही होता। यद्यपि लेखिका के शब्दों में इस उपन्यास के पात्र, स्थान और घटनाएँ सभी कल्पित हैं, तथापि ये वास्तविकता से दूर नहीं हैं। लेखिका ने 'चार परतें' इसका नामकरण कर अपनी कुशलता का परिचय दिया है। समाज के

प्रचलित विधि-निषेधों में एक व्यक्ति का नहीं, अनेक व्यक्तियों का हाथ होता है। वांछा के पतन में दोष केवल वांछा का ही नहीं, अपितु समूचे समाज का है। लेखिका ने वैवाहिक समस्या को निकटता से सोचने के लिए बाध्य किया है।

उपन्यास का शिल्प-विधान, उपन्यासों की भीड़ से इसे अलग करता है। मनोविश्लेषणात्मक शैली में अनेक उपन्यास लिखे जा रहे हैं। पर 'चार परतें' में कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। भावनात्मक शैली में संयम का बाँध टूट जाता है। लेखिका ने बड़े मनोयोग से शैली पर विवेक का अंकुश रखा है। नये बिम्ब, नये उपमान, नये दृश्य एवं सुन्दर सूक्तियों से भरा-पूरा यह उपन्यास प्रशंसार्ह है।

आवरण-पृष्ठ संतोषजनक है, छपाई एवं सजावट अच्छी है।

नये-पुराने झरोखे

लेखक—बच्चन

प्रकाशक—राजपाल एंड संज़, दिल्ली

मूल्य—४.५० : पृष्ठ—२६७

'नये-पुराने झरोखे' हिन्दी के सुप्रतिष्ठित कवि 'बच्चन' के सन् १९३२ से १९६१ तक, लगभग ३० वर्षों के बीच, समय-समय पर लिखे गये निबन्धों और वार्त्ताओं का नातिदीर्घ संग्रह है। पुस्तक का शीर्षक आकर्षक एवं सार्थक है। इससे आलोच्य पुस्तक की रचना-सामग्री का आभास मिलता है। रचनाओं के विषयक्रम के सम्बन्ध में संग्रह-कर्त्ता का निवेदन है कि जो विषय मेरे अधिक निकट हो सकते थे, उन्हें प्राथमिकता दी तो क्रम विषयों के अन्तर्गत नवीन से प्राचीन की ओर हो गया। संग्रह के नाम में भी 'नये' पहले है, 'पुराने' बाद में। ऐसे में, जहाँ रचनाओं का कालक्रम पूर्णतः ज्ञात नहीं रहता, बहुतेरे संग्रहकर्त्ता अक्षरानुकूल प्रणाली का सहारा लेते हैं। रचना-शैली के विकास को देखने के लिए शोधकर्त्ता ऐतिहासिक प्रणाली को प्राथमिकता देते हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि प्राक्कथन में 'बच्चन' ने अपना रास्ता हर तरह के पाठक के लिए साफ़ कर दिया है।

प्रस्तुत आलोच्य संग्रह इस बात का प्रमाण है कि 'बच्चन' कविता के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु गद्य के क्षेत्र में भी अविस्मरणीय हैं। कवि के रूप में अनुभूति की ईमानदारी, अभिव्यक्ति की स्पष्टता, भाषा की सरलता जहाँ इनकी मुख्य विशेषता रही है; गद्यकार के रूप में भी इनके ये दुर्लभ गुण स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं। गद्य और पद्य की भाषा में कुछ भिन्नता होती है। वर्ड्सवर्थ ने दोनों प्रकार की भाषाओं को एक करने पर जोर दिया था, पर बहुत सीमा तक वह अपने सिद्धांत का निर्वाह नहीं कर सका। बच्चन इस सिद्धान्त के निर्वाह में कृतकार्य कहे जा सकते हैं। वास्तव में, इनके लेखन का प्रारम्भ गद्य से हुआ। यह बात बहुत कम लोग जानते हैं कि गद्य-लेखन में ये एकाधिक वार पुरस्कृत हो चुके हैं। सन् १९३२ में लिखित 'किशोरीलाल गोस्वामी : एक सप्ताह की भेंट' वाला संस्मरण—जो संग्रह का सबसे पुराना निबन्ध है—अपनी सजीवता के कारण ही 'माया' के किशोरीलाल

गोस्वामी स्मृति-अंक में प्रकाशित और प्रशंसित हुआ। कविता की ओर कुछ विशेष झुकाव होने के कारण, गद्य-लेखन का कार्य कुछ अवरुद्ध-सा हो गया, पर इसकी परम्परा टूटने नहीं पायी। सन् १९३६ से ही रेडियो के लिए ये वार्ता तैयार करते रहे हैं। पहले लखनऊ रेडियो स्टेशन से प्रसारण-कार्य हुआ, बाद में इलाहाबाद रेडियो स्टेशन से। प्रस्तुत संग्रह में, सभी वार्ताएँ तो नहीं, कुछ चुनी हुई वार्ताएँ संकलित हैं।

कविता की तुलना में गद्य में सोचना-समझना स्वाभाविक है। यों कविता अथवा गद्य दोनों में रचयिता के अंतरंग और बहिरंग जीवन का आभास मिलता है, पर गद्य में जीवन का आभास अपेक्षाकृत अधिक रहता है। गद्य में भी निबन्ध ऐसी विधा है जिसे जीवन की निश्छल अनुभूतियों का सरस, सरल, मर्यादित गद्यात्मक प्रकाशन कहा जाता है। अतः निबन्धों में जीवन के अन्तरंग और बहिरंग पक्ष का उद्घाटन अधिक संभव है। वार्ताओं के साथ भी यही बात है, पर वार्ताओं में समय-संकोच रहने के कारण अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में चुस्ती और कसावट (Compactness) स्वाभाविक है। बच्चन की निश्छल अनुभूतियाँ संग्रह के कतिपय निबन्धों एवं वार्ताओं—यथा 'गीतकाव्य की परम्परा : परिभाषा और तत्त्व', 'मेरी रचना-प्रक्रिया', 'कवि-सम्मेलनों के कुछ कड़ुए-मीठे अनुभव', 'अंग्रेजों के बीच दो साल', 'केम्ब्रिज में विद्यार्थी-जीवन', 'मेरी स्मरणीय जलयान-यात्रा'—में सरस, सरल एवं मर्यादित रूप में व्यक्त हुई हैं।

संस्मरण अनुभूति की सचाई से संवलित रहने से अधिक रोचक होते हैं। इनमें शोध-निबन्धों की तरह प्रमाणों के पीछे परेशान होने की जरूरत नहीं, अतएव नीरसता की गुंजाइश नहीं रहती। 'कविवर प्रवीणजी', 'प्रेमचन्द : एक संस्मरण', 'यह मतवाला निराला!' 'भारतकोकिला सरोजिनी नायडू', 'बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन : एक संस्मरण,' 'अमरनाथ झा' आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ऐसे लेखों से लेखकों के सम्बन्ध में अनेक ऐसी बातों का भी उद्घाटन होता है जिन्हें हम-आप नहीं जानते। यह बात तो 'प्रेमचन्द : एक संस्मरण' से ही विदित होती है कि बच्चन ने सन् १९२९ में प्रयाग विश्वविद्यालय में जबकि एम० ए० (प्रिवियस) के छात्र थे, कहानी-प्रतियोगिता के लिए जो पहली कहानी लिखी वह प्रथम पुरस्कृत हुई और पुरस्कार की सूचना देनेवाले सम्मेलन के सभापति प्रेमचन्द ही थे।

संग्रह या संकलन का पाठक विविधता के लिए तैयार होकर आता है। प्रस्तुत संग्रह 'नये-पुराने झरोखे' में यह विविधता निस्संदिग्ध है और उसमें एक ओर जहाँ हिन्दी के दिग्गजों के विषय में रोचक बातें पढ़ने को मिलती हैं, अँग्रेजी के कवियों एवं लेखकों के विषय में भी काफी जानकारी होती है। 'जेम्स ज्वायस और युलीसिज', 'सरवेंटिस और डान क्विग्जोट', 'विलियम बटलर ईट्स' के द्वारा लेखक के व्यापक अध्ययन, मनन एवं चिन्तन का बोध तो होता ही है, लेखक के रुचि-वैचित्र्य का भी पता चलता है। लेखक के नीर-क्षीर-विवेक का परिचय 'प्रेमचन्द और गोदान', 'पंत और कला' और 'बूढ़ा चाँद' नामक लेखों से मिलता है।

यह कहने में संकोच नहीं होता कि नये-पुराने लेखों का यह संग्रह 'नये-पुराने झरोखे' उल्लेख्य एवं संग्राह्य है। इसके प्रकाशन से बच्चन के 'लेखक' का एक गोपन पक्ष प्रकाश में आया है। भाषा की दृष्टि से भी पुस्तक चर्चेय है। इसकी भाषा हफीज की इन पंक्तियों की याद अनायास दिला देती है—

> हफीज अपनी बोली, मुहब्बत की बोली;
> न हिन्दी, न उर्दू, न हिन्दोस्तानी।

आवरण-पृष्ठ सारगर्भित एवं सांकेतिक है; मुद्रण-आकल्पन आदि प्रशंसा के योग्य।

—गोपालजी 'स्वर्णकिरण'

बंगला साहित्य-दर्शन

लेखक—मन्मथनाथ गुप्त

प्रकाशक—सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली

मूल्य—४·००

'मण्डल' ने देश की विभिन्न भाषाओं के साहित्य पर परिचयात्मक ग्रंथ प्रकाशित करने की योजना का श्रीगणेश 'केरली साहित्य-दर्शन' से किया था। दूसरा ग्रंथ 'तमिल साहित्य और संस्कृति' निकला और अब यह

तीसरा सामने है—'बंगला साहित्य-दर्शन'। पूर्वप्रकाशित दोनों ग्रंथों से यह कुछ भिन्न है, इस मानी में कि भाषा-साहित्य का मात्र 'परिचयात्मक' ग्रंथ नहीं है यह। लेखक ने इसमें बंगला के प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्य का विशद 'अध्ययन' प्रस्तुत किया है, यही कहना युक्ति-संगत होगा।

प्रस्तुत ग्रंथ का दो-तिहाई से भी अधिक भाग बंगला कविता से संबंधित है, शेष भाग में गद्य की चर्चा है। गद्य प्रसंग में दो अध्याय प्राचीन एवं अर्वाचीन नाटक तथा रंगमंच पर हैं, जो पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं। बंगला के कथा-साहित्य की चर्चा के सिलसिले में बंकिम, रवीन्द्र और शरत पर ज्यादा कहा गया है। ताराशंकर, विभूतिभूषण और प्रबोधकुमार आदि आधुनिक कथाकारों के लिए कुछ और पृष्ठ रखे जाते तो अच्छा होता।

बंगला के काव्य-साहित्य पर जो विस्तृत चर्चा की गयी है, वह प्रेरक है, रोचक भी कम नहीं। सिद्धों द्वारा रचित चर्या-पद, कविता के इतिहास को आठ-नौ सदी पूर्व ले जाते हैं, जिनमें आज के बंगला छंद की जगह मात्रा-वृत्त का प्रयोग हुआ है। डाक और खना के वचन इसके बाद आते हैं, फिर आता है रमाई पंडित का 'शून्य-पुराण'। 'शून्य पुराण' की भाषा हिन्दी के पाठक आसानी से समझ सकते हैं, यदि उन्हें बंगला क्रियाओं के अर्थ मालूम हों।

चौदहवीं सदी से बंगला कविता में निखार आने लगता है जब चंडीदास और विद्यापति सामने आते हैं। विद्यापति बंगला के कवि उसी तरह समझे जाते हैं जिस तरह चंडीदास। 'जनम अवधि हम रूप नेहारिनु' (मैथिली रूप 'निहारल') का उल्लेख करते हुए गुप्तजी लिखते हैं कि विद्यापति की इस तरह की कई उत्कृष्ट रचनाएँ बंगाल में 'ही' पायी जाती हैं और मिथिला में उनका कोई पता नहीं है (पृ० ३४)। यह कथन आपत्ति-जनक नहीं प्रतीत होता यदि इस प्रसिद्ध गीत का हवाला दिये बगैर लेखक ने अपना मत व्यक्त किया होता।

विद्यापति के ही सम्बन्ध में गुप्तजी का यह कथन हिन्दी-वालों के लिए 'नोट' कर लेने लायक है कि 'जो हिन्दी के

संग्रहों में विद्यापति एक प्राचीन हिन्दी कवि करके दिखाये जाते हैं, पर हिन्दी के नवरत्नों में उनकी गिनती नहीं है। हम यह कहने का साहस करते हैं कि विद्यापति की उचित कद्र हिन्दी में नहीं हुई है। मेरा यह निजी मत है कि वह सूर या तुलसी से किसी प्रकार घटकर नहीं हैं।' (पृ० ३५)

अठारहवीं सदी के अन्त तक बंगला कविता में भक्तिभावना और धार्मिक मतवाद की प्रमुखता दृष्टिगत होती है। एंटनी नामक एक पुर्तगाली कवि का बंगला कविता में योगदान भी दिलचस्प है, जो कहता है—

भजन-साधन जानि ने माँ, निजे तो फिरंगी,
यदि दया करे, कृपा कर हे शिवे मातंगी!

कलकत्ते के बऊ-बाजार की 'फिरंगी काली' का मंदिर उसी एंटनी ने बनवाया था।

बंगला कविता में युगांतर होता है माइकेल मधूसूदन से। प्रस्तुत पुस्तक में माइकेल, रवीन्द्र और काजी नजरुल पर अलग-अलग अध्याय देकर उनके काव्य पर विस्तृत चर्चा की गयी है। 'रवीन्द्रनाथ का गद्य तथा पद्य मध्यम श्रेणी का साहित्य है' (पृ० १४६) लेखक का यह कथन पाठक को भ्रम में डाल देता है कि रवीन्द्र-साहित्य मध्यम 'कोटि' का है या मध्यम 'वर्ग' का है!

रवीन्द्रोत्तर काव्य को लेखक ने दो भागों में विभक्त किया है—आधुनिक कविता और अति-आधुनिक कविता। वे स्वीकार करते हैं कि 'कहाँ पर आधुनिक साहित्य का अंत होकर अति-आधुनिक युग का प्रारंभ होता है, यह कहना बड़ा कठिन है' (पृ० २४१)। प्रेमेन्द्र मित्र, बुद्धदेव वसु और अचिन्त्यकुमार सेनगुप्त को अति-आधुनिक साहित्य की 'त्रयी' मानते हुए भी (पृ० २४७) लेखक ने उनकी चर्चा 'आधुनिक' प्रकरण में की है।

अति-आधुनिक बंगला कविता के अंतर्गत जीवनानन्द दास को उस धारा का प्रतीक कहा गया है जिसे हिन्दी में 'नयी कविता' कहते हैं। नयी कविता बंगला कविता के रंगमंच पर इस प्रकार से आयी कि किसीको अखरी नहीं, जबकि हिन्दी में अभी तक तर्क-वितर्क जारी है। 'बंगला में नयी कविताओं ने यह दावा भी नहीं किया कि वह (नयी कविता) पुरानी कविता को समाप्त करने के लिए उदित हुई है' (पृ० २९६)। सुकांत और सुभाष मुखोपाध्याय जैसे अति-आधुनिक कवि 'प्रगतिशील' ठहराये गये हैं।

काव्यांशों के मूल उद्धरण हिन्दी अनुवाद के साथ पर्याप्त दिये गये हैं। यत्र-तत्र अनुवाद दोषपूर्ण है। 'जनान्तिके' को 'रह गये हो' (पृ० २९५) कहा गया है। नजरुल के गीत 'भूल कोरे यदि भालोबेसे फेलि...' का जो मूल उद्धृत है उसका अनुवाद कुछ छोड़ दिया गया है, और कुछ कहीं से जोड़ दिया गया है। 'अवसर' के प्रयोगों की पुस्तक में भरमार है; एकाध जगह उसका प्रयोग 'बहुधा' नहीं, 'लगभग' के अर्थ में हुआ है। प्रूफ की साधारण अशुद्धियाँ यत्र-तत्र नजर आती हैं। इतना होते हुए भी पुस्तक की उपादेयता असंदिग्ध है।

—'भारतीभक्त'

हम हिन्दुस्तानी

लेखक—फ़िक्र तौंसवी

प्रकाशक—प्रगतिशील प्रकाशन, दिल्ली

मूल्य—३ रु० २५ न० पै०

पुस्तक में लेखक ने बारह हिन्दुस्तानियों (नेहरू, जयप्रकाश, नम्बूदरीपाद, राजाजी, वनोबा भावे, जी. डी. बिरला, कृष्णचन्द, सतीश गुजराल, पृथ्वीराज कपूर, नर्गिस, साहिर लुधियानवी और लता मंगेशकर) की तस्वीरें खींची हैं जो उसके विचार से सिर्फ बारह आदमियों की तसवीरें न होकर हम सबकी तस्वीरें हैं। ये रेखा-चित्र फ़िक्र तौंसवी की सधी कलम से काफ़ी सही, मनोरंजक और आकर्षक बन पड़े हैं। लगभग सारी तस्वीरों को खींचने के लिए जुदा-जुदा कलम का इस्तेमाल किया गया है, जुदा-जुदा रंग का। नर्गिस ने अपनी ही लेखनी से अपना रेखा-चित्र (पत्र के रूप में, आत्मवृत्तात्मक शैली में) बनाया है, तो साहिर साहब ने इन्टरव्यू में ही अपना किस्सा बयान किया है। नेहरू की बात छोड़िये—उनका जन्म तो एक महापुरुष का जन्म है, ईसा की तरह—"सन् १८८९ की एक बेचैन

रात को आकाश से एक तारा टूटा। एक बूढ़े ग्रामीण किसान ने बताया कि उसने उस तारे को इलाहाबाद शहर की तरफ़ जाते देखा है।"

इन रेखाओं में चर्चित व्यक्तियों का चरित्रांकन बहुत स्वाभाविक और प्रभावशाली ढंग से हुआ कि उनके व्यक्तित्व का कोई ऐसा उभरा हुआ अंग नहीं बचा जहाँ चित्रकार (लेखक क्यों कहूँ ?) ने अपनी कलम की नोक कुछ दबा नहीं दी हो। जिन लोगों ने नेहरू को 'टेम्पर' 'लूज़' करते हुए देखा, सुना या पढ़ा है; उन्हें निश्चय ही यह अपने मन की बात लगेगी—"वास्तव में खौलाव उसकी (नेहरू की) प्राकृतिक विशेषता है—जैसे बादल की विशेषता उसकी गर्जना है और आग की विशेषता उसकी उष्णता।" "हिन्दुस्तान की आत्मिक फ़िलासफी व योरुप की औद्योगिक फ़िलासफी—इन दोनों के मिश्रण से नेहरू का खमीर उठा है।" इन थोड़े-से शब्दों में लेखक ने नेहरू के जीवन-दर्शन को बहुत सच्चाई से रखा है।

लेकिन जयप्रकाश (जिन्हें नेहरू ने कभी हिन्दुस्तान का "भावी प्रधान-मंत्री" और गान्धी ने "भारत का सबसे बड़ा मार्क्सवादी" कहा था) का चित्र खींचते-खींचते जैसे तौंसवी साहब की कलम की निब ही घिस गयी। नहीं तो उनके चित्र में इतनी खुरेच नहीं आती। यद्यपि आज के पढ़े-लिखे बौद्धिक प्राणियों के मन में भी मार्क्सवाद और हिंसात्मक क्रान्ति से सर्वोदय और अहिंसक, वर्गसमन्वयी 'क्रान्ति' तक पहुँचने वाले जे. पी. की बहुत कुछ वैसी ही तस्वीर है जो तौंसवी साहब ने खींची है, किन्तु फिर भी जयप्रकाश के रेखा-चित्र में उस सहानुभूति का अभाव-सा नजर आता है (राजाजी और बिरला के चित्र में यह सहानुभूति का अभाव नितान्तता तक पहुँच गया है जो एक क्रांतिकारी, प्रगतिशील लेखक में होना ही चाहिए) जो एक सच्चे चित्रकार की तूलिका में नहीं होना चाहिए। लेकिन इस रेखाचित्र में भी सिद्धहस्तता और कलाकार की पैनी दृष्टि ने अपना कमाल दिखाया है। मसलन, "मुझे तो यूँ लगता है कि जयप्रकाश-नारायण एक आजाद-मन व्यक्ति है। वह शायद इतना ऊँचा इन्सान है कि पार्टी की निचली सतह पर उतर ही नहीं सकता।" या "जयप्रकाश कोई डिक्टेटर नहीं है, वह अलादीन भी नहीं, वह तो एक कवि है जो छोटी-छोटी पंक्तियों की एक अति-सुन्दर गज़ल लिख सकता है।" लेकिन अगला वाक्य तो जैसे जयप्रकाश के सारे रचनात्मक चरित्र का निषेध ही है—'ज्यादा-से-ज्यादा वह एक ईमानदार विध्वंसकारी है।"

मुझे जो रेखाचित्र सर्वाधिक मोहक लगे, वे हैं कृष्ण-चन्द्र, सतीश गुजराल, साहिर लुधियानवी और नम्बूदरी-पाद के रेखाचित्र, और वे भी शायद इसीलिए कि इनमें लेखक की सहानुभूति सबसे ज्यादा उभरी है। बारह में तीन (कृष्णचन्द्र और साहिर को भी ले लिया जाय तो पाँच) तस्वीरें फिल्मी दुनिया से ही लेकर लेखक ने उन्हें पूरे हिन्दुस्तान के एक-तिहाई (या लगभग आधे) का प्रतिनिधित्व प्रदान किया है क्या! अगर ये तस्वीरें हमारे जीवन के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण अंगों—जैसे सामाजिक या धार्मिक आन्दोलनकारी या हिन्दी का कोई

साहित्यिक—से भी ली गई होतीं तो हमारे राष्ट्रीय जीवन का अधिक सही प्रतिनिधित्व कर पातीं।

भाषा जानदार है, प्रभावशाली है। लेकिन मैं यह समझ नहीं पाया कि "बहुत अच्छा परिच्छेद किया आपने" और "तुम्हारा परिच्छेद मुझसे बेहतर है" से लेखक का क्या अभिप्राय है! अन्यत्र लिखा गया है—वह (नेहरू) शायद अरस्तू के 'यूटोपिया' से प्रभावित है। अरस्तू ने कौन-सी यूटोपिया लिखी? एक यूटोपिया अरस्तू के गुरु प्लेटो या अफ़लातून ने लिखी थी ('रिपब्लिक') और दूसरी 'यूटोपिया' थामस मूर ने। हिन्दी में 'मोरनी के पैर' (क्योंकि मोरनी के पैर कुरूप होते हैं, यद्यपि उसका शरीर अत्यन्त सुन्दर) एक मुहावरे के अर्थ में प्रयुक्त होता है, किन्तु "हिरनी का पैर" भी कोई मुहावरा है क्या?

प्रोफेसर

लेखक—डॉ० रांगेय राघव

प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

मूल्य—दो रुपये पचास नये पैसे

रांगेय राघव का एक सौ पैंतीस पृष्ठ का यह लघु उपन्यास उनकी सर्वथा प्रभावहीन कृति है। पढ़ने के बाद यह सन्देह होता है कि यह उनकी रचना है भी या नहीं। लेखक के सम्बन्ध में पुस्तक में ही कहा गया है—"उच्च शिक्षित वर्ग का अध्ययन तो उनका है ही, निम्नतम वर्ग को देखने के लिए भी उनके पास पैनी दृष्टि है।" प्रकाशक ने ऐसी आशा प्रकट की है कि गहरी संवेदना और यथार्थता के कारण पाठकों को यह उपन्यास रुचेगा। किन्तु पुस्तक पढ़ जाने पर जो बात सबसे अधिक स्पष्ट दीखती है वह संवेदना और यथार्थता का अभाव ही है। संवेदना कैसी है, जब उपन्यासकार ने समाज के दलित-उपेक्षित लोगों को केवल घृणित और कृतघ्न रूप में ही चित्रित किया है? क्या उनके जीवन में कोई अच्छाई नहीं होती? एक विक्षिप्त की तरह व्यवहार करने वाले प्रोफेसर की बेचैनी कोई बहुत संवेदना नहीं जगाती, जैसे सब कुछ उनसे लेखक जबर्दस्ती करवा रहा हो। कोई भी चरित्र पूरा या सुघर नहीं है। 'प्रोफेसर' की कौन-सी विशेषता व्यक्त है पुस्तक में? क्या यही कि 'दर्शन' के प्रोफेसर अर्ध-विक्षिप्त होते हैं? या यह कि कॉलेजों में पैसे लेकर हाजिरी बनायी जाती है? हाँ, कहीं-कहीं लेखक ने व्याख्यान की विद्वत्ता अवश्य दिखाई है और उनमें जाने-सुने भाव घिसे-घिसाये शब्दों में अवश्य प्रकट हुए हैं, जैसे, "सेक्स, एक विष की-सी झुलस है" या "जीवन के सारे मूल्यों का केन्द्र पैसा! व्यक्तित्व के खंडन और मंडन का मूल पैसा और संघर्ष से पलायन और विद्रोह का मूल पैसा!"

भाषा को देखकर लगता है, लेखक अँग्रेजी के माध्यम से हिन्दी बोलना या लिखना चाहता है। बीसों अँग्रेजी शब्द घुसेड़े गए सो तो यथार्थता और स्वाभाविकता के नाम पर! उनकी बात कोई महत्त्व नहीं रखती। जब घड़ी "डंका" बजाती है (पृष्ठ २८) और 'एक शिव की खंडित मूर्ति' (शिव की एक खंडित मूर्ति नहीं) महत्त्व अवश्य रखती है।

रश्मियाँ

लेखक—**प्रमोद कुमार**

प्रकाशक—**आदित्य प्रकाशन, गया**

मूल्य—**२ रुपये ७५ नये पैसे**

"रश्मियाँ" में प्रमोदकुमारजी की इक्कीस 'रम्य रचनायें' (जिन्हें लेखक ने स्वयं भाव-चित्र कहना पसन्द किया है) संकलित हैं। आचार्य नलिनविलोचन शर्मा, शिवपूजन सहाय और हंसकुमार तिवारी की सम्मतियाँ उद्धृत कर पुस्तक का महत्त्व बढ़ाने का प्रयत्न किया गया है। रचनायें लघु हैं, सुन्दर हैं, कुछ को शायद प्रभावकारी भी लगें; किन्तु वे नवीन नहीं हैं—न भाषा की दृष्टि से, न भाव की दृष्टि से। पृथ्वी और सूर्य, भँवरा और फूल, मूर्त्ति और पूजक, गुलाब और काँटा आदि सर्वविदित उपादानों के माध्यम से लेखक ने देश और समाज के कल्याण के आदर्शात्मक विचार व्यक्त किये हैं। ऐसे कुछ उदाहरण देखिये :—

"पर दुनियाँ की रीत यही है; किसी की मौत से किसी को जिन्दगी मिलती है, किसी की आबादी किसी की बरबादी का सामान करती है... आज भी

अपने बच्चों को भूखा; अपनी औरतों को बिलखते छोड़कर जो मजदूर ये ऊँची-ऊँची अट्टालिकायें खड़ी कर रहे हैं, उन्हें मिलता क्या है ?—तड़प, गालियाँ, फटकार !" "धरती के भगवान" (किसान) में लेखक ने कहा है— "फिर भी हम या आप कभी सोचते हैं क्या, इस कृषक की दयनीय दशा पर !······ उस कृषक की धर्म-परायण पत्नी की निरीहता का भी ध्यान आया है कभी आपको; जिसकी इज्जत, जिसकी लज्जा का आवरण पेवन्दों से होता है, जो सभ्यता के बाजार में गोयठें और सब्जियाँ बेचकर भी अपने बच्चों को चुल्लू भर दूध नहीं पिला पाती ?"

लेखक में बीजरूप में प्रतिभा है और ऐसी आशा की जा सकती है कि साधना के बाद वह निखरेगी और तब वह कोई मूल्यवान कृति भी दे पायेगी।

महात्मा गान्धी

लेखक : रवीन्द्रनाथ ठाकुर

प्रकाशक : ग्रन्थ वितान, पटना

मूल्य : एक रुपये पच्चीस नये पैसे

ग्रन्थ वितान ने १९६१ में अपने रवीन्द्र-शताब्दी-प्रकाशन कार्यक्रम में सर्वप्रथम यह पुस्तक प्रकाशित की थी। इसमें गांधीजी के सम्बन्ध में विश्वकवि द्वारा लिखे गये पाँच लेख संकलित हैं—गान्धी-जयन्ती १९३१ और '३७ के अवसर पर लिखे गये "गान्धीजी" और "महात्मा गान्धी", सन् १९३२ में दलितवर्ग के पृथक निर्वाचन के विरोध में गान्धीजी के अनशन के समय पर लिखा गया "चौथा आश्विन" और दो अन्य लेख "व्रत-उद्यापन" और "शेषव्रत" जो गान्धीजी के अनशन के समय ही १९३२ में लिखे गये थे। प्रारंभ में दो कवितायें भी हैं—एक "शिशुतीर्थ" कविता का अंश है और दूसरी कविता है १९४० में लिखी गई "गान्धीजी महाराज"। इस पुस्तक को पहले विश्व-भारती ने प्रकाशित किया था जिसका अनुवाद शांति-निकेतन के श्री हरिशंकर शर्मा ने किया है।

पुस्तक का इससे बड़ा परिचय क्या हो सकता है कि वह 'गुरुदेव' रवीन्द्र (गान्धीजी ने ही उन्हें पहले-पहल 'गुरुदेव' कहा था और रवीन्द्रनाथ ने पहले-पहल गान्धीजी को 'महात्मा') द्वारा 'महात्मा' गान्धी के सम्बन्ध में लिखी गई है। नेहरू ने एक जगह गान्धीजी के सम्बन्ध में लिखा है—"गान्धीजी अपनी रचनाओं या अपने वचनों से बहुत ऊँचे थे। उनके एक-दो वचनों को लेकर उनपर टीका-टीप्पणी करना उचित नहीं है।" विश्वकवि भी कुछ ऐसा ही भाव प्रकट करते हैं—गान्धीजी का युद्ध नैतिक युद्ध है, धर्मयुद्ध है और "उन्होंने जिस नीति को अपने समस्त जीवन द्वारा प्रमाणित किया है, पूरे तौर पर हम उसका पालन कर सकें या न कर सकें, उस नीति को हमें स्वीकार करना ही होगा।"

पुस्तक में अन्तर्राष्ट्रवाद, राष्ट्र-प्रेम, नैतिक मूल्यों की खोज आदि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर गुरुदेव के विचार प्रसंगवश अभिव्यक्त हुए हैं जो मस्तिष्क को स्पन्दित करते हैं, हृदय को जीत लेते हैं। पुस्तक से स्पष्ट होता है कि एक महापुरुष के मन में दूसरे महापुरुष के लिए कितनी श्रद्धा थी। जब ठाकुर यह कहते हैं कि मेरी भाषा में वह शक्ति कहाँ जो गान्धीजी की भाषा में है ("क्योंकि वह कानों से सुनने की नहीं, हृदय से सुनने की है; वही मनुष्य की चरम भाषा है") तो सहसा विश्वास नहीं होता कि ये शब्द विश्वकवि के मुख से निकले हैं, गीतांजलि के अमर कवि के मुख से निकले हैं। महात्माओं के सम्बन्ध में यह कहना कि अपनी तात्कालिक आवश्यकता के आदर्श को ध्यान में रख हम उनके महत्त्व को सर्वथा निःशेष करके उनके बारे में विचार करते हैं, जैसे एक बड़ा प्रश्न-चिह्न बनकर हमारे सामने खड़ा हो गया और मन ने बड़े खिन्न भाव से प्रश्न किया—क्या हम उस पुण्य-पूत महात्मा के सारे आदर्शों का अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं की वेदी पर बलिदान नहीं कर रहे हैं ? आजादी के लगभग पन्द्रह वर्षों बाद भी जातिवाद, सम्प्रदायवाद, प्रांत आदि लघु-भावों से जर्जरित यह भारतवर्ष एक अछूत की लड़की को देश का राष्ट्रपति बनाने का सपना देखनेवाले राष्ट्र-पिता का भारत तो नहीं हो सकता; दरिद्रता और अत्याचार से पीड़ित मजदूरों और किसानों का यह 'समाजवादी' देश उस महात्मा का देश तो नहीं हो सकता जिसने "प्रत्येक आँख के प्रत्येक अश्रु-कण पोंछ लेने" का व्रत लिया था।

सोजे वतन

लेखक—प्रेमचन्द

प्रकाशक—हंस प्रकाशन, इलाहाबाद

मूल्य—एक रुपया

इस पुस्तक में प्रेमचन्दजी के सुपुत्र अमृत राय द्वारा संकलित प्रेमचन्दजी की पाँच प्रारंभिक कहानियाँ दी हुई हैं, जिन्हें उन अमर साहित्यकार ने आज से बावन-तिरपन वर्ष पूर्व लिखा था। पहली कहानी "सोजे-वतन" है जिसे मुंशीजी ने नवाब राय के नाम से लिखा था और जिसके विद्रोही स्वर से नाराज होकर हमीरपुर के कलक्टर ने उन्हें तलब किया था। मुंशीजी को अपराध स्वीकार करना पड़ा और कलक्टर साहब ने मुगल बादशाहों की तरह उनके हाथ-पैर नहीं कटवाये (ऐसा ही उसने कहा था) बल्कि इस कहानी की सारी कापियों को मुंशीजी से मँगवाकर उन्हें आग की नजर कर दिया और उन्हें क्षमा कर दिया। शेष चार कहानियाँ—"शेख मखमूर", "यही मेरा वतन है", "शोक का पुरस्कार" और "सांसारिक प्रेम और देशप्रेम"—भी देशप्रेम पर ही हैं। "सोजे वतन" में जिसका दूसरा शीर्षक "दुनिया का अनमोल रतन" भी है, दिल-फिगार और दिल-फरेब के माध्यम से देश-प्रेम की महत्ता बतायी गई है। मीनोसबाद की मलका दिल-फरेब अपने प्रेमी दिल-फिगार से दुनिया की सबसे अनमोल चीज लाने को कहती है। अनेक वस्तुओं की खोज के बाद, जिसे उसकी प्रेमिका लौटाती गई, वह हिन्दुस्तान से अपने देश के लिए मरने वाले एक वीर सिपाही का रक्त-बूँद ले जाता है, जिसे उसकी प्रेमिका दुनिया की सबसे अनमोल चीज मानकर स्वीकार कर लेती है। मरते हुए सिपाही के मुख से यह कहलवाने के लिए १९०९ में एक अदम्य साहस की आवश्यकता थी—"क्या मैं अपने ही देश में गुलामी करने के लिए जिन्दा रहूँ? नहीं, ऐसी जिन्दगी से मर जाना अच्छा। इससे अच्छी मौत मुमकिन नहीं।"

"शेख मखमूर" एक देश-भक्त की कहानी है जो अपनी मातृभूमि के लिए सब कुछ न्योछावर कर देता है। "यही मेरा वतन है" में गावों के गुजरे हुए सुनहले जमाने के प्रति ममता प्रकट की गई है। "शोक का पुरस्कार" एक आदर्शात्मक कहानी है जिसका नायक एक प्रोफेसर अपनी कम पढ़ी-लिखी, देहाती औरत को पहले तो भुला देता है किन्तु फिर उसे ही अपनी प्रेयसी मिस लीला की सहायता से ही प्राप्त करता है। हिन्दी कहानियों के आरम्भकाल में इन कहानियों का क्या असर रहा होगा, इसका आज हम केवल अनुमान ही कर सकते हैं। अंतिम कहानी "सांसारिक प्रेम और देशप्रेम" इटली के अमर देशभक्त मेजिनी के जीवन पर लिखी गई है। यह कहानी नहीं, बल्कि उसका संक्षिप्त जीवन-चरित ही है। मेजिनी की रचनाओं ने न केवल भारतवर्ष, दुनिया के अनेक देश-भक्तों को प्रभावित किया था। प्रेमचन्द ने भी उस अमर पुरुष के चरित्र के माध्यम से देश-प्रेम का आदर्श सामने रक्खा।

ये कहानियाँ ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं और इनमें प्रेमचन्द की कला के विकास की झलक मिलती है। जब हम यह पढ़ते हैं कि "और पाठक देख चुके हैं, जिस तरह वह मेजिनी से मिली" तो सहसा ऐसा लगता है कि हम १९०९ ई० में पहुँच गये और किसी पत्रिका में प्रकाशित एक अद्भुत कहानी का रसास्वादन कर रहे हैं। एक बात अवश्य खटकती है कि इन रचनाओं की निश्चित तिथि (लेखन या प्रकाशन की) और उनको प्रकाशित करने वाली पत्रिका का नाम नहीं दिया गया है। तिथि देने से इनको सही ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में समझने में सहायता मिलती।

युग-निर्माता पत्रकार

मूल लेखिका—आइरिस नोबेल

अनुवादक—श्रीकान्त व्यास

प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली

मूल्य—तीन रुपये

संयुक्तराज्य अमेरिका के अमर पत्रकार जोसेफ पुलिट्जर की यह जीवनी अत्यन्त रोचक और औपन्यासिक ढंग से लिखी गई है। साधारणतः जीवन-वृत्तों की शैली तथ्य-प्रधान और भारी-भरकम हुआ करती है, किन्तु यह

पुस्तक जैसे एक अपवाद है; क्योंकि इसमें कहीं भी भारीपन नहीं आया है और एकबार आरंभ कर देने पर पुस्तक समाप्त करके ही मन मानता है।

जोसेफ पुलिट्ज़र का जन्म १० अप्रैल १८४७ ई० में आस्ट्रिया में हुआ था। उसके पिता फिलिप पुलिट्ज़र एक व्यापारी थे। उनकी मृत्यु के बाद उसकी माँ लुई बर्गर ने मैक्स ब्लू से शादी कर ली। फिलिप आधे मग्यार और आधे यहूदी थे—माँ कैथलिक धर्मानुयायी एक जर्मन महिला थीं। यद्यपि पुलिट्ज़र को उसकी माता का अनन्त स्नेह मिला था, किन्तु सौतेले बाप से उसकी नहीं बन सकी। इसलिए वह एक दलाल के चक्कर में आकर १८६४ ई० में अमेरिका के लिए चल पड़ा। उस समय उसकी उम्र केवल सत्रह साल की थी। यह अमेरिकी गृह-युद्ध का समय था। वहाँ वह अमेरिकन लिंकन-रिसाले में भरती हो गया, जहाँ अपने विद्रोही स्वभाव के कारण उसे बार-बार पीटा जाता था, अपमानित किया जाता था। गृह-युद्ध शेष होने पर वह न्यूयार्क गया और फिर सेंट लुई गया। यहाँ उसे प्रोफेसर टामस डेविडसन मिले और उसके पढ़ने-लिखने का जीवन आरंभ हुआ। अटूट साहस, दुर्दम्य विद्या-प्रेम और अध्यवसाय ने उसे एक दिन 'वेस्तालीख पोस्त' का सम्वाददाता बना दिया, फिर उसका हिस्सादार। यहाँ से ही पुलिट्ज़र का वास्तविक जीवन आरंभ होता है—एक अमर पत्रकार का जीवन। उसने कई मरणासन्न समाचार-पत्र खरीदे और उन्हें प्रथम श्रेणी का समाचार-पत्र बना दिया। उसका न्यूयार्क से निकलनेवाला वर्ल्ड, जिसने १६०८ में अमेरिकी राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट के खिलाफ समाचार छापा और जिसके लिए राष्ट्रपति ने उसपर मानहानि का मुकदमा चलाया, १६३१ में बन्द हो गया, किन्तु सेन्ट लुई से निकलनेवाला 'सेन्टलुई पोस्टडिस्पैच' आज भी जिन्दा है।

पत्रकारिता-क्षेत्र में पुलिट्ज़र की अनेक देन हैं। आज जब बहुत-से विद्यालयों में पत्रकारिता एक मान्य विषय हो गयी है, यह समझना मुश्किल है कि जब पुलिट्ज़र ने अपनी वसीयत में दुनिया में पहली बार पत्रकारिता-संस्थान खोलने की व्यवस्था की तो लोगों को इस योजना की सफलता पर विश्वास नहीं हुआ। आज हम यह क्या आसानी से समझ सकते हैं कि पहले के समाचार-पत्रों में शीर्षक देने, हास्य-चित्रावली देने या बड़े-बड़े लोगों के इन्टरव्यू छापने की कोई व्यवस्था नहीं थी और ये सब व्यवस्थायें पुलिट्ज़र ने ही पहले-पहल अपने पत्रों में चलायीं? पुलिट्ज़र पहला आदमी था जिसने किसी भी राजनीतिक, धार्मिक दल से स्वतंत्र होकर समाचार-पत्र चलाने का नारा दिया; ऐसे समाचार-पत्र चलाये और उन्हें सफल भी बनाया। यह बात दूसरी है कि इसके लिए उसे मारने की कोशिश की गई, उसका कार्यालय जलाया गया, उसपर मुकदमे चले; किन्तु "मेरा अपना जीवन नश्वर है; 'वर्ल्ड' (उसका समाचार-पत्र) को अमर होना चाहिए" कहने वाला पत्रकार क्या इन सब विपत्ति-विरोधों के सामने घुटने टेक देता? १६११ ई० में वह ज्योति अनन्त में तिरोहित हो गई, किन्तु उसके विचार, उसकी उपलब्धियाँ, उसकी सेवायें आज भी जिन्दा हैं और रहेंगी। उसकी वसीयत में की गई कुछ व्यवस्थायें हैं—१० लाख डालर न्यूयार्क फिल्हार्मोनिक सोसाइटी (संगीत समिति) के नाम, २० लाख डालर पत्रकार-विद्यालय के स्थापनार्थ और कई ऐसे पुरस्कार जो अमेरिकी जीवन पर आधारित सर्वोत्तम उपन्यास, सर्वोत्तम समाचार, सर्वोत्तम सम्पादकीय लेख, सर्वोत्तम कविता आदि पर दिये जायेंगे।

अनुवाद इतना सुन्दर बन पड़ा है कि अनुवाद-सा लगता ही नहीं, मौलिक ग्रन्थ ही हो गया है।

—राकेश भारती

रातरानी

लेखक—लक्ष्मीनारायण लाल

प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली

मूल्य—२.५० न० पै०

पृष्ठ-संख्या—१३४

प्रस्तुत आलोच्य पुस्तक हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार की कृति है। प्रयुक्त शिल्प एवं भाषा के आधार पर यह कहना असंगत नहीं होगा कि नाटककार की लेखनी की स्याही में जादू है जो पाठकों के सर चढ़कर बोलता है। प्रस्तुत नाटक में कल्पना-तत्त्व, तर्क-तत्त्व और मुख्यतः

अभिनयात्मिका वृत्ति का अभाव नहीं है और यही कारण है कि 'शॉ' के नाटकों की तरह इसका भी शाश्वत प्रभाव पाठकों पर पड़ता है।

प्रस्तुत नाटक में सात पात्र हैं और सभी एक-दूसरे से एक ही स्थान पर मिलते हैं, जिससे रंगमंच पर दृश्य-परिवर्त्तन में असुविधा नहीं है। अभिनय करनेवालों को एक आधुनिक ढंग से सजा कमरा चाहिए और फुलवारी दिखलाने के लिए कुछ गमलों तथा फूलों की व्यवस्था। रंगमंच तैयार करने में निर्देशक को कठिनाई से नहीं जूझना है और स्त्री-पात्र के लिए केवल दो महिलाओं की आवश्यकता है। संक्षेप में, नाटककार ने हिन्दी रंगमंच की असुविधाओं को ध्यान में रखकर इसे लिखा है।

नाटक का कथा-तत्त्व सामाजिक है और शिक्षाप्रद। कथा-प्रवाह में कहीं गत्यवरोध नहीं है। पढ़ने में एक विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है और यदि अभिनीत हो तो अवश्य ही हृदय में मादक रसोद्रेक होगा। अभिनय की दृष्टि से इसकी रचना की गई है और मैं समझता हूँ कि इसके रंगायन में काफी ख्याति मिली होगी।

संगम

लेखक—**अनन्तगोपाल शेवड़े, यमुना शेवड़े**

प्रकाशक—**राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली**

मूल्य—**४.००**

पृष्ठ-संख्या—**२२६**

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक-दम्पती की चुनी हुई कहानियाँ संग्रहीत हैं। दो रेखाचित्र भी हैं, जो इस कलाकार-दम्पती ने एक-दूसरे के बारे में प्रवाहपूर्ण शैली में विशेष रूप से इसी पुस्तक के लिए लिखे हैं। इससे दोनों के सामाजिक जीवन की झाँकी मिलती है और साहित्य-सृजन-प्रक्रिया पर भी प्रकाश पड़ता है।

अनन्तगोपाल शेवड़े की संग्रहीत आठ कहानियों में 'नीला लिफाफा', 'तीन कंकड़', 'सुनहरा फाउन्टेनपेन' तथा 'तलाक का पत्र' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन कहानियों के पढ़ने से निम्नलिखित बातें उभर आती हैं :-

(क) लेखक काफी अनुभवी है और भाषा की परिपक्वता के कारण कहानियाँ निखर गयी हैं। कथानक में नवीनता एक प्रकार से नहीं ही है, किन्तु पात्रों के साथ किए गए 'ट्रीटमेन्ट' से मौलिकता की मुहर लग जाती है और कुछ क्षण के लिए पाठक महसूस करता है कि उसे किसी अज्ञात शक्ति ने झकझोर दिया है।

(ख) कहानियों में कथोपकथन का समावेश अधिक है, फिर भी स्थान-स्थान पर उसकी उपयोगिता है। वैसे, यदि कहानीकार कथोपकथन के स्थान पर पात्रों की मानसिक स्थिति का वर्णन करते तो कहानियाँ खिल उठतीं।

यमुना शेवड़े की संग्रहीत आठ कहानियों में 'मुन्ने की माँ', 'विवाह की वर्षगाँठ' और 'कुलदीपक' मुझे पसन्द आयीं। 'कुलदीपक' में लेखिका ने एक बालक के अधःपतन का मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित किया है। इस कहानी के प्रस्तुतीकरण में लेखिका को बहुत अधिक सफलता मिली है। इनकी अन्य कहानियों में प्रवाह की कमी है, गति की कमी है और यह कहना असंगत नहीं होगा कि आधुनिक प्रवृत्ति की कमी है।

हिन्दी तद्भव-शास्त्र

लेखक—**मुरलीधर श्रीवास्तव 'शेखर'**

प्रकाशक—**कलाकार प्रकाशन, पटना**

मूल्य—**४.५० न० पै०**

पृष्ठ-संख्या—**१२८**

भाषा-विज्ञान विषयक जो पुस्तकें हिन्दी में प्रायः निकली हैं, वे अधिकतर भाषा-शास्त्र के विभिन्न तत्त्वों पर केवल सामान्य ज्ञान देने में समर्थ हैं। उनमें प्रायः सभी एम० ए० स्तर के पाठकों एवं पाठ्य-क्रम को दृष्टि में रखकर भाषा-शास्त्र के सिद्धान्तों का विवेचन करती हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन हिन्दी में प्रथम वार, हिन्दी भाषा के तद्भव शब्दों के ऐतिहासिक विवेचन के साथ हुआ है। वैदिक भाषाएँ, प्राकृत और अपभ्रंश की पृष्ठभूमि में हिन्दी शब्दों की व्युत्पत्ति पर इतना विशद और पांडित्यपूर्ण विवेचन अवतक की प्रकाशित किसी अन्य पुस्तक में नहीं मिलता। शब्द-शास्त्र के अध्ययन और भाषा-तत्त्व के

अनुशीलन में प्रवृत्त विद्वानों के लिए भी इस पुस्तक का महत्त्व है, क्योंकि इसमें कुछ मौलिक एवं नवीन तत्त्वों को लेखक ने तर्कयुक्त पद्धति से विवेचित किया है। यद्यपि लेखक की अनेक व्युत्पत्तियों से विद्वानों (स्वयं मेरा) मत-भेद हो सकता है, जो स्वाभाविक है, पर निस्सन्देह लेखक की मौलिक उद्भावनाएँ विचारणीय हैं।

हिन्दी के प्रसिद्ध भाषा-तत्त्वज्ञों ने प्रतिपाद्य विषय और लेखक की प्रतिपादन-पद्धति की सराहना की है। वास्तव में, प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी के भाषाशास्त्रीय अध्येताओं को एक नई दिशा की ओर संकेत करता है। तद्भव शब्दों के अनुशीलन के बाद एक विस्तृत शब्द-सूची परिशिष्ट के रूप में है, जिसके महत्त्व को स्वीकार करते हुए हिन्दी के आचार्य स्वर्गीय नलिनविलोचन शर्मा ने अपनी भूमिका में लिखा है—'यह परिशिष्ट ही अकेले ग्रन्थगौरव का अधिकारी है।'

इस गौरवपूर्ण ग्रन्थ के लेखन पर हम लेखक को बधाई देते हैं।

उलझन (उपन्यास)

लेखक—**मन्मथनाथ गुप्त**

प्रकाशक—**राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली**

मूल्य—४.००

पृष्ठ-संख्या—२४०

प्रत्येक पुस्तक की विस्तार से समीक्षा की जाए—यह आवश्यक नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं है कि हर पुस्तक की समीक्षा हो ही। किन्तु पढ़ने पर पड़े हुए प्रभाव की चर्चा न करना, ईमानदारी से दूर हट जाना होगा।

प्रस्तुत आलोच्य उपन्यास का कथानक इतना निर्जीव है कि इसे उपन्यास कहना निरर्थक है। पुस्तक का नाम, कथानक को कसौटी पर कसने से, ऐसा लगता है, मानो उपन्यासकार को कहने के लिए कुछ भी नहीं है और वह बेकार की घटनाओं के जाल में, पाठकों को क्या, स्वयं को ही उलझाकर रखना चाहता है। प्रस्तुत पुस्तक में तीन महत्त्व की बातें हैं :—

(क) उपन्यासकार द्वारा लिखा गया 'दो शब्द' महत्त्वपूर्ण है, जिसमें स्वयं लेखक ने उलझनों के ऊहापोह पर विचार व्यक्त किया है।

(ख) भाषा दुर्बल है और अभिव्यक्ति की सबलता की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती है। चरित्रों के साथ, हो सकता है, लेखक ने न्याय किया हो, किन्तु अस्वाभाविकता की बहुलता ने उपन्यास को अपने ढंग से खूब सजाया है।

(ग) कथोपकथनों की हर पृष्ठ में भरमार है। लेखक एक बार अवश्य ही शिल्प के लिए अज्ञेय का नवीनतम उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' पढ़ लें।

पुस्तक की छपाई अच्छी नहीं है। प्रूफ की गलतियाँ अधिक नहीं हैं।

—सीतेन्द्रदेवनारायण

अपने-अपने अजनबी

लेखक—अज्ञेय

प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी

मूल्य—३.०० : पृष्ठ—१२७

'अपने-अपने अजनबी' अज्ञेय का नया उपन्यास है, जिसको लेकर पिछले दिनों काफी वाद-विवाद हुआ। जहाँ तक ज्ञात है, सबसे पहले श्री वीरेन्द्र कुमार जैन ने सनातन सूर्योदयी नूतन कविता के घोषणा-पत्र (भारती, मार्च ६२) में इस कृति का उल्लेख किया और इसके मरणोन्मुख जीवन-दर्शन की तीखी आलोचना की। यह अज्ञेय के पट्टशिष्य श्री धर्मवीर भारती को सहन नहीं हुआ और वे धर्मयुग के कहानी-विशेषांक में डॉ० देवराज, विद्यानिवास मिश्र और चुन्नीलाल माडिया के तीन वक्तव्य प्रकाशित कर कृति के पक्ष में लोकमत बनाने के लिये सचेष्ट हुए। श्री भारती का यह प्रयास सफल नहीं हुआ, क्योंकि श्री मिश्र को छोड़कर अन्य वक्तव्यकारों का कृति को वैसा समर्थन नहीं मिला। इस स्थिति में, आइये, हम इस कृति पर स्वतंत्र रूप से विचार करें।

पहले उपन्यास के कथानक का मोटामोटी विश्लेषण कर लें। पुस्तक तीन खंडों : योके और सेल्मा, सेल्मा और योके में विभाजित है। प्रथम खंड में योके और सेल्मा, एक युवती और एक वृद्धा एक मकान में बर्फ का पहाड़

टूट कर गिर पड़ने से अनिश्चित काल के लिये घिर कर कैद हो गये हैं। दूसरे खंड में सेल्मा के पूर्ववर्ती जीवन की कहानी वर्णित है, जो उसने बर्फ़-कैद में रह कर योके को सुनायी है। तब वह एक दूकान चलाती थी और एक बार भीषण बाढ़ के कारण एक पुल पर दूकान ले जाकर घिर गयी थी और वहीं एक फोटोग्राफर और एक स्थायी खरीदार यान के साथ जीवन के कुछ दिन बिताने के लिये वाध्य हुई थी। बाढ़ के कारण फोटोग्राफर को पेचिश हुई और वह मरा। भूखा यान सेल्मा से उधार न पाकर बचे-खुचे पैसों से थोड़ा-सा गोश्त खरीद सका और फोटोग्राफर की जलती दूकान की आँच में पका सका। उसमें मनुष्यता बाकी थी इसलिये उस गोश्त में से वह सेल्मा को हिस्सा देने आया। यही यान उपन्यास का सबसे सजीव पात्र है। तीसरे खंड में योके के परवर्ती जीवन का चित्र है, जब वह बर्फ़-कैद से छूटने पर जर्मनों द्वारा वेश्या बनायी जाती है और उसका प्रेमी पॉल भी उसकी कोई सहायता नहीं कर सकता। वह बावली-सी इधर-उधर फिरती हुई जगन्नाथन से मिलती है। (विदेशी चरित्रों के बीच यह एक भारतीय चरित्र जगन्नाथन कहाँ से आ गया, यह लेखक जाने।) और, उसे ही दुनिया का अच्छा आदमी मानकर उसके सामने जहर खाकर जान देती है। जान देने का अच्छा तरीका है यह। भले आदमी के मन में करुणा तो उपजेगी, जीवन का कठोर चित्र तो आँखों के सामने आयेगा!

यही है इस उपन्यास का संक्षिप्त कथानक। इन तीन कथा-खंडों में से प्रथम और द्वितीय का संबंध-सूत्र तो ठीक है, लेकिन तीसरा खंड बाकी दो खंडों से अलग मालूम पड़ता है। योके बर्फ़-कैद से किस प्रकार मुक्त हुई, पॉल ने या दूसरे लोगों ने उसके साथ क्या सलूक किया—जबतक इसका पूरा विवरण नहीं मिलता, तबतक योके का जहर खाकर मरना उचित नहीं ठहरता।

उपन्यास के संबंध में कहा गया है कि मृत्यु से साक्षात्कार को विषय बनाकर मानव-जीवन और उसकी निष्पत्ति का मार्मिक और भव्य विवेचन किया गया है। इसीलिये, यह दुःखान्त होकर भी जीवन-प्रेम का खंडकाव्य है। प्रकाशक का यह दावा तो मुझे एकदम निस्सार मालूम होता है। मृत्यु से साक्षात्कार को विषय बनाकर उपन्यास पहले भी लिखे गये हैं—विदेशों में भी और भारतीय भाषाओं में भी। लेकिन वैसी कृतियों में जीवन का ऐसा विषण्ण विवेचन नहीं है। वास्तव में, जब मनुष्य मृत्यु से घिर जाता है, तो उसे एक दृष्टि मिल जाती है। (शेखर एक जीवनी के लेखक अज्ञेय भी ऐसा मानते हैं) और, वह दृष्टि अलौकिक और पारदर्शी होती है। उस दृष्टि का सम्बल पाकर मनुष्य मृत्यु के समीपवाले उस विशेष क्षण में निर्मलचेता बन जाता है और जीवन के आर-पार देख सकता है। तब जीवन की विषण्णता उसे बहुत छोटी मालूम होती है। इस स्थिति में वह दुनिया को अपशब्द नहीं कहता, गाली नहीं देता, जीवन को कोसता नहीं। श्रेष्ठ साहित्य में चित्रित होनेवाले पात्र ऐसे ही होते हैं। यदि यह कहा जाय कि इसके विपरीत मनःस्थितिवाले पात्र भी होते हैं, तो उन्हें शुरू से ही वैसा दिखाना होगा। योके और सेल्मा, जैसा कि विवरणों से ज्ञात होता है, औसत चरित्र हैं। ये बर्फ से कैद होकर या बाढ़ से घिरकर ऐसे अमानवीय हो जायें, यह उचित और स्वाभाविक नहीं लगता। लेखक ने कई जगह पर योके को सेल्मा की हत्या करने लिये उतारू दिखाया है। क्या इससे योके की कैद की समस्या हल हो जायेगी? ऐसे क्षण में, जबकि योके को सेल्मा के प्रति करुणा और दया होनी चाहिये, लेखक उसे घृणा करते दिखलाता है। अशक्य वृद्धा, युवती योके के मन में करुणा नहीं, जुगुप्सा जगाती है। यह सब लेखक को एकदम जायज मालूम होता है। वह योके से तर्क करवाता है—"करुणा गलत है, बचाव उसमें नहीं है। घृणा भी नरक का द्वार है, तो दया भी नरक का द्वार है। मैं दया करके भी वहीं गिरूँगी, जहाँ घृणा करके गिरती।" यह सब एक सिरे से अनुचित और अस्वाभाविक है। यदि यह कहा जाय कि पात्रियाँ विदेश की हैं, इसलिये ऐसा सम्भव है, तो सार्वभौम मानवीयता से इनकार करना होगा। यदि पाश्चात्य पात्रों की ऐसी विकृत अन्तःस्थिति का चित्रण ही अभीष्ट हो, तो एक भारतीय लेखक को इसका कितना अनुभव है। और, फिर इसकी आवश्यकता भी क्या है! इसके लिये तो अनेक पाश्चात्य साहित्यिक कृतियाँ अवलोकनीय हैं।

इधर हिन्दी में एक फैशन चल पड़ा है कि कृति में तो जीवन को गलीज और गर्हित बताया जाय और बात की जाय आस्था और जीवन-प्रेम की। यह सही है कि जीवन की बीभत्सता का चित्रण कर भी सुन्दतर जीवन के लिये आकर्षण उत्पन्न किया जा सकता है। लेकिन वैसा करने वाले लेखक और होते हैं और उनका ढंग भी और होता है। जो जीवन को एक सिरे से गालियाँ दिलवाये, उसमें जीवन-प्रेम रह कहाँ जाता है? योके अपनी मर्जी से जहर खाती है और बड़बड़ाती है—"कह दो, सारी हरामी दुनिया से कह दो। अन्त में मैं हारी नहीं—अन्त में मैंने जो चाहा सो किया, मर्जी से किया, चुनकर किया। मैं मरियम—ईसा की माँ—ईश्वर की माँ—जिसको जर्मनों ने वेश्या बनाया।" योके के इस आक्रोश के औचित्य को लेखक ने सिद्ध नहीं किया है। पात्र जहर खाकर मरे और घोषणा करे कि वह हारा नहीं है, यह भी नये लेखकों का नया साहित्यिक नारा है।

मृत्यु जीवन की कठोर सचाई है। उसका सामना करने के लिए पूरी तैयारी करनी होती है। यहाँ नाटकीयता से काम नहीं चलता। जीवन और मृत्यु के बीच चुनाव कर लेना उतना आसान नहीं है, जितना लेखक समझता है। योके कहती है—"मैंने चुन लिया है। मैंने स्वतंत्रता को चुन लिया है। मैं बहुत खुश हूँ। मैंने कभी कुछ नहीं चुना। जबसे मुझे याद है, कभी कुछ चुनने का मौका नहीं मिला। लेकिन अब मैंने चुन लिया है। जो चाहा, वही चुन लिया। मैं खुश हूँ!" इस तरह उन्माद में आकर मृत्यु का वरण कर लेने से जीवन का कोई गम्भीर अर्थ नहीं खुलता। स्वतंत्र होने का अर्थ जहर खाकर मरना नहीं है। मृत्यु का चुनाव करने के लिये मनुष्य स्वतंत्र है, तो क्या सब मृत्यु का वरण कर लें?

प्रथम खंड में सेल्मा का चरित्र योके के चरित्र से भिन्न दिखाई पड़ता है। दोनों के चरित्र में दो पीढ़ियों का अंतर है—होना भी चाहिये। लेकिन अंत तक लेखक सेल्मा के उस चरित्र की रक्षा नहीं कर पाता, उसपर योके के चरित्र की छाया डाल देता है और उसकी मौलिकता नष्ट कर देता है। तभी तो एक जगह सेल्मा भी योके की तरह कहती है—"वरण की स्वतंत्रता कहीं नहीं है। हम कुछ भी स्वेच्छा से नहीं चुनते हैं। ईश्वर भी शायद स्वेच्छाचारी नहीं है। उसे भी सृष्टि करनी ही है, क्योंकि उन्माद से बचने के लिये सृजन अनिवार्य है। वह सृष्टि नहीं करेगा, तो पागल हो जायेगा।" ऐसे विक्षिप्त पात्र दुनिया को अपनी ही नजरों से देखने के अभ्यस्त होते हैं। उन्हें सब जगह विवशता ही दिखाई देती है।

सम्पूर्ण कृति में मुझे तो केवल एक ही बात मिली। उसे लेखक के शब्दों में ही रखना चाहूँगा—"केवल मृत्यु की प्रतीक्षा, मरने की प्रतीक्षा, सड़ने और गंधाने की प्रतीक्षा। वह गंध पहले ही सब जगह और सब कुछ में है, और हम सर्वदा मृत्युगंध से गंधाते रहते हैं। वह और मृत्युगंध अकेली वह और सर्वत्र व्यापी हुई मृत्युगंध, गंध के साथ अकेली वह।"

'अकेली वह' को मैं 'अकेला वह' कर लूँगा और उसका अर्थ लेखक से लूँगा।

—श्यामसुन्दर घोष

वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् देश के वैज्ञानिकों और शिल्पिकों और विदेशों में ट्रेनिंग पाने वाले भारतीय वैज्ञानिकों की सूची रखती है। इसे वैज्ञानिकों का राष्ट्रीय रजिस्टर कहते हैं। पिछले वर्ष देश के ७,००० से अधिक वैज्ञानिकों और शिल्पिकों का नाम इस में लिखा गया। विदेशों में ट्रेनिंग पाने वाले १,३०० वैज्ञानिकों का नाम अलग सूची में लिखा गया।

विदेशों से शिक्षा पाकर लौटने वाले वैज्ञानिकों को तुरंत अस्थायी काम देने के लिए परिषद् ने एक वैज्ञानिक-वर्ग बनाया है। पिछले साल इस में ३०० नाम थे, जो इस वर्ष ५०० हो गये।

पुस्तकालय की सार्वजनिकता

श्री परमानन्द दोषी

पुस्तकालय शब्द के सन्धि-विच्छेद करने से दो शब्दों की सृष्टि होती है—'पुस्तक' और 'आलय'। दोनों का अर्थ एक साथ लगाने से पुस्तकों का घर होता है। परन्तु पुस्तकों के सभी घर पुस्तकालय नहीं कहलाते। पुस्तक-विक्रेताओं, दफ्तरियों एवं वकीलों के यहाँ पुस्तकों की कमी नहीं होती, परन्तु पुस्तकों के वे संग्रह शायद ही पुस्तकालय संज्ञा से अभिहित किये जाते हों।

पुस्तकों का वह घर जिसमें पुस्तकें सार्वजनिक उपयोग के लिये संगृहीत की जाती हों, पुस्तकालय कहलाता है। सार्वजनिक उपयोग का तात्पर्य यह है कि उसे हर कोई बिना किसी प्रकार के भेद-भाव के व्यवहृत कर सके।

इसीलिये अपने नाम की सार्थकता के लिये पुस्तकालय को मुख्यतः तीन बातों की ओर अनिवार्यतः ध्यान देना होता है। वे बातें हैं—पुस्तकों का संग्रह, पुस्तकों का उपयोग और उनकी समुचित सुरक्षा। इन तीन बातों में विशेष सावधानी और सतर्कता की आवश्यकता होती है। पुस्तकों का निर्जीव संग्रह पुस्तकालय नहीं कहला सकता, पुस्तकों का बेतुका और बेतरतीव उपयोग, उसकी समुचित सुरक्षा नहीं कहला सकती। इन सारे कार्यों के लिये पुस्तकालयविज्ञानसम्मत मान्य और निर्दिष्ट कतिपय सिद्धान्त हैं। उन सिद्धान्तों का भलीभाँति संपादन और कार्यान्वयन ही पुस्तकालय के सही अस्तित्व को बनाये रख सकता है।

इन उपर्युक्त सारे कार्यों को करने के उपरान्त भी सभी पुस्तकालय, पुस्तकालय नहीं कहला सकते। पुस्तकालय से हमारा आशय सार्वजनिक पुस्तकालय, लोक-पुस्तकालय से ही होता है। पुस्तकालय भी बहुतेरे प्रकार के हुआ करते हैं। जैसे निजी पुस्तकालय, विभागीय पुस्तकालय, विशेष पुस्तकालय आदि।

पुस्तकालय अपने नाम की सार्थकता लोक-पुस्कालय के रूप में कार्यरत रहकर ही प्रमाणित करता है।

जिस प्रकार राजपथ, नदी, झरने तथा धूप, वायु आदि प्राकृतिक उपादान किसी व्यक्ति अथवा समुदाय-विशेष के लिये न होकर सबके लिये होते हैं, उसी प्रकार पुस्तकालय भी है। उसका सार्वजनिक स्वरूप सबको आमंत्रित करता है, अपने कक्ष में। न किसी के लिये वहाँ विशेषामन्त्रण है और न किसी के लिये किसी खास प्रकार का प्रतिबन्ध। जिस प्रकार खुली धूप और चलती हवा का सब कोई सेवन कर सकता है, उसी प्रकार पुस्तकालय का व्यवहार भी सब कोई कर सकता है। किसी के लिये रोक नहीं। जहाँ रोक या प्रतिबन्ध हुआ, समझिए पुस्तकालय अपने सार्वजनिक स्वरूप को भूल रहा है।

पुस्तकालय-सेवाओं की व्यापकता और विविधता के लिये सदैव बड़े-बड़े उपक्रम किये जाते रहे हैं। गवेषणा, अनुसंधान होते रहे हैं; पुस्तकालय-सेवाओं के ज्यादा विस्तार के लिये। पुस्तकालय-संचालन एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है न! विज्ञान में यदि नित्य नये-नये आविष्कार न होते रहें, तो फिर वह विज्ञान क्या हुआ? नूतन-नूतन आविष्कारों के समावेश और उन्मेष से ही विज्ञान, विज्ञान है।

विज्ञान कोई तालाब का स्थिर जल तो है नहीं कि एक बार जल आया तो जमा है। वह सतत प्रवाहशील निर्झर है, जिसमें जल आता है और चला जाता है। जल के आने-जाने की क्रिया ही उसे निर्झर बनाये रखती है।

उसी प्रकार विज्ञान है। नई-नई खोज नये-नये अनुभव, नये-नये सिद्धान्तों को जन्म देती है और इस प्रकार विज्ञान आज नई चेतना बना हुआ है। नई-नई खोजों की चेतना उसे मिलती रहती है। इसी कारण विज्ञान के क्षेत्र में आज कुछ हुआ है, तो कल कुछ से कुछ हो जायेगा। ऐसा न हो तो विज्ञान, विज्ञान न रहे। पुस्तकालय भी वैज्ञानिक प्रक्रिया का एक अंग है। इसमें भी नये-नये अनुसंधानों की उद्भावना सदैव रहती है। पुस्तक-वर्गीकरण, सूचीकरण आदि वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हैं। इन प्रक्रियाओं के सहारे पुस्तकालय-सेवाओं का अधिकाधिक उत्थान किया जाता है। मानव-सेवा का जो क्षितिज है, उसका ज्यादा-से-ज्यादा विस्तार हो, पुस्तकालय-विज्ञान के क्षेत्र में किये जाने वाले अनुसंधानों का एकमात्र यही उद्देश्य हुआ करता है।

पुस्तकालय में पुस्तक-चयन से लेकर पुस्तक-लेन-देन तक की सारी क्रियाओं में हमें मूलतः एक ही भाव दृष्टिगोचर होता है—मानव की ज्यादा-से-ज्यादा सेवा। सेवा करने की ये प्रविधियाँ स्थिरता लिये हुए नहीं, वरन् गत्यात्मकता लिए हुए होती हैं। इसी कारण आज जो प्रविधि सबसे ज्यादा उपयुक्त और प्रचलित होती है, कल पुरानी हो जाती है और उसके स्थान पर फिर नूतन उद्भावना, अनुभव और अनुसंधान के आधार पर ही हुआ करती है। पुस्तकालय के क्षेत्र में लगे हुए सभी लोग सदैव इस बात के लिये तत्पर रहा करते हैं कि कैसे पुस्तकालय-सेवा को ज्यादा-से-ज्यादा उपयोगी और फल-प्रसू बनाया जाय।

पुस्तकालय-सेवा के विस्तृतीकरण की यह प्रवृत्ति किस बात का संकेत करती है? अवश्य ही मानवता की अधिकाधिक सेवा करने की ओर ही यह प्रवृत्ति सतत उन्मुख रहती है।

तो ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया कि पुस्तकालय मानवता की समग्र सेवा करने की संस्था है। उसके उत्तरोत्तर विकसित सेवा-वृत्त के अन्तर्गत अधिकाधिक लोग आवें, ऐसी उसकी इच्छा रहती है। वह अपने पाठकों एवं अध्येताओं की बहुविध सेवा करने का हौसला रखता है। पुस्तकालय अपने स्वरूप को इसीलिए बहुप्रयोजनशील संस्थान की भाँति बनाने का प्रयत्न करता है। उसके बढ़ते हुए सेवामूलक कार्य कुछ व्यक्ति-विशेष, समुदाय-विशेष, वर्ग-विशेष, समूह-विशेष तक परिसीमित रहने नहीं चाहिए। बल्कि वह अपनी कार्य-परिधि में अधिकाधिक लोगों को, सबको ले जाना चाहता है। वह चाहता है कि उसके ज्ञानसूर्य की किरणें सबपर समान रूप से पड़ें, सबको समान रूप से उजाला प्राप्त हो। इसीलिये अब वह अनपढ़ों, अशिक्षितों, अर्द्ध शिक्षितों एवं विद्वानों सबकी सेवाएँ करना चाहता है। वह चाहता है कि उसके ज्ञान-भंडार का उपयोग सब कोई करें, उससे सब कोई लाभान्वित हों। इसीलिये न केवल पुस्तकालय पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं और पाठ्य-सामग्रियों का संग्रह करता है, बल्कि वह चलचित्र तथा अन्यान्य श्रव्य-दृश्य उपकरणों के प्रबन्ध द्वारा भी अपनी वृहत्तर सेवा का परिचय देता है। पाठ्य-सामग्रियों के द्वारा अगर शिक्षित लोग लाभ उठा सकते हैं, तो अन्यान्य सामग्रियों के द्वारा शिक्षा के वरदान से सर्वथा वंचित लोग भी लाभान्वित हो सकते हैं। अंधों, विकलांगों एवं मरीजों को भी पुस्तकालय लाभ पहुँचाने में सर्वथा सक्षम हो सकता है। पुस्तकालय की देहलीज पर पैर रखे बिना भी उसकी सामग्रियों का भली-भाँति रसास्वादन किया जा सकता है। आज तो भारत के सुदूर देहात में बैठकर भी विश्व के किसी बड़े-से-बड़े पुस्तकालय से डाक द्वारा पुस्तकें मँगाकर उन्हें पढ़ा जा सकता है। ये सब पुस्तकालय के व्यापक साहाय्य-सहयोग के ही सूचक हैं।

पुस्तकालय सबका भला चाहता है। अपने क्रोड में आये चोर एवं बुरे आचरण वाले पाठकों, दर्शकों को भी पुस्तकालय अपनी सेवा देने से इनकार नहीं करता। यह उसके सहानुभूतिशील व्यवहार का परिचायक नहीं तो और क्या है?

राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह

श्री सुरेन्द्र प्रसाद जमुआर

पिछले दिनों एक सप्ताह तक (१४ नवम्बर ६१ तक) स्वतंत्र भारत में पहली बार 'राष्ट्रीय पुस्तक समारोह' का देशव्यापी आयोजन किया गया, जिसे लोगों ने सोल्लास मनाया। अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ द्वारा संयोजित यह समारोह देश के पाँच बड़े नगरों; यथा वाराणसी, दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में अधिकृत रूप से राष्ट्रीय स्तर पर अनुष्ठित हुआ। यह समारोह भारत में शिक्षा के क्षेत्र में नयी क्रान्ति का अभिनव प्रयोग था, जनता में वाचनाभिरुचि जगाने का सक्रिय आन्दोलन था। यह स्मरणीय है कि पुस्तकें महान आत्मा की सन्देश-वाहिका, ज्ञान-रत्न की चिरन्तन निधि होती हैं। मनुष्य के बौद्धिक विकास के लिए पुस्तकों की वृद्धि अनिवार्य है। बौद्धिक विकास अथवा ज्ञानोत्कर्ष एक-दूसरे के विचारों को समझाता तथा मानव-मात्र के भ्रातृत्व का मार्ग प्रशस्त करता है। आधुनिक मानव-समुदाय में, जो अनेक प्रतिकूल सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में जकड़ा हुआ है, इस भावना को विकसित करना अपरिहार्य है। पुस्तक कला, साहित्य और संस्कृति की त्रिपथगा है। आज के मानव को, जो घोर व्यस्तता एवं संकुलता का जीवन दमघोंट वातावरण में व्यतीत कर रहा है और जिसका परिणाम उन्मादग्रस्त अविश्रान्ति है, थोड़ी शान्ति प्रदान करने के लिए भी यह भावना आवश्यक है। शान्ति-स्थापन के लिए पुस्तकों का विकास वांछनीय है, किन्तु राजनीति के कलह-कोलाहल से दूर रहकर ही मनुष्य का मन पुस्तकानुशीलन में रमा करता है, आनन्द का बोध कर सकता है।

भारत आदिम काल से ही मानव-सभ्यता और वाणी के उपासकों का केन्द्र रहा है। उसका अतीत गौरवमय रहा है और वह सदा से मानव के मंगलार्थ ज्ञान की जोत जगाता रहा है। लेकिन उसपर अनेक मुसीबतें आईं और वह दो-ढाई सौ वर्षों तक विदेशी दासता की जंजीर में जकड़ा रहा। परिणामस्वरूप ज्ञान का स्वतन्त्र प्रवाह अवरुद्ध हो गया। पर, अब राष्ट्रीय सरकार के जनतान्त्रिक सिद्धान्तों के कारण जो उन्मुक्त वातावरण तैयार हो गया है, उससे देश में 'पुस्तक-विकास-सप्ताह' मनाने की तीव्र भावना उत्पन्न हो गई है, जिससे भारत भी उन देशों के समक्ष, जो मानव-मात्र में भ्रातृत्व की भावना निष्पन्न करने के निमित्त शान्ति-स्थापन की दिशा में यत्नशील हैं, अपने विचार रख सके और योगदान कर सके। इन्हीं सारी बातों को मद्देनजर रखते हुए भारत-सरकार ने प्रकाशकों, मुद्रकों तथा पुस्तक-विक्रेताओं के साथ मिलकर संयुक्तरूप से पुस्तक-विकास-सप्ताह मनाने का निर्णय भी किया।

भारत-सरकार की अपील पर अ० भा० हिन्दी-प्रकाशक-संघ ने इस समारोह को अखिल भारतीय स्तर पर संघटित करने का काम सक्रिय रूप से किया। इस समारोह का आयोजन निम्नांकित सिद्धान्तों के आधार पर किया गया—(१) पाठक-वर्ग को प्रोत्साहित कर उसकी संख्या में वृद्धि करना (२) नाटकों के अभिनय द्वारा सांस्कृतिक समारोह आयोजित करना (३) पुस्तक-गोष्ठियाँ तथा पुस्तकालय संघटित करने का आन्दोलन चलाना और सरकार से विशेष छूट देने की सुविधा उपलब्ध करना (४) पारिवारिक पुस्तकालय-आन्दोलन संघटित कर विशेष पुस्तक-कूपन जारी करना (५) लोकप्रिय पुस्तकों के सस्ते संस्करण तथा उच्च कोटि के ग्रन्थ सस्ते दाम पर उपलब्ध करना (६) लेखकों, पाठकों, मुद्रकों तथा प्रकाशकों को इस क्षेत्र में उनके योगदान के अनुसार पुरस्कृत करना (७) शैक्षिक तथा सांस्कृतिक संस्थानों से सहयोग का अनुरोध करना (८) पुस्तक-व्यापार पर विशेष स्मृति-पत्र प्रकाशित करना (९) राजधानियों में पुस्तक-प्रदर्शिनियाँ आयोजित करना; फिल्म, चित्रपटों, दीवारों पर चिपकाने के लिए विज्ञापन-पत्रों की व्यवस्था करना (१०) पाठकों की संख्या, उनके पते तथा उनकी रुचियों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी रखना। पुस्तक-प्रचार के संभावित उपायों का अधिकाधिक आश्रय लेना। पुस्तक-समारोह को वृहत् पैमाने पर मनाने के लिए पर्याप्त

प्रचार आवश्यक है। पुस्तकों का विस्तार, प्रचार-प्रसार करना, लोगों में पढ़ने की अभिरुचि जगाना—ये ही समारोह के मुख्य उद्देश्य थे। पुस्तक-विकास-कार्यक्रम को संघटित करने के लिए नौ प्रकाशनों के संचालकों की एक उपसमिति संघटित की गयी।

यह प्रसन्नता की बात है कि इस समारोह के माध्यम से प्रकाशक-संघ ने बौद्धिक उत्कर्ष को लक्ष्यमान कर श्रेष्ठ पुस्तकों के राष्ट्रव्यापी प्रचार एवं प्रसार का गहन उत्तर-दायित्व अपने कंधों पर लिया है। इस दायित्व को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए संघ ने केन्द्र एवं राज्य सरकारों के सहयोग से इस समारोह का आयोजन किया।

आज का जीवन बड़ी ही क्लांति और श्रांति का जीवन है। जीवन की कठोर विषमताओं से जूझते-लड़ते मनुष्य की कायिक एवं आत्मिक दोनों ही शक्तियों का इतना क्षय हो जाता है कि मनोरंजन तक के लिए उसमें उमंग नहीं रह जाती। आज पर्वों, त्योहारों, उत्सवों में जनता का उत्साह कितना फीका पड़ गया है, यह सहज ही द्रष्टव्य है। यदि लोग मनोरंजन की इच्छा प्रकट करते भी हैं तो किसी सिनेमा-गृह की शोभा बढ़ाते हैं या किसी मेले-ठेले में जा घुसते हैं। ऐसी भीषण स्थिति में जनता के मन में पुस्तकों के प्रति रुचि जाग्रत करना बाएँ हाथ का खेल नहीं। जो परिश्रान्त मस्तिष्क है, दिन-भर कोल्हू का बैल बनते-बनते जिसकी हड्डी-पसली एक हो चुकी है, उनसे पढ़ाई-लिखाई नहीं हो पाती और होती भी है तो केवल कहानियों, उपन्यासों या जासूसी-तिलस्मी पुस्तकों की। आज का अधिकांश व्यक्ति अभी इतना प्रबुद्ध और अध्ययन-व्यसनी नहीं है कि वह एक-दो घंटा समय पुस्तक पढ़ने में दे या स्वस्थ साहित्यानुशीलन करे। जिसकी आर्थिक स्थिति बहुत पतली और दयनीय है वह अपना भरण-पोषण और अपने परिवार की खर्ची चलाने में एकदम लाचार है। ऐसी अवस्था में उसके लिए पुस्तक खरीदना नामुमकिन है, किन्तु चार आने की एक मासिक पत्रिका या बारह नए पैसे का एक अखबार लेकर वह अपनी मानसिक बुभुक्षा अवश्य ही शांत कर सकता है। खेद है कि पैसे कमाने की होड़ ने मनुष्य को इस प्रवृत्ति से भी वंचित कर दिया है।

सच तो यह है कि जो विद्यानुरागी है, पुस्तक-पठन में रुचि रखता है, वह आर्थिक दृष्टि से विपन्न होते हुए भी अपना आधा-एक घंटा समय पुस्तक-पत्रिकादि पढ़ने में देता है, यदा-कदा पुस्तकें भी खरीद लेता है। पुस्तका-ध्यान में उसे निस्सीम अभिरुचि होती है। विडंबना तो यह है कि जिसके पास आवश्यकता से अधिक पैसे हैं, वह शान-शौकत, वस्त्र-परिधान, सौन्दर्य-प्रसाधन, मनोरंजन में सैकड़ों रुपये पानी की तरह बहा देता है, लेकिन प्रति-दिन अखबार खरीदकर पढ़ने में उसकी नानी मरती है। उसके पास किस चीज का अभाव है। भगवान् ने उसे इतनी सम्पत्ति दे दी है कि उससे उसकी कई पीढ़ियों का भरण-पोषण मजे में चल जाए। पुस्तक खरीदने से दो लाभ हैं—मनोरंजन और ज्ञान की उपलब्धि। पर वह पुस्तक की मद में एक नया पैसा भी खर्च नहीं करना चाहता है। ऐसे मालदार आदमी को, इतना खर्च करना चुटकी बजाने की तरह है। उसकी वृत्ति उसमें रमती नहीं, इसीलिए वह पुस्तक में पैसा लगाना गुनाह समझता है। अर्थोपार्जन के लोभ में वह दिवाना, मदान्ध बना रहता है। शायद वह इतना नहीं सोचता कि पुस्तक-पठन में जितना मानसिक आमोद है, उतना शायद अन्य चीजों में नहीं। भोजन से केवल उदर-पूर्ति होती है, वस्त्रादि से शरीर की कान्ति बढ़ती है, सिनेमा, खेल-कूद, मेला देखने से मात्र मनोरंजन होता है। ये सब अपनी जगह पर उपयुक्त हैं। इनकी उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं।

यह ध्यातव्य है कि जमीन में गेहूँ से अपेक्षाकृत 'गुलाब' का महत्त्व कम नहीं होता, बल्कि उससे अधिक ही होता है। भोजन से पेट भरता है, कपड़े से शरीर की रक्षा होती है,—बस यहीं न! यदि पेट भरने लायक भोजन किया जाए; जैसे चावल, दाल, रोटी, तरकारी आदि; तथा मदिरा-पान, मांस-भक्षण आदि न किया जाए, तो हमारी दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्त्ति हो जाती है। जो जीवन के लिए सर्वाधिक उपयोगी खाद्य-पदार्थ हैं, उनकी उपेक्षा तो नहीं की जा सकती। वे जीवन की वृद्धि के आवश्यक एवं प्राथमिक तत्त्व हैं। कोई पेट काटकर किताब तो नहीं खरीद सकता। कोई अपनी पत्नी को फटेहाल, बच्चों को भूख से तड़पते देखकर

अपनी आलमारी में पुस्तकों की शोभा तो नहीं बढ़ा सकता ! लेकिन इस स्थिति से भिन्न एक दूसरी बात है, जिसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होना चाहिए। आज जमाने की जैसी रंगत है, उसे देखते हुए अतीव निराशा होती है। जनता की अवांछनीय प्रवृत्तियों को देखकर तरस आती है। आज का मनुष्य पुस्तक पढ़ने से कितना कोसों दूर भागता है।

इस समारोह के आयोजन के मूल में लोगों की यही भावना क्रियाशील थी कि वर्तमान काल में मौलिक आवश्यकता इस बात की है कि जनसाधारण में विशेष रूप से सुसंस्कृत एवं आर्थिक दृष्टि से खुशहाल परिवारों में सुरुचिपूर्ण साहित्य के पठन की प्रवृत्ति जाग्रत की जाए। इससे बहुतेरे लाभ हो सकते हैं—एक तो सिनेमा आदि सस्ते मनोरंजनों से बचाया जा सकता है और उनके कुप्रभावों से परिवार के छोटे सदस्यों की रक्षा की जा सकती है, दूसरी बात यह कि पुस्तक के माध्यम से विविध विषयों का जो ज्ञानार्जन होगा, वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। अ० भा० प्रकाशक-संघ ने इस आवश्यक कार्य को अपने हाथों में लिया है और उसके कार्यान्वयन के हेतु एक व्यावहारिक एवं सुविचारित योजना तैयार की है। हम पहले इसकी योजनाओं की चर्चा कर आए हैं। इनमें पारिवारिक पुस्तकालयों की योजना सर्वाधिक उपादेय प्रतीत होती है। जिस परिवार में, वृहत आकार का नहीं, लघु आकार का ही, एक छोटा पुस्तकालय है, वहाँ का वातावरण स्वस्थ रहता है, ज्ञान का निर्झर बहता है और बच्चों के दिमाग पर एक सुन्दर प्रभाव पड़ता है। शान-शौकत में हम जो पैसे चुटकी में उड़ा देते हैं, उन पैसों को बचाकर हम एक अच्छी पुस्तक या पत्रिका खरीद सकते हैं। क्या जरूरत है 'ऊँचे रहन' की ? 'सादा रहन, ऊच विचार' ही भारतीय संस्कृति का मूलमंत्र है। वाहियात चीजों में यदि हम अपनी गाढ़ी कमाई के पैसे बरबाद न करें और पुस्तक-क्रय में उन पैसों का उपयोग करें, तो हमारा कितना कल्याण हो सकता है और हमारी भावी पीढ़ी को नई प्रेरणा मिल सकती है।

पुस्तकें मानव-जीवन की स्थायी संपदा हैं। वे हमारी पथप्रदर्शिका हैं, ज्ञान का विराट आगार और शिक्षा-संस्कृति की वाहिका एवं विज्ञान की धारिका हैं। पुस्तकों या ग्रन्थों से ही सभ्यता का प्रसार होता है। यदि पुस्तकों का प्रचार बन्द हो जाए, तो जाति का जीवन-स्रोत सूख जाएगा। जिस प्रकार खाद्य के अभाव में मनुष्य का अस्थि-चर्ममय शरीर कायम नहीं रह सकता, उसी प्रकार उसके मन के पोषण एवं संवर्धन के लिए भी खाद्य चाहिए ही। इस खाद्याभाव में मनुष्य का वह आन्तरिक रूप जीवित नहीं रह सकता, जो मृत्युंजयी बनकर युग-युगान्तर तक जीवित रहता है। यह खाद्य मनुष्य को पुस्तक के पठन-पाठन से प्राप्त होता है। यही उसके मन की खूराक है, जो उसके मन को ताजा व हरा बनाए रहती है। अतः पुस्तकों की महत्ता एवं उपयोगिता असंदिग्ध हैं। हमारे देश में राष्ट्रीय स्तर पर पुस्तक-समारोह का विशाल आयोजन इसी निमित्त किया गया कि लोगों के दिमाग में 'वाचनाभिरुचि' के प्रति एक रचनात्मक स्फूर्ति जगायी जाय, जिससे उनका जीवन सुव्यवस्थित, संतुलित और उन्नत हो सके। भौतिक साधनों का प्राचुर्य ही सबसे बड़ी चीज नहीं। वे तो हमारे जीवन के बाह्य साधन हैं। उनसे केवल हमारे शरीर का पोषण होता है। जीवन का साध्य है सांस्कृतिक मूल्यों एवं नैतिक शक्ति की उपलब्धि। कहना न होगा कि पुस्तकें ही हमें सांस्कृतिक मूल्यों को उपलब्ध कराने में सर्वभावेन समर्थ हैं। अब प्रश्न उठता है कि वे कौन-सी पुस्तकें हैं, जो हमारे जीवन को प्रगति के शुभ्र शिखर पर अग्रसर कर सकें। दुनिया में या भारत में ही सही पुस्तकों का अम्बार है। उनकी गिनती करना आकाश के तारे तोड़ना है। उनमें से किस पुस्तक का चुनाव किया जाए, जिसके पठन से हमारे दृष्टिकोण में व्यापकता और हमारे विचारों में शुचिता आ सके और हमें जीवन में पग-पग पर आनेवाले संघर्षों का सामना करने की प्रेरणा प्राप्त हो। निःसन्देह आज भारत में 'पुस्तक-प्रकाशन' ने फिल्म-उद्योग के बाद एक विशाल व्यवसाय का रूप धारण कर लिया है। सांस्कृतिक क्षेत्र में उठाए गए ये दोनों उद्योग विशेष उल्लेख्य हैं। कुछ दिन पहले कागज के अभाव के कारण 'पुस्तक व्यवसाय' के सामने एक दारुण संकट उपस्थित हो गया था। आज कागज के अभाव की समस्या कुछ हद तक सुलझ गई है।

किन्तु इसके लिए प्रकाशक-संघ को सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। कागज के अभाव में पुस्तक छापना स्वप्नवत् है। यह प्रश्न हमारी राष्ट्रीय संस्कृति के विकास के प्रश्न के साथ संबद्ध है। सांस्कृतिक विकास का पथ किसी भी रूप में अवरुद्ध नहीं होना चाहिए। पुस्तक-व्यवसाय की प्रगति और इसके परिणामस्वरूप सुलभ मूल्य में पुस्तकों का प्रकाशन हमारे लिए एक राष्ट्रीय महत्त्व का प्रश्न है, जिसकी किसी प्रकार भी अवहेलना नहीं की जा सकती।

राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह के आयोजन की सार्थकता इसी में है कि वह प्रकाशक-संघ द्वारा प्रस्तावित योजनाओं को सफल बनाने में सहायक सिद्ध है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत का अधिकांश जनसमूह आज भी ग्रामों में ही निवास करता है और वहाँ तक पुस्तकें पहुँचाना या उनमें पुस्तकों के प्रति रुचि पैदा करना एक अत्यावश्यक कार्य है। प्रकाशक-संघ को इस दिशा में प्रयत्नशील होना चाहिए। यह कहना ठीक है कि साक्षरता के प्रचार तथा वाचनाभिरुचि जगाने के निमित्त पुस्तकों को जनप्रिय बनाने की नितान्त आवश्यकता है। किन्तु यह तभी संभव है जब प्रकाशक, जनता, सरकार या संस्थाओं के संयुक्त सहयोग से अल्प मूल्य में अच्छी पुस्तकों के प्रकाशन की अविलम्ब व्यवस्था हो। इसीलिए राष्ट्रभाषा हिन्दी की पुस्तकों को प्रचारार्थ आज सस्ते संस्करणों की आवश्यकता अनुभूत होने लगी है। पस्तकों के ऊपर जो विक्रय-कर लगता है, उससे शिक्षा एवं संस्कृति का प्रचार व्याहत होता है। अतः संघ की ओर से देश के सभी राज्यों में इस विक्रय-कर के विरुद्ध व्यापक आन्दोलन और साथ ही पाण्डुलिपि का सम्यक परीक्षण होना चाहिए।

शिक्षा एवं संस्कृति के प्रसार के लिए यह आवश्यक है कि पुस्तकें विक्रय-कर से मुक्त हों और पुस्तक-व्यवसाय को ऐसी सुविधाएँ प्राप्त हों जिससे लोगों को कम मूल्य में सद्ग्रन्थ सुलभ हो सकें। प्रकाशक-संघ सरकार का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट करे कि पुस्तक-प्रकाशन के लिए कागज का अभाव दूर किया जाय और पुस्तकों पर से विक्रय-कर उठा दिया जाए। देश के लेखकों, साहित्यकारों एवं प्रकाशकों को सरकार की संरक्षकता मिलनी चाहिए। ज्ञानगर्भ पुस्तकों से अपेक्षाकृत रोचक एवं सहज बोध्य पुस्तकों के द्वारा जनता में वाचनाभिरुचि जगायी जाए। प्रकाशकों को लेखकों का शोषण नहीं करना चाहिए और उन्हें व्यावसायिक अर्थ-नीति से अधिक राष्ट्र-निर्माण को प्राथमिकता देनी चाहिए। पुस्तक-प्रचार के लिए अच्छी पत्र-पत्रिकाओं में गंभीर आलोचनाएँ, तगड़ी समीक्षाएँ छपनी चाहिए। जिस प्रकार की पुस्तक जनता के लिए उपादेय और उसकी रुचि के अनुकूल हो, उसका ही प्रकाशन होना चाहिए। लेखकों को राजनीति के छल-छद्म से, गुटबन्दी, साम्प्रदायिकता से दूर रहकर साहित्य की मूक साधना करनी चाहिए और 'सहभाव' से ग्रन्थ-प्रणयन करना चाहिए। भारत ग्रन्थों का देश है, जहाँ साँस्कृतिक निधि अगाध है। पुस्तक-रचना का इतिहास मानव-सभ्यता के इतिहास के साथ संयुक्त है। इसमें जितना अवगाहन किया जाय, उतना ही जीवन के मूल्यवान रत्न प्राप्त होंगे। जनता को अपने परिवार के मानसिक एवं सांस्कृतिक विकास के हेतु पुस्तक खरीद कर पढ़ने की आदत डालनी चाहिए। 'पुराने कपड़े पहनें और नई पुस्तकें खरीदें'— यही हमारा आज का मूल-मंत्र है। यह मंत्र राष्ट्र के सांस्कृतिक उन्नयन के लिए एक उपयोगी परामर्श है, जिसके पालन से हमारा और राष्ट्र का अमित कल्याण संभव है। आज ऐसी पुस्तकों का सर्जन होना चाहिए, जो हमें जीवन-दृष्टि प्रदान कर नागरिकता, कर्त्तव्यपालन, शील और सदाचार का पाठ पढ़ाएँ।

इस संसार के साथ सबसे बड़ी मुसीबत तो यह है कि मूर्खों को तो बराबर अपनी बात की सच्चाई का दृढ़ विश्वास होता है और बुद्धिमान बराबर सन्देह में पड़े रहते हैं।

—बरट्रैंड रसेल

सूचनाएँ विज्ञप्तियाँ

—पश्चिम जर्मन सरकार के सहयोग से पाठ्य-पुस्तकें छापने के लिए दो सुसज्जित प्रेस मैसूर एवं चण्डीगढ़ (पंजाब) में शीघ्र ही स्थापित होने जा रहे हैं। मशीनें भारत आ गई हैं।

—केन्द्रीय सरकार ने अहिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों के लोगों में हिन्दी के प्रति विशेष अभिरुचि जाग्रत करने के लिये विशेष अध्ययनार्थ २२० छात्रवृत्तियाँ १९६२-६३ में देने की घोषणा की है। इस कार्य में राज्य तथा केन्द्रीय सरकारें एवं हिन्दी की संस्थायें विशेष रूप से प्रचार में लगी हैं।

—रूसी विद्वान् श्री आरान्त्रिकोव तथा उनकी पत्नी ने संयुक्त रूप से श्री कामता प्रसाद गुरु के व्याकरण का रूसी अनुवाद करके प्रकाशित कराया है। इस व्याकरण का रूसी जनता में विशेष समादर हुआ है।

—यूनेस्को के संरक्षण में सामान्य विज्ञान की पुस्तकों की एक भ्रमणकारी प्रदर्शनी फेडरेशन ऑफ पब्लिशर्स एवं बुक्सेलर्स ऐसोशियेशन की ओर से इसी वर्ष आयोजित की जा रही है। अपने ढंग का यह पहला आयोजन होगा।

—मध्य-प्रदेश शासन-साहित्य-परिषद्, भाषा-संचालनालय, सदर मंजिल, भोपाल के सचिव ने सन् १९६२ के लिए पुस्तकों पर पुरस्कारों की घोषणा की है। परिषद्-कार्यालय में पुस्तकें ३०-९-६२ तक उपर्युक्त पते पर पहुँच जानी चाहिएँ; साथ ही दिनांक १-११-५८ के बाद की लिखी गई रचनाओं पर ही विचार किया जायगा।

हिन्दी : भावात्मक एकता : एक ऐतिह्य :

५०० वर्ष से १०० वर्ष पहले तक कोर्ट-बोली के इतिहास को सोचा जाय तो हैदराबाद-महाराष्ट्र और उससे उत्तर के तमाम राज्यों में दो बातें देखने को मिलेंगी। दोनों बातें व्यावहारिक एवं सांस्कृतिक रूप में एकदम साफ-साफ अलग-थलग परिचिति की हैं। पहली बात तो अदालती भाषा है और दूसरी बात दरबारों में साहित्य-संगीत एवं कला की माध्यम भाषा है। पहली, अदालती भाषा में भी जहाँ बँगला, मराठी, फारसी आदि अपने-अपने अंचल में प्रचुरता से चलीं, वहाँ प्राचीन हिन्दी भी कम नहीं चली। मगर, जहाँतक दरबारों के साहित्य की भाषा का प्रश्न है, वहाँ सभी क्षेत्रों के दरबारों में क्षेत्रीय टोन वाली पुरानी हिन्दी ही प्रमुख रही है। इससे इनकार करना समझ के लिए कठिन है। आज सरकारों में इकाई है, मगर जन-साधारण में भाषाहित की रूढ़ि या जिद्द लेकर परस्पर-विरोध। मगर, उस जमाने में वंश, जाति और कुनबे की परम्परागत सरकारों में वंश, जाति और रेड़ों का जो भी आपसी राजनीतिक झगड़ा हो, सारे जनसाधारण में किसी ऐसी बात या भाषा जैसी बात तक को लेकर कोई झगड़ा नहीं था। उसका वही उपर्युक्त कारण था कि जनता के बीच या राज-दरबारों तक में भाषा-निर्माण के माध्यम साहित्यादि कला-विषयों में उस ढंग की हिन्दी के चलन की सारे देश में इकाई थी। यही कारण है कि हम इन क्षेत्रों के जनसाधारण को प्रभावित करनेवाले सन्तों, सिद्धों और कवियों की अपनी-अपनी वाणी में उस जमाने की हिन्दी का प्रभाव या हिन्दी के शुद्ध पद भी पाते हैं। वह बात, हिन्दी को लेकर वह इकाई क्या आज भी जनसाधारण के बीच नहीं है—क्या आज कोई कह सकता है? हाँ, इकाई के माध्यम में यह अन्तर आया है कि उस जमाने में इस भाषात्मक एवं भावात्मक एके के माध्यम जहाँ सन्त-सिद्ध और कविगण थे, वहाँ आज उससे बढ़कर सिनेमा, सिलोन-रेडियो, रेकर्ड, व्यवसाय-वाणिज्य का व्यापक व्यवहार आदि हैं। ये माध्यम भले ही संचारी रस जैसे ही हों, मगर उसी कारण उतने ही तीव्र, पुराने माध्यम से भी तीव्र हैं। दूसरा कारण। एक जगह आचार्य विनोबाजी ने कहा था कि हिन्दी, साहित्य आदि के लिए नहीं भी हो, मगर पेट की भाषा होने के नाते तो अवश्य राष्ट्र-भाषा रहेगी। पेट की भाषा से उनका तात्पर्य था कि, वह भारत के बीचों-बीच के लम्बे-चौड़े ऐसे क्षेत्र की, पेट जैसे स्थल की भाषा है, जिस स्थल से होकर सभी प्रान्तों को उजरना-गुजरना पड़ेगा, और उस उजरने-गुजरने के बीच कान-मुँह मूँदे, बिना सुने-बोले रहना कठिन है; इसलिए इस सुनाई-बुलाई के चलते उन्हें हिन्दी का माध्यम अख्तियार करना ही पड़ेगा। इस एकता के लिए एक और उदाहरण लिया जाय। भालचन्द्र आपते ने कहा है कि हिन्दी भाषा का जो साहित्य है वह प्रादेशिक भाषा हिन्दी का भी है और सार्वदेशिक भाषा हिन्दी का भी है...बंगला, मराठी, तमिल, तेलुगु आदि प्रादेशिक भाषाओं का साहित्य हिन्दी में आने पर सार्वदेशिक भाषा का साहित्य बन जाता है। श्री आपते के पहले वाक्य का अर्थ, अर्थात् हिन्दी के प्रादेशिक होने के बावजूद सार्वदेशिक होने का अर्थ तथा उसका कारण, विनोबाजी द्वारा कथित, हिन्दी का पेट की भाषा होना, पुराने दरबारी ऐतिह्य एवं सन्तों-सिद्धों की व्यस्त-व्यास आसता के साथ-साथ नया सिनेमा, सीलोन-रेडियो तथा व्यवसाय है। मगर, आपतेजी के दूसरे वाक्य का भी तर्क महत्त्वपूर्ण है। शरत् या बंकिम या शरशार या आजाद ... हिन्दी में ... अनूदित होकर उतरे, तबतक देश की

और भाषाओं के पाठक उनसे लगभग अपरिचित ही थे। मगर, वे हिन्दी से परिचित थे और इसी माध्यम से उन्होंने इन हिन्दीतर भाषा के शिल्पियों को जान-पढ़ लिया। यों, यह हिन्दी के प्रति दुर्भाग्य है कि उसकी अच्छी चीजें अगल-बगल की भाषाओं में भी बहुत-बहुत कम अनूदित होती रही हैं, मगर यह अपने एवं इतर क्षेत्र के हिन्दी-सेवियों का सौभाग्योचित कार्य है कि उन्होंने हमेशा अपने क्षेत्र और अपने इर्द-गिर्द के क्षेत्र के भाषासाहित्यों का बड़ी तेजी से अनुवाद किया है। आपतेजी ने हिन्दी में इतर भाषाओं के अनुवाद के द्वारा जानकारी फैलाने का जो श्रेय हिन्दी को दिया है, इसके लिए वे यथार्थवादी ही मान्य होंगे, किन्तु इसके दूसरे तरफ की भी यह बात हिन्दी को दूसरों के द्वारा साहस और दिलासा देने की होगी कि दूसरी भाषाओं में भी हिन्दी का अनुवाद किसी मुकाबिले हो। साहस और दिलासा ही क्यों, इससे हिन्दी अपनी माध्यम-रचना भी समझेगी और तदनुसार अपने को सरल या प्रेषणीय कर सकेगी। दिल्ली की बोलीजाने वाली बोली ही देश-भर को समझ आ सकनेवाली प्रेषणीय हिन्दी है—हिन्दी के विषय में अब ऐसा सोचनेवाले सरकारगत लोगों की बात में कोई तुक हो न हो, मगर भालचन्द्रजी की बात में जो ठेठ औचित्य है, उसे कौन ठुकरायेगा ?

'पुस्तक-जगत' के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ४) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य ३७ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* साधारण अंकों में विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
,, द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
,, आधा पृष्ठ	:	२०.००
,, एक चौथाई पृष्ठ	:	१२.००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,

पुस्तक-जगत, ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना—४

रजिस्टर्ड नं० : पी० ८०४ मूल्य : प्रत्येक अंक ३७ नं० पै० वार्षिक : चार रुपये
वर्ष ६ :: अंक — १ :: सितम्बर — १९६२

अखिलेश्वर पाण्डेय द्वारा संपादित, सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, पटना-४ में मुद्रित एवं प्रकाशित

पुस्तक-जगत

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

'पुस्तक-जगत'

जनवरी १९६३ का अंक : २४ दिसम्बर १९६२ को प्रकाशित

पाठ्य-साहित्य-विशेषांक

१ । ८ डबल- क्राउन अठपेजी का मौजूदा आकार

सफेद कागज, विशाल कलेवर, बहुचित्रित छपाई, विशेष सजधज

संग्रहणीय अध्ययन-सामग्री

विज्ञापन का राष्ट्रव्यापी साधन

देश के समस्त हिन्दी-प्रतिष्ठानों और प्रमुख शिक्षा-संस्थाओं में प्रेषित

विशेषांक में विज्ञापन-दर

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	७५·००	भीतरी पूरा पृष्ठ	५०·००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	७५·००	भीतरी आधा पृष्ठ	३०·००
आवरण द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	६०·००	भीतरी चौथाई पृष्ठ	१६·००

'पुस्तक-जगत' का मूल्य

वार्षिक : चार रुपये एक अंक : ३७ न० पै० विशेषांक : एक रुपया

● भारत में पाठ्य-पुस्तकों का विकास ● पाठ्यक्रम, पाठ्य और छात्र ● पाठ्य और व्यवसाय ● पाठ्य और राष्ट्रीयकरण ● पाठ्य, सहायक और नोट्स ● पाठ्य और परीक्षा-दृष्टि ● पाठ्य, मुद्रण और आकल्पन ● पाठ्य और उसका अधिकरण ● तन्त्र-पाठ्य-पुस्तकों की कमी आदि विषयों पर

अधिकारी राष्ट्रीय विद्वानों के निबन्ध

विज्ञापन के लिए स्थान सुरक्षित करें। ग्राहक बनकर अपनी प्रति सुरक्षित करें।

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना — ४

हिन्दी-विरोध : अँगरेजी-भक्ति राष्ट्रीय अपमान का षड्यंत्र

श्री रामतीर्थ भाटिया

प्रकाशक या विक्रेता के नाते हमारे साथी अनुभव करते हैं या नहीं—यह मैं नहीं कह सकता। किन्तु, देश के राजनीतिक क्षितिज पर एक बात बम का गोला होकर विस्फुटित होने जा रही है। पन्द्रह वर्ष के बाद फिर देश के साथ खिलवाड़ किया जा रहा है; लोक-सभा के इस वर्षा-सत्र में एवं शायद इस पत्रिका के पाठकों के हाथ पहुँचने तक यह देशघातक विधायक स्वीकार भी हो चुका होगा कि अँगरेजी अनिश्चित काल तक इस देश की सहयोगी राष्ट्रभाषा बनी रहेगी, जिसे संविधान के अनुसार १९६५ तक समाप्त होना था और हिन्दी को पूर्णरूप से राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होना था। किन्तु ऐसा नहीं हुआ, बल्कि भागती अँगरेजी को पूरे राष्ट्रीय सम्मान के साथ वापस बुलाया जा रहा है। अँगरेजी साम्राज्य की दासता की निशानी अँगरेजी, अँगरेजों के जाने के बाद भी उनके गुप्त पंचमांगियों की एक चाल बनकर जाल की तरह इस देश पर ऐसी छाई हुई है कि इस जाल में कितनी ही बड़ी-बड़ी हस्तियाँ फँस चुकी हैं। जो पहले हिन्दी या दूसरी किसी देशी भाषा के माध्यम के सिवा अँगरेजी में तुतलाना तक नहीं जानते थे और इसलिए भी अपनी देशी बोली की दुहाई दिए फिरते थे, वे अब अँगरेजी की तरफदारी करने लगे। हिन्दी के विरोधी और अँगरेजी के प्रेमी काफी दिनों से लगे हुए थे कि अँगरेजी को हमेशा के लिए इस देश के राष्ट्रीय जीवन का अंग बना दिया जाय। आखिर वे सफल हुए। अँगरेजी और अमेरिकी साम्राज्यी कूटनीति और डालरी प्रभाव कुछ कम नहीं सिद्ध हुआ। पता चला है कि सरदार पटेल की मृत्यु के तत्काल ही हमारे तथानिहित राष्ट्र-निर्माता अँगरेजी को हिन्दी के साथ हमारे राष्ट्रीय आसन पर बिठा देना चाहते थे। लेकिन हमारे भूतपूर्व राष्ट्रपति इस इरादे में बाधा थे और उन्होंने कहा कि वे इस संबंध के संशोधन की मंजूरी नहीं देंगे, भले ही उन्हें देश की संकटकालीन स्थिति की तरह लोक-सभा के समक्ष क्यों न उपस्थित होना पड़े। और, यह भी पता चला है कि प्रातःस्मरणीय स्व० राजर्षि टंडनजी ने भी कहा था कि मृत्यु-शय्या पर भी पड़ा मैं इस इरादे के विरुद्ध प्राणों की बाजी लगा दूँगा। सो अब रास्ते की दोनों बाधायें हट गई हैं। हिन्दी को सखी राष्ट्रभाषा बनाने के दुष्प्रयास के साथ एक और आन्दोलन चलाया जा रहा है। वह है हिन्दी के सरलीकरण के नाम पर। पहले आकाशवाणी के समाचार-प्रसारण वाली सुबह-शाम की विज्ञप्तियों को सरल करने की बात थी, किन्तु विरोध के कारण इतनी रियायत बेचारी हिन्दी के साथ की गई कि दोपहर १-४० के समाचार-प्रसारण में पहली जुलाई का पहला समाचार फारसी-उर्दू-मिश्रित जो सुनाया गया, वह हिन्दी-कुलभूषण टण्डनजी का था : "हाय ! कितना बेदर्द जमाना है !" ये दो बम हिन्दी पर एक साथ इसलिए फेंके गये कि विस्फोट के घटनास्थल दो न होकर एक हो जायें और हिन्दी-समर्थकों के विरोध की शक्तियाँ दुधारी हो जायें। आखिर जनता में या तो इस सवाल पर उग्र क्रान्ति हो, या फिर वह प्रजातांत्रिक ढंग का विरोध, जो किसी ठंडी सीमा तक ही होता है, शोर-गुल कर, प्रस्ताव पारित कर चुप हो रहे। हिन्दी के समर्थकों की शक्ति का अन्दाजा उन्होंने लगा लिया कि वह प्रान्तों के भाषाई आन्दोलन जैसी नहीं होगी, क्योंकि वे जानते हैं कि हिन्दी-क्षेत्र में गंगा-यमुना बहती है, जिसमें नहाकर लोग वहीं-के-वहीं ठंडे हो रहते हैं और फिर हिन्दी-क्षेत्र के मंत्री और संसद्-सदस्य भी किसी ऐतिहासिक तर्क पर बल देने जैसी बलाय मोल लेकर गद्दी नहीं छोड़ने वाले हैं।

बीच का रास्ता

यह मैं नहीं कहने जाता कि हिन्दी के समर्थकों ने लोक-सभा और राज्य-सभा में जाकर कुछ नहीं किया। बेशक उन्होंने इस षड्यंत्र की सूचना देश को दी। देहली में इसके विरोध की सभाओं में जाकर श्री दिनकर और सेठ गोविन्द दास बोले भी। सुना है, इस प्रश्न पर

हिन्दी-क्षेत्र से गये किसी मंत्रिमंडल के सदस्य से कुछ नहीं बन पड़ा, किन्तु गुजरात और महाराष्ट्र के मंत्रियों ने, जो अहिन्दीभाषी राज्य के होते हुए भी हिन्दी के सबल समर्थक हैं, श्री मुरारजी देसाई तथा एस० के० पाटिल आदि ने, मंत्रिमंडल में उस प्रस्ताव का विरोध किया और ऐसा भी सुनने में आया है कि कुछ और लोगों का सुझाव था कि विधान में इस प्रकार का संशोधन न करके केवल काम-चलाऊ स्थिति यानी स्टेटस्को रखी जाय राष्ट्रपति के विशेष अध्यादेश द्वारा कि १९६५ की अवधि बढ़ाकर पाँच या दस वर्ष बाद अँगरेजी की वर्त्तमान हैसियत के बारे में पुनः सोचा जायगा। इससे यह होगा कि अँगरेजी जैसी विदेशी भाषा के, राष्ट्रीय सम्मान के तौर पर, विधान के सहारे हमेशा के लिए आसन पर विराजमान रहने का षड्यंत्र समाप्त हो जायेगा एवं हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के सम्बन्ध में प्रयोग का एक वातावरण निर्मित होगा। लेकिन देश के बहुजन की भावना की परवाह किये बिना तथा देशप्रेम एवं राष्ट्रभक्ति के ऊँचे राष्ट्रीय दृष्टिकोण से हटकर, राजसत्ता के प्रलोभन से जो शासक देश के निर्माण की मौलिक बातों को तजकर देश-विरोधी तत्त्वों और गुटों से समझौते के लिए तैयार हो जाता है कि 'अमुक नाराज न हो, अमुक की यह धमकी है कि मैं अलग हो जाऊँगा', वह शासक और जो भी हो, किन्तु यह बात सत्य है कि उस शासक की बदौलत देश के दुर्भाग्य की कपाल-रेखायें स्पष्ट हो उठती हैं, क्योंकि वह ऐसी छोटी-छोटी धमकियों और लिहाजों में बँधकर सही शासन नहीं किया करता। इतिहास बतलाता है कि ऐसे शासक देश की किसी दूसरी संकटकालीन स्थिति में खम ठोककर खड़े रहने वाले नहीं होते और समझौता या शान्ति का अर्थ खम ठोक कर खड़ा न होना तो है ही नहीं। ऐसी बातों को देखकर ही चीन या पाकिस्तान ने इसका अनुचित लाभ उठाया है। तब अपने अन्दरूनी गुटों के मामले में भी यही बात है कि उनकी देश-विरोधी हरकतों के सामने जितना ही सिर नवाया जाय, वे सिर चढ़ते ही जायेंगे। आखिर अपने अस्तित्व के आग्रह का कहीं-न-कहीं तो प्रमाण देना ही होगा। शुद्ध गाँधीवादी, काँग्रेसी, खादीधारी लौह-पुरुष सरदार पटेल भी थे, जिन्होंने कि मुसलमानों को पाकिस्तान और हिन्दुओं को हिन्दुस्तान मिला कहकर हमें क्या मिला—इस प्रकार नारा देने वाले कुछ प्रतिक्रियावादी अकाली व्यक्तियों को १९४७ में अपने यहाँ बुलाकर कहा था कि हम तुम्हें शेष भारतीयों से अलग नहीं समझते, मगर यदि फिर भी आपकी भावना हमारी इस समझदारी के विरुद्ध है तो यह सफेद कागज लिखिए और अपने साथियों की मात्रा के अनुसार चार जिलों का अलग स्वतंत्र देश बना लीजिए, लेकिन फिर इसी हिसाब से बँटवारा होगा और तब अपने उस क्षेत्र की सुरक्षा का भी भार आप पर ही होगा; सुरक्षा के विषय में हम जिम्मेदार न होंगे। तब हमारे इन रास्ता-भटके भाइयों ने फिर वैसी अलगाव की आवाज नहीं उठायी। कहा जाता है कि सिवाय बंगाल और तमिलनाड के किसी राज्य में ऐसा विरोध नहीं हुआ। स्वयं हमारे शासकों में से ही, हिन्दी-विरोधी और अँगरेजी-भक्त उन लोगों ने, जो संयोग से हिन्दी-क्षेत्र के जन्मे हैं, बिना मौका-महल-स्थान-नीति-अनीति समझे जब यह कहना शुरू किया कि हिन्दी जबरदस्ती नहीं लादी जा सकती, तो अहिन्दी-भाषी सभी लोगों को सहारा मिल गया; हालाँकि लोक-सभा में टंडनजी का वह वक्तव्य स्पष्ट था कि किसी भी प्रादेशिक भाषा से हिन्दी की कोई प्रतिस्पर्धा नहीं है, वे सभी भाषायें हिन्दी की ही तरह हमें प्रिय हैं, क्योंकि वे सभी इस देश की ही उपज हैं; हिन्दी को तो अँगरेजी का स्थान लेना है, अँगरेजी भाषा के शासन के मुकाबले आना है। लेकिन हिन्दी-विरोधी लोग बड़ी चतुराई से अकारण इसके विपरीत सिद्ध करते रहे और एक मनोवैज्ञानिक अँगरेजी-विरोधी एका उत्पन्न करने के बजाय हिन्दी-साम्राज्यवाद के भूत का भय पैदा करने में हमारे शासकों को अनुरूप करते रहे। इन शासकों में एक तो ईश्वर के प्यारे हो गये, जिन्होंने विधान-परिषद् की बैठक के बाद ही चुनौती देते हुए कहा कि विधानतः आपने हिन्दी को कौमी जबान बना तो दिया है, लेकिन हम देखेंगे कि कैसे आप इस निर्णय को कार्यान्वित करते हैं, और उन्होंने जिद्द कर भी, त्याग-पत्र की धमकी देकर भी शिक्षा-विभाग का अधिकार नहीं छोड़ा।

हिन्दी-प्रकाशक-संघ और हिन्दी

जब से हिन्दी के सर पर उसकी सौत अँगरेजी के सजधज, बाजे-गाजे के साथ गृह-प्रवेश की बात का पता राष्ट्र-प्रेमियों को लगा है, तब से सारा देश ही चिन्ता-ग्रस्त है। चरम सीमा तक यह राष्ट्रीय पतन और अपमान की बात है। संसार में जितने देश स्वतंत्र हुए, सबने दूसरे दिन से ही अपनी भाषा को राज्य-कार्य और शिक्षा का माध्यम बनाया। वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा के लिए अँगरेजी ही माध्यम हो सकती है—यह केवल मानसिक दासताजन्य हीन भाव ही है। रूस, जर्मनी और जापान आदि देश अपना वैज्ञानिक और तकनीकी उन्नयन, बिना अँगरेजी भाषा के, अँगरेजों से कई गुना अच्छा कर सके हैं। हिन्दी में भी, इतने थोड़े समय में, पर्याप्त मात्रा में हर तरह की शिक्षा के लिए पुस्तकें उपलब्ध की गई हैं, जबकि इस दिशा में सरकार का कोई प्रोत्साहन, कोई योजना हिन्दी के प्रकाशकों को नहीं प्राप्त थी। हम मानते हैं कि अभी आवश्यक का एक-चौथाई काम भी नहीं हो सका है, लेकिन जो हुआ वह निश्चय ही गर्व करने लायक है। दूसरी प्रादेशिक भाषाओं के मुकाबले, तकनीकी विषयों में, हिन्दी में पुस्तक-प्रकाशन की गति कई दर्जे अच्छी है। उत्पादन-स्तर की थोड़ी कमी अवश्य है। लेकिन, राष्ट्रभाषा कहने के बाद जब इसे सरकार द्वारा ही बेसहारा छोड़ा जाता है, तब केवल आरोप लगाना नितान्त एकपक्षीय बात है। मुझे जो बात कहना है, वह दूसरी बात है। देश के वातावरण में तनाव और विघटन की स्थिति पैदा करनेवाले इस कुचक्र का प्रारंभ इसी मई मास से हुआ। देहली में तो न जाने कितने प्रदर्शन और सभायें हो चुकीं। और भी स्थान-स्थान के समाचार आये हैं। लेकिन कितने खेद और लज्जा की बात है कि जून-जुलाई के बीच अपने देश की इसी राजधानी में जबकि साजिश की जा रही है, और वहीं हिन्दी-प्रकाशक-संघ की कार्य-समिति की बैठक हो और देश के हिन्दी-प्रकाशकों की प्रतिनिधि कही जाने वाली यह संस्था अपना निजी झाँझ-मँजीरा बजा कर, चाय-पानी पीकर स्थगित हो जाये और हिन्दी पर इस प्रहार के विरुद्ध एक शब्द भी कहने का साहस न कर सके,

या फिर इस विषय पर वह ध्यान ही न करे। इससे अधिक कर्त्तव्यहीनता की बात और क्या हो सकती है? यह बात क्या स्पष्ट नहीं कि बाकी विरोध करने वाली जनता तो निष्काम भाव से अपने हिन्दी-प्रेम के कारण आन्दोलन में जुटी है, लेकिन प्रकाशक वह अकेला प्राणी है जो हिन्दी की कमाई भी खाता है और इस विषय पर स्वार्थ के नाते चुप है, उसके लिए निस्वार्थ राष्ट्र-प्रेम की बात अगर छोड़ भी दी जाय तो? बेचारी हिन्दी-माता अपना मान-अपमान सहकर भी इनमें से कई प्रमुख प्रकाशकों की तिजोरियाँ भर चुकी है और बैंक-बैलेंस बढ़ा रही है। मगर सरस्वती-माँ के ये नाशुकरे पुत्र अपने उत्तरदायित्व को पहचान तक नहीं सके! मुझसे एक हिन्दी-पत्रकार ने प्रकाशकों की इस बैठक के कई दिन बाद काफी-हाउस में मिलने पर पूछा कि सुना है कि हिन्दी-प्रकाशकों की यहाँ हाल ही में बैठक हुई थी, मगर यार, आश्चर्य यह है कि हिन्दी के दो-दो मोर्चों पर आन्दोलन चल रहा है; किन्तु लगता है कि हिन्दी-प्रकाशक-संघ के सारे अधिकारी पंगु बन चुके हैं; इससे तो यही पता चलता है कि उनका अँग्रेजी तथा अन्य वैसी ही भाषाओं में जो योगदान एवं घातक उत्तरदायित्व रहा है, उसके बड़े रोमांचकारी इतिहास का वे फिर उद्घाटन चाहते हैं। मुझे तब शर्मिन्दा होकर उत्तर देना पड़ा कि मैं सौभाग्य से इस निष्क्रिय संघ की कार्यसमिति की निम्न स्तर की गुटबन्दी में नहीं हूँ, अथवा मेरी जिम्मेदारी का प्रश्न ही नहीं है। जवाब पर्याप्त था। वे चुप हो गये। लेकिन संघ के कतिपय महाधीशों के मन की बात सोचिए, जिनको केवल एक बात का ध्यान और चिन्ता है कि किसी भी नैतिक-अनैतिक उपाय से संघ पर अपना प्रभुत्व और बहुमत बनाए रहें। एक बात यह है कि बैठकों के एजेंडे में अपनी भाषा के हित और आन्दोलन जैसी बातों को लाना प्रधान-मंत्री का काम होता है। संयोग से ऐसी सार्वजनिक महत्त्व की बातों का, जिनसे सीधा या दूर का भी संबंध हमारे व्यवसाय से भी हो, समझना उनके बूते की बात नहीं है और वे ऐसी बातों के विचार में निश्चय ही शून्य मात्र हैं। बाकी रही अध्यक्ष महोदय की बात। बेशक कोई नहीं कह सकता कि उनमें ऐसी बातों को समझने की योग्यता नहीं है। निश्चय ही वह है। लेकिन इतने बड़े उद्योगपति के निजी सचिव को इन बातों की चिन्ता की आवश्यकता ही क्या है? अँगरेजी रहे या हिन्दी, उनको क्या अन्तर पड़ता है। उनके कारखाने का चक्का चलता रहना चाहिए; लक्ष्मी का तो चक्का चलता ही रहेगा। तब इस चक्के के शोर में हिन्दी की बात सुनाई दे या न दे। प्रकाशक-संघ को शायद इस बात का एहसास नहीं कि अँगरेजी के सहयोगी भाषा बनने के बाद शिक्षा का माध्यम यदि हिन्दी किसी भी जगह है तो भी वहाँ अँगरेजी ऊपर ही रहेगी, क्योंकि उसकी पुस्तकों का उत्पादन निश्चय ही हिन्दी से अच्छा है और हिन्दी का उत्पादन जो अच्छा होने की ओर अग्रसर हो रहा था वह भी निश्चय ही विगत-दुर्गत हो रहेगा। शिक्षा की बराबरी में, वैसी स्थिति में, तब निश्चय ही अँगरेजी शनैः-शनैः छा जायेगी और इसका प्रभाव हर प्रकार की पुस्तकों पर पड़ेगा, चाहे वे पाठ्य हों या दूसरी। हिन्दी-प्रकाशन की तीव्रगति से चलने वाली गाड़ी निश्चय ही पटरी से उतर कर, कौन कह सकता है कि, तब दुर्घटनाग्रस्त न होगी।

गत मास का साहित्य

[सर्वेक्षण एवं आकलन]

श्री जयप्रकाश शर्मा

[प्रस्तुत स्तंभ के लिए आपका सहयोग अपेक्षित है। प्रकाशक, संपादक, लेखक एवं पाठक कृपया इस पते पर सूचना-सामग्री भेजें : जयप्रकाश शर्मा, १७/८२, आनंद पर्वत, दिल्ली-५]

एक विवाद तो नव-निर्वाचित केन्द्रीय सरकार ने रेडियो-हिन्दी को सरल बनाने के नाम पर खड़ा किया है, उसी के फलस्वरूप कुछ प्रतिक्रियावादी राजनीतिक दल हल्ला देने वाले आन्दोलन के साथ हिन्दी को फिर शिखंडी बनाकर मैदान में खींच लाये हैं और चने के साथ घुन पिसे-न-पिसे, हिन्दी जरूर पिस कर रहेगी, यह तो तय है। फिर बखेड़े होंगे, झगड़े होंगे और हिन्दी का रूप शायद ऐसा हो जायगा जैसा कनाटप्लेस जैसे स्थानों में सजे-धजे एम्पोरियम में गाँधीजी की खादी का देखने में आता है। पर इस विवाद का एक पुछल्ला है, जो गैर-हिन्दी भाषाभाषी बौद्धिक प्राणी पकड़ रहे हैं : आखिर हिन्दी में है ही क्या? साहित्य, साहित्यकार या पाठक-वर्ग! भाषा में पटरानी बनने के लिये क्या क्या है, जरा सुनें तो! बँगला में जिस किताब के चार-चार संस्करण बिक जाते हैं, उसका हिन्दी में एक संस्करण भी बिक पाता है? अगर नहीं बिक पाता तो फिर यह व्यर्थ का विवाद क्यों?

संरक्षण देती है, पर भाषा, लिपि या साहित्य का अन्तर उसके किसी को भी नहीं मालूम। फिर भी प्रकाशन होता है और बिना किसी द्वेष के अनुवादों का भी प्रकाशन किया जाता है। पिछले तीन-चार महीने के प्रकाशनों में (केवल महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों के अनुसार ही) मौलिक के अनुपात में अनुवाद की तालिका इस प्रकार रही है। साथ ही सही मूल्यांकन करने के लिये हम सोवियत रूस में प्रकाशित प्रकाशनों की तालिका भी प्रस्तुत कर रहे हैं। निम्न तालिका में हिन्दी के राजकीय एवं राजकीय प्रत्यक्ष संरक्षण-प्राप्त संस्थाओं के प्रकाशन सम्मिलित नहीं है; जबकि सोवियत रूस में अधिकांश प्रकाशन सरकारी संस्थान ही करते हैं।

इसके अनुपात में भारतीय भाषाओं में हिन्दी का साहित्य सरकारी अनुदान से मुक्त और प्रत्यक्ष संरक्षण से अलग रह कर अनूदित रूप में बहुत ही कम है। हिन्दी की अच्छी-अच्छी कृतियों का अनुवाद भी सरलता से नहीं हो पाता। आखिर क्यों, क्या इसके लिये उस भाषा-संबंधी

हिन्दी	भारतीय भाषाओं से	एशियाई भाषाओं से	विदेशी भाषाओं से
काव्य	१३%	१·५%	३·००%
आलोचना	११%	×	१०·५%
कथा-साहित्य	३७%	२%	२६·३%
टेक्नोलौजी	३%	५%	४७%

रूसी	स्थानीय भाषाओं से	भारतीय भाषाओं से	अन्य भाषाओं से
काव्य	३५%	७%	६%
कथा-साहित्य	१५%	१०%	१०%
टेक्नोलौजी	×	×	७%

सवाल भोंड़ा जरूर है, पर है जरा सोचने योग्य ही। पर इसमें जितनी दायित्वहीनता लेखकों और प्रकाशकों की है, उससे ज्यादा शायद सरकार की है, जो हिन्दी को

प्रकाशकों का दायित्व नहीं? और सिर्फ यही क्या इस बात को स्पष्ट नहीं करता कि पटरानी भाषा क्या होती है? इसके बावजूद जो कुछ हिन्दी में हो रहा है, वह

सन्तोष-जनक नहीं है। क्या होता है, इसकी कुछ झलक प्रस्तुत है।

* अनुवाद, खास तौर से कथा-साहित्य के अनुवाद के नाम पर, दो प्रकार के होते हैं। या तो रंगीन कथा-साहित्य, यानी ऐसा साहित्य जिससे लेंडिंग लायब्रेरी चटखारे लेकर किराये पर चढ सके और रायल्टी से युक्त हो सके।

गत वर्ष जिस उपन्यास को नोबेल पुरस्कार मिला उसका लोग नाम भी नहीं जानते, और 'वूमेन आफ रोम' के तीन अनुवाद हो चुके हैं। अगर सरकारी आक्षेप न होता तो शायद चार-पाँच अनुवाद और आ जाते कम-से-कम।

रंगीन साहित्य के बाद दूसरा नम्बर है घटिया अनुवाद का। शरत्, टैगोर और बंकिम रायल्टी-मुक्त होकर हिन्दी में आये तो हर प्रकाशक ने भेड़-चाल के हिसाब से अनुवाद पर ही 'तथा' की जगह 'और' का परिवर्तन करके छुट्टी पायी। और, फिर उन्हें कोक-शास्त्र के साथ सजा दिया।

* टेक्नोलोजिकल साहित्य के नाम पर ऐसे उल्टे-सीधे अनुवाद मिलेंगे कि अगर किसी चलते कारोबार में किताब पहुँच जाये तो कारोबार ही ठप्प हो जाये। दिल्ली के कुछ ऐसे महापुरुषों ने तो, जिनसे इन पंक्तियों के लेखक का परिचय भी है, दो आने प्रति पृष्ठ से आठ आने प्रति पृष्ठ के पारिश्रमिक पर एक साथ हर विषय की अलग-अलग दर्जनों नहीं, सैकड़ों किताबें लिखी हैं। और शिक्षा ? बड़े गर्व से वे शिक्षा के नाम पर फुटपाथ का अनुभव गिनाते हैं और कृषि, रसायन, भौतिकी, इन्जीनियरिंग और 'सब्जी'-नुमा किताबें रच देते हैं। इस तरह जो साहित्य जनसाहित्य के नाम से जनता के सामने आता है उससे हिन्दी हेय ही होती है। कोई भी सरकारी या गैर-सरकारी नियम ऐसा नहीं जो इस अवांछनीय साहित्य पर कोई रोक लगा सके।

* सवा सौ से लेकर दो सौ रुपये की पूँजी लगा कर कोई भी अ-ब-स लेखक, कवि, उपन्यासकार बन सकता है।

है न बड़ी बात !

फिर भी हिन्दी में साहित्य का प्रकाशन होता ही है और उसकी चर्चा होनी आवश्यक भी है। ऐसे साहित्य की चर्चा, जो उपर्युक्त जहर-बंदी से परे है, लगता है कि साहित्य है।

उपन्यासों की चर्चा करने के पूर्व अगर यह कहा जाय कि हिन्दी-उपन्यास भी बँगला-उपन्यास-साहित्य की तरह एक नया मोड़ ले रहा है, तो कतई अत्युक्ति न होगी। और, अब हिन्दी के उपन्यास महज टाइप न होकर कृति बन गये हैं। इस साल की चर्चा में हम जिन उपन्यासों का उल्लेख करेंगे, वे शायद इस बात का प्रतिनिधित्व करेंगे।

हिमांशु श्रीवास्तव का 'नदी फिर बह चली' (हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस) गँवई अंचल की नहीं, गँवई अंचल में पैदा एक ऐसे इन्सान की कहानी प्रस्तुत करता है जो बेटी, बहू और माँ बनी तथा अपनी सीमित जिन्दगी में असीम वेदना, अनुभूति का रसपान करती गई; सीमित दायरे में बँधे जीवन के बावजूद जीवन की असीमता महसूस करती गई।

प्रस्तुत उपन्यास उल्लेख्य इसलिये भी है कि आंचलिकता के नाम पर न तो अजीब-अजीब प्रयोग किये गये हैं और न किसी जमींदार, राजा की कुंठाओं को केन्द्र कर तरह-तरह के चित्र-विचित्र उपाख्यान प्रस्तुत किये हैं। उपन्यास की नायिका का उत्तरांश प्रेमचन्द की 'निर्मला' और शरत् की 'विराज बहू' जैसा उज्ज्वल है और यह इस बात का प्रतीक है कि आंचलिक रंग में रँगी हर कृति कुंठाओं और विकृति का मेल मात्र नहीं होती और न ही भरती के मैटर से भरपूर।

एक सफल प्रयोग 'पतझर' में (राजपाल एण्ड संस, दिल्ली) रांगेय राघव ने किया है। कुल मिलाकर पाँच पात्र —दो भावी पति-पत्नी, दो समधी और एक डाक्टर और घटना-स्थल डाक्टर का। पर, घटना न होते हुए भी घटनायें होती हैं और कथा से ज्यादा सबल हो जाती हैं सामाजिक परिस्थितियों में दाम्पत्य-जीवन की विविधतायें; जो मूल उपन्यास की प्राण हैं। इस छोटे-से उपन्यास में सन्देह और सामाजिक दुर्बलताओं की उस पतझर का उल्लेख है, जिसके लिये शायद हर वर्ग प्रतीक्षा करता है। और, जब हम विदेशी तथा भारतीय भाषाओं के महत्त्वपूर्ण

उपन्यासों की चर्चा करें तो विषय-विविधता के कारण इसका उल्लेख वांछनीय है।

मन्मथनाथ गुप्त स्वाधीनता-संग्राम के संघर्ष को उपन्यास-बद्ध कर रहे हैं। उसकी छोटी कड़ी 'सागर-संगम' १६३६ तक की घटनाओं का उल्लेख करती है। तत्कालीन कांग्रेसी-मंत्रि-मण्डल तथा मंत्री सूर्यकुमार का चित्रण उपन्यास की एक विशेषता है। राजनीति हमेशा ही एक दलदल रही है और उसके मध्यवर्गीय कार्यकर्ता हमेशा ही उस दल-दल में फँस कर स्वाधीनता की मंजिल को पीछे खिसकाते आये हैं, यह निष्कर्ष आसानी से निकाला जा सकता है। बहुत मुमकिन है कि यह उपन्यास-माला तथा प्रस्तुत उपन्यास अपने विषय-बाहुल्य के कारण लैंडिग लायब्रेरी से ज्यादा ख्याति न प्राप्त कर सके, पर स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास-उपन्यास में यह एक महत्त्वपूर्ण योग होगा।

'अतृप्ता' कांता सिन्हा द्वारा लिखित सुनीता की दुखभरी कहानी है जो ड्राइंग रूम, उद्यान, पार्टी, उत्सव, ठाकुर-पूजा तथा संगीत-शिक्षा और वूमेन होस्टल की पृष्ठभूमि को लेकर चलती है तथा बड़े दादा के हंटर, चरित्रहीन चाची की व्यंग्य-मार, प्रेमी के विश्वासघात, पैंतालिस हजार के कैश-सर्टिफिकेट और देवतास्वरूप मेहता के प्रस्ताव पर सुख में बदल जाती है। उच्च मध्यवर्गीय समाज की खोखली मान्यताओं से उपजे दुख की अनुभूति अगर और कसी होती तो शायद यह प्रथम कोटि का उपन्यास होता। तिसपर भी यह उपन्यास वासना और कुंठाओं से भरे ताल में स्नेह-कमल पर स्थिर है। यह निश्चित रूप से बड़ी बात है, जो लेखिका की स्वस्थ रुचि का परिचायक है।

ठीक इसी प्रकार की बात कंचनलता सब्बरवाल के उपन्यास 'स्नेह के दावेदार' (राजपाल एण्ड संस, दिल्ली) के विषय में कही जा सकती है। उपन्यास के दद्दा बरसों पाठकों में अपनी याद बनाये रहेंगे, यह तो तय ही है; पर इसके बावजूद अगर उपन्यास को सहज काल्पनिक सुख-घटनाओं से न भर कर शिक्षा-क्षेत्र में होने वाली धाँधली, परेशानी का उल्लेख ही किया जाता तो उपन्यास निश्चित रूप से स्नेह नहीं, सम्मान का अत्यधिक दावेदार होता।

रामप्रकाश कपूर का 'टूटा हुआ आदमी' सामयिक जन-जीवन की विषमताओं को नाटकीय किन्तु रुचिकर रूप में प्रस्तुत करता है तथा आधुनिक जीवन में फैली नैराश्य भावना का चित्रण भी। 'एक गधे की वापसी' कृष्णचन्द्र का बम्बई जीवन पर काफी तेज व्यंग्य है। व्यंग्य की मात्रा वहाँ ज्यादा निखार पर है जहाँ घटनायें जनजीवन को छूती हैं और जैसे ही गधाराम जनजीवन में प्रवेश करते हैं पाठक के दिमाग में खलबली मचनी प्रारंभ हो जाती है। 'एक गधे की वापसी' 'एक गधे की आत्मकथा' का दूसरा भाग है। बहुत मुमकिन है, कभी इसका तीसरा भाग भी आये, पर सच बात तो यह है कि पहले भाग में जो ताजगी थी वह ठीक उसी तरह लुप्त हो गई है जैसे गंगा-यमुना की धार में रहने वाला व्यक्ति बम्बई जाकर उदास हो जाता है। पर, यह उदासी व्यंग्य उभारती है, घिनौने जीवन के प्रति घृणा पैदा करती है।

'नये पुराने झरोखे' श्री बच्चनजी के समय-समय पर लिखे गये लेखों तथा संस्मरणों का संकलन है। भाषा, छपाई, सफाई की दृष्टि से नहीं, प्रस्तुत पुस्तक अपने विषय की दृष्टि से भी पठनीय-संग्रहणीय है। मधुशाला की तरह ही मधुर संस्मरण लिखने में विशिष्ट बच्चनजी यदि इसी तरह के संस्मरण और लिखें तो कोई अवांछनीय बात न होगी।

ध्रुव प्रदेश, खास तौर से हिम-आच्छादित सुदूर प्रदेशों की जानकारी सचित्र रूप से देने वाली जो तीन रोचक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं उनके नाम हैं; दक्षिण-ध्रुव-विजय, उत्तरी ध्रुव : बरफ की दुनिया तथा अज्ञात महाद्वीप की खोज। तीनों पुस्तकें उक्त विषय पर प्रमाणित जानकारी प्रस्तुत करती हैं। आखिरी पुस्तक 'अज्ञात महाद्वीप की खोज' रोमांचित करने की क्षमता रखती है। तीनों ही पुस्तकें विदेशी से अनुवाद हैं और अगर इन्हें कुछ संक्षिप्त भी किया जा सकता तो ये किशोरों के लिये ग्राह्य हो सकती थीं।

नयी पत्रिकायें

पिछले थोड़े-से समय में ही नई-नई पत्र-पत्रिकायें प्रकाश में आई हैं, जो एक शुभ संकेत है। अधिकतम

पत्रिकायें ही पाठकों की रुचि को सजा-सँवार सकती हैं और प्रकाशन का नया मानदण्ड स्थापित कर सकती हैं। इनमें से कुछ पत्रिकायें इस प्रकार हैं :—

मनोरंजन—मनोरंजन मासिक सुप्रसिद्ध पत्रकार श्री वीरेन्द्र त्रिपाठी के सम्पादन में दिल्ली से निकल रहा है, जिसमें मनोरंजन रखनेवाले सभी स्तंभ सम्मिलत हैं। पर ऐसा लगता है कि छपाई-सफाई में अग्रगण्य होने के बाव-, जूद यह मनोरंजन ही अधिक करे, क्योंकि इसमें प्रकाशित चित्र इसी बात के प्रतीक हैं कि यह फिल्मी नहीं तो अर्द्ध-फिल्मी तो जरूर हो जायेगा।

'सारिका', 'कादम्बिनी' मासिकों के साथ-साथ 'मनोरंजन' अपना कदम मिलायेगा यह आशा जरूर करनी चाहिये।

'नई सदी' 'मनोरंजन' से अपेक्षाकृत पुराना मासिक है, जिसमें कहानी-तत्त्व की प्रधानता है। पर, एकाध को छोड़कर कहानी का स्तर असामान्य नहीं है, यह जरा चिन्ता का विषय है।

नारी-जीवन को सुखी बनाने की पत्रिकाओं में हैदराबाद से 'आरसी' ही नहीं निकल रही है अपितु बम्बई से 'गजरा' और शक्तिनगर दिल्ली से 'शृंगार' भी इस कोटि में आ गये हैं। देखना है कि ये किस तरह का मानदण्ड और स्तर कायम करते हैं!
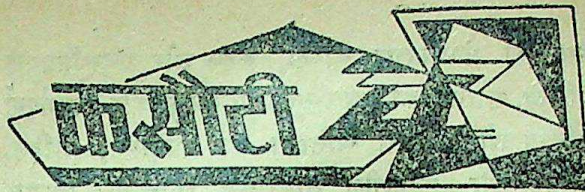
वेश्या (काव्य-उपन्यास)

कवि—श्री विजयचंद

प्रकाशक—प्रगतिशील प्रकाशन, १५१४, कूचा सेठ, दरीबा, दिल्ली ६

मूल्य—२ रुपये ५० न० पैसे

पृष्ठ संख्या—१३०

सर्वश्री कृष्णचंद्र, ख्वाजा अहमद अब्बास, अमृता प्रीतम और इस्मत चुगताई के प्रमाण-पत्रों के अंशों से विभूषित और श्रीमती मुमताज चौधरान, प्रधान, आल इंडिया सिंगिंग एंड डान्सिंग गर्ल्स सोसाइटी के मर्म-वाक्यों से पेष्टित यह पुस्तक, जिसे 'काव्य-उपन्यास' की संज्ञा दी गयी है, प्रकाशकीय वक्तव्य के अनुसार 'देशी-विदेशी अनेक भाषाओं में अनुवादित' श्री विजयचंद की ही दूसरी कृति है।

बड़े ही धैर्य, मनोयोग और ग्रहणशीलता के साथ पढ़ कर भी इस पुस्तक पर 'चेहरे' को पढ़ कर जो धारणा बनी थी या बनती है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, बल्कि धारणा और सुदृढ़ता प्राप्त कर जाती है।

श्री कृष्णचंद्र ने इसे 'आदमी की शाश्वत शर्म और अपमान का दस्तावेज' और इसके लेखक-मस्तिष्क को 'दृढ़-निश्चय विश्लेषणकर्त्ता का शिक्षित मस्तिष्क' कहा है, सो कहीं-कहीं सही है, क्योंकि सम्पूर्ण पुस्तक काव्यगुणों से सर्वथा हीन ठोस दस्तावेज ही है और लेखक-मस्तिष्क तो निश्चयतः 'दृढ़-निश्चय विश्लेषणकर्त्ता का शिक्षित मस्तिष्क' ही मात्र है, कवि-मस्तिष्क तो कतई नहीं है।

सस्ती भावुकता और उसकी उथली अभिव्यक्ति को श्री अब्बास ने 'नुकीली और शक्तिशाली' कहा है, किन्तु इसके प्रमाण में पुस्तक के शब्द-समूह नहीं उपस्थापित हो पाते।

अमृता प्रीतम इस रचना को 'उस पीड़ा से व्याकुल होकर लिखी हुई रचना' कहती हैं, जो दिल की धड़कनों में रच-बस जाती है' और उन्होंने इसके रचनाकार को पीड़ित मानवता के प्रति सहानुभूत कहकर अन्याय नहीं किया है।

इस्मत इसे 'एक जर्जर समाज-व्यवस्था की कहानी' कहती हैं, वह यह है; किन्तु काव्य-उपन्यास नहीं है यह, क्योंकि इसमें न तो कहीं अंशशः काव्य मिलता है और न ही उपन्यास के तत्त्व ढूंढ़े दृष्टिगोचर होते हैं।

श्री विजयचंद ने 'लेखक की ओर से' कहा है कि "मैंने कोशिश की है कि जहाँ मतली आनी चाहिये, वहाँ चटखारा नहीं उभरे और जहाँ होंठ मुड़ जाने और आँखें ठहरनी चाहिये, वहाँ वे राल नहीं टपकाने लगें......"। इस वक्तव्य का समर्थन पुस्तक की पंक्तियाँ यदा-कदा करती हैं, मगर क्या ऐसा कहकर पाठक और भावक की विवेकशीलता पर अशोभन व्यंग्य करना कवि-मर्य्यादा का उल्लंघन नहीं है? लेखक ने 'अपनी एक जोड़ा आँखें फिजूल खराब नहीं कर दीं', क्योंकि यह पुस्तक कम-से-कम 'काव्य-उपन्यास' न होकर 'प्रतिवेदन-पोथा' तो है ही।

इस पुस्तक का समर्पण-वाक्य "अपने मित्र और स्नेही दिलवर हुसैन के नाम ...जो एक तवायफ का बेटा है... मगर जिसकी बेटी कभी तवायफ नहीं बनेगी......" मानव-सभ्यता के प्रति आस्थात्मक दृष्टिकोण उपस्थित करता है और मात्र इस मंगल-वाक्य के लिए ही श्री विजयचंद के प्रति पुस्तक के पाठक-भावक ऋणी रहेंगे।

उर्दू की बेहतरीन रुबाइयाँ और क़तए

सम्पादक—प्रकाश पंडित

प्रकाशक—प्रगतिशील प्रकाशन, १६७६, कटरा खुशालराय, किनारी बाजार, दिल्ली-६

मूल्य—तीन रुपये

पृष्ठ-संख्या—१३६

प्रकाशकीय वक्तव्य के अनुसार, 'मीर' से लेकर 'शाद' तक उर्दू के चौबीस श्रेष्ठतम शायरों की तीन सौ से भी अधिक रुबाइयों और क़तओं का पहला संकलन, शायरों के कलात्मक रेखाचित्रों और ऑटोग्राफों से युक्त! यह आलोच्य पुस्तक ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उर्दू के कुछ श्रेष्ठ और वरीय कवियों की अप्रतिनिधि और प्रायः श्रेष्ठ रुबाइयों-क़तओं का संकलन तो है, मगर सम्पादकीय

स्वीकृति में उल्लिखित कई 'कैदों' के कारण नामानुरूप नहीं बन पड़ी है।

'आदम ने गुनाह करके छोड़ा।'—जोश
उस रोज खुलेगी सब पर यह बात,
'इस बज़्म की रौनक़ थी हमारे दम से।'—मीर

ये पंक्तियाँ संकलन में मुद्रित कवियों की अस्मिता, स्थानवरीयता और विशिष्टता प्रकाशित कर देती हैं और उर्दू शायरी के उस दौर को, जब शराबो-साकी, अमनो-ईमान की बातों से फुरसत न थी, और नये दौर को भी, जब बेअख्तियार इन्सानी सुख-दुख शब्दों में ढलते चले आये हैं, सामने कर देने में अपना मिसाल पेश करती है यह पुस्तक।

हाली, मीर, गालिब, जौक, अदम, फिराक और आजाद, साहिर, फैज, अहमद नदीम कासिमी, मज़ाज़ और शाद को एकमंचीय करने का ऐतिहासिक कार्य इस संकलन से सम्पादित हुआ है और 'बानगी' से ही तृप्ति-लाभ करने वालों के लिए यह रक्षणीय भी है। किन्तु हमें इस पुस्तक में न तो शाद अजीमाबादी मिलते हैं, और न ही शफीक जौनपुरी, न शकीला अख्तर और न ही बिस्मिल अजीमाबादी। अतएव, यह संकलन अपूर्ण है और सम्पादक की शीघ्रता तथा प्रकाशक की वणिकबुद्धि को भी सक्षम करने में पूर्णतया समर्थ सिद्ध हुआ है।

बर्फ के फूल (उपन्यास)

लेखक : कृष्णचन्द्र : *अनुवादक* : विजयचंद
प्रकाशक : प्रगतिशील प्रकाशन, १६७६, कटरा खुशालराय, किनारी बाजार, दिल्ली–६
मूल्य : ३ रुपये
पृ०-सं० : १४८

प्रस्तुत पुस्तक सुप्रसिद्ध उर्दू-उपन्यासकार श्री कृश्नचन्दर के उपन्यास का अनुवाद है जो कश्मीर के खेतिहरों के प्रेम, संघर्ष, द्वंद्व, आशा, निराशा, सामाजिकता, मान्यता, अवधारणा, विश्वास और बलिदान की शोकान्त कहानी है।

खान ज़मान का लौह-प्रकृत कठिन निर्दय व्यक्तित्व, जैनब का प्रेम-मसृण, कोमल, करुण और अनुभूतिप्रवण व्यक्तित्व, साजिद का कृषक-सुलभ परिश्रमी और उत्सर्गपूर्ण व्यक्तित्व और कश्मीरी खेतिहरों का रूढ़िग्रस्त, पीड़ित, दलित और सहनशील सामाजिक व्यक्तित्व—सबकुछ इतना पाटव अपने आपमें समोये हुए है कि सचमुच यह कृति पठनीय बन गयी है। कश्मीर की घाटियों में गूँजते गीतों, फूलों और फलों, झरनों और पहाड़ियों के बीच कही गयी यह कथा वसंत-आगमन से प्रारंभ होकर जैनब और साजिद के बलिदान से समाप्त हुई है। प्रभावोत्पादकता और सजीव चित्रमयता श्री कृश्नचन्दर की अकपट निजी विशेषतायें हैं और उन्हें यह उपन्यास भी उदाहृत करता है।

'नर्मे का फूल' इस उपन्यास का करण, कारण और प्रायः अधिकरण होकर आया है। इसने उपन्यास को करुण बनाने में काव्यमय योग दिया है।

अन्य प्रगतिवादियों की तरह श्री कृश्नचन्दर खड्गहस्त प्रचारवादी कभी नहीं रहे हैं और इन्होंने जिस अंचल को भी कथाक्षेत्र बनाया है, उसकी पूरी Sociology को एक कैमरामैन की आँखों कहने के आदी रहे हैं। यह उपन्यास भी इसके निमित्त प्रमाण बन सकता है।

यद्यपि यह पुस्तक अनुवाद है, मूल नहीं; तथापि अनुवाद में न तो मूल की रोचकता नष्ट हुई है और न ही सहज प्रवाहमयता क्षुण्ण हुई है। और, इसलिए इसे एक सफल अनुवाद बेहिचक कहा जा सकता है।

माही मेरा पूनी-पूनी
मैं ऊदी तकली—
और,
माही मेरा बादल का टोटा
आ तैनू चुन लेवाँ
और फिर,

चन्ना केड़े पिंड जाना?—के बीच उड़ती हुई नर्मे के फूलों के सूत से बनी गीली चादर और बंदूक की धाँय··· ···धाँय एक मर्मस्पर्शी लोक-पाठक को अभिभूत कर देने में सक्षम हैं।

आवरण-पृष्ठ में तृतीय कोटि का विज्ञापीय आकल्प कथानुरूप नहीं है और ऊपर से पुस्तक को अनाकर्षण देता है, मूल्य तो अधिक है ही।

पराई डाल का पंछी (उपन्यास)

लेखक : अमरकान्त
प्रकाशक : प्रगतिशील प्रकाशन, १६७६, कटरा खुशालराय, किनारी बाजार, दिल्ली--६
मूल्य : ३ रुपये ७५ नये पैसे
पृ०-सं० : १८४

श्री अमरकान्त हिन्दी के नये कहानी-लेखकों में उभरते हस्ताक्षर के रूप में जाने गये हैं और अपनी स्वस्थ जीवन-दृष्टि, रचना-विन्यास और यथार्थ-मुखरता के लिए उँगलियों पर गिने भी जाते हैं।

आलोच्य पुस्तक में एक मध्यमवर्गीय काम-अतृप्त युवक दीपक के जीवन के एक एकान्त पक्ष की कथा वर्णित है। भारतीय ग्राम्यबाला पत्नी की ओर से विमुखता, नगर के कालेजों की चंचला लड़कियों की ओर आकर्षण, साहचर्य की आकांक्षा, अंततः उनमें से एक की प्राप्ति, तदनन्तर, समाज-भय, वियोग और महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्त्ति के लिए प्रतिज्ञा—इन्हीं परस्पर-अनुस्यूत कथाबिन्दुओं में उपन्यास पूर्ण हुआ है।

अहल्या के निश्छल समर्पण और भक्तिपूर्ण निर्भरता के प्रति दीपक का निर्मम कपट, छल और शृगाल-रोदन; रेखा की अटूट निष्ठा के प्रति पुनः दीपक का विश्वासघात और शंकाएँ, टंडन और निर्मला का स्वस्थ, संतुलित गृहस्थ-जीवन; पड़ोसियों का सौहार्द्र, वैर, वैमनस्य, क्षुद्र स्वार्थों की पूर्त्ति-अपूर्त्ति पर प्रेम-विद्वेष आदि मध्यमवर्गीय जीवन के सहज व्यापारों, आचारों और धारणाओं का यथार्थ चित्रण अमरकान्त की सूक्ष्मानुशीलनी दृष्टि को उदाहृत करता है।

दुखी, असंतुलित, अतृप्त दाम्पत्य जीवन की समस्या जहाँ दीपक, अहल्या और रेखा का त्रिकोण उपस्थित करती है, वहीं टंडन और निर्मला का सुखी, संतुलित, तृप्त दाम्पत्य जीवन समाधान भी प्रस्तुत कर देता है। अतएव, यह उपन्यास समस्यामूलक है और लेखक की जीवन-दृष्टि की निर्मलता को प्रकट करता है।

दीपक, अहल्या, रेखा, निर्मला तथा अन्य पड़ोसियों के मनोभावों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण लेखक ने दक्षतापूर्वक करके यह सिद्ध कर दिया है कि उसमें गौरवास्पद संभावनाओं के बीज हैं जो निरंतर चिन्तन से अंकुरित होकर एक परिगण्य उपन्यासकार को जन्म देंगे।

इस उपन्यास की भाषा सहज, प्रवाहमयी शैली में सुबोध है जो इसे लोकप्रियता प्रदान करेगी। पुस्तक का प्रकाशन और उपस्थापन साधारण है और मूल्य अधिक।

प्रसिद्ध व्यक्तियों के प्रेम-पत्र

सम्पादक—विजयचन्द
संकलक—वीरेन्द्र गुप्त
प्रकाशक—प्रगतिशील प्रकाशन, १६७६, कटरा खुशालराय, किनारी बाजार, दिल्ली-६
मूल्य—१० रुपये
पृष्ठ-संख्या—३६८

अन्ताराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त कवियों, लेखकों, उपन्यासकारों, राजनीतिज्ञों, राजनीतिक नेताओं, वैज्ञानिकों,

सेनाध्यक्षों, पर्यटकों, संतों, क्रान्तिकारियों, महाराजाओं, महारानियों, उद्योगपतियों, विचारकों, मनोवैज्ञानिकों, इतिहासज्ञों, नवाबों, तानाशाहों, संगीतज्ञों, अभिनेताओं और कवियों द्वारा लिखे गये प्रेमपत्रों का यह संकलन कई दृष्टियों से संग्रहणीय, पठनीय अथच मननीय है।

यह संकलन कतिपय विस्तृत खंडों में विभक्त है:-- 'विवाह से पूर्व लिखे गये प्रेम-पत्र', 'विवाह के पश्चात् लिखे गये प्रेम-पत्र', 'युद्ध के समय लिखे गये प्रेम-पत्र', 'मृत्यु से पूर्व लिखे गये प्रेम-पत्र' और 'जीवित व्यक्तियों के प्रेम-पत्र।' फिर इन खंडों को भी कई उपखंडों में बाँटा गया है। इन भिन्न खंडों-उपखंडों में अब्राहम लिंकन, टाल्सटाय, सर वाल्टर स्काट, रानी विक्टोरिया, ब्राउनिंग, कार्लाइल, फ्रायड, लुई पेस्चर, हेनरी फोर्ड, फैरेडे, फिजगेराल्ड, वर्डस्वर्थ, हेनरी अष्टम, पियरे क्युरी, टेनीसन, गेटे, बेनजेमिन फ्रेंकलिन, चेखव, कीट्स, रूसो, काफ्का फ्रान्ज, मैजिनी, जौनेथन स्विफ्ट, अलेक्जैंडर ड्यूमा, नेपोलियन, डारविन, वायरन, दास्तावस्की, विस्मार्क, कॉलरिज, चार्ल्स डिकेन्स, रिल्के, रूजवेल्ट, बैरट, संत अरविन्द, हम्फरी डेवी, प्रेमचंद, रानी मेरी, वाजिद अली शाह, मेरी क्यूरी, चार्ल्स प्रथम, नजरुल इसलाम, स्वामी रामतीर्थ, के० एम० मुंशी, मोजार्ट, जार्ज वाशिंगटन, शेली, फ्लावेयर, पोप, बर्नार्ड शॉ, विक्टर ह्यूगो, इक़बाल, कैम्पवेल, दाग, जूली रोजनवर्ग, ऐनी बोलेन, ईथल रोजनवर्ग, लुमुम्बा, महात्मा गाँधी, नाजिम हिकमत, लेनिन, वर्जीनिया वुल्फ, मावलंकर, अमृता प्रीतम, सज्जाद जहीर आदि के अतिरिक्त अन्य कई व्यक्तियों की भावनाओं, मसृणतम अनुभूतियों के क्षणों, जीवन के गोपनतम व्यापारों की आत्मीय घड़ियों और भिन्न-भिन्न मनोलोकों को प्रकाशित करनेवाले इन पत्रों की भाषा, शैली, वाक्य-विन्यास सहज संवेदनाओं, कर्त्तव्य-संबोधों और समर्पण-चेष्टाओं को भी समक्ष रखते हैं। इन पत्रों में प्रेरणा के क्षण भी हैं, निराशा के थपेड़े भी। महानों का यह आदिम स्वभाव सहज विश्वसनीय नहीं होता कि क्या वे साधारण जनों की तरह प्रेम भी करते होंगे और उसकी प्राप्ति--साहचर्य-सुख--पर सहज उल्लसित और अप्राप्ति पर रोते-कलपते होंगे? इन प्रश्नों के उत्तर इन पत्रों में बिखरे पड़े हैं।

पत्रों के अनुवाद भी बड़े ही सफल हुए हैं और पूरी पुस्तक की रोचकता निस्संदिग्ध प्रतीत होती है।

इन पत्रों की प्रामाणिकता प्रकाशकों द्वारा उद्घोषित है और तब यह कितना कठिन कर्म मुद्रित होकर सामने आया है, यह सहज ही जाना जा सकता है। दास्तावस्की कहते हैं:--"अगर कोई हमारे पत्र पढ़े तो क्या हो······?" उनका कहना सही है और इस वाक्य के मर्मार्थ मानव की जिस प्रकृत जिज्ञासावृत्ति में सन्निहित हैं, उसकी परितुष्टि करने का यह सर्वांग सफल प्रयत्न तथा महानों के निगूढ़तम व्यापारों का सार्वजनिक उद्घाटन निश्चयतः मुक्तकंठ अभिशंसनीय है।

हिन्दी में ऐसी पुस्तकों की नितान्त कमी है और सम्पादकों, प्रकाशकों ने सचमुच जो बेदाग हीरे हिन्दी को समर्पित किये उसके लिए वे सदा श्रद्धास्पद माने जायेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। पुस्तक का प्रकाशन, उपस्थापन सुरुचिपूर्ण है।

स्वतंत्रता के बाद की सर्वश्रेष्ठ उर्दू-शायरी

सम्पादक—**फैज़ अहमद फैज़ और मख़मूर जालंधरी**

प्रकाशक - **प्रगतिशील प्रकाशन, १९७६, कटरा खुशालराय, किनारी बाजार, दिल्ली-६**

मूल्य—**४ रुपये**

पृष्ठ-संख्या--**१९२**

आलोच्य पुस्तक भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद लिखी गयी पचहत्तर उर्दू शायरों की सौ नज़्मों और गज़लों का संकलन है। अख्तर-उल-ईमान से लेकर हिमायत अली शायर तक की रचना-यात्रा से मंडित यह संकलन प्रायः अधिकांश शायरों के रेखाचित्रों और हस्ताक्षरों से भी युक्त होने के कारण अपनी संग्रहणीयता को अनिवार्यता से जोड़ता हुआ है।

संकलन की भूमिका में उर्दू-शायरी के इतिहास की एक संक्षिप्त परन्तु सुज्ञापक रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है।

यद्यपि उर्दू में कवितायें लिखने का नया दौर डॉ० इकबाल से ही प्रारंभ होता है, परन्तु दृश्य-चित्रण, नैतिक प्रचार, प्रशंसात्मक काव्य की सीमाओं से स्वतंत्र होकर

उर्दू-कविता जहाँ से आजाद-नज़्म बन पाती है और उसमें जीवन की गहरी ठोस वास्तविकता और मानव-हृदय की प्राकृतिक भावनाओं को अभिव्यक्ति मिलती है, वहाँ हमें कई नये हस्ताक्षर उभरे और उभरते मिलते हैं। यह संकलन इस ऐतिहासिक तथ्य को परिपुष्ट करता है।

'गुलाम रूहों के कारवाँ में जरस की आवाज भी नहीं है' से प्रारंभ होनेवाला यह संकलन 'सूरज अपनी कामरानी पर बहुत मगरूर है, सोचता हूँ इस सहर से शाम कितनी दूर है' से अंत होता है और मैं समझता हूँ उर्दू-कविता की आधुनिक प्रयोगशीलता और प्रारंभिक अभिव्यक्तिशीलता दोनों ही इन पंक्तियों से उदाहृत होती हैं और ये पंक्तियाँ सुदृढ़ तट-बंध का काम करती हैं, जिनके बीच असंख्य सुन्दर कविता-झीलें हैं :—

मेरी मासूम बेटी का उजला तबस्सुम,
जैसे शबनम के कतरे में खुर्शीद का अव्वलीं-लम्स घुल जाए
मेरी बहनों की आँखों में पाकीजगी की चमक,
जैसे बर्फानी कुहसार के आइने में सितारे उतर आएँ।
मेरी बीबी के चेहरे पे तख्लीक के बलबले, परवरिश के अज़ायम,
जैसे धरती के शादाब सीने में गंदुम के अँखुवे।
मेरे भाई के हाथों की मानूस गर्मी,
जैसे सर्मा की भीगी हुई सुबह में धूप मिल जाए।
मेरी माँ का बुढ़ापा, खुलूस और मुहब्बत का बारे-अमानत उठाए,
डूबते चाँद की चाँदनी, सूखते गुलशनों का तअत्तुर,
मेरे अब्बा की तुरबत पतावर में डूबी हुई,
जैसे उमड़े हुए बादलों में निहाँ महरे-ताबाँ,

(अहमद नदीम कासिमी)

बहुत पानी है लेकिन जाने क्यों है साकितो-बेजाँ,
न जाने रूह पर किसने जमा दी तह-ब-तह काई।

(अमीक हनफी)

दूर से मुझको सदाएँ आईं,
साँप बल खाने लगे,
अजनबी साए मेरी आँखों में लहराने लगे।

(कृष्णमोहन)

वह नया चाँद उड़ा,
आतिशीं दायरे बुनता हुआ आफाक में चकराता है,
आज अफ्कारे बशर रिफअते-मीनारे-फलक तक पहुँचे।

(जहीर कश्मीरी)

यह मौजे नूर, यह खामोश और खुली हुई रात,
कि जैसे खिलता चला जाए इक सफेद कँवल।

(फ़िराक गोरखपुरी)

इस संग्रह की सर्वश्री सैयद फ़ैज़ी, साहिर लुधियानवी, सरदार जाफ़री, वेदप्रकाश, यूसुफ़ ज़फ़र, मुनीर नियाजी, मुस्तफ़ा ज़ैदी, मीराजी, मजीद अमजद, मख़मूर जालंधरी, बलराज कोमल, फ़िक्र तौंसवी, नियाज हैदर, क़यूम नज़र, कृष्ण अदीब, कतील शिफ़ाई आदि की कवितायें यह प्रमाणित करती हैं कि उर्दू-कविता शराब, साकी, चिलमन, नारेबाजी, इश्क-जिस्मी और इश्क-हकीकी को छोड़कर, नूतन एवं आधुनिक काव्य-प्रचेतना से संस्फूतित है और नयी जमीन पर कदम रख रही है। चित्रात्मकता, बिम्ब, प्रतीक, कथ्य, काव्य-रूपता सबों के लिए उर्दू-कवियों ने

नये उदाहरण विगत १५ वर्षों में प्रेषित किए हैं और नूतन भारतीय काव्यधारा में अपना सक्षम योगदान दे रहे हैं। यह इस संकलन से प्रमाणित है।

यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि यह संकलन अपने आपमें एक प्रतिनिधि है और संग्रहणीय है, किन्तु क्या स्वतंत्रता के बाद उर्दू में कवयित्रियों ने कुछ नहीं लिखा और लिखा, जोकि सही है, तो उनके लिए सम्पादक-द्वय इतने कृपण क्यों हुए? बात समझ में नहीं आती। फिर फैज, अदम, मज़ाज़ आदि शायरों की अन्य कविताएँ अधिक अच्छी और लोकप्रिय हैं जो इस संग्रह में नहीं आ पायीं। क्यों? फिर, स्वतंत्रता के बाद बिहार के नौजवान और कई बुज़ुर्ग शायरों ने जो अनमोल मोती उर्दू-साहित्य के दामन में भरे, उनका क्या हश्र हुआ? क्या वे सम्पादक-द्वय की तंग-नजरी के शिकार बन गये? यहाँ आकर पुस्तक के नाम में जो 'सर्वश्रेष्ठ' लगा है वह प्रश्न-चिह्नित होता है और सम्पादक अपराधी ठहरते हैं।

इस संकलन के लिए सम्पादक-प्रकाशक दोनों ही बधाई के पात्र हैं और पाठकों पर इनका ऋण सदा है। 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' को दृष्टि में रख कर यह संकलन परीक्षित हो तो अपनी श्रेष्ठता तो प्रमाणित करता ही है।

रामधारी सिंह दिनकर (कविता-संकलन)

लेखक—मन्मथनाथ गुप्त
प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली–६
मूल्य—दो रुपये
पृष्ठ-संख्या—१४४

'आज के लोकप्रिय कवि' पुस्तकमाला की सातवीं पुस्तक रामधारी सिंह दिनकर से संबंध रखती है। इसके प्रथम खंड में श्री दिनकर की जीवनी और द्वितीय खंड में उनकी ३२ अत्यधिक लोकप्रिय (श्री गुप्त की दृष्टि में) कवितायें संग्रहीत हैं। आलोच्य पुस्तक के अंत में दो परिशिष्ट जुड़े हैं, जिनमें से एक में कवि के जीवन की कुछ प्रमुख घटनाएँ और द्वितीय में दिनकर-साहित्य की सूची, दिनकर-साहित्य पर विरचित स्वतंत्र ग्रन्थों की सूची और दिनकरजी पर निबंध-संबंधी ज्ञापक लगे हैं।

आलोच्य पुस्तक का जीवनी-खंड श्री दिनकर की सामान्य परिचिति, स्वभाव-विश्लेषण, मान्यताओं का अध्ययन, काव्य-साधना की व्याख्या और अंततः एक सांगोपांग अभिचिति प्रस्तुत कर देता है जो सामान्य और विशिष्ट दिनकर-पाठकों के लिए समानरूप से उपयोगी है। पुस्तक की उपयोगिता परिशिष्टों ने सुगुणित कर दी है।

पुस्तक के काव्य-संकलन-खंड में दिनकरजी की सुप्रसिद्ध 'बागी', 'हिमालय', 'तांडव', 'परदेशी', 'दिल्ली', 'अनलकिरीट', 'हाहाकार', 'दिगम्बरी', 'विपथगा', 'आलोकधन्वा', 'आग की भीख', 'कवि की मृत्यु' आदि कवितायें संग्रहीत तो की गयी हैं, परन्तु दिनकर की काव्य-चेतना जहाँ से कथित 'राष्ट्रीय चेतना' की परिधि से बाहर होकर उर्ध्वग होती हुई अन्य अनति-सामान्य चेतनालोक को छूती है, वहाँ से कोई भी कविता संकलित नहीं की गयी है और यह श्री गुप्त ने दिनकर के साथ न्याय नहीं किया है।

"मत छुओ इस झील को।
कंकड़ी मारो नहीं,
पत्तियाँ डारो नहीं,
फूल मत बोरो
और कागज की तरी इसमें नहीं छोड़ो।
खेल में तुमको पुलक-उन्मेष होता है,
लहर बनने में सलिल को क्लेश होता है।"—की

अनुभूति-प्रवणता; "कवि तो आप अपना भी नहीं है" की कवि-विवशता, जहाँ पाठक, भावक को रसमग्न कर देती है, वहीं 'दिनकर' जी की 'पाप' शीर्षक कविता के उपदेश-वाक्य, 'तूफान' की नाटकीयता और 'एक बार फिर स्वर दो' की प्रार्थना-कातरता दिनकर के विद्रोही व्यक्तित्व को किंचित् वियोग-चिह्नों से संयुक्त कर देती है। इन कविताओं के बदले दिनकरजी की अन्य कविताएँ संग्रहीत की जातीं, जैसी कि 'चक्रवाल' में संग्रहीत हैं तो श्री दिनकर के कवि का सर्वायामिक परिचय सुस्पष्ट हो उठता।

चेहरे (कविता-संकलन)

कवि—श्री विजयचन्द
प्रकाशक—प्रगतिशील प्रकाशन, १६७६, कटरा खुशालराय, किनारीबाजार, दिल्ली–६
मूल्य—४ रुपये ५० न० पै०
पृष्ठ-संख्या—११६

बंगला के सुप्रसिद्ध कवि श्री सुकान्त भट्टाचार्य को 'अख्यात जनेर कवि' कहकर सम्मानित किया गया है। प्रायः उसी भूमि को काव्य-क्षेत्र बनाने के लिए श्री विजयचन्द को 'कुख्यात जनेर कवि' कहा जा सकता है, ऐसा समझने के लिए आलोच्य पुस्तक की कथित कविताएँ बाध्य करती हैं।

'टेलीफोन आपरेटर', 'एक्स्ट्रा', 'विज्ञापन', 'नपुंसक', 'जारज', 'बारूद', 'दत्तक', 'शाहजी', 'चाणक्य', 'नफ़ीरी वाला', 'देशभक्त', 'कुरूप' और 'वेश्या' शीर्षक से अभिहित इस संग्रह की कविताओं के स्वर तथाकथित प्रगतिशीलता के आरोप में मुखर हुए हैं जो कवि की ओर से रेखा-चित्रों के अंगोपांग हैं।

'चेहरे' समर्पित है—इसके उन तमाम पाठकों को, जो अर्थरहित गीतों और प्रयोगवादी पहेलियों से ऊबकर, किसी भी प्रकार की, कैसी भी कविता न पढ़ने का गलत फैसला कर बैठे थे......। और, यहीं से एक विवाद उद्भूत होता है—कि हिन्दी में क्या अर्थरहित गीत और प्रयोगवादी काव्य के नाम पहेलियाँ रचित हुई हैं और उनसे पाठक ऊबकर विषण्ण हैं? और, ऐसे पाठकों का चित्तरंजन या काव्यविलासेच्छा की पूर्त्ति श्री विजयचंद की ये तथाकथित कविताएँ कर सकती हैं?

प्रतीत होता है कि श्री विजयचंदजी हिन्दी की सशक्त और प्राणवंत सतत विकसनशील काव्य-विकास-प्रक्रिया से अनवगत हैं और उनके अज्ञान ने ही उन्हें इतना उद्दंड बनाकर ऐसा समर्पण लिखने के लिए प्रेरणा दी है।

बात उठती है कि कविता की परिभाषा क्या है? 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' को भी मान्यता देकर यदि 'चेहरे' की कविताएँ पढ़ी जाएँ तो वे प्रायः कविता नहीं ठहरेंगी और रेलगाड़ियों में चनाचूर बेचने वालों के लटकों के समकक्ष हो रहेंगी। कवि की गर्वोक्ति उनकी रचना से समर्थित नहीं होती है। इसके प्रमाण में 'चेहरे' की फूहड़, भोंड़ी, रसहीन, अशुद्ध और ऊबड़खाबड़ कविताएँ उपस्थापित की जा सकती हैं।

सहानुभूत-साहित्य श्रेष्ठता का प्रमाण-पत्र नहीं पा सकता और केवल 'कुख्यातों' को काव्य-वस्तु बनाकर इतना बड़ा दावा कर देना रचनाकार की स्थानभ्रष्टता ही प्रमाणित करता है।

'मसृण' के बदले 'मृसण', 'नुकीली' की जगह 'नौकीली', 'पत्नी' के स्थान पर 'पत्नि' और इसी प्रकार के अनेकानेक अज्ञान-प्रमाणों से अलंकृत यह पुस्तक प्रकाशन-व्यय के आधिक्य का भार वहन करती हुई कवि की अक्षमता का सुपुष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है।

'एक्ट्रा' को 'उमर खैय्याम की मधुसिंचित पहली रुबाई लिखी गई थी जिस कागज पर, उसका कोरा बिना लिखा हाशिया सरीखी!' कहना श्री विजयचन्दजी की उक्तिवैचित्र्यशीलता का प्रमाण अवश्यमेव है और यदि उन्होंने यह ध्यान रखा कि काव्य का एक अनुशासन होता है, काव्य का एक आचार होता है, भाषा और लिपि की अपनी एक शब्दवत्ता और स्वरूपसंयुक्तता होती है, रचना-प्रकृति होती है तो वे अपनी काव्य-साधना में बल पा सकेंगे और चूँकि उनके पास दृष्टि है, बिम्ब-भांडार और संगति-सुरुचि की संभावना है, इसलिए यशस्वी भी हो सकेंगे।

श्री विजयचन्द ने अपनी ओर से यह भी कहा है कि—

"ये बारह रेखाचित्र
—अगर समझ में आएँ;
—रस प्रदान करें;

और—

मरते हुए मानव-जीवन को नहीं,—बल्कि उभरते (?) हुई इन्सानी जिन्दगी को प्रस्तुत करते हों—तो समझियेगा आपका समय, और मेरा परिश्रम सार्थक हुआ, अन्यथा..."

और,

इस पुस्तक के पठन के बाद मैं इस 'अन्यथा' को ही समर्थित करता हूँ और सृजन-स्खलन और काव्य-लेखन के नाम पर व्यभिचार के लिए श्री विजयचन्द को साहित्य-अपराधी ही मानता हूँ।

—रामनरेश पाठक

किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई

लेखक—श्री शैलेश मटियानी

प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

मूल्य—२ रु० पचास न० पै०

कथा-शिल्प में प्रशंस्य और लोक-संस्कृति एवं जीवन को औपन्यासिक तत्त्व प्रदान करनेवाले शैलेश मटियानी का यह पाँचवाँ उपन्यास है। मैं ऐसा मानता हूँ कि मटियानी का हिन्दी उपन्यास-साहित्य में अपना एक स्थान हो गया है। वह स्थान एक विशेष अंचल, उसकी संस्कृति और तत्त्व से निजी लगाव के चलते भी है।

शैलेश ने इस उपन्यास के साथ अद्भुत टेकनीक अपनायी है। शैली लोक-कथात्मक है और कथानक पूँजीवादी व्यवस्था के परिणामस्वरूप उत्पन्न अनैतिकता और अमेरिकन 'सेक्स'-सदृश गदला सामाजिक चरित्र। दो कथाएँ समानान्तर चलकर अपने कथ्य के लिए ही जीती हैं। कमलेश्वर की कहानी 'राजा निरबंसिया' के Farm का प्रयोग यहाँ भी है।

उपन्यास का कथानक बहुत छोटा है और केवल तीन ही चरित्र हैं; जैसे सेठानी नर्मदाबेन, राधाकिसन उर्फ कवि कृष्णजी, उर्फ करसनजी उर्फ गोविन्दा तथा गंगूबाई। बाकी दो-एक गौण हैं; किन्तु कथ्य बड़ा ही व्यापक है और वर्तमान व्यवस्था के Pathos के पीछे छिपे हाहाकार को वाणी देने की चेष्टा की गई है। उपन्यासकार अपने इस कथन में सबकुछ कह देता है, जिसे नर्मदाबेन के मुँह से कहलवाया गया है—"हम सेठानियाँ कहलानेवाली औरतें, निठल्ली बैठी रहती हैं। काम के नाम पर, आराम करने के सिवा कुछ नहीं होता और भोजन-वस्त्र विलासपूर्ण होते हैं।...ऐसी स्थिति में, 'सेक्स' की वृद्धि होती है। नारी में कुछ-न-कुछ करते रहने की प्रवृत्ति प्रबल होती है। गरीब और मध्यम-वर्ग की गृहिणी को कभी देखना, कैसी कर्मठ होती हैं?...पर सेठानियाँ क्या करें?...और उनमें वो, जिनके न सन्तान हो, न समर्थ और प्रेमल पति हों।...सेठों के पास इतना धन होता है फालतू कि उससे वो अपनी तुष्टि और ऐय्याशी के लिए औरतें, और घर की ... जाय...इसलिए अपनी औरत के लिए भाड़े के मर्द... ...पैसा कितना कमीना बना देता है इंसान को?... करसन...कितना गिरा देता है?...गरीब क्या जानें कि दौलत के स्वामी जीवन में कैसी जघन्यताओं और कुत्साओं से घिरे रहते हैं?...ये जघन्यताएँ और कुत्साएँ उनकी आत्मा को कचोटती हैं, तब भी वो अपनी दौलत का ही सहारा लेते हैं।...यों अनाथाश्रमों, धर्मशालाओं और मन्दिरों की नींव पड़ती है।...यों पाप की बीभत्सता से पुण्य का उदय होता है, करसन...!"

मटियानी की व्यंग्यात्मक उक्तियाँ पहली बार 'किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई' में प्रखर और तीक्ष्ण व्यक्त हुई हैं। नर्मदाबेन सेठानी और गंगूबाई नौकरानी—नारी के ये दो रूपात्मक और गुणात्मक चरित्र हैं, जिनके नारीत्व के बीच अलग-अलग वातावरण के कारण अलग-अलग और आश्चर्यजनक ढंग से गुणात्मक बीज उगे हैं और इन दो रूपों में अन्तर का कारण है यह वर्तमान सामाजिक व्यवस्था।

उपन्यास केरल के पाक्षिक 'युगप्रभात' में धारावाही रूप से भी आया था, तभी इसे लोकप्रियता मिल गई थी। पुस्तक के अनुरूप ही इसकी छपाई-सफाई भी है। मटियानी को इतने अच्छे उपन्यास के लिए बधाई।

कवियों में सौम्य संत

लेखक—डॉ० हरिवंशराय 'बच्चन'

प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली

मूल्य—पाँच रुपये

'कवियों में सौम्य संत' कविवर सुमित्रानन्दन पन्त पर कुछ निबन्धों और उनके पत्रों का संकलन है। वस्तुतः निजता और अपनापा के चलते जो किसी के व्यक्तित्व और उच्चता से सम्बन्धित बातें खुलती हैं, उनका जन-जीवन की दृष्टि से काफी महत्त्व होता है, जैसा कि लेखक ने भी लिखा है कि "किसी के पत्रों से उसके व्यक्तित्व का जितना रहस्य खुलता है उतना किसी और प्रकार के लेख से नहीं, यह मानी हुई बात है।"

अपनी समस्त अनुभूतियों की निजता के क्षण में ये ... गये हैं, यह कवि-व्यक्तित्व की दृष्टि से

काफी मौलिक एप्रोच है और यही इस पुस्तक की खास विशेषता भी है। कहना चाहिये कि अपनी सम्पूर्ण आस्था के मूल से ही श्रद्धा के पुष्प विकसे हैं, जैसा कि भूमिका से भी स्पष्ट हो जाता है।

निबन्धों में 'एक दृष्टिकोण,' 'श्री सुमित्रानन्दन पंत,' 'सुमित्रानन्दन पंत : व्यक्तित्व और कवित्व' तथा 'उत्तर पंत' डॉ० बच्चन की विभिन्न मुद्राओं, स्थितियों और समयों के हैं, इसलिये लेखक ने अपने काव्यमय व्यक्तित्व को पंतजी के साथ ही अनायास जुड़ा पाकर काफी सच्चाई का निर्वाह किया है। 'प्रतीक' में छपा 'श्री सुमित्रानन्दन पंत' मन को काफी छूता है, क्योंकि लेखक का मूलतः कविरूप अपने सहचर की निजता का आत्मिक सुख पाने से चूकता नहीं दिखता। जैसे, मामी ने धीमे से कानों में कहा, "यही सुमित्रानन्दन हैं, कवि हैं, पड़ोस की पहाड़िन बहन ने बताया था कि उनके भाई लगते हैं, पैदा होते ही मा मर गई थी, बहुत सुकुमार हैं, पढ़ने को प्रयाग आये हैं।"

फिर भी, अन्य निबन्धों से भी यही ध्वनि आती है कि लेखक ने प्रशंसात्मक पहलू से ही पंतजी को यहाँ देखा है। 'पंतजी का साहित्यिक संघर्ष' का संकेत यह है कि पंतजी की प्रतिभा काफी संघर्षों से गुजरती हुई भी विकासोन्मुख रही है। बाधायें और रुकावटें उनके जीवन में आईं, आलोचकों ने पैर पकड़ कर खींचे, किन्तु 'सौम्य संत पंत' के आत्मबल बड़े मजबूत हैं, बढ़ते गये। पंतजी की पुस्तक 'उच्छ्वास' बारह आने की प्रति थी, जिसे आज लेखक बारह सौ में भी देने के लिए तैयार नहीं है। लेखक की पंतजी की प्रथम पुस्तक से ही यह श्रद्धा ! हमारे लिए यह बात आकाशी लग सकती है, पर हम तो ऐसा ही कहेंगे कि लेखक ने या तो श्रद्धा से अविभूत ऐसा कहा या एक कवि-हृदय के नाते। एक बात और, शायद बच्चनजी ही यह जानते थे (किन्तु ईश्वर जाने कि तथ्य क्या है!) कि निरालाजी को पंतजी ने अपनी पुस्तक नहीं भेजी, इसलिये वे रुष्ट हो गये और उन्होंने 'पल्लव' की कटु आलोचना की। लेखक ने लिखा है "पंतजी ने उन आक्षेपों का कोई उत्तर नहीं दिया। शत-प्रतिशत मौलिकता का दावा केवल सिड़ी कर सकता है।" किन्तु असीम श्रद्धा और मैत्रीवश पंतजी को प्रतिष्ठित करने के लिये लेखक का दावा संदिग्ध है। महाप्राण निराला आज नहीं रहे, निराला-साहित्य में हर क्षण झाँकता उनका व्यक्तित्व इस बात को अभी भी स्पष्ट कर देता है कि निरालाजी 'आपसी तनातनी' और द्वेष के उस रूप में कभी नहीं जिये! अस्तु, लेखक का इस संकलन के साथ तात्पर्य यह है कि कविवर पंत की महानता काव्य की दृष्टि से ही नहीं, व्यक्तित्व की दृष्टि से भी है।

पत्रों में प्रायः सभी निजी पत्र हैं, जो प्राइवेट जीवन और पारिवारिक स्तर पर लिखे और पूछे गये हैं। केवल १० मार्च ६० को इलाहाबाद से पंतजी द्वारा लिखा गया लेखक के नाम पत्र काफी पठनीय है और सार्वजनिक महत्ता रखता है। इसी तरह ११ मार्च ६०, १४ मार्च ६०, फिर १४ मार्च ६०, २१ मार्च ६०, २६ मार्च ६०, ४ अप्रैल के पत्र भी मननीय हैं, जो पंतजी की साहित्य-दर्शन-सम्बन्धी अनेक बातों का लाक्षणिक संकेत देते हैं। उन्हें पढ़कर पाठकों की शंकाओं के लिये समाधान और प्रश्न मिलते हैं।

लेखक और पंतजी के अपनेपन को इसी से जाना जा सकता है कि पंतजी ने इन्हें एक-एक सप्ताह में पाँच-पाँच पत्र लिखे हैं और एक दिन में दो-दो बार।

अन्त में, संकलन अच्छा ही है। राजपाल एण्ड सन्ज के लेबुल में जैसी पुस्तकें आमतौर पर छपी हैं, 'कवियों में सौम्य संत' भी छपाई-सफाई की दृष्टि से अपनी परम्परा में ही है।

तमिल-साहित्य और संस्कृति

लेखक—श्री अवधनंदन

प्रकाशक—सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली

मूल्य—तीन रुपये मात्र

तमिल और हिन्दी के जाने-माने लेखक श्री अवधनंदन ने दक्षिण भारतीय संस्कृति और साहित्य, ललित एवं स्थापत्य कलाओं की ऐतिहासिक उपलब्धियों एवं उसके क्रमिक विकास को सामने रखने के ध्येय से ही इस पुस्तक की रचना की है। वस्तुतः "दक्षिण की घटनाओं को भारत के इतिहास में उचित स्थान न मिलने से निस्संदेह भारत का इतिहास अधूरा और अपूर्ण रह गया है।" इस पुस्तक को पढ़ने के बाद कुछेक मतवादियों की यह धारणा निर्मूल

प्रमाणित हो जाती है कि "आर्यों के दक्षिण में आने से तमिल भाषा, साहित्य, सभ्यता तथा संस्कृति को बहुत नुकसान पहुँचा और उनकी मौलिकता नष्ट हो गई।"

तमिलनाद की भौगोलिक और ऐतिहासिक स्थितियों के अतिरिक्त विद्वान लेखक ने तमिल लिपि एवं भाषा का बड़ा ही गम्भीर एवं वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। ऐतिहासिक तथ्यों के माध्यम से लेखक ने यह प्रमाणित कर दिया है कि रामायण-महाभारत-काल की तमिल-संस्कृति की मौलिकताएँ आज भी किसी-न-किसी रंग और रूप में दक्षिण भारत की राष्ट्रीय सम्पत्ति और साहित्य-सृजन की दृष्टि से प्रेरणावर्द्धिनी शक्तियाँ बनी हुई हैं।

पुस्तक से भी यही पता चलता है कि दक्षिण भारत ने ही मूलतः समस्त भारत को संत-कवियों की एक परम्परा दी थी। तमिल-साहित्य और संस्कृति के गौरव-वर्द्धन में इन संत-कवियों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। तिरुमूलर, तायुमानवर, रामलिंगस्वामी आदि संत-कवियों के सम्बन्ध में लेखक ने एक परिचयात्मक संकेत भी दिया है। इसके अतिरिक्त, प्राचीन तमिल के व्यापार, स्थापत्य-कला तथा मन्दिरों का भी अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

कुल मिलाकर लेखक का उद्देश्य पूरा हो जाता है कि इस पुस्तक के माध्यम से अन्य क्षेत्रों में तमिल-संस्कृति और साहित्य की पूरी जानकारी कराई जाय।

एतदर्थ इसके लेखक और प्रकाशक दोनों बधाई के पात्र हैं, क्योंकि तमिल-साहित्य और संस्कृति की जीवन-दृष्टियाँ भले ही यहाँ संभव नहीं हुई हों; किन्तु वहाँ की आधिकारिक जानकारी तो हमें हो ही जाती है।

पुराना दीया : नई रोशनी

लेखक—श्री सुरेन्द्र कुमार मल्होत्रा

प्रकाशक—मल्होत्रा ब्रदर्स, १, फैजबाजार, दिल्ली

मूल्य - साढ़े तीन रुपये

नवोदित कथाकार श्री सुरेन्द्र कुमार मल्होत्रा के संग्रह की तेरह कहानियाँ प्रायः "अति-भौतिकवाद पर आश्रित वर्तमान सामाजिक व्यवस्था तथा तथाकथित सभ्यता एवं प्रगति से अत्यन्त असंतुष्ट हैं।" फ्लैप की इस उद्घोषणा से यह साफ है कि कथाकार ने सारी कहानियाँ अपने दिमाग में पहले से निर्धारित किसी मतवाद के प्रतिवादस्वरूप ही लिखी होंगी और कहानियाँ पढ़ लेने के बाद तो सारी स्थिति सामने आ जाती है। कहानी-सम्बन्धी दृष्टियों से लेखक का कोई निजी लगाव नहीं दिखता और न इन्होंने 'कथ्य' या 'कथानक' के कहानी के साथ के लगाव को शायद समझ भी पाया है, जैसा कि कहा गया है कि "इनके कथा-शिल्प में तथाकथित मौलिकता चाहे उतनी न हो, पर ताजगी बहुत है। मजाक-मजाक में वह काफी बड़ी बात कह जाते हैं।" कहना चाहिये कि कहानी के साथ मजाक के लिये ही इन्होंने कहानी लिख दी है।

सुप्रसिद्ध गीतकार श्री बालस्वरूप 'राही' की भूमिका के बावजूद कथाकार ने अपना प्रशस्ति-गान एक परिसंवाद लिखकर आखिर करा ही लिया है और स्वयं एक तटस्थ श्रोता के नाते वह अपनी कहानियों की समग्र विशेषताओं को साँस-साँस भर सूँघता रहता है।

'पुराना दीया : नई रोशनी' इस संग्रह की काफी कमजोर कहानी है, कहानी की विषय-वस्तु के सर्वथा विपरीत। ऐसे कथानक किसी उपन्यास के लिये हो सकते थे। 'कथ्य' का लक्ष्य साफ नहीं है कि कहानीकार आखिर क्या suggest करना चाहता है। अलबत्ता, 'देवता, आदमी और सिक्के' कहानी में कहानीकार अपने ही कोण से सफल रहा है। उसकी यह सूझ कि आज के युग में सिक्का ही आदमी को देवता बनाता है, उसी सामाजिक समस्या की ओर संकेत है। बाकी सारी कहानियाँ बकवास हैं।

असली बात तो यह है कि कहानीकार जैसे कहानियाँ नहीं लिखता हो, समाजवादी शक्तियों और प्रगति से विरोध खड़ा कर रहा हो। अच्छा होता, मल्होत्राजी के प्रकाशक यदि काफी पैसेवाले हैं तो किसी ऐसे नवोदित कहानीकार को प्रकाश में लाते, जिसमें प्रतिभा है, अपनी पांडुलिपि लेकर रोज-रोज उनके दरवाजे पर चक्कर लगाता है, भूखे और प्यासे।

सच कहूँ तो इस पुस्तक में बालस्वरूप राही की भूमिका और गेट-अप को छोड़कर कोई भी चीज मुझे अच्छी नहीं लगी और न कहानीकार की कोई संभावना

ही उभरती लगी; क्योंकि किसी मतवाद के विरोध में ही जब उनके भयंकर कदम उठ पड़े हैं, तो उनकी कहानियों (!) के सम्बन्ध में ही क्या कहा जाय।

—मधुकर सिंह

सितारों से आगे

लेखक : कृश्नचन्दर

प्रकाशक : **राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली**

मूल्य : **२. ५०. न० पै०**

आलोच्य पुस्तक ख्यातनामा कथाकार कृश्नचन्दर द्वारा लिखित सद्यःप्रकाशित औपन्यासिक कृति है। इसमें लेखक ने वैज्ञानिक उन्नति के अभिनव प्रमाण अन्तरिक्ष-उड़ान के सम्बन्ध में खूब व्यंगोक्तियाँ कसी हैं। लेखक ने अपनी कल्पना के माध्यम से कहानी को रोचक और पठनीय बनाने का प्रयास किया है। अतएव प्रस्तुत उपन्यास एक अतिकल्पनात्मक कृति ही नहीं है, अपितु एक प्रबल सामाजिक और राजनीतिक व्यंग्य भी है। वस्तुतः लेखक की सामाजिक-राजनीतिक चेतना के संस्पर्श से इस कहानी की प्रत्येक घटना अपने में एक सांकेतिक अर्थ छिपाए हुए है। जुम्मी, उर्फी, नीलू, नाज, मोहिनी, पुतली—इसके मुख्य पात्र हैं, जो अन्तरिक्ष की उड़ान भर कर अजीबो-गरीब दुनिया के चाँदी-सदृश लोगों से मुलाकात करते हैं। उन्हें ऐसा दृश्य देख कर दाँतों तले अंगुली दबानी पड़ती है। कथा का प्रारम्भ ही इन पंक्तियों से होता है—"यह आज से पचास वर्ष आगे की कहानी है, जब ऐटम-बमों और रॉकेटों की लड़ाई से संसार की आधी से अधिक जनसंख्या समाप्त हो चुकी थी। पृथ्वी की धुरी बदल गई थी"...... आदि आदि। रॉकेट पर यात्रा करने से चन्द्रलोक कितना साफ और रंगीन नजर आता है, इसी का चित्रांकन इस कृति में हुआ है। लेखक का हास्य-व्यंग्य भरा स्वर सर्वत्र तीखा रहा है। इस धरती के लोहे व ताँबे से निर्मित मनुष्यों का सितारों से आगे रहनेवाले अजीब किस्म के चेहरों को देखकर आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक है। इस कथा को गढ़ने के पीछे लेखक का मूलोद्देश्य हाइड्रोजन-बम के विस्फोट होने के फलस्वरूप मानवता के विध्वंस को चित्रित करना है।

राजाजी की लघुकथाएँ

लेखक : **चक्रवर्ती राजागोपालाचार्य**

अनुवादिका : **लक्ष्मी देवदास गाँधी**

प्रकाशक : **सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली**

मूल्य : **डेढ़ रुपया**

समीक्ष्य पुस्तक में भारत के वरिष्ठ नेता और वयोवृद्ध सुलेखक राजाजी द्वारा लिखित २६ लघुकथाएँ संकलित हैं। इन लघुकथाओं को पढ़ने से रोचकता का स्वाद तो मिलता ही है, साथ ही इनसे कुछ नसीहतें भी मिलती हैं। ये कहानियाँ 'देखन में छोटे लगें, घाव करें गंभीर' सदृश हैं। ये मात्र मनोरंजन के लिहाज से नहीं लिखी गई हैं। इनमें कोई-न-कोई शिक्षा निहित है। उदाहरणार्थ, संग्रह की पहली लघुकथा 'मेहनत करके जिओ' को ले लीजिए। इससे यही सीख मिलती है कि रुपयों का लोभ आदमी को बहुत सताता और दिवाना बना देता है। धन का लालची कभी नहीं तरक्की कर सकता। मेहनत करके जीने, अर्थात् पसीने की कमाई खाने में ही ईमानदारी है और सारी दुनिया की भलाई है। समस्त कथाओं की वर्णन-शैली अतिशय रोचक और प्रसादक है। भाषा सरल और सुबोध है। पढ़ने में ज्यादा माथापच्ची नहीं करना पड़ता। इन कथाओं को लिखने में लेखक का पौराणिक दृष्टिकोण प्रबल रहा है। पढ़ने से पाठकों को एहसास होगा कि उन्होंने कुछ पाया ही है। कहने को ये रचनाएँ 'लघु' हैं, पर उनका सन्देश बड़ा व्यापक है। राजाजी ने लघुकथा के माध्यम से 'गागर में सागर' भरने की प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। हिन्दी में 'लघुकथासाहित्य' का चिंत्य अभाव है। लेखकों को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

एक सड़क : सत्तावन गलियाँ

लेखक : **कमलेश्वर**

प्रकाशक : **हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी १**

मूल्य : **एक रुपया**

आलोच्य उपन्यास 'प्रचारक पॉकेट बुक्स सीरीज' की दूसरी भेंट है। इसमें नई पीढ़ी के जाने-माने तरुण

कथाकार कमलेश्वरजी ने सरल और कलापूर्ण गद्य-शैली में वर्त्तमान भारतीय समाज के खोखलेपन को चित्रित किया है। ग्रामीण अंचल की पृष्ठभूमि में कथा रचित है। सर्वत्र आंचलिक शैली का नव्य प्रयोग हुआ है। इसकी भाषा अपने रूढ़ पैमाने से बाहर निकलकर सरल और बाँकपन लिए है। "तालियों की चटक मस्ती का समाँ बाँध देती है। ढोलक की हुमक के साथ मजलिसी लोगों की कमर थाप देती है। भिलभिलाती हुई तरल-सी चिकनी लहरियाँ, काजल लगी आँखों से रसधार भरती, पौरुष उबाल खाकर सिराता रहा, छिली हुई खूबानी की तरह डोरदार पीत-लालिमा लिए नशे में डूबी पुतलियाँ।" इस पुस्तक में लेखक ने समाज की धर्मसम्बन्धी संकीर्ण मनोवृत्ति को उभार कर रख दिया है। धर्ममंडली की स्थापना के नाम पर लोग टट्टी की ओट में शिकार करते हैं, चन्दा उगाह कर अपनी जेब गरम करते हैं—इसी का व्यंग्यात्मक अंकन लेखक ने किया है। अतः उन ओझा और पाखण्डियों से लड़ने की जरूरत है जो मजदूर के पसीने की कमाई चाट जाते हैं; उन ऊँची जात के कहे जानेवाले लिफाफावाजी चेहरों से लड़ने की जरूरत है जो आदमी को आगे नहीं बढ़ने देते। जिलाबोर्ड के उन अमलाओं से लड़ना जरूरी है, जो स्कूल बनाने के नाम पर पैसा खा जाते हैं। अस्पताल के उन डाक्टरों से लड़ना आवश्यक है, जो गरीबों के लिए मिलनेवाले इंजेक्शनों को बेच लेते हैं, दवाओं में पानी फेंटकर रोग का इलाज करते हैं। भारतीय समाज के ऐसे तिकड़मवाजों, गुरुघंटालों और चार सौ बीस लोगों की अच्छी खबर ली जानी चाहिए, ताकि समाज का कलुषित व घिनौना वातावरण स्वस्थ हो सके। शिवराज, सरनाम, रंगीले आदि इसके मुख्य पात्र हैं। बंसिरी इसकी मुख्य पात्री है, जो उच्च घरानों के अवारे शख्सों के चंगुल में आई रहती है, समाज के नेताओं के चक्कर में घूमती रहती है। उपन्यास पठनीय है।

कसक

लेखक : **अमृता प्रीतम**

प्रकाशक : **हिन्द पॉकेट बुक्स प्रा० लि०, दिल्ली-२**

मूल्य : **एक रुपया**

'कसक' पंजाब की लब्धप्रतिष्ठ लेखिका अमृता प्रीतम का नया हिन्दी उपन्यास है। यह सम्पूर्णतः उपन्यास नहीं है। 'बुलावा' ७१ पृष्ठों में लिखा एक लघु उपन्यास है, जिसकी 'टेकनिक' नयी अवश्य है, पर 'थीम' अबोध-गम्य है। लेखिका क्या कहना चाहती है, समझ में नहीं आता। हाँ, 'कसक' कहानी, जिसके आधार पर पुस्तक का नामकरण हुआ है, अलबत्ता भावपूर्ण और मार्मिक है। नारी-हृदय की प्रेमजनित व्यथा को लेखिका ने चित्रित किया है। अन्य कहानियाँ भी अच्छी हैं।

सरल प्राकृतिक चिकित्सा

लेखक : डॉ० लक्ष्मीनारायण शर्मा

प्रकाशक- हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली-३२

मूल्य- एक रुपया

आलोच्य पुस्तक पाठकों और आम लोगों के लिए अतिशय उपयोगी है। आज की मँहगी में इस पुस्तक में बताए गए स्वस्थ रहने के सब से सरल उपचारों का कार्यान्वियन कर गाढ़ी कमाई के पैसे मजे में बचाए जा सकते हैं। अधिकांश लोग आज दवाइयों-इंजेक्शनों में बेहद विश्वास करते हैं। अन्य किसी मद में भले कंजूसी बरतें, पर रोग का इलाज करने के लिए अपने घर का आटा तक गीला कर डालते हैं। बड़े घरों में जहाँ किसी को मामूली तकलीफ होती है, झट डाक्टरों की बुलाहट हो जाती है। पल में सैकड़ों रुपये खर्च हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में कितनों के घर उजड़ गए हैं। पर मजाक तो यह है कि जड़ से भी रोग नहीं जाता। होमियोपैथिक चिकित्सा मानव-प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है, किन्तु ऐलोपैथिक इसके एकदम विपरीत है और साथ ही बेहद खर्चीली भी। लेकिन लेखक का विनम्र सुझाव यह है कि यदि मनुष्य अपने रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा करे, तो रोग जड़ से दूर हो सकते हैं और पैसे भी बच जा सकते हैं। खासकर गरीब भाइयों के लिए प्राकृतिक चिकित्सा को छोड़ दूसरा कोई चारा नहीं है। जब उनके पास खाने के पैसे नहीं, तो दवा के पैसे कहाँ होंगे; यह सहज ही अनुमेय है। अतः यह पुस्तक केवल चिकित्सा-पद्धति ही नहीं है, वरन् जीने का सीधा-सादा और सरल ढंग भी

है। इस चिकित्सा के द्वारा रोगों को कुछ देर के लिए दबाया ही नहीं जाता, बल्कि हमेशा के लिए भगा दिया जाता है।

—सुरेन्द्रप्रसाद जमुआर

रामावतार त्यागी

(आज के लोकप्रिय हिन्दी-कवि–६)

लेखक एवं संपादक—क्षेमचन्द्र 'सुमन'

प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली

मूल्य—दो रुपये

पृष्ठ-संख्या—१३०

पुस्तक के दो भाग हैं—जीवनी और संकलन। लगभग तीस पृष्ठों में जीवनी लिखी गयी है और बाकी पृष्ठों में संकलन। किसी भी जीवित व्यक्ति की जीवनी लिखने में निष्पक्षता का निर्वाह मुश्किल हो जाता है और वह भी अगर किसी मित्र द्वारा लिखी जाय तो कठिन ही नहीं, असम्भव है। गनीमत है, अधिक फतवे नहीं दिये गये हैं। कुछ ऐसे हैं जो चल सकते हैं। उदाहरणार्थ, बच्चन कहते हैं, "रामावतार त्यागी आज की पीढ़ी के कवियों में भारत-भर में अकेला है। वह तो गीतों का बादशाह है।" रामपुर का एक व्यक्ति जीवन से निराश होकर आत्महत्या करने का निश्चय कर चुका था। उसने अपना निश्चय त्यागी की कविता पढ़कर बदल डाला और अपने पत्र में लिखा—"मैंने आपकी रचना पढ़कर ही अपना विचार बदला। उसने मुझे जीने की प्रेरणा दी।" मैंने भी त्यागी का संकलन पढ़कर अपनी समीक्षा-संबंधी धारणा बदल दी है। इसे क्या कहेंगे आप ?

क्षेमचन्द्र 'सुमन' के अनुसार मैं यह तो नहीं ही कहूँगा कि "हिन्दी में नई पीढ़ी के जितने भी कवि पिछले दस वर्षों में उभरे हैं उनमें त्यागी ही मात्र ऐसा कवि है, जिसने सरल शब्दावली में गहरी-से-गहरी अनुभूति गीतों के माध्यम से प्रस्तुत की है...आज हिन्दी के कवि-सम्मेलन जो इतने लोकप्रिय हो रहे हैं, उनकी लोकप्रियता में यदि किसी कवि ने साहित्यिकता को उल्लेखनीय रूप में जोड़ा है, तो वह रामावतार त्यागी है...आज की पीढ़ी में हिन्दी में ऐसे कवि कम ही होंगे, जिन्होंने इतनी अधिक संख्या में इतनी श्रेष्ठ रचनायें हिन्दी को दी हों, जितनी कि त्यागी ने।" हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि त्यागी की कविताओं में पीड़ा की बड़ी ही सजीव अभिव्यक्ति मिलती है—

"मेरी आँखें कुछ नम ही रहने दो,
मुझको थोड़ा-सा गम ही सहने दो,
जीवन की आँखें पोंछ सके कोई—
ऐसा आँचल हो तो मुझको ला दो !"

उसने संसार के पीड़ित, तिरस्कृत और लांछित वर्ग की पीड़ा को अपनी पीड़ा समझ कर उस भाषा में चित्रित किया है, जो जन-साधारण की है। इसे स्वाभाविक बनाने में उसके छन्दों ने पर्याप्त सहायता दी है।

इस संकलन में वे ही कविताएँ हैं जो पहले से लोकप्रिय हो चुकी हैं। छपाई साफ एवं गेट-अप सुन्दर है।

—विचारकेतु

सूफी संत-चरित

लेखक—श्री 'भगवान'

प्रकाशक—सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

मूल्य—१.५०

पृष्ठ-संख्या—१७५

प्रस्तुत पुस्तक में पचीस प्रमुख सूफी संतों के जीवन-वृत्तों एवं उपदेशों को लेखक ने बड़े ही रोचक ढंग से आकलित किया है। देवनागरी लिपि से परिचित पाठकों के सम्मुख, संभवतः, इस प्रकार की कोई पुस्तक इससे पूर्व नहीं आयी है। इस कार्य के लिए लेखक और प्रकाशक–दोनों बधाई के पात्र हैं।

हिन्दी के नाम पर प्रकाशित इस पुस्तक की भाषा हिन्दी की अपेक्षा उर्दू के अधिक निकट है। लिपि देवनागरी है जोकि हिन्दी की अपनी लिपि है।

भाषा का उदाहरण—

"मोमिन के लिए हर मखलूक एक हिजाब और दाम है।...इन्तहाई मर्तबा, जो अल्लाह बन्दों को देता है, तीन हैं—दीदार से मुसर्रफ होकर अल्लाह कहे, ...। अल्लाह को जानकर नफ्स की आफत और शैतान के फरेब से बेखबर न हो,... और जब शैतान हार जाता

है, अल्लाह करामात और उन्स में डालता है मगर जवाँमर्द वह है जो किसी पर नहीं रीझे।"

संक्षेप में, सम्पूर्ण पुस्तक में इसी तरह की भाषा का प्रयोग हुआ है। यह ठीक है कि कई स्थानों पर कोष्ठकों में कठिन उर्दू-शब्दों के हिन्दी-अर्थ दे दिए गए हैं।

उर्दू-भाषा और साहित्य से हमें कोई द्वेष नहीं है। उर्दू-साहित्य के क्षेत्र-विस्तार के लिए यह आवश्यक है कि उसे देवनागरी लिपि में प्रस्तुत किया जाय; पर उसे हिन्दी की संज्ञा नहीं दी जा सकती। माननीय मंत्री श्री रेड्डी और उनके रेडियो की सरलीकृत हिन्दी का संभवतः यही भावी स्वरूप है।

हिन्दी और उर्दू में विभेद है और मात्र लिपि से इसे दूर नहीं किया जा सकता।

छपाई साफ है और प्रूफ की भूलें कम हैं। कवर सादा और अनाकर्षक है। मूल्य ठीक है।

—जय घोष

एक औरत की जिन्दगी (उपन्यास)

मूल लेखक—**मोपासां**

रूपान्तरकार—**श्री शिवदान सिंह चौहान**
श्रीमती विजय चौहान

प्रकाशक—**राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली**

मूल्य—**तीन रुपये पच्चीस नये पैसे**

प्रस्तुत आलोच्य कृति फ्रेंच उपन्यासकार मोपासां का A woman's life का हिन्दी-रूपान्तर है। यद्यपि यह कृति उन्नसवीं सदी के उत्तरार्ध की है, किन्तु इसकी चिर-कालिक ताजगी से लगता है कि बीसवीं सदी के उत्तरार्ध की कृति है। इसका मुख्य कारण है कि लेखक ने जीवन की वास्तविकताओं का इतना गंभीर और कलात्मक चित्रण किया है कि वह चिरनूतनता को प्राप्त कर गई है।

उक्त उपन्यास में विभिन्न परिस्थितियों में पड़ कर मनुष्य किस प्रकार व्यवहार करता है, किस प्रकार उनसे प्रभावित होता है, किस प्रकार प्रेम या घृणा करता है और सामाजिक जीवन की सभी अवस्थाओं और सभी स्तरों पर किस प्रकार एक अविराम संघर्ष में भाग लेता है—इसका सीधे-सादे और सरल ढंग से वस्तुपरक मार्मिक उद्घाटन, जीन बैरन, जूलियन, रोजाली, कोलार्द और पॉल जैसे फ्रांस के जीते-जागते चरित्रों के माध्यम से हुआ है। हेनरी जेम्स, बाल्जाँक, एमिल जोला, चेखव और तुर्गनेव के पात्रों की तरह इस उपन्यास के सभी पात्र बाह्य घटनाओं और उनके प्रभावों, वैयक्तिक चारित्रिक परिवर्तनों एवं बाह्य क्रिया-प्रति-क्रियाओं के माध्यम से मानव-हृदय के गंभीरतम रहस्यों का उद्घाटन करते हैं। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सामाजिक उद्देश्यों या दृष्टिकोण को मोपसाँ ने कभी स्पष्ट, स्थूल शब्दों में प्रकट होने नहीं दिया है। सर्वत्र सांकेतिकता से ही काम लिया है। उपन्यास की मुख्य पात्री जीन 'अबला-जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी' को चरितार्थ करती है; जिसका सम्पूर्ण जीवन पुरुषों द्वारा लादी गई मर्मान्तिक पीड़ाओं, विश्वासघातों और कुंठाओं से ग्रस्त है। यह विश्व के नारी-जगत का प्रतिनिधित्व आज भी करती है।

उपन्यास का रूपान्तरण अत्यन्त सिद्ध हाथों से हुआ है। पाठक को यह प्रतीत होता ही नहीं कि यह अनुवाद है। लगता है, हिन्दी का कोई मौलिक उपन्यास वह पढ़ रहा है, जहाँ 'जीन' जैसी अनेक नारियाँ भारतीय नारी-जगत में अनेकानेक कुंठाओं और जुगुप्साओं का शिकार बनी, अपने उद्धार के लिए चीख-चिल्ला रही हैं।

ये तेरे प्रतिरूप (कथा संग्रह)

लेखक—**अज्ञेय**

प्रकाशक—**राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली**

मूल्य—**ढाई रुपए**

प्रस्तुत आलोच्य कृति श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' की चौदह कहानियों का संग्रह है, जिसके लेखनीय निवेदन के स्वर हैं—"इस संकलन की आधी कहानियाँ पुस्तकाकार यहीं पहली बार छप रही हैं, अन्य कहानियाँ दूसरे संग्रहों में छप चुकी हैं।" पता नहीं, श्री अज्ञेय ने प्रकाशित-व-बासी कहानियों को भी नूतन संग्रह में आकलित कर सम्पूर्ण संग्रह को बेस्वाद और जायका-रहित क्यों बना दिया? क्या, उन्हें भय था कि संग्रह का मुटापा कम जायगा और फिर दुर्बलकाय

संग्रह को प्रकाशित करने के लिए कोई प्रकाशक ही न मिलेगा, या अब नित-नूतन जीवन के कम्प्लेक्स को कहानी की पकड़ में वे बाँधने में सर्वथा असमर्थ ही हो रहे हैं? चाहे जो हो, आलोचना की पकड़ में ये बातें तो आ ही जाती हैं।

इन चौदह कहानियों में सेब और देव, देवी सिंह, खितिन बाबू, कविता और जीवन—एक कहानी, शिक्षा, एवं कलाकार की मुक्ति ही अपने नयेपनकी ताजगी लिए पाठकों के सम्मुख आती हैं। ये कहानी कम, स्केच ज्यादा हैं। और, यही कारण है कि लेखक ने समर्पण का स्वर इन शब्दों में प्रकट किया है—"खड़ा मिलेगा सामने तुमको, अनपेक्षित प्रतिरूप तुम्हारा नर, जिसकी अन-झिप आँखों में नारायण की व्यथा भरी है।" यह समर्पण हिन्दी के यशस्वी कवि श्री शमशेर बहादुर सिंह के लिए है। पता नहीं, श्री अज्ञेय ने बासी और उबकाई लानेवाली कहानियों के (जो सभी-की-सभी साम्प्रदायिक दंगे को आधार मान कर ही लिखी गई, सन् १९४७-४८ की हैं) संग्रह को समर्पित कर शमशेरजी की रुचि का खयाल भी क्यों नहीं किया?

सेब और देव एक बाल-मनोविज्ञान-प्रधान कहानी है, जिसमें बाल-सुलभ चपलता और आदतों का विश्लेषण सहज ढंग से हुआ है। पर, कथातत्त्व में वह ताज़गी नहीं जो प्रेमचन्द के ईदगाह में है।

देवी सिंह एक सफल स्केच है जिसमें जीवन का एक 'मिशन' स्थापित किया गया है—"अभाव में अपने को उपयोगी बनाना, पंगु होकर भी समाज में अपने अस्तित्व को सार्थक बनाना।" देवी सिंह इसी 'मिशन' का जीता-जागता प्रतीक है। 'खितिन बाबू' अपने जीवन के संघर्षों में जूझने वाले एक जीवट के आदमी हैं। पैर, हाथ, आँख से हीन होकर भी अपनी आत्मिक कान्ति से दीप्त वे जीवन भर जिन्दादिली को पालते रहे, जैसे उन्हें यह संतोष था—'बेचे थाक्ते बेशि किछु लागे न।' यह सम्पूर्ण स्केच पाठकों को एक गहरी संवेदना से भर देता है और देर तक खितिन बाबू पाठकों के मन-मस्तिष्क पर छाये रहते हैं। शेष कहानियाँ भावात्मक हैं, जो जीवन के यथार्थ धरातल पर नहीं उतरतीं।

नवलिका (नया उपन्यास) प्रथम अंक

प्रधान सम्पादक—**नागार्जुन (अवैतनिक)**

सम्पादक—**श्रीमती प्रभा भार्गव**

मूल्य—**७५ नये पैसे**

नवलिका का प्रथमांक मेरे सामने है और मैं यह सोच रहा हूँ कि प्रधान-सम्पादक नागार्जुन के नाम के आगे यह अवैतनिक शब्द क्यों जोड़ा गया? क्या, उसका उल्लेख, यदि अनिवार्य ही था, व्यवस्थापकीय में नहीं किया जा सकता था? मेरे सोच जाने पर भी कोई निष्कर्ष न निकला। और, मैं व्यवस्थापकीय उद्घोषणा में उलझ गया। इसके पहले वाक्य में ही मुझे ठहर जाना पड़ा, जहाँ लिखा था 'इसमें उच्च कोटि के अनुवाद भी छापे जायेंगे'। पता नहीं, व्यवस्थापिका महोदया ने उच्चकोटि के अनुवाद का निकष 'नवलिका' के लिए क्या तैयार किया है? पुनश्च, यह उल्लेख किया गया कि प्रत्येक माह एक उच्च-कोटि का उपन्यास प्रकाशित किया जायगा। यहाँ भी मेरे दिमाग पर वही प्रश्न-चिह्न अंकित रहा—उच्चकोटि-निर्धारण का निकष?

प्रस्तुत अंक में तीन उर्दू के उपन्यास संकलित हैं—लल्ली (काजी अब्दुस्सत्तार), जिला वतन (वाजिदा तबस्सुम) और मैं फिजाँ में आऊँगा (ए० हमीद)।

पहला उपन्यास लल्ली, जिसका हेडपीस मुगल-कला के अक्षरों में और चित्र आधुनिक कला में है, देखकर मन अजीब कडवाहट से भर गया। कथानक ग्राम-परिवेश में लल्ली-जैसे प्रधान चरित पर आधारित प्रेमचन्द के भूले-बिसरे पात्रों की याद दिला गया। कथा सामन्ती युग के ढहते चरण से शुरू होती है और लल्ली जैसे चरित्र की पूर्णता पर समाप्त हो जाती है। औपन्यासिक दृष्टि से वातावरण, काल, चरित्र, कथोपकथन और शिल्प (जो प्रायः उर्दू-लेखकों का निजी है) का निर्वाह संतोषजनक है। पर, इस युग के पाठकों के लिए मनोज्ञ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पाठकों के स्वाद और रुचि को तीस साल पीछे ले जाने का सफल प्रयास है यह। कथोपकथन में कुछ शब्दों के प्रयोग जरा बेतुके-से लगे, मसलन पृष्ठ-संख्या ६ में उल्लिखित है—"अब मुनीरबख्श के लिए बोलना

सुन्नत था, क्योंकि वो सुन्नत के बड़े रसिया थे।" ऐसे वाक्यों के साथ फुटनोट लगाना चाहिए। क्योंकि, 'रसिया' शब्द का संग 'सुन्नत' के साथ बिठाने की जरूरत है।

दूसरा उपन्यास 'जिला वतन', जिसके शीर्षक की 'लेटरिंग' में एक सूनी कोठरी अंकित है, एक पारिवारिक, दमित-काम-प्रधान उपन्यास है। सूनी कोठरी का अंकन, पता नहीं जिलावतन से क्या निस्बत रखता है? उपन्यास का मुख्य चरित्र रफीक मियाँ अपने पुष्ट कंधों के पारिवारिक बोझ, अनेकानेक कटुता के बावजूद, कभी हूरी और कभी शौकत की गुलाबी नाजुक गुरगाबियाँ देख-देख, अपनी ढलती उम्र में मचल उठता है। यों शादी की आजादी उसे है, पर पारिवारिक फूट और कटुता के दुष्परिणामों को सोच-सोच, वह किया नहीं चाहता, और दमित काम जैसी कुण्ठा में ही जीना स्वीकार कर लेता है। रफीक मियाँ जैसे चरित्र इस युग के कतई आदर्श नहीं हो सकते, क्योंकि सारी सुविधाओं के बावजूद आज का कोई व्यक्ति कुण्ठा में रहना नहीं चाहता। फिर भी, वाजिदा ने परिवार के कुण्ठाग्रस्त पात्रों के चित्रण में कोई कोर-कसर नहीं रखी है। लेखिका की पकड़ वस्तुतः श्लाघ्य है। कहीं-कहीं उनकी स्वानुभूति स्पष्ट हो जाती है—"औरत जब मुहब्बत करती है तो चाहती है कि हर सूरत से अपने महबूब की खुशी हासिल करे.........।" उपन्यास आद्यन्त पठनीय है।

तीसरा उपन्यास 'मैं खिजाँ में आऊँगा' एक 'मोनोलॉग'-शैली का अच्छा उदाहरण है। यद्यपि इसका पात्र भी अपने जीवन से 'फ्रस्ट्रेटेड' है; इसमें भी कुण्ठायें हैं, पर ये कुण्ठायें 'मोनोलॉग' की विधा में चित्रित होने के कारण पाठकों को खटकती नहीं हैं। उपन्यास का मुख्य चरित्र 'मैं,' अपने स्वगत में, रजिया को सम्बोधित कर जो कुछ भी कह जाता है, यदि थोड़ी देर के लिए उसका कुण्ठाग्रस्त प्रलाप भी मान लें, तो भी वह अपनी जर्जर काया और झुर्रीदार चेहरा और पपोटों में धँसी कीच भरी आँखों से, जो बराबर रजिया के लिए नम ही बनी रही हैं, एक अजीब सम्वेदना से हमें भर देता है। और, पाठकों की यह सम्वेदना तब अधिक गीली बनकर आँखों से निकलने लगती है, जब वह (बूढ़ा पेंटर) अपने कमरे में मुर्दा पाया गया, जहाँ पाइप उसके हाथ से छूटकर लुढ़का हुआ था और जहाँ चाय की नीले फूल वाली प्याली फर्श पर टूटी पड़ी थी। ए० हमीद इस अत्यन्त लघुकाय उपन्यास की रचना में उनसे कहीं अधिक सफल माने जायेंगे, जो मात्र इतनी-सी अभिव्यक्ति के लिए पोथे लिख जाते हैं और कागज के सफे व्यर्थ ही बर्बाद कर डालते हैं।

अन्त में सम्पादक-द्वय को धन्यवाद इसलिए दूँगा कि 'नवलिका' जैसे उपन्यास मासिक के प्रकाशन से बहुतेरे उर्दू-लेखकों की चीजें हिन्दी-जगत में लाकर उन्होंने राष्ट्रीय भावात्मक एकता की दिशा में एक पोख्ता कदम उठाया है। साथ ही हिन्दी के पाठकों की संख्या बढ़ाने का श्रेय भी उन्हें मिलेगा।

—सत्यदेव शान्तिप्रिय

आजकल आदर्शवाद और यथार्थवाद दो शब्द सुनने में आते हैं। उन दोनों को बाँधकर कैसे लिखा जाय, यह मैं नहीं जानता। कला नामक वस्तु मनुष्य की बनाई है, प्राकृतिक नहीं। संसार में जो कुछ घटित होता है, वह सभी किसी भी दशा में साहित्य का उपादान नहीं है। प्रकृति या स्वभाव की हू-ब-हू नकल करना फोटोग्राफी हो सकती है, लेकिन क्या वह चित्र होगा? वास्तविक अनुभवों की मैं उपेक्षा नहीं कर सकता, जोकि वास्तव और अवास्तव के सम्मिश्रण में कितनी व्यथा, कितनी सहानुभूति तथा सीने के कितने खून से धीरे-धीरे बड़े होकर प्रस्फुटित होते हैं। सुनीति-दुर्नीति का स्थान इनमें है, लेकिन झगड़े की गुंजाइश नहीं। यह वस्तु इससे बहुत ऊँची है। झमेला उठ खड़ा होगा तो नीति की पुस्तक बन जायगी, लेकिन साहित्य नहीं बनेगा। पुण्य की जीत और पाप का क्षय होगा, किन्तु काव्य का सृजन नहीं होगा।

—शरच्चन्द्र (साहित्य ओ नीति)

हमारे नये प्रकाशन

• सात साल

डॉ० मुल्कराज आनन्द

मूल्य : ४·००

यह एक श्रेष्ठ रचनात्मक कृति होने के साथ ही डॉ० आनन्द की आत्मकथा का एक भाग है, जिसमें उन्होंने अपने बचपन की स्मृतियों को इस तरह पिरोया है कि पाठक का मन स्वयं अपने बचपन की याद में तड़प उठता है।

• सोने के दाँत

डॉ० संसारचन्द्र

मूल्य : २·५०

यह हास्य-व्यंग्य के चौदह निबंधों का संग्रह है जिसकी विशेषता है शिष्ट हास्य। व्यंग्य कहीं भी फूहड़ और अशिष्ट नहीं हो पाता और हास्य में कहीं भी सस्तापन नहीं आता।

• जहाँ फूल खिलते हैं

सं०—प्रकाश पण्डित

मूल्य : ३·००

इस पुस्तक में प्रकाश पण्डित ने उर्दू की प्रमुख कहानी-लेखिकाओं की चुनी हुई कहानियों को संकलित किया है। लेखिकाओं के चित्रों और जीवन-चरित्रों से सुसज्जित।

• रक्तदान

हरिकृष्ण प्रेमी

मूल्य : ३·५०

यह नाटक जहाँ बहादुर शाह 'ज़फ़र' के व्यक्तित्व को प्रकाश में लाता है वहीं देश-प्रेम, राष्ट्रीयता, भावनात्मक एकता और वीरता की प्रेरणा भी प्रदान करता है।

• आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली

डॉ० रांगेय राघव

मूल्य : १०·००

प्रस्तुत ग्रंथ नई हिन्दी कविता में विषय और शैली का समीक्षात्मक सरस अध्ययन है। आधुनिक हिन्दी कविता की विवेचना के साथ-साथ उसके उत्कृष्ट नमूने भी इसमें दिए गए हैं।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का ग्रंथ-पुरस्कार

(सन् १९६२-६३ ई०)

—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से वर्त्तमान आर्थिक वर्ष (१९६२-६३) में एक-एक हजार रुपये के छह ग्रंथ-पुरस्कार, उसके आगामी वार्षिकोत्सव के अवसर पर निम्नलिखित विषयों के श्रेष्ठ मौलिक हिन्दी-ग्रंथों के लिए दिये जायेंगे।

इन छह पुरस्कारों में एक अहिन्दी-भाषा-भाषी हिन्दी-लेखकों के लिए होगा और शेष पाँच पुरस्कारों में से तीन बिहार के ग्रंथकारों के लिए तथा दो पुरस्कार अखिल भारतीय स्तर पर हिन्दी-लेखकों को दिये जायेंगे।

१. अहिन्दी-भाषा-भाषी लेखकों के लिए पुरस्कार-विषय : यात्रा-वर्णन ।

२. बिहारी लेखकों के लिए पुरस्कार-विषय : (क) साहित्य-समीक्षा, (ख) प्रबन्ध-काव्य, (ग) शिल्प-कला (सिद्धान्त-पक्ष)।

३. अखिल भारतीय स्तर के पुरस्कार-विषय : (क) ज्यौतिष-शास्त्र और (ख) संविधान-विश्लेषण।

उपर्युक्त पुरस्कार-प्रतियोगिता के लिए जनवरी, १९५२ ई० से दिसम्बर, १९६२ ई० तक की अवधि में प्रकाशित पुस्तकें ही स्वीकृत होंगी। पुरस्कार के लिए भेजी जानेवाली प्रत्येक पुस्तक की सात-सात प्रतियाँ परिषद्-कार्यालय में १५ जनवरी, १९६३ ई० तक अवश्य पहुँच जानी चाहिए। पुरस्कार मिलने या न मिलने की दशा में पुस्तकें लौटाई नहीं जायेंगी।

प्रत्येक पुस्तक पर यह लिखा होना चाहिए कि वह किस विषय की प्रतियोगिता में भेजी गई। प्रत्येक पुस्तक के साथ एक स्पष्ट लिखित पत्रक संलग्न रहना चाहिए, जिसमें पूरा विवरण अंकित हो—पुस्तक तथा प्रकाशक के नाम और पते, प्रकाशन-वर्ष, लेखक का वर्त्तमान पूरा पता, विषय आदि।

परिषद्-नियमावली, संख्या ४ के अनुसार बिहार-सरकार की विशेष अनुमति के बिना इस प्रतियोगिता में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के संचालक-मण्डल तथा सामान्य-समिति के सदस्य भाग नहीं ले सकेंगे।

रेलवे पार्सल से भेजी जानेवाली पुस्तकों के लिए पता—

१ ईस्टर्न रेलवे : पटना जंक्शन और नॉर्थ ईस्टर्न रेलवे : महेन्द्रू घाट।

डाक से भेजी जानेवाली पुस्तकों के लिए पता—

२ संचालक, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना—४

—भारत सरकार ने पब्लिक सर्विस कमीशन की सहमति से निर्णय किया है कि केन्द्रीय सरकार द्वारा संचालित लाइब्रेरी साइन्स में उत्तीर्ण व्यक्तियों को वही मान्यता प्राप्त होगी जो यूनिवर्सिटियों के लाइब्रेरी साइंस के पोस्ट ग्रेजुयेट की होगी।

—ज्ञात हुआ है कि नेशनल बुक ट्रस्ट ने शिक्षा-विभाग के प्रस्तावानुसार पुनः कार्य-प्रकाशन आरम्भ करने का निश्चय किया है। मंत्रिमंडल द्वारा स्थापित ताराचंद कमेटी की सिफारिशों को ट्रस्ट ने गत माह स्वीकार कर लिया है। इस माह के अन्तिम सप्ताह की बैठक में उसे पूर्ण स्वीकृति दे दी जायगी। नेशनल बुक ट्रस्ट ने अपने नये चेयरमैन डाक्टर बी० वी० केसकर की देख-रेख में प्रकाशन की एक नयी पंचवर्षीय योजना बनायी है। इन पाँच वर्षों में ट्रस्ट द्वारा उच्च-स्तर की अधिकाधिक पुस्तकों का प्रकाशन किया जायगा जिसमें विदेशी लेखकों की कृतियाँ भी होंगी। ज्ञात हुआ है कि प्रकाशन द्वारा भविष्य में चार श्रेणियों में प्रकाशन-कार्य का संचालन होगा। (१) भारत का शास्त्रीय साहित्य, (२) भारतीय साहित्य के श्रेष्ठ लेखकों की कृतियाँ तथा उनका एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद, (३) श्रेष्ठ विदेशी कृतियों का अनुवाद और (४) आधुनिक ज्ञान-विज्ञान विषयों की श्रेष्ठ कृतियाँ। आयोजन का मूल उद्देश्य श्रेष्ठ साहित्य-निर्माण और प्रकाशन को प्रोत्साहन देना तथा उसे समुचित मूल्य पर पाठकों के लिए सुलभ कराना है। पुस्तकों का प्रकाशन अंग्रेजी हिन्दी तथा भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत अन्य भाषाओं में होगा।

सस्ती, सुन्दर, सुरुचिपूर्ण

नई हिन्द पॉकेट बुक्स

प्रत्येक का मूल्य एक रुपया

• **शहीद** (उपन्यास) : डॉ० मुल्कराज आनन्द

कश्मीर की पृष्ठभूमि, कबायली आक्रमण के रोमांचकारी दिन और लेखक के कलम का जादू—यह है 'शहीद'

• **ज्वालामुखी** (उपन्यास) : मन्मथनाथ गुप्त

स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों पर आधारित, राजधानी के रस-रंगपूर्ण जीवन की मुहँ बोलती तस्वीर।

• **निशी** (उपन्यास) : बलवंत सिंह

'निशी' के कहकहों को आप अपने कहकहे और उसकी पलकों पर काँपते आँसुओं को अपने आँसू समझने पर विवश हो जाएँगे।

• **गजरा** (उपन्यास) : जयन्त वाचस्पति

अपने आप में सिमटी रहनेवाली एक लजीली लड़की तथा एक संघर्षशील चित्रकार के अनूठे प्रेम की कहानी।

• **नरम गरम** (व्यंग्य) : कन्हैयालाल कपूर

उर्दू के सबसे लोकप्रिय व्यंग्यकार की कलम का कमाल। पढ़िये, हँसिये और सोचिये।

• **विषवृक्ष** (उपन्यास) : बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय

ऐसी दो युवतियों की मार्मिक कहानी जिन्होंने मन की पूरी गहराइयों से एक ही पुरुष से प्रेम किया और...

• **वे सफल कैसे हुए** : अनु० केशव सागर

संसार के उन महानुभावों के जीवन की प्रेरणाप्रद झाँकियाँ जिनके पास न कभी खाने को रोटी थी न पहनने को कपड़ा।

• **उर्दू रुबाइयाँ** : सं० प्रकाश पंडित

उर्दू के सभी मशहूर शायरों की चुनी हुई रुबाइयाँ, जिनके 'बेहतरीन' होने का सबूत है सम्पादक का नाम।

हिन्द पॉकेट बुक्स, प्रा० लि०,

शाहदरा, दिल्ली—३२

बिहार राज्य में नागरी लिपि : इति-दृष्टि

श्री उमाशंकर

अँगरेजी शासन आरम्भ होते ही, देश में कई समस्यायें आरम्भ हुईं। कुछ समस्याओं को उन्होंने जन्म दिया। जबतक वे रहे हैं, तबतक उनका समाधान नहीं हो सका। भाषा और लिपि की समस्या भी उन्हीं समस्याओं में थी। अँगरेजी शासन-काल में हम उनका समाधान नहीं कर सके। अँगरेजों ने कुछ दिनों तक मुगलों की भाषा अपनायी। बाद में उनका दृष्टिकोण बदला। भारत में पदस्थापित अँगरेज शासकों ने अपनी सुविधा के लिए सोचा कि सरकारी अदालतों और सरकारी कचहरियों में अँगरेजी का ही प्रयोग हो। उन्होंने कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स के सामने इसका सुझाव रखा। पर वह प्रस्ताव कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स को रोचक नहीं लगा। उन्होंने १६ सितम्बर सन् १८३० को आज्ञा-पत्र में स्पष्ट कह दिया कि "वहाँ के निवासियों को जज की भाषा सीखने के बदले जज को ही भारतवासियों की भाषा सीखना बहुत सुगम होगा। अतएव हमलोगों की सम्मति है कि न्यायालयों में वहीं की भाषा का व्यवहार हो।" पर इस आदेश का पालन सन् १८३७ ई० के पूर्व नहीं हो सका। सन् १८३० से १८३७ के बीच का समय टाल-मटोल में गया। इन वर्षों में भारत में पदस्थापित अँगरेजों ने उक्त आदेश को दृष्टि में रखकर लोगों की सम्मतियाँ चाहीं। पर ठीक-ठीक उन्हें सम्मतियाँ नहीं मिलीं। अँगरेज शासकों को कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के उक्त आदेश को दृष्टि में रखकर कुछ आदेश देना था। बंगाल के गवर्नर ने निश्चय किया कि कचहरी में भाषा-सम्बन्धी सारा काम फारसी के बदले वहाँ की देशी भाषा में हुआ करे और अँगरेजी का प्रयोग सरकारी अफसर लोग केवल ऐसी चिट्ठी-पत्रियों में किया करें जिनका सर्व-साधारण से कोई सम्बन्ध न हो। इस निश्चय को आदेश का रूप देने के लिए बंगाल-सरकार के मुख्य सचिव ने सदर बोर्ड आफ रेवेन्यू को अपने पत्र, संख्या ६१४, दिनांक ३० जून १८३७ को लिखा "श्रीमान गवर्नर महोदय इस बात को स्पष्ट रूप में समझा देना चाहते हैं कि केवल यूरोपीय अफसरों के आपस के पत्र-व्यवहार को छोड़कर (जो अँगरेजी में हुआ करेंगे), प्रत्येक विभाग के सरकारी काम देशी भाषा ही हों।" पर उस आदेश को कार्य-रूप में परिणत करने में एक वैधानिक आपत्ति थी। कारण, फारसी का प्रवेश कानून के द्वारा हुआ था। अतः कानून के द्वारा ही कचहरियों से वह अपदस्थ की जा सकती थी। इस कार्य के लिए एक कानून बना। इस कानून में फारसी के स्थान पर देशी भाषा के प्रचार की आज्ञा दी गई। इस कानून के अनुसार बंगाल में बँगला, उड़ीसा में उड़िया और असम में असमी भाषा का प्रचार हुआ, पर अँगरेजों ने बिहार की भाषा हिन्दुस्तानी मान ली थी। अतः इस कानून के अनुसार बिहार की कचहरियों में फारसी भाषा का ही प्रवेश बना रहा।

सरकार से यह मनवाने के लिए हमारे पूर्वजों को एक आन्दोलन करना पड़ा कि बिहार की भाषा हिन्दी है। इसके लिए उन लोगों ने निबन्ध लिखे, भाषण दिये, पर्चे निकाले, शिष्ट-मण्डल भेजे। उन्हीं दिनों कुछ यूरोपीय लेखकों ने लिखा था—"बिहारियों की मातृभाषा हिन्दी है।" पितकौट महोदय ने तो यहाँ तक लिख दिया था कि बिहार की भाषा सदा से हिन्दी थी और वह अब भी है। बिहार-निर्माता महेशनारायण के ज्येष्ठ भ्राता बाबू गोविन्दचरण के नेतृत्व में बिहार में यह आन्दोलन छेड़ा गया कि बिहार की भाषा हिन्दी है और कचहरी में प्रवेश पाने का उसे वैधानिक अधिकार है। इस आन्दोलन के प्रमुख नेता थे—बाबू रामदीन सिंह, पं० केशवराय भट्ट, अयोध्याप्रसाद खत्री, रामकृष्ण पाण्डेय, बाबू जंगलीलाल आदि। इन नेताओं के सामने रोमन, फारसी और नागरी, तीन लीपियाँ थीं। फारसी लिपि प्रचलित थी, रोमन लिपि लादी जा रही थी, नागरी लिपि की माँग थी। फारसी लिपि का विरोध इसलिए नहीं था कि वह विदेशी लिपि थी, वल्कि इसलिए कि वह अपूर्ण थी। रोमन लिपि विदेशी थी, वह हमारे लिए ग्राह्य नहीं थी। जनमत

नागरी के पक्ष में था। उन्हीं दिनों श्री वेडन ने बताया था कि नागरी अक्षरों का कोई कितना ही बड़ा विरोधी हो, वह उसका घोर शत्रु क्यों न हो; पर वह यह नहीं कह सकता कि इसमें किसी प्रकार की त्रुटि है। प्रोफेसर विलियम ने तो बताया था कि स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि देवनागरी अक्षरों से बढ़कर पूर्ण और उत्तम अक्षर दूसरे नहीं हैं।

ऐसी वस्तुस्थिति में पटना-प्रमण्डल के तत्कालीन कमिश्नर ओल्डहम साहब ने, इन तीनों लिपियों में सबसे जल्दी लिखने और सुपाठ्यता की दृष्टि से कौन-सी लिपि अच्छी है इस प्रश्न के हल के लिए, एक परीक्षा करायी। उस परीक्षा में ७० फारसी लिखने वाले और २१ रोमन लिखने वालों ने भाग लिया। उस परीक्षा में नागरी लिपि का प्रतिनिधित्व केवल बाबू जंगलीलाल ने किया। द्रुतगामिता और सुपाठ्यता—दोनों में वे सर्वप्रथम आये। उन्होंने नागरी लिपि को कचहरी के योग्य सिद्ध किया। इस परीक्षा के बाद सन् १८८१ में हिन्दी का प्रवेश बिहार की कचहरियों में हो गया, पर नागरी और फारसी का संघर्ष उठ खड़ा हुआ। सन् १८९२-९३ में बंगाल-सरकार के पास जब नागरी बनाम फारसी का झगड़ा पहुँचा, तब बिहार में स्थित ईसाई मिशनरियों ने रोमन लिपि का व्यवहार करने पर जोर दिया। पर बंगाल-सरकार ने सन् १८८१ में जो अपना निर्णय नागरी के पक्ष में दिया था, उसपर अडिग रही। उन दिनों कचहरियों में जिस भाषा का प्रयोग होता था, वह बहुत ही कष्ट-दायक थी। भारतवासियों में अधिकांश उसे नहीं जानते थे। पर हमारे पूर्वज इससे घबराने वाले नहीं थे। आरा नागरी-प्रचारिणी-सभा ने ऐसे आवेदन-पत्रों के प्रारूप बनवाये, जो कचहरी में आमतौर पर दाखिल होते थे। उन्हें सुबोध एवं सरल भाषा में लिखवाया। कई नगरों, विशेष-कर आरा, मुजफ्फरपुर, गया, पटना, छपरा आदि नगरों में कई दर्जन स्वयंसेवक हिन्दी में काम करने के लिए तैयार किये गये। वे आवेदन-पत्रों को हिन्दी में लिख दिया करते थे। उन्हें सफलता भी कम नहीं मिली। पर अधिकांश कचहरियों में सरकारी कर्मचारियों, अर्जी लिखनेवालों तथा वकीलों द्वारा नागरी लिपि का व्यवहार नहीं होता था। वे कैथी का ही व्यवहार करते थे। गया में जब ग्रियर्सन साहब कलक्टर थे, तब उन्होंने कैथी लिपि को व्यावहारिक लिपि बनाने के लिए सुधार किया। उस लिपि का प्रयोग भी तेजी के साथ होने लगा। वह लिपि नागरी के थोड़ा नजदीक आ गयी। यह क्रम सन् १९१६ तक चलता रहा। आरा नागरी-प्रचारिणी-सभा के प्रयास से, नागरी लिपि कचहरियों में पूर्णरूप से सन् १९१६ में प्रविष्ट हुई।

सन् १९१६ के बाद एक नया अध्याय आरम्भ हो गया। पत्र-पत्रिकाओं में निबन्ध लिखे जाने लगे। फारसी लिपि के सम्बन्ध में यह कहा जाने लगा कि बिहार राज्य में हिन्दू और मुसलमानों की सामान्य लिपि फारसी है। मुसलमानों की शिक्षा फारसी लिपि के माध्यम से होती है। डाकघरों में मुसलमानों को फारसी लिपि का व्यवहार करने का अधिकार प्राप्त है। रजिस्ट्रेशन-कार्यालय में फारसी लिपि व्यवहृत होती है। कौन्सिल की कार्रवाई फारसी लिपि में छापी जाती है। फारसी में कम खर्च पड़ता है। इतना ही नहीं, उनका दावा था कि फारसी के वे शब्द जो कानूनी शब्द बन गये हैं, नागरी अक्षरों में ठीक-ठीक उतर नहीं पाते। महात्मा गाँधी के उस विचार को भी बार-बार रखा जाने लगा था, जिसके द्वारा उन्होंने नागरी और फारसी दोनों का उत्थान चाहा था। उन्हीं सब बातों को दुहराते हुए मौलवी सैयद उल हक ने कौन्सिल में फारसी लिपि को पुनः चालू करने के लिए एक प्रस्ताव १९ जनवरी, १९२५ को लाया था। इस प्रकार का एक सुझाव सन् १९२३ में भी आया था। सरकार की ओर से सदन के नेता माननीय मिस्टर ली मेसुरर ने कहा था कि फारसी लिपि के पुनः प्रवेश करने का कोई औचित्य नहीं है। उन्होंने स्वीकार किया था कि नागरी लिपि के व्यवहार से किसी को कोई कठिनाई नहीं है। फलतः उस समय प्रस्ताव वापस ले लिया गया।

पर जब सैयद उल हक ने सन् १९२५ में फारसी लिपि का व्यवहार करने के लिए पुनः प्रस्ताव लाया, तब उसका विरोध करते हुए सरकारी दल के नेता डॉ० सच्चिदानन्द सिन्हा ने विभिन्न पहलुओं पर विचार प्रकट किया था। आपत्तिकर्त्ताओं के लिए उक्त अवसर पर सिन्हा साहब का

दिया हुआ भाषण पठनीय है। फारसी लिपि कचहरी की लिपि नहीं हो सकती, यह बतलाते हुए डॉक्टर सिन्हा ने कहा—'हमारा प्रदेश भारत के सभी प्रदेशों से अधिक बहुभाषी और बहुलिपीय है। जन-गणना सम्बन्धी रिपोर्ट देखने से पता चलता है कि बिहार में जितनी भाषा और लिपि का प्रयोग होता है, उतना किसी अन्य प्रदेश में नहीं। बंगला, उर्दू, हिन्दी, उड़िया आदि भाषाएँ हैं, भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि बोलियाँ हैं, मुण्डा, ओरांव, सन्ताल, भील आदि जातियों को अपनी लिपियाँ हैं। सिद्धान्त के रूप में अगर हम फारसी लिपि को स्थान देते हैं, तो अन्य लिपियों को भी स्थान देना ही होगा।' उन्होंने आगे चलकर कहा था—'पश्चिमोत्तर प्रान्त में पठान और पंजाबी रहते हैं। वे पस्तो और पंजाबी भाषा बोलते हैं। पर वहाँ की सरकार ने पस्तो और पंजाबी भाषा को कचहरी की भाषा घोषित नहीं किया है। फारसी लिपि का वहाँ प्रयोग होता है। पंजाब में हिन्दू और मुसलमान दोनों पंजाबी भाषा बोलते हैं। वहाँ उनकी मातृ-भाषा पंजाबी है, मगर पंजाबी कोर्ट की भाषा नहीं है। फारसी लिपि और उर्दू का ही प्रयोग होता है। बंगाल में ५५ प्रतिशत मुसलमान हैं, पर बंगाल में किसी मुसलमान ने फारसी लिपि का प्रश्न नहीं उठाया। बँगला लिपि ही वहाँ व्यवहृत होती है। कलकत्ता, ढाका, मुर्शिदाबाद आदि जगह के मुसलमान बँगला नहीं जानते, फिर भी वहाँ के मुसलमानों के लिए फारसी लिपि प्रचलित नहीं है। हैदराबाद में मरहठा, कैनेरीज, आन्ध्र और तेलुगू रहते हैं। उनकी आबादी ६० प्रतिशत है। दो सौ वर्षों से निजाम के राज्य में कचहरी-लिपि फारसी है।" काफी वाद-विवाद के बाद उक्त प्रस्ताव पर मत लिया गया। प्रस्ताव के पक्ष में १७ मत मिले और उसके विरोध में ४६ मत मिले। कौन्सिल के सभी मुसलमानों ने, खान बहादुर फखरउद्दीन साहब को छोड़कर, प्रस्ताव के पक्ष में मत दिया। मुसलमानों के अतिरिक्त सर्वश्री राजीव रजन प्रसाद सिंह, शिववचन सिंह, जीमूतवाहन सेन, कृष्णवल्लभ सहाय, नरेन्द्रनाथ मुखर्जी, ज्योतिष चन्द्र भट्टाचार्य ने भी उस प्रस्ताव के पक्ष में मत दिया था। बहुमत से प्रस्ताव गिर जाने से मुसलमानों को बहुत दुःख हुआ। उन्होंने इसको साम्प्रदायिक रूप दिया, पर उनके रंज होने का कोई कारण नहीं था। उन दिनों बिहार में केवल २,६३,००० उर्दू बोलने वाले थे और वे सभी फारसी लिपि नहीं लिखते थे। जन-गणना की रिपोर्ट के अनुसार अधिकांश मुसलमान कैथी लिपि ही जानते थे। मुट्ठी भर लोगों के लिए फारसी लिपि का प्रचलन उचित नहीं था। फारसी लिपि की अनुपयोगिता और भ्रामकता प्रतिदिन प्रमाणित हो रही थी।

१६ जनवरी, १९२८ को पुनः बिहार कौन्सिल में मौलवी सैयद मोहम्मद हुसैन ने एक प्रस्ताव द्वारा कचहरी में ऐच्छिक प्रयोग के लिए फारसी लिपि की माँग की। इस प्रकार की माँग पहले भी कौन्सिल में आयी थी। पर उन अवसरों पर सरकार के द्वारा विरोध प्रदर्शित किया गया था। इस बार देश की राजनीति को और भी तनाव देने के लिए सरकार ने एक नयी नीति अपनायी। सदन के नेता माननीय श्री जे० डी० सिफटन ने कहा कि 'सरकार कतिपय कारणों से इस प्रस्ताव से तटस्थ रहना चाहती है। सरकार की इच्छा है कि गैर-सरकारी सदस्य ही अपना फैसला कर लें।' बिहार सरकार के न्याय-विभाग के सचिव मिस्टर ई० ए० स्कोमी ने उस समय यह स्वीकार किया था कि 'इसमें बड़ी कठिनाई यह है कि अधिकांश आफिसर और कर्मचारी हिन्दू हैं, जो फारसी लिपि को नहीं जानते। मुसलमान भी हैं, उन्हें भी फारसी लिपि में पढ़ने में कठिनाई होती है।' उन्होंने फारसी लिपि की अनुपयोगिता प्रमाणित करते हुए तुर्कवलिया मुकदमे का उल्लेख किया था, जिसमें विशेषज्ञ मुसलमान भी ठीक-ठीक फारसी लिपि में लिखित अभिलेख को नहीं पढ़ सके। उन्होंने आगे चलकर कहा था कि फारसी लिपि को अगर स्वीकार कर लिया जाता है, तो व्यय, असुविधा और उलझन की कई नयी सम्भावनाएँ सामने आ जाती हैं। अन्त में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि अगर फारसी लिपि को ऐच्छिक बना भी दिया गया, तो भी वह अव्यावहारिक और अग्राह्य रहेगी। प्रस्ताव दो से अधिक मत से स्वीकृत हुआ। फारसी लिपि, जो बिहार की कचहरियों से सन् १८८१ में बहिष्कृत हुई थी, इस प्रस्ताव के द्वारा पुनः कचहरी में प्रवेश कर गयी।

कौन्सिल में फारसी का प्रस्ताव पास हो गया; पर उसके विरोध में सर्वत्र आन्दोलन आरम्भ हो गया। कई व्यक्तियों ने, कई संस्थाओं ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। हाईकोर्ट ने, जिला-जजों तथा बार-एसोसिएशन से फारसी लिपि के सम्बन्ध में उनकी राय माँगी। उन्होंने अपनी राय दी कि अभी जो सरकारी अधिकारी और कर्मचारी हैं, वे ऐसे योग्य नहीं हैं कि फारसी लिपि को कचहरी में चालू किया जाय। उन्होंने राय दी कि अगर फारसी लिपि को चलाना ही आवश्यक है, तो केवल शिकस्ता अक्षरों का ही प्रयोग हो। इन विरोधों को दृष्टि में रखकर श्री व्रजराजकृष्ण ने ६ फरवरी १९२९ को एक प्रस्ताव कौन्सिल में रखा कि फारसी लिपि के प्रयोग का प्रस्ताव तवतक के लिए स्थगित कर दिया जाय, जबतक विशेषज्ञों की रिपोर्ट नहीं प्राप्त हो जाती है और कौन्सिल प्राप्त रिपोर्ट पर विचार कर पुनः अपनी स्वीकृति नहीं देती है। प्रस्ताव का सरकार की ओर से विरोध हुआ; मुसलमान सदस्यों ने विरोध किया। फल यह हुआ कि मत लेने पर प्रस्ताव के पक्ष में ३७ मत मिले और उसके विपक्ष में भी ३७ मत मिले। दोनों पक्षों को वरावर मत मिले। सभापति के मत से प्रस्ताव गिर गया और फारसी लिपि का ऐच्छिक रूप में कचहरी में प्रवेश हो गया।

सन् १९३७ में काँग्रेस सरकार प्रथम बार स्थापित हुई। उसने भाषा के क्षेत्र में नया प्रयोग किया। दोनों भाषाओं के लिए एक सामान्य भाषा का निर्माण आरम्भ हुआ। हिन्दुस्तानी का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। हमारी जननी सीता बेगम बना दी गयीं, आचार्य द्रोण को उस्ताद द्रौन कहा गया, द्रौपदी की शादी मजलिस में करायी गई, कृष्ण को गर्भ से नहीं हमल से पैदा कराया गया। हमारी संस्थायें सजग हुईं। बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन, बिहार साहित्यकार संघ, आरा नागरी-प्रचारिणी सभा, सुहृद संघ मुजफ्फरपुर, लोकमान्य सेवा समिति छपरा, प्रेमचन्द साहित्य परिषद पटना, गर्दनीबाग साहित्य-संघ आदि ने इसका विरोध किया। प्रान्त में सर्वत्र सभा कर, हिन्दी-दिवस मनाकर, प्रचार कर सरकार की इस नीति का घोर विरोध किया गया। विरोध तवतक चलता रहा, जबतक हमारी माँग स्वीकृत नहीं हुई।

सन् १९४६ में काँग्रेस सरकार पुनः आयी। उसने २७ जनवरी, १९४८ को यह निर्णय किया कि 'देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी भाषा, बिहार की राज-भाषा के रूप में स्वीकृत होनी चाहिए।' अपने उक्त निर्णय को कार्यान्वित करने के लिए सरकार ने एक हिन्दी-कमिटी नियुक्त की। उस कमिटी ने २० मई, १९४८ ई० को अपना कार्यारम्भ किया। सन् १९५० ई० की २६ वीं जनवरी से नवीन भारतीय संविधान के द्वारा नागरी लिपि राष्ट्रलिपि घोषित की गई। बिहार राज्य भाषा-कानून सन् १९५० में स्वीकृत हुआ। इस कानून के अनुसार २६ नवम्बर, १९६० में नागरी लिपि का व्यवहार अधिकांश कार्यालयों में अनिवार्यतः आने लगा है। आशा है, सन् १९६५ तक सभी सरकारी प्रयोजनों के लिए नागरी लिपि का व्यवहार बिहार राज्य में अनिवार्यतः किया जाने लगेगा।

हमें यह कहना है
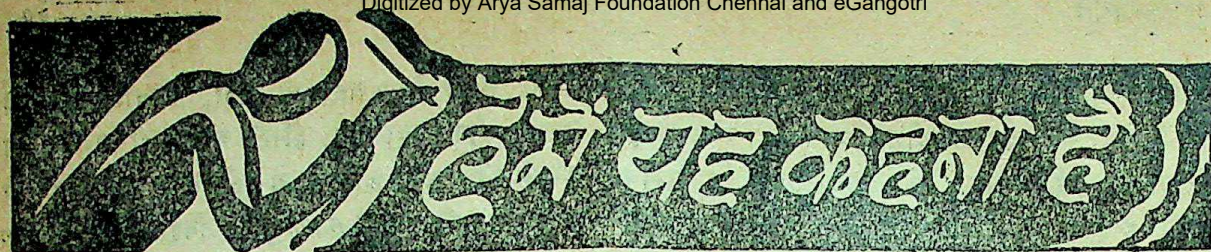
घृणय प्रकाशन :
विधान-सभा और पत्रकारिता का दायित्व :

पाठ्य-पुस्तकों के जाली संस्करणों के कारण सही प्रकाशक या सरकारी प्रकाशन तंत्र का दिवाला पिटता है, व्यापार-व्यवहार में अनैतिकता आती है; मगर इसे कोई रोक-थाम देने का चारा अबतक सरकारी तौर पर नहीं सोचा गया। एक दूसरी समस्या अश्लील और अनैतिक प्रकाशनों की है, जिससे सभी का नैतिक अहित है और सभी साफ बुरा मानते हैं। मगर इस सितंबर मास में बिहार-विधान-सभा द्वारा एक और विशेष समस्या सामने आई है। विरोधी-पक्ष के एक सदस्य ने एक स्वास्थ्य-सफाई से संबंधित शिक्षकों के निमित्त हैंडबुक को, यह बिना विचारे कि ऐसे हैंडबुक का न पाठ्य से संबंध होता है और न बच्चों से, उसमें अकस्मात छापे गए कुछ अश्लील वाक्यों को लेकर प्रश्न उठाया। इसमें यह भी कारण नहीं सोचा गया कि स्वास्थ्य-सफाई में, थूकने के परहेज के, उचित रूप से चलते पाठ के बीच, यकायक एकदम गाली-गलौज जैसे अश्लील वाक्य—प्रूफ-रीडिंग में अक्षर की चूक न होकर किसी की इरादतन बदमाशी है। ऐसी बदमाशी, भले ही उस पुस्तक के प्रकाशक और लेखक को परेशानी में डाल कर अपनी ईर्ष्या का आनन्द लेनेवाला दूसरा कोई प्रतिस्पर्धी, किताब के बीच के चार-आठ पन्ने फाड़कर उनकी जगह ऐसी बदमाशी के पन्ने मढ़ कर करे, मगर उसका लेखक और प्रकाशक अपनी चलती चीज को खुद ही किसलिए इस प्रकार खराब करेगा? गत मार्च तक उस पुस्तक की बिक्री का सीजन रहा और तबतक उस पुस्तक के चार-चार संस्करण खप चुके, मगर किसी में यह बात नहीं थी और बाजार में फैले हुए तमाम संस्करणों में भी कोई वैसी बात नहीं है, फिर प्रश्नपीठ पर रखी जाने वाली उस नमूने की पुस्तक में मात्र एक कोने पर अकस्मात यह गंदी बात क्यों आई? ये सब जाँच की ऐसी बातें थीं जिनसे प्रान्त का एक भयंकर कलंकित गिरोह पकड़ा जा सकता था। मगर, 'कौआ कान ले गया'-जैसी चेतावनी पर चौंके हुए मूर्खों की तरह का हो-हल्ला बिहार की विधान-सभा से लेकर अखबारों तक ने मचा दिया। शिक्षा-मंत्री ने लेखक को अनुशासन की मार मारी, अखबारों और विधान-सभाइयों ने किताब को टेक्स्ट-बुक कहने जैसा झूठा वाहियात गढ़ा और यकायक उस पुस्तक का निरपराध प्रकाशक और लेखक हिन्दू-मुस्लिम-दंगे के दिनों में अफवाहों पर पिटनेवाले अल्पसंख्यक के समान मरा-मरा हो गया।

हमें ऐसी समस्त अफवाही प्रतिक्रिया पर शर्म है और हम उक्त प्रतिक्रिया में उठे हुए तमाम पुरुषों और अखबारों के प्रति यह कहना चाहते हैं कि वे ऐसी किसी घटना में इतनी भद्दी उतावली में न आवें, बल्कि एक क्षण के लिए भी अपनी जाँच-जूँच वाली बुद्धि को झटक कर ही जुबान और कमल चलावें।

'पुस्तक-जगत' के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ४) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य ३७ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* साधारण अंकों में विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
,, द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
,, आधा पृष्ठ	:	२०.००
,, एक चौथाई पृष्ठ	:	१२.००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,
पुस्तक-जगत, ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

रजिस्टर्ड नं० : पी० ८०४

मूल्य : प्रत्येक अंक ३० न० पै०

वार्षिक: चार रुपये

वर्ष ६ :: अंक—२ :: अक्तूबर—१९६२

पुस्तक-जगत

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

'पुस्तक-जगत'

जनवरी १९६३ का अंक : २४ दिसम्बर १९६२ को प्रकाशित

पाठ्य-साहित्य-विशेषांक

१ । ८ डबल- क्राउन अठपेजी का मौजूदा आकार

सफेद कागज, विशाल कलेवर, बहुचित्रित छपाई, विशेष सजधज

संग्रहणीय अध्ययन-सामग्री

विज्ञापन का राष्ट्रव्यापी साधन

देश के समस्त हिन्दी-प्रतिष्ठानों और प्रमुख शिक्षा-संस्थाओं में प्रेषित

विशेषांक में विज्ञापन-दर

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	७५·००	भीतरी पूरा पृष्ठ	५०·००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	७५·००	भीतरी आधा पृष्ठ	३०·००
आवरण द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	६०·००	भीतरी चौथाई पृष्ठ	१६·००

'पुस्तक-जगत' का मूल्य

वार्षिक : चार रुपये एक अंक : ३७ न० पै० विशेषांक : एक रुपया

● भारत में पाठ्य-पुस्तकों का विकास ● पाठ्यक्रम, पाठ्य और छात्र ● पाठ्य और व्यवसाय ● पाठ्य और राष्ट्रीयकरण ● पाठ्य, सहायक और नोट्स ● पाठ्य और परीक्षा-दृष्टि ● पाठ्य, मुद्रण और आकल्पन ● पाठ्य और उसका अधिकरण ● तन्त्र-पाठ्य-पुस्तकों की कमी आदि विषयों पर

अधिकारी राष्ट्रीय विद्वानों के निबन्ध

विज्ञापन के लिए स्थान सुरक्षित करें। ग्राहक बनकर अपनी प्रति सुरक्षित करें।

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना—४

हमारे अनुपेक्षणीय पाठ्य

'HINDI THROUGH ENGLISH'

By : **Sarbdeo Narayan Sinha** *M. A.*

Instructor, Hindi Training Centre, Secretariate, Patna

"I am sure it will be useful to those who want to learn Hindi through the medium of English."

—*R. S. Pandey, I. A. S.*
Agent, Tata Iron & Steel Co.

Price Rs. 6·00

●●●

मानव-मन

लेखक : श्री द्वारका प्रसाद

"मानवमन में सामान्य मनोविज्ञान के प्रत्येक साधारण पहलू पर संक्षिप्त तथा वैज्ञानिक ढंग से विचार किया गया है।"

—*'युगप्रभात'*

मूल्य : ४·७५

●●●

व्यक्ति, प्रकार और अन्य मनोविश्लेषण

लेखक : डॉ० प्रमोद कुमार, एम० ए०, पी-एच० डी०

"लंबे नाम में ही कलेवर का आभास मिलता है। भिन्न-भिन्न विषयों की समालोचना मनोविज्ञान के आधार पर करने का लेखक ने वांछनीय और प्रशंसनीय यत्न किया है।"

—*'युगप्रभात'*

मूल्य : २·२५

●●●

परिवार : एक सामाजिक अध्ययन

लेखक : श्री पंचानन मिश्र

"श्री पंचानन मिश्र ने गहन और विवादग्रस्त विषय पर एक अधिकारी और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा है।"

—*जयप्रकाशनारायण*

मूल्य : ४·००

●●●

हिन्दी साहित्य : एक रेखाचित्र

लेखक : प्रो० शिवचन्द्र प्रताप

"इतिहास इतना सरस, मनोरंजक, प्रवाहपूर्ण हो सकता है, इसकी कल्पना भी इस ग्रंथ को देखने के पूर्व नहीं हो सकती।"

—*डॉ० रामखेलावन पाण्डेय*

मूल्य : ३·००

●●●

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

अँगरेजी हटाना जरूरी क्यों

डॉ० राममनोहर लोहिया

तीसरा अ० भा० अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन (हैदराबाद १२-१४ अक्तूबर ६२) के सम्बन्ध में डॉ० राममनोहर लोहिया के लेख से उद्धृत—

प्रकाशकों के नाम पुस्तकालय-अधीक्षक बिहार का पत्र

बिहार शिक्षा-विभाग की ओर से पुस्तक-समारोह

महोदय,

निवेदन है कि पुस्तकालय अधीक्षक, बिहार के तत्त्वावधान में बिहार राज्य (शिक्षा विभाग) की ओर से पुस्तक उत्सव समारोह मनाने का निश्चय किया गया है। सम्प्रति इस समारोह के क्रम में दिनांक २५-११-६२ से ३०-११-६२ तक पुस्तक प्रदर्शनी आयोजित करने का निश्चय किया गया है। इस प्रदर्शनी में पुस्तकों का प्रदर्शन विषयानुसार किया जायगा। अतएव यह निश्चय किया गया है कि भारत के प्रायः सभी प्रमुख प्रकाशकों से यह अनुरोध किया जाय कि प्रत्येक प्रकाशक अपने १६५६ के बाद के प्रकाशन की १५ पुस्तकें (जिनमें १० भिन्न-भिन्न विषयों की उत्कृष्ट पुस्तकें और ५ बाल साहित्य की पुस्तकें) प्रदर्शनी में रखने के हेतु भेजें। दोनों प्रकार की पुस्तकों में कथा-साहित्य को निम्न प्रश्रय दिया जाय। बाल साहित्य में विज्ञान-संबंधी साहित्य को अधिक प्रश्रय दिया जाय। इस प्रदर्शनी के निमित्त आप पुस्तकें अधिक-से-अधिक १५-११-६२ तक इस कार्यालय में भेजने का कष्ट करें। आपके द्वारा भेजी गई पुस्तकों की सुरक्षा की पूरी जिम्मेवारी इस कार्यालय पर होगी और प्रदर्शनी के समापवर्तन के बाद सुरक्षित ढंग से आपकी पुस्तकें वापस कर दी जायेंगी। पुस्तकें भेजते समय बण्डल के ऊपर बड़े अक्षरों में "प्रदर्शनी के लिये" अवश्य लिख दें। इस प्रदर्शनी को सफल बनाने में आपका सहयोग अपेक्षित है।

आपका विश्वस्त,
ह० ज्वाला पाण्डे
पुस्तकालय अधीक्षक, बिहार।

परिमित, परिग्राही और उदार है। जब हम 'अंग्रेजी हटाओ' कहते हैं, तो हम यह बिलकुल नहीं चाहते कि उसे इंगलिस्तान या अमरीका से हटाया जाय और न ही हिन्दुस्तानी कालिजों से, बशर्ते कि वह ऐच्छिक विषय हो। पुस्तकालयों से उसे हटाने का सवाल तो उठता ही नहीं।

४- दुनिया में सिर्फ हिन्दुस्तान ही सभ्य देश है, यह समझ कर कि हम सभ्य हैं, जिसके जीवन का पुराना ढर्रा कभी खतम ही नहीं होना चाहिए ...

... का जकड़न। अगर कुछ अच्छे वैज्ञानिक, वे भी बहुत कम और सचमुच बहुत बड़े नहीं, हाल के दशकों में पैदा हुए हैं, तो इसीलिए कि वैज्ञानिकों का भाषा से उतना वास्ता नहीं पड़ता जितना कि संख्या और प्रतीक से पड़ता है। सामाजिक शास्त्रों और दर्शन में तो बिलकुल शून्य है। मेरा मतलब उनके विवरणकारी अंग से नहीं बल्कि उनके आधार से है। इस शून्य का कारण इस तथ्य में मिलेगा कि भारतीय विद्वान जितना समय चिन्तन की गहराई और धीरता में ... नहीं, तो कम-से-कम उतना ही

अँगरेजी हटाना जरूरी क्यों

डॉ० राममनोहर लोहिया

तीसरा अ० भा० अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन (हैदराबाद १२-१४ अक्तूबर ६२) के सम्बन्ध में डॉ० राममनोहर लोहिया के लेख से उद्धृत—

जितना मुझसे हो सकता है, उतने गठित रूप में भाषा-सम्बन्धी अपने विचारों की रूपरेखा प्रस्तुत कर रहा हूँ ताकि अब भी यदि उनकी आलोचना या निन्दा हो, तो कम-से-कम समझ कर हो।

१. अंग्रेजी हिन्दुस्तान को ज्यादा नुकसान इसलिए पहुँचा रही है कि वह विदेशी है, बल्कि इसलिए कि भारतीय प्रसंग में वह सामन्ती है। आबादी का सिर्फ एक प्रतिशत छोटा-सा अल्पमत ही अंग्रेजी में ऐसी योग्यता हासिल कर पाता है कि वह उसे सत्ता या स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करता है। इस छोटे-से अल्पमत के हाथ में विशाल जन-समुदाय पर अधिकार और शोषण करने का हथियार है अंग्रेजी।

२. अंग्रेजी विश्वभाषा नहीं है। फ्रेंच और स्पेनी भाषायें पहले से ही हैं और रूसी ऊपर उठ रही हैं। दुनिया की ३ अरब आबादी में ३० या ३५ करोड़ से, १० से १ के करीब, ज्यादा इस भाषा को सामान्य रूप से भी नहीं जानते। जैसे अपने-अपने समय में संस्कृत, पाली, अरबी, यूनानी या लातिनी लगता था विश्वभाषायें बन जायेंगी, किन्तु वे कभी बन नहीं सकीं, उसी तरह से, अंग्रेजी उतार पर आ गयी है, विशेषतः रूसी के विस्तार के कारण। अगर कभी कोई विश्वभाषा बनी, तो वह आज की कोई भी भाषा नहीं।

३. अपने क्षेत्र में अंग्रेजी लावण्यमयी भाषा है, फ्रेंच जितनी चरपरी नहीं, न ही जर्मन जितनी गहरी, पर ज्यादा परिमित, परिग्राही और उदार है। जब हम 'अंग्रेजी हटाओ' कहते हैं, तो हम यह बिलकुल नहीं चाहते कि उसे इंगलिस्तान या अमरीका से हटाया जाय और न ही हिन्दुस्तानी कालिजों से, बशर्ते कि वह ऐच्छिक विषय हो। पुस्तकालयों से उसे हटाने का सवाल तो उठता ही नहीं।

४- दुनिया में सिर्फ हिन्दुस्तान ही सभ्य देश है, यह समझ कर कि हम सभ्य हैं, जिसके जीवन का पुराना ढर्रा कभी खतम ही नहीं होना चाहता, अदालतें, प्रयोगशालायें, कारखाने, तार, रेलवई और लगभग सभी सरकारी और दूसरे सार्वजनिक काम उस भाषा में करते हैं, जिसे ९९% लोग समझते तक नहीं। वास्तव में, दुनिया में और कोई ऐसा सभ्य अथवा असभ्य देश नहीं है, जो ऐसा करता है। हिन्दुस्तान को छोड़ कर, अपने सार्वजनिक कार्य के लिए जिस किसी भी देश ने अंग्रेजी को अपनाया है, वह तभी जबकि उनकी अपनी भाषायें प्रायः समाप्त हो गयी हों, और अंग्रेजी चाहे जितने मिश्रित रूप में ही क्यों न हो, उनके बोलचाल की भाषा बन गयी हो। 'अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन' अपने देश के सार्वजनिक या सामूहिक जीवन से अंग्रेजी के इस्तेमाल को हटाना चाहता है। अभिव्यक्ति का माध्यम बन कर अंग्रेजी नहीं रह सकती। अतिरिक्त मेधा प्राप्त करने के लिए उसे अध्ययन का ऐच्छिक विषय रखा जा सकता है। सभी जानते हैं कि फ्रांस या जर्मनी में शेक्सपियर के साहित्य के महत्त्वपूर्ण विवेचक इसीलिए पैदा हुए कि उन्होंने शेक्सपियर का अंग्रेजी पाठ तो पढ़ा, पर उसका विवेचन किया अपनी भाषा में। हिन्दुस्तान में उनसे सैकड़ों या हजारों गुना ज्यादा शेक्सपियर-साहित्य के विद्वान हुए पर कोई भी महत्त्वपूर्ण नहीं हुआ, क्योंकि वे अभिव्यक्ति और मेधा का भी माध्यम अंग्रेजी रखते हैं।

५. कोई एक हजार बरस से हिन्दुस्तान में मौलिक चिन्तन समाप्त हो गया है। अबतक उसे पुनःजीवित नहीं किया जा रहा है। इसका एक बड़ा कारण है अंग्रेजी की जकड़न। अगर कुछ अच्छे वैज्ञानिक, वे भी बहुत कम और सचमुच बहुत बड़े नहीं, हाल के दशकों में पैदा हुए हैं, तो इसीलिए कि वैज्ञानिकों का भाषा से उतना वास्ता नहीं पड़ता जितना कि संख्या और प्रतीक से पड़ता है। सामाजिक शास्त्रों और दर्शन में तो बिलकुल शून्य है। मेरा मतलब उनके विवरणकारी अंग से नहीं बल्कि उनके आधार से है। इस शून्य का कारण इस तथ्य में मिलेगा कि भारतीय विद्वान जितना समय चिन्तन की गहराई और धीरता में [illegible] नहीं, तो कम-से-कम उतना ही

समय उच्चारण, मुहावरे और लच्छेदारी में लगा देते हैं। स्कूल-विद्यार्थी से लेकर विद्वान् तक जो मंच पर क्षण-भंगुर गर्व के साथ चौकड़ियाँ भरते हैं, उनके ज्ञान को अभिशाप लग गया है। भारतीय चिन्तन का अभिप्रेत विषय-ज्ञान नहीं, बल्कि मुहावरेदारी और लच्छेदारी बन गया है।

६. औद्योगीकरण करने के लिये, हिन्दुस्तान को १० लाख इंजीनियरों और वैज्ञानिकों और १ करोड़ मिस्तरियों की फौज की जरूरत है। जो यह सोचता है कि यह फौज अंग्रेजी के माध्यम से बनायी जा सकती है, वह या तो धूर्त हैं या मूर्ख। औद्योगीकरण के क्षेत्र में जापान और चीन या रूमानिया ने इतनी प्रगति की है, उसका, उनकी सुस्थित आर्थिक व्यवस्था के जितना ही बड़ा कारण यह भी है कि उन्होंने जनभाषा के द्वारा ही अपना सब काम किया। केवल व्यक्ति के लिए ही नहीं बल्कि समाज के लिए भी मन और पेट का एक-दूसरे पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। हमारे युग की यह एक महान् दुर्घटना है कि रंगीन देशों की, विशेषतः भारत की, वर्तमान विचारधारा में मन और पेट को बहुत ही विकृत ढंग से विच्छिन्न कर दिया गया है। देश के मन को साथ-ही-साथ यथोचित करने की कोशिश किये बिना कोई उसके पेट या आर्थिक व्यवस्था को यथोचित नहीं कर सकता।

७. हिन्दी या दूसरी भारतीय भाषाओं की सामर्थ्य का सवाल बिलकुल नहीं उठना चाहिए। अगर वे असमर्थ हैं, तो इस्तेमाल के जरिये ही उन्हें समर्थ बनाया जा सकता है। पारिभाषिक शब्दावली बनाने वाली या कोश और पाठ्य-पुस्तकें संग्रहीत करने वाली कमेटियों के जरिये कोई भाषा समर्थ नहीं बनती। प्रयोगशालाओं, अदालतों, स्कूलों और ऐसी ही जगहों में इस्तेमाल के द्वारा ही भाषा सक्षम बनती है। पहले-पहल उसके इस्तेमाल से कुछ झंझट हो सकती है, पर सामंती या अल्पमती भाषा से जो मुसीबत होती है, उससे हर हालत में ज्यादा नहीं होगी। पहले भाषा की स्थापना होती है और फिर उसका निखार होता है। इस प्रक्रिया को उलट देने से भारत ने अपने आपको मूर्ख बना डाला है। इस उलटी प्रक्रिया से भारतीय भाषाओं में अंग्रेजी के जितना निखार कभी नहीं आ सकता और इसीलिए उनकी स्थापना का सवाल कभी उठेगा ही नहीं। जबतक मूलभूत उपचार नहीं किया जाता, हमेशा एक तरफ बंगला, तमिल या हिन्दी और दूसरी तरफ अंग्रेज़ी के बीच विकास का अन्तर रहेगा। इन भाषाओं की स्थापना से वह अन्तर मिट सकता है, और ये भाषायें उस स्तर तक पहुँच सकती हैं जहाँ तुलना की जा सकती हो, और आज की दुनिया की सर्वाधिक आधुनिक और श्रेष्ठ भाषा के साथ भी अनुकूल ढंग से तुलना की जा सके।

८. हिन्दुस्तानी के दुश्मन वास्तव में बंगला, तमिल, या मराठी के भी दुश्मन हैं। अपने वर्चस्व और शोषण को कायम रखने की उच्च वर्गों की छटपटाहट जिस किसी ने देखी है, उसको पिछले दशक से यह बात बिलकुल साफ नजर आती है। जो लोग प्रान्तीयता के अस्पष्ट पर खतरनाक नारे लगाते हैं, ठीक उन्हीं लोगों ने बंगाल के कालिजों में बंगला को माध्यम बनाने के प्रयत्न पर हल्ला मचाया। मैंने यह बिलकुल साफ बतलाने की कोशिश की है कि 'अंग्रेज़ी हटाओ' का मतलब 'हिन्दी लाओ' नहीं होता। जो ऐसा चाहते हैं, उसका मतलब होता है तमिल या बंगला और इसी तरह दूसरी भाषाओं की स्थापना।

९. भाषा-समस्या पर कितना कम विचार किया गया है, यह इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि उत्तर और दक्षिण के बीच बेवकूफी का विरोध अभिव्यक्ति का स्थायी ढंग बन गया है और वास्तविकता से उसका बिलकुल मेल नहीं है। विरोध, अगर उसे विरोध कहा जाये, तो तट-सूबों और मध्य सूबों के बीच है। देश के तटीय इलाके हिन्दी के अतिरिक्त अन्य दूसरी भाषायें बोलते हैं। मध्य सूबे हिन्दी बोलते हैं। यहाँ मैं यह बतला दूँ कि उत्तर के स्कूलों में तमिल की लाजिमी पढ़ाई शुरू करने की कोशिश में नासमझ लोग हालत को और बिगाड़ रहे हैं, और बंगाली और मराठा अभी से भिन्ना रहे हैं कि उनकी भाषाओं को क्यों नहीं पढ़ाया जाये। बंगला, उड़िया, तेलुगू, तमिल, मलयालम, कन्नड़, मराठी और गुजराती तटीय भाषायें हैं। हिन्दुस्तानी मध्य सूबों की भाषा है और असमी गैरतटीय उत्तर-पूर्व की भाषा है। अगर जनरुचि पर ध्यान दिया जाये तो तटीय सूबों और मध्य-सूबों के बीच इस फर्क का कोई मतलब नहीं होता। वर्तमान झगड़ा विशुद्ध रूप से बनावटी है। दर-असल, यह झगड़ा फिर इसलिए खड़ा किया गया है कि तट-

सूबों और मध्यम-सूबों दोनों के उच्च वर्गों के स्वार्थ मेल खाते हैं। इसी स्वार्थ के मेल के कारण दोनों इलाकों के उच्च वर्ग अंग्रेज़ी को कायम रखने को माँग करते हैं। इसी तरह, सर्वसाधारण के हित में अंग्रेजी हटाने की माँग करनी चाहिए किन्तु, सर्वसाधारण लोग बोल नहीं पाते और अक्सर उन्हें आसानी से भटकाया जा सकता है।

१०. भारतीय जनता कैंची के बीच आ गयी है, उसकी एक धार तो है तट वालों का हिन्दी-साम्राज्यवाद का नारा और दूसरी है, देश की टूट का मध्य-सूबों का नारा। मैं यह नहीं कहना चाहता कि श्री नेहरू और श्री राजगोपालाचारी ने मिल कर यह नुस्खा निकाला, लेकिन विषय-निष्ठता से तो यही हुआ। दोनों इलाकों के उच्च वर्ग अंग्रेजी रखना चाहते हैं। हिन्दी-साम्राज्यवाद का नारा लगा कर तट वाले उच्चवर्ग अपनी जनता को धोखा देते हैं। राष्ट्रीय टूट का नारा लगा कर मध्य-सूबों के उच्च वर्ग अपनी जनता को धोखा देते हैं। मैं यह समझता हूँ कि मध्य-सूबों के उच्चवर्ग हिन्दुस्तानी के निस्बतन ज्यादा बड़े दुश्मन हैं, क्योंकि सब यह जानते हैं कि श्री राजगोपालाचारी अंग्रेजी के हिमायती हैं जबकि श्री नेहरू की चाल को बहुत कम लोग जान पाते हैं।

११. मोटे तौर पर हिन्दुस्तान के उच्चवर्ग अंग्रेजी राज्य के थैले के चट्टे-बट्टे हैं। भारतीय क्रान्ति की एक मात्र या शायद पिछले हजार बरसों के सभी राजनीतिक आन्दोलनों की असफलता ठीक इसी में है। उच्चवर्ग बरकन्दार रहता है जबकि राजा या वाईसराय खतम हो जाते हैं। यह सभी जानते हैं कि जनता की विशेषरूप से निम्न मध्यम-वर्ग, किसानों की लम्बी लड़ाई के बाद आजादी मिली, और उन्होंने राष्ट्रीय मामलों में हिन्दी और अपने सूबाई मामलों में अपनी-अपनी तटीय भाषाओं का इस्तेमाल किया। १९१९-२० में महात्मा गाँधी ने यह परिवर्तन किया। जिन लोगों ने अंग्रेजी राज की गुलामी की या जब उन्होंने प्रतिकार भी किया तो १९२० के पहले सहयोगवादी ढंग से ही किया, लेकिन उन्होंने अपने विशेषाधिकारों को, जिनमें भाषा भी है, आजादी के बाद भी कायम रखा। और, यही लोग यह कहकर बड़ा छल करते हैं कि अंग्रेज़ी भाषा से ही देश आजाद हुआ। शायद उनकी अपनी चालाकी ने उनका साथ नहीं दिया, बल्कि असल बात यह थी कि राष्ट्रीय आन्दोलन का उच्च नेतृत्व उन्हीं लोगों में से आया। आजादी की लड़ाई की भाषाओं की जगह सामन्ती वर्चस्व की भाषा ने ले ली है।

१२. वास्तव में उच्चवर्ग सम्पूर्ण रूप में पर्याप्त प्रभुत्व, प्रतिष्ठा या विलासिता नहीं भोगते, अपने लोगों से वे सिर्फ आनुषंगिक दृष्टि से श्रेष्ठ हैं। उनके अनुरूप यूरोपी या यूरोपी जनसाधारण की तुलना में भी, उनका जीवन-स्तर घटिया है। किन्तु अब कोई एक हजार बरसों से उनका दिमाग निष्कारण भय से जकड़ गया है। या तो वे अपने ही लोगों से डरते हैं या उन्हें हीन समझते हैं। इसलिये उनकी मनोवृत्ति रूढ़ हो गयी है। देश में व्यापक मनोवृत्ति की आवश्यकता है। अगर अपने पड़ोसियों के साथ बराबरी से रहना हो तो हमें सभी दिशाओं में आर्थिक मामलों में और ज्ञान में भी विस्तार करना है। लेकिन उच्चवर्ग ऐसे अनिश्चित विस्तार से डरते हैं और राष्ट्रीय उत्पादन की दयनीय कमी में भी वे अपने तुच्छ भाग को कायम रखने या बढ़ाने के लिये चिन्तित रहते हैं। मैं नहीं समझता कि उच्चवर्ग पूरी तौर पर इस रूढ़ मनोवृत्ति से छुटकारा पा सकेंगे। यही क्लेशकारी संकुचित स्वार्थ उच्चवर्गों को और उनके राष्ट्र को भी निम्न अवस्थाओं में पटक देता है। उनके युवकों या कम-से-कम उनके एक तबके को इसके खिलाफ उठाना चाहिये।

१३. अक्सर यह उपदेश सुनने को मिलता है कि लोगों को अंग्रेजी के प्रति प्रेम से विमुख करना चाहिये। सरकार के रुख को बदलने के बजाय, जनता की मनोवृत्ति बदलने की हमें सलाह दी जाती है। यह सलाह उपहासास्पद है। जबतक अंग्रेजी के साथ प्रतिष्ठा और सत्ता और पैसा जुड़ा हुआ है, तबतक, किसी सम्पन्न व्यक्ति से यह अपेक्षा करना कि वह अपने बच्चे को अंग्रेजी न पढ़ाये, बेवकूफी होगी। यहाँ पर मैं, हमारी आजादी के पहले दशक में शिक्षा के दुहरे प्रकार के जघन्य अपराध की ओर ध्यान खींचना चाहूँगा। निजी और 'मिशन' स्कूलों को बच्चे की पढ़ाई की शुरुआत से ही या माध्यम के रूप तक में, अंग्रेजी पढ़ाने की छूट है, जबकि मुनसीपल या सरकारी स्कूलों को कुछ नियमों से बाँध दिया गया है, जो अब ढीले पड़ते जा रहे हैं।

साधन या अधिकार सम्पन्न व्यक्तियों के बच्चे इन "फैन्सी" स्कूलों में पढ़ें। कम-से-कम प्राथमिक स्तर पर तो एक जैसे ही स्कूल होने चाहिये।

१४. विधायिकाओं के द्वारा सार्वजनिक इस्तेमाल से अंग्रेजी को हटाना अब मुमकिन नहीं है। यह तो सिर्फ जनता की क्रियाशीलता के द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि धारणायें जम गयी हैं। जन-आन्दोलन के सम्बन्ध में, तट-सूबों और मध्य-सूबों के बीच का फर्क बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। तट-सूबों के उच्च वर्ग हिन्दी-साम्राज्यवाद के नारे से अपने लोगों को धोखा दे सकते हैं, जो मध्य-सूबों के उच्चवर्ग साफ है, नहीं कर सकते और इसलिये मध्य-सूबों में मुख्यरूप से हमला करना चाहिये। मध्य-सूबों की जनता को न सिर्फ सूबाई स्तर पर, बल्कि जहाँ तक उनके अपने इलाकों का सवाल है, केन्द्रीय स्तर पर भी, जैसे फौज, रेलवई, तार इत्यादि से अंग्रेजी हटाने के लिए आन्दोलन और लड़ाई करनी चाहिये। केन्द्रीय काम-काज के लिए दो विभाग बनाये जा सकते हैं, एक हिन्दी और दूसरा अंग्रेजी का। जिन तट-सूबों की इच्छा हो, वे दिल्ली में अपने आपको अंग्रेजी-विभाग से सम्बद्ध कर सकते हैं। दिल्ली में मध्य-सूबों को तत्काल हिन्दी-विभाग के जरिये काम करना चाहिये। अगर गुजरात और महाराष्ट्र और दूसरे अन्य राज्य हिन्दुस्तानी-विभाग से सम्बन्ध करना चाहते हों तो नौकरियों इत्यादि में उनके इच्छानुसार सुरक्षा देते हुए उनका साभार स्वागत करना चाहिए।

१५. जबतक तट-सूबे पूर्व निर्दिष्ट तारीखों को नहीं मानते, दिल्ली को हिन्दी और अंग्रेजी के दो विभागों में बाँट देना आखिरी इलाज है, लेकिन ऐसा कि जिसे अभी इसी क्षण करना होगा। इस आधार पर कि सभी स्तरों पर हिन्दुस्तानी तत्काल शुरू हो, पिछले ५-६ वर्षों से तट-सूबों को वैकल्पिक परिरक्षण सुझाये गये हैं। तट-सूबों के लिए सभी केन्द्रीय गजटी नौकरियाँ १० बरसों तक सुरक्षित रखी जा सकती हैं। नहीं तो, आबादी के आधार पर स्थायी सुरक्षा दी जा सकती है। अगर इनमें से कोई भी सुझाव स्वीकार्य नहीं हो, तो बहुभाषी केन्द्र पर भी विचार किया जा सकता है। मुझे हमेशा ताज्जुब होता रहा कि भारतीय संसद में तमिल या बंगला बोलने की आज्ञा क्यों नहीं दी गयी और कानफोन के जरिये हिन्दी-अनुवाद क्यों नहीं किया गया। यहाँ मैं मध्य-सूबों के लोगों से सिफारिश करूँगा कि वे इस बात की चिन्ता न करें कि तट-सूबों में क्या होता है, सिवाय इसके कि सूबाई स्तर पर वहाँ से भी अंग्रेजी हटायी जाए। तट-सूबों को हिन्दी मनवाने की कोशिश बन्द हो जानी चाहिए, क्योंकि इससे और नाराजी और मनमुटाव होता है। उच्च न्यायालय, विश्वविद्यालय, मंत्रालय इत्यादि सार्वजनिक संस्थाओं से एक बार जैसे ही ये तट-सूबे सूबाई स्तर पर अंग्रेजी खतम कर देते हैं, दिल्ली में उनका हिन्दी-विभाग में प्रवेश करना सिर्फ समय की बात रह जायेगी। जैसे ही अंग्रेजी को हटा दिया जाएगा, मुझे विश्वास है कि मध्य-सूबों में ज्ञान और उद्योग का विकास बहुत तेजी से होगा। विकास की इस गति को देखकर तट-सूबों का मन होगा कि वे अपनी धारणा पर पुनर्विचार करें।

१६. अंग्रेजी को खतम करने की एक तारीख बाँध दी गयी थी। यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण घटना हुई। इसकी वजह से राष्ट्रीय ईमानदारी के स्रोतों में जहर घुल गया है। अंग्रेजी को हटाने की आवश्यकता के बारे में संविधान बिलकुल साफ है। अगर यह तर्क भी दिया जाए कि सूबों के उच्च न्यायालयों में अनेक प्रशासनिक और शैक्षणिक उलझनों के कारण १९६५ या इससे पहले की तारीख बाँधी गयी थी, हालाँकि वह गलत है, मैं कभी यह नहीं समझ पाता कि व्यक्तियों को हिन्दी सीखना क्यों नहीं सम्भव नहीं हुआ। राष्ट्रपतियों, उपराष्ट्रपतियों, मंत्रियों और संसद-सदस्यों ने, सबने संविधान के प्रति भक्ति की कसम खायी है। इस कसम के लिए राष्ट्र उन्हें पैसा देता है और बहुत-सा पैसा देता है। अपनी ही कसम के अनुसार अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी के इस्तेमाल से वे बँधे हुए हैं। इनमें से हर एक ६ महीने में या ज्यादा-से-ज्यादा एक बरस में हिन्दी सीख सकता था। संविधान के प्रति अपनी कसम को उन्होंने निर्लज्जता से तोड़ा है। ऐसा कसम-भंग फिर कभी नहीं होने देना चाहिए। यह तभी हो सकता है जबकि तारीखें न बाँधी जायें।

१७. १९६५ के बाद अंग्रेजी न रहे, ऐसा एक नया आन्दोलन खड़ा हो रहा है। जिस हद तक यह हो, वह अच्छा, पर इसमें कुछ खतरा भी है। एक मानी में यह पिछली गलती की पुनरावृत्ति ही है। तारीख बाँधने से सहमत

होने का मतलब होता है, इस बात को स्वीकार कर लेना कि भारतीय भाषायें अक्षम हैं या कि स्थिति जटिल है। ऐसे ही ये रियायतें की जाती हैं, तब फिर तारीख को लगभग अनिश्चित काल तक सरकाते रहना तफसील का मामला बन जाता है। फिर एक बार जनता के सामने तारीख की रेखा खींचने या कोई रेखा ही न हो के बीच फैसला करने की समस्या उठ जाती है। यह तो मानसिक अवस्था का सवाल है। जो यह माँग करते हैं कि अंग्रेजी उसी क्षण हटायी जाए—वे इस तथ्य को अच्छी तरह समझते हैं कि वे अपनी मांग को तब तक नहीं हासिल कर सकते जबतक उनके पास ताकत न हो। क्रान्ति को इसी क्षण प्राप्त करने वाली अवस्था में, वे बुनियादी तौर पर उन लोगों से अलग पड़ते हैं जो तारीख के साथ-साथ विकास करना चाहते हैं। पहले किस्म के लोग स्थापना चाहते हैं और बाद वाले विस्तार। और, तारीख कायम रखने वाले आन्दोलन पृष्ठ सेना के काम की तरह के होते हैं, जो दुश्मन के सामने लगातार समर्पण करते जाते हैं। अगर तारीख को सरकाने वाला, शायद अनिश्चित काल तक सरकाने वाला कानून संसद में पास हो जाये तो तारीखों वाले आन्दोलन क्या करेंगे। अब समय आ गया है कि जन-भाषाओं के देशभक्त बिना ओट के खुला और साफ मोर्चा लें। फिर भी, इसी क्षण अंग्रेजी हटाने वाले आन्दोलनकारी अगर तारीख वाले आन्दोलनकारियों की सभाओं और प्रदर्शनों में मदद करें तो अच्छा ही होगा। आखिर दोनों एक ही दिशा में तो जा रहे हैं। कुछ लक्ष्य के पहले ही रुक जाते हैं या उनके सामने यह स्पष्ट नहीं है कि उन्हें कहाँ जाना है।

१८. हिन्दी-प्रचारकों और अधिकांश हिन्दी-लेखकों का तो किस्सा ही अलग है। वे सरकारी नीति से इतने गुँथे हुए हैं कि कम-से-कम बाहरी रूप में वे उसके रक्षक बन जाते हैं। इनमें से अधिकांश को सरकार से या अर्धसरकारी संस्थाओं से पैसा मिलता है। इनमें से ज्यादा सचेत व्यक्ति चुप रह जाते हैं। इन हिन्दी-प्रचारकों और लेखकों में से बहुत बड़ी संख्या उनकी है जो हिन्दी की वंचक जबानी सेवा करके उसे बड़ा तिहरा नुकसान पहुँचाते हैं। आन्दोलन से खतम करने की बात के बजाय वे रचनात्मक काम की दुहाई देते हैं, इस आशा में कि धीरे-धीरे जगह मिल जायगी, वे हिन्दी को अंग्रेजी के साथ रख कर संतुष्ट हो जाते हैं, अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन की वे निन्दा करते हैं कि यह नकारात्मक है। दीर्घकाल से अंग्रेजी जनता के लिये साम्राज्यशाही भाषा रही है और हिन्दी को उसके साथ रखने से उसका साम्राज्य-शाही स्वरूप अहिन्दी-जनता के सामने आता है। यह कहना भी झूठ है कि आजादी के इन बरसों में अंग्रेजी कम होती गयी है। उसका तो विस्तार अद्‌भुत रूप से हुआ है। आजादी के पूर्व पहले साल में अंग्रेज़ी लाज़मी विषय के साथ जब ३ लाख से कम विद्यार्थी मैट्रिक की परीक्षा में बैठे थे, इस बरस १५ लाख बैठे और धीरे-धीरे संख्या बढ़ती जाती है। चाहे ज्ञान प्राप्त करने के लिये या चाहे ऊँचे ओहदे और पैसे के लिये—अंग्रेजी की ऐसी लाजमी जानकारी बहुत ही नाकाफी है, लेकिन अंग्रेज़ी जानकार में कुछ विकृतियाँ पैदा कर देने के लिये वह काफी है। अपने गैर-अंग्रेज़ी-जानकार रिश्तेदारों और लोगों को वह गँवार और हीन समझता है। चाहे कितनी ही नाकाफी या कम तनखा की क्यों न हो, उसे नौकरी मिल जाती है। इसका अपनी भाषाओं के प्रति आदर, विशेषतः हिन्दुस्तानी के प्रति आदर जो हमेशा कम होता है, गायब होने लगता है। संक्षेप में, उच्चवर्ग अंग्रेज़ी कायम रखने की साजिश में मैट्रिक-पास लोगों की इसी बढ़ती हुई फौज को कम किराये का टट्टू बना लेते हैं। दिन-पर-दिन अंग्रेजी के ऐसे विस्तार के खिलाफ तट-सूबों में हिन्दी-प्रचारकों का काम समुद्र में बूँद ही की तरह का है। अगर वे शैतान की कठपुतली न बन गये होते तो, फिर भी मैं उनके इस छोटे-से काम की तारीफ करता। यह कहना कि 'अंग्रेजी हटाओ' नकारात्मक है और कि भारतीय भाषाओं को विकसित करने का प्रयास सकारात्मक है, वही पुराना तर्क है जो बुराई के साथ सहयोग करने वाले सभी लोग दिया करते हैं। 'बंगला या हिन्दी बढ़ाओ' आन्दोलन बुराई की सीमा-रेखा नहीं खींचने, वहाँ सबका स्वागत होता है। 'अंग्रेज़ी हटाओ' आन्दोलन रेखा खींचता है, अच्छे और बुरे के बीच रेखा, सामन्ती और जन-भाषा के बीच रेखा। वे साहब लोग अपने-आपसे कभी यह सवाल पूछने की तकलीफ नहीं गवारा करते कि गाँधीजी के लगभग सभी आन्दोलन, विदेशी कपड़ों की होली जलाने से लेकर भारत छोड़ो तक के, नकारात्मक क्यों थे।

१९. कभी हिन्दी और कभी हिन्दुस्तानी को मैं इस्तेमाल करता हूँ और उर्दू के बारे में भी मैं वही कहना चाहूँगा। ये एक ही भाषा की तीन विभिन्न शैलियाँ हैं, वास्तव में सिर्फ दो। मुझे विश्वास है कि आगे के दो या तीन दशकों में ये आनुषंगिक हो जायेंगी। विशुद्धतावादियों और मेलवादियों को आपस में झगड़ने दो। लेकिन इन दोनों को "अंग्रेज़ी हटाओ" आन्दोलन के अंग बनने चाहिये, पर हमें सावधान रहना चाहिये कि अंग्रेज़ी कायम रखने की बहुत बड़ी साजिश चल रही है और सभी तरह के झगड़े वही खड़े करती है। आन्दोलन में इन तीनों शैलियों का स्वागत होना चाहिये, क्योंकि लाजमी तौर पर कोई रास्ता ज़रूर निकलेगा। परन्तु, पुनरुत्थानवादी आभास अवश्य रहेगा, क्योंकि जो अंग्रेज़ी हटाना चाहते हैं, उनमें से कुछ अपने अतीत की बातों से चिपटे रहने वाले भी हैं। हमें उनसे डरना नहीं चाहिये, क्योंकि वे खुद बहुत जल्दी ही महसूस करेंगे कि उनकी हिन्दी या मराठी या तमिल को उदार और चटपटी होना चाहिये, उतनी ही रसिकता की जितनी कि सौम्यता की वाहन, सत्य के लिये उतनी ही संश्लिष्ट जितनी कि चन्द्रमा की यात्रा के लिये, ऐसी भाषा जिसका परिवेष्टन या विस्तार ज्यादा-से-ज्यादा व्यापक हो, जो वास्तविकता के साथ अपनी सम्पूर्ण उत्पत्ति में लावण्य-मयी हो।

२०. हिन्दुस्तानी में ६ से ७ लाख शब्द हैं, जबकि अंग्रेज़ी में सिर्फ इससे आधे हैं। अंग्रेज़ी में समास बनाने की क्षमता खतम हो गयी है, जिसका मतलब होता है, नये शब्दों को गढ़ना, जबकि हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं पर यह बात नहीं लागू होती। दुनिया में भारतीय भाषाओं में सबसे ज्यादा सम्भाव्य सम्पन्नता है। लगातार उनकी अक्षमता की बात करते रहना महज बकवास है। दुनिया दिन-पर-दिन जटिल बनती जा रही है, और ऐसी दुनिया के मामलों में लम्बे अरसे तक गैर-इस्तेमाल के कारण उनके शब्दों के अर्थ निःसन्देह कुछ ढीले हैं। उन शब्दों और इन मामलों को फौरन गूंथना चाहिये। चाहे किसी कारण से क्यों न हो, देर करने से नुकसान होगा। पाठ्य-पुस्तकों की और अनुवाद की कमी का तर्क बेहद वाहियात है। आमतौर पर यह सही नहीं है। हर हालत में, कालेज-अध्यापकों की इतनी बड़ी फौज से, जो करीब एक लाख की होगी, कहा जा सकता है कि अनुवाद करो या बरखास्त हो जाओ। इच्छाशक्ति नहीं है। सम्भावनायें बहुत हैं। अंग्रेजी नहीं हटायी गयी, इसलिये नहीं कि भारतीय भाषायें निर्धन या अक्षम हैं, बल्कि इसीलिये कि अंग्रेजी हटाने की तबियत ही नहीं है।

२१. उच्चवर्ग के लोगों के रोज़-रोज़ चिल्लाने के विपरीत, अंग्रेज़ी राष्ट्र को तोड़ रही है। इसी भाषा के कारण, जिसके केन्द्र अन्यत्र हैं, हिन्दुस्तान सिर्फ सूबों और संसार को ही समझता है और राष्ट्र वाली बीच की कड़ी टूट गयी है। दिल्ली हिन्दुस्तान का सिर्फ प्रशासनिक केन्द्र है। अधिकांश हिन्दुस्तान, चाहे बम्बई, कलकत्ता या मद्रास हो, का सांस्कृतिक, बौद्धिक या आत्मिक केन्द्र और कहीं है। लन्दन अधिकांश लोगों के लिये बौद्धिक प्रेरणा का स्रोत है, जबकि ज्यादा शौकीन लोगों का है न्यूयार्क या अंग्रेजी-पेरिस ? कलकत्ता से मद्रास या और किसी जगह से और किसी जगह जाने का बौद्धिक रास्ता लन्दन के जरिये है। कौन किसको जोड़ेगा ? हिन्दुस्तान में प्रत्येक राज्य सीधे और अलग एक विश्व-केन्द्र से जुड़ रहा है, यह भी अनेक में एक सीमित केन्द्र से; सांस्कृतिक या बौद्धिक राष्ट्रीय केन्द्र तो कोई है ही नहीं। अगर भारतीय भाषायें मर गयी होतीं और हम एक प्रकार की अंग्रेजी को अपनी मातृभाषा बना लिये होते, दिल्ली तब हिन्दुस्तान की प्रशासनिक और सांस्कृतिक दोनों राजधानी बनने का प्रयत्न कर सकती थी। ऐसा हो नहीं सकता। बर्तानवी और अमरीकी सलाह के बावजूद अंग्रेजी साजिश शर्तिया असफल होगी। इस प्रक्रिया में वह राष्ट्र को ज़रूर तोड़ने की भरसक चेष्टा करेगी।

२२. बिना सोचे-समझे कभी-कभी मुझपर अपने ही पंथ के विपरीत काम करने का आरोप लगाया गया है, वह है अंग्रेजी भाषा में "मैनकाइंड" पत्रिका का प्रकाशन। अपने देशवासियों के लिये कोई भी सभ्य देश किसी विदेशी भाषा में दैनिक समाचार-पत्र नहीं प्रकाशित करता। भाषाओं में विचार, विज्ञान और मत की पत्रिकायें, और पुस्तकें भी, ज्यादा-से-ज्यादा सभी प्रकाशित करते हैं। अगर मैनकाइंड के प्रकाशन को नियमित करने और उसे बढ़िया बनाने के लिये हमारे पास पैसा होता — और हाँ, हिन्दी में मासिक 'जन' और साप्ताहिक 'चौखम्भा' के लिये भी — तो हिन्दुस्तान की और बराबरी और अहिंसा की नयी दुनिया की सच्ची आवाज कुछ

हद तक सारी दुनिया में सुनायी देती। विदेशी भाषाओं में दैनिक पत्र निकालने में कोई तुक ही नहीं है। देशभक्तों की सरकार बनी नहीं कि और तार और बेतार से अंग्रेजी का इस्तेमाल हटा नहीं कि अंग्रेजी में दैनिक समाचार-पत्रों की आँख का शूल रातों-रात खतम हो जायगा। भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों को बड़ी मुसीबत में काम करना पड़ता है, क्योंकि उन्हें अनुवाद जो करना पड़ता है। कोई भी सभ्य देश अपने तार और बेतार किसी विदेशी भाषा में नहीं रखता, जो जासूसी के लिये इतने सुगम हैं।

२३. सबसे बुरा तो यह है कि भारतीय जनता अंग्रेजी के कारण अपने को हीन समझती है। वह अंग्रेजी नहीं समझती इसलिये सोचती है कि वह किसी भी सार्वजनिक काम के अयोग्य है और वह मैदान छोड़ देती है। जनसाधारण के इस तरह मैदान छोड़ देने के कारण ही अल्पमत या सामन्ती राज्य की बुनियाद पड़ी। सिर्फ बन्दूक के जरिये नहीं, बल्कि ज्यादा तो गिटपिट भाषा के जरिये लोगों को दबा कर रखा जाता है। लोकभाषा के बिना लोक-राज्य असम्भव है। कुछ लोग यह गलत सोचते हैं कि उनके बच्चों को मौका मिलने पर वे अंग्रेजी में उच्चवर्गों जैसी ही योग्यता हासिल कर सकते हैं। सौ में एक की बात अलग है, पर यह असम्भव है। अपने घरों में उच्च-वर्ग अंग्रेजी का वातावरण बना सकते हैं और पीढ़ियों से बनाते आ रहे हैं। विदेशी भाषाओं के अध्ययन में जनता पुश्तैनी गुलामों का मुकाबिला नहीं कर सकती।

२४. अंग्रेजी हटनी चाहिये। जनता की कर्मठता से ही वह हट सकती है। जनता को धोखा देने की उच्चवर्गों की ताकत, अगर और कुछ नहीं, तो बढ़ रही है। जब ऐसी नासमझी जड़ हो जाती है, तो वैधानिक हल आसान नहीं होते और सिर्फ जनता की कर्मठता और त्याग से ही मत-परिवर्तन हो सकता है।

अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाने वाले अध्यापक को बोलने नहीं देने से लेकर विशेषतः सरकारी नामपटों को मिटाने तक के ऐसे अनेक काम जनता कर सकती है। थोड़े लोगों ने ऐसे कुछ काम किये भी हैं। ऐसे और काम करना जरूरी है। तीसरा अखिल भारतीय अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन हैदराबाद में १२ से १४ अक्टूबर तक हो रहा है। यह सम्मेलन अबतक कोई सक्रिय संगठन नहीं बना पाया। वह ऐसा तभी कर सकता है जबकि अंग्रेजी को इसी समय हटाने वाले सभी सक्रिय तत्त्व इसमें आयें। इन तारीखों पर हैदराबाद में इकट्ठा होने का सभी को प्रयत्न करना चाहिये। क्या मैं आशा करूँ कि इस सम्मेलन में ऐसे लोग जुटेंगे, जो विचार-विनिमय करने के साथ-साथ आवश्यक सक्रिय संगठन भी बना सकेंगे।

खड़ी बोली की काव्य-परम्परा में 'खड़ी बोली का पद्य'

श्री उमाशंकर

खड़ी बोली गद्य के रूप में ग्राह्य हो गई थी, पर पद्य में वह मान्य नहीं थी। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने यह सन् १८८३ ई० में मान लिया था कि खड़ी बोली में कविता करना बहुत ही कठिन है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया था कि खड़ी बोली की कविता करने में वे असफल रहे हैं। उनकी इस आत्मस्वीकृति के बाद यह मान लिया गया था कि खड़ी बोली में कविता नहीं हो सकती। इस तरह मान लेना भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उचित नहीं था। पर, इस स्थापना के विरोध में कुछ कहना आसान नहीं था। मगर, कुछ लोग मानते थे-खड़ी बोली में कविता हो सकती है। वे लोग गद्य और पद्य की भाषा एक चाहते थे। मगर, उस समय ऐसी स्थिति थी कि भारतेन्दु बाबू की स्थापना के विरोध कुछ कह सकें, कुछ बोल सकें। बोलने का अर्थ था—अपने को बलिदान करना। मौखिक नहीं, लिखित रूप में उनकी धारणा को खण्डित करने के लिए बलिदानी ने खड़ी बोली का पद्य-संग्रह प्रकाशित किया। वह ग्रन्थ राष्ट्र-भारती के मार्ग का प्रथम मील-स्तम्भ है। उस पुस्तक के निकलते देर नहीं हुई, उसके विरोध में आन्दोलन आरम्भ हो गया। भारतेन्दु बाबू को दुहाई देकर उस पुस्तक के विरोध में आन्दोलन आरम्भ हुआ। 'खड़ी बोली का पद्य' के संकलनकर्त्ता ने खड़ी बोली के विरोधियों के तर्कों का खण्डन करते हुए ८ अप्रैल १८८८ ई० के हिन्दुस्तान में लिखा 'ब्रजभाषा कविता के पक्षपाती बाबू हरिश्चन्द्र की दुहाई देते हैं, इसलिए बाबू हरिश्चन्द्र के वचन का खण्डन होना आवश्यक है, बाबू हरिश्चन्द्र ईश्वर नहीं थे, उनको शब्द-शास्त्र (फिलोलाजी) का कुछ भी बोध नहीं था, यदि उन्हें फिलोलाजी का ज्ञान होता तो वह खड़ी बोली में पद्य रचना नहीं हो सकती है, ऐसा नहीं कहते।"

भारतेन्दु को उनके ही युग में यह कहनेवाला कि उन्हें शब्द-शास्त्र का ज्ञान नहीं था, वह साधारण प्रतिभा का व्यक्ति नहीं हो सकता। वह था भी नहीं, उसे आज पूना विश्वविद्यालय के डॉ० भगीरथ मिश्र खड़ी बोली के लोकमान्य तिलक मान रहे हैं, और काशी विश्वविद्यालय के आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र उसे खड़ी बोली का गाँधी मानते हैं। पर, उस व्यक्ति को पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने साहित्य के इतिहास में माना है, वे भाषा-तत्व के जानकार न थे। उनके विचारों के लिए 'सड़े-गले ख्याल' शब्द का उन्होंने प्रयोग किया है। पर, उसी व्यक्ति की राय राष्ट्र की राय हुई।

वह व्यक्ति कौन था? उसका नाम आज गौरव के साथ सारा देश ले रहा है—वह अयोध्या प्रसाद खत्री थे। उन्होंने खड़ी बोली हिन्दी की विभिन्न शैलियों की पद्य-रचनाओं का संग्रह 'खड़ी बोली का पद्य' पहिला भाग शीर्षक से १८८७ ई० में प्रकाशित किया था। उसका दूसरा संस्करण डब्लू० एच० एलेन ऐण्ड को० लन्दन से बड़ी सज-धज के साथ प्रकाशित हुआ था। पिकोट महोदय ने उस पुस्तक का सम्पादन किया। उसका तीसरा संस्करण मुजफ्फरपुर में स्थित 'अयोध्या प्रसाद खत्री स्मृति-समिति' ने सन् ५६ में प्रकाशित किया है। उस पुस्तक का 'आमुख' लिखने का गौरव मुझे मिला था।

खत्रीजी सचमुच में एक बहुत बड़े साहित्यिक नेता थे। उन्होंने १६ वीं सदी के साहित्यिक उथल-पुथल के युग में एक सच्चे साहित्यिक कर्णधार जैसे कार्य किया है। जिस समय हिन्दी-उर्दू का द्वन्द्व अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था तथा हिन्दी के अन्तर्गत ही गद्य और पद्य भी, दो प्रचलित भाषाओं को लेकर तू-तू मैं-मैं का होड़ मचा हुआ था, उस समय एक जागरूक साहित्यिक नेता के रूप में खत्रीजी ने 'खड़ी बोली का पद्य' दो भागों में प्रकाशित कर उन विरोधों को दूर करने की चेष्टा की थी। अन्त में वे अपने प्रयास में सफल भी हुए। उस समय साम्राज्यवादियों की भेदनीति भी भाषा के प्रश्न

हमारे नये प्रकाशन

नदी (उपन्यास) —विश्वम्भर मानव ३.००

यह एक संवेदनशील कलाकार के जीवन की ऐसी ट्रेजिडी है जो आधुनिक युग के ज्वलंत प्रश्नों को नये परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करती हुई आपके मर्म को छू लेती है।

गीला बारूद (उपन्यास) —नानक सिंह ५.००

जीवन के कड़े सत्यों पर आधारित यह श्रेष्ठ उपन्यास हमें एक ऐसी दृष्टि प्रदान करता है जिससे हम पाप और दरिद्रता के संसार में पले हुए इन्सानों के जीवन का एक नया पक्ष देखने में समर्थ हो पाते हैं।

सोने के दाँत (हास्य-व्यंग्य) —डॉ० संसारचन्द्र २.५०

यह हास्य-व्यंग्य के चौदह निबंधों का संग्रह है, जिसकी विशेषता है शिष्ट हास्य। व्यंग्य कहीं भी फूहड़ और अशिष्ट नहीं हो पाता और हास्य में कहीं भी सस्तापन नहीं आता।

हिन्दी साहित्य में काव्यरूपों के प्रयोग

—शंकरदेव अवतरे १२.००

इस ग्रंथ में साहित्य को आलोचनात्मक प्रयोगों के माध्यम से समझाया गया है। बड़े-बड़े आचार्यों की आलोचना इस ग्रंथ में हुई है फिर भी लेखक की पूर्ण निष्ठा तात्त्विक विवेचन में रही है। साहित्य के विद्यार्थियों के लिए विशेष रूप से उपयोगी अपने ढंग का प्रथम मौलिक निष्पक्ष ग्रंथ जो प्रत्येक दृष्टि से संग्रहणीय है।

को लेकर भारत को दुर्बल से दुर्बलतर बनाने का कार्य कर रही थी। खत्रीजी की दूरदेशी दृष्टि ने इसे पहले ही भाँप लिया था। अतः हिन्दी की शैलियों के अन्तर्गत उन्होंने उर्दू को सम्मिलित कर न केवल 'खड़ी बोली का पद्य' के द्वारा खड़ी बोली में कविता रचने का आन्दोलन ही किया था, अपितु हिन्दू-मुस्लिम-एकता की नींव भी मजबूत की थी।

'खड़ी बोली का पद्य' की भूमिका में अयोध्या प्रसाद खत्री ने अपनी भाषा-नीति को स्पष्ट किया है। वे ब्रजभाषा को खड़ी बोली से भिन्न भाषा मानते थे और उर्दू को हिन्दी की एक शैली। इन्हीं दो मान्यताओं को लेकर वे साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुए थे। उनकी राष्ट्रीय चेतना ने ही सम्भवतः उनकी मान्यताओं को प्रतिक्रियात्मक रूप दिया था। पिंकाट ने जो उनके सम्बन्ध में लिखा है—'In fact he proposes a compromise'. शायद खत्रीजी की राष्ट्रभक्ति से अनभिज्ञ होने के कारण ही। खत्रीजी ने कभी समझौते का स्वप्न भी नहीं देखा था। उनके सामने तो सुलह का प्रश्न ही नहीं था, प्रश्न था राष्ट्रीय एकता का, जिसके लिए खड़ी बोली ही एकमात्र साधन थी। 'खड़ी बोली का पद्य' के द्वारा उन्होंने इसी विचारधारा का प्रचार किया। इस ग्रन्थ के द्वारा उन्होंने प्रथम-प्रथम शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से खड़ी बोली हिन्दी को काव्य-भाषा का स्वरूप देने का आन्दोलन किया है।

'खड़ी बोली का पद्य' जब प्रकाशित हुआ तब खत्रीजी ने उसकी एक प्रति ग्रियर्सन साहब के पास भेजी थी। उन दिनों वे गया के कलक्टर थे। उन्होंने खत्रीजी को गया से ८ सितम्बर, १८८८ ई० को एक पत्र लिखा था जिसमें उन्होंने लिखा था "मेरी आलोचना आपके लिए निरर्थक होगी; मेरी दृढ़ धारणा है कि खड़ी बोली में कविता लिखने के सभी प्रयास विफल होंगे। कुछ वर्ष पूर्व काशी के बाबू हरिश्चन्द्र ने इसपर पूरी तरह से विचार किया है, उनके विचार से मैं सहमत हूँ। उनके तर्कों को मैं सर्वथा उचित मानता हूँ।" इसी प्रकार का विचार पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने भी श्री अयोध्या प्रसाद खत्री की पुस्तक 'खड़ी बोली का पद्य' की आलोचना

करते हुए अपने पत्र 'ब्राह्मण' में लिखा था : "आधुनिक कवियों के शिरोमणि भारतेन्दुजी ही से जब यह कार्य न हो सका तो यह निष्फल है।"

अयोध्या प्रसाद खत्री द्वारा 'खड़ी बोली का पद्य' में संकलित कविताओं की आलोचना किसी ने नहीं की। उसमें बिहार-निर्माता श्री महेशनारायण की कविता भी संकलित है। उस कविता में छायावाद, प्रयोगवाद, नई कविता आदि का उत्स हम खोजते हैं। सभी वादों ने बहुत कुछ ग्रहण किया है, पर उस कवि पर उनका ध्यान नहीं गया। आलोचना का आधार खत्रीजी द्वारा व्यक्त की गई उनकी भाषा-नीति थी। ब्रजभाषा के अनन्य सेवी राधाचरण गोस्वामी ने सबसे पहले खत्रीजी की भाषा-नीति का विरोध ११ नवम्बर १८८७ के 'हिन्दुस्तान' में एक पत्र द्वारा किया, जिसमें उन्होंने लिखा—"आजकल हमारे कई भाइयों ने इस बात का आन्दोलन आरम्भ किया है कि जैसी हिन्दी में गद्य लिखा जाता है, वैसी ही

हिन्दी में पद्य भी लिखा जाय। पर इस प्रकार की भाषा में छन्द-रचना करने में कई आपत्ति है। प्रथम तो भाषा के कवित्त, सवैया आदि छन्दों में ऐसी भाषा का निर्वाह नहीं हो सकता, तब भाषा के प्रसिद्ध छन्द छोड़कर उर्दू के बैत, शेर, गजल आदि का अनुकरण करना पड़ता है, पर फारसी शब्दों के होने से उसमें भी साहित्य नहीं आता।" गोस्वामीजी ने आगे चलकर कहा था—"तब ब्रजभाषा के इतने बड़े अमूल्य रत्न-भंडार को छोड़कर नए कंकड़-पत्थर चुनना हिन्दी के लिए कुछ सौभाग्य की बात नहीं है; परन्तु इस ब्रजभाषा के भंडार को निकाल देने से फिर हिन्दी में क्या गौरव की सामग्री रह जायेगी। ... भाषा-साहित्य की रीति और अलंकार आदि बिना जाने कविता लिखने का आरम्भ करके आपने हास्य के सिवा काव्य की उलटे छूरे से खूब हजामत की है।" गोस्वामीजी ने उसी आलोचना में 'खड़ी बोली का पद्य' में संकलित कविताओं के लिए संज्ञा देते हुए कहा था—"खड़ी बोली की कविता पिशाची नहीं तो डाकिनी अवश्य कवि-समाज में मानी जायेगी।"

'खड़ी बोली का पद्य' के समर्थन में श्रीधर पाठक ने गोस्वामीजी के तर्कों का खण्डन करते हुए 'हिन्दुस्तान' में २० दिसम्बर, १८८७ को लिखा—"घनाक्षरी सवैया इत्यादि के अतिरिक्त अनेकों छन्द ऐसे हैं जिनमें खड़ी बोली की कविता बिना कठिनाई और बड़ी सुघराई के साथ हो सकती है।...खड़ी बोली में कई कारणों से कविता की विशेष आवश्यकता है।...यह खड़ी बोली इतनी प्रचलित है कि भारतवर्ष के सब कंठों में थोड़ी समझी जाती है। यूरोपियन इसे यहाँ की 'Lingua France' समझते हैं।"

गोस्वामीजी ने पुनः 'खड़ी बोली का पद्य' के समर्थन में, पाठकजी ने जो तर्क प्रस्तुत किये थे, उनका प्रतिवाद करते हुए १५ जनवरी १८८८ के हिन्दुस्तान में लिखा था—"खड़ी बोली में कविता करने की लालसा उन्हीं लोगों को विशेष होती है, जो ब्रजभाषा में न कविता कर सकते और न काव्य के तत्त्वों को जानते हैं।" अपने भय को प्रकट करते हुए उन्होंने कहा, "यदि खड़ी बोली की कविता की चेष्टा की जायेगी तो फिर खड़ी बोली के स्थान में थोड़े दिनों में खाली उर्दू की कविता का प्रचार हो जाएगा। इधर सरकारी पुस्तकों में फारसी शब्द घुस ही पड़े, उधर पद्य में फारसी भी भरी गई तो सहज ही झगड़ा निबहा।"

गोस्वामीजी के तर्कों को स्वीकार कर लेना, पाठकजी को गवारा नहीं था। उन्होंने ३ फरवरी १८८८ के 'हिन्दुस्तान' में पुनः गोस्वामीजी के तर्कों का खण्डन करते हुए लिखा--"खड़ी बोली की लालसा आप जिनको कहते हैं उनको नहीं वरन् उन लोगों को होती है जो खड़ी हिन्दी के सच्चे हितैषी हैं, जो उस भाषा के गद्य की गद्दी पर पद्य की पदवी भी पहुँचाया चाहते हैं।" और, अन्त में उनके उर्दू-भय का निराकरण करते हुए लिखा—"खड़ी हिन्दी की कविता में उर्दू नहीं घुसने पायेगी। जब हम हिन्दी की प्रतिष्ठा के परिरक्षण में सदा सोचते रहेंगे तो उर्दू की ताब क्या जो चौखट के भीतर पाँव रख सके। ...हिन्दी के गद्य या पद्य की उन्नति हम लोगों पर निर्भर है, सर्कार पर नहीं।" पाठकजी ने 'खड़ी बोली का पद्य' में संकलित कविताओं को दृष्टि में रखकर उस पत्र में भविष्यवाणी भी की थी कि "इसके (खड़ी बोली के) गद्य में वह गुण आवेंगे जो ब्रजभाषा के उत्तमोत्तम पद्य में नहीं हैं, और इसके काव्य में वह मनोहारिता होगी जिसका हमें अनुभव भी नहीं है।"

वाद-विवाद का अन्त करने के लिए गोस्वामीजी ने २३ मार्च १८८८ ई० के हिन्दुस्तान में लिखा-"यह विषय (खड़ी बोली में कविता) सर्वसाधारण का है। इसके निर्णय के लिए सब विद्वानों का मत लेना चाहिए। अतएव एक सभा 'कविता-विचारणी' नाम से नियत हो।" पाठकजी ने ४ अप्रैल १८८८ ई० के अपने पत्र में मान लिया था कि सभा की कोई आवश्यकता नहीं। अयोध्या प्रसाद खत्री ने भी गोस्वामीजी को लिखा था—"सभा अभी नहीं हो सकती। मैं अपनी हजार-पाँच सौ पुस्तकें (खड़ी बोली का पद्य) पहिले पश्चिमोत्तर देश के विद्वानों को बाँट दूँ, तब सभा होगी।"

गोस्वामीजी ने अपने पत्र में, ११ अप्रैल १८८८ को जो 'हिन्दुस्तान' में प्रकाशित हुआ था, यह विचार व्यक्त किया था—"हिन्दी की उन्नति चाहनेवालों में परस्पर

विरोध होना उचित नहीं है। इस झगड़े को आगे बढ़ाना हानिप्रद है।" पर खेद की बात यह हुई कि विरोध का अन्त नहीं हुआ। पण्डित श्री प्रतापनारायण मिश्र ने अपने पत्र 'ब्राह्मण' में खत्रीजी के प्रयत्नों को व्यर्थ बताते हुए लिखा था कि "आधुनिक कवियों के शिरोमणि भारतेन्दुजी ही से जब यह कार्य नहीं हो सका तो यह यज्ञ निष्फल है।" उन्होंने खड़ी बोली की तुलना बाँस से और व्रजभाषा की तुलना 'ईख' से करते हुए तथा खड़ी बोली की छन्द-सम्बन्धी असुविधा की ओर संकेत करते हुए कहा—"कवियों को क्या पड़ी है कि किसी को भी समझाने को अपनी बोली बिगाड़ें।" पण्डित शिवलाल शर्मा भी भारतेन्दुजी के खड़ी बोली सम्बन्धी विचार, कि "खड़ी बोली में कविता नहीं हो सकती है," को अपना सिद्धान्त-सूत्र बनाकर मैदान में आ डटे।

ग्रियर्सन, राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र और शिवनाथ शर्मा आदि ने 'खड़ी बोली का पद्य' के विरोध में जो आलोचनाएँ कीं, उससे खड़ी बोली का आन्दोलन आरम्भ हो गया। सन् १८८७ से १८९० तक उस पुस्तक के पक्ष और विपक्ष में जितना लिखा गया, हिन्दी में शायद किसी पुस्तक पर इतना नहीं लिखा गया है। 'खड़ी बोली का पद्य' के सम्बन्ध में जो आक्षेप किये गये थे, उन आक्षेपों का उत्तर पण्डित भुवनेश्वर मिश्र ने 'खड़ी बोली आन्दोलन की भूमिका' में कहा है--"विशुद्ध हिन्दी-साहित्य के पद्य-विभाग का संस्कार आवश्यक समझ कर बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री ने कई सौ रुपये खर्च करके इस अभिप्राय से इस पुस्तक को छपवाया था और बिना मूल्य तथा बिना डाक-महसूल हिन्दी-रसिकों के बीच वितरित किया था कि लोगों का ध्यान खड़ी बोली पद्य की ओर झुके और इस विषय में आन्दोलन होये।...गोस्वामीजी को यह तो अवश्य स्वीकार करना होगा कि इस पुस्तक के द्वारा लोगों का ध्यान खड़ी बोली पद्य की ओर झुका और जैसा आन्दोलन इस पुस्तक (खड़ी बोली का पद्य) के द्वारा हुआ, वैसा हिन्दी-साहित्य के इतिहास में और किसी पुस्तक के द्वारा नहीं हुआ।"

'खड़ी बोली का पद्य' लुप्तप्राय हो गया था। अयोध्या प्रसाद खत्री स्मृति-समिति में हमने निश्चय किया कि इस पुस्तक को पुनः मुद्रित किया जाय। साथ-ही-साथ हमने यह भी निश्चय किया कि बिना मूल्य पहले जिस प्रकार इस पुस्तक को खत्रीजी ने वितरित किया था, उसी प्रकार बिना मूल्य के ही इस पुस्तक को वितरित किया जाय। पुस्तक प्रकाशित होने पर हमने इसका मूल्य 'खत्रीजी के प्रति श्रद्धा' रखा। उसकी हजारों प्रतियाँ बाँटी गईं। एक स्वर से सारे हिन्दी-संसार ने उन्हें अपना सम्मान दिया। अपने युग के उपेक्षित साहित्यकार अयोध्या प्रसाद खत्री 'खड़ी बोली का पद्य' के लिए हमारे युग में भारतेन्दु और महावीर प्रसाद द्विवेदी के बीच की कड़ी हैं। आज हम यह मानते हैं कि भारतेन्दुजी ने काव्य-क्षेत्र में भावगत क्रान्ति की है, तो खत्रीजी ने भाषागत क्रान्ति की है। भारतेन्दुजी ने जिस पहलू को छोड़ दिया था, उसपर खत्रीजी ने जमकर विचार किया है। और, हम यह भी मानते हैं कि खत्रीजी के समय और द्विवेदीजी के आगमन के पूर्व ही खड़ी बोली सम्बन्धी वाद-विवाद समाप्त हो चुका था और व्रजभाषा के अनेक उत्कृष्ट कवि, राय देवीप्रसाद पूर्ण भी, खड़ी बोली में कविता करने लगे। 'खड़ी बोली का पद्य' पुस्तक के द्वारा उस समय एक नवीन चेतना उत्पन्न हुई थी। राष्ट्र-भारती के लिए पहला प्रगतिशील कदम उस पुस्तक द्वारा उठाया गया था। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उस पुस्तक का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। उस पुस्तक के चलते राष्ट्र-भारती के मन्दिर में अयोध्या प्रसाद खत्री का नाम अमर रहेगा।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार डीजिक ने लिखा है; "जनश्रुतियाँ भी व्यर्थ में ही नहीं बन जाया करतीं, उनका भी कुछ-न-कुछ आधार होता है, इन जनश्रुतियों एवं किंवदन्तियों के गर्भ से भी अनेक बार ऐतिहासिक पृष्ठ निकले हैं। × × × × जो इतिहास-लेखक देश की किंवदन्तियों को उपेक्षणीय मान लेते हैं; वे तथ्य की वास्तविकता को ग्रहण नहीं कर पाते।"

नई सस्ती, सुन्दर, सुरुचिपूर्ण

प्रत्येक का मूल्य

१—दरवाज़े खोल दो	(उपन्यास)	कृशनचन्दर
२—अशू	"	अमृता प्रीतम
३—आस निरास	"	राजबहादुर सिंह
४—हृदय की परख	"	आचार्य चतुरसेन
५—बेबसी	"	वसन्त कानेटकर
६—लहराते आंचल	(शायरी)	प्रकाश पण्डित
७—चन्द्रनाथ	(उपन्यास)	शरतचन्द्र
८—दुर्गेशनन्दिनी	"	बंकिमचन्द्र

स्थानीय पुस्तक-विक्रेताओं और रेलवे बुक स्टालों से प्राप्य
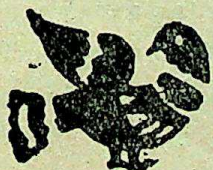
हिन्द पॉकेट बुक्स, प्रा० लि०,
जी० टी० रोड, शाहदरा, दिल्ली—३२

लघु-कथा

श्री श्यामसुन्दर घोष

लघु-कथा छोटी कहानी का अति संक्षिप्त रूप है। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से लघु-कथा और छोटी कहानी दोनों एक ही साहित्य-रूप का बोध कराते हैं। अंग्रेजी में कहानी को शार्ट स्टोरी और लघु-कथा को शार्ट-शार्ट स्टोरी कहा जाता है, जिससे दोनों के आकार-भेद का ज्ञान भले ही होता हो लेकिन तात्त्विक भेद पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

कहानी में जीवन के किसी खंडविशेष को प्रकाशित करने की चेष्टा की जाती है जिसके लिए संक्षिप्त कथानक का निर्माण करना होता है जिसमें घटनाएँ और चरित्र आदि होते हैं। लेकिन लघु-कथा के लिए यह सब आवश्यक नहीं है। उसका लक्ष्य जीवन के किसी मार्मिक सत्य का प्रकाशन होता है जो बहुधा उस ढंग से अभिव्यक्त होता है जैसे बिजली कौंधती है। लघु-कथाओं में घटनाएँ और चरित्र आदि कहानी की तरह सुनियोजित ढंग से हों ही, यह आवश्यक नहीं। वहाँ तो अत्यल्प साधनों द्वारा ही जीवन के चरम सत्य को उजागर करने की चेष्टा की जाती है।

लघु-कथाओं का प्रारम्भ कबसे हुआ यदि इसपर विचार किया जाय तो मानना होगा कि इसकी जड़ आधुनिक कहानियों की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। जिस प्रकार कहानियों का एक अत्याधुनिक रूप है जो उसके प्राचीन रूप से नितान्त भिन्न है और आधुनिक युग की उपज है उस प्रकार लघु-कथाओं का कोई अत्याधुनिक रूप नहीं है जिसके बारे में दावा किया जाय कि यह वर्तमान युग की देन है और प्राचीन साहित्य में उल्लिखित लघु-कथाओं से भिन्न है। इस बात को ध्यान में रखकर यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार छोटी कहानियों ने विकास का एक लम्बा पथ तय कर अपने को प्राचीन आख्यायिकाओं से एकदम भिन्न प्रमाणित किया वैसा लघु-कथाएँ नहीं कर सकीं। इसका कारण सम्भवतः यह है कि कहानियों में जीवन का यथार्थ जितनी सफलता से व्यक्त हो सकता है उतनी सफलता से लघु-कथाओं में नहीं व्यंजित होता। एक तो इसका आकार छोटा होता है, जिसके कारण वर्णन और विश्लेषण की गुंजाइश कम होती है, दूसरे संकेतात्मकता और वेधकता पर यह कहानी की अपेक्षा अधिक ध्यान देती है।

लघु-कथाओं में बहुत-कुछ राह सुझाने का भाव होता है, जबकि छोटी कहानियाँ पाठकों के सामने जीवन का एक संक्षिप्त चित्र प्रस्तुत करती हैं। चितेरे और अंगुलि-निर्देशक में जो अंतर होता है वही अंतर कहानियों और लघु-कथाओं में है। कहानी चित्र के माध्यम से जीवन के किसी सत्य को संकेतित करती है, लेकिन इसके लिये वह एक विश्वसनीय वातावरण तैयार करती है, जबकि लघु-कथाएँ वातावरण-निर्माण के लिए बहुत सचेष्ट नहीं होतीं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि यदि कहानियाँ गाँव-घर से होकर गुजरनेवाली गली हैं तो लघु-कथाएँ निर्जन-सुनसान से होकर गुजरनेवाली पगडंडी हैं। दोनों का लक्ष्य एक है, लेकिन वातावरण की भिन्नता ही उनके रूप को अलग करती है।

कहानियों का जीवन के यथार्थ से कुछ ऐसा गठबंधन हो गया है कि उसके बिना वह बहुधा श्रीहीन विधवा-सी मालूम होती है। वह अधिकतर ऐसी घटनाएँ और प्रसंग चुनती है जो हमारे लिए चिर-परिचित होते हैं या जिनका अस्तित्व भौतिक जीवन और जगत के बीच होता है; निरी काल्पनिकता की गुंजाइश यहाँ कम है। सूरज, चाँद, सितारे, कलियाँ, निर्झर, पेड़-पौधे, वन-पर्वत आदि को आधार बनाकर कहानियाँ प्रायः नहीं लिखी जातीं। वे या तो सामाजिक राजनीतिक होती हैं या मनोवैज्ञानिक ऐतिहासिक। लेकिन लघु-कथाओं के साथ कहानियों की-सी शर्तें अनिवार्य नहीं हैं। वह सूरज, चाँद, सितारों, कलियों, पेड़-पौधों और वन-पर्वतों को लेकर चल सकती है।

लघु-कथाओं को हम प्राचीन बोध-कथाओं के बहुत समीप पाते हैं। प्राचीन बोध-कथाओं में जो संकेतात्मक

उपदेशात्मकता होती है वह बहुधा आज की लघु-कथाओं में भी है। इस दृष्टि से वे या तो राह सुझानेवाली होती हैं या आँखें खोलनेवाली। आँखें खोलनेवाली लघु-कथाएँ राह सुझानेवाली लघु-कथाओं से निश्चय ही अच्छी मानी जाती हैं क्योंकि उनमें अधिक तटस्थता होती है। फिर भी दोनों में मात्रा का ही अंतर है, प्रकार का नहीं।

संक्षिप्तता कहानियों के लिये भी जरूरी है और लघु-कथाओं के लिए भी। लेकिन कहानियों की संक्षिप्तता का एक औचित्य होता है। आत्यंतिक संक्षिप्तता वहाँ अभीष्ट नहीं है क्योंकि उससे कहानी के आकार को उभरने में कठिनाई होती है। इस संबंध में वेल्स का 'द कन्ट्री ऑफ द ब्लाइन्ड्स' की भूमिका में उल्लिखित कथन ध्यान देने योग्य है। उसमें कहानी के लिये पन्द्रह से लेकर पचास मिनट तक में पढ़े जाने की शर्त रखी गई है। लघु-कथाओं के लिये इतना समय जरूरत से अधिक है। वह तो दो-तीन मिनटों से लेकर पाँच-सात मिनटों में आसानी से पढ़ी जा सकती है।

लघु-कथाओं में अतिकल्पना का खुलकर प्रयोग होता है। इस दृष्टि से पंचतंत्र का आदर्श उसके लिये अनुकरणीय है। यथार्थ जीवन में पेड़-पौधे, फूल-पत्ते, नदी, निर्झर जैसे भौतिक पदार्थ जड़ और अचेतन समझे जाते हैं। लेकिन लघु-कथाओं में ये सभी सजीव हो जाते हैं और पात्रत्व धारण करते हैं। उनके माध्यम से बहुधा ऐसे सत्य प्रकाशित होते हैं जो मोहन-सोहन या लीला-शीला जैसों के पात्र होने पर कठिनाई से व्यक्त होते।

लघु-कथाओं के विकास में नैतिक और धार्मिक दृष्टान्तों का बहुत योग रहा है। ऐसे दृष्टान्त ही बहुधा लघु-कथाओं का रूप धारण कर लेते हैं। लेकिन यह बात सभी लघु-कथाओं के बारे में सही नहीं है। जिस प्रकार कहानियों के कई प्रकार निश्चित हो सकते हैं उसी प्रकार लघु-कथाओं के भी कई वर्ग निर्धारित किये जा सकते हैं। सुविधा के लिये हम उनको दो वर्ग कर लेते हैं—दृष्टान्त-मूलक लघु-कथाएँ और अनुभव-मूलक लघु-कथाएँ। दृष्टान्त-मूलक लघु-कथाओं में किसी दृष्टान्त का आश्रय लेकर अभीष्ट सत्य का मार्मिक कथन किया जाता है। इसके विपरीत अनुभव-मूलक लघु-कथाओं में कोई प्रत्यक्ष दृष्टान्त तो नहीं होता लेकिन अनुभव का आश्रय लेकर कोई सत्य विश्वसनीय ढंग से प्रकाशित होता है।

लघु-कथाओं से कभी-कभी ऐसी कहानियों का बोध ग्रहण किया जाता है जो होती तो हैं कहानियाँ ही लेकिन आकार में छोटी होने के कारण आलोचकों द्वारा लघु-कथाएँ मान ली जाती हैं। यह सम्भवतः उस भ्रांत धारणा के कारण होता है जिसमें माना गया है कि छोटी कहानी और लघु-कथा में तात्त्विक अंतर न होकर सिर्फ आकार-भेद है। प्रेमचन्द की कहानियाँ आकार में कितनी ही छोटी क्यों न हों, कहानियाँ ही हैं, लघु-कथायें नहीं। जिस प्रकार कविता और सवैये की तुलना में दोहा का अपना आकार और अन्दाज होता है, उसी प्रकार कहानियों की तुलना में लघु-कथाओं का अपना आकार और अन्दाज होता है। लघु-कथाओं की इस विशेषता को न समझ पाने के कारण ही अक्सर लघु-कथा और छोटी कहानी में भेद करना मुश्किल हो जाता है।

इस बात को स्मरण रखना चाहिए कि राजनैतिक आन्दोलन में शामिल होना या राजनैतिक व्याख्यान देना विद्यार्थी के लिए भी स्वतः कोई पाप नहीं। यदि उसमें कोई बात न्याय के विरुद्ध हो, तो उसके लिए शामिल होने वाला या व्याख्यान देने वाला दोष-भागी अवश्य होगा। किन्तु राजनैतिक आन्दोलन में शामिल होना या व्याख्यान देना ही न साधारण व्यावहारिक धर्म और न गवर्नमेंट के न्याय के विपरीत है। इससे कोई चरित्र पर कलंक नहीं लगता। इसलिए ऐसे आन्दोलन में शामिल होने या व्याख्यान देने मात्र के कारण कोई विद्यार्थी कालेज या स्कूल से किसी प्रकार निकाले जाने के योग्य नहीं।

—*'मालवीयजी के लेख'*
(आषाढ़, शुक्ल १३, सं० १९६२)
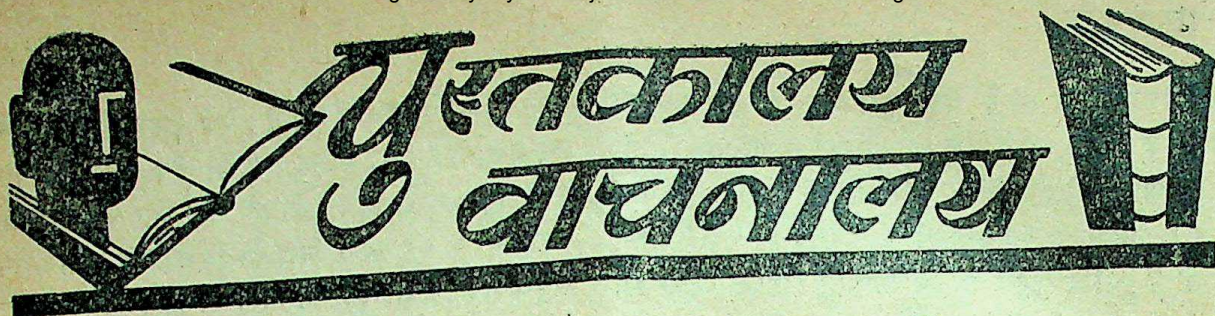
पुस्तकालय : प्रेम का दर्पण

श्री परमानन्द दोषी

पुस्तकालय में अच्छी-अच्छी पुस्तकें यदि काफी संख्या में संग्रहित रहें, मगर उनका समुचित परिमाण में उपयोग न होता रहे, तो एक प्रकार से पुस्तकों का यह विशाल संग्रह बेकार और निरर्थक ही होगा। पुस्तकें तो रुपये-पैसे हैं नहीं, कि उनके संग्रह के द्वारा बैंक-बैलेन्स बनाया जाये। पुस्तकालय भी कोई ऐसा बैंक नहीं है जहाँ पुस्तकें रुपये-पैसों की भाँति जमा हों। जिस प्रकार एक कंजूस सूदखोर रुपये जमा कर अपने आप में एक गौरव का अनुभव करता है, उसी प्रकार पुस्तकालय-संचालक भी पुस्तकों का बृहद् संग्रहालय स्थापित करके आत्म-गौरव अथवा स्वाभिमान का अनुभव करे तो उसका आत्मगौरव झूठा और स्वाभिमान निरर्थक होगा।

दुर्भाग्य से अपने देश में सर्वत्र यही कुलक्षण दिखाई पड़ता है इन दिनों। लोक-पुस्तकालय से लेकर विश्व-विद्यालय-पुस्तकालय अथवा सरकार के विभागीय बड़े-बड़े पुस्तकालय सभी इसी मर्ज के शिकार हैं। पुस्तकें तो इन पुस्तकालयों में दिन दुनी, रात चौगुनी की रफ्तार से बढ़ती जाती हैं, परन्तु उनके अध्येता, पाठक की गति वही मन्द है। इक्के-दुक्के शौकिया पाठक कभी सस्ते उपन्यासों एवं सेक्स संबन्धी पुस्तकों को लेकर यदि पढ़ते भी रहते हैं, तो यह भी कोई पढ़ना कहलायेगा! प्रतियोगिता-परीक्षा में सम्मिलित होने वाले परीक्षार्थी भी परीक्षा के मौसम में सस्ते इयर-बुक्स, गाइड्स आदि के चलते महीने या पखवारे भर तक पुस्तकालय से संपर्क साध लेते हैं तो इससे पुस्तकालय की उपयोगिता में कौन-सा चाँद लग जाता है।

पुस्तकालय की पुस्तकों की ओर से पाठकों की उदासीनता एक दुखद बात है, पर उससे दुखदाई है पुस्तकालय-संचालकों की यह प्रवृत्ति। वे पुस्तकों की संख्या बढ़ाने में जैसी तत्परता दिखाते हैं, उसकी तुलना में अपने पाठकों की वृद्धि की दिशा में किया हुआ उनका प्रयत्न प्रायः नगण्य-सा होता है।

पुस्तकालय-संचालक पुस्तकों की संख्या जोर-शोर से बढ़ाते जा रहे हैं और इधर हमारी जनता सरकार से अपेक्षित सहयोग-समर्थन पाकर पुस्तकालयों की संख्या बढ़ाती जा रही है। गत वर्ष जिस पुस्तकालय में चार सौ पुस्तकें थीं, इस वर्ष उसमें आप आठ सौ मजे में देख लेंगे। उसी प्रकार अमुक क्षेत्र में कुल मिलाकर पिछले वर्ष तीन पुस्तकालय थे, वहाँ इस वर्ष आप तेरह देख लीजिये। वर्ष भर में किसी पुस्तकालय की पुस्तकों की संख्या चार सौ से बढ़कर आठ सौ हो जाये और किसी क्षेत्र के पुस्तकालयों की संख्या एक वर्ष की ही लघु अवधि में तीन से तेरह हो जाये, यह प्रगति संतोषजनक से भी और आगे की चीज होगी, यह हम-आप क्या कहेंगे, सभी कहेंगे।

इन आँकड़ों से हमें यह अनुमान लगाने में सुविधा भी होगी कि हममें पुस्तक-प्रेम और पुस्तकालय-प्रेम कूट-कूट कर भरा है। पर प्यारे पुस्तक-प्रेमी एवं पुस्तकालय-प्रेमी भाइयो! यह कौन-सा पुस्तक-प्रेम हुआ कि आप अपनी पुस्तकों को अचार की भाँति गर्दन तक भरे तेल के बर्तन में डुबोए रखे हुए हैं। खरीददारी से आने के बाद बेचारी आलमारियों के अन्धकूप में एक बार जो पड़ गई, तो पड़ी है वहीं। न स्वच्छ वायु से मिल रही है, न

मानव-कर का स्पर्श उसे नसीब हो रहा है। ज्ञान का अक्षय भंडार वे अपनी काया में छिपाये हुए पड़ी हैं।

उसी तरह यह कौन-सा पुस्तकालय-प्रेम हुआ कि जहाँतक पुस्तकालय से काम चल सकता था, वहाँ संख्या में बना तो दिया अनेक पुस्तकालय, पर सेवा के नाम पर उनसे रत्ती भर भी कार्य नहीं हो पा रहा है।

तो सुनिये भाइयो ! पुस्तक और पुस्तकालय हाथी के दाँत नहीं हैं, जो उसकी सूँड़ के पास से दोनों ओर बाहर निकले होते हैं, बल्कि वे दाँत हैं जो बाहर से दिखाई तो नहीं पड़ते, पर हाथी अपना खाना खाता है उन्हीं के सहयोग से।

पुस्तक और पुस्तकालय ड्राइंग रूम नहीं, जहाँ अनावश्यक चीजें करीने से सजी होकर आगन्तुकों पर व्यक्ति-विशेष की सुरुचि-संपन्नता का प्रभाव जमाती हैं, बल्कि वे साधारण-से वे कमरे हैं, जिसमें आदमी रहकर, सोकर, धूप-ताप, वर्षा-शीत से अपनी रक्षा करते हुए जीवन व्यतीत करता है।

पुस्तक और पुस्तकालय, पान और सिगरेट नहीं कि जिनसे कोई अपने होठों की सुर्खी का काम ले या धुएँ के छल्ले उड़ाते हुए दुनिया को फूँक मारने का दम्भ करे, बल्कि वह थाली का भोजन और लोटे का जल है, जिसके बिना आदमी जीवित रह नहीं सकता।

अपनी पुरातन संस्कृति के गाल बजाने वाले, विश्व में कभी भारत के सिरमौर होने की बात कहने वाले और देश में चौदह वर्षों से भी अधिक की अवधि तक स्वतंत्रता का उपयोग करने वाले हमारे देश के निवासी अबतक पुस्तक और पुस्तकालय की खिल्ली उड़ाते रहे, ये भला क्या शोभा देने वाली बातें हैं ?

तो पुस्तकालय पचास के बजाय पाँच ही खोलिये, मगर चलाइये उन्हें अच्छी तरह। उनमें पुस्तकें हजार के बजाय पाँच सौ ही रखिये, मगर निरंतर उनका उपयोग कीजिये और कराइये। हमारा मुल्क अभी गरीब है, इसे 'शो-रूम' की नहीं, तन-बदन छिपाने के लिये कुटिया की ही आवश्यकता है। खादी और हैन्डलूम के ही कपड़े जब हमारे लोगों को पर्याप्त परिमाण में नहीं उपलब्ध हैं, तब रेशम और जार्जेट की बातें करना व्यर्थ है।

पुस्तक संगृहीत कीजिये, पुस्तकालय संचालित कीजिये, ये अच्छी बातें हैं, पर इनसे भी अच्छी बातें हैं उनके उपयोग द्वारा देश से शिक्षा संबंधी दरिद्रता को भगाने की कोशिशें। ये कोशिशें ही आपके लिये वह सच्चा दर्पण होंगी, जिनमें आपके पुस्तक-प्रेम और पुस्तकालय-प्रेम का चित्र प्रतिबिम्बित होगा।

हिन्दी से सबको चिढ़ है तो कोई दूसरी भारतीय भाषा को उसका स्थान दे दिया जाय परन्तु अंग्रेजी को सर पर ढोना तो डूब मरने के बराबर है।.......हिन्दी राष्ट्रभाषा हो या न हो, परन्तु हमारी मातृभाषा तो है ही। राष्ट्रभाषा के पद के प्रलोभन में पड़कर उसके कलेवर को कलुषित नहीं होने देना है।

—डॉ० सम्पूर्णानन्द

मिरातुल उरूस

लेखक : नजीर अहमद
प्रकाशक : साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली
मूल्य : पाँच रुपये—पृष्ठ : ३१६

आज से लगभग सौ साल पहले उर्दू के प्रसिद्ध लेखक नजीर अहमद ने अपनी बेटी को नसीहत देने के ख्याल से उर्दू में एक किताब लिखी—मिरातुल उरूस, जिसका अर्थ होता है—गृहिणी-दर्पण। प्रस्तुत पुस्तक में नजीर साहब ने शिक्षा देते-देते, कथ्य को प्रभावशाली बनाने के लिए, अकबरी और असगरी नामक दो मिजाजदार और तमीजदार बहनों की कथा सुनायी है कि किस प्रकार अकबरी ने अपनी मूर्खता के कारण अपने ससुराल को बरबाद कर दिया और असगरी अपनी दक्षता एवं कार्य-कौशल के कारण उसी परिवार को सुव्यवस्थित करने में समर्थ हुई। यही कारण है कि आज से ५०-६० वर्ष पूर्व लोगों ने इस पुस्तक को 'अकबरी-असगरी की कहानी' के नाम से पुकारना शुरू किया। इस पुस्तक-में चले थे नजीर साहब शिक्षा देने, लेकिन अकबरी असगरी की रोचक कहानी ने उपन्यास का रुख अख्तियार कर लिया। शायद इसी कारण उर्दू के साहित्यकारों ने इसे उर्दू का पहला उपन्यास कहा है। लेकिन उपन्यास-कला की कसौटी पर 'मिरातुल उरूस' को परखना उचित न होगा, क्योंकि लेखक ने इस पुस्तक को नसीहत देने के ख्याल से लिखा था, न कि छपवाने और उपन्यास का रूप देने के ख्याल से।

पुस्तक में इतना सजीव और सूक्ष्म वर्णन है कि हिन्दुस्तानी औरतों की खूबी-खराबियों की हूं-ब-हू तस्वीर उभर आती है। पढ़ने से साफ पता चलता है कि औरतें ही घर-गृहस्थी को बरकरार रख सकती हैं और बिगाड़ सकती हैं; उन्हीं पर पूरे परिवार का दारोमदार है।

अतः इस पुस्तक को, हर परिवार की लड़कियों और स्त्रियों को, मनोयोगपूर्वक पढ़कर शिक्षा लेनी चाहिए।

साहित्य अकादमी ने उर्दू के इस क्लासिक का देवनागरी में लिप्यन्तर कराकर बड़ा ही सराहनीय कार्य किया है। लिप्यन्तरकार हैं श्री मदनलाल जैन जिन्होंने अरबी और उर्दू के अनगिनत व्यवहृत शब्दों का हिन्दी में अर्थ टिप्पणीसहित पृष्ठ के नीचे दे दिया है।

काबुलीवाला, जुदाई की शाम, बहूरानी, दो बहनें

लेखक : रवीन्द्रनाथ ठाकुर
प्रकाशक : हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली
प्रत्येक का मूल्य : एक रुपये मात्र

अभीतक हिन्दी पाठक का यह दुर्भाग्य रहा कि वह बंकिम, शरत, रवीन्द्र के साहित्य के घटिया अनुवादों वाली रद्दी कागजों की मँहगी पुस्तकों को पढ़ता रहा, किन्तु हिन्द-पाकेट बुक्स ने सस्ती कीमत एक रुपये में, सुन्दर ढंग से, सफल अनुवाद कराकर बंकिम, रवि, शरत आदि की श्रेष्ठ कृतियों को प्रकाशित कर प्रशंसनीय कार्य किया है। इसी सिरीज में रविबाबू की ये चार कृतियाँ समीक्षार्थ हैं।

'काबुलीवाला' में रविबाबू की नौ प्रसिद्ध कहानियाँ संग्रहीत हैं जिसमें प्रसिद्ध कहानी 'काबुलीवाला' भी है, जिसका हाल में फिल्मीकरण भी हो चुका है।

'जुदाई की शाम' रविबाबू की प्रसिद्ध एवं अनोखी कृति 'शेषेर कविता' का अविकल अनुवाद है। इसके पात्र-पात्री हैं उच्च मध्यम-वर्गीय सम्भ्रान्तकुल के अमिय और लावण्य—शिक्षित, साहित्यिक रुचि के। यही कारण है कि इसमें वार्तालाप साहित्यिक हैं। इसमें जितना गद्य-पक्ष है, लगभग उतना ही पद्य-पक्ष भी। प्राकृतिक दृश्यों एवं कवितामयी भूमि के बीच से गुजरती हुई अमिय और लावण्य की शाश्वत प्रीति-कथा है। अनुवादक हैं श्री राम-नाथ सुमन। इस पुस्तक की विषय-वस्तु को देखते हुए यदि इसका नाम 'जुदाई की शाम' न देकर 'शेषेर कविता' ही दिया जाता तो अति उत्तम होता।

'बहूरानी' रविबाबू के प्रसिद्ध उपन्यास 'बहूरानीर हाट' का अनुवाद है। इसमें एक सामंती परिवार के आतंक की कथा है—महाराज प्रतापादित्य की क्रूरता के कारण राजमहल कारागार और श्मशान बन गया है। युवराज उदयादित्य की उत्तराधिकारी न बनने की इच्छा ही

उपन्यास का केन्द्र-बिन्दु है। अनुवादक हैं श्यामू संन्यासी।

'दो बहनें' में रविबाबू ने शर्मिला और उर्मिमाला दो बहनों के पारस्परिक मिलन का अति सजीव मनोविश्लेषण प्रस्तुत किया है। अनुवाद किया है श्री रामनाथ सुमन ने।

सभी पुस्तकों की छपाई-सफाई और अनुवाद सफल हैं।

—हिरावल

आत्मनेपद

लेखक—अज्ञेय

प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

मूल्य—४·०० : पृष्ठ—२६४

'आत्मनेद' हिन्दी के सुप्रतिष्ठ लेखक अज्ञेय की महत्तम उपलब्धियों में से है। इसमें अज्ञेय के 'अपने' विषय अर्थात् अपने व्यक्ति के, अपने जीवनानुभव के, अपनी रचना की प्रवृत्तियों के, अपने विश्वासों के और उन सूक्ष्म तत्त्वों के जिन्हें लेखक अपने कर्म का बुनियादी मूल्य या प्रतिमान मानता है—कतिपय निबन्ध संकलित हैं। ये निबन्ध काव्य, आख्यान, आलोचना, स्थिति तथा मन नामक पाँच सन्दर्भों में विभाजित हैं। विभाजन का आधार मूलतः मनोवैज्ञानिक है—काव्य (मेरी पहली कविता नामक निबन्ध) से प्रारब्ध और मन की अतल गहराई (एकान्त साक्षात्कार नामक निबन्ध) से अस्त।

अज्ञेय बहुमुखी प्रतिभा के लेखक हैं। साधना के ताप में इनका व्यक्तित्व तप चुका है, अतएव विषयवस्तु के अभाव तथा तटस्थता के सम्बन्ध में आशंका के प्रश्न इनके प्रति निर्मूल हैं। आत्म की व्याख्या, अहं का विसर्जन ही साहित्यिक कृति का रूप ले लेता है। आत्म, अहं और तटस्थता के विषय में अज्ञेय का निवेदन है: 'आत्मनेपद निस्सन्देह अत्यन्त आत्मचेतन (Self conscious) रचना है, पर आत्मचेतना अनिवार्यतया अहंलीन ही होती हो, ऐसा नहीं है।'...'अपने बारे में होकर भी यह पुस्तक अपने में डूबी हुई नहीं है'...'इसमें तद्गत भाव किसी दूसरी रचना की अपेक्षा कम नहीं है और वह 'तत्' लेखक के 'अहं' से अधिक मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण है।' यह लेखक का जीवन-दर्शन है। लेखक ने बड़े कौशल से 'तत्' के साथ 'अहं' का मणिकांचन-संयोग उपस्थित किया है। यह प्रसन्नता की बात है, वह सहज अविरोध को, 'जय' मानने का आकांक्षी नहीं, जिसके लिए आत्म-चर्चा को स्वभाव के नितान्त प्रतिकूल माना जाता है। जीवन के कुतूहल को पाठकों के सम्मुख रखना महान् साहस का परिचायक है। 'अज्ञेय' ने अशमित कुतूहलों से उत्पन्न तनावों को वाणी प्रदान कर 'आत्मनेपद' के माध्यम से महान् साहस का परिचय दिया है। लेखकीय दायित्व से ये पूर्ण परिचित हैं। न तो इनमें कृतिकर्म का अतिरिक्त मोह दिखाई पड़ता है न कृतिकारत्व का मिथ्या अभिमान। ये 'अहं' से बढ़कर 'इदं' को श्रेय देने के आग्रही प्रतीत होते हैं। यही कारण है, 'आत्मनेपद' पर विचार करते हुए, इन्होंने निवेदन में लिखा है: इसे मैं स्वयं 'मैं' भी नहीं कहना चाहता—इसे 'यह' ही मानना चाहता हूँ जिससे कि इसकी निरस्त्रता पूरी हो जाए—ममत्व का तनिक-सा भी कवच उसे न हो।

'आत्मनेपद' का लेखक सांस्कृतिक स्वाधीनता का प्रेमी है। सांस्कृतिक स्वाधीनता अहंबोध तथा अहं के विसर्जन दोनों के लिए अपेक्षित है। अहंबोध तथा अहं का विसर्जन ही जीवन है। इसी जीवन के साथ व्यक्तित्व एवं कृतित्व का अभिन्न सम्बन्ध है। यही कारण है, लेखक आलोचना, साहित्य, हिन्दी को आकाश पर टिका हुआ नहीं मानता, संस्कृति के अंगविशेष कहकर पुकारता है और सांस्कृतिक स्वाधीनता को इनके जीवित रहने का सहारा मानता है। (प्रतिष्ठाओं का मूलस्रोत-नामक निबन्ध का निष्कर्ष) लेखक ने इस निबन्ध में बहुत साहस के साथ यह कहा है: 'आज विचार-क्षेत्र में हम अग्रगामी भी कहला लें, तो कर्म के नैतिक आधारों की अनुपस्थिति में निजी रूप से हम चरित्रहीन ही हैं और सम्मान के पात्र नहीं हैं' (पृ० ९६)। जीवन की शीर्षस्थता के लिए नैतिक आधार, सांस्कृतिक स्वाधीनता अत्यन्त आवश्यक है।

'आत्मनेपद' के कतिपय निबन्ध अत्यन्त उपयोगी हैं और साहित्यिक सतीर्थों के लिए प्रकाशस्तम्भ भी। ऐसे निबन्धों में 'कवि-कर्म: परिधि, माध्यम, मर्यादा' विशेष ध्यान देने योग्य है। आज का लेखक पाठक से अपेक्षया दूर है

या दूर होता जा रहा है या कुछ देर बाद दूर हो जाएगा। ऐसा क्यों—इसपर हमारा ध्यान जाना अपेक्षित है। लेखक ने प्रस्तुत निबन्ध में इसी 'क्यों' पर विचार किया है और बतलाया है कि लेखक—जबतक जनकवि और राज-कवि दोनों नाम या दोनों के दायित्व से संयुक्त रहता है, कवि-कृतिकार की संकुचित परिधि में बद्ध है, वस्तु की परीक्षा करते, वस्तु के मानवीय तत्त्वों, कृतिकार की मानसिक गतिविधि पर ध्यान नहीं रखता, अनुभूति का अतिरिक्त आग्रह करता है जो आलोचकों की दृष्टि में असन्तुलन का पर्याय है, परिस्थिति और अनुभूति में विपर्यय-भाव रहता है—पाठक को आकृष्ट नहीं कर सकता। इसके लिए लेखक को अपनी परिधि, माध्यम एवं मर्यादा पर ध्यान देते हुए अपने कर्म के प्रति ईमानदार बनना होगा। ईमानदारी का यही तकाजा 'आत्मनेपद' का मूल स्वर प्रतीत होता है।

'श्लील और अश्लील' नामक निबन्ध में लेखक ने श्लील और अश्लील के प्रश्न को तत्कालीन सामाजिक नैतिकता के प्रश्न के नाम से अभिहित किया है और बतलाया है कि देखना अश्लील नहीं है, अधूरा देखना अश्लील है। वास्तव में अश्लीलता का प्रश्न आचरण के साथ सम्बद्ध है। यही कारण है, मन के साथ एकान्त साक्षात्कार से उत्पन्न अनुभूति अश्लील होते हुए भी अश्लील नहीं होती। अश्लीलता वहीं हो सकती है जहाँ जुगुप्सा का भाव जाग्रत हो।

'एकान्त साक्षात्कार' नामक निबन्ध में कलाकार के सम्बन्ध में लेखक की मौलिक स्थापना श्लाघनीय है। कलाकार, वास्तव में, एक ही में मालिक और कुत्ता दोनों है। एक स्तर पर वह सीधे सरल पथ पर अग्रसर होता हुआ दूसरे स्तर पर खोजता-परखता, पड़ताल और पहचान करता और चिह्नित करके स्मृति पर आँकता भी जाता है। 'कलाकार मालिक और कुत्ते को एक करता है। इस प्रकार वह रास्ते को प्रदेश में बिठा देता है। वह 'क' और 'ख' को न मिलाता है न अलग करता है; वह उनके अलगाव को एक सूत्र में पिरो देता है' (पृ० २५०)।

साधारणीकरण—'निजी' को 'सामान्य' बनाने की बात के प्रति प्रेम 'आत्मनेपद' के लेखक को 'अहं' के वृत्त से ऊपर उठा देता है। 'प्रतीकों का महत्त्व' नामक निबन्ध इस क्रम में पठनीय है जहाँ लेखक ने प्रतीकों को जन-मानस की अभिव्यक्ति मानते हुए, महत्त्वपूर्ण बतलाया है। लेखक का अभिमत है—'कोई भी स्वस्थ काव्य-साहित्य प्रतीकों की, नये प्रतीकों की, सृष्टि करता है और जब वैसा करना बन्द कर देता है तब जड़ हो जाता है या जब जड़ हो जाता है तब वैसा करके, बन्द करके पुराने प्रतीकों पर ही निर्भर करने लगता है' (पृ० ४१)।

'आत्मनेपद' की उपयोगिता निस्सन्दिग्ध है और प्रकाशक ऐसे दुर्लभ प्रकाशन के लिए बधाई के पात्र हैं। सबसे ध्यान देने की बात तो यह है कि इससे अज्ञेय के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का ही बोध नहीं होता, बल्कि समकालीन साहित्यकार की स्थिति, समस्या और सम्भावना पर भी प्रकाश पड़ जाता है। आवरणपृष्ठ आधुनिकता लिये हुए तथा अत्यन्त अर्थगर्भित है। मुद्रण, आकल्पन इत्यादि प्रशंसा के योग्य।

भूमिजा

लेखक—**सर्वदानन्द**

प्रकाशक—**भारतीय ज्ञानपीठ, काशी**

मूल्य—१.५० : पृष्ठ—६२

'भूमिजा' सर्वदानन्द का उल्लेख्य रंगमंचीय नाटक है। रंगमंचीयता का प्रमाण यह है कि यह २३ फरवरी १६५६ को लखनऊ उत्तर प्रदेश सरकार के विकास संग्रहालय के रंगमंच पर 'नटराज' के द्वारा अभिनीत हो चुका है। नाटककार ने निवेदन के क्रम में यह स्पष्ट कर दिया है। साथ ही नाटककार का यह भी कहना है कि प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु और इसके रचना-शिल्प के विषय में एकान्त मौलिकता का आग्रह मेरा उतना नहीं है जितना रंगमंचीयता का। लेकिन 'भूमिजा' को केवल रंगमंचीय नाटक कह कर ठुकराया नहीं जा सकता। 'भूमिजा' कथ्य की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है। भूमिजा का अर्थ है भूमि से उत्पन्न, अर्थात् सीता। सीता के प्रति दर्शकों की करुणा, यह नाटक जितना जगाता है कदाचित् सीता से सम्बद्ध पूर्ववर्ती नाटक नहीं। 'भूमिजा' के लेखक ने 'उत्तररामचरित' के सम्बन्ध में कहा है : भवभूति ने 'उत्तररामचरित' के अन्त में, राम और

सीता को प्रत्यक्ष लाकर, एक प्रकार की निस्संग तटस्थता ग्रहण कर ली है, पर नारी का आत्मसम्मान और गौरव इस मिलन से महत् नहीं होता। बालि का वध, तपस्वी शम्बूक की हत्या, विभीषण से भ्रातृ-द्रोह कराना, निष्कलंक सीता के प्रति राम के व्यवहार और ऐसे ही अन्य कितने ही छोटे-बड़े कार्य सामाजिक न्याय और व्यक्तिगत मर्यादा की सीमा में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र को सीता के चरित्र से उठने नहीं देते। नाटककार सर्वदानन्द ने भूमिजा सीता को आधुनिक परिवेश में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, यद्यपि प्रभावग्रहण वाल्मीकि, भवभूति, द्विजेन्द्र-लाल राय सबसे लिया है।

'भूमिजा' वस्तुतः ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित सर्वदानन्द का चतुर्थ रंगमंचीय नाटक है। 'विषपान' 'चेतसिंह' और 'सिराजुद्दौला', 'भूमिजा' के पहले अभिनीत और प्रशंसित हो चुके हैं। 'भूमिजा' में दो अंक हैं। दो स्थल पर नाटककार ने अपने कथानक को केन्द्रित किया है—पहला स्थल है, अयोध्या, दूसरा, महर्षि वाल्मीकि का आश्रम दण्डकारण्य। सामाजिकता के निर्वाह पर नाटककार का पर्याप्त ध्यान है। सीता आधुनिक युग की जाग्रत नारी की प्रतीक हैं। उर्मिला, लक्ष्मण, कंचुकी आदि सब में जागरूकता है। इस क्रम में उर्मिला का एक संवाद ध्यातव्य है। सीता को वन में छोड़ने के लिए उद्यत लक्ष्मण को सम्बोधित करते हुए, उर्मिला कहती है—'दुर्मुख की लगाई हुई यह आग अयोध्या को भस्म कर डालेगी स्वामी! प्रजा के एक साधारण जन के कहने पर राजरानी का परित्याग भविष्य का इतिहास कभी क्षमा नहीं करेगा। नर की मर्यादा नारी के इस बलिदान से गौरव के शिखर पर नहीं चढ़ेगी। राम आज्ञा दे सकते हैं और लक्ष्मण उनकी आज्ञा मानकर गर्भवती सती सीता को हाथ पकड़कर निर्वासन दे सकते हैं। तो वही कीजिए,·· लेकिन मैं चुपचाप इस अन्याय के आगे माथा नहीं झुका सकती' (पृ० २८-२६)। लक्ष्मण समझते हैं और राम से कहते हैं, 'भाभी का चरित्र निष्कलंक है। निर्दोषी का दण्ड-भोग विधाता से सहन नहीं होगा' (पृ०३६)। कंचुकी कहता है, 'सती का अपमान आकाश की आँखों में बिजली बनकर चमक रहा है। आज प्रलय हो जायगा। सब-कुछ उलट-पुलट जाएगा' (पृ० १८-१६)। इतना ही नहीं, सीता के सम्बन्ध में लांछन का समाचार लाने-वाला दुर्मुख भी पछताता है और अपनी जागरूकता सूचित करता है, 'तेरी जीभ क्यो नहीं ऐंठ गयी रे? माता सीता पर लगे लांछन को सुनकर भी तू चुप रहा?'

कुछ आलोचक भूमिजा सीता के चरित्र के आगे राम के चरित्र को वृष्टिच्छाया (Rain shadow) में पड़ा हुआ मान सकते हैं, पर ऐसे आलोचकों से मेरा विनम्र निवेदन है, वे नाटककार के लक्ष्मण और राम के इस संवाद पर दृष्टिपात करें:

लक्ष्मण: भाभी गर्भवती है भैया। ऐसी स्थिति में वन में उनका निवास···

राम: [व्यर्थ मुसकुराने की चेष्टा करते हुए बात काटकर] 'उचित नहीं होगा, यही न? किन्तु उस मंगलमयी के अमंगल की आशंका ही क्यों करते हो लक्ष्मण! राम का प्रेम रक्षा-कवच बनकर उनके साथ रहेगा। वन के सूखे, नीरस, उदास जीवन में भी राम की कल्याण-कामना उनके साथ रहेगी। सीता राम के स्नेह-व्यूह से बाहर नहीं जा सकती' (पृ० ३८)।···भरत के प्रतिरोध करने पर राम कहते हैं—'·· कर्त्तव्य के पथ पर फूलों का पराग ही नहीं होता भरत, थकान का स्वेद भी होता है' (पृ० ४०)। राम के मन का द्वन्द्व, पश्चात्ताप, कर्त्तव्य-बोध आदि राम के चरित्र को बहुत ऊँचा उठा देता है। राम का सीता के प्रति अन्तिम मर्मन्तुद वाक्य—'जाओ भूमिजा! राम तुम्हें प्रणाम करता है' (पृ० ६२) पाठकों अथवा प्रेक्षकों को पर्याप्त प्रभावित करता है। यहाँ नारी के प्रति सम्मानभाव भी प्रकारान्तर से सूचित होता है।

'भूमिजा' के वाल्मीकि नारी के अधिकार की प्रतिष्ठा के लिए चिन्तित हैं। वाल्मीकि के 'वसिष्ठ के मन से शूद्र का वेदपाठ और धर्माचरण अन्याय है' (पृ० ६०) नामक कथन के प्रतिवाद में लव का यह कथन कि 'शूद्र को वेदपाठ का निषेध है? किस-शास्त्र में ऐसा लिखा है' (पृ० ६८) लव के जागरूक चरित्र की ओर इंगित करता है। वाल्मीकि के सामने बेटी वासन्ती की यह उक्ति कि 'नारी क्या नर के अहम् पर बलिदान ही होती

रहेगी ?' (पृ० ६४) बासन्ती के जागरण एवं सामाजिक अन्याय के प्रति विरोध का परिचय देती है।

'भूमिजा' के लेखक को अपने उद्देश्य में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है, ऐसा कहने में मुझे संकोच नहीं नहीं। चारित्रिक उत्कर्ष, कथोपकथन की चुस्ती, उद्देश्य का गुम्फन, युगबोध, वातावरण इत्यादि सभी श्लाघनीय हैं। नाटक में प्रस्तुत कतिपय वाक्य तो सूक्ति की तरह हमारे मर्म का स्पर्श कर लेते हैं, यथा, 'राजा का धन उसका निर्मल यश है' (पृ० २१), 'नारी का सुहाग नर की करुणा और उदारता के पावों तले सिर धुन-धुन कर मरता रहता है' (पृ० ६४) इत्यादि। पात्रों के मुख से यत्र-तत्र काव्यश्लथ भाषा का प्रयोग तो नाटककार के महदुद्देश्य में विलीन-सा हो जाता है, 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः' की तरह! यों संक्षेप में, नाटककार और प्रकाशक दोनों ऐसी सुन्दर कृति के लिए बधाई के पात्र हैं।

बिना बुलाये पंच

लेखक : देवराज दिनेश

प्रकाशक : आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली – ६

मूल्य : ३·००—पृष्ठ १४७

हास्य-व्यंग्य के तेरह एकांकियों का यह संग्रह 'बिना बुलाये पंच' हिन्दी की नयी पीढ़ी के इन प्रतिनिधि लेखक का प्रतिनिधित्व करता है। देवराज दिनेश का प्रथम एकांकी-संग्रह 'समस्या सुलझ गयी' पर्याप्त प्रशंसित हो चुका है। 'बिना बुलाये पंच' 'समस्या सुलझ गयी' के बाद की कृति है। अतएव इसमें अपेक्षाकृत प्रौढ़ता स्वाभाविक है। आलोच्य संग्रह में तीन ध्वनि-नाटक तथा शेष अभिनय एवं पाठ्य नाटक हैं। ये देश की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। कई रंग-मंच पर सफलतापूर्वक खेले जा चुके हैं और आकाशवाणी के विविध केन्द्रों से कई बार प्रसारित भी हो चुके हैं। नाटककार ने संग्रह के पूर्व 'पाठकों से' नामक निवेदन स्तम्भ में कहा है—'जीवन और समाज की विद्रूपता पर ये पैना व्यंग्य करते हैं। सूनेपन को मुखरित करने के लिए कहकहे प्रदान करते हैं। हँसाते हैं, गुदगुदाते हैं और कई स्थलों पर मुस्कान की तीखी रेखा ही देकर रह जाते हैं।' वस्तुतः नाटककार का यह कथन एकांकियों के परिचय का पूर्वाभास है। ये केवल हँसाते, गुदगुदाते और मुस्कुराने की प्रेरणा मात्र ही प्रदान नहीं करते, अपितु सामाजिक अव्यवस्था के प्रति सोचने के लिए विचार-भूमि भी प्रदान करते हैं।

संग्रह का नामकरण अन्तिम एकांकी के आधार पर हुआ है। 'बिना बुलाये पंच' की संवेदना का आधार है समाज की एक छोटी-सी समस्या, उधार की समस्या। अर्थ-प्रधान युग में अर्थ की समस्या सुरसा की तरह मुँह बाये खड़ी रहे तो कोई आश्चर्य नहीं। एकांकी का नायक हरिश्चन्द्र पड़ोसी दूकानदार हीरा तथा हीरा के ग्राहक रामू के बीच अनाहूत पंच बन जाता है। इसपर हीरा की पत्नी बिगड़ती है, बेटे को भेजती है, अपने अधिकार के लिए अन्यमनस्कता प्रकट करती है : 'इधर जमाई बाबू घर में आये बैठे हैं और तुम दूसरों के झगड़े सुलझाने में लगे हुए हो। उनके लिए जलपान का समान लेने गये थे और खाली हाथ मटकाते दीख रहे हो। लड़के को भेजा तो उसे भी मारपीट दिया' (पृ० १४१) 'मुझसे चाय-वाय नहीं बनती किसी के लिए' (पृ० १४२)। नाटककार पाठकों अथवा प्रेक्षकों के बीच केवल संवेदना जाग्रत कर रह जाता है; मकान का झगड़ा निबटाने के लिए आये हुए चोखेलाल वृष्टिच्छाया में पड़ जाते हैं। परिस्थिति-जन्य मुसीबत हास्य का उद्रेक करती है, साथ ही सोचने के लिए बाध्य भी। 'किस्मत का खेल' वैवाहिक समस्या को आकस्मिक रूप से सुलझा देता है। 'शीर्षक की खोज' पारिवारिक और व्यक्तिगत दोनों प्रकार की समस्या से सम्बद्ध है। इसके नायक नवनीत को अपनी कविता के शीर्षक की खोज में जितनी परेशानी है, उतनी ही परेशानी नवनीत की पत्नी वैजयन्ती को है—रसोई के समान के लिए। कवि बनना दरिद्रता को जैसे निमंत्रित करना हो! सेठ चंपालाल का कविता-प्रेम 'कविता के चक्कर में' विशुद्ध हास्य का उद्रेक करता है।

वास्तव में संग्रह के ये एकांकी उल्लेख्य एवं चर्चेय हैं; उद्देश्य की दृष्टि से भी, भाषा की दृष्टि से भी। एकांकीकार को अपने उद्देश्य में कृतकार्य कहा जा सकता है।

शिष्ट हास्य एवं व्यंग्य से युक्त एकांकियों के अभाव को यह संग्रह पूरा करता है।

मुक्तिदूत

लेखक : उदयशंकर भट्ट

प्रकाशक : **आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली - ६**

मूल्य : २·००—पृष्ठ—८२

समालोच्य कृति 'मुक्तिदूत' हिन्दी के प्रतिष्ठित नाटककार उदयशंकर भट्ट के 'मुक्तिपथ' का परिवर्तित संस्करण है। वास्तव में 'मुक्तिपथ' की अपेक्षा 'मुक्तिदूत' शीर्षक अधिक सार्थक लगता है। यों कुमार सिद्धार्थ (गौतम) बुद्ध के सुपरिचित कथानक के ऊपर नाटक का महल खड़ा है। 'मुक्तिपथ' में नाटक की कथावस्तु की सूचना मिलती है जबकि 'मुक्तिदूत' से मुक्ति के लिए घर छोड़कर निकलनेवाले सिद्धार्थ का बोध होता है। नाटक तीन अंकों में विभाजित है पर कथानक मुख्यतः दो स्थान पर ही केन्द्रित रहता है। पहला स्थान है कपिलवस्तु और दूसरा है अणोमा नदी का तट। नाटक तीन अंक में होने पर भी, विविध दृश्यों को लिए हुए है, यह नाटककार के पुरातन-प्रेम का द्योतक है। पुनरपि नाटककार ने इसे आधुनिक रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है और इस चेष्टा में बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है। सन्तोष की बात है कि नाटककार का ध्यान रंग-मंच पर गया है।

नाटक का मूल उद्देश्य है— संसार के निवासियों के बीच मुक्ति का दिव्य सन्देश। कुमार सिद्धार्थ, बुद्ध हो जाने पर, लोगों को उपदेश करते हैं 'हे मनुष्यगण, जिस क्षुद्र अहंबुद्धि ने तुमको संसार की एकता से पृथक् कर रखा है, उस भेदबुद्धि को तुम छोड़ दो। बुद्धि को स्थिर करके तुम शील ग्रहण करो। शुभ्र व्रत के साधन द्वारा विमल आनन्द प्राप्त हो जाने पर क्रमशः तुम्हारे सब दुःखों का नाश होगा। फूले हुए वृक्ष की भाँति राग-द्वेष से बढ़े हुए दुःखों का नाश कर सकोगे। बोध को जाग्रत करके तुम अपना प्रसार करो तो सारी हीनता, क्षुद्रता स्वयं नष्ट हो जाएगी तथा तुम विश्व के साथ एकता का अनुभव करोगे। यही ज्ञान समस्त सत्य का सार है' (पृ० ७६-७७)। बुद्ध का अन्तिम उपदेश भी 'जीवन लाभ करो, जीवन के महत्त्व को समझो। धर्म ही ईश्वर है। संसार के कल्याण में धर्म का कल्याण है' (पृ० ८१) ध्यातव्य है।

'मुक्तिदूत' वास्तव में ऐतिहासिक नाटक है। ऐतिहासिक नाटकों में वातावरण का निर्वाह कठिनतर कार्य है। यह प्रसन्नता की बात है कि नाटककार ने कल्पना को अधिक विकृत नहीं होने दिया और वातावरण प्रारम्भ से अन्त तक रोचक बनाये रखा है। दर्शन और सिद्धान्त की शुष्कता भी नाटक के उद्देश्य में व्यवधान नहीं बन रही। हाँ, नाटक के गीत अवश्य विचारणीय हैं। संवाद पात्रानुकूल, संक्षिप्त एवं सुन्दर हैं। यों सिद्धार्थ की गम्भीर प्रकृति नाटक को सदैव गम्भीर बनाये रखती है। इनके दार्शनिक वाक्य यत्र-तत्र सूक्ति का आनन्द देते हैं, यथा, 'गीत तो मानसिक वर्गों का लय और ताल से सधा हुआ अबाध उद्गार है' (पृ० १२), 'शासन का अर्थ संयम है' (पृ० ४५), 'प्राणरक्षा सब धर्मों से बढ़कर है' (पृ० ४८), 'तृष्णा की निवृत्ति होने से दुःख का निरोध होता है' (पृ० ७५) इत्यादि। एक स्थान पर तो सिद्धार्थ ने देवव्रत से भी कह दिया है 'जरा, जन्म, मृत्यु तीनों ही भयंकर हैं' (पृ० ५६) जबकि भागवत का प्रसिद्ध उद्धरण है 'जरामरणं भयद्वयम्'। जन्म को भयंकर:कहना सिद्धार्थ के कदाचित् मौलिक चिन्तन का परिचायक है।

वासना

लेखक : दोस्ताएव्स्की

प्रकाशक : **राजपाल एण्ड संज, दिल्ली ६**

मूल्य : ३·५० : पृष्ठ : १९६

आलोच्य कृति का मूल लेखक है रूस का महान् उपन्यासकार दोस्ताएव्स्की। कुछ पश्चिमी आलोचक, सोवियत साहित्य में, दोस्ताएव्स्की का कोई स्थान नहीं मानते और कहते हैं, रूसी लेखकों के साथ दोस्ताएव्स्की का नाम लेना तक जैसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। सोवियत सरकार ने उसकी रचनाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिया है और उसकी कोई भी पुस्तक रूस में प्रकाशित नहीं होती। इसका प्रमुख कारण उनकी दृष्टि में कदाचित् यह है कि वह प्रतीकवादी है और उसकी रचनाएँ पढ़ने पर जीवन में निराशा व्याप्त होती है।

दोस्ताएव्स्की पर लगाये गये ये आरोप 'वासना' पढ़ जाने पर निर्मूल सिद्ध होते हैं। दोस्ताएव्स्की को सन्देहवादी युग की उपज कहकर हम ठुकरा नहीं सकते। यह बात दूसरी है कि दोस्ताएव्स्की की रचना पढ़ते समय हम निरन्तर दुःख की भावना से ग्रस्त रहते हैं पर साथ ही दुःख की भावना से त्राण का उपाय भी आभासित होता चलता है। डॉ० धर्मवीर भारती ने 'मानव-मूल्य और साहित्य' नामक पुस्तक में (पृष्ठ २० पर) कहा है, 'दोस्ताएव्स्की की कथाकृतियों में मानवीय अन्तरात्मा का विराट मानचित्र विशाल पैमाने पर घटित होते हुए विघटन का सूचक है, बहुत बड़े आसन्न संकट का द्योतक है'। ऐसी स्थिति में 'वासना' के प्रकाशन का कौन-सा उद्देश्य है ?

'वासना' दोस्ताएव्स्की का यथार्थवादी अमर उपन्यास है। सामान्य सांस्कृतिक पुरस्सरता के कारण इसका प्रकाशन सोद्देश्य है। इसमें तत्कालीन उच्चमध्यवर्गीय नारी-समाज का यथार्थ चित्रण, मानव-समाज के विविध पहलुओं पर ध्यान है। वासना और वैभव-क्षुधा, मन की गहनता और जटिलता के प्रसार के स्थिर-चित्र भी इसमें हैं।

'वासना' की मूल समस्या है प्रेम और विवाह की समस्या। आत्म-प्रतिष्ठा का प्रश्न इससे लगा-लिपटा है। 'वासना' की नायिका मार्या अलैक्जैन्ड्रोव्ना मोस्कालीव्ना मोर्दासोव की सबसे प्रमुख महिला है। अतिथि-सत्कार और शिष्टाचार के कारण मार्या का बहुत नाम है। इसके पति अफानासी मातविच, इसीकी प्रतिभा के कारण, अपनी नौकरी बनाये रख सके। मार्या अलैक्जैन्ड्रोव्ना और अफानासी मातविच की एकलौती बेटी जिनेदा अफनास्यीवना-जेना अपनी सुन्दरता और शालीनता के कारण ही पावेल अलैक्जैन्ड्रोविच मोज़ग्ल्याकोव को आकर्षित कर सकी। यों जेना मोज़ग्ल्याकोव के पहले अपने को एक मामूली टीचर वास्या को सौंप चुकी थी। मोज़ग्ल्याकोव और जेना का उभयपक्षी प्रेम दिखाई नहीं पड़ता, जबकि जेना की माँ मार्या जेना का विवाह एक बूढ़े काउन्ट से कर देना चाहती है। जेना की स्वच्छन्दतावादी दृष्टि मार्या की उपयोगितावादी दृष्टि से प्रभावित नहीं होती। मार्या जेना से कहती है—'तुम उनकी दोस्त, बेटी, खिलौना बनो,—अगर शब्दों में ही हर बात को व्यक्त करना हो तो। लेकिन उनके दिल को गर्माकर तुम एक नेक काम करोगी—इससे ईश्वर प्रसन्न होगा। काउन्ट हास्यास्पद जरूर हैं, लेकिन इस बात की परवाह मत करो। वे सिर्फ आधे इन्सान हैं—उनपर तरस खाओ! तुम ईसाई हो।··· तुम्हें मुझपर यकीन नहीं है! तुम्हारा ख्याल है कि मैं फर्ज और नेकी की बातें करके तुम्हारे साथ कपट कर रही हूँ ? तुम नहीं समझ सकती कि मुझ जैसी अहंकारी सोसाइटी लेडी के पास भी दिल है, भावनाएँ और सिद्धांत हैं!' (पृ० ६१) मार्या सोचती है, 'जेना राजी हो गयी है; आधा काम तो वैसे ही हो गया।··· जब वह काउन्टेस बन जायगी और दुनियादारी सीख लेगी तब शेक्सपियर की कोई जगह नहीं रहेगी। अभी तक उसने क्या देखा है ? मोर्दासोव और वह मास्टर··· वह काउन्टेस के रूप में कितनी शानदार लगेगी। (पृ० ७७)·· मैं खुद भी काउन्टेस बन जाऊँगी और पीटर्सबर्ग में भी लोग मुझे जान जायेंगे।··· काउन्ट मर जायगा, वह लड़का भी मर जायगा, फिर मैं उसकी शादी किसी शाही खान्दान के आदमी से कर दूँगी।··· मुझे उससे डर लगता है, ओह मुझे उससे डर लगता है।' (पृ० ७७) मार्या की दासी नस्ताया पेत्रोव्ना ज्याबलोवा, जेना के प्रेमी पावेल मोजग्ल्याकोव के कान भरती और काउन्ट के साथ जेना के विवाह की बात जब करती है मोजग्ल्याकोव क्षुब्ध हो जाता है, जेना से बदला लेना चाहता है; पर मार्या समझाती है—'पावेल अलैक्जैंड्रोविच, जेना को इस झगड़े में मत घसीटो! वह तो कपोती की तरह पवित्र और मासूम है— वह हिसाब-किताब नहीं करती, वह तो सिर्फ प्यार करना जानती है' (पृ० ११०)। जेना माँ का दिल नहीं दुखाकर अपनी सहनशीलता का परिचय देती है। जेना में आर्य-संस्कृति प्रतिबिम्बित होती है। इसका पता तब चलता है जब अन्त में वह अपने प्रेमी टीचर वास्या के पास पहुँचती है। वास्या अपनी सफाई देता है, अपनी वासना के बारे में कहता है और तपेदिक के कारण मृत्यु को प्राप्त करता है। जेना कहती है, वह वास्या को कभी नहीं भूलेगी, और जितना प्यार उसने वास्या से किया

है उतना किसी से नहीं किया, और वास्या ने जेना के हाथ चूम लिये। जेना के प्रेम का परिचय इससे भी मिलता है कि वास्या के मर जाने पर लाश के सिरहाने विद्दिप्त हालत में खड़ी रहती है, बिना नींद के दो रात बिता देती है।

'वासना' शीर्षक अत्यन्त सार्थक है। कारण, उपन्यास के पात्रों में से किसी की वासना, वास्तव में पूरी नहीं होती; न मार्या की, न जेना की, न मोजग्ल्याकोव की, न काउन्ट की, न वास्या की। वास्या और काउन्ट तो मर ही जाते हैं। मोज़ग्ल्याकोव प्रतिक्रिया में मोर्दासोव छोड़ देता है, शहर से बाहर चला जाता है।

'वासना' का उद्देश्य प्रेम और विवाह की समस्या को नये आलोक में सोचने का है। मार्या के इस कथन में देशकाल का स्पष्ट परिचय मिल जाता है कि 'शालीनता का तकाज़ा है बिना धूम-धाम और जशन के शादी की रस्म अदा की जाए। शादी का यह तरीका ज्यादा फैशनबल और सही है' (पृ० १२०)। जेना में जहाँ सांस्कृतिक पुरस्सरता है, जागरूकता का भी अभाव नहीं है। जेना कहती है 'मैंने तुम्हें पहले ही कह दिया माँ, कि मैं इतनी जलालत बर्दाश्त नहीं कर सकूँगी। क्या हमारा और अधिक पतन होना चाहिए? हमें अपने-आपको और ज्यादा कलुषित करना चाहिए? लेकिन मैं सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेती हूँ माँ, क्योंकि सबसे ज्यादा कसूर इसमें मेरा है। मैंने ही इस घृणित साइत को आगे बढ़ने दिया। तुम एक माँ हो। तुम मुझे चाहती हो। तुमने अपने ढंग से, अपने विचारों के अनुसार मुझे सुखी बनाने की कोशिश की' (पृ० १६९-७०)...'मैं इनलोगों (प्रास्कोव्या इल्यीनीश्ना, लुइजा कार्लोव्ना, कैटेरीना पेत्रोव्ना, फेलीस्ता मिखाईलोव्ना आदि मोर्दासोव की स्त्रियाँ जो काउन्ट को देखने, मार्या के यहाँ आयीं) के सामने हरगिज खामोश नहीं रह सकती। मैं उनके हाथों अपनी बेइज्जती नहीं करा सकती। इनमें से किसी एक को भी मुझपर कीचड़ उछालने का अधिकार नहीं है' (पृ० १७०)। नारी-जागरण के स्वर्णविहान के युग में जेना का आत्मबोध ध्यातव्य है। मार्या और वास्या में जो सांस्कृतिक पुरस्सरता है वह उल्लेखनीय है।

चारित्रिक उत्कर्ष की दृष्टि से मार्या और जेना दोनों विचारयोग्य हैं। मार्या का उपयोगितावादी दृष्टिकोण, जेना की सौन्दर्यमूलक दृष्टि, दोनों, जीवन के मानमूल्य के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। यों सब चरित्र विकासशील, गत्यात्मक एवं प्रेरणाप्रद हैं। दोस्ताएव्स्की को अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई है। परिताप, पश्चात्ताप से चित्त का कालुष्य धुल जाता है।

उपन्यास के कतिपय वाक्य सुभाषित का आनन्द प्रदान करते हैं, यथा 'सिर्फ बीमार पक्षी ही अपने घोंसले को गंदा करता है' (पृ० २७), 'अत्याचार करने की प्रवृत्ति एक ऐसी आदत है जो मन में कभी तृप्त न होने वाली भूख जगा देती है' (पृ० १२३), 'जब किस्मत किसी को तबाही के लिए चुनती है तो किस्मत की ठोकरें कभी खत्म नहीं होतीं' (पृ० १७८) इत्यादि। उपन्यास में नये बिम्बों एवं नयी उपमाओं का भी अभाव नहीं है।

उपन्यास की भाषा प्रायः सहज बोधगम्य है। अनुवादक ने अपनी प्रतिभा से मूल की भाषा को सरलतर बनाने का कार्य किया है। यही कारण है, संस्कृतनिष्ठ शब्दों के स्थान पर उसे उर्दू के चलते-फिरते शब्दों का सहारा लेना पड़ा है। इससे कथोपकथन में स्वाभाविकता आ गयी है। प्रसंगगर्भित शब्दों का व्याख्यात्मक अर्थ देकर साधारण पाठकों के लिए रास्ता साफ कर दिया गया है। अच्छा होता, कृतिकार के साथ अनुवादक, दोनों के नाम इसमें अंकित रहते।

— गोपालजी 'स्वर्णकिरण'

पत्थर-युग के दो बुत

लेखक—**आचार्य चतुरसेन शास्त्री**
प्रकाशक—**राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली**
मूल्य—**३.५०**

'पत्थर-युग के दो बुत' स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध की समस्या पर आधारित आचार्य चतुरसेन का उपन्यास है। दोनों के सम्बन्ध की समस्या कामजनित आवश्यकता से जुड़ी है। उपन्यास का कथानक आधुनिक ही है, फिर भी 'पत्थर-युग के दो बुत' नाम देकर लेखक ने यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि काम के धरातल पर स्त्री-पुरुष आज भी

उतने ही बर्बर हैं, जितने पत्थर-युग में थे। अपनी इस धारणा को स्थापित करने के लिए लेखक ने स्त्री-पुरुषों की कई जोड़ियाँ बनायी हैं; यथा—सुनीलदत्त और रेखा, दिलीपकुमार राय और माया; फिर इसी से फूट कर और जोड़ियाँ तैयार होती हैं—रेखा और राय, माया और वर्मा। ये सभी पात्र अपनी ही मानसिक विकृतियों से बुरी तरह ग्रस्त हैं। लेकिन चतुरसेनजी पात्रों का मनोवैज्ञानिक निर्वाह कतई नहीं कर पाये हैं। उपन्यास में नियोजित घटनाएँ यथार्थ हो सकती हैं, लेकिन उनका निर्वाह अस्वाभाविक है। चरित्र भी यथार्थ हो सकते हैं, किन्तु उनका विकास अमर्यादित एवं विकृत है। चरित्रों का व्यक्तित्व इतना कमजोर है कि किंचित फिसलन में भी वे अपने को सम्हाल नहीं पाते। रेखा के प्रति लेखक की सहानुभूति दिखायी पड़ती है, किन्तु, पाठक उसे सहानुभूति नहीं दे पाता है; क्योंकि उसके पथ-भ्रष्ट होने की तर्कसंगत स्थिति का निर्माण कर सकने में लेखक सक्षम नहीं हो सका है। माया का राय से विकर्षण और वर्मा के प्रति आकर्षण कुछ हद तक तर्कसंगत है, लेकिन आचरण फूहड़ है।

शिल्प की दृष्टि से एक प्रयोग इस उपन्यास में किया गया है कि प्रत्येक पात्र अपनी कहानी अपने मुँह से कहता है। इसलिए एक पात्र के नाम पर कई-कई परिच्छेद हैं। ऐसा भी कभी-कभी अनुभव होता है कि प्रत्येक परिच्छेद कहानी कि पृष्ठभूमि में लिखा गया है और सब क्रमशः सजा देने पर उपन्यास की व्यापकता पा गये हैं। वर्णनशैली इस प्रकार की है कि उपन्यास का गठन निबन्धात्मक हो गया है, हाँलाकि, पाठक को बाँधे रखने की क्षमता उसमें है।

पूरे उपन्यास के पढ़ने के बाद यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि एक कथानक के माध्यम से लेखक ने कामशास्त्र की शिक्षा देने की चेष्टा की है। बड़े मनोयोग से कामशास्त्रीय दृष्टि से नायिका-भेद प्रस्तुत कर उनके लक्षण बताये गये हैं। इसी तरह की और भी बातें हैं, जिनसे उपर्युक्त मन्तव्य प्रमाणित होता है। इस क्रम में यत्र-तत्र मर्यादा का उल्लंघन कर लेखक अश्लीलता को भी स्पर्श करने लगता है। उपन्यास के अंत में प्रसिद्ध नानावती-आहूजा-सिलविया-कांड का प्रभाव भी स्पष्ट है, हालाँकि सुनीलदत्त के लिए नानावती से पृथक सजा का विधान कर पाठक को इस संदेह से मुक्त करने का असफल प्रयास लेखक ने किया है।

उपन्यास समाप्त करने बाद मुझे ऐसा नहीं लगा कि समय सार्थक हुआ।

हरी घाटी

लेखक – रघुवंश
प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
मूल्य—४.५०

प्रस्तुत पुस्तक यात्रा-वृत्तान्त जैसी है, लेकिन मात्र वही इसमें नहीं है। वर्णन में कथात्मक रोचकता है और लेखक स्वयं उसका नायकत्व ग्रहण करता है। प्रस्तुत कृति में लेखक का व्यक्तित्व किसी मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास के कुण्ठाग्रस्त नायक की तरह लगता है। प्रयाग की भीड़-भाड़ में वह ऐसा अकेलापन अनुभव करता है, जो उसे काटता है और उससे निकल कर हजारीबाग की हरी घाटी में शान्ति पाने के लिए लपकता है। लेकिन मन साफ नहीं रहने कारण लेखक यात्रा का वस्तुगत चित्रण खुल कर नहीं कर पाया है। वर्णन कुछ दृश्य-चित्रों, कुछ आस-पास के व्यक्तियों की विशेषताओं या खामियों एवं निजी मनःस्थिति तक सीमित रह गया है। एक तटस्थ पर्यवेक्षक की दृष्टि से लेखक वर्णन का निर्वाह नहीं कर पाया है। कहने का मतलब यह कि दृश्यों के निरीक्षण एवं वर्णन में सामाजिक दृष्टि का अभाव खलता है। कहीं-कहीं मात्र तथ्य-परक वर्णन ऐसे हैं कि नीरसता उपस्थित हो जाती है। यों वैयक्तिकता से आबद्ध रहने पर भी पुस्तक रोचक है।

गुजराती और उसका साहित्य

लेखक—डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
मूल्य—२.२५

'भारतीय साहित्य-परिचय' की एक कड़ी है यह छोटी-सी पुस्तक "गुजराती और उसका साहित्य" जिसे क्षेमचन्द्र सुमन के सम्पादकत्व में डॉ० पद्मसिंह शर्मा

'कमलेश' ने प्रस्तुत किया है। योजना के अनुसार ही यह पुस्तक मात्र परिचयात्मक है। योजना की उपयोगिता तो निर्विवाद है। अब समय आ गया है, जब भारतीय भाषा-साहित्यों को एक-दूसरे के समीप जाना चाहिए। इस प्रकार की पुस्तकों से उसमें सहायता मिलेगी। इस श्रृंखला में विज्ञापित अन्य पुस्तकों की भी प्रतीक्षा पाठकों को है।

पुस्तक के वर्त्तमान कलेवर में किसी भी भाषा-साहित्य का विस्तृत विवेचन सम्भव नहीं है। लेकिन संक्षेप में भी आलोचनात्मक दृष्टि देखी जा सकती है। डॉ० कमलेश की दृष्टि आलोचनात्मक कम, परिचयात्मक ज्यादा है। इतिहास-क्रम को इन्होंने तिथि-क्रम मात्र समझा है। आधुनिक काल का परिचय विस्तार से दिया गया है, आदि काल का उल्लेख मात्र है और मध्य काल अत्यन्त संक्षिप्त। हिन्दी-साहित्य के भक्ति काल की जो मनःस्थिति आचार्य शुक्ल ने बतायी है, वही डॉ० कमलेश ने गुजराती के मध्य काल की बतायी है। प्राचीन साहित्य की कुछ अधिक जानकारी खोज करके दी जाती तो अच्छा होता। गुजराती और हिन्दी के संत-साहित्य की तुलनात्मक समीक्षा भी अपेक्षित थी। पुस्तक का आकार थोड़ा बढ़ता भी तो कुछ नुकसान नहीं होता। वैसे, अपने वर्त्तमान आकार-प्रकार में पुस्तक हिन्दी-भाषियों के लिए उपयोगी है।

घड़ी का डायल

लेखक—श्री शिवशीतल अवस्थी

'घड़ी का डायल' श्री अवस्थी का प्रथम कहानी-संग्रह है। इन कहानियों को पढ़ने के बाद इतना कहा जा सकता है कि लेखक में कहानीकार की सम्भावनाएँ हैं; क्योंकि लेखक कथानक के स्वरूपनिर्माण के लिए साधारण जीवन की साधारण घटनाओं को टटोलता है। लेकिन कहानियों का स्वरूप-विधान बड़ा ही अनगढ़ है, उसे आकर्षणहीन भी कहा जा सकता है। जीवन को नजदीक से देखने का प्रयास तो झलकता है, पर दृष्टि में गहराई नहीं है। कथोपकथन का अत्यधिक प्रयोग कभी-कभी खटकने लगता है। 'एक अजीब लड़की' का शिल्प भी अजीब है। यथार्थवादी कथ्य की कथनशैली भी यथार्थ-वादी होनी चाहिए, काल्पनिक नहीं। 'घड़ी का डायल' आर्थिक कहानी है। कहीं-कहीं बिलकुल नये सामाजिक प्रश्न उठाने का प्रयास भी अवस्थीजी ने किया है। संक्षेप में, एक विशेषता सारी कहानियों में है कि वे जीवन की सामान्य एवं वास्तविक घटनाओं पर आधारित हैं। कुछ कहानियों की समस्याएँ घिसी-पिटी भी हैं। ऐसी आवृत्तियों से बचना चाहिए।

भाषा-सम्बन्धी भूलें अनेक स्थानों पर हैं। छपाई-सफाई भी आकर्षक नहीं है। —खगेन्द्रप्रसाद ठाकुर

हमें यह कहना है

चीनी आक्रमण से उत्पन्न प्रश्न

इतिहास साक्षी है कि अपनी स्वाधीनता की लड़ाई के जमाने में भी हमने अकाल, युद्ध और दैन्य से आक्रान्त चीन की सर्वतोमुखी सहायता की और अपनी स्वाधीनता के बाद भी हमने राष्ट्र-संघ में उसे स्थान दिलाने, एशियाई संगठन में, बांडुग आदि अधिवेशनों में मूल्य प्राप्त कराने की समस्त चेष्टायें कीं। विश्व में दूसरा कोई भी गुटों से स्वतंत्र राष्ट्र चीन का ऐसा शुरू से सहायक नहीं रहा, जैसा कि भारत। यहाँ तक कि जब देश के सभी सुधी और राजनीतिविद् तिब्बत को स्वतंत्र प्रजातंत्र, बल्कि भारत-सहयोगी प्रजातंत्र के रूप में रखना चाहते थे, तो हमारी सरकार ने तिब्बत पर चीन को अधिकृत मानकर क्षेत्र-विस्तार दिया। आज जब चीन ने समस्त सदाशयता को भुलाकर और अपने प्रति हमारी तमाम ऐतिहासिक देन पर अकृतार्थता जताकर हमारे क्षेत्र में जोरदार फौजी हमला किया है तो वह सब उपकार साँप को दूध पिलाने जैसी भूल, हमारे भूतपूर्व और वर्त्तमान अधिकारियों तक को प्रतीत हो रही है। यह सत्य बहुत पहले से ही देश के लोगों को प्रतीत हो चुका है कि चीन से संबंध जैसी विदेशी नीति और सीमा-सुरक्षा-नीति में कुछ ऐसी खामी अवश्य चली आ रही है, जो उदारता नहीं, बल्कि जिसमें अपने दुश्मनों की दाल गलने की जानी-बूझी गुंजाइश है। यह गुंजाइश अब नग्न होकर हमारे समक्ष है। चीन प्रजातांत्रिक देश नहीं है, बल्कि बर्बर-युग के व्यक्तिविचारविहीन शक्तिविचार पर चलनेवाला जैसा देश है। यही कारण है कि उसने तिब्बत की स्वायत्तता को ही नहीं, बल्कि उसकी सभ्यता, संस्कृति, धर्म और नागरिकों को भी बड़ी बर्बरता से रौंदा है। भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति को भी, यही कारण है कि, चीन की इस हरकत के विरुद्ध साफ कहना पड़ा है कि अब भारतीयों की इतनी ही माँग और कार्यवाही काफी नहीं होगी कि चीन हमारी सीमा से निकल जाय, बल्कि इसके लिए भी माँग और कार्रवाई करनी होगी कि उसे तिब्बत को भी स्वतंत्र छोड़ देना पड़े।

हमारे पत्र को सीधी सांस्कृतिक बातों से निस्बत है। इसी कारण हम अपने राष्ट्रीय विचारों, आचारों एवं अध्ययन-मनन की, हर तरह की व्यक्ति-स्वतंत्रता के हामी हैं। अपने देश की सरकार तक का इन व्यक्ति-प्रवृत्तियों में जब हमें हस्तक्षेप गवारा नहीं है, तो हम राष्ट्र के किसी क्षेत्र और वहाँ के जीवन पर चीन के हमले को असह्य मानते हैं। चीन ने तिब्बत की जनता और उसकी आत्मा की क्रूर हानि की है। अपनी थोड़ी-बहुत हानि को मिटाने के साथ-साथ हमें तिब्बत को भी चीनी पराधीनता से मुक्त कर हानिरहित करना है। ऐसी स्थिति की तैयारी के लिए हम अपने समस्त लेखकों, सहयोगी पत्रों, पुस्तक-प्रकाशन-व्यवसायियों और देश के विचार-आचार बनाने वालों को आह्वान देते हैं कि वे इस चीनी हमले के विरुद्ध देश के लोगों के मन को साहसी और हर तरह से सतर्क करें ताकि ऐसे समय में देश की हानि करने वाले हर किसी के विरुद्ध वे कठोर कदम उठाने के लिए तत्पर हों।

रजिस्टर्ड नं० : पी० ८०४ मूल्य : प्रत्येक अंक ३७ न० पै० वार्षिक चार रुपये

अखिलेश्वर पाण्डेय द्वारा संपादित, सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, पटना-४ में मुद्रित एवं प्रकाशित

पुस्तक-जगत

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

राजनीति-साहित्य में तथ्यपूर्ण मीमांसा का
एक अनुपेक्षणीय ग्रन्थ

भारत में वैज्ञानिक समाजवाद

लेखक : श्री बी० पी० सिन्हा, बी० एस्-सी०, बार-एट-ला (लंदन १९३१), बैरिस्टर, 'संघर्ष' और 'जनता' के संपादक, काशीविद्यापीठ, लॉ कॉलेज और कॉमर्स कॉलेज पटना के प्राध्यापक, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन तथा भारतीय समाजवादी आन्दोलन के प्रमुख स्तम्भ

मूल्य : ५.५० डिमाई १/८ पृष्ठ-संख्या : [illegible]

प्रस्तुत पुस्तक में छह खंडों में राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता, राष्ट्रीयता और समाजवाद, सभ्यता-संस्कृति-धर्म, राज्य-दल और देश, व्यक्ति-अधिकार आदि कुल विषयों पर सत्तावन निबन्ध प्रस्तुत हैं। विश्व-राजनीति, देशीय राजनीति एवं राष्ट्रीय व्यक्ति की समस्त तुलना एवं विवाद पर लेखक का संवादी विवेचन प्रत्येक राजनीति के विद्यार्थी एवं राजनीति तथा समाज विषय के पाठकों के लिए आवश्यपाठ्य है।

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना—४

खिलेश्वर पाण्डेय द्वारा

डायरी और फैंटेसी : एक नवीन साहित्यरूप

श्री श्यामसुन्दर घोष

[१] डायरी

डायरी नितान्त व्यक्तिगत लेखन है, लेकिन पिछले कुछ वर्षों से इसका विकास एक साहित्य-विधा के रूप में भी किया जा रहा है। अब तो यह एक सर्वस्वीकृत साहित्यिक माध्यम के रूप में मान्यता भी प्राप्त कर चुका है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में डायरी के पृष्ठ, साहित्यिक डायरी आदि स्तम्भ चलाये जा रहे हैं और पुस्तकरूप में डायरी के नीरस पृष्ठ (श्री इलाचन्द्र जोशी), कॉलेज-जीवन की डायरी (श्री धीरेन्द्र वर्मा) आदि कितनी ही पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। इस अवस्था में, इस विधा की विशेषताओं पर विचार करना आवश्यक है।

साहित्य-विधा के रूप में डायरी-लेखन का विकास, सम्भवतः इस बात के कारण हुआ लगता है कि इसमें और साहित्य-विधाओं की अपेक्षा ईमानदारी अधिक है। डायरी को नितान्त निजी कार्यों, विचारों और भावनाओं के विश्वस्त विवरणों के रूप में प्रस्तुत करना स्वाभाविक ही है। इसमें लेखक की नितान्त वैयक्तिक रुचि की ही प्रधानता होती है। किसी घटना, वस्तु या विचार के प्रति लेखक की निजी प्रतिक्रिया क्या है—यह जानने के लिए डायरी सबसे उपयुक्त साधन है। अन्य साहित्य-विधाओं की रचना के समय लेखक अतिरिक्त भाव से सचेष्ट रहता है। उदाहरण के लिये, एकांकी लिखते समय दर्शकों की मनोवृत्तियों और स्टेज की सुविधा-असुविधाओं का ध्यान रखना पड़ता है। कहानियों की रचना के क्रम में यथार्थ का भावबोध, समस्यामूलकता, कथानक और उसके विभिन्न उपकरणों का सम्यक् संतुलन आदि पर ध्यान देने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार, रिपोर्ताज या शब्द-चित्र की रचना करते हुए लेखक को लेखकीय दायित्व को निभाना पड़ता है और जिस विधा में रचना की जा रही होती है उसकी विशेषताओं का भी अनुगमन करना पड़ता है। मसलन, रिपोर्ताज-लेखन में सामने की वास्तविकता नजर-अन्दाज नहीं करनी होगी, क्रम-क्रम से उसीके विभिन्न स्तर उद्घाटित करने होंगे, कल्पना का पुट देने के लिए कम अवकाश होगा। अर्थात् इन सभी साहित्य-विधाओं के लेखन में लेखक के ऊपर एक बाध्यता होती है, सीमा का बंधन होता है, वह सर्वतंत्र स्वतंत्र नहीं हो पाता। लेकिन, डायरी-लेखन में ऐसी अनिवार्य बाध्यताएँ प्रायः नहीं हैं। डायरी डायरी है, इस रूप में इसमें पर्याप्त विविधता की गुंजाइश है। यदि डायरी व्यक्ति-मानस का चित्र है तो मानी हुई बात है कि सबकी डायरियाँ अलग-अलग ढंग की होंगी। इस दृष्टि से, डायरी का कोई बना-बनाया ढाँचा नहीं होता और न उसका निर्धारण किया जा सकता है। इसलिये, एक साहित्य-विधा के रूप में इसके कोई रूढ़-निश्चित लक्षण नहीं हैं जिनका पालन डायरी-लेखक के लिये अनिवार्य हो ही। वह अपने सामने जो भी पैटर्न रखेगा वह स्वाभाविक और उचित होगा। इस दृष्टि से, यह बड़ा लचीला साहित्य-रूप है, जिसको लेखक जिस भी ढंग से चाहे, मोड़ सकता है और मनमाना रूप दे सकता है।

जिस प्रकार डायरी में शैली की विविधता की पूरी गुंजाइश है, उसी प्रकार इसमें अनेक विषयों का समावेश हो सकता है। नितान्त वैयक्तिक भावों के ऊहापोह से लेकर साहित्य, राजनीति, धर्म, दर्शन की समस्याओं तक का इसमें समावेश हो सकता है। हाँ, इनकी समाविष्टि के क्रम में इस बात पर ध्यान रखना होगा कि विषयों का प्रस्तुतीकरण प्रायः ऐसा हो जो यह सिद्ध कर सके कि लेखक ने इन्हें डायरी के रूप में ही सोचा-समझा और लिखा है। इसलिए, विषयों का वैविध्य रहते हुए भी, उन सब के बीच से लेखक की वैयक्तिक रुचि का उभरकर प्रत्यक्ष हो उठना अनिवार्य है। फिर डायरी में विभिन्न विषयों का प्रवर्त्तन और प्रतिपादन इस

ढंग से भी होना चाहिये कि मालूम हो कि चर्चित विषय लेखक के घनिष्ठ प्रासंगों में से है। वर्ण्य-वस्तु पर अपनी प्रतीति की छाप डायरी-लेखक के लिये सबसे आवश्यक है।

डायरी-लेखक में प्रमुख शैली का सहजता है। जिस प्रकार डायरी लिखते समय हमारे सामने कोई पाठक-समुदाय नहीं होता, न मन में उसको प्रभावित करने की बात होती है, न हम किसी आलोचक या प्रशंसक की कल्पना करते हैं, वरन् केवल अपनी आत्मा की तुष्टि के लिये, विचारों को स्वाभाविक राह देने के लिये लिखते हैं; उसी प्रकार डायरी-लेखक को भी इस भाव से डायरी लिखना होगा कि पाठक समझें कि उसने किसी लेखक को उसके एकान्त में, उसकी स्वाभाविकता में देखा है। यदि डायरी पढ़ने पर ऐसा लगे कि वह पहले से छपने के लिए उद्देश्य रखकर ही लिखा गया है, तो वह डायरी नहीं होगी, और जो कुछ भी हो।

डायरी में विवरणात्मकता भी हो सकती है और कथोपकथन भी। उसमें एक से अधिक पात्रों का भी समावेश किया जा सकता है और उनकी गतिविधियाँ भी अंकित की जा सकती हैं और उनके चरित्रों के बारे में भी कुछ संकेत दिया जा सकता है। लेकिन, यह सब कुछ होते हुए भी, वहाँ लेखक का 'मैं' ही प्रधान होगा। जिस प्रकार हम अपने कमरे की खिड़की से बाहरी दृश्यों, घटनाओं और लोगों को देखते हैं, लेकिन, साथ ही यह भी नहीं भूलते कि दृश्य और दृष्टि को जोड़नेवाली यह खिड़की ही है, उसी प्रकार डायरी-लेखन में भी घटनाएँ, विवरण, चरित्र, कथोपकथन, सबके मूल में लेखक का 'मैं' ही होता है। इस रूप में डायरी उत्तम पुरुष में वर्णित कहानी के आसपास की चीज सिद्ध होती है।

डायरी-लेखन का विकास उसी समाज में सम्भव है जहाँ वैयक्तिकता का पर्याप्त प्रसार है। आधुनिक यंत्र-सभ्यता ने लोगों को अकेलेपन की जो अनुभूति दी है, उससे अकेलेपन का महत्त्व बढ़ गया है। हर व्यक्ति जानता है कि वह अकेला है। फिर हरेक का अकेलापन अपने-अपने किस्म का है। लेकिन, फिर भी एक-दूसरे को एक-दूसरे के अकेलेपन में रुचि मालूम होती है। इसलिये वह दूसरे के अकेलेपन से परिचित होना चाहता है। यह उसकी सामाजिक जीवन की माँग है। एक-दूसरे के इस अकेलेपन से परिचित होने के लिए डायरी सबसे उपयुक्त माध्यम है।

आधुनिक सभ्यता ने जबकि आदमी को दुहरी और तिहरी जिन्दगी व्यतीत करने के लिये बाध्य कर दिया है, तो उसकी आन्तरिकता कहीं बहुत गहरे जाकर छिप गई है। जगत के नाना प्रपंचों में मनुष्य का प्रकृत रूप खो-सा गया है। सभ्यता के आवरण इतने विविध और मोटे हैं कि सरल-सहज मनुष्यता ढूँढ़े नहीं मिलती। यों तो आज का सम्पूर्ण साहित्य ही इन प्रपंचों की बखिया उधेड़ने पर लगा है, लेकिन डायरी-लेखक सहज ही आज के मानव के बाह्य आवरण को भेद कर उसकी आन्तरिकता को प्रकाशित कर सकता है।

डायरी और संस्मरण

डायरी और संस्मरण में बहुत दूर तक समानता है। डायरी भी आखिर क्या है? बीती घटनाओं का लेखा-जोखा, या मन में आये हुए भावों और विचारों की तस्वीर। इस दृष्टि से इसमें संस्मरण के तत्त्व भी होंगे। पर, संस्मरण और डायरी में जो महत्त्वपूर्ण अंतर है, वह यह कि डायरी से हमारा निकट का संबंध होता है, जबकि संस्मरण में हम दूर की घटनाओं को उठाते हैं। डायरी में हम तुरत की बीती बातों का हवाला देते हैं, जो बहुधा वर्त्तमान की-सी मालूम होती हैं, जबकि संस्मरण में जो बातें कही जाती हैं, वे कब की बीती रहती हैं। उनके बारे में लिखते समय ऐसा लगता है कि स्मृति का सहारा लेकर उन्हें लिखा जा रहा है। डायरी की वास्तविकता सामने की वास्तविकता होती है, जबकि संस्मरण की वास्तविकता को पीछे मुड़कर देखना पड़ता है। डायरी में हम उस वर्त्तमान की बात भी कर सकते हैं जो अभी बीता नहीं है, जबकि संस्मरण में ऐसा करने की सुविधा नहीं होती।

डायरी और आत्मकथा

डायरी व्यक्ति-मानस का चित्र है और इस रूप में आत्मकथा के निकट है। यदि यह सत्य है कि व्यक्ति डायरी में अपने अन्तरंग क्षणों को वाणी देता है तो यह

उसकी आत्मकथा ही है। लेकिन, आत्म कथा और डायरी में अंतर यह है कि आत्मकथा में एक व्यवस्था होती है, उसमें आदि से लेकर अंत तक के विवरण रहते हैं, जीवन के विविध प्रसंगों की समायोजना रहती है; पर डायरी में यह सम्भव नहीं है। उसमें तो कुछ चुने हुए प्रसंगों को ही स्थान देना पड़ता है। प्रतिदिन हमारे जीवन में कितने ही प्रसंग आते हैं। उनमें जो सबसे मार्मिक, रोचक और मन को झकझोरनेवाले होते हैं, उन्हें ही डायरी में स्थान दिया जाता है। फिर डायरी में आये अनेक प्रसंगों के पूर्वापर संबंध को भुलाया भी जा सकता है, प्रसंग एक-दूसरे से स्वतंत्र भी हो सकते हैं। आज की डायरी कल की डायरी से नितान्त भिन्न भी हो सकती है, जबकि आत्मकथा में पूर्वापर संबंध के साथ-साथ एक तारतम्य रहता है। आत्मकथा का कोई प्रसंग डायरी के किसी प्रसंग की भाँति रोचक हो सकता है, पर उसकी रोचकता अधिकतर कथा की सम्पूर्णता पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से आत्मकथा और डायरी में वही अंतर है जो प्रबंध-कविता और गीतिकाव्य में।

[२] फैंटेसी

फैंटेसी का अर्थ है कल्पना, पर फैंटेसी-साहित्य-रूप से जिन रचनाओं का बोध होता है, उनके लिए अति-कल्पना शब्द अधिक सार्थक है। इस प्रकार की रचनाएँ बहुत हाल से लिखी जाती हैं, ऐसा माना जाता है— विशेषकर रेडियो के प्रचार-प्रसार के कारण—क्योंकि रेडियो के द्वारा अतिकल्पनाओं को अधिक सुगमतापूर्वक और अधिक स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। पर, रेडियो के प्रसार के पूर्व भी अतिकल्पनाओं की रचना हुई है। इस क्रम में भारतेन्दु-युगीन अतिकल्पनाओं या वैसे चित्रणों को लिया जा सकता है। वास्तव में अतिकल्पनाओं में कल्पना के जिस रूप के सहारे रचनाकार आगे बढ़ता है, वह आदिकाल से मानव-मन की विशेषता रही है। इसलिये यह कहना कि रेडियो के प्रचार-प्रसार के कारण ही अतिकल्पनाओं का लेखन सम्भव हुआ, मनुष्य की कल्पना-शक्ति को सीमित करके देखना है।

अतिकल्पना, जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट है, कल्पना का वह रूप सामने रखती है, जो सहज ही विश्वसनीय नहीं मालूम होता। लेकिन, इसके सहारे जो मार्मिक अनुभूति, विचार या सत्य व्यक्त होता है, उसी के कारण यह विश्वसनीय बनता है। सिद्धनाथ कुमार ने रेडियो-अतिकल्पनाओं पर विचार करते हुए लिखा है कि यथार्थ जगत् में जिन घटनाओं का होना सम्भव नहीं है, उन्हें रेडियो फैंटेसी में घटित होते चित्रित किया जाता है। उन्होंने उदाहरणों से यह बात स्पष्ट की है—"कवीन्द्र रवीन्द्र ने अपने एक निबंध में काव्य की अनेक उपेक्षिताओं की ओर संकेत किया है। उनमें शकुन्तला की सखियाँ अनुसूया और प्रियम्वदा भी हैं। कवि कालिदास ने उनकी भावनाओं के अंकन की ओर ध्यान नहीं दिया। हमारे मन में एक जिज्ञासा होती है कि वे क्या सोचती होंगी, उनके हृदय में कैसी भावनाएँ उठती होंगी।" इसे स्पष्ट करने के लिए सिद्धनाथजी ने एक रेडियो फैंटेसी 'वे अभी भी क्वारी हैं' की रचना की है। उस रचना का एक पात्र कलाकार माधव नामक व्यक्ति है।

वह "अनुसूया और प्रियम्वदा के विषय में सोचता-सोचता अपनी सुधबुध खो बैठता है, काल की लम्बी दूरी पार कर महर्षि कण्व के आश्रम में जा पहुँचता है और उदास एवं भग्नहृदया सखियों से बातें करता है।"

आज के मनुष्य ने चाहे जितनी भी वैज्ञानिक प्रगति की हो, लेकिन उसके लिए यह सम्भव नहीं है कि विगत का साक्षात्कार कर सके। कण्व, शकुन्तला और प्रियम्वदा, अनुसूया का युग बीत गया। यदि ये सभी पात्र कालिदास की कल्पना न होकर यथार्थ ही हों, तो भी इनसे साक्षात्कार सम्भव नहीं। लेकिन, 'वे अभी भी क्वारी हैं' का कलाकार माधव अनुसूया और प्रियम्वदा से साक्षात्कार कर पाता है। यह असम्भव है, इसीलिये यह कल्पना विश्वसनीय नहीं मालूम होती, लेकिन लेखक ने अतिकल्पना के सहारे जिस सत्य को व्यक्त करना चाहा है, यदि उसपर ध्यान दिया जाय तो इसकी अविश्वसनीयता विश्वसनीयता में परिणत हो जाती है। शकुन्तला से बिछुड़ी भग्नहृदया सखियों से मिलकर उनके भावों से परिचित होने के लिए यह असम्भव उपक्रम भी उचित जँचता है।

अतिकल्पना के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि उसका भी एक आधार होता है, चाहे वह आधार कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो। यह बात इसी उदाहरण के विश्लेषण से स्पष्ट हो जायगी। कालिदास अनुसूया और प्रियम्वदा को उस स्थल पर छोड़ देते हैं जहाँ शकुन्तला उन्हें रोती-बिसूरती छोड़कर अपने पति के घर के लिये रवाना होती है। इसके बाद कालिदास की दृष्टि शकुन्तला पर ही जमी रहती है। अनुसूया और प्रियम्वदा की ओर वे ध्यान नहीं दे पाते। इसलिए अनुसूया और प्रियम्वदा की स्थिति तद्वत् रह जाती है और आधुनिक कलाकार को उनके बारे में सोचने की आवश्यकता पड़ती है। अब यदि कालिदास अभिज्ञान-शाकुन्तलम् के अंत में, प्रसंगवश ही सही, यह कह देते कि वे भी विवाह करके पति-पुत्र के साथ सुखी हैं तो अतिकल्पना के लिए कोई आधार नहीं मिलता, क्योंकि तब उनसे साक्षात्कार करके उनके भावों से परिचित होने का कोई प्रश्न नहीं उठता। इसलिए, यह कहना संगत है कि अतिकल्पना भी एकदम निराधार नहीं होती।

अतिकल्पना की सम्भावनाओं पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि इसकी सम्भावनाएँ अनंत हैं। आज जबकि जीवन की जटिलता बढ़ती ही जा रही है, ऐसे लचीले साहित्य-माध्यमों की अतीव आवश्यकता है। देश के जो विभिन्न ऐतिहासिक स्थल हैं, सांस्कृतिक प्रतिष्ठान हैं, इतिहास, सभ्यता और संस्कृति के भग्नावशेष हैं उन्हें इस माध्यम से सफलतापूर्वक वाणी दी जा सकती है। यही क्यों, आधुनिक मानव अपने परिवेश और मन की समस्त जटिलताओं को व्यक्त करने के लिये इस साहित्य-रूप का सुन्दरता से उपयोग कर सकता है। अभी इस साहित्य-रूप का पर्याप्त विकास नहीं हुआ है, लेकिन यह कहना असंगत नहीं होगा कि विभिन्न वैज्ञानिक साधनों, रेडियो आदि से सहायता लेकर इस विधा को अधिक-से-अधिक विकसित और उपयोगी बनाया जा सकता है।

अतिकल्पनाओं में अतिकाल्पनिकता तो होती है, पर लेखक का यह प्रयास होता है कि वह अधिक-से-अधिक स्वाभाविक प्रतीत हो। जिस प्रकार कला अनुकरण है, लेकिन वही कला श्रेष्ठ समझी जाती है जो अनुकरण होकर भी अधिक-से-अधिक नैसर्गिक मालूम होती हो, उसी प्रकार अतिकल्पना की काल्पनिकता को अधिक-से-अधिक विश्वसनीय बनाना पड़ता है। कल्पना कीजिये कि किसी रेडियो-अतिकल्पना में बादल को एक पात्र मानकर प्रस्तुत किया गया है, लेकिन उसके स्वरों से बादल की-सी मन्द्रता, गंभीरता और गड़गड़ाहट का भाव व्यक्त नहीं होता, इस स्थिति में बादल के स्वर अस्वाभाविक होंगे। इसी प्रकार किसी मरणोन्मुख व्यक्ति का यमराज से साक्षात्कार कराये जाने के क्रम में अति-कल्पना के वातावरण को उस साक्षात्कार के अनुरूप बनाना होगा, नहीं तो उसका प्रभाव तो बिखरेगा ही, वह स्वाभाविक भी नहीं मालूम होगा।

अतिकल्पना-लेखक की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह कल्पना तो एक-से-एक विकट और अविश्वसनीय ढंग की करे, लेकिन जब उसे रूपायित करने लगे तो अधिक स्वाभाविक और ग्राह्य बनाये। इस क्रम में इस बात पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है कि

उसमें किसी मार्मिक सत्य, विचार या अनुभूति का समावेश किया जाये। ऐसा नहीं होने से अतिकल्पना में स्वाभाविकता नहीं आयेगी। उदाहरण के लिए, ऐसी कल्पना की जा सकती है कि एक दम्पती आर्थिक कठिनाइयों के कारण आत्महत्या कर लेते हैं, जिनकी आत्मा कहीं स्वर्ग-नरक नहीं जाती, वरन् अपने घर के आस-पास ही भटकती रहती है। अब यदि अतिकल्पना-लेखक मृतात्माओं की यह भटक ही दिखाकर रह जाता है, उसका कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं करता, तो अतिकल्पना में स्वाभाविकता नहीं आयेगी। लेकिन, यदि वह भटकती हुई मृतात्माओं को जीवन की आलोचना करते हुए दिखाता है, उनसे यह कहलवाता है कि आत्महत्या करने के बाद भी समस्याएँ सुलझी नहीं, उन्हें चैन नहीं मिला, तो इससे अतिकल्पना में स्वाभाविकता आ जायेगी। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अतिकल्पना में सोद्देश्यता के कारण ही स्वाभाविकता का समावेश होता है।

बिहार की नयी कविता

कुमारी सीमा सिंह

निराला और पंत के बाद हिन्दी-कविता की आधुनिक प्रवृत्ति अभिव्यक्ति की प्रतीक्षा करती रही। काव्य की नयी आवश्यकता का अनुभव द्वितीय विश्वयुद्ध के के पूर्व ही होने लगा था। सौभाग्य की बात है कि हिन्दी-कविता में प्रयोगवाद का आरंभ नलिनविलोचन शर्मा की कविताओं से हुआ। यह घटना सन् १६३६-३८ की है। अज्ञेय तथा उनके अन्य सहयोगियों का यह फतवा—"प्रयोगवाद—एक विशेष साहित्यिक प्रवृत्ति जिसका जन्म हिन्दी काव्यक्षेत्र में तारसप्तक (१६४३) के प्रकाशन के साथ माना जाता है"—एकदम आधारहीन है। जिस समय 'नकेन' के कवियों ने प्रयोगवादी कविताओं को लिखना शुरू किया था—बिहार से बाहर मात्र एक ही कवि था जो इस प्रवृत्ति की ओर उन्मुख था और वह कवि है—शमशेर बहादुर सिंह। इस काल में अज्ञेय तथा उनके तथाकथित सहयोगी कवि छायावाद से प्रभावित कविताएँ लिखा करते थे। यह दूसरी बात है कि 'नकेन' तथा शमशेर की कविता-पुस्तकों का प्रकाशन विलंब से हुआ, जबकि अज्ञेय अपने उद्योग के माध्यम से शीघ्र प्रकाश में आ गये। स्पष्ट है, नलिनविलोचन शर्मा, केसरी कुमार और नरेश की कविताओं के साथ ही हिन्दी काव्य-जगत में अत्याधुनिक प्रवृत्तियों का एक नया अध्याय जारी हुआ।

काव्य के इस नये आन्दोलन की प्रगतिशीलता भाषा और शिल्प-प्रयोगों तक ही सीमित नहीं है। नैतिक जिज्ञासा के नये मूल्यों और प्रतिमानों की खोज तथा उन आधारों एवं स्रोतों का अन्वेषण जहाँ से मूल्य उत्पन्न होते हैं, इसकी मूल प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति को उभारकर हिन्दी कविता को एक नया मोड़ देने का सारा श्रेय 'नकेन' के प्रपद्य को है। 'कविता', 'विविधा' 'आयाम', 'आधुनिक कविताएँ', 'काव्य-संकलन', 'रेखाएँ', 'अपरंपरा' आदि के प्रकाशन से हिन्दी-कविता को इस प्रवृत्ति को बल मिला। काव्य का स्वरूप युग-जीवन की विकसित अवस्थाओं से ही गति-प्रेरणा लेकर गठित होता है। आज का युग विज्ञान का युग है। विज्ञान अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ मानवता के भावना-क्षेत्र को आक्रान्त कर रहा है; पर मनुष्य का चिर-संवेदनशील हृदय प्रज्ञा द्वारा नियंत्रित नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि आज की कविता में विज्ञानजनित तर्क और मर्म के अनिवार्य स्पंदन का अद्भुत सम्मिश्रण है।

आज बिहार नयी कविता का गढ़ है। नलिन-विलोचन शर्मा, केसरी कुमार, नरेश, शिवचन्द्र शर्मा, श्यामनन्दन सहाय 'सेवक', मदन वात्स्यायन, अवधेश कुमार सिंह, राजेन्द्र किशोर, रणधीर सिन्हा, रामनरेश पाठक, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, सिद्धनाथ कुमार, नर्मदेश्वर प्रसाद, सकलदीप सिंह, शान्ता सिन्हा, जवाहर सिंह, उमाकान्त वर्मा, नरेन्द्र सिनहा, राजकमल चौधरी, जय घोष, प्रभाकर मिश्र, मधुकर गंगाधर, सत्यदेव शांतिप्रिय, श्यामसुन्दर घोष, बजरंग वर्मा, रॉबिन शॉ 'पुष्प', श्रीराम तिवारी, सुरेन्द्र चौधरी, योगेन्द्र चौधरी, कृष्णनन्दन 'पीयूष', रघुनाथ शान्ति सत्यायन, अंकिमचंद्र, गोपाल प्रसाद, कुमारी राधा, मधुकर सिंह, रामेश्वर सिंह काश्यप आदि अनगिन नाम हैं जिनसे हिन्दी नयी कविता के भावी उत्कर्ष की आशा बँधती है। कुछ दूसरी धाराओं के कवि भी नये आन्दोलन से प्रभावित हुए हैं। ऐसे कवियों में रामधारी सिंह 'दिनकर', नागार्जुन, रामप्रिय मिश्र 'लालधुआँ', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', हरेन्द्रदेव नारायण, कन्हैया आदि के नाम प्रमुख हैं। साहित्य का इतिहास इन नामों को छोड़ आगे बढ़ ही नहीं सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं की ये सारे नाम बिहार से ही आते हैं। इन कवियों में मूल्यों के प्रति एक नयी और गंभीरतर आस्था है और इसके साथ ही उन मूल्यों तथा प्रतिमानों की सात्विकता और वास्तविकता का बोध इन्हें है। भविष्य इनके प्रति आशान्वित है।

आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रेम और शृंगार

लेखक : डॉ० रांगेय राघव
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली
मूल्य : ६.०० रुपये

लेखक ने इस पुस्तक में आधुनिक हिन्दी-कविता को वाद-दृष्टि त्यागकर एक "नई" दृष्टि से देखने का दावा किया है। उसने इस बात पर जोर दिया है कि हमें किसी भी वाद को सापेक्ष दृष्टि से देखना चाहिए और "पहले हम नये चिन्तन को भारतीय चिन्तन के समक्ष रखकर देखें और तब निष्कर्षों पर पहुँचें।" उसने माना है कि काव्य के मूल्यांकन के सभी वादों या सिद्धान्तों में रस-सिद्धान्त सर्वाधिक वैज्ञानिक है, 'अखण्ड' है, विश्वजनीन है। मार्क्सवादी साहित्यालोचन अग्राह्य है और उसके सिद्धान्त अपरिवर्तनशील रूप से सबपर लागू नहीं होते। "प्रत्येक देश के साहित्य में विभिन्न विशेषतायें होती हैं, भेद के होते हुए भी एक सार्वभौम मानवीयता उनके भीतर रहती है जो शताब्दियों को भेद जाती है।" इसी 'नई' और 'देशीय' दृष्टि से डॉ० रांगेय राघव ने आधुनिक हिन्दी-कविता पर दृष्टिपात किया है।

भूमिका के अतिरिक्त पुस्तक के अन्य अध्याय हैं—वासना : पुरुष, वासना : नारी, रूप का उफान, भोर से साँझ तक और फागुन से पावस। यद्यपि विवेचना का विषय आधुनिक हिन्दी-कविता में "प्रेम और शृंगार" है, फिर भी, पता नहीं क्यों, लेखक ने 'प्रेम' के स्थान पर 'वासना' शब्द का ही प्रयोग किया है, यद्यपि विवेचना प्रेम की है (प्रेम शब्द को जैसा हम आज समझते हैं, उसमें वासना भी अंगीभूत है), सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में वासना के क्रमिक विकास पर भी लेखक ने प्रकाश डाला है। वैदिक काल में शारीरिक मिलन का प्रभुत्व था, वीर-गाथाओं में नारी यौवन केवल भोग का साधन रहा, सूफी-साहित्य में स्त्री-पुरुष समान रूप से एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं जबकि वह प्रेम सदैव रूपाकर्षण से जन्म लेता है, रीति-काल में स्त्री-पुरुष की शारीरिक वासना प्रधान रही। हिन्दी के नव-जागरण-काल में नारी को पुनः सम्मान मिला। द्विवेदी-युग में वासना के पक्ष को अगर पारिवारिक मर्यादा ने ढँक लिया तो छायावादी युग में प्रेम को फिर स्वतंत्र करने की चेष्टा हुई। किन्तु, इसके मूल में भी शरीर की वासनाओं का दमन था, जिसे नई कविता ने अस्वीकार कर दिया और शरीर-धर्म की पवित्रता को स्वीकार किया। उसने माना कि स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के पूरक हैं और स्त्री को भी प्रेम की स्वतंत्रता का उतना ही अधिकार है, जितना पुरुष को—

"मैं ही शेष रहूँ क्यों जग में, मुझको भी कुछ पा लेने दो।
मधुर वेदना-दीप सजा है, तिल-तिल मन का स्नेह जला है।
बन साकार राग दीपक वह—आज लगाने आग चला है।
मन की पीर कहाँ जाये रे, कुछ तो ज्वाल बुझा लेने दो।"
—निर्मला माथुर

"डूब जाये नाव तो कुछ दुख न होगा, किंतु इतना
जान लूँ तूफान क्या है?
है किनारे की न कुछ परवाह मुझको, किंतु इस मझधार की
पहचान क्या है?"
—कुमारी राज

"तुम्हें कल्पना की बाहों में, पुलकित हहर-हहर भर लूँगी।
मेरे देव, तुम्हारी निधियाँ तुमको ही अर्पित कर दूँगी।
मैं सुन्दर सुधियों, सपनों में, हँस-हँसकर अभिसार करूँगी।"
—श्यामकुमारी सिंह

इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। नारी की यह वासना-अभिव्यक्ति है, किन्तु उसके हृदय की कोमलता सदा ही बनी रही। उसने रूप का सृजन किया, किन्तु स्वाधिकार के प्रति जागरित होकर भी वह कहीं कटु और पुरुष-विरोधी अहंकार का शिकार नहीं हुई।

रूप की सृष्टि में नये कवियों ने किस मधुर कल्पना और अद्भुत को जन्म दिया है, इसके अनेक उदाहरण पुस्तक में दिये गये हैं—

"छाये ये शिशिर के मेघ
[illegible] उनींदे-से

उजली धूप के नभ और
धरती पर पहरुए-से
आये हैं समेटे एक
ठिठुरन श्वेत दामन में!"
—घनश्याम अस्थाना

"ये शरद के चाँद-से उजले धुले-से पाँव मेरी गोद में।
ये लहर पर नाचते ताजे कमल की छाँव मेरी गोद में।
दो बड़े मासूम बादल, देवताओं से लगाते दाँव मेरी गोद में।"
—धर्मवीर भारती

इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने आधुनिक हिन्दी-कविता का एक नई दृष्टि से मूल्यांकन किया है। जो कुछ वह कहना चाहता है, उसके लिए उसने पर्याप्त सामग्री एकत्रित की है। किन्तु, सम्पूर्ण पुस्तक में कहीं भी यह नहीं बताया गया है कि "आधुनिक" हिन्दी-कविता में किस समय से किस समय तक की कवितायें ली गई हैं। क्या केवल नई कविता? ऐसा बिलकुल नहीं है। क्या द्विवेदी-युग के बाद की सम्पूर्ण खड़ी बोली (हिन्दी) की कविता? तो फिर निराला, पन्त, प्रसाद या महादेवी आदि का कहीं भूलकर भी नाम क्यों नहीं लिया गया? ऐसा नहीं है कि विवेच्य विषय पर 'नई दृष्टि' में आने योग्य लेखक ने कुछ लिखा ही नहीं। यह बात तब और भी खटकती है जब कतिपय लेखकों के उदाहरण बार-बार दिये जाते हैं।

बड़ों से मिलने के विचित्र अनुभव

लेखक—डॉ० महेशनारायण
वितरक—बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना-४
मूल्य—३.०० रुपये

पुस्तक में बापू, पं० मदनमोहन मालवीय, राजेन्द्र प्रसाद, ठाकुर, नेहरू, जयप्रकाश, नेताजी, सावरकर, सरदार पटेल, विनोबा, विजया लक्ष्मी पंडित, कृपलानी, दीनबन्धु एण्ड्रूज़, डा० सच्चिदानन्द सिन्हा, श्रीकृष्ण सिंह, राहुल सांकृत्यायन और बटुकेश्वर दत्त से मिलने के अनुभव दिये गये हैं। ये अलग-अलग अपने आपमें स्वतंत्र लेख इन महापुरुषों से मिलने के संस्मरण-मात्र नहीं हैं, बल्कि "अनुभव" हैं, इसलिए ये विवेचना-प्रधान न होकर लेखक की दृष्टि से आत्म-प्रधान अधिक हैं। इन अनुभवों का आकर्षक पक्ष वह है जहाँ लेखक एक अनचीन्हा-अपरिचित होते हुए भी इन महापुरुषों से मिलने पर सफल हो पाता है। चूँकि ये अनुभव बाद की प्रौढ़ावस्था में लिपिबद्ध किए गये हैं, इनमें चर्चित महापुरुषों का एक साधारण परिचय भी दिया गया है, जो विषय को अधिक सूचनात्मक बना देता है। पुस्तक में इन बड़ों के विचारों पर भी प्रकाश डाला गया है और यत्र-तत्र उनके दुर्बल मानवीय पक्ष की भी चर्चा की गई है। यह निश्चित-सी बात है कि लेखक के स्मृति-कोष में दूसरे बड़े लोगों से भी मिलने के अनुभव होंगे, किन्तु जिन महापुरुषों (श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित को छोड़कर!) से मिलने के अनुभव यहाँ दिये गये हैं, वे देश के अत्यन्त लोकप्रिय व्यक्ति हैं। यह कहना आवश्यक नहीं कि ये अनुभव बड़े रोचक हैं। पुस्तक पठनीय है, विशेषतः स्वतंत्रता के कुछ पूर्व या पश्चात् उत्पन्न होनेवाली उस पीढ़ी के लिए जो देश के इन निर्माताओं के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत कम जानकारी रखती है। कुछ घटनायें एक से अधिक स्थानों पर लगभग एक ही शब्दों में दुहरा दी गई हैं जिनसे बचा जा सकता था—कम-से-कम प्रस्तुत करने की शैली और शब्दों में तो परिवर्त्तन किया ही जा सकता था। यह शीर्षकों के सम्बन्ध में भी सही है, जैसे "नेहरू से जब हस्ताक्षर लेने गया था", "जब मैं नेताजी से हस्ताक्षर लेने गया था" या "जब मैंने बापू के चरण छुए थे।" हस्ताक्षर लेने की बात सर्वत्र कहना कोई आवश्यक नहीं था।

भारतीय स्वाधीनता-संग्राम का इतिहास

ले०—इन्द्र विद्यावाचस्पति
प्र०—सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
मू०—५.५० न० पै०

एक प्रसिद्ध पत्रकार और देशसेवक ने इस पुस्तक में सन् १८५७ से लेकर स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय तक के स्वतंत्रता-संग्राम का इतिहास दिया है। हिन्दी में स्वतंत्रता-संग्राम पर जो भी साहित्य उपलब्ध हैं, उनमें श्री विद्यावाचस्पतिजी की यह पुस्तक अपना एक स्थान रखती है।

सस्ती, सुन्दर, सुरुचिपूर्ण

प्रत्येक का मूल्य 1/-

★ **दरवाज़े खोल दो : कृश्नचन्दर**

यह व्यंग्यात्मक नाटक कृश्नचन्दर की नई देन है। स्टेज और रेडियो दोनों पर दर्शकों और श्रोताओं ने इसका भरपूर स्वागत किया है।

★ **अशू : अमृता प्रीतम**

पंजाब की काव्य-कोकिला अमृता प्रीतम का यह उपन्यास रोमांटिक भावनाओं से भरपूर है। प्रेम की पीर और नारी की विवशता का चित्रण तो अभूतपूर्व है।

★ **आस-निरास : राजबहादुर सिंह**

कला की खोज में भटकते हुए एक कवि की कहानी जो आशा और निराशा, प्यार और तिरस्कार की तरंगों में डूबती-उभरती आगे बढ़ती है।

★ **हृदय की परख : आचार्य चतुरसेन**

इस उत्कृष्ट सामाजिक उपन्यास की रहस्यमयी नायिका की मार्मिक जीवन-गाथा समाज के लिए बहुत बड़ी चेतावनी प्रस्तुत करती है।

★ **बेबसी : वसन्त कानेटकर**

नई, रोचक और कलापूर्ण शैली में मध्यवर्ग के जीवन की बेबसी का ऐसा रोमांचकारी वृत्तांत — जो सराहनीय भी है, शोचनीय भी।

★ **लहराते आँचल : सं० प्रकाश पण्डित**

उर्दू-कवयित्रियों की कलम का जादू। भारत और पाकिस्तान की ३३ प्रमुख कवयित्रियों की बेहतरीन नज़्में, ग़ज़लें और रुबाइयाँ।

★ **चन्द्रनाथ : शरतचन्द्र**

समाज-विरोधी रूढ़ियों और परम्पराओं से विद्रोह तथा नारी के प्रति असीम श्रद्धा— ये हैं इस महान उपन्यास की विशेषताएँ।

दुर्गेशनन्दिनी : बंकिमचन्द्र

अजीब बाँकी कहानी—कहीं वीरता के कारनामे तो कहीं प्रेम का अनोखा चित्रण।

हिन्द पॉकेट बुक्स, प्रा० लि०,

जी० टी० रोड, शाहदरा, दिल्ली—३२

गाँधी-युगीय स्वाधीनता-संग्राम में तो लेखक का स्वयं सक्रिय योगदान रहा, इसलिए इस इतिहास को प्रस्तुत करने में तो वह अधिकार का भी दावा कर सकता है। किन्तु, इसके पहले का भी इतिहास इतने अध्ययन के पश्चात् लिखा गया है कि वह भी कम अधिकारपूर्ण नहीं है। स्वतंत्रता-संग्राम में मोड़ देनेवाली घटनाओं, जैसे सत्तावन की क्रान्ति, काँग्रेस का जन्म, बंग-भंग, पंजाब-हत्याकांड, १६२६ की पूर्ण-स्वाधीनता की घोषणा, नेताजी का पलायन, बयालिस का विद्रोह, विभाजन आदि का अत्यन्त ही रोमांचक, तथ्यपूर्ण वर्णन किया गया है। हिन्दुस्तान के ढाई-तीन हजार वर्षों के इतिहास में—या लगभग पाँच हजार वर्षों के सम्पूर्ण इतिहास में—घटनेवाली सबसे महत्त्वपूर्ण और दुःखद घटना—देश के विभाजन का वर्णन अत्यन्त सजीव है। "पाकिस्तान का प्रादुर्भाव" अत्यन्त ही मौलिक अध्याय है। पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता है, स्वाधीनता-संग्राम की दोनों परम्पराओं—वैधानिक या शान्तिपूर्ण और आतंकवादी—का सन्तुलित विवेचन। अगर पुस्तक में काँग्रेस का इतिहास छाया हुआ है तो वह अत्याज्य था, क्योंकि काँग्रेस ही हमारे राष्ट्रीय संघर्ष का मुख्य संगठन रही है। गोखले की शान्तिपूर्ण प्रणाली और तिलक की संघर्षशीलता दोनों गाँधीजी के निर्भीक लड़ाकू असहयोग-सत्याग्रह में शामिल थीं और सन् बयालिस के विद्रोह तथा नेताजी के आजाद हिन्द फौज के अतिरिक्त अन्य कोई महत्त्वपूर्ण आतंकवादी परम्परा का संघर्ष नहीं हुआ। लेखक ने इतिहास के साथ पूरा न्याय किया है। छोटे टाइप और सटी पंक्तियों में छपी यह पुस्तक स्वतंत्रता के इतिहास में अभिरुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक अवश्यपाठ्य है।

गाँधीवादी संयोजन के सिद्धान्त

ले०—श्रीमन्नारायण
प्र०—सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
मू०—५·०० रुपये।

इसमें लेखक की तीन पुस्तिकाओं—"भारत के आर्थिक विकास की गाँधीवादी संयोजना" (१६४४), इस 'गाँधीवादी योजना' की आलोचनाओं के उत्तर में लिखी गई 'गाँधीवादी संयोजन की परिपुष्टि' (१६४८) और भारतीय संविधान-सभा के विचार-विमर्श के समय प्रकाशित 'स्वाधीन भारत का संविधान' (१६४६)—के अतिरिक्त वे लेख भी दिये गये हैं जिन्हें लेखक ने राष्ट्रीय काँग्रेस के प्रधान सचिव की हैसियत से 'आर्थिक समीक्षा' में लिखा था। इसके साथ ही वे लेख भी हैं जो लेखक द्वारा १६५८ में योजना-आयोग का सदस्य हो जाने पर लिखे गये थे। इनमें यह बताया गया है कि समाजवादी समाज की रचना किस प्रकार हो सकती है। पुस्तक अँग्रेजी में 'प्रिंसपुल्स आफ गाँधियन प्लैनिंग' के नाम से प्रकाशित हो चुकी है।

गाँधीवादी अर्थशास्त्र और संयोजन के श्रीमन्नारायण आधिकारिक विद्वान हैं। उनकी "भारत की आर्थिक विकास की गाँधीवादी संयोजना" पर स्वयं गाँधीजी ने ही लिखा था—"मुझे यह कहते हुए दुख होता है कि मैं इस प्रबन्ध को जितने ध्यान से पढ़ना चाहिए था, नहीं पढ़ पाया हूँ, फिर भी मैं यह कह सकने के लिए काफी पढ़ चुका हूँ, कि किसी भी जगह उन्होंने मेरी गलत व्याख्या नहीं की है।" "गाँधीवादी संयोजना की परिपुष्टि" की भूमिका में राजेन्द्रबाबू ने कहा—"पुस्तक का विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और हमारे जीवन से उसका घनिष्ट संबंध है। यों इस विषय पर पुराने ढंग पर बहुत-सा साहित्य लिखा पड़ा है, परन्तु गाँधीजी के सिद्धांतों पर आधारित जीवन-दर्शन का थोड़े में परिचय देने वाली पुस्तकें बहुत कम देखने में आती हैं। इसलिये यह पुस्तक और भी स्वागत के योग्य है।" पुस्तक की प्रामाणिकता और महत्ता पर ये दो उद्धरण अलम् प्रकाश डालते हैं।

संयोजन का विचार पाश्चात्य देशों और औद्योगिकरण की देन है। पुस्तक में भारत में योजना का इतिहास बताते हुए संयोजन के विभिन्न रूपों तथा लक्ष्यों की चर्चा की गई है। अपने सम्बन्ध में लेखक स्पष्ट रूप से कहता है—"परन्तु इस विषय (योजना के लक्ष्य) में मुझे डॉ० सनयात सेन के तीन सिद्धान्त—राष्ट्रीयता, प्रजातंत्र और जीविका—सबसे अच्छे लगे। वास्तव में हमारा

इस मास के नए प्रकाशन

❀ भगवद्गीता ❀

विस्तृत भूमिका और सम्पूर्ण भाष्य

लेखक : डॉ० राधाकृष्णन्

इस ग्रंथ में डॉ० राधाकृष्णन् ने नये आलोक में भगवद्गीता के संदेशों की आधिकारिक और प्रेरणाप्रद व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका यह ग्रंथ भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक यात्रा के लिए मार्गदर्शक सिद्ध होगा।

मूल्य : १२·००

आखिरी आवाज़

ले० रांगेय राघव

अपने इस अंतिम उपन्यास में लेखक ने गाँव में चलने वाले छल-प्रपंच, धोखा-फरेब, उत्पीड़न-शोषण का गहरे पर्यवेक्षण से वर्णन किया है। कथा का प्रवाह ऐसा तीव्र है कि पाठक कथा के अन्त की ओर बहते चले जाने पर मजबूर हो जाता है।

मूल्य : ७·००

तूफ़ान और एक ज़िन्दगी

ले० मामा वरेरकर

इस सशक्त उपन्यास में जहाँ एक ओर व्यक्ति की विवशता, स्नेह, प्यार और स्वार्थ की गाथा है वहाँ दूसरी ओर परम्पराप्राप्त संस्कारों, पूर्वाग्रहों, दुराग्रहों को भी यथार्थ रूप से प्रस्तुत किया गया है।

मूल्य : ३·००

दूर देश की कहानियाँ

लेखक : कृश्नचन्दर

बच्चों के लिए विभिन्न देशों की विचित्र कहानियों का उपहार लेकर आए हैं कृश्नचन्दर ! इन कहानियों को पढ़ कर बच्चे झूम-झूम उठेंगे।

मूल्य : १·५०

संयोजन राष्ट्र की अपनी संस्कृति और सभ्यता पर आधारित होना चाहिए।" फिर उसने दो और सिद्धान्त बताये —संयोजन में जनता के साथ फौजी ढंग का 'रेजीमेन्टेशन' न हो और हर नागरिक को सम्मानपूर्वक और न्यायपूर्वक रोजी कमाने का अधिकार हो। गाँधीजी के चार मूल सिद्धान्त हैं जिनपर उनकी सामाजिक रचना का स्वरूप आधारित है—सादगी, अहिंसा, श्रम-धर्म की पवित्रता और मानवीय मूल्य। इन विचारों की व्याख्या में न केवल गाँधीजी के मूल विचार उद्धृत किए गये हैं वरन् लास्की, एच० जी० वेल्स, रस्किन आदि पाश्चात्य विचारकों के भी, जिससे पुस्तक "आधुनिक मस्तिष्क" के लिये अधिक बोधगम्य हो गई है। विकेन्द्रीकरण, औद्योगिकरण, राष्ट्रीयकरण आदि विषयों पर गाँधीजी के विचारों की व्याख्या मान्य और वैज्ञानिक है। स्वतंत्रता के बाद गाँधीवादी परम्परा में चलने वाले सबसे बड़े रचनात्मक आन्दोलन भूदान की व्याख्या के साथ काँग्रेसी सरकार के संरक्षण में चलनेवाली राष्ट्रीय संयोजना तक पर विचार-विमर्श कर लेखक ने पुस्तक को अद्यतन बना दिया है।

गाँधीवादी संयोजना और अर्थशास्त्र की यह एक अनुपम पुस्तक है।

क्रान्ति का दर्शन

लेखक—गैमल अब्द-अल नासेर
प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
मूल्य—१. ५० नये पैसे

संयुक्त अरब गणतंत्र के राष्ट्रपति कर्नल नसेर आज न केवल एशिया वरन् विश्व की राजनीति में एक स्थान रखते हैं। एक त्रस्त, टूटे हुए, जर्जर मिश्र देश को जुलाई सन् ५२ की क्रान्ति तक ले जाने वाले और अब उसे समाजवाद के पथ पर बढ़ाने वाले कर्नल नासेर आज सम्पूर्ण अरब-संसार के जागरण के प्रतीक बन गये हैं। मिस्र-क्रान्ति के सम्बन्ध में उनके विचारों का यह संकलन क्रान्ति का कोई शास्त्रीय विवेचन नहीं है वरन् एक क्रान्तिकारी सैनिक-गुट के प्रधान नेता के आत्म-प्रधान विचारों की अभिव्यक्ति है। कर्नल नासेर के ही शब्दों में 'क्रान्ति के दर्शन पर ये विचार एक पुस्तक के रूप में छपने के लिये नहीं थे। ये इस बात के प्रयास हैं कि हम उन उद्देश्यों का पता लगायें, जिनको हमें साध्य बनाना है और उस शक्ति को ढूढ़ें जिसको हमें उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए परिचालित करना चाहिये। इसमें उन 'भावनाओं' की बात है जो एक अस्पष्ट आशा के रूप में आरंभ होकर जुलाई सन् ५२ की क्रान्ति में परिपक्व हुईं; साथ ही उन अनुभवों का भी जिनके आधार पर उन भावनाओं, अस्पष्ट आशाओं और विचारधाराओं को क्रान्ति के बाद उसके आगे कार्यान्वित किया गया, किया जा रहा है।' इन 'भावनाओं' और 'अनुभवों' का न केवल हम भारतीयों के लिये बल्कि एशिया और अफ्रिका के सम्पूर्ण नवजागरित देशों के लिये एक सामान्य महत्त्व हो जाता है, क्योंकि हम सभी लगभग उन्हीं भावनाओं से प्रेरित हैं, उन्हीं अनुभवों से गुजर रहे हैं। क्रान्ति के

सम्बन्ध में कर्नल नासेर का यह कहना कि प्रत्येक राष्ट्र दो क्रान्तियों से गुजरता है—राजनीतिक और सामाजिक-सारे विश्व के पैमाने पर सही है किन्तु एशिया-अफ्रिका के नये देशों के लिये जो विशेष द्रष्टव्य बात है वह यह कि उन्हें जैसा कि नासेर ने अपने देश के सम्बन्ध में कहा है, इन दोनों क्रान्तियों से एक साथ ही गुजरना पड़ रहा है और यही उनके लिये एक महान् प्रयोग और परीक्षा का समय है। ऐसे समय में क्रान्ति की सफलता दो बातों पर निर्भर करेगी—सामने आनेवाली परिस्थितियों को ठीक समझना और तुरन्त कार्य करने की योग्यता। क्रान्ति के सम्बन्ध में नासेर के ये दो मूल विचार हैं।

जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है, पुस्तक आत्म-प्रधान है और लेखक का आत्म-विवेचन, क्रान्ति के प्रति उसकी ईमानदारी, उसका राष्ट्रप्रेम हृदय को छू-छू जाता है—"लड़ तो हम पैलेस्टिन में रहे थे, परन्तु हमारे सब स्वप्न मिस्र में थे। हमारी गोलियों का निशाना सामने खाइयों में छिपे हुए दुश्मन थे, परन्तु हृदय दूर मातृभूमि के चारों ओर मँडरा रहे थे। ···जीवन भर मेरा सैनिकता में विश्वास रहा है। सैनिक का एकमात्र कर्त्तव्य अपने देश की सीमाओं की रक्षा पर प्राण न्योछावर करना है।" क्रान्ति के बाद देश के सारे राजनीतिक नेताओं से मिलने पर उनके पारस्परिक द्वेष और व्यर्थ की आलोचना से नासेर को धक्का लगा—"यदि उस समय मुझसे पूछा जाता कि मैं सबसे अधिक क्या चाहता था तो मेरा उत्तर होता—एक भी तो मिस्री ऐसा मिले जो दूसरे के प्रति न्याय का एक शब्द कहे; एक भी मिस्री ऐसा दिखे, मुझे ऐसा तो अनुभव हो कि कम-से-कम एक मिस्री तो ऐसा है जो अपने भाइयों को क्षमा, उनपर अनुग्रह और उनसे प्रेम करने के लिए अपना हृदय खोलने को तैयार है।" कोई आश्चर्य नहीं कि इस मिस्री ने मिस्र के राजा को गोली नहीं मारने दी, इस बहादुर अरब ने सीरिया में विद्रोह होने पर अपनी सेनाओं को 'दूसरे अरब भाइयों का खून बहाने' से रोक दिया, चाहे वे विद्रोही ही क्यों न रहे हों।

पुस्तक एक महान् क्रान्तिकारी के विचारों और एक प्राचीन राष्ट्र के नव-जागरण की भावनाओं पर अच्छा प्रकाश डालती है। किन्तु सर्वसाधारण इससे अधिक लाभ उठा पाता, अगर अनुवादक नासेर का संक्षिप्त जीवन-परिचय देने के साथ-साथ मिस्री नव-जागरण का या अरब नव-जागरण का संक्षिप्त परिचय भी देता, क्योंकि लेखक ने इस नव-जागरण का कोई व्यवस्थित परिचय नहीं दिया है, वरन् राष्ट्र की बिखरी हुई, उभरती हुई भावनाओं का ही जिक्र किया है। इसरायल के युद्ध आदि कई घटनाओं को ठीक से समझने के लिये एक फुट-नोट की आवश्यकता प्रतीत होती है।

युग-धर्म

लेखक—हरिभाऊ उपाध्याय
प्रकाशक—सत् साहित्य प्रकाशन, दिल्ली
मूल्य—१.७५ न० पै०

श्री हरिभाऊ उपाध्याय गाँधी-विचार-धारा के एक प्रमुख व्याख्याता और लेखक हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने गाँधीजी के सर्वोदय की व्याख्या की है। उनके मत में यह सर्वोदय ही आज के युग का धर्म है जिसमें मानवता का चरम विकास अभिलषित है। इसमें गाँधी-मार्ग की व्याख्या के साथ-साथ गाँधीवादी विचारों के प्रकाश में जनतंत्र, मतदान, दलबन्दी, योजना आदि अनेक छोटे-बड़े प्रश्नों पर विचार किया गया है। यह स्पष्ट है कि वर्षों तक गाँधीजी के सम्पर्क में रहनेवाला व्यक्ति, जो अनेक वर्षों से उनके विचारों पर लिखता भी आ रहा हो, जो लिखेगा वह साधिकार होगा और सही भी। यहाँ दो ही उदाहरण पर्याप्त होंगे। अहिंसा की व्याख्या में कहा गया है—"अपने स्वार्थ-साधन के लिये किसी भी मनुष्य या प्राणी को मन, वचन या कर्म से कष्ट न पहुँचाना।" अपने स्वार्थ से मतलब, अपने समाज या वर्ग का स्वार्थ भी है। अगर ऐसा न हो तो अहिंसा का समाज-परिवर्त्तक प्रणाली के रूप में कुछ अर्थ ही नहीं रह जायेगा। इसी-लिए आगे स्पष्ट कर दिया गया है—"अहिंसा के लिये दो बातें अनिवार्य हैं—(१) अपना या अपने समाज का स्वार्थ न हो और (२) किसी प्राणी के शरीर, मन या आत्मा को कष्ट न पहुँचता हो।" एक रोग-ग्रस्त बछड़े को

पिचकारी लगाकर मार डालने पर गाँधीजी की सहमति इसीलिए अहिंसक रही कि उसमें न उनका कोई अपना स्वार्थ था और न उसे कष्ट ही दिया गया, वरन् कष्ट से मुक्त कर दिया गया।

लेकिन गाँधीजी की अहिंसा में जो महत्त्वपूर्ण बात थी वह यह कि उनकी अहिंसा वीरों की अहिंसा थी, कायरों की नहीं। उन्होंने स्पष्ट कहा था—"अगर हिंसा और कायरता में से मुझे किसी एक को चुनना पड़े तो मैं हिंसा को ही चुनूँगा।" लेखक ने इसे अपनी भाषा में इस प्रकार व्यक्त किया है—"अहिंसा-धर्मी को सबसे पहले समझ लेना चाहिये कि अहिंसा मुर्दे का या कायर का धर्म नहीं है बल्कि जिन्दों का और वीरों का धर्म है...... (पृष्ठ ६६) मनुष्य निर्भय है, पर शेर की तरह हिंस्र या क्रूर नहीं। मनुष्य अहिंसक है, पर खरगोश की तरह सिर उठाते ही चौकड़ी नहीं भरता। निर्भयता और अहिंसा दोनों उसके जन्मसिद्ध गुण हैं।" (पृष्ठ ८३)।

दूसरा उदाहरण धर्म और राजनीति पर व्यक्त किये गये विचार हैं। गाँधीजी धर्म को राजनीति से बहुत श्रेष्ठ मानते थे, उनके लिए दोनों का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित नहीं तो अविच्छेद्य अवश्य था। उन्होंने स्पष्ट कहा—"धर्म-हीन राजनीति गले की फाँसी है।" किन्तु उनके धर्म का अर्थ इस लोक और परलोक का सिद्धि-मार्ग था—"यतोभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"—आडम्बर, पूजा-पाठ नहीं। लेखक ने इसे "धर्म और राजनीति" शीर्षक लेख में अच्छी तरह स्पष्ट किया है।

पुस्तक की भाषा ओजस्वी है, प्रभावोत्पादक है। भावाभिव्यक्ति स्पष्ट और सीधी हो सकी है। विशेषता या कमी जो भी कह लीजिये, वह यह है कि इसे उद्धरणों से बोझिल नहीं बनाया गया है, गान्धीजी के मूल विचारों को अपने ढंग से अपनी भाषा में व्यक्त किया गया है। कुछ लेख अगर पुराने और समय से पीछे लगते हैं तो इसीलिए कि पुस्तक १९५८ में प्रकाशित हुई थी।

शुक्रग्रह पर मानव
मूल लेखक : राल्फ एम० फार्ले
अनुवादिका : स्वर्णलता भूषण
प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
मूल्य : ३.०० रुपये

सिंदूरी ग्रह की यात्रा
लेखक : रमेश वर्मा
प्रकाशक : प्रगतिशील प्रकाशन, दिल्ली
मूल्य : २.५० रुपये

ये दो वैज्ञानिक उपन्यास क्रमशः शुक्र और मंगल ग्रह पर मानव-प्रवेश की कल्पना पर आधारित हैं। फार्ले की पुस्तक का नायक माइल्स एस० केबट अपनी रेडियो लेबोरेटरी में प्रयोग करते ममय अचानक गायब हो जाता है और रहस्यमय ढंग से शुक्रग्रह पर पहुँच जाता है। सूर्य से निकट होने के कारण इस ग्रह पर सर्वदा बादल छाये रहते हैं और धूप का निकलना मृत्यु का कारण हो सकता है। धूप नहीं होने से दिशा का सही ज्ञान नहीं हो पाता। यहाँ मानव की तरह ही विकसित मस्तिष्क वाले चीटों का राज्य है जो छः-छः फीट तक ऊँचे होते हैं। चीटों की एक समृद्ध सभ्यता है। इनके पास मोटरें हैं, हवाई जहाज हैं, स्टूडिओज हैं, वेधशालायें हैं, विश्वविद्यालय हैं। इस ग्रह पर हमारी मानव-जाति की तरह ही, किन्तु हमसे कुछ भिन्न, एक दूसरी 'क्यूपियन' जाति निवास करती है जिसके कान नहीं होते और जो चीटों की गुलाम है। कल्पना कीजिये कि चींटों की कैद से ऊबा हुआ एक मानव अपने किसी सहजातीय (वह भी स्त्री और अनन्य सुन्दरी) से मिलन के लिये आगे बढ़ता है और वह रूपसी उसे कोई जानवर समझकर भय से काँप उठती है और बेहोश हो जाती है। बाद में यही 'मानोरियन' (पृथ्वी का मानव) न केवल इस रूपसी राजकुमारी—क्यूपिया के राजा क्यू की पुत्री—का त्राता बनता है वरैन् बन्दूक का आविष्कार करके पूरी क्यूपियन जाति को भी चीटों की दासता से मुक्त करता है। इस पुस्तक में चीटों की कैद, उनकी सुरक्षा-व्यवस्था, गुप्तचर-विभाग, राज-व्यवस्था, शिक्षा-प्रणाली आदि की रोचक और अद्भुत कल्पना की गई है। विशेषता यह है कि इस अनजानी, अमानवीय सभ्यता में भी मानवीय विचार, मानवीय भावनायें—प्रेम, ईर्ष्या, घृणा, छल, क्रूरता—आदि का आरोप किया गया है जिससे उपन्यास की रोचकता, अद्भुतता और बढ़ गई है।

अनुवाद सुन्दर बन पड़ा है। कहना पड़ेगा कि अनुवादिका का परिश्रम असफल नहीं हुआ।

"सिन्दूरी ग्रह की यात्रा" के सम्बन्ध में लेखक ने "सही माने में वैज्ञानिक उपन्यास" होने का दावा किया है। १ मई १९७५ को प्रो० वारान्निकोव की अध्यक्षता में एक यात्री-दल मंगलग्रह के लिये रवाना हुआ और वह पृथ्वी के सर्वप्रथम अन्तरिक्ष-स्टेशन 'स्वप्न' पर रुककर मंगल के उपग्रह "फो बॉस" होता हुआ मंगलग्रह पर पहुँच गया।

प्रो० वारान्निकोव के अतिरिक्त इस यात्री-दल के अन्य सदस्य हैं—डॉ० डगलस, डॉ० स्टन, कैप्टेन नागपाल, कैप्टेन गोस्वामी, मिस माथुर और पत्रकार श्री एन० बालसुन्दरम। पूरी कहानी कुछ प्रो० वारान्निकोव के ब्राडकास्ट के माध्यम से कही गई है, कुछ बालसुन्दरम के न्यूज़डिस्पैच से और शेष लेखक द्वारा। कथानक संश्लिष्ट नहीं है। शची और बालसुन्दरम का प्रेम बढ़ानेवाली एक 'दुर्घटना' हुई और दूसरी वह जिसमें प्रो० वारान्निकोव दलदल में धँसकर शहीद हो गये। इन 'दुर्घटनाओं' के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमुख दुर्घटना (इसे 'घटना' क्यों कहा जाय ?) नहीं हुई, सिवा मिस माथुर और बालसुन्दरम् के 'स्पेस मैरेज' के। 'स्वप्न' पर मिस माथुर और बालसुन्दरम् ने अपने सपनों की दुनिया बसाई और एक-दूसरे में मिल गये। भोज हुआ, "इन्टर कान्टीनेन्टल डिशेज़" दी गई, बालडान्स हुआ और मस्ती भरी बहार में मंगलग्रह की खोज हुई—"मंगलग्रह···लाल धरती का ग्रह···चारों ओर लाल या नारंगी बालू के ढेर-के-ढेर...मीलों तक बालुकामय मैदान···कोई दरिया नहीं, पहाड़ी नहीं, टीला तक नहीं···।" स्पष्ट है कि ऐसे स्थान पर 'शुक्रग्रह' की तरह

किसी सभ्यता की कल्पना नहीं की जा सकती। जीवों में चींटों की तरह केवल एक ही जीव दीख पड़ा जिसे पकड़ने के लिये वारान्निकोव दौड़े और दलदल में फँसकर "स्वर्गवासी" हो गये।

कहानी तो 'स्पेस' और ग्रह की दुनिया की गढ़ी गई है, किन्तु घटनायें धरती की घटनाओं की तरह ही घटती हैं और इसीलिए इसमें धरती का 'रोमान्स' इतने दिलचस्प ढंग से पेश किया जा सका है। अगर कहानी के 'सेट अप' और पृष्ठभूमि को भुला दिया जाय तो लगता है, हम बम्बई या दिल्ली के रोमान्टिक वातावरण में लिखा गया कोई रोमान्टिक उपन्यास पढ़ रहे हैं। हास्य का पुट है, भाषा सशक्त है।

मुस्कुराहटें

लेखक : **गुलाम अहमद फुरकत**
प्रकाशक : **आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली**
मूल्य : **दो रुपये**

इस पुस्तक में उर्दू के एक मान्य हास्य-लेखक गुलाम अहमद "फुरकत" की दस कहानियाँ संकलित हैं। तीन कहानियों को छोड़कर शेष सात में लेखक स्वयं एक पात्र है। कहानियाँ घटना-प्रधान नहीं, बल्कि शब्द-प्रधान हैं, इसलिये प्रस्तावना-लेखक श्री भगवतीचरण वर्मा ने इन्हें शब्द-चित्रों की ठीक ही संज्ञा दी है।

हास्य का सारा पुट शब्दों—विशेषतः कथनोपकथनों में है और शब्दों के माध्यम से हास्य उत्पन्न करने में लेखक की सिद्धहस्तता निर्विवाद है। प्रायः सभी शब्दचित्र प्रथम श्रेणी के हैं। लेखक की भूमिका (जरा सुनियेगा) से लेकर पुस्तक के अंतिम पृष्ठ तक एकसमान हास्य का पुट बना रहता है। भूमिका का शीर्षक तो अपनी जगह पर है, उसकी प्रथम पंक्ति ही उसके सफल हास्य-लेखक होने का अलम् प्रमाण है—"इस किताब में जो कुछ लिखा है उसपर तो आप अपना वक्त बाद में बरबाद कीजिये, पहले एक मजेदार बात सुनिये—जब इस किताब की लिखाई, छपाई, कागज और रोशनाई के बारे में सारी बातें हो चुकीं तो श्री रामलाल पुरी बोले, 'और आपका मुकद्दमा ?' हमने कहा, 'हमारा मुकद्दमा कैसा ?' बोले, 'राइटर का फॉरवर्ड, प्रीफेस, जिसे उर्दू में मुकद्दमा कहते हैं।"

हास्य का स्तर शिष्टता का है। अधिकांश कहानियाँ शहरी ज़िन्दगी से ताल्लुक रखती हैं, वह भी शिक्षित मध्यम वर्ग के जीवन से। कहानियों के आत्म-प्रधान होने का यह अनिवार्य परिणाम है। गाड़ी के सफ़र की तकलीफें, शहर में रहनेवालों के पास मेहमानों का आना और परेशानी पैदा करना, जाड़े के दिनों की काहिली, प्राइमरी स्कूलों के मास्टरों की फरमाइशें, उत्तर भारत के हँसोड़ भाँड़, बीवी का रोब आदि को लेकर अत्यन्त सुन्दर हास्य उत्पन्न किया गया है। बहुत-से इसके उदाहरण दिये जा सकते हैं—

"लानत है इन एतराजात पर! न-जाने साँप के बच्चों की तरह इनकी कितनी किस्में हैं—छोटे, बड़े, हलके, भारी। घर पर सबेरे से शाम तक उनकी हम पर मूसलाधार बारिश होती रहती है और हमारी ढिठाई और बेगैरती मुलाहजा हो कि हम अभीतक जिन्दा हैं।" ..."सबसे बड़ी गलती हिमाकत या बेवकूफी जो भी कह लीजिये हमसे यह हुई कि हम बीवी को दिल्ली बुलाने के लिये मकान की तालाश में निकल खड़े हुए। खैर, तालाश करना कोई बुरी बात नहीं, सारी खिलकत (सृष्टि) मकान की तालाश कर रही है और करती रहेगी, मगर सबसे बड़ी हिमाकत मकान का मिल जाना है।" ("आपत्तियाँ")

लेखक अपने एक दोस्त से जामनगर जाने को कहता है जो घंटों से तैयारी में ही लगे हैं। वह पूछता है—"दाँत माँजो न!" "दाँत किससे माँजें। टूथ-पेस्ट तो..." "टूथ-पेस्ट क्या हुआ ?" "हाथ में लिये तुम्हारे सामने लैटरिन चले गये थे। जब वहाँ गिर पड़ा तो ख्याल आया कि यार बड़ी चूक हुई..." ("केले के छिलके")

'पत्नी के आदेश', 'लिहाफ की ओट से' और 'एक ही ठिकाना' गजब के शब्द-चित्र हैं। उनकी कोई भी पंक्ति उद्धृत की जा सकती है।

'फुरकत' की रचनायें हिन्दी में श्रेष्ठ हास्य-साहित्य की वृद्धि करेंगी, यह निश्चित है। जब लेखक हिन्दी-पाठकों को ध्यान में रखकर लिखेगा तो भाषा स्वयं सरल हो जायेगी। रेखा-चित्र और कठिन उर्दू शब्दों का अर्थ दे देने से पुस्तक अधिक उपयोगी हो गई है।

—राकेश भारती

सिंदूरी ग्रह की यात्रा (उपन्यास)

लेखक—रमेश वर्मा
प्रकाशक—प्रगतिशील प्रकाशन, दिल्ली-६
मूल्य—२ रु० ५० न० पै०

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मानव-समुदाय की साहसिकता अंतरिक्ष-विजय तक को प्रेरित करती रही है। लेखकों को भी इस नवीन दिशालोक ने उत्प्रेरित किया है और इसका परिणाम है यह अन्तरिक्ष-यात्रा पर पहला (?) सही (?) वैज्ञानिक उपन्यास, जिसके संबंध में लेखक ने लिखा है कि "सिन्दूरी ग्रह की यात्रा एक वैज्ञानिक उपन्यास है—किसी काल्पनिक यात्रा का नीरस वर्णन या वैज्ञानिक उपलब्धियों का लेखा-जोखा या विज्ञान संबंधी समाचारों का संचयन नहीं, बल्कि सही माने में वैज्ञानिक उपन्यास"।

यह उपन्यास लघुकाय होते हुए भी बहुत रोचक बन पड़ा है, मैं आरंभ में ही यह स्वीकार किये लेता हूँ।

इस उपन्यास का घटना-काल है १९७५ ई०। १९६५ ई० में अंतरिक्ष स्टेशन 'स्वप्न' की स्थापना और तदनंतर दस वर्ष बाद वहीं से मंगल-ग्रह की यात्रा-कथा इसमें वर्णित है। अभियानी पहले 'स्वप्न' पहुँचते हैं। वहाँ एक विशेष यान का निर्माण होता है, जिसके सहारे वे अंतरिक्ष-संकटों पर विजय प्राप्त करते मंगल-ग्रह पर उतरते हैं। वहाँ से तथ्य और प्रमाणस्वरूप चित्र, कुछ वस्तुएँ और विस्तीर्ण सौन्दर्य अपने साथ लेकर पुनः 'स्वप्न' पर लौटने का उद्यम करते हैं। बीच में एक उपकथा है। पत्रकार बालसुंदरम का उसकी सचिवा शचि से प्रेम होता है और वे दोनों मंगल-ग्रह पर गंधर्व-पद्धति से विवाह-सूत्र में आबद्ध होते हैं।

इस उपन्यास में—'अनेक वैज्ञानिक पुस्तकों व पत्र-पत्रिकाओं से प्राप्त जानकारी का उपयोग किया गया है' और अंतरिक्ष-विज्ञान से अनभिज्ञ पाठक इसके वर्णन-विवरण को एक यथार्थ समझ लेने को बाध्य हो सकता है, क्योंकि इसके समस्त उपकरण उपन्यास में अतिकुशलता से एकत्रित हैं।

त्सिओल्कोवस्की, गांसवित, गॉडर्ड और आवर्थ के स्वप्नों को शब्दमय साकारता देकर एच. जी. वेल्स की कल्पना का मज़ाक उड़ाकर और मंगल-संबंधी फैली भ्रान्त धारणाओं का खंडन कर लेखक ने उपन्यास को 'सही' प्रमाणित करने में सफल चेष्टा की है।

लेखक ने आरंभ से ही विश्वैकता को भावी मानव-सभ्यता का आधार माना है और राष्ट्रीयता-प्रवृत्ति की गंध भी स्वीकार न कर सका है, यह उसकी बड़ी ही मूल्यवान देन है।

उपन्यास की भाषा पर आपत्तियाँ हो सकती हैं और इसमें खुलकर ऐसे प्रयोग हैं जो अस्वाभाविक हैं, चिन्त्य हैं और सुधी-समाज उसे प्रस्वीकृति नहीं देगा। उदाहरणस्वरूप 'स्थापत्य इंजीनियरों', 'अन्तरिक्ष राकेट', जैसे शब्द और "हनीड्यू की तरह टेस्टी' आदि वाक्य-खंड परीक्षार्थ समक्ष किये जा सकते हैं। इस उपन्यास में संघटन का अभाव है जो रोचकता के कारण सहज ही ओझल रहता है, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि तो वहाँ पड़ ही जाती है।

उपन्यास के एक पात्र श्री वरान्निकोव का यह भाषण कि "मेरा विश्वास और दृढ़ हो गया है कि वह ज़माना जल्दी ही आयगा जब आदमी सिर्फ आदमी रह जायगा, कंधे से कंधा भिड़ा कर हर क्षेत्र में सद्भावना और सहयोग के साथ चलने वाला कामरेड रह जायगा—फिरकों में बँटा हुआ एक या दूसरे देश का वासी नहीं" मानव-भविष्य के प्रति आस्थाशील अभिव्यक्ति है और इसने कृति को प्राणवत्ता प्रदान की है। और, ऐसे विश्वासी की मंगल-ग्रह पर मृत्यु बहुत ही मर्मस्पर्शिनी और करुणोत्पादक लगती है।

पुस्तक में दोष हैं और कई हैं परन्तु ज्ञान-पिपासा और अंतरिक्ष के प्रति वर्तमान मानवकुल की जिज्ञासा-वृत्ति ही इसे श्रेयस्विनी प्रमाणित करेगी।

हम हिन्दुस्तानी

लेखक—फ़िक्र तौंसवी
प्रकाशक—प्रगतिशील प्रकाशन, दिल्ली ६
मूल्य—३ रु० ७५ न० पै०

सर्वश्री जवाहलाल नेहरू, ई. एम. एस. नम्बूद्रीपाद, जयप्रकाशनारायण, राजाजी, विनोबा भावे, जी डी. बिड़ला, कृष्णचन्द्र (कृश्नचन्दर), सतीश गुजराल, पृथ्वीराज कपूर, नर्गिस, साहिर लुध्यानवी, लता मंगेशकर अर्थात् भारतीय विभिन्न क्षेत्रीय प्रतिनिधि व्यक्तित्वों के व्यंग्य-मूलक, विश्लेषणात्मक और तथ्यपूर्ण बारह अद्वितीय शब्दचित्रों का यह संकलन व्यंग्यलेखन के धनी श्री फ़िक्र तौंसवी की एक अनुपम कृति है। प्रत्येक शब्दचित्र के प्रारंभ में उक्त व्यक्तियों के संगत्यानुसर रेखाचित्र दिए गए हैं और उनके तल-प्रदेश में उद्धरण हैं जो इन व्यक्तित्वों के सम्पूर्ण श्रेय-प्रेय को उदाहृत करते हैं।

यद्यपि इन व्यक्तियों से हम पूर्ण परिचित हैं, तथापि ये शब्दचित्र इतने मार्मिक हैं कि हमें एक नया दृष्टिकोण बनाने में सहायक होते हैं। इनमें सम्पूर्ण देश की सामाजिक, कलात्मक, राजनीतिक, आध्यात्मिक और आर्थिक चेतनाएँ उभरी हैं और इस तरह भारतीय लोकमानस को प्रकाशित करने में ये सक्षम हैं।

भाषा की सादगी, शैली का लालित्य और उसकी चपलता तथा रचना का सुसंघटन पूरी पुस्तक को एक उदाहरणीय रम्यता प्रदान करता है।

व्यंग्यलेखन कठिन कलाकर्म है, सबको सफलता नहीं मिलती और नहीं लेखक का निजी व्यक्तित्व हर ठौर उभरता है, परन्तु फ़िक्र तौंसवी ने बड़ी ही खूबी से अपना दायित्व-निर्वाह किया है और वे एक सफल व्यंग्यलेखक होने का श्रेय प्राप्त करते हैं तथा उनकी यह कृति उनके अपने 'पन' को पूरी तरह संधृत करती है।

इसका प्रत्येक चित्र बोलता है, राज खोलता है, आवरण हटाता है और सोचने को विवश करता है, इस दृष्टि से भी यह अवश्यमेव पठनीय है।

सड़क (उपन्यास)

लेखक—मुल्कराज आनन्द
प्रकाशक—प्रगतिशील प्रकाशन, दिल्ली
मूल्य—३ रुपये।

आलोच्य पुस्तक भारतीय अंग्रेजी लेखक डा० मुल्कराज आनन्द के अंग्रेजी उपन्यास का अनुवाद है।

यद्यपि एक पंजाबी गाँव के अछूतों के सामाजिक संघर्ष की इस कहानी में वर्ग एवं वर्ण संघर्ष को अपनी सम्पूर्ण उत्कटता के साथ उभारने की नाटकीय प्रचेष्टा की गयी है, किन्तु पुस्तक-समाप्ति के अनन्तर लगता है कि लेखक के पास एक प्रगतिवादी दृष्टिकोण है और वह उस जीवन के ऊपरी तल से ही परिचित है जिसकी व्यंजना उसने की है। कहीं-कहीं तो ऐसा भी प्रतीत होता है कि लेखक को यह ज्ञान भी पुस्तकों और प्रतिवेदनों से ही प्राप्त हुआ है। अतएव, हिन्दी-उपन्यासों के सजग पाठक इस कृति को संज्ञेय न मानें तो वे ऐसा करके अपनी कृपणता का प्रदर्शन न करेंगे।

'स्तनों के काँपते हुए मांस को दबाने के लिए उसे पलंग पर उल्टी अवस्था में लेटना पड़ता है' जैसा वाक्य एक ओर जहाँ मनीषी वैदुष्य को झकझोर देता है वहीं "... सब कुछ जल कर राख हो गया !... सब कुछ, सिवाय इन हाथों के" सर्वहारा के दृढ़चेता मानस और श्रम एवं अहं के प्रति दृढ़ आस्था की अभिव्यक्ति अभिशंसा-प्रेरणा भी देता है।

'हथौड़े वाले हाथ पूरे के पूरे पर्वतों को तोड़ सकते हैं', 'उसने हथौड़े की शक्ति, सादगी और उनकी आवाज़ की सराहना की' और 'जवाहरलाल का नाम लो और काम करते जाओ' जैसे वाक्य एक ओर तो साम्यवादी आस्था तथा विश्वास को परिव्यंजना देते हैं, वहाँ दूसरी ओर लेखक की व्यक्ति-पूजा-प्रवृत्ति को भी प्रकाशित करते हैं। ये तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि उपन्यास-

लेखक मात्र संशयजीवी है और उसकी धारणाएँ सम्पुष्ट नहीं हो पायी हैं।

पता नहीं, एक भारतीय सपूत अपनी माँ को इस प्रकार की भद्दी गाली कहाँ और कैसे दे पाता है, यथाः– "लोग जल्दी ही यह रहेंगे कि तुम न सिर्फ लंबरदार धूनीसिंह की रखैल हो, बल्कि सरपंच ठाकुरसिंह की भी"। किसी औपन्यासिक स्थिति-विशेष को अतिप्रभावी बनाने के मोह में तथाकथित इतने बड़े यशस्वी लेखक को यह तो सोचना चाहिए ही कि इतना बड़ा असत्यलेखन एक पूरी संस्कृति को विदेशों में किस रूप में उपस्थापित कर देगा जबकि वह अंग्रेजी जैसी अंतर्राष्ट्रीय प्रसारप्राप्त भाषा में एक साहित्यिक कृति का सृजन करने बैठता है। इस प्रकार का अतिक्रांतिक लेखन खुशवन्त सिंह तथा अन्य कई भारतीय अंग्रेजी लेखकों ने किया है, जो सर्वथा अक्षम्य है।

उपन्यास के सभी पात्र लेखकीय मानस में बने साँचे के अनुसार ढले हैं और उपन्यास के अभिप्रेत को पूर्ण करने में सर्वथा सफल रहे हैं। चरित्र-स्फुरण में द्वन्द्व, अंतर्विरोध, वर्णन, आतिशय्य, अस्वाभाविकता और कहीं-कहीं नाटकीयता भी पठन-क्रम में मिलती हैं ही; वातावरण-उपस्थापन में चित्रात्मकता, स्वाभाविकता, अयथातथ्यता और अतिरंजना भी ओझल नहीं हो पातीं।

अनुवादक को यह ध्यान में रखना चाहिए कि दो विभिन्न भाषाओं की रचना-शैली की प्रकृति में अंतर होता है और शब्दशः अनुवाद की शैली दोष ही है, गुण नहीं। प्रस्तुत अनुवाद असफल रहा है और रचना की भूलें प्रायः खटकती हैं।

उपन्यास का अंत सम्पूर्ण कृति में परिव्याप्त उजागर तनाव और संघर्ष के अनुरूप नहीं बन पाया है और लगता है कि व्यावसायिक लेखन के क्रम में ही यह उपन्यास सृष्ट हुआ है। 'कुली' और 'अछूत' के कृती के नाम के साथ जुड़ा हुआ यह उपन्यास अतिसाधारण प्रगतिवादी प्रतिभा से उद्भूत एक साधारण कृति है।

—रामनरेश पाठक

ज्योतिर्मय महेन्द्र

सम्पादक—शिवाजी राव आयदे

प्रकाशक—लोक संस्कृति मंडल, छपरा

मूल्य —१.००

प्रस्तुत गद्य-संकलन का संपादन एक ऐसे साहित्यकार द्वारा हुआ है जिसकी मातृभाषा मराठी है। संपादक ने स्वर्गीय महेन्द्र बाबू पर लिखित बीस लेखों का संपादन-संकलन किया है जिनमें श्री मुरलीधर श्रीवास्तव का 'आदर्श अग्रज' 'देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद के भाई की मृत्यु और ऋण-संकट', श्री शिवपूजन सहाय जी का 'श्रद्धेय महेन्द्र बाबू के साथ पाँच दिन' तथा स्वयं संपादक श्री आयदे का 'भारतीय रंगमंच की आञ्चलिक ज्योति' भाषा, उक्ति की मार्मिकता तथा स्पष्ट अभिव्यक्ति के कारण महत्त्वपूर्ण हैं। पृष्ठ १५ पर संकलित श्री मूसा कलीम का गीत 'जै जै जै महेन्द्र हमारे' की रचना-प्रक्रिया एवं शिल्प से 'बालक', 'चुन्नू मुन्नू' तथा अन्य बालोपयोगी मासिक पत्रों में प्रकाशित कविताओं की याद हो आती है।

संपादक श्री आयदे द्वारा संपादित प्रस्तुत संकलन का महत्त्व निस्सन्देह अधिक होता यदि ५,२१,२२,२३,२४ और २५ पर प्रकाशित निरर्थक कविता का संकलन नहीं होता। उल्लिखित कविता के रचयिता छपरा के एक पुराने महाविद्यालय के प्राध्यापक हैं। कविता के अंत में संपादक ने अपनी ओर से एक टिप्पणी प्रकाशित की है—"कवि द्वारा रचित 'ज्योतिपुत्र महेन्द्र', खण्ड काव्य (अप्रकाशित) का अंश।" कवि ने प्रकृति-चित्रण में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करना चाहा है, किन्तु वाक्य-विन्यास एवं शब्दों के असंतुलित प्रयोग के कारण प्रकृति का रूप विकृत हो गया है और स्पष्टतया कवि के खोखलेपन का रूप भी पाठकों के सामने आ जाता है। 'ज्योतिपुत्र महेन्द्र' पर सात संदर्भ ही उदारता के साथ कवि ने दिये हैं, जबकि अट्ठारह संदर्भ निरर्थक अकाव्य पंक्तियों के सृजन पर।

श्री शिवाजी राव आयदे ने प्रस्तुत संकलन का संपादन कर सारण के साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन में चेतना का एक हल्का-सा कंपन पैदा कर दिया है। इस ठोस एवं सृजनात्मक कदम उठाने लिए श्री आयदे सभी जाग्रत पाठकों की बधाई के पात्र हैं।

—सत्येन्द्रदेव नारायण

बेसिक शिक्षा: प्रयोजन; प्रारूप : प्रक्रिया

लेखक—श्री हीरालाल चौबे,
प्रकाशक—जनकल्याण प्रकाशन, कलकत्ता-७
मूल्य—५.००

समीक्ष्य पुस्तक शिक्षा-साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी की नवीन उपलब्धि है। लेखक ने बड़े ही संयत और रोचक ढंग से बेसिक शिक्षा अर्थात् बुनियादी तालीम का वैज्ञानिक विवेचन किया है। इस ग्रन्थ से बेसिक-शिक्षण के विकास में महत्त्वपूर्ण योग मिलने की संभावना है। यह ध्यातव्य है कि बेसिक शिक्षा भारतीय संस्कृति के सर्वथा अनुकूल है। इस शिक्षा की मुख्य विशेषता तो यह है कि इसमें व्यावहारिक पद्धति, रचनात्मक कौशल को विशेष महत्त्व दिया गया है। आज की जो वर्तमान शिक्षा-पद्धति है, वह मनुष्य को जीवन की व्यावहारिक समस्याओं से जूझने की प्रेरणा नहीं देती। लेकिन बेसिक शिक्षा मनुष्य को जीवन-संघर्ष का डटकर सामना करने की प्रेरणा देती है। आज हमारे देश में ऐसी ही शिक्षा की महती आवश्यकता अनुभूत की जा रही है। राष्ट्रपिता बापू ने जिस 'सर्वोदय-समाज' की परिकल्पना की थी, उसमें 'बुनियादी तालीम' का ही विशिष्ट स्थान था। नया समाज स्थापित कर नई चेतना का संचार और नये रचनात्मक दृष्टिकोण का प्रसार ही बेसिक शिक्षा के मूलभूत लक्ष्य हैं। लेखक ने पाठशाला, जो भारत की तपोवन-शिक्षा-संस्कृति का प्रतीक है, के माध्यम से एक जाग्रत पीढ़ी तैयार करनेवाली इस नयी शिक्षा के मर्म का उद्घाटन किया है। इस शिक्षा में टेकनिकल ज्ञान के साथ भावात्मक पक्ष का उन्नयन किस सीमा तक वांछनीय है, इस प्रश्न पर भी लेखक ने गम्भीर विचार किए हैं। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को जीवनोपयोगी बनाने का एक ही तरीका है कि बेसिक-शिक्षा की दिशा में ठोस कदम उठा कर हम उसके विकासार्थ यत्नशील हों और सरकार भी अपनी तत्परता और सजगता का परिचय दे। बेसिक-शिक्षा समस्त राष्ट्र के लिए 'जीवन-शिक्षा' है। इससे राष्ट्र के पुनर्निर्माण में प्रचुर सहयोग मिलेगा, साथ ही उपयोगी शिक्षा एवं सच्ची नागरिकता की नींव भी पड़ेगी, जिसपर जागरूक राष्ट्र की नयी पीढ़ी अपना चरित्र-निर्माण करेगी और भावी पीढ़ियों के लिए आदर्श भी उपस्थित करेगी। लेकिन बेसिक-शिक्षा को व्यावहारिक रूप देने में कोई व्यवधान न डाले, इसके लिए हमें सतत सचेष्ट रहना है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ शैक्षणिक जगत को ऊपरिलिखित सारी बातों से परिचित कराने का एक ऐसा माध्यम है, जिसे अपनाकर विद्यार्थी तथा शिक्षा-जगत अपना कर्त्तव्य निर्धारित कर सकेंगे तथा जीवन की समस्याओं को सुलझाने में समर्थ होंगे। लेखक ने पुस्तक के प्रथम अध्याय में वर्तमान शिक्षा के भारतीय आधार एवं स्वरूप का, दूसरे अध्याय में इस शिक्षा के मूल तत्त्वों का, तीसरे अध्याय में इस शिक्षा के क्रमिक विकास में कतिपय प्रत्यक्ष प्रयोगों का, चौथे अध्याय में अनुशासनहीनता की समस्या का, पाँचवें अध्याय में सर्वोदय, सामुदायिक विकास और पंचायती राज की प्रतिष्ठापना आदि का विशद विवेचन किया है। इन प्रणाली में लोकतांत्रिक प्रवृत्ति एवं व्यक्तित्व के पल्लवन की पूर्ण व्यवस्था है। इसके उद्देश्यों एवं आदर्शों की अपनी दार्शनिक, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक पृष्ठभूमि है, जिसपर लेखक ने विचार किया है। समासतः यह ग्रन्थ शिक्षा-जगत को हिन्दी की महत्वपूर्ण देन है।

विश्व के महान् शिक्षाशास्त्री

लेखक—आर० एस० श्रीवास्तव
प्रकाशक—कैलाश पुस्तक सदन, लश्कर
मूल्य—५ रु० मात्र

आलोच्य पुस्तक १६६ पृष्ठों में परीक्षार्थियों के लिए लिखित हिन्दी के शिक्षा-साहित्य की अभिनव उपलब्धि है। इस ग्रन्थ में विश्व के श्रेष्ठ शिक्षा-शास्त्रियों यथा कमेनियस, रूसो, पेस्तलॉजी, हरबार्ट, फ्रोबेल, जान डिवी, मॉन्टेसरी, रवीन्द्र, गान्धी, विनोबा, डा० राधाकृष्णन की विभिन्न प्राचीन एवं अर्वाचीन शिक्षा-प्रणालियों को सुन्दर रूप देकर शिक्षकों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। यथासंभव भारतीय शिक्षाशास्त्रियों की शिक्षा-प्रणालियों पर लेखक ने सविस्तर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। जो विद्यार्थी प्रशिक्षण प्राप्त करने की स्थिति में हैं, उनके लिए यह ग्रन्थ उच्च स्तर का है। पुस्तक में पादटिप्पणियाँ, हिन्दी एवं अंग्रेजी में शिक्षाशास्त्रियों के उदाहरण, और

अन्त में परिशिष्ट, चार्ट आदि जोड़कर लेखक ने सराहनीय कार्य किया है। साथ ही, परीक्षार्थियों के लाभार्थ कतिपय परीक्षोपयोगी प्रश्न-पत्र भी जोड़ दिए गए हैं। पुस्तक के अन्तर्गत शिक्षा-दार्शनिकों के दर्शन, शिक्षा के अर्थ, उद्देश्य, पाठ्यक्रम, पाठन-विधि, शिक्षक के दायित्व और पाठशाला के स्वरूप, अनुशासन आदि का समग्र विवेचन लेखक ने किया है। इस ग्रन्थ में पश्चिम एवं पूर्व के शिक्षा-दर्शन को मिलाने का प्रयत्न तो किया ही गया है, सूत्रवाक्यों, मूल उद्धरणों एवं व्यावहारिक उदाहरणों द्वारा शिक्षा-दर्शन सरीखे गहन विषय को बोधगम्य बनाने तथा विषय का क्रमिक विकास करने का भी यत्न किया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ न केवल परीक्षार्थियों को ही अपितु पाठकों को भी शिक्षा-जगत की भूत एवं वर्त्तमान की विचारधाराओं से परिचित कराने में सक्षम है। पुस्तक का कागज और गेट-अप आकर्षक है, पर मुद्रणगत दोष हैं। यत्र-तत्र प्रूफ की अशुद्धियाँ रह गयी हैं, जिनका सुधार अपेक्षित है।

अज्ञातवास

लेखक—श्रीलाल शुक्ल
प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली
मूल्य—२ रु० ५० न० पै०

प्रस्तुत पुस्तक श्रीलाल शुक्ल की नई औपन्यासिक कृति है। इसमें लेखक ने सुपरिन्टेन्डेन्ट इंजीनियर रजनीकान्त के शुष्क और रसविहीन अन्तर-जगत का चित्रांकन किया है। रजनी बाबू आफिस के कामों में दक्ष और अनुभवी होते हुए भी राजेश्वर की चित्रकारी-प्रतिभा का मूल्यांकन करने में अक्षम हैं। उन्हें समझ में नहीं आता कि साहित्य, कविता, चित्रकारिता किस चिड़िया का नाम है; वह संगीत, कला को खास महत्त्व नहीं देते। उनके ओभरसीयर भी इसी धारणा से ग्रसित हैं। फलतः रजनीकांत गाँव के होकर भी वहाँ की प्राकृतिक सुषमा और आंतरिक मधुरिमा से अपरिचित रहे। मकान, सड़क, बंगले, नदीपुल बनाने में ही अपनी सारी जिन्दगी बिता दी। भौतिक सीमाओं से ऊपर उठकर जीवन के व्यापक परिवेश में वे अपने को नहीं पहचान सके और न कला की महत्ता को ही आँक सके। उनकी बेटी प्रभा ग्रामगीतों के मीठे लय और सहज सुन्दरता पर विशेष मुग्ध रहती है, लेकिन रजनी बाबू उसकी बातों पर गौर फरमाने की चेष्टा नहीं करते। इस उपन्यास का नामकरण उसी 'चित्र' के आधार पर हुआ है, जिसे राजेश्वर ने अपनी कूची से बनाया था। छोटे-छोटे वाक्यों में वातावरण का चित्रात्मक अंकन यही इस कृति की मुख्य विशेषता है। उदाहरणार्थः—'प्रकृति के उत्पात। गर्मियों के सर्वग्रासी अग्निकाण्ड। वर्षा का प्रलयंकर धारासम्पात। गिरते हुए घर। धार में बहते हुए छप्पर। पानी में डूबती, सड़ती हुई फसलें। जाड़ों की उपल-वृष्टि। पाला ओस; कुहरा। पछुवा हवा।' (पृ० २०). पुस्तक की भाषा-शैली में नवीनता और जनपदीय शब्दावली का संस्पर्श हैं। शब्दों का प्रयोग आकर्षक है— 'उसके मुह की करुण कोमलता में एक चाँदनी रात ढुलक आती है'। (पृ० ६२). इस प्रकार लेखक ने रजनी बाबू की मानसिक उलझनों का मनोवैज्ञानिक अंकन किया है।

संकल्प

लेखक—हंसराज 'रहबर'
प्रकाशक हिन्द पॉकेट बुक्स प्रा० लि०, दिल्ली
मूल्य—एक रुपया

'संकल्प' एक आधुनिक शिक्षिता लड़की के विद्रोह की कहानी है। इस उपन्यास में लेखक ने समाज की रूढ़ियों से विद्रोह करनेवाली 'सविता' नाम की एक साहसी लड़की के संकल्प का सजीव चित्रण किया है। सविता समाज की रूढ़ियों से विद्रोह कर स्वतः मिट जाती है, अपने पति जयदेव को भी सदा के लिए खो देती है, पर हरगिज झुकती नहीं। यहाँ तक कि दीनानाथ बाबू, जो सविता के पिता हैं, अपनी बिटिया के संकल्प को डिगा नहीं पाते। वे तैश में आकर सविता का परित्याग भी कर देते हैं, अपनी मर्जी के खिलाफ जयदेव से शादी का रास रचाने के फलस्वरूप उसे कड़ी-से-कड़ी सजा देते हैं, लेकिन सविता झुकती नहीं और संघर्षों का डटकर सामना करती है। यद्यपि कमलेश उसकी दिलोजान सखी है, फिर भी सविता उसके लाख समझाने के बावजूद अपने संकल्प से डिगती नहीं। इस प्रकार आज की पढ़ी-लिखी नारी का अहम् अपने पूरे ओज के साथ इस उपन्यास में उभरा है। चूँकि श्यामसुन्दर ने

कलाकार का हृदय पाया है, इसलिए वह सविता के स्नेह व वात्सल्य से उमड़ते हृदय को चित्रांकित करने में सहज समर्थ होता है। लेखक की शैली में एक ताजगी है और नयापन भी, जिससे उपन्यास की रोचकता बढ़ गई है। यत्र-तत्र कथा को अनावश्यक विस्तार दिया गया है। फिर भी लेखक की शब्द-योजना और भाषा की ताजगी की दाद देनी ही पड़ेगी।—"डूबते हुए सूर्य की किरणें कोपलों को गुदगुदा रही थीं। मधुर स्वप्न मुस्कान बनकर ओठों पर बिखर गया। भीतर का नारी-पुष्प कमल की भाँति खिल उठा था।" बीच-बीच में लेखक सूक्ति शैली के माध्यम से उपयोगी बातें कहता गया है, जो उसके जीवनानुभव को उदाहृत करती हैं। —सुरेन्द्रप्रसाद जमुआर

इस मास के नए प्रकाशन

मोनो टाइप में मुद्रित
चित्ताकर्षक साज-
सज्जा से युक्त

पृष्ठ सं० २१७

मूल्य : ४·५० न० पै०

आकार : डबल क्राउन

स्व० आचार्य चतुरसेन शास्त्री की
अन्तिम दो औपन्यासिक
कृतियों में से

एक मनोग्राही कृति

जो, परिमार्जित एवं रोचक शैली में
१८वीं सदी के राजनीतिक एवं
सामाजिक तथ्यों के आधार
पर प्रस्तुत है।

(नरपति नाल्ह कृत)

बीसलदेव रासो

डॉ० तारकनाथ अग्रवाल

●

अद्यावधि प्राप्त २७ हस्तलिखित प्रतियों के गंभीर अध्ययन द्वारा निश्चित पाठ के आधार पर संपादित एवं १०० पृष्ठों की शोधपूर्ण भूमिका सहित प्रकाशित

हिन्दी-साहित्य के वीर-गाथा-काल का महान् प्रेम-काव्य

पृष्ठ-संख्या-२१४

मूल्य ६·०० न० पै०

आकार : डबल डिमाई

जिजीविषा

डॉ० महेन्द्र भटनागर

●

हृदय के तारों में कम्पन उत्पन्न करने वाली

जीवन के विभिन्न पहलुओं को छूने वाली

एवं

नई कविता के मान-स्थापन में समर्थ

५६ कविताओं का संग्रह

पृष्ठ-संख्या ६०

मूल्य ३·०० न० पै०

आकार : डबल डिमाई

मम्मी बिगड़ेंगी

श्री द्वारका प्रसाद एम० ए०

की

ललित कथानक

मोहक चित्रण-शैली

एवं

सरस संवादों से सिक्त

औपन्यासिक कृति

पृष्ठ-संख्या-३०४

मूल्य ५·०० न० पै०

आकार : डबल क्राउन

हमारे साहित्य-निर्माता

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

●

अवधूत साहित्यकार

की

नवीन शैली में उपस्कृत १४ मूर्धन्य साहित्यकारों

का

साहित्यिक जीवन-वृत्त

पृष्ठ संख्या-१७६

मूल्य २·२५ न० पै०

आकार : डबल क्राउन

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

सी-२१।३० पिशाचमोचन, पो० बा० नं० ७०, वाराणसी-१

हिन्दी-साहित्य में खत्री-युग : एक स्थापन

श्री उमाशंकर

भारतेन्दु और द्विवेदीजी के बीच की कड़ी कुछ अलग-अलग-सी लगती है। वह बिखरी हुई है। आज के शोधकर्त्ताओं के लिए यह स्थिति खटकती है। वे जोड़ना चाहते हैं। पर अभी तक उसे जोड़ने में वे सफल नहीं हो सके हैं। एक शोधकर्त्ता ने इस अवधि के सम्बन्ध में कहा है, "साहित्य में वह अराजकता-युग है।" उन्होंने उस युग को अराजकता-युग इसलिए कहा है कि उस युग में कोई साहित्यिक नेता नहीं था। 'कोई किसी की बात को नहीं मानता था।' अगर उस अवधि में ऐसी बात होती तो, उस युग को अराजकता-युग कहना युक्ति-संगत था। पर, ऐसी बात नहीं थी। उक्त खोज के लिए शोधकर्त्ता को एक विश्वविद्यालय ने डॉक्टर की उपाधि दे दी है। इसमें शोधकर्त्ता का कोई दोष नहीं है। शोधकर्त्ता की खोज-पूर्ण पुस्तक पर कई हिन्दी के आचार्यों की दृष्टि गई तो होगी। पर, किसी को यह बात नहीं खटकी, कि वह युग अराजकता का नहीं था। वह एक युग था उसका अपना नेता था। उसकी अपनी मान्यताएँ थीं। वह युगान्तरकारी व्यक्ति था। साहित्य के इतिहासकारों ने उस व्यक्ति की उपेक्षा कर अपने इतिहास को अधूरा बना रखा। उनकी इस प्रमादी प्रवृत्ति के कारण हमें यह कहने और सोचने का अवसर मिलता है कि हिन्दी-साहित्य का इतिहास अपूर्ण है, अधूरा है और पक्षपातपूर्ण है।

साहित्य के इतिहासकारों ने उस व्यक्ति की उपेक्षा की, पर उसके युग ने उसका नेतृत्व मान लिया। बाबू राधाकृष्ण दास ने नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका की दिसम्बर १६०० की संख्या में उस व्यक्ति का नेतृत्व स्वीकार किया था। उस निबन्ध में उन्होंने यह भी लिखा था कि बाबू श्यामसुन्दर दास, भारतमित्र, पण्डित श्रीधर पाठक, श्री राधाचरण गोस्वामी आदि ने उन्हें नेता मान लिया था। आज का साहित्यकार तो उन्हें उस युग का सर्व-शक्तिशाली व्यक्ति मानता है। काशी विश्वविद्यालय के आचार्य विश्वनाथ मिश्र ने अपने पत्र दिनांक ३१-३-५६ में लिखा है कि "उन्होंने जिस सत् का आभास प्राप्त किया था, उसकी आंतरिक मधुरिमा उनपर ऐसी छाई थी कि वे जो कहना चाहते थे, उसको उस समय ठीक से समझा नहीं गया, अन्यथा उनका उतना विरोध उस समय नहीं होता, जितना हुआ। वे चाहते थे कि देश में एक भाषा और एक लिपि हो। इसके लिए, जिस भाषा और जिस लिपि के लिए उन्होंने आन्दोलन किया, उसमें मतभेद भी नहीं है। खड़ी बोली उनकी जातीय बोली थी, इसलिए किसी अन्य भाषा की कल्पना भी वे नहीं कर पाते थे। अपनी बात को वे यदि नेताओं की भाँति समझा पाते तो उनके आन्दोलन ने उन्हें हिन्दी-भाषा और नागरी-लिपि का महात्मा गान्धी सिद्ध कर दिया होता। आज उन्हीं की दृष्टि मान्य है। वे मेरी दृष्टि में भाषा और लिपि के रूप में महान द्रष्टा थे।"

उस महान द्रष्टा के सम्बन्ध में हिन्दी-विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय के डाक्टर भगीरथ मिश्र ने अपने पत्र १४-३-५६ में लिखा—"वास्तविक बात तो यही है कि आधुनिक युग में खड़ी बोली हिन्दी की काव्यगत प्रतिष्ठा में उस व्यक्ति को प्रमुख श्रेय मिलना चाहिए। उनके तेजस्वी और उग्र व्यक्तित्व ने खड़ी-बोली-आन्दोलन को लगभग वही रूप दिया जो स्वराज्य-प्राप्ति-आन्दोलन को लोकमान्य तिलक द्वारा प्राप्त हुआ था। राजनीतिक, साम्प्रदायिक एवं साहित्यिक विरोधों और मतभेदों के प्रबल प्रवाह ने उनके संकल्प में काफी बाधायें उपस्थित कीं, परन्तु उससे उनके संकल्प में अधिक दृढ़ता ही आयी, कमी नहीं। वे खड़ी-बोली-आन्दोलन के अग्रदूत और स्पष्ट वक्ता, साहित्यसेवी एवं साहित्यकार थे। आज भी यदि हम उनकी निष्ठा, दृढ़ता और शिवसंकल्प का आवाहन कर अपनी राष्ट्रभाषा के प्रचार और विकास में लग सकें, तो सभी विरोध और समस्यायें तुरन्त विलीन हो जाँय।"

इतना ही नहीं, श्री अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने उन्हें युगप्रवर्तक माना है। उन्होंने लिखा है-"जैसे अन्य युग-प्रवर्त्तकों का संसार के व्यावहारिक मनुष्यों ने उपहास किया, मजाक उड़ाया, वैसे ही उस समय के लोगों ने ही नहीं, इतिहासलेखकों ने भी किया। परन्तु अन्त में उनकी विजय हुई और उन्हें हँसने वाले जहाँ थे, वहीं पड़े रह गए।" श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी उनकी मान्यताओं को स्वीकार करते हुए कहा है—'हमारी राष्ट्रभाषा के वर्तमान स्वरूप, जिसे कभी बोली कहा जाता था, उसके वे ऋषि थे।'

वह व्यक्ति कौन था, जिसे आज हिन्दी का गान्धी, हिन्दी का तिलक युगप्रवर्तक तथा ऋषि कहा जाता है। उसी व्यक्ति को हम अयोध्याप्रसाद खत्री कहते हैं। वह व्यक्ति इतिहास का उपेक्षित साहित्यकार रहा है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में उस व्यक्ति की मखौल उड़ायी है। बाबू श्यामसुन्दर दास के वे सहकर्मी एवं सहधर्मी थे। उन्होंने उनका नेतृत्व स्वीकार किया था। पर कुछ व्यक्तिगत मतभेद के कारण उन्हें मिट्टी के नीचे गाड़ दिया है। उन्हें जब मैंने कुछ वर्ष पूर्व मिट्टी के नीचे से उखाड़ा. तो देश में एक भूचाल आ गया। सारा देश उनकी अर्चना में लग गया। यह माना जाने लगा कि उनकी मान्यताएँ बहुत मूल्यमान थीं। भागलपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष श्री वीरेन्द्र श्रीवास्तव ने माना है—'हिन्दी के गद्य और पद्य का साहित्यिक रूप वही सर्वसम्मत बना, जिसे वे चाहते थे।' युगान्तरकारी व्यक्तियों की उनके जीवन-काल में आलोचनाएँ होती हैं, उनकी उपेक्षाएँ होती हैं। सुकरात, कार्ल मार्क्स और अरस्तू इनमें किसी भी व्यक्ति को उनके युग ने सम्मान नहीं दिया। उनकी मान्यताओं को स्वीकार नहीं किया, परन्तु उनके आलोचक आज धरती पर होते तो पता चलता कि उनकी मान्यताएँ कितनी सत्य और कितनी मूल्यवान थीं। श्री अयोध्याप्रसाद खत्री उन्हीं जैसे मनस्वियों में थे। अपनी धारणाओं को कार्यरूप में परिणत करने की चेष्टा की, पर उन्हें उपेक्षा मिली। उनकी धारणाओं को गलत समझा गया। उन्हें 'सनकी' 'जिद्दी' आदि की उपाधि दी गई। इस प्रकार की उपाधि देने वाले आज इस धरती पर जिन्दा होते तो स्वयं उन्हें अपने आप पर शर्म लगती।

उस समय के विद्वानों ने और आज के विद्वानों ने उन्हें उस युग का नेता जान लिया था। अतः यह कहना कि भारतेन्दु और द्विवेदी के बीच की अवधि में कोई नेता नहीं था; असंगत है, भ्रान्तिपूर्ण भी है। उस युग के खत्री-जी नेता थे और वह युग अराजकता का युग नहीं था। उस युग में कुछ प्रश्न उठे थे, वाद-विवाद हुए थे, पर इसका यह निष्कर्ष नहीं था कि वह युग अराजकता का था। वाद-विवाद, पक्ष-विपक्ष—ये तो जीवित जाति की विशेषता है। उन्होंने एक बात कही, उसको लेकर एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उसके पक्ष और विपक्ष में बहुत-कुछ कहा गया। पर यह सत्य है कि द्विवेदीजी के आगमन के पूर्व ही वह वाद-विवाद समाप्त हो चुका था। ब्रजभाषा के बड़े-से-बड़े कवि भी खड़ी बोली में कविता करने लगे थे।

स्वयं अयोध्याप्रसाद खत्री ने अपने रचना-काल को दो अवधि में विभाजित किया है, जो इस प्रकार उनके ही शब्दों में है :—

(१) सन् १८७६ से १८८७ तक। इस पीरियड का आरम्भ मेरे व्याकरण के बनने से हुआ। उसके पीछे बाबू लक्ष्मीप्रसाद ने 'योगी' नामक पण्डित-स्टाइल की खड़ी बोली की कविता बनाई (१८८६)। उनके पीछे बाबू महेश-नारायण ने 'स्वप्न' लिखा (१८८७)।

(२) सन् १८८७ से आज तक। मेरा खड़ी बोली पद्य, प्रथम भाग मुजफ्फरपुर में १८८७ में छपा। वृन्दावन में पण्डित राधाचरण गोस्वामी ने इसकी ता० ११-११-८७ के 'हिन्दोस्थान' में आलोचना की। इसपर उस पत्र में मेरे दल के पंडित श्रीधर पाठक और विरोधी दल के पंडित प्रतापनारायण मिश्र में बड़ा भारी विवाद हुआ। इस बहस ने हिन्दी में जो कुछ भी प्रेम रखते थे उनके सामने खड़ी बोली कविता के गुण और दोष रख दिये। उस समय से सभी विद्वानों ने इस विषय पर पूरा ध्यान दिया है और बहुत-सी खड़ी बोली की कविताएँ लिखी गईं।

अयोध्या प्रसाद खत्री ने दूसरी अवधि के लिए 'आज-तक' का प्रयोग किया है। उन्होंने यह प्रयोग २४-१२-०३

[शेष पृष्ठ २७ पर]

पुस्तक-प्रकाशक और विक्रेता-संघों का राष्ट्रीय सुरक्षा-कोष में दान

—पुस्तक प्रकाशक और विक्रेता संघ इन्दौर ने भारत के प्रधान मंत्री के राष्ट्रीय सुरक्षा-कोष में पन्द्रह सौ पच्चीस रुपये, पच्चीस नए पैसे इकट्ठा कर भेजे हैं। संघ के सदस्यों ने इस राष्ट्रीय संकट के समय कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर उत्साह के साथ इस निधि में अपना योगदान किया है।

—पश्चिम बंग हिन्दी पब्लिशर्स एंड बुकसेलर्स एसोसिएशन, कलकत्ता ने राष्ट्रीय सुरक्षा-परिषद् को एक हजार रुपये का ड्राफ्ट भेजा है। जल्दी ही और भी रुपये और पुस्तकें भेजी जायेंगी।

—हिन्दी की प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्था—हिन्द पाकेट बुक्स प्रा० लि०, शाहदरा-दिल्ली ने चीनी आततायियों से जूझने वाले भारतीय सैनिकों के लिए १००० पुस्तकें देने का निश्चय किया है। भविष्य में जबतक युद्ध समाप्त नहीं हो जाता, हर मास ५०० पुस्तकें निरन्तर भेजी जाया करेंगी।

—हिन्दी की सुप्रसिद्ध प्रकाशन-संस्था हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी ने भारत की सीमा पर चीनियों से लड़नेवाले भारतीय जवानों के लिए २००० पुस्तकें वाराणसी के जिला मजिस्ट्रेट को भेंट की हैं।

—बिहार के पुस्तक-प्रकाशकों और विक्रेताओं की ओर से सात हजार एक रुपया राष्ट्रीय सुरक्षा-कोष में योगस्वरूप दिया गया। उक्त व्यवसायी-संघ ने दिसम्बर ६२ तक दस हजार पुस्तकें भी अपने सुरक्षा-सैनिकों के विनोद और अध्ययन के लिए दान का निर्णय लिया है।

अ० भा० हिन्दी प्रकाशक-संघ की बैठक

अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ की कार्यसमिति की एक बैठक रविवार, दिनांक २१ अक्तूबर, ६२ को अपराह्न ३-०० बजे भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी के कार्यालय में श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन की अध्यक्षता में हुई।

नेट बुक समझौते के प्रश्न पर समिति ने विचार किया और पाया गया कि क्षेत्रीय समितियों के गठन के लिए केन्द्रीय कार्यालय से किये गए भरसक प्रयत्नों के बावजूद, सिवाय कुछेक नगरों के, क्षेत्रीय समितियों का निर्माण नहीं हो सका। कार्यकारिणी की बैठक दिनांक १ जुलाई, ६२ में पारित प्रस्ताव संख्या ५ के अनुसार नेट बुक समझौते को पुनः लागू करने के लिए भारत के कम से कम २० प्रमुख नगरों में क्षेत्रीय समितियों का गठित हो जाना आवश्यक था। इसका अभिप्राय समिति यह लेती है कि इस सम्बन्ध में संघ के सदस्यों में न वांछित रुचि है न तत्परता। अतः निश्चय किया गया कि ऐसी परिस्थिति में नेट बुक समझौता संबंधी नियमों को अभी स्थगित रखा जाय।

डेवपलमेंट आफ प्राफेसनल एसोसिएशंस इन दि फील्ड आफ़ रीडिंग मैटेरियल विषयक सेमिनार को दिल्ली में १५ नवम्बर से २१ नवम्बर, ६२ तक आयोजित करने का निश्चय किया गया।

राष्ट्रीय पुस्तक समारोह के बारे में निश्चय किया गया कि १४ नवम्बर से २१ नवम्बर, ६२ तक यह समारोह मनाया जाय और श्री कृष्णचन्द्र बेरी से अनुरोध किया गया कि वे इसके आयोजन के सम्बन्ध में विशेष तत्परता से काम लें।

'हिन्दी प्रकाशक' के प्रकाशन की प्रगति के विषय में प्रधान मंत्री द्वारा दी गई रिपोर्ट के बाद यह निश्चय किया गया कि इसे २१ नवम्बर, ६२ तक प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जाय। इसके प्रवेशांक के लिए रु० १०००-०० तथा बाद के प्रत्येक अंक के लिए रु० ५००-०० का व्यय स्वीकार किया गया। साथ ही यह भी निश्चय किया गया कि पत्र के प्रकाशन-व्यय को विज्ञापन की आमदनी से पूरा करने का प्रयत्न किया जाय।

साहित्येतर पुस्तकों की प्रदर्शनी के आयोजन के संबंध में श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन से अनुरोध किया गया कि वे इस ओर अपने प्रयास जारी रखें।

पाठ्य-पुस्तकों की राष्ट्रीयकरण की समस्या के बारे में श्री कृष्णचन्द्र बेरी से अनुरोध किया गया कि वे इस संबंध

में और अधिक प्रयत्नशील होवें और कार्यकारिणी की आगामी बैठक में अपनी पूरी रिपोर्ट प्रस्तुत करें।

संघ के निजी भवन के निर्माण के लिए रुपया इकट्ठा करने के बारे में सदस्यों की रुचि नहीं पाई गई। इसलिए इस विषय को स्थगित रखने का निश्चय हुआ।

डिप्लोमा कोर्स इन पब्लिशिंग के बारे में विचार किया गया और प्राप्त रिपोर्ट के आधार पर निश्चय किया गया कि शिक्षा-मंत्रालय से इस संबंध में अनुरोध किया जाय कि वह तत्संबंधी विवरण संघ के कार्यालय को भेजने का अनुग्रह करे तथा निर्देश जारी करे।

हिन्दी-पुस्तकों की बिक्री के संबंध में बाज़ार-शोध (मारकेट रिसर्च) की योजना का प्रारूप और प्रश्नावली तैयार करने के बारे में निश्चय किया गया। इस संबंध में श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन प्रारूप तैयार करेंगे जिसपर कार्य-समिति की अगली बैठक में विचार किया जायगा।

विकास-आयुक्त उत्तर प्रदेश ने अपने एक निर्णय के द्वारा अपने संचालित पुस्तकालयों के लिये उपन्यास की खरीद पर जो रोक लगाई है, उसे अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ की कार्यसमिति उचित नहीं समझती। क्योंकि आज साहित्य की सभी विधाओं में उपन्यास एक ऐसी विधा है जिसमें समाज की प्रगति और विकास सभी दिशाओं का सर्वांगीण निरूपण और निर्देश पाया जाता है, अतः स्वस्थ उपन्यासों की खरीद पर रोक नहीं लगानी चाहिये। संघ अपने इस प्रस्ताव के द्वारा विकास-आयुक्त से अनुरोध करता है कि वे अपने निर्णय पर पुनर्विचार करें।

प्रकाशन-व्यवसाय में यह देखने को मिलता है कि कुछ पुस्तक-विक्रेता बन्धु आर्डर देकर या तो बिल्टी बैंक से नहीं छुड़ाते अथवा मुद्दत पर भेजी गई हुण्डी का समय पर भुगतान नहीं करते। इससे प्रकाशक को बड़ी हानि उठानी पड़ती है। इस समस्या पर समिति द्वारा विचार किया गया और निश्चय किया गया कि प्रकाशक-बन्धु इस प्रकार की अनियमितताओं के बारे में संघ के प्रधान कार्यालय को सूचित करें और प्रकाशक-संघ इस संबंध में आवश्यक कार्यवाही करे। संबंधित पुस्तक-विक्रेता से कोई संतोषजनक उत्तर न मिलने पर संघ चाहे तो इस प्रकार की सूचना भी प्रकाशक-सदस्यों में प्रचारित कर दे कि वे उस पुस्तक-विक्रेता को माल न भेजें।

पृष्ठ २५ का शेष

को किया था। अयोध्याप्रसाद खत्री ने सन् १९०३ में काशी-नागरी प्रचारिणी-सभा को १५ सेर का एक पुलिन्दा भेंट किया था उसमें एक नोट भी अपने हाथ से लिखा था, जिसपर अंग्रेजी में हस्ताक्षर था और उसपर २४-१२-०३ की तारीख अंकित थी। उस नोट में खत्री-जी ने उपर्युक्त बातें लिखी हैं। पुलिन्दा आज भी काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा में उपलब्ध है।

अयोध्याप्रसाद खत्री ने उसी नोट में यह लिखा है कि "खड़ी बोली का तीसरा समय सन् १९०१ की सरस्वती से आरम्भ हुआ।" यह मैं मानता हूँ, सरस्वती के प्रकाशन के बाद खड़ी बोली के लिए आन्दोलन करने की आवश्यकता नहीं थी। खड़ी बोली का काव्य-निर्माण का युग आरम्भ हुआ। 'खड़ी बोली' को भारतेन्दु बाबू की तरह 'भोंड़ी कविता' कहने वाला कोई नहीं था। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने आते ही नवयुग का आरम्भ किया। भाषा को उन्होंने बल दिया। भारतेन्दु, अयोध्याप्रसाद खत्री और महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी काव्य-साहित्य की एक कड़ी हैं। भारतेन्दु बाबू ने हिन्दी साहित्य को भावात्मक रूप दिया, अयोध्याप्रसाद खत्री ने भाषात्मक रूप दिया और महावीर प्रसाद द्विवेदी ने शब्दों को शक्ति और शैली को ओज दिया। द्विवेदीजी ने काव्यविन्यास की स्वच्छता, व्याकरण सम्बन्धी शुद्धता और भाषा के प्रसाद गुण पर अधिक जोर दिया।

इन सारी बातों को दृष्टि में रखकर हम यह कह सकते हैं कि सन् १८८७ से १९०३ तक का समय जो हिन्दी साहित्य का है, वह खत्री-युग के नाम से पुकारा जाना चाहिए। यह ईमानदारी की बात है। यह मान कर ही हम हिन्दी-साहित्य के इतिहास की इस बिखरी हुई कड़ी को जोड़ सकते हैं।

राष्ट्रीय सुरक्षा के निमित्त प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं का दायित्व

यह सत्य है कि हमने अबतक यह नहीं सोचा था, और यह हम न्याय और अनाक्रमण के प्रति आस्था रखने वाले सावधान जनतन्त्रियों के लिए स्वाभाविक भी है, कि हमपर लाल चीन जैसे पड़ोसी का विस्तारवादी आक्रमण होगा। अब यह भी सत्य है कि इस आक्रमण के पूर्व हम जिस निर्भयता और उत्साह के साथ अपने देश की उन्नति में एकजुट होकर लगे थे, उसी उत्साह और निर्भयता के साथ हमें इस आक्रमण को हटाने में भी लगना है और अपनी उन्नति के कार्यों को भी द्विगुणित करते रहना है। हम व्यवसायतः पाठ्य और अध्ययन की वस्तुओं के उत्पादक एवं वितरक हैं। राष्ट्रीय सुरक्षा एवं आक्रमण के प्रतिरोध के उपयुक्त एवं जन-मानस को राष्ट्रीय निष्ठा तथा प्रतिरोधी साहस देनेवाली वस्तुएँ, स्वाधीनता के अनन्तर हमने नहीं के बराबर ही उत्पन्न की हैं। हमारा जोर स्वभावतः विज्ञान एवं वस्तु-अध्ययन की ओर ही अधिक रहा और यह होना आवश्यक भी था, क्योंकि हमारी सरकार इसी ओर योजना बनाकर देश को अग्रसर कर रही थी और तदनुसार हम उसके निमित्त अध्ययन-अध्यापन की सामग्री की ओर जुटे हुए थे। यह हमारे उत्साह का ही विषय है कि हम व्यक्ति के रूप में या संगठन के रूप में राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए धन और जन से सहायक हो रहे हैं। किन्तु हमें साहित्य-प्रकाशक के अपने चरित्र के अनुसार भी यह काम करना है। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रकाशकों के प्रान्तीय, भाषागत अथवा अ० भा० हिन्दी प्रकाशक संघ जैसे राष्ट्रीय संगठन भी राष्ट्रीय सुरक्षा के विषय पर पाठ्य-सामग्री तैयार करने के लिए एक सेमीनार बुलावें। इस सेमीनार में प्रकाशकों के अलावा लेखक, सुरक्षा-अधिकारी तथा सैन्य एवं सुरक्षा-शिक्षा के अधिकारी भी बुलाये जाएँ। यह सेमिनार तत्काल होना आवश्यक है। नागरिकों के लिए फर्स्ट-एड, हवाई हमले से बचाव, साधारण फील्ड क्राफ्ट और फायरिंग आदि नागरिक सुरक्षा के अलावा किसी भी लड़ाई आदि हालत में अपने-अपने खेत-कारखाना-कारोबार आदि उत्पादन को भी सुचारु और तीव्र रखने का दायित्व आदि समझाने की पुस्तकें अत्यावश्यक हैं। ऐसे ही, इतिहास आदि से लेकर साहस और जीवट की मनोविनोदी और उदात्त राष्ट्रीयता की किताबें हर आयु-वर्ग के नागरिक पाठकों तथा सैनिकों के लिए आवश्यक हैं। इस तैयारी के लिए राष्ट्रीय राजनीति, सैनिक योग्यता, लेखकीय योग्यता तथा राज्य—चारों के समवेत विचार की आवश्यकता होती है। अकेले प्रकाशक या लेखक के अनुभव से कुछ दूर का ही यह व्यापार है। अतः आवश्यक है कि यह सेमिनार दो-चार-दस दिन जमकर किया जाय और इसमें विचार और निर्णय लेकर उसी नीति तथा रीति पर तदुपयुक्त प्रकाशन हम जल्द-से-जल्द और ज्यादा-से-ज्यादा जारी करें।

'पाठ्य-साहित्य-विशेषांक' का स्थगन

राष्ट्रीय स्थिति की यथापूर्वता के अभाव में हमें बचत की सीमा में स्वभावतः अपने पत्र को प्रकाशित करना है, और दूसरे, हमारे सहयोगी लेखकों में वह अनुसन्धानी निश्चिन्तता भी इस विषय पर नहीं है; अतः हम अपने ग्राहकों विज्ञापनदाताओं, पाठकों एवं सहयोगियों से निवेदन कर रहे हैं कि हम अपना 'पाठ्य-साहित्य-विशेषांक' जनवरी १९६३ में न निकाल कर भविष्य में निकालने के लिए स्थगित कर रहे हैं। आशा है कि आप सभी तदनुसार हमें क्षम्य मानेंगे। साधारण अंक यथापूर्व निकलते रहेंगे।